१

कर्म विज्ञान

कर्म सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन

कर्म-विज्ञान

(प्रथम भाग)

(कर्म सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन)

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

पूज्य उपाध्याय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनिजी महाराज की ८१वीं जन्म जयन्ती के शुभ अवसर पर प्रकाशित

कर्म विज्ञान
(प्रथम भाग)

उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

प्रथम आवृत्ति

वि. सं. २०४७,
आश्विन शुक्ला १४
३ अक्टूबर १९९०

प्रकाशक-प्राप्तिस्थान

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर
पिनः ३१३००१ (राज.)

मुद्रण-प्रकाशन

सजय सुराना के द्वारा
कामधेनु प्रिंटर्स एंड पब्लिसर्स
A-7, अवागढ़ हाऊस, एम. जी. रोड,
आगरा २८२002
मोहन मुद्रणालय आगरा, फोन–72095

मूल्य

लागत से अल्प मूल्य
50/ **रु. मात्र** (पचास रुपया सिर्फ)।

समर्पण

जिन्होंने श्रद्धा एवं साधना के प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा कर्म सिद्धान्त को जन-जन का श्रद्धागम्य बनाया।

जैन कर्म-विज्ञान के गहन अभ्यासी परम श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म. को सविनय सादर समर्पित....

८१वी. जन्म-जयन्ती,
सादड़ी।

देवेन्द्रमुनि

प्रकाशकीय बोल

"धर्म और कर्म" अध्यात्म जगत के दो अद्‌भुत शब्द हैं, जिन पर चैतन्य जगत की समस्त क्रिया/प्रतिक्रिया आधारित है। सामान्यतः धर्म मनुष्य के मोक्ष/मुक्ति का प्रतीक है और कर्म बंधन का। बन्धन और मुक्ति का ही यह समस्त खेल है। प्राणी/कर्मबद्ध आत्मा, प्रवृत्ति करता है, कर्म में प्रवृत्त होता है, सुख-दु.ख का अनुभव करता है, कर्म से मुक्त होने के लिए फिर धर्म का आचरण करता है, मुक्ति की ओर कदम बढ़ाता है।

"कर्मवाद" का विषय बहुत गहन है, तथापि कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए जानना भी परम आवश्यक है। कर्म सिद्धान्त को समझे बिना धर्म को या मुक्ति मार्ग को नहीं समझा जा सकता।

हमें परम प्रसन्नता है कि जैन जगत के महान मनीषी, चिन्तक/लेखक उपाचार्य श्री देवेन्द्र मुनि जी महाराज ने "कर्मविज्ञान" नाम से यह विशाल ग्रन्थ लिखकर अध्यात्मवादी जनता के लिए महान उपकार किया है। यह विराट् ग्रन्थ लगभग १२00 पृष्ठ का होने से हमने दो भागो में विभक्त किया है। प्रथम भाग में कर्मवाद पर दार्शनिक एवं वैज्ञानिक चर्चा है तथा दूसरे भाग में कर्म प्रकृति, कर्म के भेदोप-भेद आदि पर गंभीर विचारणा की गई है।

प्रथम भाग का प्रकाशन पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. की ८१ वी. जन्म-जयंती के प्रसंग पर किया जा रहा है। इसके प्रकाशन में समाज के युवानेता, सुश्रावक दानवीर श्री जे. डी. जैन ने उदारता पूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान कर हमें उत्साहित किया है, हम उनके आभारी हैं। साथ ही श्रीमान् श्रीचन्द जी सुराना "सरस" ने बड़ी तत्परता के साथ इसका सुन्दर मुद्रण व साज-सज्जा युक्त प्रकाशन कर समय पर प्रस्तुत किया है। हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

आशा है, पाठक इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से अधिकाधिक लाभान्वित होंगे।

चुन्नीलाल धर्मावत

कोषाध्यक्ष

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

प्रस्तावना

दो अक्षरों का कर्म शब्द साधारण होते हुए भी अपने अन्दर बहुत ही असाधारण अर्थ समेटे हुए है। इस शब्द का प्रयोग सामान्य जन तो करते ही हैं, विशिष्ट विद्वान और दार्शनिक भी करते हैं, यहाँ तक कि धर्म-प्रचारक, धर्म-सुधारक, धर्मगुरु और तीर्थंकरों आदि सभी ने इस शब्द का प्रयोग किया है और अपनी-अपनी भाषा शैली में इसके विभिन्न गूढ़तम रहस्यों को जन-साधारण के समक्ष उद्घाटित भी किया है।

सामान्य बोलचाल की भाषा में मनुष्य की सभी प्रवृत्तियों-क्रियाओं को कर्म कहा जा सकता है, जैसे—हँसना, बोलना, चलना आदि क्रियाएँ। किन्तु ज्यों-ज्यों गहरे उतरेंगे, कर्म के प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत होता जायेगा।

कर्म के विभिन्न अर्थ

विद्वानों ने विभिन्न अपेक्षाओं से कर्म के भिन्न-भिन्न अर्थ बताये हैं।

व्याकरणाचार्यों ने कहा है—जिस पर कर्त्ता की क्रिया का फल पड़ता है, अथवा जो कर्त्ता को प्राप्त होता है वह कर्म है।

सामान्य भाषा में, प्राणी की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहा जाता है, इसका अभिप्राय यह है कि जीव-संपृक्त शरीर द्वारा जितनी भी क्रियाएं होती हैं, वे सभी कर्म हैं।

लेकिन इसमें एक अपवाद है कि शरीर की जो सहज क्रियाएँ (मोटोरी एक्टिविटीज़—Motory activities) जैसे—श्वास लेना और छोड़ना, शरीर में रक्त परिभ्रमण, फेफड़ों का स्पन्दन, हृदय की धड़कन, भोजन का पचन-पाचन— ये और ऐसी सभी क्रियाएँ कर्म में परिगणित नहीं होती।

धर्म, दर्शन एवं साधना के क्षेत्र में अपेक्षा, भाषा-शैली और उद्देश्य की भिन्नता के कारण कर्म शब्द को विभिन्न अभिप्रायों और रूपों में व्यक्त किया गया है।

पश्चिमी जगत में कर्म शब्द को एक्टिविटी (Activity) वर्क,डीड (Work, deed) आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया जाता है। नीतिशास्त्र के विद्वानों ने भी इन शब्दों का प्रयोग किया है। वहाँ शुभ कर्मों के लिए मेरिट (merit) और अशुभ कर्मों के लिए डीमेरिट (demerit) अथवा गुड डीड (good deed) और बैड डीड (bad deed) शब्दों का प्रयोग किया है।

शुभ और अशुभ कर्म

इस अपेक्षा से कर्म शुभ भी होते हैं और अशुभ भी। समस्त संसार में कर्मों के प्रति शुभत्व और अशुभत्व की धारणा प्रचलित है। यह बात अलग है कि भौगोलिक परिस्थितियों, धर्म की विचारणाओ, धारणाओं, इतिहास की परम्पराओं तथा खान-पान, रहन-सहन आदि की विभिन्नताओं के कारण इन सबके शुभ और अशुभ के मापदण्ड पृथक-पृथक हो गये हैं।

कर्म की त्रैकालिकता

दार्शनिक जगत में कर्म की त्रैकालिक सत्ता मान्य है. जितने भी आस्तिक दर्शन है, चाहे वे भारतीय हों, अथवा पश्चिमी, जो आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं, वे सभी कर्म की त्रैकालिक सत्ता स्वीकार करते हैं।

भारतीय दर्शनो मे जैन, बौद्ध, वैदिक और अन्य एशियायी दर्शनों, कन्फ्यूसियस, ताओ, झेन तथा यूनानी आदि सभी दर्शन कर्म की त्रैकालिक सत्ता के विषय में एकमत हैं। यहाँ तक कि मुस्लिम और ईसाई धर्म-दर्शनों का भी इस विषय में मतभेद नहीं है।

भारत का चार्वाक् दर्शन और पश्चिम का एपीक्यूरियनिज्म ही ऐसे दर्शन हैं जो कर्म और उसके फल को वर्तमान जीवन तक ही स्वीकार करते हैं। क्योंकि उनका मत है कि यह वर्तमान जीवन ही सब कुछ है, आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, अतः पूर्वजन्म और पुनर्जन्म है ही नहीं। जब भूतकालीन जीवन और भविष्यकालीन जीवन यानी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का अस्तित्व ही नहीं है, तो कर्म की त्रैकालिकता का प्रश्न ही नहीं उठता।

इनके अतिरिक्त सभी धर्म-दर्शन चाहे वे ईश्वर-केन्द्रित हों अथवा आत्म-केन्द्रित, सभी कर्म की सत्ता को अथवा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं । इस बिन्दु पर सभी दर्शन एकमत हो जाते हैं, किन्तु ईश्वरकर्तृत्व आदि के कारण उनकी कर्म और कर्मफल भोग की व्याख्याओं/ अवधारणाओ में परिवर्तन आ जाता है।

विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टि में कर्म

कर्म की त्रैकालिकता स्वीकार करने वाले और ईश्वरकर्तृत्ववादी दार्शनिकों ने ईश्वर के अंश रूप में ही सही, आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व भी

माना, इसलिए उन्होंने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म (प्री बर्थ एण्ड रिबर्थ—Pre birth and re birth) के सिद्धान्त को स्वीकार किया है।

साथ ही कर्म को किसी ने आत्मा पर पूर्वजन्म के जमे संस्कार कहा तो किसी ने 'अदृष्ट' और किसी ने 'अपूर्व' इस प्रकार विभिन्न नाम दिये। यह भी घोषित किया कि शुभ कर्मों का फल शुभ मिलता है, और अशुभ कर्मों का फल अशुभ। पूर्वबद्ध कर्मों—कर्म संस्कारों को इन्होंने प्रारब्ध अथवा भाग्य कहा।

अंग्रेजी में प्रारब्ध अथवा भाग्य के लिए लक (luck) और फेट (fate) शब्द प्रचलित हैं। शुभ अथवा सुखकारी भाग्य को गुड लक (good luck) अथवा गुड फेट (good fate) कहा जाता है, तथा ऐसे व्यक्ति को (fateful) अथवा (lucky) और अशुभ अथवा दुःखी, दरिद्र व्यक्ति को अनलकी (Un-lucky) कहा जाता है। भारतीय भाषाओं मे इन्हें पुण्यात्मा और पापात्मा कहा जाता है, तथा शुभ कर्म को पुण्य और अशुभ कर्म को पाप। बौद्ध धर्म में पुण्य और पाप-कर्म को क्रमशः कुशल और अकुशल कर्म कहा गया है। इसी प्रकार सभी धर्म/दर्शनों ने कर्मों के विभिन्न नाम दिये हैं लेकिन अभिप्राय सभी का लगभग समान है। भारत के आस्तिकवादी दर्शनों ने कर्म को ही सुख-दुख और जन्म-मरण के कारण के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ कर्म का अर्थ सिर्फ क्रिया या प्रवृत्ति नहीं रहकर, आत्मा पर जमे सस्कार तक आ गया है।

जैन कर्म सिद्धान्त

जैन दर्शन में कर्म पर विशिष्ट और गंभीर चिन्तन/मनन हुआ है। भगवान-महावीर ने कहा है—**"कम्मं च जाई मरणस्स मूल"**—कर्म जन्म-मरण का मूल है, और कर्म की उत्पत्ति का कारण बताते हुए कहा है—**"कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति"**—कर्म की उत्पत्ति मोह से होती है।

जैन धर्म/दर्शन में कर्म के स्वरूप/प्रक्रिया आदि पर बहुत ही विस्तृत विवेचना की गई है, इसके तलछचट तक पहुंचा गया है। जीव की सूक्ष्मातिसूक्ष्म गतिविधियों की कर्म-सन्दर्भित व्याख्याएं की गई हैं और आत्मा की मुक्ति का मार्ग भी कर्मसिद्धान्त के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। कर्म विषय पर—कर्मग्रन्थ, कम्म पयडीओ, पंचसंग्रह, कसाय पाहुड, महाबन्ध, धवला आदि अनेकानेक विपुल ग्रन्थों की रचनाएं हुई हैं। इस प्रकार जैनकर्मसिद्धान्त एक विशिष्टवाद कर्मवाद ही बन गया है, और विवेचन की वैज्ञानिकता ने इसे कर्मविज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

जैन कर्मशास्त्र-विवेचकों के अनुसार कर्मों का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१. ज्ञानावरणीय २. दर्शनावरणीय ३. वेदनीय ४. मोहनीय ५. आयु ६. नाम ७. गोत्र और ८. अन्तराय कर्म।

इन कर्मों का बन्ध किस-किस प्रकार की प्रवृत्तियों और आत्मभावों से होता है? कितने काल तक ये आत्मा से सम्बद्ध रहते हैं? किस प्रकार ये आत्मा से पृथक होते हैं आदि पूरी प्रक्रिया का बड़ा ही सूक्ष्म एवं तर्कयुक्त विवेचन जैनशास्त्रों मे उपलब्ध होता है।

कर्मों के घाति-अघाति भेद, उनके कार्य आदि की विवेचना भी पाठक को ऐसे ज्ञान से लाभान्वित करती है कि वह अपने उद्धार के लिए प्रस्तुत होता है।

जैन कर्मवाद का उद्देश्य

जैन कर्मवाद अथवा कर्मविज्ञान का उद्देश्य कर्मबन्धन और उसके कारणों को जानकर तथा बंधन को तोड़कर आत्मा को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और मुक्त बनाना है।

भगवान-महावीर के शब्दो में—

"बुज्झिज्ज तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया"

मानव मात्र को बोध प्राप्त करना चाहिए और बधन (कर्मबन्धन) के स्वरूप को जानकर उसे (पूर्णरूप से) तोड़ देना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक

प्रस्तुत पुस्तक लिखने का मेरा उद्देश्य भी यही है कि पाठक कर्मों के स्वरूप का भली-भाँति यथार्थ ज्ञान प्राप्त करें, कर्म एवं कर्मफल के विषय में फैली भ्रान्त धारणाएँ दूर हों।

एक उदाहरण यथेष्ट होगा—

साधारण व्यक्ति और यहाँ तक कि विद्वान और ज्ञानी कहलाने वाले व्यक्ति भी कह देते हैं—"जो कुछ होता है, वह कर्मोदय से ही होता है, कर्म का उदय ही ऐसा था।"

लेकिन जैनकर्मविज्ञान के अनुसार यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। सभी काम कर्मों के उदय से ही नहीं होते, कुछ कार्य ऐसे होते हैं, जो कर्मों के क्षय, क्षयोपशम और अनुदय से भी होते हैं। आत्मोन्नति की जितनी भी क्रियाएं हैं, वे कर्मों के क्षय, क्षयोपशम से ही होती हैं। सम्यक्त्व, विरति आदि में उन-उन कर्मों का क्षयोपशम ही निमित्त होता है।

इसी प्रकार और भी कितनी ही भ्रान्तियाँ हैं।

मेरा प्रयास यह रहा है कि पुस्तक के पठन से इस प्रकार की सभी भ्रान्तियों का निरसन हो और कर्मसिद्धान्त का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीचीन ज्ञान प्राप्त हो।

इस पुस्तक के लेखन में मैंने तुलनात्मक और समन्वयात्मक दृष्टि रखी है। जैन कर्मविज्ञान की भारतीय तथा भारतेतर और वर्तमान भौतिक विज्ञानों के साथ तुलना भी की है और समन्वय का भी प्रयास किया है।

प्रस्तुत पुस्तक को चार खंडों में विभाजित किया गया है—

प्रथम खंड "कर्म का अस्तित्व" में विभिन्न अपेक्षाओं, दृष्टियों और प्राचीन एवं आधुनिक (पश्चिमी और पौर्वात्य) प्रमाणों के आधार पर कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। यूँ "कर्म" सत्ता स्वयं सिद्ध है किन्तु अनुभव आदि प्रमाणो के आधार पर उसका विश्वास दृढ़—दृढ़तर करने का प्रयास प्रथम-खंड में है।

द्वितीय खंड "कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन" में कर्मवाद की विकास यात्रा का प्रागैतिहासिक काल से वर्तमानकाल तक का वर्णन किया गया है। साथ ही कर्मवाद के विरोधी वादों का तर्कपुरस्सर प्रमाणों से निरसन भी किया गया है।

तृतीय खंड में कर्म का विराट स्वरूप वर्णित है। घाति-अघाति, द्रव्य-भाव, कर्म-नोकर्म, सकाम-अकाम-निष्काम कर्म आदि कर्मों के अनेक प्रकारों का विवेचन करके कर्म-शक्ति का विराट स्वरूप वर्णित हुआ है।

चतुर्थ खंड में कर्मविज्ञान की आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक जीवन में उपयोगिता, कर्मवाद एवं समाजवाद की संगति, कर्यकर्ता, कर्मफलभोक्ता, आदि विषयों पर व्यापक दृष्टि से विचार किया गया है।

जहाँ तक संभव हुआ है, मैंने प्रत्येक विषय को विस्तारपूर्वक प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सैकड़ों ग्रन्थों, पत्र-पत्रिकाओं तथा वैज्ञानिक खोजों के आधार पर कर्मवाद को सिर्फ सिद्धान्त रूप में ही नहीं, अपितु एक विज्ञान एव जीवन-शैली का नियामक तत्त्व मानकर प्रतिपादित करने का प्रयास किया है।

"कर्म" का सम्यग् परिज्ञान प्राप्तकर मानव अपने धार्मिक, नैतिक एवं समग्र सामाजिक जीवन को आदर्श बना सकता है, इस दृष्टि से इस ग्रंथ में पर्याप्त चिन्तन किया है।

सर्वप्रथम मैं श्रमण संघ के अध्यात्मनायक आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी महाराज का स्मरण करता हूँ कि जिनके मंगलमय आशीर्वाद से हम अपनी अध्यात्म-साधना में यशस्वी हो रहे हैं।

मेरे लेखन कार्य में परम आशीर्वाद स्वरूप पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म. का आशीर्वाद उसी प्रकार सहायक रहा है, जिस प्रकार ज्योति को प्रज्वलित होने मे स्नेह (तेल) । मैं गुरुदेव के परम करुणा, वत्सलतामय आशीर्वाद का चिरकृतज्ञ रहूँगा।

परमस्नेही सन्त मानस मनीषी मुनि श्री नेमीचंद जी का सौजन्यपूर्ण सहयोग सदा उत्साहवर्धक रहा है। मेरे द्वारा लिखित निबंधों को उन्होंने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से संशोधित/संपादित कर एक स्नेहपूर्ण समर्पण तथा आत्मीय भाव का परिचय दिया है, जो चिरस्मरणीय रहेगा।

प्रतिभामूर्ति ज्येष्ठभगिनी महासती पुष्पवती जी म. की सतत सम्प्रेरणा ने मुझे कर्मविज्ञान ग्रन्थ के लेखन मे गतिशील रखा है। उनका स्मरण भी सहज ही हो जाता है।

मैं सभी सहयोगी सन्तो, विद्वानो, तथा ज्ञात-अज्ञात लेखको आदि का भी आभारी हूँ, जिनके सहयोग तथा स्वाध्याय से मैं इस ग्रन्थ को अधिकाधिक रोचक, व्यापक और प्रामाणिक स्वरूप प्रदान कर सका।

अन्त में मै समाज के अग्रणी युवानेता सुश्रावक श्रीयुत जे.डी. जैन एव उनकी विदुषी धर्मपत्नी श्रीमती विद्युत जैन की सांस्कृतिक, साहित्यिक सुरुचि का अभिनन्दन करता हूँ, जिन्होने स्वतः की अन्तर् प्रेरणा से इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे विशेष रुचि प्रकट की। उनके सौहार्द से यह ग्रन्थ जन-जन के हाथों मे शीघ्र पहुँच सका।..........

महावीर भवन
सादड़ी।

उपाचार्य देवेन्द्रमुनि

युवानेता सुश्रावक श्री जे. डी. जैन (गाज़ियाबाद)

जीवन-परिचय



श्वेताम्बर स्थानक वासी जैनसमाज के युवानेता-धर्मनिष्ठ दानवीर एव प्रतिष्ठित उद्योगपति श्री जे. डी. जैन का जन्म हरियाणा प्रान्त के जिला सोनीपत में रभड़ा ग्राम निवासी धार्मिक व सहृदय पिता श्री मनोहर लाल जैन व माता श्रीमती सुखदेवी जैन के गृह आंगन मे प्रथम जनवरी १९४० को हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा इसी ग्राम मे हुई। अपनी आयु से अधिक प्रतिभा सम्पन्न होने से प्रारम्भ से ही अपनी कक्षा में प्रथम स्थान पाते रहे। तत्पश्चात आपने हायर सेकेण्डरी की शिक्षा जैन हायर सेकेण्डरी स्कूल, दरियागज दिल्ली से प्रथम श्रेणी मे उत्तीण की। आपकी उच्च शिक्षा लखनऊ मे हुई। १९६२ में वहां के हेविट पॉलीटेक्नीक से आपने सिविल इन्जीनियरिंग की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीण की।

उच्च शिक्षा की समाप्ति के बाद आप प्रथम दो वर्ष मिलिटरी इन्जीनियरिंग में सेवारत रहकर देश सेवा की। इन्हीं दो वर्षों के बीच १९ जून १९६३ में श्री कश्मीरीलाल जी जैन जी की सुपुत्री श्रीमती इन्दिरा जैन से आपका शुभ पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। १९६४ मे आपने अपना निजी लोहाउद्योग, "जैन रोलिग मिल्स" के रूप में अपने बड़े भाई श्री ओमप्रकाश

जी जैन जी के साथ बड़ी लग्न उत्साह और ईमानदारी से प्रारम्भ किया। आपकी प्रतिभा व लग्न रंग लाई और एक दिन आपको ३५ वर्ष की अल्पायु में ही १९७५ मे भारत के राष्ट्रपति श्री बी. डी. जत्ती द्वारा "सेल्फ मेड इन्डस्ट्रिलिस्ट" "उद्योग पत्र" से सम्मानित किया गया। सन् १९८६ में आपकी धर्मपत्नी श्रीमती इन्दिरा जैन का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात समाज की भावना का आदर करते हुए आपने विदुषी डा. विद्युत जैन के साथ आर्दश विवाह किया।

आपने न केवल औद्योगिक क्षेत्र मे ही अपनी प्रतिभा दिखाई, बल्कि सामाजिक, धार्मिक, पारिवारिक आदि क्षेत्रो में अपने नम्रता, शालीनता, दानशीलता आदि गुणों के कारण विभिन्न पदो पर रह कर समाज, धर्म, देश व उद्योग की अविस्मरणीय सेवाएं की। आप अ. भा. श्वे. स्था. जैन कान्फ्रेंस के उपाध्यक्ष हैं। तथा बीसों सस्थाओ के अध्यक्ष, सरक्षक आदि हैं।

इस तरह आप समाज-सेवा देश-सेवा करते हुये व अपने निजी व्यापार की अति व्यस्तता के बाद भी वृद्धजन, मुनिश्रमणी जनो की वैयावृत्य व अतिथि-सेवा में संलग्न रहते हैं। दान, धर्म, विनय आपके व्यक्तित्व के विशिष्ट गुण है। समाज एवं व्यापार उद्योग क्षेत्र में अति व्यस्त रहते हुए भी आप प्रतिदिन प्रातः एक सामायिक करते हैं। तथा रात्रि भोजन का भी नियम रखते हैं जो सभी कार्यकर्ताओं के लिए आदर्श है। आपने अनेक धार्मिक सस्थाओं की नीव रखी है, जैसे—

१. श्री जैन स्थानक, शहादरा, दिल्ली।
२. श्री जैन स्थानक, लक्ष्मीनगर, दिल्ली।
३. श्री जैन स्थानक, बड़ोदा, (हरियाणा)
४. श्री जैन स्थानक, गाजियाबाद।
५. जैन साध्वी पद्मा विद्यानिकेतन, शास्त्री पार्क, दिल्ली।

आदि धार्मिक एवं सेवाभावी सस्थाओं का शिलान्यास कर आप सेवा, शिक्षाप्रेम आदि सद्‌गुणों का समय-समय पर परिचय देते रहते हैं। आप सभी जैन सम्प्रदायो के परस्पर मतभेद को समाप्त कर उसे भगवान महावीर के आश्रय मे एक ही प्लेट फार्म पर लाकर समाज व देश को सुदृढ़ बनाने में संलग्न हैं।

आपके दो सुपुत्र हैं : यशदेव जैन तथा हर्षवर्धन जैन। हम आशा करते हैं कि आर्दश पिता के आदर्श गुण पुत्रो मे भी जीवन्त होते रहेंगे और वे भी समाज एव राष्ट्र की सेवा में अग्रसर होगे।

● शुभाशा

सेवाशील विदुषी डा. विद्युत जैन

(एम. ए. एम. एड. पी. एच. डी)

जीवन परिचय



सुश्री डा. (श्रीमति) विद्युत जैन का जन्म भारत भूमि की स्वतन्त्रता के प्रथम दिवस ही १५ अगस्त १९४७ को जिला एटा उत्तर प्रदेश में एक सम्पन्न, धार्मिक व सम्भ्रान्त परिवार मे हुआ। आपके पिता श्री इन्द्ररतन जैन एक धार्मिक, दान-शील व अपने क्षेत्र के प्रतिष्ठित व आदर्श पुरुष हैं। समाज नेता श्रीमान जे. डी. जैन की आप धर्म पत्नी हैं।

डा. विद्युत जैन अपने समाज की एक सुशिक्षित व सुलझे विचार वाली महिला हैं। आपने हिन्दी व मनोविज्ञान में एम. ए. कर एम. एड. की डिग्री हासिल की। अपने पति के पूर्ण सहयोग व प्रेरणा से उन्होने मनोविज्ञान जैसे कठिन और रोचक विषय में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की। आपका शोध कार्य अनुसूचित जाति व पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए एक मार्ग दर्शन है। आप महिला वर्ग के विकास हेतु सदैव एक प्रेरणा का स्रोत रही है।

आप गृहस्थ जीवन में पूर्ण सफलता के साथ अनेक सामाजिक, धार्मिक व राजनैतिक कार्यों में पूर्ण रुचि लेती हैं। आप वर्तमान में अखिल

भारतीय श्वे. स्था. जैन कांफ्रेस (महिला) की उपाध्यक्षा हैं। तथा अनेक संस्थाओ के विभिन्न पदों से सम्बन्धित हैं। आप अपने पति के धार्मिक आदर्शों के पालन में तथा समाज-सेवा, दान, सन्त-सतियों की सेवा, वैयावृत्य, साहित्य प्रकाशन में उदारमन से सहयोग करती हैं तथा नित्य प्रति सामायिक, रात्रि-भोजन त्याग आदि धर्म की सक्रिय आराधना करती हुई जीवन को आदर्श बनाये हुए हैं। तत्त्वार्थ सूत्र पर आप एक सुन्दर व्याख्या लिख रही हैं ।

समाज की यह आदर्श युगल जोड़ी राष्ट्र एवं समाज की सेवा में सतत यशस्वी बने यही शुभ कामना है।

• शुभेच्छुक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर

विषयानुक्रम

१

कर्म का अस्तित्त्व

प्रथम खण्ड : **पृष्ठ १ से २०६**

२

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

द्वितीय खण्ड **पृष्ठ २०७ से ३५२**

३

कर्म का विराट् स्वरूप

कर्म-विज्ञान

(प्रथम भाग)

(कर्म सिद्धान्त पर सर्वांगीण विवेचन)

(कर्म का अस्तित्व)

१

आत्मा का अस्तित्व : कर्म-अस्तित्व का परिचायक

समग्र आस्तिक दर्शनों का केन्द्र बिन्दु आत्मा है । आत्मा को केन्द्र मानकर ही यहाँ पर समस्त प्राणियों के सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति, हित-अहित, आदि के कारणों पर विचार किया गया है । आत्मा की दृष्टि से ही पुण्य-पाप, कर्म, बन्ध, मोक्ष, आस्रव, संवर, हेय-ज्ञेय-उपादेय, शुद्धि-अशुद्धि, गुण-अवगुण, सम्यक्ज्ञान, मिथ्या-ज्ञान, सुदर्शन-कुदर्शन, सम्यक्चारित्र-कुचारित्र, सम्यक्-असम्यक् तप, त्याग-प्रत्याख्यान प्रभृति विषयों के सम्बन्ध में गहन चिन्तन-मनन किया गया है । यद्यपि इन सबका मूल कर्त्ता-धर्त्ता स्वयं आत्मा है और कर्म के कारण ही आत्मा इन सब में प्रवृत्त होता है ।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है । यही आत्मा की विभाव दशा है । आत्मा के राग-द्वेष, मोह, अज्ञान आदि भाव इन विभाव भावों की उत्पत्ति में निमित्त हैं । आत्मा के रागादि भावों के कारण योगों के निमित्त से कार्मण आदि वर्गणाएँ आकर्षित होकर आत्मा के साथ प्रतिपल-प्रतिक्षण सम्बन्धित होती हैं । उन्हें कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है जो स्थिति और रस को लिए हुए होती है । आत्मा स्वतःसिद्ध चैतन्य स्वरूप है । फिर भी वह अपने स्वरूप के प्रति अनभिज्ञ है, अनजान है । इसका कारण है—कर्मों का सघन अवरण । कर्म पौद्‌गलिक है, वह जड़ स्वरूप है । आत्मा प्रति समय अज्ञान एवं मोह के कारण राग-द्वेष आदि भाव स्वय कर रहा है, जिसमें कर्म का उदय निमित्त है और इन रागादि भावों के होने में कर्म के उदय के फलस्वरूप बाह्य में शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वचन, स्वजन, परिजन, भवन प्रभृति वस्तुएँ एवं परिस्थितियाँ निमित्तभूत होती हैं । यही आत्मा की विभाव दशा है । कर्मों के बन्ध का मूल कारण जीव का राग-द्वेष, मोह है जिसका अन्तरंग कारण मोहनीय, ज्ञानावरणीय,

भाव से राग-द्वेष करता है तो ये पदार्थ निमित्त बन जाते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि जो भी सुख-दुःख आदि प्राप्त होते हैं वे अपने द्वारा किये हुए कर्मों के द्वारा होते हैं । अर्थात् जितने भी कर्म किये जाते हैं, वे चेतनाकृत (आत्मा द्वारा कृत) होते हैं, अचेतनाकृत नहीं[१]। जब आत्मा (जीव) इस तथ्य को भलीभांति समझ लेता है तब वह एक ओर से अपने साथ लगे हुए पूर्वकृत कर्मों को निर्जरा के विभिन्न प्रयोगों से रत्नत्रय रूप सद्धर्म के आचरण से, तप-संयम से क्षय करने का पुरुषार्थ करता है और दूसरी ओर नये आते हुए कर्मों को रोकने का, कर्मों के आगमन के कारणों से दूर रहने का तथा सावधान एवं अप्रमत्त रहने का प्रयत्न करता है । इस प्रकार वह आत्मा स्वयं उदीरणा, गर्हणा, संवर एवं निर्जरा द्वारा कर्मों को काटकर जीव मुक्त या परम शुद्ध-सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बन जाता है[२]।

इस दृष्टि से कई दार्शनिक या नास्तिक मतवादी कह देते हैं कि आत्मा किसी भी प्रकार घट-पट आदि की तरह प्रत्यक्ष तो दिखाई नहीं देती, तब हम कैसे मान लें कि आत्मा विभिन्न कर्मों को करती है और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख आदि प्राप्त करती है ? पहले आत्मा का अस्तित्व तो सिद्ध हो ।

माना जा सकता है कि आत्मा स्वय कर्म बाधती है और उनका फल भी स्वय भोगती है । फिर सम्यग्ज्ञान एवं जागरण होने पर वह स्वयं ही कर्मों का निरोध एवं क्षय करने का पुरुषार्थ करती है । अतः कर्म का अस्तित्व सिद्ध करने से पूर्व आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व सिद्ध करना अनिवार्य है । आत्मा का स्वतत्र अस्तित्व ही कर्म के अस्तित्व का परिचायक सिद्ध होगा । वास्तव में गणधरवाद[३] में जितनी भी चर्चाएँ हैं, वे सब आत्मा और कर्म के अस्तित्व से सम्बन्धित हैं ।

आत्मा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं : इन्द्रभूति गौतम की शंका

विशेषावश्यकभाष्य के अन्तर्गत गणधरवाद मे प्रथम गणधर इन्द्रभूति की शंका यही थी कि जीव (आत्मा) किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता ।[४]

---

१. (क) सयमेव कडेहिं गाहइ नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय ।।—सूत्रकृतांग १/२/१४
(ख) जीवाणं चेयकडा कम्मा कज्जति, नो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।।
—भगवती सूत्र १/६२

२. (क) तुट्टंति पावकम्माणि नवं कम्ममकुव्वओ ।। —सूत्रकृतांग १/१५/६
(ख) अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ ।।
—भगवती १/३

३. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—गणधरवाद की प्रस्तावना (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. ७४

४. विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५४९ (अनुवाद) पृ. ३

१. जीव प्रत्यक्ष नहीं—यदि आत्मा (जीव) का अस्तित्व हो तो उसे घट-पट आदि के समान प्रत्यक्ष दिखाई देना चाहिए, किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं है। अप्रत्यक्ष पदार्थों का आकाश-कुसुम के समान सर्वथा अभाव होता है। जीव सर्वथा अप्रत्यक्ष होने से संसार में उसका भी सर्वथा अभाव है। यद्यपि परमाणु भी चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता, किन्तु वह जीव के समान सर्वथा अप्रत्यक्ष नहीं है। कार्यरूप में परिणत परमाणु का प्रत्यक्ष तो होता ही है, लेकिन जीव का तो कथमपि प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः परमाणु का अभाव नही माना जा सकता, जबकि जीव का सर्वथा अभाव मानना चाहिए[1]।

२. अनुमान से भी जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं—अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। जिस पदार्थ का कभी प्रत्यक्ष न हुआ हो, उसको अनुमान से भी नही जाना जा सकता। प्रत्यक्ष से पहले निश्चित धूम तथा अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध दृष्ट होता है, उसी का स्मरण होता है। तभी धूमरूप हेतु के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान किया जाता है। यहाँ जीव के किसी भी लिंग (हेतु) का लिंगी (साध्य) जीव के साथ सम्बन्ध पूर्वगृहीत नहीं है, जिससे उस हेतु का पुनः प्रत्यक्ष होने पर उस सम्बन्ध का स्मरण हो और जीव (आत्मा) के अस्तित्व के विष्य मे अनुमान किया जा सके[2]।

३. आगम-प्रमाण से जीव सिद्ध नहीं—आगम प्रमाण भी अनुमान रूप ही है, क्योकि आगम के दो भेद हैं—दृष्टार्थ-विषयक और अदृष्टार्थ विषयक। दृष्टार्थ-विषयक आगम तो स्पष्टतः अनुमान है। 'घट' शब्द का श्रवण करते ही पहले प्रत्यक्ष देखकर अमुक विशिष्ट आकार वाले पदार्थ के निश्चय का पुनः स्मरण होता है, उससे अनुमान कर लिया जाता है कि वक्ता 'घट' शब्द से अमुक आकार विशेष वाले पदार्थ का प्रतिपादन करता है। परन्तु हमने कभी सुना ही नही है कि जीव शरीर से[3] भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। तब फिर दृष्टार्थविषयक आगम से भी शरीर से भिन्न जीव की सिद्धि कैसे हो सकेगी ?

अदृष्टार्थविषयक आगम परोक्ष पदार्थों के प्रतिपादक वचनरूप होता है। यह भी अनुमानरूप है। जैसे—स्वर्ग-नरक आदि पदार्थ अदृष्ट (परोक्ष)

---

१ वही, (गणधरवाद) गा. १५५० पृ. ३ (अनुवाद)

२ वही, (गणधरवाद) गा. १५५१ पृ. ४ (अनुवाद)

३ वही, (गणधरवाद) गा. १५५२ पृ. ४ (अनुवाद)

हैं । इस विषय में अदृष्टार्थ विषयक आगम यों अनुमानरूप होता है—"स्वर्ग-नरकादि का प्रतिपादक वचन प्रमाण रूप है, क्योंकि वह चन्द्रग्रहण आदि वचन के समान अविसंवादी वचन वाले आप्तपुरुष का वचन है" किन्तु अदृष्टार्थ जीव के विषय में ऐसा अनुमानरूप प्रमाण नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा कोई भी आप्तपुरुष सिद्ध नहीं है, जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हो, जिसके आधार पर इस सम्बन्ध में उसका वचन प्रमाण माना जाए । तथा अप्रत्यक्ष होने पर भी जीव का अस्तित्व मान लिया जाए । अतः आगम प्रमाण से भी जीव की सिद्धि सम्भव नहीं । फिर तथाकथित आगम भी आत्मा (जीव) के स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं बल्कि कई आगमों के मत तो परस्पर विरोधी हैं । इसलिए आगम-प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नही हो सकती है[१] ।

४. उपमान-प्रमाण से भी जीव असिद्ध है—विश्व में कोई भी अन्य पदार्थ आत्मा जैसा नही है, जिसकी उपमा आत्मा से दी जा सके । आत्म-सदृश कोई पदार्थ न होने से आत्मा सम्बन्धी ज्ञान कैसे हो सकता है ? अतः उपमान-प्रमाण से भी आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती[२] ।

५. अर्थापत्ति-प्रमाण से भी आत्मा सिद्ध नहीं हो सकती—संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जिसका अस्तित्व उसी दशा में सिद्ध हो, जब आत्मा को माना जाए । अतः अर्थापत्ति द्वारा भी आत्मा की सिद्धि शक्य नही है[३] ।

जैनदर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम की उपर्युक्त शंकाओं क सयुक्तिक समाधान किया है, जिसका विस्तृत विवरण गणधरवाद मे अकित है । हम यहाँ विस्तृत रूप से जैन दर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की चर्चा करेंगे । इसी के अन्तर्गत गणधर इन्द्रभूति गौतम की शंकाओ का भी समाधान समाविष्ट कर लिया गया है । जैन दार्शनिको ने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि विभिन्न प्रमाणों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है ।

१. प्रत्यक्ष से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि—'आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए उसका अभाव है,' इस कथन का निराकरण तत्त्वार्थराजवार्तिक में

---

१ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५५२ (अनुवाद) पृ. ५

२ वही, (गणधरवाद) गा. १५५३ (अनुवाद) पृ. ६

३ वही, (गणधरवाद) गा. १५५३ (अनुवाद) पृ. ६

इस प्रकार किया गया है—"इन्द्रिय-निरपेक्ष आत्मजन्य केवलज्ञानरूप सकल-प्रत्यक्ष के द्वारा शुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है, तथा अवधिज्ञान-मनःपर्यवज्ञान रूप देश-प्रत्यक्ष के द्वारा कर्म-नोकर्मयुक्त अशुद्धात्मा का प्रत्यक्ष होता है[1]।

२. **आत्मा प्रत्यक्ष भी है**—गणधरवाद में गणधर इन्द्रभूति गौतम को भगवान् महावीर ने कहा—"तुमने जो यह कहा कि आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है,' यह कथन प्रत्यक्ष से बाधित है, जैसे कि शब्द का श्रवण द्वारा प्रत्यक्ष होता है, फिर भी कोई कहे कि शब्द तो अश्रावण है, अर्थात्—वह कर्णग्राह्य नहीं, उसी प्रकार आत्मा अहंप्रत्यय ('मैं हूँ' इस प्रकार के कथन) द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी अनुमान करते हो कि आत्मा का अस्तित्व ग्राहक पांचों प्रमाणों से बाधित है । 'आत्मा नहीं है', यह तुम्हारा (गणधर गौतम का) पक्ष अनुमान-बाधित है । आगे आत्मसाधक अनुमानों का प्रतिपादन किया जाएगा । 'मैं संशय कर्ता हूँ' यह बात स्वीकार करने के पश्चात् आत्मा नहीं है' (अर्थात्—मैं नहीं हूँ) ऐसा कथन करने से तुम्हारा पक्ष स्व-स्वीकार से भी बाधित होता है । आशय यह है कि मैं संशयकर्ता हूँ, यह कहकर 'मैं' का स्वीकार तो हो गया, अब 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कहकर 'मैं' का निषेध करते हो । अतः 'मैं' के निषेध की बात अपने प्रथम स्वीकार से ही बाधित हो जाती है ।"

"आत्मा नहीं है', यह तुम्हारा पक्ष लोकविरुद्ध भी है; क्योंकि अनपढ़ लोग भी आत्मा को स्वीकार करते हैं । जैसे—कोई व्यक्ति शशि को अचन्द्र कहे यह लोकविरुद्ध है, वैसे ही 'मैं आत्मा नहीं' अर्थात्—'मैं', मैं नहीं, ऐसा कथन 'मेरी मां वन्ध्या है,' इस कथन के समान स्ववचन-विरुद्ध भी है"[2]।

३. **सर्वज्ञ को आत्मा प्रत्यक्ष है, छद्मस्थ को आंशिक प्रत्यक्ष**—"हे इन्द्रभूति गौतम! तुम्हें भी आत्मा का प्रत्यक्ष है । तुम्हारा यह प्रत्यक्ष आंशिक है, आत्मा का सर्व प्रकार से पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु मुझे उसका सर्वथा पूर्ण प्रत्यक्ष है । तुम छद्मस्थ हो, वीतराग नहीं । अतः तुम्हें वस्तु का आंशिक साक्षात्कार होता है । अतः तुम्हें वस्तु के अनन्त स्व-पर-पर्यायों का

---

१ (क) जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ।" —प्रवचनसार गा. ५८
(ख) वही गा. ५९
(ग) सर्वद्रव्य पर्याय विषयम् सकलम्—-न्यायदीपिका पृ. ३६
(घ) तत्त्वार्थ वार्तिक २/८/१८

२ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५५७ (अनुवाद) पृ. ९-१०

साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु वस्तु का आंशिक साक्षात्कार होता है । जैसे घटादि पदार्थ दीपक आदि से अंशतः प्रकाशित होने पर भी कहा जाता है, घट प्रकाशित हुआ । इसी प्रकार छद्मस्थ के द्वारा घटादि पदार्थों का आंशिक प्रत्यक्ष होने पर भी घट प्रत्यक्ष हुआ, ऐसा व्यवहार होता है । इसी आधार पर आत्मा का तुम्हें आंशिक प्रत्यक्ष होने पर भी व्यवहार में कहा जाएगा, तुम्हें आत्मा का प्रत्यक्ष हो गया । मैं केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) हूँ, मेरा ज्ञान अप्रतिहत, अनन्त और पूर्ण है, इसलिए मुझे आत्मा का पूर्णरूप से प्रत्यक्ष है । तुम्हारी शंका अतीन्द्रिय थी, अतः बाह्य इन्द्रियों से अग्राह्य थी, फिर भी मैने उसे जान ली । यह बात तुम्हें प्रतीतिसिद्ध है । इससे तुम समझ लो कि मुझे आत्मा का पूर्ण साक्षात्कार हुआ है"[१]।

४. इन्द्रिय-प्रत्यक्ष न होने पर भी आत्मा का अभाव सिद्ध नहीं होता— जैनदर्शन इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को परोक्ष मानता है । इसलिए इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से, उसका अभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता । इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय वस्तुओ को ग्रहण नही कर सकतीं । इसलिए वे अग्राहक हैं, सर्वज्ञ आत्मा ही प्रत्यक्ष ग्राहक है । इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उन-उन गृहीत विषयो की स्मृति होती है । जिस प्रकार खिड़की के नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा देखने वाला विद्यमान रहता है, इसी प्रकार इन्द्रियरूपी खिड़कियो से देखने वाले आत्मा की सत्ता रहती है [२] ।

५. स्व-सवेदन-प्रत्यक्ष— शास्त्रवार्ता-समुच्चय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, स्याद्वादमंजरी आदि ग्रन्थों में स्व-सवेदन-प्रत्यक्ष से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है । जिस प्रकार सुख-दुःख का स्व-संवेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध होता है । जो प्रत्यक्ष (स्वसंविदित) हो, उसकी सिद्धि के लिए अन्य प्रमाण अनावश्यक हैं । उसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि वाक्यों में 'मै' प्रत्यक्ष के द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है । 'मैं हूँ' यह ज्ञान भ्रान्त नही है, और न 'मै' से शरीरादि का बोध होता है । आत्मा का यह स्वभाव भी है कि वह आत्मा के द्वारा आत्मा को जानता है । यह बात अनुभवसिद्ध भी है । इस प्रकार 'मैं' विषयक प्रत्यक्ष अनुभव से स्वयं ज्योतिस्वरूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

वेदान्त दर्शन में बताया गया है कि सभी को अपने (आत्मा के) अस्तित्व की प्रतीति 'मैं हूँ' इस प्रकार से होती है । किसी को यह प्रतीति

---

१ विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५६३ पृ १२

२ (क) जं पइदो विण्णाणं तं तु परोक्ख त्ति । —प्रवचनसार गा. ५८

(ख) तत्त्वार्थ वार्तिक २/८/५८

नहीं होती तथा कोई यह भी नहीं कहता कि "मैं नहीं हूँ ।" इस प्रकार के स्व-संवेदनरूप आत्मनिश्चय से आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है[१] ।

६. अहं-प्रत्यय से भी आत्मा प्रत्यक्ष—'मैंने किया है, मैं करता हूँ, मैं करूँगा', इत्यादि प्रकार से तीनों काल सम्बन्धी अपने विविध कार्यकलापो का जो निर्देश किया जाता है, उसमें 'मैं'पन का जो अहंरूप ज्ञान होता है, वह भी आत्मप्रत्यक्ष ही है । यह अहंरूप ज्ञान न तो अनुमानरूप है, और न ही आगमरूप । वह आत्मा का ही प्रत्यक्ष है । घटादि पदार्थों में आत्मा (चेतना) न होने से उन्हें इस प्रकार के अहंपन का आत्म-प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसा अहं-प्रत्यय (मैं शब्द का प्रयोगात्मक निश्चय) जीव के बदले शरीर के लिए नहीं होता, अन्यथा मृतदेह में भी अहंप्रत्यय होना चाहिए, वह नहीं होता । अतः अहंपन के ज्ञान का विषय शरीर नहीं, अपितु जीव (आत्मा) ही है[२] ।

७. संशयरूप विज्ञान से आत्मा प्रत्यक्ष है—इन्द्रभूति गौतम की शंकाओं का समाधान करते हुए भ. महावीर ने कहा "जीव (आत्मा) है या नहीं ?" इस प्रकार का जो संशयरूप विज्ञान है, वही जीव है; क्योंकि जीव विज्ञानरूप है । तुम्हें तुम्हारा संशय तो प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि[३] वह विज्ञानरूप है । जो विज्ञानरूप होता है, वह स्व-संवेदन-प्रत्यक्ष से स्व-संवेदित होता ही है, अन्यथा विज्ञान का ज्ञान घटित नहीं हो सकता । इस प्रकार संशयरूप विज्ञान तुम्हें प्रत्यक्ष हो तो उस रूप मे जीव (आत्मा) भी प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष की सिद्धि में अन्य प्रमाण अनावश्यक है ।

८. संशयकर्त्ता भी जीव ही है—"यदि संशय करने वाला कोई न हो तो 'मै हूँ या नहीं ?' यह सशय किस को होगा ?" संशय विज्ञानरूप है और विज्ञान एक गुण है, जो गुणी के बिना रह नहीं सकता । अतः संशयरूप विज्ञानगुण का कोई गुणी मानना आवश्यक है । संशय का आधार गुणी (संशयकर्ता) जीव (आत्मा) ही है । सशय करने वाला कोई न कोई चेतन

---

१ (क) अहमस्मीत्येव दर्शनं स्पष्टादहं-प्रत्यय-वेदनात्।

-शास्त्रवार्ता-समुच्चय १/७९, १/८०-८७

(ख) प्रमेय कमल मार्तण्ड, पृ. ११२

(ग) स्याद्वादमंजरी, कारिका १७

(घ) सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाऽहमस्मीति'

—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १/१/१

२ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५५५ (अनुवाद) पृ. ८

३ वही, (गणधरवाद) गा. १५५४ (अनुवाद) पृ. ७

पदार्थ ही हो सकता है । अतः संशय का ज्ञान आत्मरूप होने से संशयी (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है । देह मूर्त्त और जड़ होने से अमूर्त्त और बोधरूप ज्ञान के ज्ञाता आत्मा को ही गुणी मानना चाहिए । तत्त्वार्थ वार्तिक में कहा गया है– "आत्मा है या नहीं? इस प्रकार का ज्ञान संशयरूप हो तो उससे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । क्योंकि जिसका अस्तित्व है, उसी के विषय में संशय होता है । जो अवस्तु है, जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके विषय में संशय होता ही नहीं ।" अतः आत्मा के विषय मे संशय होने से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है।[1]

९. गुणों के प्रत्यक्ष से गुणी आत्मा का प्रत्यक्ष–'आत्मा प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसके स्मरणादि विज्ञानरूप गुण स्व-संवेदन द्वारा प्रत्यक्ष हैं । जिस गुणी के गुण प्रत्यक्ष होते हैं, वह गुणी भी प्रत्यक्ष होता है, जैसे–घटादि के प्रत्यक्ष का आधार उसके रूपादि गुण हैं । आत्मा के स्मरणादि गुण प्रत्यक्ष होने से आत्मा (गुणी) भी प्रत्यक्ष है ।

गुण गुणी से अभिन्न हो तो गुणदर्शन से गुणी का भी साक्षात् दर्शन मानना चाहिए । जैसे कपड़े और उसके रंग के अभिन्न होने से रंग के ग्रहण से वस्त्र का भी ग्रहण हो जाता है, वैसे ही स्मरणादि गुणों के प्रत्यक्ष से आत्मा का भी प्रत्यक्ष हो ही जाता है ।[2]

१०. विज्ञाता आत्मा ज्ञानरहित इन्द्रियों से भिन्न है–शरीर में विद्यमान इन्द्रियों से विज्ञाता–आत्मा भिन्न है, क्योकि इन्द्रियो के व्यापार के अभाव मे भी उनसे उपलब्ध पदार्थों का स्मरण होता है । जैसे–झरोखे द्वारा देखी गई वस्तु को देवदत्त झरोखे के बिना भी याद कर सकता है । अतः देवदत्त झरोखे से भिन्न है । उसी प्रकार इन्द्रियों के बिना भी इन्द्रियो द्वारा उपलब्ध पदार्थों का स्मरण करने से आत्मा को इन्द्रियो से भिन्न मानना चाहिए । अतः विज्ञाता आत्मा ज्ञान चैतन्यरहित इन्द्रियो से भिन्न है ।[3] उसका पृथक स्वतंत्र अस्तित्व है ।

११. दूसरों के शरीर में आत्मा की सिद्धि–अपने शरीर में जैसे विज्ञानमय आत्मा है, वैसे ही दूसरो के शरीर में भी विज्ञानमय आत्मा है; क्योकि जैसे हमारी इष्ट मे प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है, वैसे ही दूसरो की भी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति होती है । इसलिए हमारे शरीर मे

---

१ (क) विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५५६ (अनुवाद) पृ. ९

(ख) तत्त्वार्थवार्तिक २/८/२०

२ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५५९ (अनुवाद) पृ. १०

३ वही, (गणधरवाद) गा. १५६२ (अनुवाद) पृ. १२

आत्मा है, इसी प्रकार दूसरों के शरीर में भी आत्मा की सत्ता अवश्य होनी चाहिए । दूसरों के शरीर में आत्मा न हो तो घट-पट आदि अचेतन पदार्थों के समान उनकी भी इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति न होती[१] ।

१२. अनुमान-प्रमाण द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि—यह कोई एकान्त नियम नहीं है कि साध्य (लिंगी) के साथ हेतु (लिंग) को पहले प्रत्यक्ष देखा हो, तभी बाद में हेतु से साध्य की सिद्धि हो सकती है । जैसे—किसी व्यक्ति ने भूत को हास्य, गान, रुदन, हाथ-पैर मारने की क्रिया, नेत्रविक्षेप आदि लिंगों (हेतुओं) के साथ पहले कभी देखा नहीं, फिर भी इन लिंगों को देखकर दूसरे के शरीर में भूत होने का अनुमान होता है; उसी प्रकार आत्मा के साथ किसी लिंग (हेतु) का प्रत्यक्ष दर्शन पूर्वगृहीत न होने पर भी आत्मा का अनुमान हो सकता है ; यह मानना चाहिए[२] ।

१३. संशय का विषय होने से आत्मा की सत्ता सिद्ध है—भ. महावीर न गणधर गौतम से कहा— "तुम्हारे में आत्मा (जीव) है, क्योंकि तुम्हें इस विषय में संशय है । जिस विषय में संशय हो, वह अवश्य ही विद्यमान होता है । जो अवस्तु हो सर्वथा अविद्यमान हो, उसके विषय में कभी किसी को संशय नहीं होता । जैसे—यह ठूंठ है या पुरुष ? इस प्रकार के संशय मे दोनों ही वस्तुएँ विद्यमान हैं । संशयास्पद दोनों वस्तुएँ, वहीं (उसी स्थल पर) विद्यमान हों, ऐसा नियम नहीं है । संशय की विषयभूत वस्तु वहाँ या अन्यत्र कहीं भी विद्यमान हो सकती है । 'गधे के सींग' के विषय में संशय हो तो संशयास्पद सींग चाहे गधे के न हों, किन्तु अन्यत्र गाय आदि के तो हैं ही । विश्व में सींग का सर्वथा अभाव नहीं है[३] ।

१४. विपर्यय और अनध्यवसाय द्वारा भी आत्मा की सिद्धि—यही बात विपर्यय ज्ञान या भ्रमज्ञान के विषय में समझ लेनी चाहिए । यदि जगत् में सर्प का सर्वथा अभाव होता तो रस्सी के टुकड़े में सर्प का भ्रम कदापि नहीं होता । इस न्याय से यदि तुम शरीर में आत्मा का भ्रम ही मानो तो भी आत्मा का अस्तित्व वहाँ नहीं, तो अन्यत्र कहीं मानना ही पड़ेगा ।

और विपर्यय भी अप्रसिद्ध या अविद्यमान पदार्थ का नहीं होता, प्रसिद्ध एवं विद्यमान पदार्थ का ही होता है । इसलिए विपर्यय ज्ञान से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । 'आत्मा है,' यह ज्ञान अनध्यवसाय

---

१ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५६४ (अनुवाद) पृ. १३

२ वही, गा. १५६५-६६ (अनुवाद) पृ. १३

३ वही, गा. १५७१ (अनुवाद) पृ. १५

(अनिश्चय) रूप भी नहीं होता, क्योंकि अनादिकाल से प्रत्येक व्यक्ति आत्मा का अनुभव करता है[1]।

१५. आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता, मंता आदि है, अचेतन पदार्थ नहीं— जैनदर्शन अजीव (अचेतन=जड़) से भिन्न जीव (आत्मा) को सचेतन मानता है तथा उसे ही विज्ञाता, द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, स्वतंत्र आत्मा कहता है। ये लक्षण अचेतन-जड़-अजीव में नहीं पाये जाते। साधारणतया यह कहा जाता है कि हम अपनी आँखों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं, जीभ से चखते हैं, मन से विचार करते हैं आदि, किन्तु यह यथार्थ नहीं है। ये इन्द्रियाँ और मन तो उपकरण मात्र हैं, जड़ हैं, भौतिक हैं, विषयो को जानने, देखने आदि की शक्ति तो आत्मा में है। अगर इन्द्रियाँ और मन में ही देखने-जानने आदि की शक्ति होती तो मुर्दा प्राणी क्यों नहीं देख-सुन पाता ? वह क्यों नहीं बोलता? वह क्यो नही सोचता?, जबकि द्रव्येन्द्रिय एवं द्रव्यमन तो उसके भी होता है। इसका कारण यह है कि देखने-सुनने आदि की शक्ति तो आत्मा में थी। जब तक उस मृत प्राणी मे आत्मा थी, तब तक इन्द्रियाँ व मन देखने सुनने आदि का कार्य करते थे। परन्तु उस मृत शरीर मे से आत्मा के निकल जाने से वह अब देख-सुन आदि नहीं सकता।[2]

१६. संकलनात्मक ज्ञान करने वाली आत्मा है, इन्द्रियाँ नहीं— इस सम्बन्ध में एक तथ्य और भी विचारणीय है। कान केवल शब्द सुन सकते हैं, आँखे केवल दृश्य पदार्थों को देख सकती हैं, नाक सिर्फ सूंघ सकती है, जीभ केवल स्वाद का अनुभव कर सकती है, और त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) केवल शीत-उष्ण आदि स्पर्शों का ज्ञान कर सकती है, और ये सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का ज्ञान आत्मा की शक्ति से ही कर सकती है, अन्यथा नहीं। यही कारण है कि आँख बन्द कर लेने पर दूसरी इन्द्रिय या अंग से देखा नहीं जा सकता, कान बंद कर लेने पर दूसरे किसी अंग या इन्द्रिय से सुना नहीं जा सकता।

---

१ (क) विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५७२ (अनुवाद) पृ. १६
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक २/८/२०

२ (क) जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया।
जेण विजाणति से आया, त पडुच्च पडिसंखाए; से आयावादी।
—आचाराग श्रु. १

(ख) आत्मा ज्ञानं, स्वयं ज्ञानं, ज्ञानादन्यत् करोति किम् ?
—आचार्य अमृतचन्द्र

(ग) कर्मग्रन्थ भा. १(मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी म.) (प्रस्तावना) पृ. ३६

यही बात अन्य इन्द्रियों के विषय में है । किसी भी इन्द्रिय में स्वयं में ऐसी शक्ति नहीं है, कि वह अकेली ही अन्य इन्द्रियों के विषयों का एक साथ अनुभव कर सके । सूत्रकृतांग वृत्ति में भी कहा गया है—पाँचों इन्द्रियों के जाने हुए विषय को समष्टिरूप से अनुभूति कराने वाला द्रव्य कोई भिन्न ही होना चाहिए, उसे ही आत्मा कहते हैं ।[१] अतः कोई ऐसी शक्ति होनी चाहिए, जो एक साथ ही देखना, सुनना, सूंघना, चखना, स्पर्श करना आदि क्रियाएँ कर सके; वह शक्ति आत्मा के सिवाय और कोई नहीं है । अतः इन्द्रियादि पौद्‌गलिक (अचेतन) वस्तुओं से भिन्न स्वतंत्र सचेतन आत्मा ही ज्ञाता, द्रष्टा आदि है । यही कारण है कि वृहदारण्यक उपनिषद् में बताया है— "प्राण का ग्रहण करने वाला वही है, मन का विचार करने वाला वही है, ज्ञान का जानने वाला वही है । यही द्रष्टा है, यही श्रोता है, यही मन्ता है और यही विज्ञाता है ।"[२] अतः सभी इन्द्रियों द्वारा जाने गये विषयों एवं ज्ञानों में एकसूत्रता देखने वाले ग्रहणकर्ता के रूप में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है । इन्द्रियाँ अचेतन एवं क्षणिक हैं । उनसे ऐसा हो नहीं सकता । इसलिए इन्द्रियों से भिन्न सकल ज्ञान और विषय को ग्रहण करने वाला कोई अवश्य होना चाहिए, जो ऐसा है, वही आत्मा है[३] ।

१७. ज्ञान रूप असाधारण गुण के कारण आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है— आत्मा का असाधारण लक्षण ज्ञान है । वह आत्मा (चेतन) के अतिरिक्त किसी भी शरीर, मन, बुद्धि या इन्द्रिय का लक्षण नहीं हो सकता । आत्मा और ज्ञान, ये दोनो अभिन्न हैं । आचारांग सूत्र में कहा गया है—जो विज्ञान है वही आत्मा है, जो आत्मा है वही विज्ञान है । नियमसार एवं पंचास्तिकाय मे भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि ज्ञान से भिन्न आत्मा और आत्मा से भिन्न ज्ञान कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होता ।[४]

यदि ज्ञान को शरीर, इन्द्रियों, मन आदि का लक्षण मानें तो बड़े-छोटे शरीर में, बृहदाकार तथा लघु आकार की इन्द्रियों में या

---

१ पंचण्हं संजोगे अण्णगुणाणं न चेयणाइ गुणो होई ।
पंचिंदियठाणाणं सा अण्णमुणियं मुणइ अण्णो ॥ - सूत्रकृतांगवृत्ति

२ (क) बृहदारण्यक उपनिषद् ३/४/१-२, ३/७/२३, ३/८/११
(ख) तत्त्वार्थ वार्तिक २/८/१९ पृ. १२

३ (क) स्याद्वाद मंजरी, कारिका १७, पृ.१७३
(ख) तत्त्वार्थवार्तिक २/८/२७

४ (क) जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया ।
(ख) पंचास्तिकाय ४३
(ग) अप्पाणं विणु णाणं, णाणं विणु अप्पगो न सदेहो ।
—नियमसार १७१

संज्ञी-असंज्ञी दोनों प्रकार के जीवों में ज्ञान की न्यूनाधिकता होनी चाहिए, परन्तु यह तथ्य अनुभवसिद्ध नहीं है। ज्ञान अगर शरीरादि का लक्षण माना जाएगा तो मृतशरीर में भी ज्ञान का अस्तित्व मानना पडेगा, जो असम्भव है। अतः ज्ञान गुण के कारण गुणी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

१८. जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञानरूप गुण न्यूनाधिकरूप में अवश्य रहता है— यह बात दूसरी है कि विभिन्न आत्माओं पर कर्मों का आवरण भिन्न-भिन्न प्रकार का होने के कारण विभिन्न जीवों के ज्ञान में न्यूनाधिकता होनी सम्भव है, परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता कि जहाँ आत्मा हो, वहाँ ज्ञान न हो।

नन्दीसूत्र में यह स्पष्ट बताया गया है कि संसार के समस्त जीवों में निगोदस्थ (अनन्तकायिक) जीव ऐसे हैं, जिनके उत्कट ज्ञानावरणीय कर्म का उदय रहता है। फिर भी जैसे घनघोर घटाओं से सूर्य के पूर्णतः आच्छादित होने पर भी उसकी प्रभा का कुछ अंश अनावृत रहता है, जिससे दिन और रात का विभाग होता है, उसी प्रकार उन जीवों में भी ज्ञान (अक्षरश्रुत) का अनन्तवाँ भाग नित्य अनावृत (उद्घाटित) रहता है। यदि ज्ञान पूर्णरूप से आवृत हो जाए तो जीव (आत्मा) भी अजीवत्व (अनात्मत्व) को प्राप्त हो जाए[१]।

इस तथ्य को स्पष्ट रूप से एक रूपक द्वारा समझे। जैसे—घनघोर घटाओं को विदीर्णकर दिवाकर की प्रभा भूमण्डल पर आती है, किन्तु सभी मकानों पर उसकी प्रभा एक सरीखी नही पड़ती। मकानों की बनावट के अनुसार कहीं मन्द, कहीं मन्दतर और कहीं मन्दतम रूप में पड़ती है, वैसे ही जीवो को अपनी-अपनी बनावट तथा मतिज्ञानावरणीय आदि के उदय की न्यूनाधिकता के अनुसार ज्ञान की प्रभा किसी में मन्द, किसी मे मन्दतर और किसी मे मन्दतम होती है परन्तु उनमें ज्ञान पूर्ण रूप से कभी तिरोहित नही होता।

१९. सुषुप्ति अवस्था में भी ज्ञान एवं चैतन्य का अनुभव—नैयायिक और वैशेषिक सुषुप्ति अवस्था मे चैतन्य का तथा सांख्य दार्शनिक ज्ञान का अनुभव नही मानते। इनका कहना है कि यदि सुषुप्ति अवस्था में आत्मा में ज्ञान या चैतन्य रहता तो जागृत अवस्था के समान सुषुप्तिअवस्था में भी वस्तुओं का ज्ञान होता; किन्तु वह नही होता है। इसलिए सिद्ध है कि सुषुप्त अवस्था में आत्मा मे ज्ञान या चैतन्य नहीं रहता।

---

१ सव्वजीवाण पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ हवइ। जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवो अजीवत्तं पावेज्जा। सुट्ठु वि मेहसमुदये होई पभा चन्द सूराणं ॥

—नन्दीसूत्र ४३

जैनदार्शनिकों ने इसका निराकरण किया है । उनका कथन है कि जिस प्रकार बादल सूर्य को आच्छादित कर देता है, उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में दर्शनावरणीय कर्म चैतन्य (ज्ञान) को आच्छादित कर देता है । इसलिए ज्ञान उस समय बाह्य और अन्तरंग विचारों से उसी प्रकार रहित हो जाता है, जिस प्रकार मंत्रादि के द्वारा अग्नि आदि की शक्ति प्रतिबद्ध या अभिभूत कर दी जाती है । मगर सुषुप्ति या मत्त-मूर्च्छादि अवस्था में भी आत्मा में चेतना सर्वथा लुप्त नही हो जाती, वह दर्शनावरणीय आदि कर्मावरण के कारण धुँधली हो जाती है । इसलिए कहना चाहिए कि उस समय भी चेतना सूक्ष्म एवं निर्विकल्प रूप में आत्मा मे रहती है । दूसरी बात, निद्रावस्था से उठने के बाद मनुष्य को इस प्रकार की स्मृति होती है कि मै बहुत देर तक सोया, सुख से सोया, इत्यादि । अतः आत्मा ज्ञान-स्वरूप है । यह अवश्य है कि जागृत-अवस्था में ज्ञान प्रकट रूप में रहता है, जबकि सुषुप्त-अवस्था में अप्रकट रूप मे । और ज्ञान तथा सुख का संवेदन करना ही चैतन्य का लक्षण है । यदि सुषुप्त अवस्था में आत्मा मे ज्ञान का अस्तित्व नहीं माना जाएगा तो चैतन्य का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा । फिर सुषुप्त अवस्था मे चैतन्य का प्रमाण यह भी है कि जिस प्रकार जागृत अवस्था में चैतन्य के होने पर श्वासोच्छ्वास चलना, नेत्र खोलना आदि क्रियाएँ होती हैं, वैसी सुषुप्त अवस्था मे भी होती है । अतः सुषुप्त अवस्था मे भी चैतन्य और ज्ञान दोनो आत्मा मे रहते है । चैतन्य और ज्ञान गुण का अस्तित्व सिद्ध होने से गुणी आत्मा का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है[1] ।

२०. **व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध**—जीव (आत्मा) पद व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद होने से सार्थक (अर्थवाला) है । जो पद सार्थक नही (अर्थरहित) होता, वह व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद नही होता । जैसे—डित्थ, डवित्थ आदि पद सार्थक न होने से व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध पद नही हैं । जीव पद व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध है, अतः उसका अर्थ और अस्तित्व भी अवश्य होना चाहिए । जीव पद का अर्थ शास्त्रों और ग्रन्थो मे शरीरादि से भिन्न चैतन्य या ज्ञान से युक्त जन्तु, प्राणी, भूत, सत्व, आत्मा, चेतन आदि है। इससे भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है[2] ।

---

१ (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/१/५
(ख) तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १/२३५-२३६-२३७
(ग) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ८४७
(घ) प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ. ३२३

२ (क) विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १५७५ (अनुवाद) पृ. १९
(ख) स्याद्वादमजरी का. १७
(ग) सत्य शासन-परीक्षा (आ. विद्यानन्द) पृ. १५

२१. बाधक प्रमाण के अभाव से आत्मा की अस्तित्व सिद्धि— अनात्मवादियों का कहना है कि आत्मा को सिद्ध करने वाला कोई कारण नहीं है। किन्तु यह 'अकारणत्वात्' हेतु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक दोषयुक्त है। ऐसा कोई प्रमाण या कारण नहीं, जो आत्मा के अस्तित्व का अभाव सिद्ध करता हो; क्योंकि मनुष्य, नारक आदि पर्यायों में कर्मसंयुक्त आत्मा मिलती है, इन पर्यायों की उत्पत्ति मिथ्यादर्शनादि पांच कारणों से होती है। इसलिए आत्मा का अस्तित्व असिद्ध नहीं है। उनका यह हेतु विरुद्ध भी है, क्योंकि यह हेतु आत्मा का अभाव सिद्ध न करके, सद्भाव ही सिद्ध करता है। सभी घटादि पदार्थ स्व-भाव से सत् हैं। सत् होता है, वह अकारण होता है, कारणविशेष से नही होता। अतः आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने वाला कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इन्द्रियों द्वारा आत्मा का ग्रहण न होना, उसका बाधक प्रमाण नहीं हो सकता। बाधक प्रमाण वही हो सकता है, जो उस विषय को जानने की शक्ति रखता हो, लेकिन अन्य सब सामग्री रहने पर भी उसे ग्रहण न कर सके। इन्द्रियाँ भौतिक—रूपी पदार्थों में से जो स्थूल, निकटवर्ती और नियत हों, उन्हीं विषयों को ही जान सकती हैं, इसलिए उनका अभौतिक—अमूर्त्त आत्मा को जान-देख न सकना बाधक नही कहा जा सकता। मन सूक्ष्म, भौतिक एव चंचल होने से वह भी अतीन्द्रिय अमूर्त्त आत्मा को नहीं देख-जान सकता। सूक्ष्मदर्शक यंत्रों का भी यही हाल है। अतः मन, इन्द्रियाँ आदि सभी साधन भौतिक होने से आत्मा के अस्तित्व का निषेध करने की शक्ति नही रखते।[१]

२२. प्राणापान कार्य द्वारा आत्मा की अस्तित्व सिद्धि—तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है—जिस प्रकार यंत्रमूर्ति की चेष्टाओं से उसके प्रयोग का अस्तित्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार श्वासोच्छ्वासरूप क्रिया से क्रियावान् आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।[२]

२३. शरीर का कर्ता होने से आत्मा सिद्ध है—प्रत्यक्ष दृश्यमान शरीर घट की तरह सादि और नियत आकार वाला है, इसलिए घट के कर्ता के समान देह का भी कोई कर्ता होना चाहिए। जिसका कोई कर्ता नहीं होता, उसकी आदि एवं नियत आकृति भी नहीं होती, जैसे आकाश। आकाश सादि एवं

---

१ (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक २/८/१८
(ख) प्रवचनसार गा. १० एव १८, पचास्तिकाय गा. १५
(ग) कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.)

२ (क) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि टीका (आचार्य पूज्यपाद) ५/१९
(ख) स्यादवाद मजरी, कारिका १७

नियताकार नहीं होता। इसलिए उसका कोई कर्त्ता भी नहीं होता। शरीर सादि एवं निश्चित आकार वाला होने से इसका कोई कर्ता होना चाहिए। कर्मों के कारण शरीर का कर्ता आत्मा है। विशेषावश्यकभाष्य आदि में इस अनुमान प्रमाण द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।[1]

२४. शरीरादि के भोक्ता के रूप में आत्मा की अस्तित्व सिद्धि—विशेषावश्यक भाष्य में बताया गया है कि जैसे—भोजन-वस्त्रादि पदार्थ भोग्य होते हैं, पुरुष उनका भोक्ता होता है; उसी प्रकार देह आदि भी भोग्य होने से इनका भी कोई भोक्ता होना चाहिए, क्योंकि भोग्य पदार्थ स्वयं अपने आप भोक्ता नहीं होते। अतः शरीरादि का जो भोक्ता है, वही आत्मा है। ईश्वर आदि अन्य कोई शरीरादि का कर्त्ता, भोक्ता अथवा स्वामी (अर्थी) नहीं हो सकता, क्योंकि यह युक्तिविरुद्ध है। अतः आत्मा ही उसका कर्त्ता, भोक्ता या स्वामी है।[2]

२५. आत्मा कथंचित् मूर्तादि रूप है—आत्मा तो नित्य, अमूर्त और (शरीरादि के) असंघातरूप है, फिर वह शरीरादि का कर्त्ता-भोक्ता या स्वामी आदि कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भ. महावीर ने कहा—जो मुक्त आत्मा है, वह तो अमूर्त ही है, लेकिन संसारस्थ आत्मा आठ कर्मों से आवृत तथा सशरीर होने के कारण कथंचित् मूर्त आदि रूप है।[3]

२६. शरीरादि संघातों का स्वामी आत्मा है—विशेषावश्यकभाष्य में सांख्यदर्शन के समान यह तर्क भी प्रस्तुत किया गया है कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अंगोपांग आदि संघात रूप होते हैं, इसलिए इनका कोई स्वामी अवश्य होना चाहिए। जो संघातरूप होता है, उसका कोई न कोई स्वामी होता है। जैसे—गृह संघात रूप है, तो उसका स्वामी गृहपति होता है। इसी प्रकार शरीरादि संघातरूप वस्तुओं के प्रत्यक्ष होने से उनके स्वामी का अनुमान अवश्यम्भावी है। अतः कर्मवशात् प्राप्त शरीरादि संघात का जो स्वामी है, वही आत्मा है।[4]

२७. करणरूप इन्द्रियों का अधिष्ठाता : आत्मा—विशेषावश्यकभाष्य में यह भी तर्क समुपस्थित किया गया है कि इन्द्रियाँ करण हैं, इसलिए इनका कोई अधिष्ठाता अवश्य होना चाहिए, जैसे—दण्ड-चक्र आदि करणों का

---

१ (क) विशेषावश्यकभाष्य गा. १५६७
(ख) स्याद्वाद मंजरी का. १७

२ (क) विशेषावश्यकभाष्य गा. १५६९
(ख) षड्दर्शन समुच्चय टीका

३ विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५७०, (अनुवाद) पृ. १५

४ विशेषावश्यकभाष्य, १५६९

अधिष्ठाता कुम्भकार होता है। जिसका कोई अधिष्ठाता नहीं होता, वह करण नहीं होता, जैसे आकाश। अतः करणरूप इन्द्रियों का जो अधिष्ठाता है वही आत्मा है।[1] इसी प्रकार श्रोत्रादि इन्द्रियाँ करण हैं, उनका प्रेरक, जिनसे प्रेरित होकर इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं, भी आत्मा ही है।

२८. आदाता के रूप में आत्मा की सिद्धि—विशेषावश्यकभाष्य में आत्मा की सिद्धि आदाता के रूप मे भी की गई है। जैसे—संडासी और लोहे में आदान-आदेय (ग्रहण-ग्राह्य) सम्बन्ध होता है, तो उसे ग्रहण करने वाला (आदाता) लुहार होता है, इसी प्रकार इन्द्रियों और विषयों में आदान-आदेय (ग्रहण-ग्राह्य) सम्बन्ध है, अतः इनको ग्रहण करने वाला (आदाता) भी कोई न कोई होना चाहिए। क्योकि जहाँ आदान-आदेय सम्बन्ध होता है, वहाँ आदाता भी अवश्य होता है। अतः इन्द्रियो और विषयों में आदान-आदेय सम्बन्ध होने से उनके आदाता आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।[2]

२९. निषेध से आत्मा की सिद्धि—'आत्मा (जीव) नहीं है', इस कथन से भी आत्मा (जीव) का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। यदि आत्मा का सर्वथा अभाव हो तो 'आत्मा नहीं है', ऐसा प्रयोग सम्भव नहीं है। जैसे—जगत् मे यदि कही भी घड़ा न हो तो 'घड़ा नही है', ऐसा प्रयोग ही न होता। इसी प्रकार जीव (आत्मा) का सर्वथा अभाव होता तो 'जीव नही है', ऐसा प्रयोग नही होता। वास्तव मे, जब हम यह कहते है कि 'घट नही है", तब घट हमारे सामने न होकर भी अन्यत्र कही अवश्य विद्यमान होता है। इसी प्रकार 'आत्मा नहीं है' ऐसा कथन करने पर यदि आत्मा यहाँ नही तो, अन्यत्र कही उसका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। जो वस्तु सर्वथा अभावस्वरूप हो, उसके विषय मे निषेध भी नही किया जाता। अतः आत्मा के निषेध से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

इसी प्रकार "मै नहीं हूँ" ऐसी मानसिक कल्पना ही आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है, क्योकि आत्मा न हो तो ऐसी कल्पना ही प्रादुर्भूत न होती। अतः जो निषेध कर रहा है, वह स्वय ही आत्मा है। ब्रह्म-सूत्र शाकरभाष्य मे इसी तथ्य का समर्थन किया है कि जो जिसका निराकर्ता (निषेध-कर्ता) है, वही उसका स्वरूप है।[3]

---

१ (क) विशेषावश्यक भाष्य गा. १५६७
(ख) प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ. ११३

२ विशेषावश्यक भाष्य गा. १५६८

३. (क) विशेषावश्यकभाष्य गा. १५७३ (अनुवाद) पृ. १६
(ख) कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. ३०
(ग) 'य एव हि निराकर्ता तदेव हि तस्य स्वरूपम्'
—ब्रह्मसूत्र शा. भाष्य २/३/१/७

३०. अजीव के प्रतिपक्षी के रूप में जीव की सिद्धि—संसार में देखा जाता है कि सभी पदार्थों का कोई न कोई प्रतिपक्षी होता है। जैसे—अघट का प्रतिपक्षी घट। इसी तरह अजीव का प्रतिपक्षी कोई न कोई होना चाहिए। जहाँ-जहाँ व्युत्पत्ति वाले शुद्ध पदों का निषेध होता है, वहाँ-वहाँ उनके प्रतिपक्षी अवश्य होते हैं। जैसे—अघट कहते ही 'घट' रूप व्युत्पत्ति वाले पद का निषेध होता है, तब समझना चाहिए कि 'अघट' का प्रतिपक्षी 'घट' अवश्य विद्यमान है। इसी प्रकार 'अजीव' कहने से उसके प्रतिपक्षी व्युत्पत्तियुक्त शुद्ध जीव पद का निषेध हुआ है। अतः निश्चित है कि अजीव का प्रतिपक्षी जीव अवश्य विद्यमान है।

इसी प्रकार जगत् में सब पदार्थों का कोई न कोई विरोधी भी अवश्य रहता है। जैसे—अन्धकार का विरोधी प्रकाश, शीतलता की विरोधी उष्णता। इसी प्रकार जड़ पदार्थ का विरोधी भी कोई न कोई पदार्थ होना चाहिए। यह तर्क-शुद्ध और प्रमाणित है। अतः जो पदार्थ जड़ का विरोधी है, वह है—चेतन या आत्मा। इस प्रकार अजीव अनात्मा (जड़) के विरोधी तत्व—जीव या आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।[1]

३१. लोकव्यवहार द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि—शरीर मे जब तक जीव (आत्मा) होता है, तब तक यह व्यवहार होता है कि 'यह जीवित है,' शरीर से जीव का सम्बन्ध टूट जाने पर कहा जाता है—'जीव चला गया, यह मर गया।' इस प्रकार लोक व्यवहार में बोले जाने वाले वाक्यों मे 'जीव' पद के द्वारा शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।[2]

३२. शरीर जीव का आश्रय है, स्वयं जीव नहीं—जीव (आत्मा) निराश्रय नहीं है, वह किसी न किसी आश्रय मे रहता है। उसका वह आश्रय शरीर है, क्योंकि शरीर मे ही जीव की उपस्थिति के चिह्न (ज्ञानादि) दिखाई देते हैं। शरीर स्वयं जीव नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर अचेतन होने से उसमे ज्ञानादि गुण नही होते। शरीर को ही जीव माना जाएगा तो उपर्युक्त लोकव्यवहार नही हो सकेगा।[3]

---

१ (क) विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५७३ (अनुवाद) पृ. १६
(ख) कर्मग्रन्थ भा. १ (म. मि.) प्रस्तावना पृ. ३०
(ग) स्याद्वाद मंजरी का. १७
(घ) षड्दर्शन समुच्चय टीका(गुणरत्न सूरि) का. ४०

२ (क) विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५७४ (अनुवाद) पृ. १८
(ख) अष्टसहस्री पृ. २४८

३ विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १५७४ (अनुवाद) पृ. १८

३३. पर्यायों द्वारा आत्म द्रव्य की सिद्धि—जीव और शरीर के पर्याय भिन्न भिन्न हैं। जीव के पर्याय हैं—जन्तु, प्राणी, सत्व, आत्मा आदि; जबकि शरीर के पर्याय हैं—काय, देह, वपु, तनु, कलेवर आदि। पर्याय-भेद होने पर अर्थ में भी भेद हो जाता है। यदि पर्याय भेद होने पर भी अर्थ में अभेद हो तो संसार में वस्तुभेद हो ही नहीं सकता। इसलिए शरीर का सहचारी होने से कदाचित् औपचारिक रूप से शरीर को जीव कहा गया हो, पर वस्तुतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा न हो तो—'जीव तो चला गया, अब शरीर को जला दो', यह व्यवहार संभव नहीं होगा। शरीर और जीव के लक्षण भी भिन्न भिन्न हैं, एक जड़ है, दूसरा ज्ञानादि युक्त चेतन। शरीर मूर्त होने से उसमें ज्ञानादि गुण संभव नहीं। चेतनादि पर्यायों का जो द्रव्य है, वही आत्मा है।[1]

३४. परलोकी के रूप में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि—मृत्यु के पश्चात् शरीर को तो यहीं जला दिया जाता है। शुभाशुभकर्मों के प्रभाव से परलोक जाने वाला कोई दूसरा तत्व अवश्य है। और वह है—जीव (आत्मा)। आत्मा (जीव) ही अपने पुण्य-पाप-कर्मानुसार परलोक में जाता है। अगर ऐसा न माना जाएगा तो संसार, बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था ही चौपट हो जाएगी।[2]

३५. शरीररथ के सारथी के रूप में आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि—जैसे रथ की चलने वाली विशिष्ट क्रिया (प्रतिकूल का त्याग, अनुकूल का ग्रहण) सारथी के प्रयत्नपूर्वक होती है, उसी प्रकार शरीर की व्यवस्थित, हितवर्द्धक विशिष्ट क्रिया भी किसी के प्रयत्नपूर्वक होती है। जिसके प्रयत्न से यह क्रिया होती है, वही आत्मा है। इस प्रकार शरीर-रथ के सारथी के रूप मे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।[3]

इसी प्रकार जैसे कठपुतलियों की नेत्रपलकों का खुलना और बंद होना, किसी के अधीन होता है, उसी प्रकार शरीर की निमेषोन्मेष आदि रूप क्रियाएँ भी किसी चेतन के अधीन होनी चाहिए। जिसके अधीन निमेषोन्मेष रूप क्रियाएँ होती हैं, वही आत्मा है।[4]

इसी प्रकार शरीर के नियंत्रक के रूप में भी आत्मा की सिद्धि होती है। जिस प्रकार रथ का संचालक रथी होता है, उसी की प्रेरणा एवं इच्छा से

---

१ (क) विशेषावश्यकभाष्य (गणधवाद), गा. १५७५-७६ (अनुवाद) पृ. १९
(ख) स्याद्वाद मंजरी कारिका १७

२ अष्टसहस्री (आचार्य विद्यानन्द) पृ. २४८-४९

३ स्याद्वाद मंजरी का. १७

४ वही, का. १७

रथ संचालित होता है, उसी प्रकार जीवित शरीर का संचालक, जिसकी प्रेरणा एवं इच्छा से शरीर संचालित होता है, कोई न कोई होना चाहिए। जीवित शरीर का वह संचालक (ज्ञानादिक गुणमय) आत्मा ही है।[1]

३६. उपादान कारण के रूप में आत्मा की सिद्धि—ज्ञान, सुख, शक्ति आदि कार्यों का कोई न कोई उपादान कारण अवश्य है, क्योंकि ये कार्य हैं। जो कार्य होता है, उसका उपादान कारण अवश्य होता है। जैसे—घट रूप कार्य का उपादान कारण मिट्टी है; उसी प्रकार ज्ञान, सुख आदि कार्य का जो उपादान कारण है, वही आत्मा है।[2]

३७. मन के प्रेरक के रूप में आत्मा तत्त्व की सिद्धि—नियत कार्यों की ओर मन की प्रवृत्ति को देखते हुए सिद्ध होता है, कोई उसका प्रेरक तत्त्व अवश्य है। मन को जो प्रेरित करता है, वही आत्मा है।[3]

३८. आगम प्रमाण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि—सर्वज्ञ आप्त पुरुषों द्वारा प्रणीत या उपदिष्ट वचन आगम कहलाता है। आप्त पुरुष सर्वज्ञ एवं सर्वसंशयोच्छेदक तथा सत्यवादी होता है। आचारांग सूत्र में कहा गया है—सभी दिशाओं और अनुदिशाओं से जो अनुसंचरण करता है, वही मैं (आत्मा) हूँ। आचार्य विद्यानन्द ने आगम से आत्मा की सत्ता यों सिद्ध की है—आप्त प्रणीत आगम से भी जीव है, यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है।[4]

३९. अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि—स्याद्वादसिद्धि में बताया गया है कि धर्मादि कार्य की सिद्धि होने से उनका कर्त्ता भी सिद्ध होता है। धर्मादि से सुख-रूप परिणाम (अनुभव) दिखाई देते हैं, इसलिए धर्मादि का कोई[5] कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। धर्मादि का कर्त्ता आत्मा है। इस प्रकार आत्मा की सिद्धि होती है।

विभिन्न दर्शनों में आत्म-अस्तित्व की सिद्धि

सांख्य दर्शन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि

सांख्यकारिका में आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के लिए पांच युक्तियाँ प्रस्तुत की गई है—(१) प्रकृति और उसके समस्त कार्य संघातरूप होने से

१ न्याय-कुमुदचन्द्र (आ. प्रभाचन्द्र) पृ. ३४९

२ (क) न्यायकुमुदचन्द्र पृ. ६४९, (ख) षड्दर्शन समुच्चय टीका पृ. २२८

३ स्याद्वाद-मंजरी का. १७.

४ (क) सत्य-शासन-परीक्षा पृ. १८ (ख) आचारांग १/४
(ग) गणधरवाद गा. १५७७

५ धर्मादिकार्य-सिद्धेश्च, तत्कर्ता चाऽपि सिद्ध्यति ।
कार्यं हि कर्तृ-सापेक्षं, तद्धर्मादि-सुखावहम् ॥
इत्यर्थापतः सिद्धः स आत्मा परलोकभाक् ॥
—स्याद्वादसिद्धि (वादीभसिंह) का. ९-१०

जिस (दूसरे) के लिए हैं, वह पुरुष (आत्मा) है (२) जो सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणों से भिन्न होता है, वह पुरुष है, (३) बुद्धि-अहंकारादि का अधिष्ठाता पुरुष है, (४) बुद्धि आदि दृश्य पदार्थों का जो दृष्टा (भोक्ता) है, वही पुरुष है। (५) कैवल्य (मोक्ष) के लिए प्रवृत्ति मनुष्यो मे होने से सिद्ध है कि प्रकृति आदि से भिन्न पुरुष का अस्तित्व है ।[1]

न्याय-वैशेषिक दर्शन में आत्मा की सिद्धि

न्याय और वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार के अनुमान प्रमाण द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है कि प्राणापान, निमेषोन्मेष, जीवन, इन्द्रियान्तर-विकार, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, संकल्प आदि लिंगों (हेतुओं) से लिंगी (साध्य) आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।[2]

मीमांसादर्शन में आत्मा की अस्तित्व सिद्धि

मीमासादर्शन के पुरस्कर्ताओ ने दो युक्तियों द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है—(१) यज्ञ एक कर्म है। कर्म का कर्ता और फल भोक्ता कोई न कोई अवश्य होता है। अतः कर्मो का करने वाला और उनका फल भोगने वाला शरीरादि से भिन्न आत्मा नामक स्वतत्र तत्त्व है। (२) शबर स्वामी ने मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है।[3]

अद्वैत-वेदान्त दर्शन द्वारा आत्मा की सिद्धि

वेदान्त दर्शन मे आत्मा का अस्तित्व स्वतःसिद्ध माना गया है। आत्मा स्वय अपना अनुभव करता है, कि मै हूँ, आदि। यदि आत्मा को ज्ञाता और अनुभवकर्त्ता नही माना जाएगा तो उसे किसी भी ज्ञेय विषय का ज्ञान नही हो सकेगा। अतः ज्ञाता एव अनुभव कर्ता के रूप मे आत्मा का अस्तित्व स्वयंसिद्ध है।

दूसरी बात—"सभी को अपनी (आत्मा की) सत्ता की प्रतीति होती है, किसी को यह प्रतीति नहीं होती कि मै (आत्मा) नहीं हूँ।" इस प्रकार आत्मा की सत्ता स्वप्रतीति से सिद्ध है।[4]

चार्वाक आदि द्वारा आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध

उस युग मे अनात्मवादी चार्वाक आदि यह नही कहते थे कि आत्मा का सर्वथा अभाव है। उनकी मान्यता का निष्कर्ष यह है कि जगत् के

---

१ सघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ —साख्यकारिका ११

२ (क) न्यायसूत्र ३/१/१०
(ख) वैशेषिक सूत्र ३/२/४-१३

३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १/१/५ पृ. १४

४ (क) ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य २/३/७
(ख) सर्वोह्यात्माऽस्तित्व प्रत्येति, न नाऽहमस्मीति । —वही, १/१/१

मूलभूत एक या अनेक जितने भी तत्त्व हैं, उनमें आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो उनके मत में आत्मा कोई मौलिक तत्त्व नहीं है। चार भूतों या पंचमहाभूतों के यथायोग्य मिश्रण से इन्द्रियों आदि में स्वतः चेतना स्फुरित हो जाती है। उस चेतना को वे शरीर-सम्बद्ध या शरीरगत चेतना मानते हैं। विविध इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषयों का ग्रहण और ज्ञान होता है, वह सब वे उसी चेतना की बदौलत मानते हैं।

आत्मा के पृथक् स्वतंत्र अस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद

अतः न्यायवार्तिककार के अनुसार आत्मा के अस्तित्व के विषय में सामान्यतया विवाद नही है, विवाद है—आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के विषय मे।[1] जैसे कि चार्वाक चार भूतों से उत्पन्न चैतन्य विशेष को ही आत्मा मानते थे और शरीर के विनाश के साथ ही उसका विनाश मानते थे। तज्जीव-तच्छरीरवादी शरीर को ही आत्मा (जीव) कहते थे। इसी प्रकार कोई दार्शनिक इन्द्रिय को, कोई मन को, कोई बुद्धि को और कोई संघात को[2] आत्मा मानता था। कोई आत्मा को 'अणु' कहता था। जब तक वैचारिक शक्ति का समुचित विकास नहीं हुआ था, तब तक उस युग के सामान्य चिन्तको की दृष्टि बाह्य विषयों—इन्द्रियग्राह्य तत्त्वों को ही मौलिक तत्त्व मानती रही। यही कारण है कि उपनिषदो में ऐसे अनेक विचारको का चिन्तन मिलता है, जिन्होंने जल अथवा वायु[3] जैसे इन्द्रियग्राह्य भूत तत्त्वों के ही विश्व के मूल तत्त्व माने। आत्मा जैसे किसी अदृश्य पदार्थ को मूल तत्त्वो मे स्थान नही दिया। जब विचार शक्ति का समुचित विकास हुआ, तब कुछ विचारकों की दृष्टि बाह्य तत्त्वों से हटकर आत्माभिमुख हुई, तब वे विश्व के मूल को अपने अन्तर् में ही खोजने लगे। वे अब प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द को मौलिक मानने लगे।[4] इस प्रकार आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति करते-करते उन्होंने ब्रह्म या आत्माद्वैत तक प्रगति की।

कितने ही आधुनिक विद्वानो का मन्तव्य है कि—आचारांग सूत्र में जीव के लिए प्रयुक्त प्राण, भूत, सत्त्व आदि शब्द इसी आत्म-विचारणा की उत्क्रान्ति के सूचक कहे जा सकते हैं।[5]

१ देखिये—गणधरवाद (प्रस्तावना) (प. दलसुख मालवणिया) पृ. ७४

२ न्यायवार्तिक पृ. ३६६

३ (क) बृहदारण्यक ५/५/१, (ख) छान्दोग्य उपनिषद् ४/३

४ छान्दोग्य उपनिषद् १/११/५, ४/३/३, ३/१/५/४

५ सव्वेसिं पाणाण सव्वेसिं भूयाण सव्वेसि जीवाण सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्ख। —आचारांग श्रु. १ अ. १ उ. ६

अद्वैतवादी परम्परा भी आत्मा को प्रति व्यक्ति भिन्न नहीं मानती

इसके पश्चात् वेदान्त-धारा में अनात्माद्वैत, आत्माद्वैत आदि मान्यताओं का विकास हुआ।

प्राचीन जैनागम, बौद्ध त्रिपिटक, सांख्यदर्शन आदि भी इस तथ्य के साक्षी हैं कि उस युग में दार्शनिक विचारकों की इस अद्वैतधारा के समानान्तर द्वैतधारा भी प्रचलित थी। वे जड़ और चेतन को, ब्रह्म और माया को, पुरुष और प्रकृति को एक नहीं मानते थे। वे मानते थे कि चेतन और अचेतन अथवा जीव और अजीव या आत्मा और अनात्मा (आत्मबाह्य पदार्थ) अथवा नाम और रूप दोनों एक नहीं, पृथक्-पृथक् हैं। इनका स्वभाव, इनके गुण पृथक्-पृथक् हैं। इनके लक्षणो में रात और दिन का अन्तर है। अतः आत्मा (जीव) एक स्वतंत्र पदार्थ है, वह सचेतन है, अमूर्त है, जबकि अजीव (जड़ या पुद्गल) अचेतन है, जड़ है, मूर्त्त है। दोनों परस्पर विरोधी तत्व हैं[१]

इसके अतिरिक्त द्वैतपरम्परा में एक चेतन और दूसरा उसका विरोधी अचेतन (जड़) यों दो तत्त्व माने गए, किन्तु चेतन तत्त्व से उन्होने जगत के समस्त चेतनाशील आत्माओं को, तथा अचेतन तत्व से जगत् के समग्र जड़ पदार्थों को एक में ही समाविष्ट कर लिया। यह जैन और सांख्य दर्शन से विपरीत है, क्योंकि इन दोनों के मत में व्यक्तिभेद से चेतन भी अनेक हैं और अचेतन पदार्थ भी अनेक हैं। न्याय और वैशेषिक दर्शन भी इस मान्यता के समर्थक हैं।[१]

स्वतंत्र आत्मवादियों की विचारणा

कहना चाहिए कि इस बहुवादी द्वैत विचारधारा के समर्थक जितने भी दर्शन हैं, वे स्वतंत्र आत्मवादी हैं। अर्थात्—वे आत्मा को अचेतन पदार्थ से भिन्न स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं। इन्हें ही आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व को मानने वाले कहना चाहिए। उन्होंने आत्मा को इन्द्रिय,[२] प्राण,[३] मन,[४] बुद्धि,

---

१ (क) सूत्रकृतांग १/१/१/७-८
(ख) ब्रह्मजाल सूत्र
(ग) अन्नो जीवो, अन्नं सरीरं। —सूत्रकृतांग २/१/९, २/१/१०

२ बृहदारण्यक १/५/२१

३ बृहदारण्यक १/५/२२/-२३

४ (क) न्यायसूत्र ३/१/१६
(ख) न्यायवार्तिक पृ. ३३६
(ग) अन्योऽन्तरात्मा मनोमयः। — तैत्तिरीयउपनिषद् २/३
(घ) तेजोबिन्दु उपनिषद् में मन को ही जीव, संकल्प, काल, जगत् आदि माना गया है। — ५/९८/१०४

प्रज्ञान,[१] आनन्द आदि से पर, इन सबसे भिन्न[२] स्वयं स्व-पर-प्रकाशक, ज्ञानमय, आनन्दमय, अनन्तशक्तिमय[३] माना।

बहुत ही संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि आत्मा के सम्बन्ध में दार्शनिक विविध दृष्टियों से चिन्तन करते रहे हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भूतचैतन्यवाद का उल्लेख है। विशेषावश्यकभाष्य में भूतचैतन्यवाद का वर्णन किया है जो ५ भूतों से जीव उत्पन्न हुआ मानते थे। अजितकेशकम्बली का अभिमत था कि चार भूतों से ही पुरुष उत्पन्न होता है। इस मत से मिलता-जुलता तज्जीवतच्छरीरवाद था । पर वे दोनों पृथक थे ऐसा पं. सुखलाल जी प्रभृति विज्ञों का अभिमत रहा है। छन्दोग्योपनिषद् में एक सम्वाद है । उसमें बताया है– देह ही आत्मा है। इस विचार-धारा पर जब चिन्तन आगे बढ़ा तो दूसरी स्थिति में प्राण को आत्मा माना गया। उसके पश्चात् मनोमय आत्मा का निरूपण किया गया। जब चिन्तकों का चिन्तन मन के पश्चात् आगे बढ़ा तो उन्होंने प्रज्ञा को आत्मा कहा। इन्द्रियां और मन ये दोनों प्रज्ञा के अभाव में अकिंचित्कर हैं। इन्द्रियों और मन से प्रज्ञा का अधिक महत्व है। ऐतरेय में प्रज्ञा और प्रज्ञान को एक माना है और वहाँ पर प्रज्ञा के पर्याय के रूप मे विज्ञान शब्द व्यवहरित हुआ है। विज्ञान, प्रज्ञा, प्रज्ञान ये सभी शब्द एकार्थक हैं इसी दृष्टि से आत्मा को विज्ञान आत्मा, प्रज्ञात्मा और प्रज्ञानात्मा कहा गया है। मन को कितने ही दार्शनिक, भौतिक और कितने ही दार्शनिक अभौतिक मानते हैं। जब आत्मा को विज्ञान की संज्ञा दी गई तब आत्म-चिन्तन के क्षेत्र में एक नवीन परिवर्तन हुआ और वह यह था कि आत्मा एक अभौतिक तत्व है, वह चेतन है अतः इन्द्रियों के विषयों का नहीं, अपितु इन्द्रियों के विषय के ज्ञाता प्रज्ञात्मा का ध्यान करना चाहिए। कौषीतकी उपनिषद् में इसीलिए ऋषियों ने कहा–"मन का ज्ञान आवश्यक नहीं पर मनन करने वाले का ज्ञान आवश्यक है।" इन्द्रिय आदि साधनों से पर जो प्रज्ञात्मा है, उसे जानना चाहिए। कौषीतकी उपनिषद् में समस्त इन्द्रियाँ और मन को प्रज्ञा में प्रतिष्ठित किया गया है। जैसे मानव सुप्त या मृतावस्था में होता है, उस समय इन्द्रियाँ प्राण रूप प्रज्ञा में अन्तर्हित हो

१ (क) 'प्रज्ञानं ब्रह्म'–ऐतरेयोपनिषद ३/२,
(ख) 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा ।' –कौषीतकी उप. ३/२-३
(ग) छान्दोग्य ८/११,वृहदारण्यक १/१५/२०

२ (क) केनोपनिषद् १/२, १/४-६ (ख) तैत्तिरीय २-६ (ग) सर्वत्येतद् ब्रह्म, अयामात्मा ब्रह्मा माण्डूक्य २

३ नाणं च दंसण चेव चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो एयं जीवस्स लक्खणं ॥ –उत्तराध्ययन २८/११

जाती हैं अतः उन्हें किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। जब मानव नींद से जागता है या फिर से जन्म लेता है तब जैसे चिनगारी से अग्नि प्रगट होती है वैसे ही प्रज्ञा से इन्द्रियाँ बाहर आती हैं और मानव को ज्ञान होने लगता है। इन्द्रियाँ प्रज्ञा के एक अश के सदृश हैं, अतः प्रज्ञा के अभाव में वह कार्य नहीं कर सकती। अतः इन्द्रियाँ और मन से भिन्न प्रज्ञात्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

कठोपनिषद में एक के पश्चात् द्वितीय श्रेष्ठतर तत्त्वो की परिगणना की गई। वहाँ पर मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्, महत् से अव्यक्त प्रकृति और प्रकृति से पुरुष को उत्तरोत्तर उच्च माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि विज्ञान किसी चेतन पदार्थ का धर्म नहीं अपितु अचेतन प्रकृति का ही धर्म है। इस मत को देखते हुए विज्ञानात्मा की शोध पूर्ण होने पर आत्मा पूर्णतः चेतन स्वरूप है—यह सिद्ध हो गया। उसके पश्चात् आनन्द की पराकाष्ठा आत्मा में है इसलिए आनन्दात्मा की कल्पना की गई। जब चिन्तन के चरण आगे बढ़े तब चिन्तकों ने कहा—अन्नमय आत्मा जिसे शरीर भी कहा जाता है, रथ के समान है, उसे चलाने वाला रथी ही वास्तविक आत्मा है। आत्मा के अभाव में शरीर कुछ भी नहीं कर सकता। शरीर और आत्मा ये दोनो अलग-अलग तत्व हैं। केनोपनिषद् में आत्मा को इन्द्रिय और मन से भिन्न माना। जैसे विज्ञानात्मा की अन्तरात्मा आनन्दात्मा है वैसे आनन्दात्मा की अन्तरात्मा सदरूप ब्रह्म है। तैत्तिरीय उपनिषद् मे विज्ञान और आनन्द से भी अलग ब्रह्म की कल्पना की गई। माण्डूक्य उपनिषद् में ब्रह्म और आत्मा ये दोनों अलग-अलग तत्त्व नही, अपितु एक ही तत्त्व के पृथक-पृथक नाम हैं। सक्षिप्त में सार यह है कि चिन्तको ने पहले भौतिक तत्व को आत्मा माना। उसके पश्चात् उन्होंने अभौतिक आत्म तत्त्व को स्वीकार किया। यह अभौतिक आत्म तत्त्व इन्द्रियग्राह्य न होकर अतीन्द्रिय था। कठोपनिषद् मे नचिकेता आत्म तत्त्व को जानने के लिए अत्यधिक उत्सुक है। वह स्वर्ग के सुखो को भी तिलाजलि दे देता है। मैत्रेयी आत्म-विद्या को जानने के लिए पति की विराट् सम्पत्ति को ठुकरा देती है। याज्ञवल्क्य कहता है कि पति-पत्नी, पुत्र, धन, पशु ये सभी वस्तुएँ आत्मा के निमित्त से हैं ? अतः आत्मा को देखना चाहिए। उसी का चिन्तन-मनन करना चाहिए।

इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में जिन विविध विचारों का विकास हुआ, उनका संकलन उपनिषद् साहित्य मे हुआ है। उपनिषदों की रचना के पूर्व अवैदिक परम्परा भारत मे विद्यमान थी। और वह बहुत ही विकसित अवस्था मे थी। वह अवैदिक परम्परा श्रमण परम्परा थी। उसी से वैदिक परम्परा ने आध्यात्मिक मार्ग को ग्रहण किया था।

आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का स्वरूप

जिन दार्शनिकों ने आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व माना, उन्होंने आत्मा (पुरुष या चिदात्मा) को अजर, अमर, अक्षय, अमृत, अव्यय, अजन्मा, नित्य, ध्रुव, शाश्वत और अनन्त (अविनाशी) माना[१]। साथ ही उसका लक्षण भी कठोपनिषद् में बताया गया कि वह अशब्द, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य, अगन्धवत्, अनादि-अनन्त, तथा महत्तत्त्व से पर, एवं ध्रुव है। ऐसी आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है। आचारांग आदि जैनागमों में भी आत्मा का निश्चय दृष्टि से इसी प्रकार का वर्णन किया है। साथ ही विज्ञान को आत्मा और आत्मा को विज्ञान कहा है।[२]

आत्मा का यह स्वरूप-कथन निश्चय दृष्टि से किया है। जैनदर्शन आत्मा को कूटस्थ-नित्य नहीं मानता। कूटस्थ-नित्य मानने पर तो आत्मा शरीर, मन, वचन आदि की चेष्टा नहीं कर सकता, न ही कोई क्रिया कर सकता है, न परलोक में विविध गतियों, योनियों आदि मे परिभ्रमण कर सकता है। इसलिए जैन दर्शन आत्मा को परिणामीनित्य मानता है। व्यवहारदृष्टि से 'द्रव्यसंग्रह' में आत्मा का स्पष्ट स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—"जीव (आत्मा) उपयोगमय है, अमूर्त्त (अरूपी) है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण है, प्रतिव्यक्ति भिन्न है, भोक्ता है, स्वभाव से ऊर्ध्व-गमन करता है, तथा ससारी एव सिद्ध (दो प्रकार का) है।"[३]

'प्रमाणनयतत्त्वालोक' मे इसे प्रमाता प्रत्यक्षादि सिद्ध, चैतन्यस्वरूप, परिणामी-नित्य, कर्ता, साक्षात् भोक्ता, स्वदेह-परिमाण, प्रतिक्षेत्र भिन्न, पौद्गलिक, अदृष्टवान् आत्मा बताया गया है।[४]

---

१ (क) अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ....। —भगवद्गीता २/२०
(ख) कठोपनिषद् ३/२
(ग) जीवा अणाइनिधनो अविणासी अक्खओ ध्रुवो णिच्च। —भगवतीसूत्र
(घ) ....ध्रुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे।
— स्थानाग सूत्र ५/३/५३०

२ (क) कठोपनिषद् १/३/१५
(ख).......जीवत्थिकाए.....अवण्णे, अगधे, अरसे, अफासे जाव अरूवी।'
—भगवतीसूत्र २०/१०, तथा स्थानांगसूत्र ५/३/५३०, आचारांग १/५/६ तथा १/५/६/५९६

३ जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्डगई ॥ —द्रव्यसंग्रह गा. २

४ प्रमाता प्रत्यक्षादि-प्रसिद्ध आत्मा। चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेहपरिमाण प्रतिक्षेत्र भिन्नः पौद्गलिकाऽदृष्टवांश्चायम्॥"
—प्रमाणनयतत्त्वालोक ७/५५-५६

आत्मा अमूर्त होने से उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये चार पुद्गल (जड़) के धर्म नहीं पाये जाते। फिर भी शरीर से इसका संयोग-संबंध होने से वह जीव के अपने-अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण के अनुसार छोटा-बड़ा—संकोच-विस्तारवाला—हो जाता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जैनदर्शन संसारी आत्मा को कथंचित् मूर्त तथा असंख्यात प्रदेश वाला मानता है। चूंकि उसका (संसारी जीव का) अनादिकाल से कार्मण (सूक्ष्मतर) शरीर से सम्बन्ध है। अतः कर्मोदय से प्राप्त शरीर के आकार के अनुसार छोटे-बड़े आकार को धारण कर लेता है।

आत्मा का असाधारण गुण : चैतन्य

जीव (आत्मा) का सामान्य लक्षण चैतन्य या उपयोग है। यही जीव (आत्मा) का असाधारण गुण है, जिससे वह तमाम जड़ (अजीव) द्रव्यों से अपना पृथक् अस्तित्व रखता है।[१]

आत्मा को सर्वव्यापी एवं एकान्त अमूर्त मानना भी ठीक नहीं

वैदिक दर्शनों में आत्मा को अमूर्त और व्यापक माना गया है। उनका कथन है कि व्यापक होने पर भी शरीर और मन से सम्बद्ध होने के कारण शरीरावच्छिन्न (शरीर के भीतर के) आत्म प्रदेशो मे ज्ञानादि—विशेष गुणो की उत्पत्ति होती है। अमूर्त होने से आत्मा निष्क्रिय है, जो भी गति होती है, वह शरीर और मन के चलने से होती है तथा अपने से सम्बद्ध आत्म-प्रदेशों में ज्ञानादि की अनुभूति होती रहती है।"[२]

आत्मा को इस प्रकार सर्वव्यापी मानने से सब आत्माओ का सबके शरीरों के साथ सम्बन्ध हो जाने से एक के शुभ या अशुभ कर्म का फल सबको भोगना पड़ेगा, इस प्रकार कर्मों एव कर्मफलो का परस्पर मिश्रण हो जाएगा। फिर अपने-अपने सुख-दुःख, उन्नति-अवनति, श्रेय-प्रेय, भोग-त्याग का नियम नही रहेगा। प्रत्येक जीव के कर्म या अदृष्ट का सम्बन्ध उसकी आत्मा के समान शेष अन्य आत्माओं के साथ हो जाएगा। व्यापक

१ (क) गुणओ उवओगगुणो । —स्थानाग ५/३/५३०
(ख) 'उपयोगो लक्षणम् ।' —तत्त्वार्थ. २/८
(ग) जीवो उवओगलक्खणो । —उत्तरा. २८/१०
(घ) उवओगलक्खणे जीवे।' —भगवती २/१०
(ङ) नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं । —उत्तराध्ययन सूत्र २८/११

२ (क) सर्वव्यापिनमात्मानम् । —श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१६
(ख) 'अमूर्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्मः आत्मा कपिलदर्शने ॥' —षड्दर्शनसमुच्चय

की मान्यता में एक के भोजन करने पर दूसरे की तृप्ति, एक के शयन करने पर सबका शयन, एक की मुक्ति होने पर सबकी मुक्ति होनी चाहिए, इस तरह समस्त व्यवहारों का भी सांकर्य हो जाएगा। मन और शरीर की पृथक्ता से भी व्यवस्था बिठाना दुष्कर है। सबसे बड़ा दोष तो इसमें यह है कि जीवों के संसार और मोक्ष की व्यवस्थाएँ, कर्मबन्ध और कर्ममोक्ष या कर्मक्षय की सारी व्यवस्थाएँ अस्त-व्यस्त हो जाएँगी।

इसलिए प्रत्येक संसारी प्राणी के शरीर के बाहर आत्मा की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।

कौषीतकी उपनिषद् में आत्मा को शरीरव्यापी बताते हुए कहा गया है—जिस प्रकार तलवार अपनी म्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में ही व्याप्त होती है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है। तैत्तिरीय उपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय, इन सब आत्माओं को शरीर प्रमाण बताया गया है।[१]

आत्मा के ज्ञानादि गुण, गुणी (आत्मा) के साथ ही रहेंगे

यह नियम है कि जहाँ गुण होंगे, वहीं गुणी रहेगा। जब आत्मा के ज्ञानादि गुण शरीर के बाहर उपलब्ध नहीं होंगे, तब गुणी आत्मा अपने गुणों के बिना वहाँ (शरीर के बाहर) कैसे रहेगा ? फिर एक अखण्ड आत्मा (जीव) द्रव्य कुछ भागों में सगुण और कुछ भागों में निर्गुण कैसे रह पाएगा? आत्मा के सर्वव्यापित्व का खण्डन गणधरवाद में भी भगवान महावीर द्वारा इन्द्रभूति गौतम के समाधान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जैसे—घट के गुण घट से बाह्यदेश में उपलब्ध नहीं होते, अतः वह व्यापक नहीं; इसी प्रकार आत्मा के गुण भी शरीर से बाहर उपलब्ध नहीं होते, अतः वह शरीर प्रमाण ही है। अथवा जहाँ जिसकी उपलब्धि प्रमाणसिद्ध नही होती, यानी जो जहाँ प्रमाण द्वारा अनुपलब्ध है, वहाँ उसका अभाव मानना चाहिए। जैसे—भिन्नस्वरूप घट में पट का अभाव है। शरीर से बाहर संसारी आत्मा की अनुपलब्धि है, अतः शरीर से बाहर उसका भी अभाव मानना चाहिए। अतः जीव में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष, सुख-दुःख एवं संसार, ये सब तभी युक्तिसंगत होते हैं, जब उसे अनेक और देहव्यापी माना जाए।[२]

---

१ (क) कौषीतकी उपनिषद् ४/२०
(ख) तैत्तिरीय उपनिषद् १/२

२ (क) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. १४४
(ख) गणधरवाद गा. १५८७ (सानुवाद) पृ. २३

अतः जैन दर्शन की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्व-स्व-शरीर-व्यापी है—शरीर प्रमाण है, न उससे कम है और न उससे अधिक। आत्मा में सिकुड़ने और फैलने का गुण होता है। इसलिए वह (संसारी आत्मा) अपने कर्मोदय के फलस्वरूप प्राप्त शरीर के प्रमाण वाली हो जाती है। जिस प्रकार दीपक को एक छोटी-सी कोठरी में रखने पर उसका प्रकाश उस कोठरी तक ही सीमित रहता है, किन्तु जब उसी दीपक को एक बड़े हॉल में रख दिया जाता है तो उसका प्रकाश उस बड़े हॉल मे फैल जाता है। इसी प्रकार आत्मा भी चींटी और हाथी के शरीर में उनके शरीर प्रमाण संकुचित-विकसित हो जाती है।[१]

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा स्वतंत्र-आत्मा मान्य

यद्यपि अधिकांश पाश्चात्य भौतिक वैज्ञानिक आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व नही मानते, कई उस विषय मे शंकाशील है। फिर भी कई ऐसे धुरन्धर भौतिक विज्ञानी हैं, जिन्होने अपना समग्र जीवन भौतिक चिन्तन में व्यतीत किया, किन्तु अन्ततोगत्वा उन्होने यह माना और सिद्ध करके बताया कि भौतिक तत्त्वों से पर एक आत्म तत्त्व भी है, जिसकी समानता भौतिक तत्त्व नही कर सकते। वैज्ञानिक जगत् मे सर ऑलीवर लॉज और लार्ड केलविन इस चिन्तन मे अग्रणी हैं। ये दोनो वैज्ञानिक विद्वान चेतन तत्त्व को जड़ तत्त्व से पृथक् मानते हैं। इतना ही नही, उन्होने जड़वादियो की युक्तियो का निराकरण अपनी प्रबल युक्तियों और अनुभूतियो के आधार पर किया है। उनका मन्तव्य है कि आत्मा (चेतन) का स्वतत्र पृथक् अस्तित्व स्वीकारे बिना भौतिक तत्त्वो से चेतनाशील जीवों के देह की विशिष्ट एव विलक्षण रचना हो ही नही सकती। वे मस्तिष्क को ज्ञान का मूल उत्पत्तिस्रोत न मानकर आत्मा को ही ज्ञान का मूलस्रोत समझते थे। उसी से इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि साधनो (करणों) के माध्यम से ज्ञानादि की अभिव्यक्ति मानते थे।

जैव-वैज्ञानिकों द्वारा आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध

विश्व-विख्यात जीव वैज्ञानिक डॉ. जगदीशचन्द्र वसु ने तो वनस्पति आदि एकेन्द्रिय एव सुषुप्तचेतनाशील जीवों के शरीर मे भी चेतना (आत्मा) के लक्षण प्रत्यक्ष सिद्ध करके बता दिये है। अपने आविष्कारो से उन्होने समग्र वैज्ञानिक-जगत् को आत्मा नामक स्वतत्र एव जड़तत्त्व से पृथक् तत्त्व मानने के लिए बाध्य कर दिया है।[२]

मनोवैज्ञानिक भी आत्मा की स्वतंत्र एवं शाश्वत सत्ता से सहमत

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी आत्मा के अस्तित्व को स्वतंत्र रूप से सिद्ध करते हैं। चेतना स्वयं इस तथ्य को कदापि स्वीकार नही करेगी कि

१ कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना से सार-संक्षेप साभार उद्धृत ।

२ वही, प्रस्तावना पृ. ३२

मुक्ति में या मृत्यु के पश्चात् या अन्य किसी स्थिति में चेतना किसी भी समय समाप्त हो जाएगी। यह स्वतः प्रमाण मनोविज्ञान को यह मानने के लिए बाध्य करता है कि जीव-चेतना (आत्मा) की स्वतंत्र सत्ता है।"[१]

भौतिक विज्ञान द्वारा भी आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व अस्वीकृत नहीं

भौतिक विज्ञान 'मैटर' का विश्लेषण कुल ९२ तत्त्वों (एलीमेंट्स) के आधार पर करता है। तत्त्वों की भिन्नता उनके पृथक्-पृथक् गुण कर्मों के आधार पर की जाती है। इन तत्त्वों (Elements) में किसी में भी चेतना गुण नहीं पाया जाता। ऐसी स्थिति मे चेतना (आत्मा) को एक स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने के सिवाय कोई चारा नहीं रह जाता। भले ही वह (आत्मा) अमुक शरीर मे अमुक स्तर की हो, पर है वह स्वतंत्र ही। चेतना के स्तर का शरीर तथा अन्य अंगोपांग, इन्द्रिय आदि का मिलना उस-उस प्राणी के पूर्वकृत कर्म पर निर्भर है। चेतना के स्तर का शरीर मिलना अथवा शरीर के स्तर की चेतना प्राप्त होना, इस विवाद में मुख्य और गौण होने का मतभेद है, किन्तु चेतना (आत्मा) के स्वतंत्र अस्तित्व की अस्वीकृति नहीं है।

मृतात्माओ की हलचलों के जो प्रामाणिक विवरण समय-समय पर मिलते रहते हैं और पिछले जन्मो की यथार्थ स्मृति की प्रामाणिक घटनाएँ प्रत्यक्ष परिचय में इतनी अधिक संख्या मे आ गई हैं कि चेतना के स्वतंत्र अस्तित्व से इन्कार करने की पिछली पीढ़ी के वैज्ञानिकों की बात अनायास ही निरस्त हो जाती है।

फिर पदार्थविज्ञानी यह भी मानते हैं कि किसी भी तत्त्व (एलीमेंट) के मूलभूत गुणधर्म को बदला नहीं जा सकता। उनके सम्मिश्रण से पदार्थों की शक्ल बदली जा सकती है, अर्थात् वे अपने मूलरूप में बने रहकर अन्य प्रकार की शक्ल या स्थिति तो बना सकते हैं, पर रहेंगे तज्जातीय ही। यानी दो प्रकार की गन्धें मिलकर तीसरे प्रकार की गन्ध बन सकती है, दो प्रकार के स्वाद मिल कर तीसरे प्रकार का स्वाद बन सकता है, पर वे रहेंगे गन्ध या स्वाद ही, वे रूप या रंग नहीं बन सकते। अर्थात् रंग को गन्ध में, गन्ध को स्वाद मे, स्वाद (रस) को रूप में, अथवा रूप को स्पर्श में नहीं बदला जा सकता।[२]

इसी सिद्धान्त के अनुसार पदार्थविज्ञान द्वारा मान्य ९२ तत्त्व जड़ हैं, वे चेतन नहीं बन सकते, न ही चेतन के रूप में बदल सकते हैं, और न जड़ से चेतना उत्पन्न हो सकती है। जड़ और चेतन दोनों स्वतंत्र तत्त्व हैं। दोनो का संयोग होने पर भी दोनों के मूलभूत गुण-धर्म पृथक्-पृथक् रहेंगे।

इसी प्रकार मस्तिष्क को संवेदना का आधार तो माना जा सकता है, पर उसके कण अपने आप में संवेदनशील नहीं हैं। यदि होते तो

१ अखण्ड ज्योति, मई १९७६, पृ. ४ से सार-संक्षेप।

२ अखण्ड ज्योति, मई १९७६, पृ. ३-४ से साभार उद्धृत सार संक्षेप।

मरणोपरान्त भी अनुभूतियाँ एवं संवेदन करते रहते। ध्वनि या प्रकाश के कम्पन जड़ हैं, मस्तिष्कीय अणु भी जड़ हैं। दोनों के मिलन से जो विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं, उनमें (जड़) पदार्थों (मैटर) को उनका कारण नहीं माना जा सकता। विचारहीन-संवेदनाहीन परमाणु संवेदनशील बन सकें, ऐसा कोई आधार अभी तक नहीं खोजा जा सका है। इसके लिए चेतना (आत्मा) की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार किये बिना, आत्मा के बिना उनमें चेतना की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए, जितने तर्क पिछले दिनों दिये जाते रहे, वे सब अब क्रमशः अपनी तेजस्विता खो चुके हैं। 'अमुक रसायनों या परमाणुओं के मिलने से चेतना की उत्पत्ति होती है, और उनके बिछुड़ने से समाप्ति।' यह तर्क प्रारम्भ में बहुत आकर्षक प्रतीत हुआ था, और चार्वाक आदि नास्तिक-वादियों ने जीव को इसी रूप में बताया था, परन्तु 'मूल तत्त्व अपने गुण धर्म या प्रकृति को नहीं बदल सकता,' इस प्रकार के अपने ही मत-प्रतिपादन से अपना ही खण्डन हो रहा है। किसी परखनली में चेतन जीवाणुओं की सहायता के बिना केवल रासायनिक पदार्थों की सहायता से जीवन उत्पन्न कर सकना सम्भव नहीं हुआ है। इससे यह निश्चित है कि जड़ पदार्थों से चेतना की उत्पत्ति कथमपि सम्भव नहीं है। वह स्वतंत्र तत्त्व है।

"हर्ष, शोक, क्रोध, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, आशा, निराशा, प्रेम, सुख-दुःखानुभव आदि विभिन्न संवेदनाएँ किन परमाणुओ के मिलने से किस प्रकार उत्पन्न हो सकती हैं ?" इस विषय में भौतिक विज्ञान सर्वथा निरुत्तर है।

"स्नायु-संचालन से संवेदना उत्पन्न होती है, पर संवेदना स्नायु नहीं हो सकती। अमुक रासायनिक पदार्थों के संयोग से उत्तेजना पैदा होती है, परन्तु उत्तेजना रासायनिक पदार्थ नहीं है, क्योंकि स्नायु या रासायनिक पदार्थ स्वय चेतनाशील नहीं है।"[1] वे चेतना के उत्पादक नहीं हो सकते, चेतना के विकास में माध्यम बन सकते हैं।

जहाँ जहाँ संसारी आत्मा, वहाँ-वहाँ कर्म अवश्यम्भावी

पूर्वोक्त समस्त प्रमाणों एवं युक्तियों-तर्कों पर से यह स्पष्ट हो जाता है, कि आत्मा नामक एक स्वतंत्र तत्व है, जिसका अस्तित्व अनादि-अनन्त है। शरीरादि के नष्ट होने पर भी वह परलोक मे जाता है। अमूर्त आत्मा कथचित् मूर्त माना गया है। इसलिए स्व-स्व-कर्म के वश विभिन्न गतियों और योनियो में जाता है। इस प्रकार संसारी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होने पर उसके साथ प्रवाहरूप से कर्म का अस्तित्व भी मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व तक अवश्यम्भावी मानना ही पड़ेगा। ■

१ अखण्ड ज्योति, मई १९७६, पृ. ४ से सार सक्षेप उद्धृत ।

२

जहाँ कर्म, वहाँ संसार

आत्मा की शुद्धदशा प्राप्त कराना ही जैनदर्शन का लक्ष्य

जैनदर्शन का समग्र चिन्तन-मनन, विश्लेषण एवं विवेचन आत्मा को केन्द्र में रखकर हुआ है। क्योंकि जैनदर्शन का मुख्य और अन्तिम लक्ष्य आत्मा से परमात्मा बनने की प्रेरणा देना, परमात्मभाव को प्राप्त करने की ओर जीव की गति-मति कराना तथा वर्तमान में राग-द्वेषादि या कषायादिगत मलिनताओं से अशुद्ध एवं मलिन बने हुए आत्मा को इन मलिनताओं से मुक्त परमशुद्ध आत्मा बनने के लिए प्रेरित करना है। इसी कारण **'अप्पा सो परमप्पा'**—जो आत्मा है, वही परमात्मा है—इस उत्क्रान्ति सूत्र का उद्घोष जैनदर्शन ने किया। क्योंकि जैनदर्शन निश्चयदृष्टि से आत्मा को परमात्मा के समान शुद्ध, बुद्ध, अनन्तज्ञान-दर्शनमय, अनन्त-शक्ति-सम्पन्न, अनन्तआत्मसुखमय, अमूर्त्त, शाश्वत तत्त्व मानता है। जैसा कि जैनदर्शन के आध्यात्मिक-उत्क्रान्तिकारी आचार्य कुन्दकुन्द कहते है—[1] "निश्चय ही मैं (आत्मा) सदैव शुद्ध, शाश्वत और अमूर्त्त (अरूपी) तत्त्व हूँ, सदा ज्ञान-दर्शनमय हूँ। मेरे से (आत्मा से) भिन्न जो पर-पदार्थ हैं, उनका यत्किंचित् परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जितने भी पर-पदार्थ हैं, वे शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं।"

आत्मा की दो अवस्थाएँ : क्यों, कैसी और कैसे ?

परन्तु आत्मा की यह शुद्ध अवस्था केवल मोक्ष-प्राप्त या जीवन्मुक्त मानवों में ही हो सकती है। इनके अतिरिक्त संसारस्थ सभी जीवों की अवस्था अशुद्ध है। इसी दृष्टि से आत्मा (जीव) की मुख्यतः दो अवस्थाएँ जैनदर्शन ने बताई हैं—एक संसारी अवस्था और दूसरी सिद्ध (मुक्त) अवस्था। इनमें से पहली अवस्था अशुद्ध है, जबकि दूसरी अवस्था शुद्ध है। इन्हीं दोनों को भगवती सूत्र और प्रज्ञापना सूत्र में क्रमशः संसार-समापन्न

---

१ अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसण-णाणमइओ सदाऽरूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥ —समयसार ३८

और असंसार-समापन्न कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र और तत्त्वार्थ सूत्र में भी इन्हें क्रमशः संसारी और सिद्ध—मुक्त कहा गया है।[1] जो आत्माएँ कर्म-संयुक्त होती हैं, तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव-परिवर्तन से युक्त होकर अनेक योनियों और गतियों में परिभ्रमण करती रहती हैं, वे सशरीरी आत्माएँ संसारी कहलाती है।[2] ये संसारी आत्माएँ नित्य नये कर्म बाँध कर विभिन्न पर्यायों में उनके फल भोगती हैं। जैनागमों और जैनदर्शन में आत्मा के बदले जीव शब्द का ही विशेषतः प्रयोग किया गया है।

यों तो संसारी दशा और मुक्त दशा, इन दोनों दशाओं का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं जीव (आत्मा) ही है। जीव ही अपने राग-द्वेष, कषाय आदि शुभाशुभरूप अशुद्ध परिणामों से स्वयं ही संसारी होता है और जब वह संवर, निर्जरा और सम्यग्दर्शन आदि सद्धर्म की साधना से स्व-पुरुषार्थ द्वारा संसार का अन्त कर देता है, तब वही मुक्त हो जाता है। सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होने के पश्चात् वह पुनः ससार में नहीं आता।

चार गतियों और चौरासी लक्ष जीवयोनियों में जन्म-मरण एवं पुनः-पुनः शरीर धारण करना, शरीर से सम्बन्धित विभिन्न जड़-चेतन पदार्थों का तथा सुख-दुःखादि जनक भावों का संयोग प्राप्त होना; इसी का नाम संसार है।

समस्त संसारी जीव (आत्माएँ) अनादिकाल से कर्म के साथ उसी प्रकार संयुक्त हैं, जिस प्रकार खान से निकाले गये सोने के साथ किट्ट-कालिमादि। इन्ही कर्मों के ससर्ग के कारण संसार समापन्न आत्मा अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगने हेतु विभिन्न गतियों, योनियों और पर्यायो मे भ्रमण करता रहता है, तथा नाना शरीर एवं अनेक शुभाशुभ तथा इष्ट-अनिष्ट संयोग प्राप्त करता रहता है। जीव की यह अवस्था अशुद्ध है—कर्ममलिन है। इस अशुद्ध अवस्था का यानी संसारदशा का तभी अन्त आता है, जब आत्मा कर्मों का समूल क्षय करके मुक्त—शुद्धदशा को प्राप्त हो जाती है, सिद्ध-बुद्ध हो जाती है।

---

१ (क) संसारिणो मुक्ताश्च । —तत्त्वार्थसूत्र अ. २/१०
(ख) प्रज्ञापनासूत्र पद १ पृ. १६
(ग) भगवतीसूत्र १/१/२४
(घ) जीवाभिगम १/७
(ङ) ससारत्था य सिद्धा य दुविहा जीवा वियाहिया ।
—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३६ गा. ४८

२ ससरण ससारः, स एषामस्तीति संसारिणः । —सर्वार्थसिद्धि २/१०

'गोम्मटसार' में भी कहा गया है— "जिस प्रकार कावड़िया के द्वारा बोझा ढोया जाता है, उसी प्रकार शरीररूपी कावड़िया के द्वारा संसारी (अशुद्ध) आत्मा जन्म-मरणादिरूप संसार के अनेक कष्टों को सहती हुई कर्मरूपी भार को विभिन्न गतियों और योनियों में ढोती हुई भ्रमण करती है। जब आत्मा के समस्त कर्मों का समूल विनाश हो जाता है, तब उस मुक्त आत्मा का स्वाभाविक शुद्ध रूप प्रकट हो जाता है।"[१] जीव के ये दोनों रूप अवस्थाकृत होते हैं। एक ही जीव के ये दोनों अवस्थाकृत भेद हो सकते हैं। जीव (आत्मा) की संसारी अवस्था को बद्ध-अवस्था भी कहते हैं। जीव (आत्मा) की जो दूसरी शुद्ध अवस्था है, उसमें शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी, जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, पीड़ा, हानि-लाभ, सांसारिक दुःख-सुख तथा शुभाशुभ अष्टविध कर्म आदि नहीं होते। उस समय वह आत्मा निरंजन, निराकार, अशरीरी, अकर्म, संसार के आवागमन से रहित, अमूर्त्त, पूर्ण शुद्ध होती है। उसमें परमात्मा के अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त आत्मिक सुख (आनन्द) एवं अनन्त बल पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं। इसलिए जैनदर्शन परम-आत्मा को पूर्ण शुद्ध मानता है; जबकि ससारी आत्मा को कर्म सम्बद्ध होने से कथंचित् शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध मानता है। वह कहता है—व्यावहारिक दृष्टि से कर्म संयुक्त आत्मा (जीव) अशुद्ध है, जबकि निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा (जीवद्रव्य) शुद्ध है।

जैनदर्शन शैवदर्शन के इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है कि आत्मा सदैव सर्वथा शुद्ध रहता है। आत्मा को एकान्तरूप से सर्वथा शुद्ध मानने पर प्रश्न होगा कि शुद्ध आत्मा शरीरादि क्यो धारण करता है? शुभाशुभ कर्म करने का क्या प्रयोजन है? सांसारिक सुख-दुःखादि में विषमता क्यों है? उपर्युक्त सभी शंकाओ से यह स्पष्ट है कि आत्मा सर्वथा शुद्ध नहीं है। अगर आत्मा को एकान्तरूप से सर्वथा शुद्ध माना जाएगा तो व्रत, प्रत्याख्यान, तप, त्याग, संवर, संयम आदि का आचरण करना व्यर्थ हो जाएगा। अतः संसारी आत्मा एकान्तरूप से सर्वथा शुद्ध नहीं है। इसी प्रकार यदि आत्मा को सर्वथा (एकान्ततः) कर्मसयुक्त ही माना जाएगा तो वह कदापि मुक्त नही हो

---

१ (क) मग्गण-गुणट्ठाणेहिं य चउदसहिं तह असुद्धणया ।
विण्णेया ससारी सव्वे सुद्धा सुद्धणया ॥ — द्रव्यसंग्रह १३

(ख) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती) गा. २०२,२०३

(ग) समावन्नाण संसारे नाणागोत्तासु जाइसु ।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विसभिया हया ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३ गा. २

सकेगा। जब जीव में शुद्ध होने की विद्यमान शक्ति को व्रत, तपस्या आदि का निमित्त मिलता है, तब वह शुद्ध हो जाता है। अतः यही मानना युक्तिसंगत होगा कि संसारी आत्मा कथंचित् शुद्ध है, और कथंचित् अशुद्ध है।[१]

संसार तथा संसारी (अशुद्ध) दशा का मुख्य कारण : कर्म

शुद्ध या अशुद्ध, जितनी भी अवस्थाएँ है, वे धर्म, अधर्म, आकाश, काल एवं पुद्गल आदि षट्द्रव्यों में से जीव तथा पुद्गल द्रव्य में ही पाई जाती हैं। अन्य द्रव्यों में नहीं। इसी प्रकार जीवों में शुद्धदशा और अशुद्धदशा का जो अन्तर किया जाता है, वह कर्मरूप निमित्त की अपेक्षा से किया जाता है।

दर्शनशास्त्रों में दो प्रकार के निमित्त माने गए हैं। एक साधारण निमित्त यानी तटस्थ निमित्त होते हैं। जैसे—जीवों की गति-आगति मे सहायक धर्म-अधर्म द्रव्य तटस्थ निमित्त हैं। आकाशद्रव्य उसे अवकाश देने में तटस्थ सहायक है, तथा कालद्रव्य समय आदि के ज्ञान या वस्तुओ के परिवर्तन को समझने में तटस्थ निमित्त बनता है। दूसरे सहकारी निमित्त होते हैं, जो किसी कार्य में प्रत्यक्ष सहकारी बनते हैं। जैसे—घड़े की उत्पत्ति में कुम्भकार और कपड़े की उत्पत्ति में बुनकर (जुलाहा) प्रत्यक्ष सहकारी निमित्त हैं।

प्रश्न होता है, जीव की इस अशुद्धदशा या संसारदशा अथवा बद्धदशा (अवस्था) का मुख्य कारण—असाधारण निमित्त कौन-सा है ? कौन-सा ऐसा कारण या तत्त्व है, जिसके कारण जीव को नाना गतियो और योनियों मे जन्म-मरणादि के चक्र में परिभ्रमण करना पड़ता है, नाना शरीरादि धारण करने पड़ते हैं, विभिन्न सुखदुःखादिरूप फल भोगने पड़ते हैं ? भगवान महावीर ने कहा—जीव की इस ससार दशा का या संसार का मुख्य कारण—कर्म है।

---

१ (क) स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
तहेव जं दंसणमावरेइ, ज चन्तरायं पकरेइ कम्मं ॥
सव्वं तओ जाणइ पासइ य अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहिपत्ते आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥
—उत्तराध्ययन, अ.३२/१०८-१०९

(ख) पंचास्तिकाय तात्पर्यवृत्ति २७

(ग) कार्तिकियानुप्रेक्षा गा. २००-२०१-२०२

(घ) अमितगति श्रावकाचार ४/३३

संसार अनादि है, इसलिए प्रवाहरूप से कर्म भी अनादि है। वेदान्त दर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र में संसार को अनादि मानकर 'कर्म' का उसके साथ कार्य-कारण भाव स्वीकार किया है। बीज और अंकुर की तरह कर्म और संसार को शांकरभाष्य में बताया गया है। इस पर से भी संसार का मुख्य कारण कर्म ही सिद्ध होता है।

कर्म और संसार का अविनाभाव-सम्बन्ध

कर्म और संसार का अविनाभाव सम्बन्ध है। जहाँ संसार है या जब तक संसार दशा है, वहाँ या तब तक कर्म अवश्य ही रहेगा। घर, पुत्र, स्त्री, धन, शरीर आदि का नाम संसार नहीं है। ये सब उपाधियाँ हैं,[1] जो प्रत्येक संसारी जीव को अपने-अपने शुभाशुभ, कर्मों के अनुसार प्राप्त होती हैं। जितनी भी सांसारिक सुख-भोग की, अथवा दुःख-प्राप्ति की, इष्ट-अनिष्ट, अनुकूल-प्रतिकूल, मनोज्ञ-अमनोज्ञ सामग्री प्राप्त होती है, वह भी शुभाशुभ कर्म-जन्य है। कर्मों में भी घाती कर्म रहेंगे, वहाँ तक पर-भावों के प्रति राग-द्वेष, मोह, अज्ञान, भ्रम, संशय, विपर्यय, क्रोधादि कषाय, आसक्ति आदि होते रहेंगे, आत्मा में विषय-कषायों की तरंगें आती रहेंगी। कर्मों के जल से परिपूर्ण यह संसार-समुद्र है। संसार-समुद्र को जब तक रत्नत्रय-साधना रूपी नौका द्वारा पार नहीं किया जाएगा, तब तक कर्मों का सद्भाव रहेगा।[2]

इसलिए संसार और कर्म का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ कर्म है, वहाँ-वहाँ संसार है, और जहाँ-जहाँ कर्म नहीं है, वहाँ-वहाँ संसार नहीं है। जब तक इन दोनों का सम्बन्ध बना रहेगा, तब तक संसार का चक्र और कर्म का चक्र दोनों साथ-साथ अविरत घूमते रहेंगे।

संसार-चक्र : कर्म-चक्र के कारण

संसार-चक्र और कर्म-चक्र के अविनाभावी सम्बन्ध को विस्तृत रूप से स्पष्ट करते हुए 'पंचास्तिकाय' में बताया है— "जो जीव संसार में स्थित है, उसके रागद्वेषादिरूप परिणाम होते हैं और उन परिणामों से नये कर्मों का बन्ध होता है। उन कर्मों के कारण उसे एक गति से दूसरी और दूसरी से तीसरी, यों नाना गतियों में जन्म लेना पड़ता है। किसी भी गति में

---

१ (क) न कर्मा विभागात् इति चेन्न, अनादित्वात् । — ब्रह्मसूत्र २/१/३५

(ख) शांकरभाष्य — नैषः, अनादित्वात् संसारस्य । भवेदेष दोषो यदि आदिमान् संसारः स्यात् । अनादौ तु संसारे बीजांकुरवत् हेतु-हेतुमद्भावेन कर्मणः सर्ग-वैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुद्धयते ।

२ कम्मुणा उवाही जायइ । —आचारांग श्रु. १ अ. ३ उ. १

जन्म-ग्रहण से शरीर प्राप्त होता है। शरीर से इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं। इन्द्रियों से विविध मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषयों का ग्रहण होता है। विषयों के ग्रहण से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं। जो जीव संसार चक्र में पड़ा है, उसकी (बद्ध कर्मों के कारण) ऐसी अवस्था होती है। कर्मों का यह प्रवाह अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है और भव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।"[१]

संसार की दुःखरूपता का मूल कारण : कर्म

भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में संसार का स्वरूप बताते हुए कहा था—'जन्म दुःखरूप है, बुढ़ापा दुःखरूप है, रोग दुःखरूप है, मृत्यु दुःखरूप है, अहो ! यह जन्म-मरणादिरूप संसार निश्चय ही दुःखरूप है, जिसमें प्राणी क्लेश (दुःख) पाते हैं।'[२]

संसार की यह दुःखरूपता, करुणता और विचित्रता आकस्मिक नही है, वह है प्राणियो के अपने-अपने कर्मों के कारण। इसे अज्ञानी लोग समझ नहीं पाते। दुःख के क्षण ससार में अधिक हैं, सुख के क्षण कम। जो भी सुख के क्षण आते हैं, वे आते हैं—वैषयिक सुख के क्षण; जो प्राणियों को लुभावने, आकर्षक और मोहक लगते हैं; वे आते हैं जीवों को मोहादि कर्मों के जाल मे फंसाने के लिए। सुख के क्षणिक आस्वाद मे फंसने पर व्यक्ति बाद मे पछताता है, रोता है, अपने आपको न टटोल कर, वह निमित्तो को कोसता है।

संसार का दुःखमय रूप

इस दुःखमय तथा कर्मजालमय संसार मे चारो ओर दृष्टिपात करने से क्या दिखाई देता है ? किसी को पत्नी गैर-वफादार मिलती है, तो किसी को पुत्र उड़ाऊ मिलता है। किसी को प्रपंची मित्र मिलते हैं, तो किसी को स्वजन धोखेबाज मिलते हैं। किसी का शरीर रोगाक्रान्त है तो किसी का

---

१ जो खलु संसारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदीसु गदी ॥१२८॥
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इन्दियाणि जायते ।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेव भावो, ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो साणिधणो वा ॥१३०॥ —पचास्तिकाय

२ (क) जम्म दुक्खं, जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ किस्संति जंतुओ ॥ —उत्तराध्ययन अ. १९ गा. १६
(ख) तुलना कीजिए—जन्म मृत्यु-जरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम् ।
ससारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम् ॥

व्यापार चौपट हो गया है। कहीं विधवा की आँखों में आँसू हैं, तो कहीं अनाथ बालकों की सिसकियाँ हैं। भर्तृहरि के शब्दों में देखिये संसार का स्वरूप —

"कहीं खुशी के मारे वीणा बज रही है, तो कहीं इष्ट-वियोग या अनिष्ट-संयोग के कारण हाहाकारपूर्ण रुदन हो रहा है। कहीं विद्वानों की गोष्ठियाँ विविध विषयों पर विवाद कर रही हैं, तो कहीं मदिरा पीकर उन्मत्त बने हुए लोग कलह कर रहे हैं। कहीं रमणीय रमणी यौवन में मत्त हो रही है तो कहीं बुढ़ापे को जर्जर काया की ठठरी लिये कोई घूम रही है। न जाने, इस ससार में क्या अमृतमय है और क्या विषमय हैं?"[१]

संसार दुःखमय क्यों ?

'अध्यात्मसार' में भी संसार को दुःखमय बताते हुए कहा गया है—

"इस संसार मे कहीं भी सुख नहीं है। पहले तो इस संसार में प्रेम (राग) का प्रारम्भ करने में ही दुःख है। उसके पश्चात् उस प्रेम को अखण्ड रूप से टिकाने में दुःख है। फिर प्रेमपात्र के नष्ट हो जाने पर नाना दुःख हैं। जिन्हें कठोर-हृदय व्यक्ति कुम्भकार के आँवे में डाले हुए घड़े के समान चारो ओर से तप्त होकर सहन करता है। अन्त में, वह दुष्कर्मों के विपाक के कारण जन्मान्तर में भी नरकादि दुर्गतियों में दुःख पाता है। अतः ससाररूपी आँवे मे तप्त प्राणी को जरा भी सुख नहीं है।"[२]

सचमुच संसार अधिकतर विषम है। इसलिए अधिकांश लोगों के लिये वह विषमय है, दुःखमय है, क्योंकि सारा संसार केवल कार्मिक अणुओं से बना हुआ है। कार्मिक अणुओं द्वारा निर्मित—रचित इस जन्म-मरणादिरूप संसार की आकर्षक और मोहक रचना में यह प्राणी (चेतन) भूल जाता है।

---

१ "क्वचिद् वीणावादः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम् ।
क्वचिद् विद्वद्गोष्ठी, क्वचिदपि च सुरामत्तकलहः ॥
क्वचिद्रम्या रामा, क्वचिदपि जरा-जर्जरतनुः ।
न जाने संसारे, किममृतमयः किं विषमयः ? —भर्तृहरि : वैराग्यशतक

२ (क) "पुरा प्रेमारम्भे तदनु तदविच्छेद घटने ।
तदुच्छेदे दुःखान्यथ कठिनचेता विषहते ॥
विपाकादापाकाहित-कलशवत् तापबहुलात् ।
जनो यस्मिन्नस्मिन् क्वचिदपि सुखं हन्त ! न भवे ॥
—अध्यात्मसार, भवस्वरूप चिन्तो १८

(ख) "क्लेशवासित ते संसार, क्लेशरहित ते भवोपार ।"
—उपाध्याय यशोविजय जी

संसार का सूक्ष्म और स्थूल स्वरूप

उपाध्याय यशोविजयजी ने 'संसार को क्लेशवासित' कहा है। अर्थात्—विषय और कषाय में अनुराग, कामनाओं का हृदय[1] में वास, मन में सतत चिन्ता, भीति आदि मनोवृत्तियों की हलचल तथा इसके द्वारा आत्म-प्रदेशों का सतत कम्पन ही संसार का सूक्ष्म स्वरूप है। संसार का स्थूल स्वरूप है—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—इन चार गतियों में दुःखमय परिभ्रमण तथा जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि अवस्थाओं का दुःखभोग। मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया-प्रतिक्रियाओं में, वृत्ति-प्रवृत्तियों में तथा राग-द्वेषात्मक हलचलों में संसार कर्मजनित दुःख का करुण-जल सींचता रहता है। इसीलिए भगवान महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा है— "जितने भी अविद्यावान् पुरुष हैं, वे अपने लिये स्वयं दुःख उत्पन्न करते हैं, और मूढ़ बनकर अनन्त संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।"[2]

जहाँ संसार है, वहाँ रागद्वेषादि जनित कर्मजन्य दुःख हैं

जहाँ संसार है, वहाँ राग, द्वेष, मोह, तृष्णा आदि अवश्यम्भावी हैं। जहाँ ये होंगे, वहाँ कर्मों का आगमन (आस्रव) और बन्ध अनिवार्य है। फिर कर्मों के फल के रूप में नाना दुःख, क्लेश, संकट, अशान्ति, पीड़ा, सन्ताप और बैचेनी आदि प्राप्त होते हैं।

तृष्णा और मोह मिटते ही दुःख मिट जाता है

वस्तुतः भगवान् महावीर की यह उक्ति अक्षरशः सत्य है कि "संसार के दुःखों का मूल कारण तृष्णा है।" तृष्णा के कारण ही अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने का तथा प्राप्त वस्तु (इष्ट वस्तु के वियोग तथा अनिष्ट वस्तु का संयोग) के प्रति असन्तोष प्रकट करने हेतु चिन्ता, शोक, मनस्ताप, विलाप, रुदन, पीड़ा आदि के रूप में आर्त्तध्यान होता है। हवा, पानी, प्रकाश, आकाश, प्रकृति का अनुपम दृश्य, झरने, नदियाँ, पहाड़ तथा सुन्दर मानव-तन, मन, वचन एवं इन्द्रियों की शक्तियाँ आदि अनेक अनमोल वस्तुएँ मानव को मिली हैं, फिर भी साधारण अज्ञानी मानव को इस अलभ्य लाभ का सन्तोष एवं आनन्द नहीं है। इस कारण "तृष्णा या लालसा ही संसार-दुःख का मूल कारण है।" जिसकी तृष्णा (चाह) मिट गई, उसकी चिन्ताएँ मिट गईं, उसका मोह मिट गया। मोह के समस्त कारणों के हटते ही

---

१ कामानां हृदये वासः संसारः परिकीर्तितः ।

२ जावंतऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्ख-संभवा ।
लुप्पंति बहुसो मूढा संसारंमि अणंतए ॥ —उत्तराध्ययन अ. ६ गा. १

घातिकर्म हट जाते हैं। घातिकर्मों का हटना ही संसार का और सांसारिक दुःखों का नष्ट होना है। संक्षेप में—"जिसका मोह नष्ट हो गया, उसका समस्त दुःख नष्ट हो जाता है।"[1]

यही वह संसार है ....

यही वह संसार है जहाँ एक जन्म का लाड़ला पुत्र दूसरे जन्म में जान-लेवा शत्रु बन सकता है। यही वह संसार है, जहाँ एक जन्म का मकान-मालिक दूसरे जन्म में अपने ही भूतपूर्व मकान में कुत्ता बनकर घुसने लगे तो उस पर डंडे पड़ते हैं। इस संसार में इस जन्म के मोटर के कारखाने का स्वामी अगले जन्म में बैलगाड़ी खींचने वाला बैल बन सकता है। इस जन्म का विद्वान् प्रोफेसर आगामी जन्म में अस्पष्टभाषी अव्यक्त शब्द उच्चारण करने वाला गूंगा मानव या पशु-पक्षी अथवा मक्खी-मच्छर आदि बन सकता है। आज का कुश्तीबाज पहलवान आगामी जन्म में दुर्बलकाय, रुग्ण मानव, पशु या गोबर का कीड़ा बन सकता है। आज जो राजा, शासक या राष्ट्रपति है, वह आगामी जन्म में नरक का अतिथि बन सकता है। आज जो करोड़पति है वह अगले जन्म में रोडपति भिखारी बन सकता है। वस्तुतः संसार की यह सब उथल-पुथल कर्मों के कारण ही होती है। अध्यात्मसार में संसार का कर्मजनित स्वरूप इसी प्रकार का बताया गया है—पूर्वकृत कर्मों के कारण इस संसार में किसी जन्म मे विशाल राज्य मिल जाता है, तो किसी जन्म में जरा-सा भी धन मिलना दुर्लभ हो जाता है। किसी जन्म में उच्च जाति प्राप्त होती है, तो किसी जन्म में नीच कुल का अपयश मिलता है। किसी जन्म में देह को अतिशय सौन्दर्यश्री प्राप्त होती है तो किसी जन्म में शरीर को सुरूप भी नहीं मिलता। इस प्रकार संसार की विषमता (विचित्रता) भला किसे प्रीतिकारी हो सकती है।[2]

---

१ (क) रागो य दोसो वि य कम्म-बीय, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाइ-मरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइ-मरणं वयंति ॥
—उत्तराध्ययन अ. ३२ गा. ७

(ख) दुक्खं हयं जस्स न होई मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाई ॥
—वही, अ. ३२, गा. ८

२ क्वचित् प्राज्यं राज्यं क्वचन धनलेशोऽप्यसुलभः ।
क्वचिज्जाति-स्फातिः, क्वचिदपि च नीचत्व-कुयशः ॥
क्वचिल्लावण्यश्रीरतिशयवती, क्वापि न वपुः —
स्वरूपं, वैषम्यं रतिकरं कस्य नु भवे ?" — अध्यात्मसार १/४/११

कर्म के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण : प्रत्यक्ष दृश्यमान संसार

अतः कर्म के अस्तित्व का सबसे बड़ा प्रमाण यह विशाल तथारूप संसार है, जो प्रत्यक्ष दृश्यमान है।

कई बार पर्वत पर लगी हुई आग प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देती, किन्तु वहाँ से धुँआ उठता हुआ दिखाई देता है। उस धुँए पर से व्यक्ति अनुमान लगा देता है कि वहाँ अग्नि अवश्य होगी।[१] इसी प्रकार कर्म अल्पज्ञानियों की दृष्टि में भले ही साक्षात् दिखाई न देता हो, परन्तु संसारस्थ जन्म, जरा, मरण, व्याधि, सुख-दुःख आदि नाना उपाधियाँ तो प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, इसलिए इस प्रत्यक्ष दृश्यमान संसार से उसके मुख्य कारणरूप 'कर्म' का होना अवश्यम्भावी सिद्ध होता है।

कर्म रूपी पुद्गल (जड़) होने से केवलज्ञानियों (सर्वज्ञ वीतरागों) की दृष्टि में प्रत्यक्ष है, इसलिए परोक्षज्ञानियो को संसार के साथ 'कर्म' को अनुमान प्रमाण से माननें मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।

बिजली को अल्पज्ञानी मनुष्य प्रत्यक्ष नहीं देख पाता, किन्तु बिजली के द्वारा होने वाले कार्य—बल्ब जलना, हीटर-कूलर का चलना, मशीन और पंखे का चलना आदि तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। ऐसी स्थिति में क्या बिजली के अस्तित्व से इन्कार किया जा सकता है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार परोक्ष (अल्प) ज्ञानियों की दृष्टि में चाहे 'कर्म' प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता हो, किन्तु कर्म से होने वाले ससारदशा के विविध कार्य तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। विविध गतियो—योनियों में जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, सुख-दुःख आदि तो हम प्रत्यक्ष होते देखते हैं, अर्थात्—विविध रूपों में विस्तृत ससार साक्षात् दृश्यमान है। ऐसी स्थिति में कोई भी समझदार व्यक्ति 'कर्मतत्त्व' से कैसे इन्कार कर सकता है ?

आगम-प्रमाण से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध है

आगमो में तो ऐसे अनेक वाक्य पद-पद पर कर्म के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में कहा था—[२] "उन कर्मों के धागे से बंधा हुआ यह जीव नाना प्रकार के रूप धारण करता हुआ जन्म-मरणादिरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है।" इतना ही नहीं, उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा—[३]"इस

१ 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इति व्याप्तिः । —तर्कसंग्रह

२ जेहिं बद्धो अय जीवो ससारे परियत्तइ । — उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३३

३ एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं, अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥ — वही, अ. ३, गा. ३

जीवात्मा ने पहले जैसे कर्म किये हैं, तदनुसार कभी देवलोकों में जन्म लेता है, कभी नरक में उत्पन्न होकर भयंकर दुःखों की ज्वालाओं में झुलसता रहता है और कभी देवों में भी नीची जाति के असुरकायों (दानवों) के संसार में जन्म ग्रहण करता है।

इसी प्रकार यह संसारस्थ जीव कभी पशुयोनियों में उत्पन्न होता है और कभी शुभकर्मों की प्रचुरता के कारण मनुष्य बनता है। मनुष्यों में भी कभी क्षत्रिय, कभी दुष्कर्मों के प्रभाव से अत्यन्त नीच गोत्रीय चाण्डाल या वर्णसंकर (बोक्कस) होता है। फिर वह चींटी, मच्छर, कीट, पतंग, सांप, बिच्छू, नेवला, सिंह, बाघ, हिरण आदि प्राणियों की विभिन्न योनियों में जन्म-मरण करता रहता है। इन सब में वह अपने कर्म के प्रभाव से पैदा होता है।

जिस प्रकार क्षत्रिय लोग चिरकाल तक समग्र ऐश्वर्य एवं सुखभोग के साधनों का उपभोग करने पर भी विरक्ति (निर्वेद) को प्राप्त नहीं होते, उसी प्रकार कर्मों से अत्यन्त मलिन जीव अनादि काल से आवर्त रूप योनिचक्र में जन्म-मरणरूप संसार में परिभ्रमण करते हुए भी ससारदशा से निर्वेद (वैराग्य) प्राप्त नहीं करते। अर्थात् वे इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की इच्छा ही नहीं करते।"[1]

भगवद्गीता मे भी यही कहा गया है कि "जो व्यक्ति सद्धर्म में श्रद्धारहित हैं, वे मुझे प्राप्त न होकर (जन्म-) मृत्यु रूप संसार-चक्र में कर्मवशात् भ्रमण करते है।"[2]

इस प्रकार इस जन्म-मरणादिरूप विशालकाय संसार का मूल कारण कर्म के सिवाय और कोई नही है।

भूतवादियों द्वारा मान्य केवल इहलौकिक क्रिया-कर्म

जैनदर्शन की इस युक्तिसंगत मान्यता के विपरीत भूत-चैतन्यवादी चार्वाक, बार्हस्पत्य, लोकायतिक, पंचभूतवादी, तज्जीव-तच्छरीरवादी कुछ दार्शनिक ऐसे हैं, जो कर्म और कर्मफल सम्बन्धी कार्य-कारण-परम्परा को अतीत और अनागत से न जोड़कर केवल इहलोक तक ही मानते हैं।

---

१. एगया खत्तिओ होइ, तओ चांडाल बोक्कसो ।
तओ कीड-पयंगो य, तओ कुन्थु-पिवीलिया ।
एवमावट्ट जोणिसु पाणिणो कम्म किव्विसा ।
न निविज्जंति संसारे सव्वट्ठेसु व खत्तिया ॥ — उत्तरा. ३/४-५

२. अश्रद्धाना पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप !
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्य-संसार वर्त्मनि ॥ भगवद्गीता ९/३

उनका इस बात में विश्वास नहीं है कि कर्मों की यह परम्परा इस अनादि-कालीन संसार में अतीत से चली आ रही है, और भविष्य में भी चलती रहेगी। अर्थात् इस शरीर के पंचभौतिक तत्त्वों के विनष्ट होने या बिखर जाने पर भी यह कर्म-परम्परा भविष्य में भी चलेगी। उनके मतानुसार प्राणि-जीवन की समस्त प्रवृत्तियाँ पंचभूत-संयोग से प्राणी के गर्भ-काल या जन्म-काल से प्रारम्भ होती हैं और आयु के अन्त में शरीर के विनष्ट होते ही पुनः पंचभूतों में विलीन हो जाती हैं। अतः न तो वे अतीतकालीन कर्म को जन्म, जरा, मृत्यु-व्याधिरूप संसार का कारण मानते हैं और न ही वे अनागतकालीन कर्म को मानते हैं। वर्तमानकाल में भी वे कर्म को संसार का कारण नहीं मानते हैं।

कर्म के कारण ही भूत-भविष्यकालीन विचित्रताओं से भरा संसार

परन्तु इन भूतवादियों के मत का निराकरण तो इसी युक्ति और प्रमाण से हो जाता है कि यह जन्म, जरा, मृत्यु-व्याधिरूप प्रत्यक्ष दृश्यमान संसार तथा एक ही साथ, एक ही समय में पैदा हुए दो बालकों के जन्म-मरण का, सुख-दुःखादि का तथा अन्य प्रवृत्तियों-प्रकृतियो में वर्तमान में दिखाई देने वाला स्पष्ट अन्तर तथा भविष्य में जन्म लेकर पूर्वजन्म की घटनाओं को हूबहू बताने वाले का अतीतकालीन जीवन पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण को स्पष्ट उद्घोषित करता है। यही तो भूतकालीन तथा भविष्य-कालीन संसार है, जिसका मूलस्रोत कर्म के सिवाय और क्या हो सकता है ?

ईश्वर-कर्तृत्ववादियो की दृष्टि में ससार का कारण कर्म नहीं, ईश्वर है

इसके अतिरिक्त एक विचारधारा और है, जो संसार की उत्पत्ति और विनाश का सम्बन्ध ईश्वर के साथ जोड़ती है। न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर ही संसार का आदि सर्जक, पालक और संहारक है। वह शून्य से संसार का सृजन नही करता, किन्तु नित्य परमाणुओ, दिशा, काल, आकाश, मन तथा आत्माओ से करता है। उसे ससार का पोषक इसलिए कहा है कि संसार उसी की इच्छानुसार कायम रहता है। वह संसार का संहारक इसलिए है कि ससार में जब-जब पापी, दुष्ट और अधर्मी बढ़ जाते हैं, तब-तब वह संहार भी करता है। अतः संसार का कारण कर्म नहीं, ईश्वर है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्त्ता तो है, लेकिन वह ईश्वर के द्वारा अपने अदृष्ट (पूर्वकृत कर्म) के अनुसार प्रेरित होकर कर्म करता है। इसलिए ईश्वर ही संसार, संसारस्थ मनुष्यों तथा अन्य सभी प्राणियों का कर्म-व्यवस्थापक,

कर्मफलदाता और सुख-दुःख -निर्णायक है। न्यायदर्शन गौतमसूत्र में ईश्वर के द्वारा अच्छे-बुरे कर्मों का फल प्राप्त होने की बात कही गई है।[1]

वैशेषिक दर्शन के अनुसार भी संसार का कर्ता-धर्ता-संहर्ता महेश्वर है अतः वहाँ भी ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानकर उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है। उसकी इच्छा से संसार का सृजन और प्रलय होता है, उसकी इच्छा होती है, तभी संसार बन जाता है ताकि सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःखरूप फल भोग सकें। जब महेश्वर की इच्छा होती है, तब वह उस जाल को समेट लेता है। जीवों के प्राचीन कर्म (पुण्य-पाप) को ध्यान में रखकर वह एक अभिनव संसार की रचना करता है। इस मत से भी संसार का कारण कर्म न होकर महेश्वर प्रतीत होता है।[2]

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में आद्य शंकराचार्य ने उपनिषदों के आधार पर कई स्थलों पर 'ब्रह्म' को संसार का उपादान कारण सिद्ध किया है। उन्होंने प्रतिपादन किया कि संसार का निमित्त और उपादान—दोनों ही कारण ब्रह्म है। सृष्टि के आदि में अकेला ब्रह्म था, उसका संकल्प हुआ कि मैं "एक से अनेक हो जाऊँ। मैं संसार की रचना करूँ।," यह इच्छा हुई कि इस संसार की रचना हो गई। ब्रह्म इस संसार का निर्माण अपने में विद्यमान माया के माध्यम से करता है। ब्रह्मवाद की इस परिकल्पना से भी संसार का कारण ब्रह्म सिद्ध होता है।[3]

जैनदर्शन द्वारा ईश्वरकृत संसार का निराकरण

जैनदर्शनसम्मत कर्मवाद इन सब परिकल्पनाओं का खण्डन करता है। उसका कथन है कि जीव जैसे कर्म करने में स्वतंत्र है; वैसे ही उसका फल भोगने में भी स्वतंत्र है। यदि ईश्वर को, जीव के कर्म का प्रेरक या कर्मफलप्रदाता माना जाएगा तो जीव (आत्मा) द्वारा पूर्वकृत, तथा वर्तमानकृत शुभाशुभ कर्म निरर्थक सिद्ध होंगे। ईश्वर को संसार के सृजन एवं संहार के तथा संसारी जीवों को कर्म प्रेरणा करने या कर्मफल प्रदान

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ (प्रस्तावना) (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. २३ से सारांश उद्‌धृत
   (ख) 'तत्कारित्वादहेतुः ।' न्यायदर्शन गौतमसूत्र अ. ४ आ. १ सू. २१
२. वैशेषिक दर्शन प्रशस्तपादभाष्य पृ. ४८
३. (क) कर्मग्रन्थ, भा. १ (प्रस्तावना) (पं. सुखलाल जी)
   (ख) "चेतनमेकमद्वितीय ब्रह्म क्षीरादिवद् देवादिवच्चानपेक्ष्य बाह्य-साधनं स्वयं परिणममान जगतः कारणमिति स्थितम् ।" — ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २/१/१६
   (ग) "तस्मादशेष वस्तु विषयमेवेदं सर्वविज्ञानं सर्वस्य ब्रह्म कार्यतापेक्षयोपन्यस्यत इति द्रष्टव्यम् ।" — वही, अ. २ पा. ३, आ. १ सू. ६ भाष्य
   (घ) "श्रुतिप्रामाण्यादेकस्माद् ब्रह्मण आकाशादि महाभूतोत्पत्तिक्रमेण जगज्जातमिति निश्चीयते ।" — ब्रह्मसूत्र अ. २, पा. ३, आ. १ सू. ७ भाष्य

करने के प्रपंच में डालना, सर्व कर्ममुक्त, कृतकृत्य, सिद्ध-बुद्ध-मुक्त ईश्वर को कर्मों के एवं जन्म-मरणादिरूप संसार के चक्कर में डालना है। कोई व्यक्ति बुरे कर्म करे तो ईश्वर या कोई भी शक्ति क्या उसे सुखी कर सकती है ? इसी प्रकार कोई अच्छे कर्म करे तो क्या वह शक्ति (ईश्वर या परब्रह्म) उसका कुछ भी बुरा कर सकती है ? कदापि नहीं।

ईश्वर जब जीव के अपने शुभाशुभ प्राकृत कर्मों के अनुसार फल-भोग कराता है, ईश्वर भी कर्म के समक्ष स्वतंत्र नहीं है वह भी प्राणियों के कर्मों से बंधा है। वह अपनी इच्छा से फल नहीं दे पाता। उसे कर्मों का फल प्राणियों के कृतकर्मानुसार ही देना होता है अतः शुभाशुभ कर्मों की प्रेरणा और कर्मफल प्रदान करने हेतु ईश्वर, महेश्वर या किसी परब्रह्म को मानना युक्तिसंगत नही है।

तर्क की कसौटी पर कसे जाने पर भी संसार का सर्जक ईश्वर आदि कोई भी सिद्ध नही होता। ईश्वर को संसार का स्रष्टा मानने पर अनेकों विवादास्पद प्रश्न खड़े होते हैं, जिनका कोई भी युक्तिसंगत समाधान नही मिलता। तर्क से न तो कोई संसार सर्जक—ईश्वर सिद्ध होता है, न ही असंख्य प्रकार का ससार-वैचित्र्य किसी एक ईश्वर द्वारा रचित होना सम्भव है। इसलिए जैनदर्शन का यह अकाट्य सिद्धान्त है कि प्रत्येक जीव (आत्मा) अपने-अपने कर्मों के द्वारा व्यक्तिगत ससार (जन्म-मरण-सुख-दुःखादिरूप) का कर्ता-स्रष्टा एवं भोक्ता है। इस प्राकृतिक सृष्टि का अधिष्ठाता भी वह ईश्वर को नहीं मानता, क्योंकि यह सृष्टि अनादिकाल से चली आ रही है, और अनन्तकाल तक चलती रहेगी, इसलिए यह न तो कभी नये सिरे से उत्पन्न हुई है, और न कभी पूर्णरूप से विनष्ट। इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के सिद्धान्तानुसार स्वतः परिवर्तन होता रहता है। इसलिए सृष्टि स्वतः परिणमनशील होने से किसी ईश्वर नामक अधिष्ठाता की अपेक्षा नहीं रखती।

अतः जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित यही सिद्धान्त सत्य है कि जीव ही अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण अपने-अपने संसार का कर्त्ता-भोक्ता है, और कर्मक्षय एवं कर्मनिरोध के द्वारा स्वयं ही वह कर्मों से मुक्त होता है। उसकी संसारावस्था का मूल कारण कर्म ही है। अतएव जहाँ संसार है, वहाँ कर्म अवश्यम्भावी है।[१]

■

---

१. (क) "कम्मकत्तो ससारो, तण्णासे तस्स जुज्जते नासो ॥"— गणधरवाद गा. १९८०

(ख) जाति-मृत्यु-जरा-दुःखं, सततं समभिद्रुतः ।
ससारे पच्यमानश्च दोषैरात्मकृतैर्नरः ॥
जन्तुस्तु कर्मभिस्तैस्तैः, स्वकृतैः प्रेत्य दुःखितः ।
तद्दुःखप्रतिघातार्थमपुण्यां योनिमाप्नुते ॥ —महाभारत

३

कर्म-अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म—१

कर्म का सम्बन्ध प्राणी के अतीत और अनागत से भी

कर्मविज्ञान भारतीय दर्शनों का नवनीत है। जैनदर्शन का तो वह प्राण है। उसको माने बिना प्राणियों के अस्तित्व और व्यक्तित्व की, उनके स्वभाव और विभाव की, उनकी प्रकृति और विकृति की, उनके सुदूर अतीत से लेकर अब तक की अच्छी-बुरी उत्कृष्ट-निकृष्ट एवं उत्थान-पतन की सम्यक् व्याख्या हो नहीं सकती। प्रत्येक भारतीय आस्तिक दर्शन का जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित 'कर्म' के स्वरूप के विषय में मतभेद होगा, परन्तु कर्म के अस्तित्व के विषय में मतभेद नहीं है। सभी आस्तिक दर्शन और धर्म एकमत से यह स्वीकार करते हैं कि कर्म मानव-जीवन के ही नहीं, समस्त सांसारिक प्राणि जगत् के जीवन के साथ श्वासोच्छ्वास की तरह जुड़ा हुआ है। कर्मविज्ञान के रहस्य का ज्ञाता इस तथ्य को भलीभांति स्वीकार करता है कि प्राणी जो कुछ भी मानसिक, वाचिक, कायिक एवं बौद्धिक क्रिया करता है, उसका मूल आधार पूर्व-कृतकर्म हैं, फिर वे पूर्वकृत कर्म इस जन्म के हों, पूर्वजन्म के हों या सैकड़ों-हजारों जन्म पहले के हों।[1] इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त का यह भी रहस्य है कि वर्तमान में मनुष्य जो कुछ अच्छी-बुरी प्रवृत्ति करता है, उसका परिणाम भविष्य में उसे उसी रूप में मिलेगा ही, चाहे वह इसी जन्म में मिले, अगले जन्म में मिले या कई जन्मों बाद मिले।[2] इस दृष्टि से 'कर्म' प्राणिजगत् के साथ अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों में अनुस्यूत है। जब तक वह समस्त कर्मों से सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक कर्म उसकी आत्मा के साथ संलग्न रहते हैं।[3]

---

१. 'सव्वे सयकम्म कप्पिया ।' —सूत्रकृतांग १/२/६/

२. 'जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए ।'
—सूत्रकृतांग १/५/२/२३

३. (क) कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं । —उत्तराध्ययन सूत्र १३/२३

(ख) परलोगकडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति, इहलोगकडा कम्मा (वि) इहलोए वेइज्जंति ।" —भगवती सूत्र

यद्यपि प्राचीन कर्म फल भोगने के बाद छूट जाते हैं, और उनके स्थान पर नये-नये कर्म आते और बंधते जाते हैं। यह सिलसिला मुक्त न होने तक अनन्त-अनन्त जन्मों से चलता रहा है और चलेगा।

कर्म-अस्तित्व से इन्कार : इहजन्मवादियों द्वारा

किन्तु कतिपय धर्म, दर्शन या मत-पन्थ इस मान्यता को स्वीकार नही करते। चार्वाक आदि कई नास्तिक दर्शन तो कर्म के अस्तित्व को मानने से सर्वथा इन्कार करते हैं, तब फिर वे अनन्त-अनन्त पूर्वजन्मों और भविष्य के पुनर्जन्मों को मानते ही कैसे ?

कर्म के अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

चूंकि कर्म के अस्तित्व के मूलाधार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म हैं; उनको माने बिना इहलोककृत कर्मों के फल की तथा इससे पूर्व कई जन्मों में किये हुए कर्मो के शुभाशुभ फल की व्यवस्था ही नही बनती। इसलिए कर्म के अस्तित्व के सबसे बड़े आधार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म बनते हैं।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म : क्यों माने जाएँ ?

अगर पूर्वजन्म और पुनर्जन्म ये दोनों न हों तब तो यह नहीं कहा जा सकता था कि 'कर्म जन्म-जन्मान्तर तक फल देते हैं और जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वे अविच्छिन्नरूप से उसके साथ संलग्न रहते हैं।' किन्तु भारतीय दर्शनों के इतिहास का अध्ययन करने से यह तथ्य सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट हो जाता है कि केवल चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी दर्शनों ने 'कर्म' की सिद्धि के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म दोनों को एकमत से माना है। सभी भारतीय आस्तिक दर्शन इस तथ्य से पूर्णतया सहमत हैं कि "अपने किये हुए कर्मो का क्षय उनका फल भोगे बिना करोड़ों कल्पो तक नहीं हो पाता।"[१] कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं, जिनका फल इसी जन्म में और कभी-कभी तत्काल मिल जाता है, किन्तु कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं, जिनका फल इस जन्म में नहीं मिल पाता, अगले जन्म मे या फिर कई जन्मो के बाद मिलता है।

प्रत्येक प्राणी की जीवन यात्रा : कई जन्मों से, कई जन्मों तक

कई बार हम देखते हैं कि एक अतीव सज्जन, नीतिमान एव धर्मिष्ठ व्यक्ति सत्कार्य करने पर भी इस जन्म में उनके फलस्वरूप सुख नहीं पाता, जब कि एक दुर्जन, अधर्मी और पापी व्यक्ति कुकृत्य करने पर भी इस जन्म में लोकव्यवहार की दृष्टि से सुख और सम्पन्नता प्राप्त कर लेता है।

१. (क) नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

(ख) कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि । —उत्तराध्ययन सूत्र ४/२

ऐसी परिस्थिति को देखकर वर्तमान युग के नास्तिक अथवा कर्म सिद्धान्त के रहस्य से अनभिज्ञ कई व्यक्ति यह कह बैठते हैं—"कर्मविज्ञान में बड़ा अन्धेर है। अन्यथा धर्मिष्ठ दुःखी और पापिष्ठ सुखी क्यों होता ?"

इसके समाधान के लिए कर्मविज्ञान के मर्मज्ञ कहते हैं—किसी भी प्राणी की जीवन-यात्रा केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है। उसकी जीवन यात्रा आगे भी, कर्ममुक्त होने से पहले—कई जन्मो तक चल सकती है। इसी प्रकार इसकी जीवनयात्रा इस जन्म से पूर्व भी कई जन्मो से चली आ रही है। यही जन्म उसकी यात्रा का अन्तिम पड़ाव नहीं है। इसलिए सुकर्मों या दुष्कर्मों का फल तो अवश्यमेव मिलता है, इस जन्म में नहीं तो, अगले जन्मो में। कतिपय कृतकर्मों का फल इस जन्म में मिलता है, और कई कर्मों का फल बाद के जन्म या जन्मों में प्राप्त होता है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता, उनके फलभोग के लिए कर्म-संयुक्त प्राणी कर्मवशात् पूर्ववर्ती स्थूल शरीर को छोड़कर उत्तरवर्त्ती नया शरीर धारण करता है। 'भगवद्गीता' में इस तथ्य को स्पष्टतया अभिव्यक्त किया है—"जैसे वस्त्र फट जाने या जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर देहधारी जीव उनका त्याग करके नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर व्यक्ति उसे छोड़कर नये-नये शरीर धारण करता है।"[१] आत्मा के द्वारा पूर्ववर्ती शरीर को छोड़कर उत्तरवर्ती नूतन शरीर धारण करना—पूर्वजन्म कहलाता है, और इस जन्म के शरीर को आयुष्य पूर्ण होने पर छोड़कर कर्मानुसार अगले जन्म का नया शरीर धारण करना पुनर्जन्म कहलाता है। पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को भारतीय दार्शनिकों ने पुनर्भव-पूर्वभव जन्मान्तर, प्रेत्यभाव, परलोक, पर्याय-परिवर्तन, तथा भवान्तर भी कहा है।[२]

पूर्वजन्म या पुनर्जन्म के समय शरीर नष्ट होता है, आत्मा नहीं

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के साथ-साथ यह सिद्धान्त अवश्य ध्यान में रखना है कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के समय उक्त प्राणी की आत्मा नही

---

१. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय, जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
—भगवद्गीता २/२२

२. (क) प्रेत्यभावः परलोकः। — अष्टसहस्री पृ. ८८
(ख) मृत्वा पुनर्भवन प्रेत्यभावः । — वही पृ. १६५
(ग) प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणः । — वही पृ. १८१
(घ) प्रेत्याऽमुत्र- भवान्तरे । — अमरकोष

बदलती, केवल शरीर और उससे सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों का संयोग कर्मानुसार बदलता है। आत्मा का कदापि विनाश नहीं होता, उसकी पर्यायों में परिवर्तन होता है। पूर्व-पर्याय में जो आत्मा थी, वही उत्तर-पर्याय में भी रहती है। मृत्यु का अर्थ स्थूल-शरीर का विनष्ट होना है, आत्मा का नष्ट होना नहीं। जैसा कि 'पंचास्तिकाय' में बताया गया है—शरीरधारी मनुष्य रूप से नष्ट हो कर 'देव' होता है अथवा नारक आदि अन्य कोई होता है, परन्तु उभयत्र उसका जीवभाव (आत्मत्व) नष्ट नहीं होता, और न ही वह (आत्मा) अन्यरूप में उत्पन्न होता है।[१]

अल्पज्ञों को जन्म से पूर्व एवं मृत्यु के बाद की अवस्था का पता नहीं

बहुधा हम देखते हैं कि जीव दो अवस्थाओं से गुजरता है। वह जन्म लेता है, यह प्रथम अवस्था है और एक दिन मर जाता है, यह द्वितीय अवस्था है। जन्म और मरण की दोनों अवस्थाएँ परोक्ष नहीं हैं, हमारे सामने प्रत्यक्ष हैं। प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ, बुद्धिमान् और विचारशील मानव हजारों-लाखों वर्षों से यह चिन्तन करता आ रहा है कि जन्म से पूर्व वह क्या था ? और मृत्यु के पश्चात वह क्या बनेगा ? वैदिक काल के ऋषियों मे प्रारम्भिक युगो (Primitive period) में इसकी जिज्ञासा तीव्र रही है कि[२] "यह मैं कौन हूँ ? अथवा कैसा हूँ ? मैं जान नहीं पाता।" आत्मा के सम्बन्ध में ही नहीं, विश्व (समस्त चराचर जगत) के विषय मे भी 'ऋग्वेद' के ऋषि की शंका थी—[३] "विश्व का यह मूल तत्त्व तब असत् नही था, या सत् नहीं था, कौन जाने !" "जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात्"—मै कौन था, क्या बनूंगा ? कहाँ जाऊँगा ?[४] इन प्रश्नों को इसी सन्दर्भ मे समाहित करने का प्रयत्न किया गया। इन प्रश्नों का समाधान उन महापुरुषों ने किया, जो वीतराग, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी एवं प्रत्यक्षज्ञानी थे। जिन्होंने स्वयं, अनुभव और साक्षात्कार कर लिया था—जीवन और मृत्यु का। आचाराग सूत्र में इसी सन्दर्भ में इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के उद्गार हैं—

---

१. मणुस्सत्तेण णट्ठो देही, देवो हवेदि इदरो वा ।
उभयत्त जीवभावो ण णस्सदि ण जायदे अण्णो । —पंचास्तिकाय गा. १७

२. न वा जानामि यदिव इदमस्मि' । —ऋग्वेद १/१६४/३७

३. नाऽसदासीत नो सदासीत् तदानीम् । —ऋग्वेद १०/१२९

४. कोऽहं कथमिदं जातं, को वै कर्त्ताऽस्य विद्यते ?
उपादानं किमस्तीह ? विचारः सोऽयमीदृशः ॥ —शकराचार्य प्रश्नोत्तरी

'संसार में कई लोगों को यह संज्ञा (सम्यक्ज्ञान) नहीं होती कि "मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूँ, पश्चिम दिशा से आया हूँ, उत्तर दिशा से आया हूँ, ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ, अधोदिशा से आया हूँ अथवा अन्य किसी दिशा या अनुदिशा से मैं आया हूँ।"

"इसी प्रकार कई लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली है, अथवा पूर्वजन्म से आई) है, अथवा ऐसी नहीं है, मैं कौन था ? अथवा मैं यहाँ से च्यवकर (आयुष्य समाप्त होते ही मर कर) आगामी लोक (परलोक) में क्या होऊँगा ?"[१]

प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा कथित पूर्वजन्म-पुनर्जन्म वृत्तान्त

प्रत्यक्षज्ञानी तीर्थंकरों तथा उनके गणधरों, विशेषतः श्री गौतम स्वामी, सुधर्मास्वामी आदि ने, एवं पश्चाद्वर्ती ज्ञानी आचार्यों एवं मुनिवरों ने अनेक शास्त्रों एवं ग्रन्थों में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले घटनाचक्रों का यत्र-तत्र उल्लेख किया है। जैन कथाओं, महाकाव्यों, नाटकों, एवं स्तोत्रों आदि में भी यत्र-तत्र सर्वत्र पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अनेक संवाद और वृतान्त मिलते हैं।

भगवान महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें आवश्यक-निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि आवश्यक हरिभद्रीय वृत्ति, आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, चउप्पन्न महापुरिस चरियं में मिलता है। कल्पसूत्र (आचार्य भद्रबाहुस्वामी रचित) की टीकाओं में वर्णित भगवान् महावीर स्वामी के तीर्थंकर भव से पूर्व के २७ भवों (जन्मों) का वर्णन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की मुँहबोलती कहानी है।[२]

इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन भी कल्पसूत्र टीका त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि शास्त्रों एवं ग्रन्थों में मिलता है। इसमें भ. पार्श्वनाथ के साथ कई जन्मों तक जन्म-मरण के रूप में कमठ की

---

१. इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तंजहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहो दिसाओ वा आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि।"

"एवमेगेसिं णो णायं भवइ—अत्थि मे आया उववाइए णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी ? केवाइओ चुए इह पेच्चा भविस्सामि।"

—आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. १, उ. १, सू. १-२

२. कल्प सूत्र (भगवान महावीर का पंच कल्याणक वर्णन) (सं. उपाचार्य देवेन्द्रमुनि)

वैर-परम्परा चालू रही। यह घटना चक्र भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को असंदिग्ध रूप से उजगर करता है।[१]

इसी प्रकार सती राजीमती के साथ अरिष्टनेमि तीर्थंकर का पिछले नौ जन्मों का स्नेह था। तीर्थंकर भव में उन्हें उन नौ जन्मों की स्मृति हुई। यह चरित भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि को अभिव्यक्त करता है।[२]

और भी ऋषभदेव, शान्तिनाथ, मल्लिनाथ आदि[३] तीर्थंकरों के पूर्व-भवों का वर्णन पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को स्वीकार करने को बाध्य करता है।

श्रमण भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में उत्तराध्ययन सूत्र वर्णित कई अध्ययनों में पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की स्मृति का उल्लेख स्पष्टतः किया है।

इसी सूत्र का नमिप्रव्रज्या अध्ययन भी पूर्वजन्म के अस्तित्व का साक्षी है। इसमे देवलोक से मनुष्य लोक में आए हुए नमिराज का मोह उपशान्त होने पर पूर्वजन्म के स्मरण का तथा अनुत्तरधर्म में स्वयं सम्बुद्ध होकर प्रव्रजित होने का स्पष्ट उल्लेख है।[४]

उत्तराध्ययन सूत्र का चित्र-सम्भूतीय अध्ययन तो छह जन्मो तक चित्र और सम्भूत के साथ-साथ जन्म लेने की घटनाएँ पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की श्रृंखला का ज्वलन्त प्रमाण हैं। उनके छह जन्म इस प्रकार बताये गए हैं— (१) गोपाल पुत्रद्वय ने मुनिदीक्षा ग्रहण की, आयुष्य पूर्ण कर मुनिजीवन मे जुगुप्सावृत्ति के कारण दासी पुत्र हुए, (२) सर्पदंश से मर कर वन्य मृग बने, (३) शिकारी के बाण से मर कर राजहंस हुए, (४) भूतदत्त चाण्डाल के पुत्र हुए, नाम रखा गया—चित्र और सम्भूति। तत्पश्चात् जातिमदान्ध लोगो द्वारा तिरस्कृत होने से दोनों ने एक शान्त मुनि से दीक्षा ग्रहण की। उत्कट तपस्या के फलस्वरूप कई लब्धियाँ प्राप्त हुईं।

---

१. (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र (पार्श्वनाथ चरित) ९/३
(ख) पार्श्वनाथ चरित, भ. पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
—उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

२. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व ८

३. (क) वही, पर्व. १, ३/१५, ३/१८
(ख) ज्ञाता धर्मकथा ८

४. देखें—उत्तराध्ययन सूत्र ३/९ (स. साध्वी चन्दना) की ये गाथाएँ —
चइऊण देवलोगाओ उववन्नो माणुसमि लोगम्मि ।
उवसत मोहणिज्जो, सरई पोराणिय जाइं ॥१॥
जाइं सरित्तु, भयवं सहसंबुद्धो अणुत्तरे धम्मे ।
पुत्त ठवेत्तु रज्जे, अभिणिक्खमई नमी राया ॥२॥

एक बार हस्तिनापुर में सम्भूत मुनि को भिक्षाटन करते देख वहाँ राज्यमंत्री नमुचि ने उन्हें मारपीट कर नगर के बाहर खदेड़ दिया। सम्भूतमुनि का क्रोध भड़का, तेजोलेश्या छोड़ी, जिससे सारा नगर धूमाच्छन्न हो गया। भयभीत नागरिकों एवं परिवार सहित चक्रवर्ती ने आकर क्षमायाचना की। कोप शान्त तो हुआ, किन्तु सम्भूत स्वतप के प्रभाव से भावी जन्म में चक्रवर्ती बनने का निदान कर बैठा। फलतः वहाँ से आयुष्य पूर्ण कर दोनों देवलोक में गए। पांच जन्मों तक साथ-साथ जन्मे हुए चित्र और सम्भूत छठे मनुष्य लोक में अलग-अलग जगह में जन्मे। सम्भूत अपने निदानानुसार कम्पिलनगर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना और चित्र अपनी संयमाराधना के फलस्वरूप पुरिमताल नगर में श्रेष्ठी-पुत्र बना।

एक बार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को नाटक देखते-देखते पूर्व के पांच जन्मो का स्मरण हुआ। फलतः वह अपने पांच पूर्वजन्मों के साथी मित्र को याद करके शोकमग्न हो गया। उसकी खोज के लिए उसने एक श्लोक का पूर्वार्ध तैयार किया—

'आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगावमरौ तथा।'

इस अर्धश्लोक की पूर्ति करने वाले को आधा राज्य देने की घोषणा करवाई। परन्तु इस रहस्य का किसे पता था? संयोगवश चित्र (के जीव) को भी जातिस्मरण ज्ञान हुआ। पिछले पाच जन्म उनके समक्ष चलचित्रवत् स्पष्ट दृष्टिगोचर हुए। वे मुनि बने और विहार करते हुए कम्पिल्यनगर में पधारे। उद्यान में ठहरे। वहाँ के अरहट्ट चालक के मुंह से आधा श्लोक सुनकर मुनि ने उसकी पूर्ति कर दी—

'एषा नो षष्ठिका जातिरन्योन्याभ्या वियुक्तयोः।'[१]

इसकी पूर्ति का रहस्य खुलने पर चक्रवर्ती अपने पूर्व पांच जन्मों के साथी मुनि से मिले और पिछले पूर्वजन्मों के दोनों साथियो के इस जन्म में वियोग होने के कारणों पर परस्पर विचार-विमर्श हुआ। अन्त में दोनों सदा के लिए एक दूसरे से वियुक्त हो गए।

---

१. (क) देखिये उत्तराध्ययन सूत्र अ. १३ की चित्र सम्भूतीय कथा।
(ख) सम्भूति के जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के उद्गार छह जन्मो के सम्बन्ध मे :—
चक्रवर्ती— आसियो भायरा दो वि अन्नमन्नवसाणुगा।
अन्नमन्नमणुरत्ता अन्न-मन्न हिएसिणो ॥५॥
दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे।
हंसा मयगतीरे य सोवागा कासिभूमीए ॥६॥
देवा य देवलोगम्मि आसी अम्हे महिड्ढिया।
इमा नो छट्ठिया जाई, अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥
मुनि— "कम्मा नियाणप्पगडा, तुमे राय! विचिंतया।
तेसिं फलविवागेण विप्पओग मुवागया ॥८॥

छह जन्मों की ये लगातार घटनाएँ पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की सिद्धि के अतिरिक्त स्व-स्वपूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप पूर्वजन्म और पुनर्जन्म में भी तदनुसार फल-प्राप्ति के सिद्धान्त का भी समर्थन करती हैं।[१]

इससे आगे इषुकारीय अध्ययन भी पूर्वजन्म की सिद्धि के लिए पर्याप्त है। इस अध्ययन में भृगु-पुरोहित के दोनों पुत्रों को अपने पूर्वजन्म का तथा उस जन्म में आचरित तप-संयम का स्मरण करके विरक्त होने का स्पष्ट वर्णन है।[२]

संजयीय अध्ययन में तो स्पष्टतः पुनर्जन्म और शुभाशुभ कर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध रूप गठबन्धन बताते हुए कहा गया है—"जो सुखद या दुःखद कर्म जिस व्यक्ति ने किये हैं, वह अपने उन कर्मों से युक्त होकर परभव में जाता है, अर्थात्—अपने कृतकर्मानुसार पुनर्जन्म पाता है।"[३]

इसके पश्चात् उन्नीसवाँ मृगापुत्रीय अध्ययन भी पूर्वजन्म के अस्तित्व को स्पष्टतः सिद्ध करता है। इसमें मृगापुत्र अपने पूर्वजन्म का तथा देवलोक भव से पूर्वजन्म में आचरित पंचमहाव्रतरूप श्रमण धर्म का स्मरण करता है, साथ ही नरक और तिर्यञ्चगति में प्राप्त हुई भयंकर वेदनाओं और यातनाओं को सहन करने का भी वर्णन करता है।[४]

---

१. मुनि—तीसे य जाईइ उ पावियाए, वुच्छामु सोवाग-निसेवणेसु ।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा, इहं तु कम्माइं पुरेकडाइं ॥"
—उत्तरा. अ. १३ गा. १९

२. पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स, सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स ।
सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं, तहा सुचिण्णं तव संजमं च ॥
........तम्हा गिहंसि न रइं लभाओ, आमंतयामो चरिस्सामु मोणं ॥
—उत्तरा. अ. १४. गा. ५-७

३. तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं ।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छइ उ परं भवं ॥ —उत्तराध्ययन अ. १८ गा. १७

४. देवलोग—चुओ संतो, माणुस्सं भवमागओ ।
सन्निनाणे समुप्पन्ने जाइं सरइ पुराणयं ॥८॥
जाइसरणे समुपन्ने मियापुत्ते महिड्ढिए ।
करइ पोराणियं जाइं, सामण्णं च पुरा कयं ॥९॥
सुयाणि मे पंच-महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्ख जोणिसु ॥११॥
जरामरणकंतारे चाउरंते भयागरे,
मए सोढाणि भीमाणि जम्माणि मरणाणि य ॥४७॥
सव्वभवेसु असाया वेयणा वेइया मए ।
निमेसंतरमित्तं पि जं साया नत्थि वेयणा ॥७४॥ —उत्तरा. अ. १९

इसके अतिरिक्त सुख-विपाकसूत्र और दुःखविपाक सूत्र में तो पूर्वकृत शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुए सुखद-दुःखद जन्म का तथा उसके पश्चात् उस जन्म में अर्जित शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप अगले जन्म में स्वर्ग-नरक प्राप्ति रूप फल (विपाक) का निरूपण सुबाहुकुमार आदि की विशद कथाओं द्वारा स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त कर दिया है।[1]

इसके अतिरिक्त समरादित्य केवली की कथा भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म-सम्बन्धी अनेक घटनाओं से परिपूर्ण है। समरादित्य के साथ-साथ द्वेषवश उनका विरोधी लगातार कई जन्मों तक विभिन्न योनियों में जन्म लेकर वैर वसूल करता है। उधर समरादित्य भी पूर्वकृत शुभकर्मवश सात्त्विक एवं पवित्रकुलों में जन्म लेकर, साधनाशील बन जाने पर भी अशुभकर्मवश बारबार वैरी के द्वारा कष्ट पाते हैं। वे प्रत्येक भव में कुछ मन्द कषाय एवं मन्द राग-द्वेष से तथा कुछ समभाव से कष्ट सहकर पूर्वकृत कर्मों का फल भोगकर धीरे-धीरे कर्म क्षय करते जाते हैं। कई जन्मों तक यह सिलसिला चलता है। इस प्रकार वे चार घाति कर्मों का क्षय करके वीतराग केवली बन जाते हैं—और अन्त में, शेष रहे शरीर से सम्बद्ध चार अघाति-कर्मों को भी क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं।[2]

इसी प्रकार अनेक जैनाचार्यों द्वारा रचित जैन कथाओं में प्रायः प्रत्यक्षज्ञानी (अवधिज्ञानी या मनःपर्यायज्ञानी) से अपने द्वारा कृतकर्मों के फलस्वरूप दुःख पाने के कारणों की पृच्छा करने पर वे उसके पूर्वजन्म की घटना को प्रस्तुत करते हैं। सती अंजना, चन्दनबाला, द्रौपदी, सुभद्रा, कुन्ती, दमयन्ती, प्रभावती, कलावती आदि सतियों को जो भयंकर कष्ट सहने पड़े, उनके पीछे भी पूर्वजन्मकृत कर्मों का हाथ है, यह प्रत्येक सती की जीवन गाथा से स्पष्ट प्रतीत होता है।[3]

उन प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञानियों में किसी के प्रति पक्षपात, रागद्वेष, ईर्ष्या-लोभ आदि काषायिक विकार नहीं थे, इसलिए उनके लिए पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का अपलाप करने या असत्य कहने का तो कोई प्रश्न ही नहीं था।

---

१. इसके विशेष विवरण के लिए देखिये—सुखविपाकसूत्र एवं दुःखविपाकसूत्र ।

२. विशेष विवरण के लिये देखिये 'समराइच्चकहा' (समरादित्यकथा) (आचार्य हरिभद्र सूरि)

३. विशेष विवरण के लिए देखिये,—सोलह सती, जैन कथाएँ, जैनकथामाला आदि पुस्तकें ।

आप्त का लक्षण भी यही है—जो वीतराग हो, १८ दोषों से रहित हो, सर्वज्ञ हो, सर्वहितैषी हो।[१]

सर्वज्ञ वीतराग प्रभुवचनों से पूर्वजन्म-पुनर्जन्म और कर्म का अविनाभावी सम्बन्ध

इसके अतिरिक्त आचारांग, उत्तराध्ययन, विपाकसूत्र, निरयावलिकादि शास्त्रों में भी प्रत्यक्षज्ञानी आप्त पुरुषों ने सर्वत्र यही प्रतिध्वनित किया है, कि जो आत्मवादी होता है, वह लोकवादी अवश्य होता है। अर्थात्—वह इहलोक-परलोक, या स्वर्ग-नरक-मनुष्यलोक-तिर्यञ्च लोक को अवश्य मानता है। दूसरे शब्दों में वह पूर्वजन्म—पुनर्जन्म को असंदिग्ध रूप से मानता है। और जो लोकवाद को मानता है, उसे इहलोक में आने—जन्म लेने और मृत्यु के बाद विविध परलोकों में जाने के मुख्य कारण—'कर्मवाद' को अवश्य ही मानना पड़ता है।[२]

क्योंकि कर्मों के कारण ही कार्मण शरीरयुक्त आत्मा का इहलोक-परलोक में आवागमन होता है। इस प्रकार प्रत्यक्षज्ञानियों के वचनों से पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का अस्तित्व सिद्ध होने से 'कर्म' का अस्तित्व भी निःसन्देहरूप से सिद्ध हो जाता है।

प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा कर्म के साथ अतीत-अनागत जीवन का निर्देश

जो इतना समझाने पर भी प्रत्यक्षज्ञानियो के कथन पर विश्वास नहीं करते, उन भ्रान्त लोगों को फिर चौबीसवे तीर्थंकर वीतराग सर्वज्ञ महावीर स्वामी ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व के साथ कर्म के अविच्छिन्न प्रवाह को फिर से समझाते हुए कहा है—

"कई जीव (आत्मा) इस जीवन से पूर्व का और इस जीवन के आगे (दूसरे जीवन) का स्मरण-चिन्तन ही नही करते कि इस जीव का अतीत क्या था और इसका भविष्य क्या है ?"

"इसको लेकर कितने ही मानव यों कह देते हैं कि इस ससार में इस जीव का जो अतीत था, वही (वैसा ही) भविष्य होगा। किन्तु तथागत

---

१. आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन, नाऽन्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥
क्षुत्पिपासाजराऽऽतक—जन्मातंक—भय-स्मयाः ।
न राग-द्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते ॥६॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लो. ५-६

२. 'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी ।

—आचारागसूत्र श्रु. १, अ. १, उ. १, सू. ५

(यथार्थ ज्ञाता सर्वज्ञ) अतीतार्थ को—अतीत के अनुसार ही भविष्य के होने की बात को, अथवा भविष्यार्थ को—भविष्य के अनुसार अतीत के होने की बात को, नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है—अतीत (पूर्वजन्म) अथवा भविष्य (पुनर्जन्म—आगामी जन्म) जीवों के अपने-अपने कृतकर्मों के अनुसार ही होता है। अर्थात् पूर्व-जन्म हो या पुनर्जन्म सभी कर्मानुसारी हैं। अतः पवित्र आचरण-युक्त महर्षि इस सिद्धान्त को, अथवा पूर्वजीवन, पुनर्जीवन या वर्तमान जीवन के कर्म से अविच्छिन्न सम्बन्ध को जानकर कर्मों को (तपश्चरण आदि से) धुनकर क्षय कर डाले।"[१]

इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए भगवान् महावीर ने स्पष्टरूप से कहा—"अतीत में जैसा भी जो कुछ (अच्छा या बुरा) कर्म किया गया है, भविष्य में वह उस-उस कर्म के अनुसार उसी रूप में उपस्थित होता—आता है।" क्योंकि "सभी प्राणी अपने-अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण विभिन्न गतियों—योनियों में परिभ्रमण करते रहते हैं।"[२]

अतीत (पूर्व) लोक (गति) से आगमन (आगति)[३] और भविष्य में (यहाँ से परलोक में) गति को भलीभांति जानकर अदृश्यमान इन दोनों अन्तों—जन्म और मरण या राग और द्वेष का जो त्याग कर देता है, वह फिर समग्र लोक मे किसी के द्वारा छिन्न, विद्ध, दग्ध या नष्ट नहीं होता।

प्रत्यक्षज्ञानियों ने परोक्षज्ञानियों को युक्तिपूर्वक समझाया

प्रत्यक्षज्ञानियो ने अपने अनुभव और प्रत्यक्ष ज्ञान (केवलज्ञान) के आधार पर जब पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व के विषय में स्पष्ट समाधान दिया, तब परोक्षज्ञान (इन्द्रिय प्रत्यक्ष) के अधिकारियों मे ऊहापोह प्रारम्भ हुआ। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानियों के अनुभवसिद्ध निष्पक्ष कथन को वे परोक्षज्ञानी कैसे पकड़ पाते ?, उसे समझने के लिए उनमें विकल प्रत्यक्ष ज्ञान की भी कुछ झाकी होती तो समझ पाते, अन्यथा, वे कैसे समझ पाते ?

१. अवरेण पुव्विं न सरंति एगे किमस्सतीय, किंवा आगमिस्स ?
भासंति एगे इह माणवाओ जमस्स तीयं तयागमिस्सं ।
नाईयमट्ठं न च आगमिस्स, अट्ठं नियच्छंति तहागया य ।
विहूयकप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ॥ —आचाराग १/३/३/४०

२. (क) जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए ।'
—सूत्रकृताग, १/५/२/२३
(ख) सव्वे सय-कम्म कप्पिया । —सूत्रकृतांग १/२/६/१८

३. "आगइं गइं परिण्णाय, दोहिं वि अंतेहिं अदिस्समाणेहिं, से ण छिज्जइ, ण भिज्जइ, ण डज्झइ, ण हम्मइ कंचण सव्वलोए ।" —आचाराग १/३/३/४००

परोक्षज्ञानी केवल शब्दों को पकड़ पाता है, अथवा वह तीव्र जिज्ञासु और परमश्रद्धालु हो तो आगम-प्रमाण (वीतराग-सर्वज्ञ-आप्तवचन) के द्वारा उनको (पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को) श्रद्धापूर्वक मान सकता है। परन्तु जिसमे श्रद्धा भी न हो, तीव्र जिज्ञासा भी न हो, वह तर्क, युक्ति, अनुमान, जल्प और वितण्डा के आधार पर अपनी पूर्वगृहीत बात को ही सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। वह प्रत्यक्षज्ञानियों की बात को समझने का प्रयास प्रायः नहीं करता। ऐसा व्यक्ति भी यदि जिज्ञासुबुद्धि से, सरलमति से समझना चाहे तो प्रत्येक तथ्य को तर्क एवं अनुमानादि शब्दों की शान पर चढ़ाकर समझ सकता है।

अतः पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के प्रत्यक्षज्ञानियों ने जब सर्वप्रथम अनुभव सिद्ध समाधान दिया तो बुद्धिवादी दार्शनिकों ने जिज्ञासा की-"पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म होता है, इसका क्या प्रमाण है ?" उन्होने उन्हीं की भाषा में उत्तर दिया-"हमारा वर्तमान जन्म जो प्रत्यक्ष है, वह मध्य विराम है। यदि मध्य जन्म है तो उससे पहले भी कोई जन्म था, और पश्चात् भी कोई जन्म होगा। मध्य उसी का होता है, जिसका पूर्व और पश्चात् हो। अतः उन्होंने स्पष्ट कहा-"जिसका पूर्व नहीं है और पश्चात् नहीं है, उसका मध्य कैसे होगा ?" मध्यजन्म प्रत्यक्ष है, इसलिए सिद्ध होता है कि पूर्वजन्म भी है और पश्चात् (पुनः) जन्म भी है।[१]

इस पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने तर्कों के तीर छोड़े। उन्होंने दर्शन के मैदान में बौद्धिक करों से तर्क के फुटबाल को बहुत उछाला। इनमें से अधिकांश दार्शनिकों का तर्क का फुटबाल ठीक स्थान पर जा लगा और उसने गोल (लक्ष्य) पार कर लिया। विभिन्न दार्शनिकों के तर्क, युक्तियों और अनुमानों आदि के द्वारा कैसे-कैसे पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को सिद्ध किया ? उसकी संक्षिप्त झांकी अगले निबन्ध में प्रस्तुत करेंगे।

■

---

१. (क) जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ।

—आचारांग श्रु. १, अ. ४, उ. ४

(ख) घट-घट दीप जले (युवाचार्य महाप्रज्ञ) में प्रकाशित 'पूर्वजन्म-पुनर्जन्म' से, पृ. ५३

४

कर्म-अस्तित्व के मूलाधार : पूर्वजन्म और पुनर्जन्म-२

पुनर्जन्म को माने बिना वर्तमान जीवन की यथार्थ व्याख्या सम्भव नहीं

जीवन का जो स्वरूप वर्तमान में दिखाई पड़ रहा है, वह उतने ही तक सीमित नहीं है; अपितु उसका सम्बन्ध अनन्त भूतकाल और अनन्त भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है। वर्तमान जीवन तो उस अनन्त श्रृंखला की एक कड़ी है। भारत के जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, वे सब पुनर्जन्म और पूर्वजन्म की विशद चर्चा करते हैं। पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को माने बिना वर्तमान जीवन की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती। पुनर्जन्म और पूर्वजन्म को न माना जाए तो इस जन्म और पिछले जन्मों में किये हुए शुभ-अशुभ कर्मों के फल की व्याख्या भी नहीं हो सकती।[१]

प्रत्यक्षज्ञानियों और भारतीय मनीषियों द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि

प्रत्यक्षज्ञानियों ने तो पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के विषय में स्पष्ट उद्घोषणा की है। उनको माने बिना न तो आत्मा का अविनाशित्व सिद्ध होता है और न ही संसारी जीवो के साथ कर्म का अनादित्व। भारतीय मनीषियों ने तो हजारों वर्ष पूर्व अपनी अन्तर्दृष्टि से इस तथ्य को जान लिया था और आगमों, वेदों, धर्मग्रन्थों, पुराणों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि में इसका स्पष्टरूप से प्रतिपादन भी कर दिया था।

वैदिकधर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ गीता में स्थान-स्थान पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्ररूपण किया गया है। अर्जुन ने कर्मयोगी श्री कृष्ण से पूछा—"देव ! योगभ्रष्ट व्यक्ति की क्या स्थिति होती है ?" इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते है—"वह[२] योगभ्रष्ट साधक पवित्र और साधन-सम्पन्न मनुष्य के घर जन्म लेगा, अथवा बुद्धिमान योगियों के कुल में पैदा होगा।"

---

१. अखण्डज्योति, सितम्बर १९७९ में प्रकाशित लेख से सार-संक्षेप, पृ. १८

२. "शुचीनां श्रीमतांगेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥" —गीता अ. ६, श्लोक ४१-४२

इसका अर्थ यह हुआ कि पिछले जन्म की विशेषताओं एवं संस्कारों की प्राप्ति दूसरे जन्म में होती है। जन्म के साथ दिखाई पड़ने वाली आकस्मिक विशेषताओं का कारण पूर्वजन्म के कर्म होते हैं। उसका प्रमाण गीता के अगले श्लोक में अंकित है–[१] "वह अपने पूर्वजन्म के बौद्धिक संयोगों तथा संस्कारों को प्राप्त करके पुनः मोक्षसिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।" दुष्कर्मों के फलस्वरूप अगले जन्म में प्राणी निम्नगति और योनि को पाता है, इसके लिए गीता कहती है–"निकृष्ट कर्म करने वाले क्रूर, द्वेषी और दुष्ट नराधमों को निरन्तर आसुरी योनियों मे फैंकता रहता हूँ।"[२]

जो लोग भौतिक शरीर की मृत्यु के साथ ही जीवन की इतिश्री समझ लेते हैं, उन्हें पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिको, धर्मशास्त्रियों, स्मृतिकारों, आगमकारों और विचारकों ने तर्कों, प्रमाणों, युक्तियों, प्रयोगों और अनुभवो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त काल्पनिक उड़ान नहीं है।

विभिन्न दर्शनों और धर्मग्रन्थों में कर्म और पुनर्जन्म का निरूपण

ऋग्वेद में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत–'ऋग्वेद' वैदिक साहित्य मे सबसे प्राचीन धर्मशास्त्र माना जाता है। उसकी एक ऋचा में बताया गया है कि "मृत मनुष्य की आँख सूर्य के पास और आत्मा वायु के पास जाती है, तथा यह आत्मा अपने धर्म (अर्थात् कर्म) के अनुसार पृथ्वी मे, स्वर्ग मे, जल में और वनस्पति मे जाती है।[३] इस प्रकार कर्म और पुनर्जन्म के सम्बन्ध का सर्वाधिक प्राचीन संकेत प्राप्त होता है।

उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का उल्लेख–कठोपनिषद्[४] में नचिकेता के उद्गार हैं–"जैसे अन्नकण पकते हैं और विनष्ट हो जाते हैं, फिर वे पुनः उत्पन्न होते हैं, वैसे ही मनुष्य भी जीता है, मरता है और पुन. जन्म लेता है।"

वृहदारण्यक उपनिषद् मे स्पष्ट कहा है–[५] "मृत्युकाल मे आत्मा नेत्र, मस्तिष्क अथवा अन्य शरीर-प्रदेश मे से उत्क्रमण करती है। उस समय

---

१. "तत्र त बुद्धि-सयोगं, लभते पौर्वदेहिकम् ।
यत ते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन !" — गीता अ. ६ श्लोक ४३

२. "तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ —गीता अ. १६ श्लो. १९

३. ऋग्वेद १0/१६/३

४. कठोपनिषद् १/१/५-६

५. वृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/१-२

विद्या (ज्ञान), कर्म और पूर्वप्रज्ञा उस आत्मा का अनुसरण करती हैं। इसी उपनिषद्[1] में कर्म का सरल और सारभूत उपदेश दिया गया है कि "जो आत्मा जैसा कर्म करता है, जैसा आचरण करता है, वैसा ही वह बनता है। सत्कर्म करता है तो अच्छा बनता है, पाप कर्म करने से पापी बनता है, पुण्य कर्म करने से पुण्यशाली बनता है। मनुष्य जैसी इच्छा करता है, तदनुसार उसका संकल्प होता है, और जैसा संकल्प करता है, तदनुसार उसका कर्म होता और जैसा कर्म करता है, तदनुसार वह (इस जन्म में या अगले जन्म में) बनता है।"

इसी उपनिषद् में एक स्थल पर कहा गया है—"जिस प्रकार तृण-जलायुका मूल तृण के सिरे पर जाकर जब अन्य तृण को पकड़ लेती है, तब मूल तृण को छोड़ देती है, वैसे ही आत्मा वर्तमान शरीर के अन्त तक पहुँचने के पश्चात् अन्य आधार (शरीर) को पकड़ कर उसमें चली जाती है।" कठोपनिषद्, में भी बताया गया है कि "आत्माएँ अपने-अपने कर्म और श्रुत के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म लेती हैं।"[2]

छान्दोग्य-उपनिषद् में भी कहा है कि जिसका आचरण रमणीय है, वह मरकर शुभ-योनि में जन्म लेता है, और जिसका आचरण दुष्ट होता है, वह कूकर, शूकर, चाण्डाल आदि अशुभ योनियों में जन्म लेता है।[3] कौषीतकी उपनिषद् में कहा गया है कि "आत्मा अपने कर्म और विद्या के अनुसार कीट, पतंगा, मत्स्य, पक्षी, बाघ, सिंह, सर्प, मानव या अन्य किसी प्राणी के रूप में जन्म लेता है।"[4]

भगवद्गीता में कर्म और पुनर्जन्म का संकेत—भगवद्गीता में कर्मानुसार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले अनेक प्रमाण मिलते हैं। गीता में बताया है कि "आत्मा की इस देह में कौमार्य, युवा एवं वृद्धावस्था होती है, वैसे ही मरने के बाद अन्य देह की प्राप्ति होती है। उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता।"[5] आगे कहा गया है कि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र जीर्ण हो जाने पर नये वस्त्र धारण करता है, वैसे ही जीवात्मा यह शरीर जीर्ण हो जाने पर पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को पाता है।"[6] "जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित् है, जो मर गया है, उसका पुनः जन्म होना भी निश्चित है। अतः इस अपरिहार्य विषय में शोक करना उचित नहीं है।"[7] इसी प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को

१. वृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/३-५
२. कठोपनिषद् २/५/७
३. छान्दोग्योपनिषद् ५/१०/७
४. कौषीतकी उपनिषद् १/२
५. भगवद्गीता अ. २ श्लोक १३
६. वही, अ. २/२२ श्लोक
७. वही, अ. २ श्लोक २७

सम्बोधित करते हुए कहा है—"हे अर्जुन ! मेरे और तुम्हारे बहुत-से जन्म व्यतीत हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप ! मैं उन सब (जन्मों) को जानता हूँ, तुम नहीं जानते।"[१] एक जगह गीता में कहा गया है—"जो ज्ञानवान् होता है, वही बहुत-से जन्मों के अन्त में (अन्तिम जन्म में) मुझे प्राप्त करता है।"[२] "हे अर्जुन ! जिस काल में शरीर त्याग कर गये हुए योगीजन वापस न आने वाली गति को, तथा वापस आने वाली गति को भी प्राप्त होते हैं, उस काल (मार्ग) को मैं कहूँगा।"[३] पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को सिद्ध करते हुए गीता में कहा है—"वे उस विशाल स्वर्गलोक का उपभोग कर पुण्य क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में प्रवेश पाते हैं। इसी प्रकार तीन वेदों में कथित धर्म (सकाम कर्म) की शरण में आए हुए और कामभोगो की कामना करने वाले पुरुष इसी प्रकार बार-बार विभिन्न लोकों (गतियों) में गमनागमन करते रहते हैं।"[४]

बौद्ध-धर्म-दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

अनात्मवादी दर्शन होते हुए भी बौद्ध दर्शन ने कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का समर्थन किया है। पालित्रिपिटक मे बताया गया है—"कर्म से विपाक (कर्मफल) प्राप्त होता है, फिर विपाक (फलभोग) से कर्म समुद्‌भूत होते हैं, कर्मों से पुनर्जन्म होता है, इस प्रकार यह संसार (लोक) चलता (प्रवृत्त होता) रहता है।"[५] मज्झिम-निकाय में कहा गया है—कुशल (शुभ) कर्म सुगति का और अकुशल (अशुभ) कर्म दुर्गति का कारण होता है।"[६]

बोधि प्राप्त करने के पश्चात् तथागत बुद्ध को अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हुआ था। एक बार उनके पैर में कांटा चुभ जाने पर उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—"भिक्षुओ ! इस जन्म से इकानवे जन्म-पूर्व मेरी शक्ति (शस्त्र-विशेष) से एक पुरुष की हत्या हो गई थी। उसी कर्म के कारण मेरा पैर कांटे से बिंध गया है।"[७] इस प्रकार बोधि के पश्चात् उन्होने अपने-अपने कर्म से प्रेरित प्राणियों को विविध योनियों में गमनागमन

---

१. गीता, अ. ४ श्लोक ५
२. वही, अ. ७ श्लोक १९
३. वही, अ. ८ श्लोक २३
४. वही, अ. ९ श्लोक २१
५. कम्मा विपाका वत्तन्ति, विपाको कम्मसम्भवो ।
कम्मा पुनब्भवो होति, एवं लोको पवत्ततीति ॥
—'बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन' पृ. ४७८
६. मज्झिम-निकाय ३/४/५
७. इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः ।
तेन कर्मविपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः ।" —षड्दर्शन समुच्चय टीका

(गति-आगति) करते हुए प्रत्यक्ष देखा था। उन्हें यह ज्ञान हो गया था कि अमुक प्राणी उसके अपने कर्मानुसार किस योनि में जन्मेगा ? इस प्रकार का ज्ञान उनके लिए स्व-संवेद्य अनुभव था।"[1]

थेरीगाथा में यह बताया गया है कि "तथागत बुद्ध के कई शिष्य-शिष्याओं को अपने-अपने पूर्वजन्मों और पुनर्जन्मों का ज्ञान था।" ऋषिदासी भिक्षुणी ने थेरीगाथा में अपने पूर्वजन्मों और पुनर्जन्मों का मार्मिक वर्णन किया है।[2] 'दीघ निकाय' में तथागत बुद्ध अपने शिष्यों से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहते हैं—"भिक्षुओ! इस प्रकार दीर्घकाल से मेरा और तुम्हारा यह आवागमन—संसरण चार आर्य सत्यों के प्रतिवेद्य न होने से हो रहा है।[3] बौद्धदर्शन के अनुसार इसका फलितार्थ यह है कि पुनर्जन्म का मूल कारण अविद्या (जैनदृष्टि से भावकर्म) है। अविद्या के कारण संस्कार (मानसिक वासना), संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान चित्त की वह भावधारा है, जो पूर्वजन्म में कृत कुशल-अकुशल कर्मों के कारण होती है, जिसके कारण मनुष्य को आँख, कान आदि से सम्बन्धित अनुभूति होती है।[4] इस प्रकार बौद्ध धर्म-दर्शन मे भी कर्म और पुनर्जन्म का अटूट सम्बन्ध बताया गया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म और पुनर्जन्म

नैयागिक और वैशेषिक दोनों आत्मा को नित्य मानते हैं। "मिथ्या-ज्ञान से राग (इच्छा) द्वेष आदि दोष उत्पन्न होते हैं। राग और द्वेष आदि से धर्म और अधर्म (पुण्य और पाप कर्म) की प्रवत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सुख-दुःख को उत्पन्न करती है। फिर ये सुख-दुःख जीव में मिथ्याज्ञानवश राग-द्वेषादि उत्पन्न करते हैं।" 'न्यायसूत्र' में इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है कि "मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि, रागद्वेषादि दोषों से प्रवृत्ति (धर्माधर्म=पुण्य-पाप की) तथा प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होता है।[5] जब तक धर्माधर्म प्रवृत्तिजन्य संस्कार बने रहेंगे, तब तक

---

१. देखिये—मज्झिमनिकाय का तेविज्जवच्छगोत्तसुत्त, बोधिराजकुमारसुत्त और अगुत्तरनिकाय का वेरंजक ब्राह्मणसुत्त ।

२. थेरीगाथा ४००-४४७

३. दीघनिकाय २/३

४. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ३९५

५. (क) इच्छा-द्वेष पूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ।' —वैशेषिकसूत्र ६/२/१४

(ख) "दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये ....." —न्यायसूत्र १/१/२

शुभाशुभ कर्मफल भोगने के लिए जन्म-मरण का चक्र चलता रहेगा, जीव नये-नये शरीर ग्रहण करता रहेगा।[१] शरीरग्रहण करने में प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण दुःख का होना अनिवार्य है। इस प्रकार मिथ्याज्ञान से दुःखपर्यन्त उत्तरोत्तर निरन्तर अनुवर्त्तन होता रहता है। 'षड्दर्शन-रहस्य' में बताया है कि "घड़ी की तरह सतत् इनका अनुवर्तन होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुनः आवृत्ति का कारण होती है।"[२]

पूर्वजन्म में अनुभूत विषयों की स्मृति से पुनर्जन्म सिद्धि

पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए दोनों दर्शनों का मुख्य तर्क इस प्रकार है—

नवजात शिशु के मुख पर हास्य देखकर उसको हुए हर्ष का अनुभव होता है। इष्ट विषय की प्राप्ति होने पर जो सुख उत्पन्न होता है, वह हर्ष कहलाता है। नवजात शिशु किसी भी विषय को इष्ट तभी मानता है, जब उसे ऐसा स्मरण होता है कि तज्जातीय विषय से पहले उसे सुखानुभव हुआ हो, उस अनुभव के सस्कार पड़े हों, तथा वे संस्कार वर्तमान में उक्त विषय के उपस्थित होते ही जागृत हुए हो। नवजात शिशु को इस जन्म मे तज्जातीय विषय का न तो पहले कभी अनुभव हुआ है, न ही वैसे संस्कार पड़े हैं। फिर भी उक्त विषय से सुखानुभव होने की स्मृति उसे होती है। और वह उक्त विषय को वर्तमान मे इष्ट एवं सुखकर मानता है। इसलिए यह मानना ही पड़ेगा कि नवजात शिशु को तज्जातीय विषय से सुखानुभव हुआ तथा उस अनुभव के जो सस्कार पूर्वजन्म मे पड़े, वे ही इस जन्म में शिशु की आत्मा मे हैं। इस प्रकार पूर्वजन्म सिद्ध हो जाता है। पूवर्जन्म सिद्ध होते ही मरणोत्तर पुनर्जन्म सिद्ध होता है।

'सिद्धिविनिश्चय' की टीका मे इसी प्रकार पुनर्जन्म की सिद्धि की गई है—जिस प्रकार एक युवक का शरीर शिशु की उत्तरवर्ती अवस्था है, इसी प्रकार नवजात शिशु का शरीर भी पूर्वजन्म के पश्चात् होने वाली अवस्था है। यदि ऐसा न माना जाएगा तो पूर्वजन्म मे अनुभूत विषय का स्मरण और तदनुसार प्रवृत्तियाँ नवजात शिशु मे कदापि हीं हो सकती हैं, किन्तु होती हैं, इसलिए पुनर्जन्म को और उससे सम्बद्ध पूर्वजन्म को माने बिना कोई चारा नही।[३]

---

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ. २६२

२. षड्दर्शन-रहस्य पृ. १३५

३. (क) न्याय-वैशेषिक दर्शन, (ख) सिद्धिविनिश्चय टीका ४/१४ पृ. २८८

पूर्वजन्म के वैर-विरोध की स्मृति से पूर्वजन्म की सिद्धि

जैन सिद्धान्तानुसार नारक जीवों को अवधिज्ञान (मिथ्या हो या सम्यक्) जन्म से ही होता है। उसके प्रभाव से उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति होती है। नारकीय जीव पूर्वभवीय वैर-विरोध आदि का स्मरण करके एक-दूसरे नारक को देखते ही कुत्तों की तरह परस्पर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर झपटते और प्रहार करते हैं। एक-दूसरे को काटते और नोचते हैं। इस प्रकार वे एक-दूसरे को दुःखित करते रहते हैं। इस प्रकार पूर्वभव में हुए वैर आदि का स्मरण करने से उनका वैर दृढ़तर हो जाता है।

नारकीय जीवों की पूर्वजन्म की स्मृति से पुनर्जन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।[१]

रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति से पूर्वजन्म सिद्धि—प्रायः जीवों में पहले किसी के सिखाये बिना ही सांसारिक पदार्थों के प्रति स्वतः राग-द्वेष, मोह-द्रोह, आसक्ति-घृणा आदि प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। ये प्रवृत्तियाँ पूर्वजन्म में अभ्यस्त या प्रशिक्षित होंगी, तभी इस जन्म में उनके संस्कार या स्मरण इस जन्म में छोटे-से बच्चे में परिलक्षित होते हैं। वात्स्यायन भाष्य में इस विषय पर विशद प्रकाश डाला गया है।[२]

आत्मा की नित्यता से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सिद्ध

शरीर की उत्पत्ति और विनाश के साथ आत्मा उत्पन्न और विनष्ट नहीं होता। आत्मा तो (कर्मवशात्) एक शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर को धारण करती है। यही पुनर्जन्म है। पूर्व-शरीर का त्याग मृत्यु है और नये शरीर का धारण करना जन्म है। अगर वर्तमान शरीर के नाश एवं नये शरीर की उत्पत्ति के साथ-साथ नित्य आत्मा का नाश और उत्पत्ति मानी जाए तो कृतहान (किये हुए कर्मों की फल-प्राप्ति का नाश) और अकृताभ्युपगम (नही किये हुए कर्मों का फलभोग) दोष आएँगे। साथ ही उस आत्मा के द्वारा की गई अहिंसादि की साधना व्यर्थ जाएगी। आत्मा की नित्यता के इस सिद्धान्त पर से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म सिद्ध हो ही जाते हैं।[३] जैनदर्शन तो आत्मा को ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अविनाशी, अक्षय, अव्यय एवं त्रिकाल स्थायी मानता है।[४]

---

१. (क) तत्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका (आचार्य पूज्यपाद) ३/४
   (ख) परस्परोदीरित दुःखा। —तत्वार्थसूत्र अ. ३ सू. ४

२. न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य पृ. ३२६

३. (क) न्यायसूत्र भाष्य ३/२४१,
   (ख) वही, ४/१/१० आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः।

४. "कालओ णं ण कयाइ णासी, ण कयाइ न भवइ, न कयाइ भविस्सइ य, ध्रुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे ॥" —स्थानांगसूत्र ५/३/४३०

- जन्म (जाति=देहोत्पत्ति) का कारण क्या है? इसके उत्तर में दोनों दर्शनों ने बताया कि पूर्वशरीर में किये हुए कर्मों का फल—धर्माधर्म जो आत्मा में समवायसम्बन्ध से रहा हुआ है, वही जन्म का—देहोत्पत्ति का कारण है। धर्माधर्मरूप अदृष्ट से प्रेरित पंचभूतों से देह उत्पन्न होता है, पंचभूत स्वतः देह को उत्पन्न नहीं करते।[1]

देहोत्पत्ति में पंचभूत-संयोग नहीं, पूर्वकर्म ही निरपेक्ष निमित्त है

पंचभूतवादियों का कथन है कि पृथ्वी, जल आदि पंचभूतों के संयोग से ही शरीर बन जाता है, तब देहोत्पत्ति के निमित्तकारण के रूप में पूर्वकर्म मानने की क्या आवश्यकता है? जैसे पुरुषार्थ करके व्यक्ति भूतों से घट आदि बना लेता है, वैसे ही स्त्री-पुरुष-युगल पुरुषार्थ करके भूतों से शरीर उत्पन्न करता है। अर्थात् स्त्री-पुरुष युगल के पुरुषार्थ से शुक्र-शोणित-संयोग होता है, फलतः उससे शरीर उत्पन्न होता है, तब फिर शरीरोत्पत्ति में पूर्वकर्म को निमित्त मानने की जरूरत ही कहाँ रहती है? कर्मनिरपेक्ष भूतों से जैसे घट आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही कर्मनिरपेक्ष भूतों से ही देह उत्पन्न हो जाता है।"[2]

इसके उत्तर में न्याय-वैशेषिक कहते हैं—घट आदि कर्म-निरपेक्ष उत्पन्न होते हैं, यह दृष्टान्त विषम होने से हमे स्वीकार नही है, क्योकि घट आदि की उत्पत्ति में बीज और आहार निमित्त नही हैं, जबकि शरीर की उत्पत्ति में ये दोनों निमित्त हैं। इसके अतिरिक्त शुक्र-शोणित के सयोग से शरीरोत्पत्ति (गर्भाधान) सदैव नहीं होती। इसलिए एकमात्र शुक्र-शोणित-सयोग ही शरीरोत्पत्ति का निरपेक्ष कारण नही है, किसी दूसरी वस्तु की भी इसमें अपेक्षा रहती है, वह है—पूर्वकर्म। पूर्वकर्म के बिना केवल शुक्र-शोणित-संयोग शरीरोत्पत्ति करने में समर्थ नही है। अतः भौतिक तत्त्वों को शरीरोत्पत्ति का निरपेक्ष कारण न मानकर पूर्वकर्म सापेक्ष कारण मानना चाहिए। पूर्वकर्मानुसार ही शरीरोत्पत्ति होती है। जीव के पूर्वकर्मों को नही माना जाएगा तो विविध आत्माओं को जो विविध प्रकार का शरीर प्राप्त होता है, इस व्यवस्था का समाधान नही हो सकेगा। अतः शरीरादि की विभिन्नता के कारण के रूप में पूर्वकर्मों को मानना अनिवार्य है।[3]

---

१. न्यायसूत्र ३/२/६० ।

२. वही, ३/२/६१

३. न्यायसूत्र ३/२/६२-६७

अदृष्ट (कर्म) के साथ ही पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का अटूट सम्बन्ध

वैशेषिक दर्शन के इस सिद्धान्त के विषय में प्रश्न होता है कि इच्छा-द्वेषपूर्वक की जाने वाली अच्छी-बुरी प्रवृत्ति (क्रिया) अच्छा (सुखरूप) और बुरा (दुःखरूप) फल देती है; किन्तु प्रवृत्ति (क्रिया) तो क्षणिक है, वह तो नष्ट हो जाती है, फिर सभी क्रियाओं का फल इस जन्म में नहीं मिलता, प्रायः उनका फल जन्मान्तर में मिलता है, अतः क्षणिक क्रिया (प्रवृत्ति) अपना फल जन्मान्तर में कैसे दे सकती है ? इसका समाधान 'अदृष्ट' की कल्पना करके किया गया है, उस क्रिया और फल के बीच में दोनों को जोड़ने वाला अदृष्ट रहता है। क्रिया को लेकर जन्मा हुआ वह अदृष्ट आत्मा में रहता है और सुखरूप या दुःखरूप फल आत्मा में उत्पन्न करके, उसके द्वारा पूरा भोग लिये जाने के बाद ही वह (अदृष्ट) निवृत्त होता है। शुभप्रवृत्तिजन्य अदृष्ट को धर्म और अशुभप्रवृत्तिजन्य अदृष्ट को अधर्म कहा जाता है। धर्मरूप अदृष्ट आत्मा में सुख पैदा करता है, और अधर्मरूप अदृष्ट दुःख । वस्तुतः अदृष्ट का कारण क्रिया (प्रवृत्ति) को नहीं, इच्छा-द्वेष को ही माना गया है। इच्छाद्वेषसापेक्ष क्रिया ही अदृष्ट की उत्पादिका है।[1] इन सब युक्तियों से नित्य आत्मा के साथ कर्म और पुनर्जन्म-पूर्वजन्म का अविच्छिन्न प्रवाह सिद्ध होता है।

सांख्यदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म—सांख्यदर्शन का भी यह मत है कि पुरुष (आत्मा) अपने शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप नाना योनियों में परिभ्रमण करता है।[2] परन्तु सांख्यदर्शन की यह मान्यता है कि "यद्यपि शुभाशुभ कर्म स्थूलशरीर के द्वारा किये जाते हैं, किन्तु वह (स्थूल शरीर) कर्मों के संस्कारों का अधिष्ठाता नहीं है, उनका अधिष्ठाता है—स्थूलशरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर।[3] सूक्ष्म शरीर का निर्माण पाच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्राओ, महत्तत्व (बुद्धि) और अहंकार से होता है। मृत्यु होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है। प्रत्येक संसारी आत्मा (पुरुष) के साथ यह सूक्ष्म शरीर रहता है, इसे आत्मा का लिंग भी कहते हैं। यही पुनर्जन्म का आधार है।" सांख्यकारिका में बताया गया है—[4] लिंग (सूक्ष्म) शरीर बार-बार स्थूल शरीर को ग्रहण करता है और

---

१. वैशेषिक दर्शन (सूत्र) प्रशस्तपाद भाष्य (गुण-साधर्म्यप्रकरण)

२. (क) सांख्यसूत्र ६/४१

(ख) वही ६/१६

३. सांख्यसूत्र-प्रवचन भाष्य-६/९

४. "संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥" —सांख्यकारिका ४०

पूर्वगृहीत शरीरों को छोड़ता रहता है, इसी का नाम संसरण (संसार) है। मृत्यु होने पर सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता, किन्तु पुरुष (आत्मा) सूक्ष्म शरीर के सहारे से पुराने स्थूल शरीर को छोड़कर नये स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। संसार की अनेक योनियों में पुरुष (आत्मा) का परिभ्रमण करने का कारण सूक्ष्म शरीर ही है। जब तक उसका सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं हो जाता, तब तक उसका संसार में आवागमन होता रहता है। पूर्वजन्म के अनुभव और कर्मों के संस्कार इस लिंग (सूक्ष्म) शरीर में निहित रहते हैं।"[१]

चूंकि सांख्यदर्शन पुरुष (आत्मा) को कूटस्थ-नित्य मानता है, इसलिए उसका स्थान-परिवर्तन (विभिन्न योनियों में गमनागमन) या पुनर्जन्म शक्य नहीं है, इसलिए उसने इस लिंग शरीर की कल्पना की। कर्मफलभोग का एकमात्र साधन यही लिंग शरीर है। पुनर्जन्म भी लिंग शरीर का ही होता है, आत्मा (पुरुष) का नहीं।

लिग शरीर के निमित्त से पुरुष का प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर जन्म-मरण का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—जैसे रंगमंच पर एक ही व्यक्ति कभी अजातशत्रु, कभी परशुराम और कभी राम के रूप में दर्शको को दिखाई देता है, उसी प्रकार लिंग शरीर विभिन्न शरीर ग्रहण करके मनुष्य, देव, तिर्यञ्च (पशु-पक्षी या वनस्पति) आदि नाना रूपों मे परिलक्षित होता है।[२]

इस प्रकार सांख्यदर्शन मे भी पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

मीमांसादर्शन मे कर्म और पुनर्जन्म—मीमांसादर्शन आत्मा को नित्य मानता है, इसलिए वह पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानता है। मीमांसादर्शन मे चार प्रकार के वेद-प्रतिपाद्य कर्म बताये गए हैं। (१) काम्य कर्म, (२) निषिद्ध कर्म, (३) नित्यकर्म और (४) नैमित्तिक कर्म। कामनाविशेष की सिद्धि के लिये किया गया कर्म काम्यकर्म है। निषिद्ध कर्म अनर्थोत्पादक होने से निषिद्ध है। जो कर्म फलाकांक्षा के बिना किया जाता है, वह

१. भारतीय दर्शन की रूपरेखा पृ.२९१

२. (क) वही, पृ. २९१

(ख) "पुरुषार्थ-हेतुकमिदं निमित्त-नैमित्तिक-प्रसगेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान् नटवत् व्यवतिष्ठते लिंगम् ॥"

—साख्यकारिका ४२

नित्यकर्म है। जैसे—सन्ध्यावन्दन आदि। जो किसी अवसर विशेष पर किया जाता है, उसे नैमित्तिक कर्म कहा जाता है। जैसे—श्राद्ध आदि कर्म।[1]

कर्म और कर्मफलरूप पुनर्जन्मादि का संयोग कराने वाला : अपूर्व

यज्ञादि का अनुष्ठान (कर्म) करने पर तुरंत फल की निष्पत्ति नहीं होती। परन्तु कालान्तर में होती है। इस विषय में प्रश्न यह है कि कर्म के अभाव में कर्मफलोत्पादक कैसे बन सकता है? मीमांसक इसका समाधान यों करते हैं—अपूर्व द्वारा यह व्यवस्था बन सकती है। प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्य-पाप) को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। अर्थात्—कर्म से अपूर्व उत्पन्न होता है और अपूर्व से उत्पन्न होता है—फल। कर्म और कर्मफल को जोड़ने वाला अपूर्व ही है। इसीलिए शंकराचार्य अपूर्व को कर्म की सूक्ष्म उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था मानते हैं।

योगदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म—'योगदर्शन' व्यासभाष्य में पुनर्जन्म की सिद्धि करते हुए कहा गया है—"नवजात शिशु को भयंकर पदार्थ को देखकर भय और त्रास उत्पन्न होता है, इस जन्म मे तो उसके कोई संस्कार अभी तक पड़े ही नहीं, इसलिए पूर्वजन्म के कर्मरूप सस्कारों का मानना आवश्यक है।" इससे पूर्वजन्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।[2] पातंजल योगदर्शन मे कहा गया है—[3] "जीव जो कुछ प्रवृत्ति करता है, उसके संस्कार चित्त पर पड़ते हैं। इन संस्कारों को कर्म-सस्कार, कर्माशय या केवल 'कर्म' कहा जाता है। संस्कारों में संयम (धारणा, ध्यान और समाधि) करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।" यों पूर्वजन्म सिद्ध होने से पुनर्जन्म तो स्वतः सिद्ध हो जाता है। योगदर्शन का अभिमत है कि जो कर्म अदृष्टजन्य-वेदनीय होते हैं,[4] वे अपना फल इस जन्म मे नही देते, उनका फल आगामी जन्म या जन्मों में मिलता है। नारको और देवों के कर्म अदृष्टजन्य वेदनीय होते हैं। इस पर से भी पुनर्जन्म फलित होता है।

जैनदर्शन में कर्म और पूर्वजन्म-पुनर्जन्म—जैनदर्शन आत्मा को परिणामी-नित्य और कथञ्चित् मूर्त्त कहकर उसे शुभाशुभ कर्मों का कर्ता-भोक्ता

१. (क) मीमांसादर्शन (जैमिनीसूत्र)
   (ख) तन्त्रवार्तिक पृ. ३९५
   (ग) शांकरभाष्य ३/२/४०
२. योगदर्शन व्यासभाष्य २/९, ४/१०
३. (क) पांतजल योग दर्शन २/१२
   (ख) वही, ३/१८
४. योगदर्शन व्यासभाष्य २/१२

मानता है। उसका मन्तव्य है कि अनादिकाल से आत्मा का प्रवाहरूप से कर्म के साथ संयोग होने से, वह अशुद्ध है। इस अशुद्ध दशा के कारण ही आत्मा विभिन्न शुभाशुभ गतियों और योनियों में भटकता रहता है। आत्मा (जीव) जो भी कर्म करता है, उसका फल उसे ही इस जन्म में या अगले जन्म या जन्मों में भोगना पड़ता है; क्योंकि बंधे हुए कर्म बिना फल दिये नष्ट नहीं होते। वे आत्मा का तब तक अनुसरण करते रहते हैं, जब तक अपना फलभोग न करा दें।[1]

महाभारत में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म—'महाभारत' में बताया गया है कि "किसी भी आत्मा के द्वारा किया हुआ पूर्वकृत कर्म निष्फल नहीं जाता, न ही वह उसी जन्म में समाप्त हो जाता है, किन्तु जिस प्रकार हजारों गायों में से बछड़ा अपनी मां को जान लेता है, उसके पास पहुँच जाता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म भी अपने कर्त्ता का अनुगमन करके आगामी जन्म मे उसके पास पहुँच जाता है।"[2] और उस वर्तमान जन्म मे किये हुए कर्म अपना फल देने के रूप में आगामी जन्म (पुनर्जन्म) में उसी आत्मा का अनुगमन करते हैं। इस पकार पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिलसिला तब तक चलता है, जब तक वह आत्मा (जीव) कर्मों का सर्वथा क्षय न कर डाले।

मनुस्मृति से भी पुनर्जन्म की अस्तित्व-सिद्धि—मनुस्मृति मे बताया गया है कि नव-(सद्यः) जात शिशु मे जो भय, हर्ष, शोक, माता के स्तनपान, रुदन आदि की क्रियाएँ होती हैं, उनका इस जन्म में तो उसने बिलकुल ही अनुभव नहीं किया। अतः मानना होगा कि ये सब क्रियाएँ उस शिशु के पूर्वजन्मकृत अभ्यास या अनुभव से ही सम्भव हैं। अतः उक्त पूर्वजन्मकृत अभ्यास की स्मृति से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।[3]

पुनर्जन्मवाद-खण्डन, एक जन्मवाद-मण्डन : दो वर्ग

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को न मानने वाले दो वर्ग मुख्य हैं—(१) एक हैं—चार्वाक आदि नास्तिक, जो आत्मा को (स्वतंत्र तत्त्व) ही नहीं मानते। वे

---

१. (क) 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'।

(ख) सो सव्वणाण-दरिसी कम्मरएण णिएण वच्छण्णो।
संसार-समावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्व ॥ —समयसार गा. १६०

२. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विदति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ —महाभारत, शान्तिपर्व १८१/१६

३. (क) मनुस्मृति १२/४०

(ख) न्यायसूत्र ३/१/१८, ३/१/२१

त्रैकालिक चेतना को स्वीकार नहीं करते। उनका मन्तव्य है—चार या पांच महाभूतों के विशिष्ट संयोग से शरीर में एक विशेष प्रकार की चेतना (शक्ति) उत्पन्न होती है। इस विशिष्ट प्रकार के संयोजन का विघटन होते ही वह चेतनाशक्ति समाप्त हो जाती है। जब तक जीवन, तभी तक चेतना। जीवन (शरीर) समाप्त होते ही चेतना भी समाप्त। चेतना (स्वतंत्र) पहले भी नहीं थी, पीछे भी नहीं रहती। इसलिए न तो पुनर्जन्म है और न ही पूर्वजन्म। जो कुछ है, वह वर्तमान में है, न ही अतीत में है और न भविष्य में। यह वर्ग प्रत्यक्षवादी तथा इहजन्मवादी है।"[१]

पुनर्जन्म का निषेध करने वाला द्वितीय वर्ग भी प्रकारान्तर से उसका समर्थक

दूसरा—पुनर्जन्म-पूर्वजन्म का निषेध करने वाला वर्ग आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में मानता है; कर्म और कर्मफल को भी मानता है। इस वर्ग में यहूदी, ईसाई और इस्लामधर्मी (मुसलमान) आदि एकजन्मवादी आते हैं। इनकी मान्यता यह है कि मृत्यु के बाद आत्मा (रूह या सोल—soul) नष्ट नहीं होती; वह कयामत (प्रलय) या न्याय (इन्साफ) के दिन तत्सम्बन्धी देव, खुदा या गॉड (God) के समक्ष उपस्थित होती है। और वे उसे उसके कर्मानुसार जन्नत—बहिश्त (स्वर्ग या हेवन—Heaven) अथवा दोज़ख (नरक या हैल—Hell) में भेज देते हैं।

सामान्यतया यह कहा जाता है कि ईसाई और मुस्लिम धर्मों में पुनर्जन्म की मान्यता नहीं है; परन्तु उनके धर्मग्रन्थों एवं मान्यताओं पर बारीक दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि प्रकारान्तर से वे भी पुनर्जन्म की वास्तविकता को मान्यता देते हैं और परोक्ष रूप से उसे स्वीकार करते हैं।

वैसे देखा जाए तो इस्लाम धर्म और ईसाइ धर्म में भी प्रकारान्तर से प्रलय के उपरान्त जीवों के पुनः जागृत एवं सक्रिय होने की बात कही जाती है, जो पुनर्जन्म का ही एक विचित्र और विलम्बित रूप है।[२]

'विजडम ऑफ सोलेमन' ग्रन्थ में ईसामसीह के वे कथन उद्धृत हैं, जिनमें उन्होंने पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया था। उन्होंने अपने शिष्यों से एक दिन कहा था—"पिछले जन्म का 'एलिजा' ही अब 'जॉन बैपटिस्ट' के रूप में जन्मा था।"

---

१. देखें—"घट घट दीप जले" (युवाचार्य महाप्रज्ञ) में पूर्वजन्म-पुनर्जन्म पर प्रवचन पृ. ५४

२. अखण्डज्योति (मासिक पत्र) जुलाई १९७९ के 'पूर्वजन्म के संचित संस्कार' लेख से साभार संक्षेप पृ. ११

बाइबिल के चेप्टर ३ पैरा ३-७ में ईसा कहते हैं—"मेरे इस कथन पर आश्चर्य मत करो कि तुम्हें निश्चितरूप से पुनर्जन्म लेना पड़ेगा।" ईसाई धर्म के प्राचीन आचार्य 'फादर ओरिजिन' कहते थे—"प्रत्येक मनुष्य को अपने पूर्व-जन्मों के कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करना पड़ता है।" प्रो. मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ 'सिक्स सिस्टम्स ऑफ इंडियन फिलॉसॉफी' में ऐसे अनेक आधार एवं उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, जो बताते हैं कि ईसाई धर्म पुनर्जन्म की आस्था से सर्वथा मुक्त नहीं है। 'प्लेटो' और 'पाइथागोरस' के दार्शनिक ग्रन्थों में इस मान्यता को स्वीकारा गया है। 'जौजेक्स' ने अपनी पुस्तक में उन यहूदी सेनापतियों का हवाला दिया है, जो अपने सैनिकों को मरने के बाद फिर पृथ्वी पर जन्म पाने का आश्वासन देकर लड़ने के लिए उभारते थे।

सूफी संत 'मौलाना रूम' ने लिखा है—"मैं पेड़-पौधे, कीट-पतंग, पशु-पक्षी-योनियों में होकर मनुष्य वर्ग में प्रविष्ट हुआ हूँ। और अब देववर्ग में स्थान पाने की तैयारी कर रहा हूँ।"

अंग्रेज दार्शनिक ह्यूम तो प्रत्येक दार्शनिक की तात्त्विक दृष्टि को इस बात से परख लेते थे कि 'वह पुनर्जन्म को मान्यता देता है या नहीं'?[१] ह्यूम कहता था—"आत्मा अजर-अमर है, अविनाशी है। जो अजर-अमर या अविनाशी है, वह अजन्मा है। आत्मा की अमरता के विषय मे पुनर्जन्म ही एक सिद्धान्त है, जिसका समर्थन प्रायः सभी दर्शनशास्त्री करते हैं।[२]

'इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' के बारहवे खण्ड मे अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के आदिवासियों के सम्बन्ध में अभिलेख है कि वे सभी समानरूप से पुनर्जन्म को मानते हैं। मरने से लेकर जन्मने तक की विधि-व्यवस्था में मतभेद होने पर भी यह कहा जा सकता है कि "इन महाद्वीपों के आदिवासी आत्मा की सत्ता को मानते हैं और पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं।"[३]

ऐसा कहा जाता है कि ईसामसीह तो तीन दिन बाद ही पुनः जीवित हो उठे थे। कुछ निष्ठावान् ईसाइयों को ईसामसीह प्रकाशरूप में दीखे, तो यहूदी लोगो ने दिव्य प्रकाशयुक्त देवदूत को देखा।[४]

१. अखण्ड ज्योति (मासिक पत्र) जुलाई १९७४ के लेख से साभार उद्धृत, पृ. १३
२. अखण्डज्योति, सितम्बर १९७९ के लेख से, पृ. १९
३. वही, जुलाई १९७४ के लेख पर से पृ. १४
४. (क) वही, जुलाई १९७९ के लेख से पृ. ११
(ख) वही, अप्रैल १९७९ के लेख से, पृ. १४

पश्चिम जर्मनी के एक वैज्ञानिक डॉ. लोथर विद्जल ने लिखा है कि मृत्यु से पूर्व मनुष्य की अन्तश्चेतना इतनी संवेदनशील हो जाती है कि वह तरह-तरह के चित्र-विचित्र दृश्य देखने लगता है। ये दृश्य उसकी धार्मिक आस्थाओं के अनुरूप होते हैं। अर्थात्—जिस व्यक्ति का जिस धर्म से लगाव होता है, उसे उस धर्म, मत या पंथ की मान्यतानुसार मरणोत्तर जीवन में या मृत्यु से पूर्व वैसी ही आकृति एवं ज्योतिर्मय प्रकाश दिखाई देता है। उदाहरणार्थ—हिन्दुओं को यमदूत या देवदूत दिखाई देते हैं। मुसलमानों को अपने धर्मशास्त्रों में उल्लिखित प्रकार की झांकियाँ दीख पड़ती हैं। ईसाइयों को भी उसी प्रकार बाइविल में वर्णित पवित्र आत्माओं या दिव्यलोकों के दर्शन या अनुभव होते हैं।[१]

'पाश्चात्य देशों के कई लोग, जिन्हें व्यक्तिगत रूप से किसी धर्म या मत विशेष के प्रति आकर्षण या लगाव नहीं था, ऐसे अनुभवों से गुजरे, मानो एक दिव्य-ज्योतिर्मय आकृति उनके समक्ष प्रकट हुई हो।' पाश्चात्य दार्शनिक गेटे, फिश, शोलिंग, लेसिंग आदि ने अपने ग्रन्थों में पुनर्जन्म का प्रतिपादन किया है।

'प्लेटो' ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—"जीवात्माओ की संख्या निश्चित है, (उनमे घट-बढ़ नहीं होती) (मृत्यु के बाद नये) जन्म के समय (किसी नये) जीवात्मा का सृजन नहीं होता, वरन् एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रत्यावर्तन होता रहता है।" 'लिवनीज' ने अपनी पुस्तक "दी आयडियल फिलॉसॉफी ऑफ लिबर्टीज" में लिखा है—"मेरा विश्वास है कि मनुष्य इस जीवन से पहले भी रहा है।" प्रसिद्ध विचारक 'लेस्सिंग' अपनी प्रख्यात पुस्तक 'दी डिवाइन एज्युकेशन ऑफ दि ह्युमन रेस' में लिखते हैं—"विकास का उच्चतम लक्ष्य एक ही जीवन में पूरा नहीं हो जाता, वरन् कई जन्मों के क्रम में पूर्ण होता है। मनुष्य ने कई बार इस पृथ्वी पर जन्म लिया है और अनेकों बार लेगा।"[२]

ईसामसीह ने एक बार अपने शिष्यों से कहा था—"मैं जीवन हूँ, और पुनर्जीवन भी। जो मेरा विश्वास करता है, सदा जीवित रहेगा; भले ही वह शरीर से मर चुका ही क्यों न हो।" यह कथन पुनर्जन्म के अस्तित्व को ध्वनित करता है। 'बाइबिल' की एक कथा में भी जीवन की शाश्वतता को

१. अखण्ड ज्योति, जून १९७९ के लेख से संक्षिप्त सार, पृ. १२

२. वही, सितम्बर १९७९ के 'गतिशील जीवन प्रवाह' लेख से सारांश उद्धृत, पृ. १९

प्रकट किया गया है—"मृत्यु देखने के लिए ही जीवन का अन्त है। वस्तुतः कोई मरता नहीं, जीवन शाश्वत है।"[१]

यहूदी विद्वान् 'सोलमन' ने लिखा है—"इस जीवन के बाद भी एक जीवन है। देह मिट्टी में मिलकर एक दिन समाप्त हो जाएगी, फिर भी जीवन अनन्तकाल तक यथावत् बना रहेगा।"[२]

दार्शनिक 'नशादसृंश' ने कहा है—आत्मा की अमरता को माने बिना मनुष्य को निराशा और उच्छृंखलता से नहीं बचाया जा सकता। यदि मनुष्य को आदर्शवादी बनाना हो तो अविनाशी जीवन (जीव—आत्मा) और (पुनर्जन्म तथा) कर्मफल की अनिवार्यता के सिद्धान्त उसके गले उतारने ही पड़ेंगे।"[३]

प्रसिद्ध साहित्यकार 'विक्टर ह्युगो' ने लिखा है—"....मैं सदा विश्वास करता रहा—शरीर को तो नष्ट होना ही है, पर आत्मा को कोई भी घेरा कैद नहीं कर सकता। उसे उन्मुक्त विचरण करने (एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने) का अवसर सदैव मिलता रहेगा।"[४]

एक बार 'प्लेटो' ने 'सुकरात' से पूछा—"आप सभी विद्यार्थियों को एक सरीखा पाठ देते हैं, परन्तु कोई विद्यार्थी उसे एक बार मे, कोई दो बार में और कोई तीन बार मे सीख पाता है, इसका क्या कारण है ?"

सुकरात ने समाधान किया—"जिन विद्यार्थियों ने पहले (पूर्वजन्म में) अभ्यास किया है, वे उस पाठ को शीघ्र समझ-सीख लेते हैं, जिन्होंने कम अभ्यास किया है, वे जरा देर से समझ-सीख पाते हैं, और जिन्होने अभी (इस जन्म में) सीखना प्रारम्भ किया है, वे बहुत अधिक समय के बाद सीख-समझ पाते हैं।"

इस सवाद में पूर्व का न्यूनाधिक अभ्यास पूवर्जन्म को सिद्ध करता है।[५]

प्रसिद्ध दार्शनिक 'गेटे' ने एक बार अपनी एक मित्र श्रीमती 'वी. स्टेन' को पत्र लिखा था—"इस संसार से चले जाने की मेरी प्रबल इच्छा है। प्राचीन समय की भावनाएँ मुझे यहाँ एक घड़ी भी सुख मे बिताने नही देती। यह कितनी अच्छी बात है कि मनुष्य मर जाता है और जीवन में

१. (क) अखण्ड ज्योति जून ७४ के लेख पर से
(ख) वही, जून १९७४ के लेख पर से सक्षिप्त, पृ. ३०
२. वही, जून १९७४ के लेख से संक्षिप्त पृ. ३०
३. वही, जून १९७४ के लेख से पृ. ३०
४. वही, जून १९७४ के लेख से पृ. ३०
५. जैनदृष्टिए कर्म (प्रस्तावना) पृ. ५-६

अंकित घटनाओं के चिह्न मिट जाते हैं। वह पुनः परिष्कृत संस्कारों के साथ वापस आता है।"

इस पत्र के लिखने का उद्देश्य चाहे जो हो, परन्तु 'गेटे' के उपर्युक्त कथन में पूर्वजन्म में विश्वास होने का दृढ़ प्रमाण मिलता है।[1]

अमरीका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. रैमण्ड ए. मूडी जूनियर ने कई वर्षों तक मरणोत्तर जीवन की दिशा में शोध-प्रयास किया है। अपने अध्ययन निष्कर्ष उन्होंने 'लाइफ आफ्टर लाइफ' नामक पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं।[2]

डॉ. लिट्जर, डॉ. मूडी और डॉ. श्मिट आदि जिन-जिन पाश्चात्य-वैज्ञानिकों (थेनेटालोजिस्टों) ने जितनी भी मृत्युपूर्व तथा मरणोत्तर घटनाओं के देश-विदेश के विवरण संकलित किये हैं, उन सबका सार यह था कि 'मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है। मृत्यु के समय केवल आत्मचेतना ही शरीर से पृथक् होती है।' इससे भारतीय मनीषियों की इस विचारधारा की पुष्टि होती है कि मृत्यु का अर्थ जीवन के अस्तित्व का अन्त नहीं है। जीवन (जीव) तो एक शाश्वत सत्य है, उसके अस्तित्व का न तो आदि है, न अन्त। भगवद्गीता के अनुसार—"न तो ऐसा ही है कि मै किसी काल में नहीं था, अथवा ये (राजा) लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि हम सब लोग इससे आगे नही रहेंगे।"[3] वास्तव मे जन्म न तो जीवन (जीव या आत्मा) का आदि है, और न ही मृत्यु उसका अन्त।

अतः मृत्यु के बाद होने वाले ये अनुभव दृश्यों की बारीकियों के हिसाब से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, यह स्वाभाविक है। क्योंकि व्यक्ति का मन भी अपने सूक्ष्म सस्कारों को लेकर वही रहता है, उसकी मनःस्थिति दृश्य जगत् को अपने चश्मे से देखती है। परन्तु सबकी अनुभूतियों में जो समान तत्व है, वही वैचारिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह है—मरणोत्तर पुनः जीवन का अनुभव।

इन सभी अनुभूतियो से यही स्पष्ट होता है कि मरणोत्तर जीवन भी है। देहनाश के साथ ही वह जीवन समाप्त नहीं हो जाता, वह तो निरन्तर तब तक प्रवाहित होता रहता है, जब तक जन्म-मरण से और कर्मों से प्राणी सर्वथा मुक्त न हो जाए। अतः संसारी-जीव के जीवन का अविच्छिन्न

---

१. अखण्डज्योति सितम्बर १९७९ के लेख से, पृ. १९

२. वही, अप्रैल १९७९ के लेख से सारांश, पृ. १३

३. (क) वही, जून १९७९ के लेख से साराश पृ. १३

(ख) न त्वेवाहं जातु नाश, न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव भविष्यामः, सर्वेवयमतः परम् ॥" —भगवद्गीता अ. २ श्लोक १२

प्रवाह आरोह-अवरोह के विभिन्न क्रमसंघातों के साथ निरन्तर गतिशील रहता है। साथ ही, मृत्यु के बाद के जीवन के अनुभूतिक्रम का वर्तमान अनुभूतियों के साथ एक प्रकार का सातत्य रहता है।[१]

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म-सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप और उनका परिहार

पूर्वोक्त दोनों पुनर्जन्मविरोधी वर्गों के द्वारा इस सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप किये गए हैं, जिनका निराकरण भारतीय दार्शनिकों, पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों एवं परामनोवैज्ञानिकों द्वारा अकाट्य तर्कों, युक्तियों तथा प्रत्यक्ष अनुभूतियों के आधार पर दिया गया है।

(१) प्रथम आक्षेप : विस्मृति क्यों ?—पुनर्जन्म के विरुद्ध कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि "यदि जीवन का अस्तित्व भूतकाल में था तो उस समय की स्मृति वर्तमान में क्यों नहीं रहती ?" इस सम्बन्ध में विचारणीय यह है कि घटनाओं की विस्मृति-मात्र से पुनर्जन्म का खण्डन नहीं हो जाता। इस जन्म की प्रतिदिन की घटनाओं को भी हम कहाँ याद रख पाते हैं ? प्रतिदिन की भी अधिकाश घटनाएं विस्मृत हो जाती हैं। सिर्फ स्मरण न होना ही घटना को अप्रमाणित नही कर देता। स्मृति तो अपने जन्म की भी नहीं रहती। इस आधार पर यदि कहा जाए कि जन्म की घटना असत्य है, तो इसे अविवेकपूर्ण ही कहा जाएगा।[२]

इसका समाधान 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में भी इस प्रकार दिया गया है कि पूर्वजन्म की स्मृति का कारण पूर्वकृत कर्म होते हैं। सभी जीवो के कर्म एक-से नहीं होते। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय-क्षयोपशम में भी तारतम्य होता है। इसलिए सभी जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति एक-सरीखी नही होती, और किसी-किसी को होती भी नही है।[३]

कुछ आक्षेपक इस प्रकार का आक्षेप भी करते हैं—"यदि पुनर्जन्म का सिद्धान्त सत्य है तो पूर्वजन्म की अनुभूतियों की स्मृति सबको उसी प्रकार होनी चाहिए, जिस प्रकार बाल्यावस्था और युवावस्था की स्मृति वृद्धावस्था में होती है।" इस आक्षेप का परिहार 'हीरेन्द्रनाथदत्त' ने इस प्रकार किया है कि स्मरण शक्ति का सम्बन्ध प्राणी के मस्तिष्क से होता है। वह (पूर्वजन्मगत मस्तिष्क) नष्ट हो चुका होता है। इसलिए सबको एक-सी स्मृति नहीं होती।[४]

---

१. अखण्डज्योति, अप्रैल १९७९ के लेख से सार संक्षेप, पृ. १६

२. अखण्डज्योति के सितम्बर १९७९ के 'गतिशील जीवन प्रवाह' लेख से, पृ. १८

३. शास्त्रवार्ता समुच्चय (आचार्य हरिभद्रसूरि) १/४०

४. कर्मवाद और जन्मान्तर (हीरेन्द्रनाथदत्त) पृ. ३१६

लोकव्यवहार में भी देखा जाता है कि एक ही स्थल पर एक ही घटना के बहुत से दर्शक होते हैं पर उन सभी दर्शकों और श्रोताओं की स्मृति एक सरीखी नहीं रहती। इसी प्रकार सभी को पूर्वजन्म की स्मृति एक-सी नहीं रहती, किन्हीं को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं भी होती, किसी-किसी को होती है।[1] इसका समाधान 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में किया गया है कि पूर्वजन्म के संस्कार तो आत्मा में कार्मणशरीर के साथ पड़े रहते हैं। वे अवसर और निमित्त पाकर जागृत होते हैं। इसलिए यद्यपि पूर्वजन्म की पूरी स्मृति एक साथ नहीं होती, किन्तु उस प्रकार का कोई प्रबल निमित्त मिलने पर तथा मतिज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम प्रबल होने पर एवं तथारूप ऊहापोह करने पर किसी-किसी को पूर्वजन्म की स्मृति (जातिस्मरणज्ञान) हो भी जाती है।[2] इसके समर्थन में हम पूर्व निबन्ध में अनेक शास्त्रीय उदाहरण भी प्रस्तुत कर चुके हैं।

पूर्वजन्म को न मानने वालों का एक तर्क यह भी है—"यदि पूर्वजन्म है, तो पूर्वजन्म में अनुभूत सभी विषयों का स्मरण क्यों नहीं होता ? कुछ ही विषयों का स्मरण क्यों होता है ? अर्थात्—पूर्वजन्म में मैं कौन था, कहाँ था, कैसा था ?, इत्यादि सभी विषयों का स्मरण क्यों नहीं होता ?" इसके उत्तर मे नैयायिक—वैशेषिकों का कहना है कि आत्मगत जो पूर्व-संस्कार इस जन्म मे उद्बुद्ध (जागृत) होते हैं, वे संस्कार ही स्मृति को पैदा करते हैं। उद्बुद्ध संस्कार ही स्मृति के कारण हैं, अभिभूत संस्कार स्मृति को जन्म नहीं देते। संस्कार हो, वहाँ स्मृति हो ही, ऐसा नियम नहीं है। स्मृति होने के लिए पहले उस संस्कार का जागृत होना आवश्यक है। इस जन्म में जिन बातों का बचपन में अनुभव किया था, क्या उन सभी बातों का वृद्धावस्था में स्मरण होता है ? नहीं होता। बचपन में अनुभूत विषयों के संस्कार तो वृद्धावस्था में भी विद्यमान रहते हैं, पर वे सभी जागृत नहीं होते। हम जानते हैं कि उत्कट दुःख के कारण कई व्यक्ति परिचित व्यक्तियों को भी भूल जाते हैं, क्योंकि दुःख ने उन परिचित व्यक्तियों के सम्बन्ध में पड़े हुए संस्कारों को अभिभूत कर दिया है। इसी प्रकार जीव की मृत्यु होने पर वह उसके अनेक सुदृढ़ संस्कारों को अभिभूत कर देती है। परन्तु पुनर्जन्म या देहान्तरप्राप्ति होने पर उसके अनेक पूर्व संस्कार जागृत हो जाते हैं। ऐसे संस्कार-उद्बोधक (निमित्त) अनेक प्रकार के होते हैं, जो विशिष्ट प्रकार के

---

१. 'लोकेऽपि नैकतः स्थानादागतानां तथेक्ष्यते ।
अविशेषेण सर्वेषामनुभूतार्थ-संस्मृतिः ॥" —शास्त्रवार्तासमुच्चय १/४१

२. शास्त्रवार्ता-समुच्चय (हरिभद्रसूरि) १/४०

संस्कारों को जागृत करते हैं। उनमें से एक उद्बोधक है-जाति (जन्म)। जीव जिस प्रकार का जन्म प्राप्त करता है, उसके अनुरूप संस्कारों का उद्बोधक है—वह जन्म (जाति)। जाति के अतिरिक्त धर्माधर्म (पुण्य-पाप-कर्म) भी अमुक प्रकार के संस्कारों के उद्बोधक हैं। पूर्वजन्म के जाति-विषयक जो संस्कार जिसमें उद्बुद्ध होते हैं; उसी को जाति-स्मरण ज्ञान होता है,—मैं कौन, कहाँ और कैसा था?"[1]

जैन आगमों में जन्म-मरण को इसलिए दुःखरूप बताया है कि प्राणी को जन्म और मृत्यु के समय असह्य दुःखानुभव होता है।[2] नये जगत् में प्रवेश इतना यातनापूर्ण होता है कि पूर्व (जन्म) की स्मृतियाँ प्रायः लुप्त हो जाती हैं। हम देखते हैं कि किसी व्यक्ति को गहरा आघात, सदमा, भयकर चोट, उत्कट भय, असह्य शारीरिक पीड़ा या कोई विशेष संकट आदि होने पर वह मूर्च्छित (बेहोश) हो जाता है, उस समय उसकी स्मृति प्रायः नष्ट-सी हो जाती है।[3]

प्रसिद्ध विचारक 'कान्चूग' ने स्मृति का विश्लेषण करते हुए कहा—"जन्म से पूर्व शिशु मे पूर्वजन्म की स्मृति होती है; लेकिन जन्म के समय उसे इतने भयंकर कष्टों के दौर से गुजरना पड़ता है कि उसकी सारी स्मरण शक्ति लुप्त हो जाती है।" इसी प्रकार गहरा आघात लगने पर भी स्मृति नष्ट हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पर सोचा जाए तो यह अच्छा ही है। यदि पहले (पूर्वजन्मो) की ढेर सारी स्मृतियाँ बनी रहें तो इतनी विपुल स्मृतियों के ढेर वाला उसका दिमाग पागल-सा हो जाएगा। पूर्व के सारे घटनाचित्र मस्तिष्क में उभरते रहें तो वह उसी में तल्लीन होकर जगत् के व्यवहारों से उदासीन हो सकता है। असह्य संकटग्रस्त अवस्था मे व्यक्ति मूर्च्छित न हो तो उसका जीवित रहना कठिन है। इसलिए उस समय काम के लायक स्मृति का ही रहना अभीष्ट है।

इस पर पुनः प्रश्न उठता है कि दुर्घटना या आघात की स्थिति मे मरने के बाद नये जीवन में कतिपय व्यक्तियों को उसकी स्मृति क्यो होती है?

इसके उत्तर मे यही कहा गया है कि यह आपवादिक स्थिति है। किसी को बड़ी भारी दुर्घटना हो गई, तीव्र आघात लगा, हत्या कर दी गई,

१. न्यायदर्शन ३/४/१

२. "जम्मं दुक्खं जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य।" —उत्तराध्ययन १९/१६

३. 'घट-घट दीप जले' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) के 'पूर्वजन्म : पुनर्जन्म' प्रवचन से साभार उद्धृत, पृ. ५७

या स्वयं ने आवेश में आकर आत्महत्या करली। इन और ऐसी स्थितियों में यदि किसी की मृत्यु होती है, तो उसका आर्त-रौद्रध्यानजन्य संस्कार इतना प्रगाढ़ होता है कि भयंकर कष्ट होने पर भी उसकी स्मृति नष्ट नहीं होती। उस निमित्त के मिलते ही वह सहसा उभर जाती है। अर्थात्—किसी व्यक्ति, वस्तु या परिस्थिति का निमित्त मिलते ही वह उद्‌बुद्ध हो जाती है।[1]

अतः पूर्वजन्म को जानने-मानने का प्रबल साधन है—पूर्वजन्म-स्मरण अर्थात्—जाति-स्मृतिज्ञान, जो यहाँ नया जन्म लेने वाले शिशु को प्रायः होता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि इससे पूर्व भी वह कहीं था। इसलिए पूर्वजन्म की स्मृति न होने का आक्षेप निराधार है।

(२) दूसरा आक्षेप : आनुवंशिकता का विरोधी सिद्धान्त—कई पुनर्जन्म-विरोधी कहते हैं कि "पुनर्जन्म का यह सिद्धान्त आनुवंशिक परम्परा का विरोधी है, क्योंकि वंश परम्परा के सिद्धान्तानुसार जीवों का शरीर और मन, स्वभाव और गुण, आदतें और चेष्टाएँ, बुद्धि और प्रकृति आदि सभी अपने माता-पिता के अनरूप होने चाहिए।" परन्तु ये सभी गुण सभी सन्तानों मे माता-पिता के अनुरूप प्रायः नहीं पाये जाते।[2]

वशपरम्परागत गुण और स्वभाव मानने पर जो गुण पूर्वजों में नही थे, वे गुण अगर सन्तान में हैं तो भी उनका अभाव मानना पड़ेगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। प्रायः यह देखा जाता है कि जो गुण पूर्वजों में नहीं थे, वे उनकी संतान में होते हैं। हेमचन्द्राचार्य में जो बौद्धिक प्रतिभा आदि गुण थे, वे उनके माता-पिता मे नही थे। महाराणा प्रताप मे जो शारीरिक शक्ति एव स्वातन्त्र्य प्रेम था, वह उनके पिता एव पितामह में नहीं था। कई पिता बहुत ही उच्चकोटि के विद्वान होते हैं, परन्तु उनके लड़के अशिक्षित और बौद्धिक दृष्टि से पिछड़े होते हैं। अतः पुनर्जन्म मे वंश-परम्परा का सिद्धान्त न मानकर पूर्वजन्म के कर्मों के फल के अनुसार मनुष्य मे गुण-दोषों की व्याख्या करना उचित होगा। अतः पुनर्जन्म के सम्बन्ध में यह आक्षेप भी समीचीन नही है।

(३) तीसरा आक्षेप : इहलौकिक जगतहित के प्रति उदासीनता—एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि पुनर्जन्म की मान्यता से मनुष्य पारलौकिक जगत् की चिन्ता करने लगता है, इहलौकिक जगत् के प्रति उदासीनता और उपेक्षा धारण करने लगता है। किन्तु यह आक्षेप भी निराधार है।[3] पुनर्जन्म

१. 'घट-घट दीप जले' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) के 'पूर्वजन्म : पुनर्जन्म' प्रवचन से साभार उद्धृत, पृ. ५७-५८

२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा (प्रो. हरेन्द्रप्रसाद सिन्हा) पृ. २५

३. वही, पृ. २५

का सिद्धान्त आगामी लोक की चिन्ता या आसक्ति करना नहीं सिखाता, अपितु यह इस जन्म को सफल और सुन्दर बनाने की प्रेरणा देता है, ताकि आगामी जन्म अच्छा बन सके। पुनर्जन्म से परोक्ष प्रेरणा भी मिलती है, कि मनुष्य ऐसा अनासक्त और विवेक (यतना) युक्त जीवन बिताए, जिससे पापकर्मों का बन्ध न हो या शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का क्षय हो। पुनः पुनः जन्म-मरण के चक्र में फंसना अच्छी बात नहीं है। शंकराचार्य ने भी पुनः पुनः जन्म मरण को मनुष्य के लिए अनुचित बताया है।[१] अतः यह आक्षेप भी व्यर्थ ही किया गया है।

(४) चौथा आक्षेप : पुनर्जन्म का मानना अनावश्यक—कई नास्तिकता से प्रभावित लोग यह आक्षेप करते हैं—"पूर्वजन्म और पुनर्जन्म; यह सब बकवास है, बौद्धिक लोगों की काल्पनिक उड़ान है। इन्हें मानने से क्या लाभ है और न माने तो कौन-सी हानि है ?"

जो लोग पुनर्जन्म का अस्तित्व नहीं मानते, मनुष्य को एक चलता-फिरता खिलौना मात्र समझते हैं; शरीर के साथ चेतना का उद्‌भव और मृत्यु के साथ ही उसका अन्त मानते हैं, ऐसे लोग, जो जीवन की इतिश्री भौतिक शरीर की मृत्यु के साथ ही समझकर अपनी मान्यता ऐसी बना लेते हैं कि जीवन वर्तमान तक ही सीमित है, तो उसका उपभोग जैसे भी बन पड़े करना चाहिए। नीति-अनीति, धर्म-अधर्म या कर्तव्य-अकर्तव्य का विचार किये बिना ही जो लोग **'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'** वाली चार्वाकी नीति अपनाते हैं, वे भयकर भूल करते हैं। वे सामाजिक दण्ड के भागी तो बनते ही हैं, अपना और अपने परिवार का अगला जीवन भी अन्धकारमय बना लेते हैं, क्योंकि पुनर्जन्म एक सुनिश्चित सिद्धान्त है, वह कर्म और कर्मफल के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला मूल आधार है, इसे अधिकांश विचारशील मानव स्वीकार करते है। शुभकर्मों का फल शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ मिलना भी सुनिश्चित है। किन्ही कारणो से यदि इस जीवन मे किन्हीं कर्मों का फल नही मिलता, तो अगले जन्म (जीवन) या जन्मो मे मिलना निश्चित है। फल ही नही, कर्मों के सस्कार भी सूक्ष्मरूप से कार्मण (सूक्ष्मतर) शरीर के माध्यम से अगले जन्म या जन्मो मे साथ-साथ जाते हैं और आगामी (नये) जीवन (जन्म) की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं।

बालकों में ये विशिष्ट प्रतिभाएँ पूर्वजन्म को माने बिना कहाँ से आती ?

इसी कारण कई बालको में जन्मजात विशिष्ट प्रतिभा, योग्यता, असाधारण गुण, विलक्षण स्वभाव आदि किसी पैतृक या आनुवंशिक गुण,

१. पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् ।

पारिपार्श्विक वातावरण, शिक्षण आदि के बिना भी दिखाई देते हैं। इन्हें पूर्वजन्म-कृत कर्म, या ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय-क्षयोपशम आदि को माने बिना कोई चारा नहीं है।[१]

विख्यात फ्रांसीसी बालक 'जान लुइ कार्दियेक' जब तीन महीने का था, तभी अंग्रेजी वर्णमाला का उच्चारण करने लगा था। तीन वर्ष का होते-होते वह लैटिन बोलने और पढ़ने लगा था। पांच वर्ष की आयु में पहुँचने तक उसने फ्रेंच, हिब्रू और ग्रीक भाषाएँ भी अच्छी तरह सीख लीं। छह वर्ष की आयु में उसने गणित, भूगोल और इतिहास पर भी आश्चर्यजनक अधिकार प्राप्त कर लिया। सातवें वर्ष में वह इस दुनिया को छोड़कर चला गया।[२]

जर्मनी में बाल प्रतिभा का कीर्तिमान स्थापित करने वाले 'जान फिलिप वेरटियम' ने दो वर्ष की आयु में पढ़ना-लिखना सीख लिया था। छह वर्ष की आयु में वह फ्रैंच और लेटिन में धाराप्रवाह बोल लेता था। सात वर्ष की आयु में उसने अपने इतिहास, भूगोल और गणित सम्बन्धी ज्ञान से तत्कालीन अध्यापकों को अवाक् कर दिया। साथ ही इसी उम्र में उसने बाइबिल का ग्रीक भाषा में अनुवाद भी किया। सातवें वर्ष में ही वह बर्लिन की रॉयल एकेडेमी का सदस्य चुना गया और 'डॉक्टर ऑफ फिलॉसॉफी' की उपाधि से विभूषित किया गया। किशोरावस्था में प्रवेश करते-करते वह इस संसार से विदा हो गया।

अत्यन्त अल्प आयु में विलक्षण प्रतिभा का परिचय देकर समस्त विश्व को आश्चर्य में डालने वाला 'लुवेक' (जर्मनी) में उत्पन्न बालक 'फ्रेडरिक हीनकेन' सन् १७३१ में जन्मा था। पैदा होने के कुछ ही घण्टे बाद वह बातचीत करने लगा। दो वर्ष की आयु में वह बाइबिल के सम्बन्ध में पूछी गई किसि भी बात का युक्तिसंगत विस्तृत उत्तर देता था और बता देता था कि यह प्रकरण किस अध्याय का है। उसका इतिहास और भूगोल का ज्ञान भी बेजोड़ था। डेन्मार्क के राजा ने उसे राजमहल में बुलाकर सम्मानित किया था। तीन वर्ष की आयु में उसने भविष्यवाणी की थी कि अब मुझे एक वर्ष और जीना है। उसका कथन अक्षरशः सत्य निकला। ४ वर्ष की आयु में वह परलोकगामी हो गया।

१. (क) अखण्डज्योति जून १९७४ के लेख से सार-संक्षेप, पृ. ३२

(ख) वही, सितम्बर ७९ पृ. १९ से सार-संक्षेप

२. वही, जून १९७४ के लेख से, पृ. ३१

'विलियम जेम्स सिदिस' ने अपनी विलक्षणता से सारे अमेरिका में तहलका मचा दिया। दो वर्ष की आयु में वह धड़ल्ले से अंग्रेजी बोलता, पढ़ता और लिखता था। ८ वर्ष की आयु में उसने ग्रीक, रूसी आदि ६ विदेशी भाषाओं का ज्ञान अर्जित कर लिया। ग्यारह वर्ष की आयु में उसने देश के मूर्धन्य विद्वानों की सभा में उस समय तक प्रचलित 'तीसरे आयाम' की बात से हटकर 'चौथे आयाम' की सम्भावना पर विलक्षण व्याख्यान दिया।

'लार्ड मैकाले' भी दो वर्ष की आयु में पढ़ने लगे थे। ७ वर्ष की आयु में 'विश्व इतिहास' लिखना प्रारम्भ किया और कितने ही अन्य शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे। उन्हें उस युग में बिना किसी सहायक ग्रन्थ के स्वयं की स्मरणशक्ति के आधार पर 'विश्व इतिहास' लिखने के कारण 'चलती फिरती विद्या' कहा जाता था।[१]

बहुत ही छोटी उम्र में असाधारण प्रतिभाओं का उदय होना, पुनर्जन्म का प्रामाणिक आधार है। मनुष्य का स्वाभाविक विकास एक आयुक्रम के साथ जुड़ा हुआ है। कितना ही तीव्र मस्तिष्क क्यों न हो, उसे सामान्यतया क्रमबद्ध प्रशिक्षण की आवश्यकता रहती है। यदि बिना किसी प्रशिक्षण या उपयुक्त वातावरण के छोटे बालकों में असाधारण विशेषताएँ देखी जाएं तो पूर्वजन्मों के उनके सग्रहीत ज्ञान को, विशेषतः ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम को ही कारण मानना पड़ेगा। भगवान् महावीर ने भी भगवतीसूत्र में यही बताया है कि "ज्ञान इहभविक है, परभविक भी है और इस जन्म, पर-जन्म तथा आगामी जन्मों मे भी साथ जाने वाला है।" अतः पूर्वजन्म या जन्मों में अर्जित किये हुए ज्ञान और ज्ञानावरणीय-कर्मक्षयोपशम के संस्कार उन-उन जीवों के साथ इस जन्म में भी साथ चले आते हैं। इस जन्म में उन बालकों में असमय में उदीयमान प्रतिभा-विलक्षणता का समाधान पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को माने बिना कथमपि नहीं हो सकता।[२]

पूर्वी जर्मनी का तीन वर्ष का विलक्षण प्रतिभासम्पन्न बालक 'होमेन केन' 'मस्तिष्क विज्ञान' के शोधकर्ता विद्वानो के लिए आकर्षण केन्द्र रहा है।

---

१. अखण्डज्योति जून १९७४ के लेख से, पृ. ३१-३२

२. (क) अखण्डज्योति, जुलाई १९७४ से सार-संक्षेप पृ. १३

(ख) (प्र.) भंते ! इहभविए नाणे, परभविए नाणे,तदुभयभविए नाणे ?"

(उ.) गोयमा ! इहभविए वि नाणे, परभविए वि नाणे, तदुभयभविए वि नाणे।"

—भगवतीसूत्र

वह इतनी छोटी उम्र में जर्मन भाषा के ग्रन्थ पढ़ने लग गया था, तथा गणित के सामान्य प्रश्नों को हल करने लगा था। उसने फ्रेंच भाषा भी अच्छी तरह सीख ली थी।[१]

संसार के इतिहास में ऐसी जन्मजात प्रतिभा लेकर उत्पन्न हुए बालकों की संख्या बहुत बड़ी है। साइबरनैटिक्स विज्ञान का आविष्कारक 'वीनर' अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय ५ वर्ष की आयु से ही देने लगा था। उस समय भी उसका मस्तिष्क प्रौढ़ों जैसा विकसित था। वह युवा वैज्ञानिकों की पंक्ति में बैठकर उसी स्तर के विचार व्यक्त करता था। उसने १४ वर्ष की आयु में स्नातक (एम. ए.) परीक्षा पास करली थी।

इसी तरह का एक बालक 'पास्काल' १५ वर्ष की आयु में एक प्रामाणिक ग्रन्थ लिख चुका था। मोजार्ता सात वर्ष की आयु में संगीताचार्य बन गया था। गेटे ने ९ वर्ष की आयु में यूनानी, लैटिन और जर्मन भाषाओं में कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था।[२]

पूर्वजन्म पुनर्जन्म का स्वीकार : मानव जाति के लिए आध्यात्मिक उपहार

इस प्रकार के अनेकानेक प्रमाण आए दिन हमारे पढ़ने-देखने में आते हैं। इनसे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की मान्यता की पुष्टि होती है। मरणोत्तर जीवन के अस्तित्व का अस्वीकार करने वाले तथा नास्तिक लोगों के पास पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म को माने बिना इसका कोई समाधान नहीं है। बल्कि आज पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का स्वीकार करना मानव जाति की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना परिवार, समाज एवं राष्ट्र में नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों को स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः इस तथ्य-सत्य को जानकर कि आत्मा का अस्तित्व शरीरत्याग के बाद भी बना रहेगा, वह जन्म-जन्मान्तर में संचित शुभ-अशुभ कर्मों को साथ लेकर अगले जन्म में जाता है, उससे जुड़े हुए ज्ञानादि के संस्कारसमूह भी जन्म-जन्मान्तर तक धारावाहिक[३] रूप से चलते रहते हैं। अतः इस जन्म में आध्यात्मिक विकास मे पलभर भी प्रमाद न करके श्रेष्ठता की दिशा में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय के पथ पर कदम बढ़ाना चाहिए। पुनर्जन्मवादी इस जीवन का उत्तम ढंग से निर्माण करते हैं जिससे उनका अगला जीवन भी उत्तरोत्तर अध्यात्म-विकास के सोपान पार करके उत्तमोत्तम बनता है। उत्तराध्ययन सूत्र के नमिप्रव्रज्या अध्ययन में इसी तथ्य को प्रस्तुत किया गया है। पुनर्जन्म में

१. अखण्डज्योति, जुलाई १९७४ से सारांश, पृ. १३
२. वही, जुलाई १९७४ से, पृ. १४
३. अखण्डज्योति जुलाई १९७९ से सारांश, पृ. ११

दृढ़विश्वासी नमि राजर्षि ने जब उत्तम जीवन-निर्माण में बाधक राग-द्वेष-काम-क्रोधादि तथा तज्जनित अशुभ कर्ममल आदि अन्तरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली, तब इन्द्र ने उनकी विभिन्न प्रकार से परीक्षा की, उसमें उत्तीर्ण होने पर प्रशंसात्मक स्वर में इन्द्र ने कहा—"भगवन् ! आप इस लोग में भी उत्तम हैं और आगामी (पर) लोक में भी उत्तम होंगे और फिर कर्ममल से रहित होकर आप लोक के सर्वोत्तम स्थान—सिद्धि (मुक्ति-मोक्ष) को प्राप्त करेंगे।"[१]

पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की मान्यता से आध्यात्मिक आदि अनेक लाभ

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की मान्यता का इससे बढ़कर सर्वोत्तम लाभ और क्या हो सकता है ? फिर भी इस आदर्शवादी आस्था से इहलौकिक जीवन में मनुष्यता, नैतिकता, सदाचारपरायणता, परमार्थवृत्ति, स्वाध्याय-शीलता, व्यवहारकुशलता, प्रसन्नता, सात्विकता, निरहंकारिता, अन्तर्दृष्टि, दीर्घदर्शिता, भावनात्मक श्रेष्ठता, सूझबूझ, धैर्य, साहस, शौर्य, चारित्र-पराक्रम, प्रखरधारणाशक्ति, सहयोगवृत्ति आदि सैंकड़ों मानवीय विशेषताएँ उपलब्ध हो सकती हैं; जिनका आध्यात्मिक लाभ कम नही है, तथा दीर्घायुष्कता, स्वस्थता, सुख-शान्ति और सुव्यवस्था के रूप में व्यावहारिक और सामाजिक लाभ भी पुष्कल हैं। पारलौकिक जीवन मे उसका मूल्य, महत्त्व और लाभ और अधिक सिद्ध होता है। इस प्रकार चतुर्थ आक्षेप का समाधान हो जाता है।

(५) पंचम आक्षेप : पुनर्जन्म की मान्यता अवैज्ञानिक—यह भी एक आक्षेप है—पुनर्जन्म को न मानने वालों का। इस विषय में उनका तर्क है कि "इस जन्म में कृत कर्मो का फल अगले जन्म मे भोगना पड़ता है। इसका अर्थ यह हुआ कि "देवदत्त के वर्तमान कर्मो का फल यज्ञदत्त को अगले जन्म मे भोगना पड़ेगा।" परन्तु यह आक्षेप भी निराधार है, और जैन कर्मविज्ञान के रहस्य को न समझने के कारण किया गया है। जैन कर्मविज्ञान के अनुसार जिस जीव (आत्मा) ने इस जन्म मे कर्म किये हैं, वही आत्मा जन्मान्तर में उन कर्मो का फल भोगती है, दूसरी नहीं। यह आक्षेप तभी यथार्थ समझा जाता, जब इस जन्म की, अगले जन्म की और जन्मान्तर की आत्मा अलग-अलग हो। किन्तु आत्मा कभी विनष्ट नहीं होती। इस जन्म की

१. इहंसि उत्तमो भते! पेच्चा होहिसि उत्तमो।
लोगत्तमुत्तमं ठाणं, सिद्धिं गच्छसि नीरओ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र अ. ९ गा. ५८

और जन्मान्तर की आत्मा एक ही रहती है। कृत-कर्मानुसार उसकी पर्याय बदलती है।[1] अतः इस अयथार्थ आक्षेप का निराकरण हो जाता है।

पुनर्जन्म-सिद्धान्त स्वकृत कर्म और पुरुषार्थ का प्रतिपादक

पूर्वजन्म के सम्बन्ध में भी आज कुछ भ्रान्तियाँ, अन्धविश्वास और मिथ्या धारणाएँ लोगों के दिल-दिमाग में जमी हुई हैं। जो पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वकृत कर्म और पुरुषार्थ की महत्ता का प्रतिपादक था, वह आज अन्धनियतिवाद, निष्क्रियवाद एवं चमत्कारवाद का प्रतीक बन गया है। पुनर्जन्म को न मानने वाले अधिकांश लोग प्रारब्ध या आकस्मिक विशेषता को पूर्वकृत कर्मफल न मानकर अकारण या व्यवस्थाविहीन चामत्कारिक मानते हैं। यों देखा जाए तो पुनर्जन्म-सिद्धान्त में प्रारब्ध (पूर्वकृत) कर्म का अपना विशेष महत्त्व है। परन्तु प्रारब्ध किसी चमत्कार का परिणाम नहीं, और न ही उसके फल में परिवर्तन सर्वथा असम्भव है।

इन विलक्षणताओं का कारण पूर्वजन्मकृत कर्म ही हैं

निःसन्देह ऐसे लोगों की कमी नहीं, जिन्हें जन्म से ही अनेक विलक्षणताए प्राप्त होती हैं, या जो प्रचलित लोकप्रवाह से अप्रभावित तथा अपनी ही विशेषता से प्रतिभासित देखे जा सकते हैं। इन और ऐसी ही विशेषताओं का कारण भी दैवी चमत्कार नहीं, अपितु पिछले जन्म या जन्मो में वैसे विकास हेतु उनके स्वयं के द्वारा कृत कर्म-क्षय का या शुभ कर्म उपार्जन का पुरुषार्थ होता है।

पुनर्जन्मसिद्धान्त का आधार

वस्तुतः पूर्वजन्म मे कृतकर्मक्षय या शुभकर्म के फलस्वरूप उपलब्ध शुभ या शुद्ध परिणाम-संस्कार ही पुनर्जन्मसिद्धान्त का आधार है। भाव-सवेदनाएं, आस्थाएं, शुद्ध-अशुद्ध चिन्तन की दिशाएं और स्वभाव ही कार्मणशरीर के रूप में परिणत होकर अगले जन्म मे सस्काररूप में साथ रहते हैं, साधन-सामग्रियाँ या सुविधाएँ नहीं। कर्मयोगी श्रीकृष्ण के विकास मे जन्म-काल और बाल्यकाल में कई विघ्न-बाधाएँ, विपत्तियाँ, संकट की घन-घटाएँ घिरी हुई थीं, किन्तु पूर्व-जन्मकृत शुभकर्मों की प्रबलता के कारण उनमें साहस, शौर्य, उत्साह, कर्मयोग आदि गुणों का स्वतः विकास होने लगा और वे अपने पुरुषार्थ के बल पर आगे बढ़ते गए। अयोध्या की राजकीय सुख-सुविधाएँ श्रीराम को रावण-विजय में रंचमात्र भी सहयोग

१. (क) 'कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं' —उत्तराध्ययन १३/२३

(ख) पंचास्तिकाय, गा. १७-१८

न दे सकीं। भ. महावीर या तथागत बुद्ध के विकास में उनका राजकीय ऐश्वर्य या धन कोई भी सहायता नहीं कर सका। इन सब महान् आत्माओं के व्यक्तित्व की वास्तविक विशेषताएं पूर्वजन्मकृत ही थीं। यही कारण है कि उन्होंने इस जीवन में कठोर से कठोर अप्रत्याशित विपत्ति, संकट, एवं विघ्न-बाधा को पूर्वजन्मकृत कर्मफल (प्रारब्ध का भोग) मानकर धैर्यपूर्वक समभाव से सहन की। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इन्हें भावी उत्कर्ष हेतु पूर्ण विश्वास के साथ आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देता था।

अतः पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व की सिद्धि कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करती है, दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

पुनर्जन्म सम्बन्धी मिथ्या मान्यता और भ्रान्ति

पूर्वजन्म के प्रति यह विवेकमूढता, और मिथ्यामान्यता है कि लोग दुःखग्रस्त, या आर्थिक दृष्टि से स्वेच्छा से निर्धन को पिछले जन्म का पापी और वर्तमान में सुविधासज्जित, आडम्बरपरायण, धनकुबेरों या सत्ताधीशों को विगत जन्म का पुण्यात्मा मान बैठते हैं। ये मापदण्ड मिथ्या हैं। इन मापदण्डों से तो श्रीराम, भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, त्यागी साधु साध्वी, संन्यासी, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गान्धी, सन्त विनोबा आदि पुनीत पुरुष अभागे, महापापी; तथा अत्याचारी, भोगी-विलासी, धनपति या सत्ताधीश महान् पुण्यात्मा सिद्ध होंगे। परन्तु कोई भी धर्म, दर्शन या विचारशील मत इसे मानने को तैयार न होगा।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि

अतः पुनर्जन्म के सिद्धान्त की उपयोगिता और अनिवार्यता को तथा जन्म-जन्मान्तर से चले आने वाले कर्मप्रवाह को तथा कर्मफल के अटूट क्रम को समझने की आवश्यकता है। इसे भलीभांति हृदयंगम करने पर ही जीवन की दिशाधारा निर्धारित करने और मोड़ने में सफलता मिल सकती है। अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं और विकृतियों को अपनी ही भूल से चुभे कांटे समझकर धैर्यपूर्वक निकालना और घावों को भरना चाहिए। अपने जीवन मे त्याग, तप, संयम, संवर, तथा क्षमादि दस धर्मों को अपनी अमूल्य उपलब्धि मानकर उन्हें संरक्षित ही नहीं, परिवर्द्धित करने का अभ्यास सतत जारी रखना चाहिए। रत्नत्रय की साधना के पथ पर बढ़ते रहा जाए तो उसके सुपरिणाम इस जन्म में नहीं तो अगले जीवन में भी मिलते हैं, इस तथ्य को मन-मस्तिष्क में जमा लिया जाए तो आत्मिक-विकास में कदापि आलस्य-प्रमाद की मनोवृत्ति पनप नहीं पाएगी। विलम्ब से भी श्रेष्ठता की दिशा में उठाया गया कदम कभी निराशोत्पादक नहीं होगा।

कर्ममुक्ति की साधना में रत्तीभर भी लापरवाही, हानिकारक सिद्ध होगी। अशुद्धि और गलती को तुरंत सुधारना आवश्यक होगा। पुनर्जन्म के विश्वासी में यह भावना कदापि नहीं आनी चाहिए कि इतना तो सत्कर्म कर लिया, अब शेष जीवन में मनमानी मौज कर लें, सांसारिक सुखभोग कर लें। पुनर्जन्म की वास्तविकता को समझने वाला अन्तिम क्षण तक श्रेयस्पथ पर चलता रहेगा। अब तो थोड़े दिनों का जीना है, या चाहे जैसे दिन काटने हैं, स्वाध्याय-साधना, संयम-उपासना, ज्ञानादि-साधना एवं सेवा का पथ अपनाकर क्या होगा? ऐसी भावना पुनर्जन्म पर सच्ची आस्था रखने वाले में नहीं आ सकती। उसके लिए तो जीवन का प्रत्येक क्षण एवं प्रत्येक सत्कार्य महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कर्म और कर्मफल में उसकी अटूट आस्था रहती है। सच्चा पुनर्जन्मविश्वासी अपने भीतर विराजमान आत्मदेव को मनाने और उसी का सम्यक् विकास करने में दत्तचित्त रहता है, कर्मों के बन्धन से आत्मा को मुक्त करने का चिन्तन करता है। यही पुनर्जन्म सिद्धान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि और नैतिक-आध्यात्मिक प्रेरणा है।

■

५

परामनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में पुनर्जन्म और कर्म

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में पिछले दो प्रकरणों में हमने विभिन्न दार्शनिकों, धर्मधुरन्धरों, वैज्ञानिकों-मनो-वैज्ञानिकों द्वारा प्रयुक्त युक्तियाँ, सूक्तियाँ और उनकी अनुभूतियाँ तथा प्रमाणों और आप्त (प्रत्यक्षज्ञानियों के) वचन प्रस्तुत किये हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मरणोत्तर जीवन भी है, और मरणपूर्व भी जीवन था। और जन्म-जन्मान्तर का यह अविच्छिन्न जीवन-प्रवाह शुभाशुभ कर्म-सतति के आधार पर चलता आ रहा है।

परोक्षज्ञानियों का हार्दिक संतोषजनक समाधान नहीं

परन्तु परोक्षज्ञानियो (अल्पज्ञों) के समक्ष कितने ही प्रमाण, युक्तियाँ, तर्क, आप्तवचन आदि प्रस्तुत किये जाएँ, उनकी दृष्टि मे वे सब परोक्ष ही हैं, हृदय-ग्राह्य नही; क्योकि बुद्धि और तर्क के द्वारा अन्तिम निर्णय नही हो पाता। बुद्धि का यह विषय ही नही है। इस कारण उनके पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के प्रश्न का अन्तिम और सन्तोषजनक मनःसमाधान नहीं हो पाता।

परामनोवैज्ञानिकों द्वारा इस सम्बन्ध मे अनुसन्धान और प्रयोग

परामनोवैज्ञानिकों ने इस शाश्वत प्रश्न को समाहित करने का बीड़ा उठाया। पाश्चात्य जगत् में मरणोत्तर जीवन के विषय मे चर्चा-विचारणा कई वर्षों पूर्व तक माइथोलॉजी, मजहब, मेटाफिजिक्स और फिलॉसॉफी का विषय था। पिछले लगभग ६० वर्षों से वहाँ और यहाँ भी इस दिशा मे परामनोवैज्ञानिकों ने पर्याप्त अनुसन्धान और प्रयोग किये हैं, और उनके प्रयोग सफल भी हुए हैं।

पूर्वजन्म की साक्षी : सभी धर्मों के बालकों की पूर्वजन्म-स्मृति

परामनोवैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म की स्मृति जिस-जिस बालक को होती थी, उसका साक्षात्कार किया, उनके पूर्वजन्म के स्थान, नाम, सम्बन्धों तथा

वृत्तान्तों की स्वयं जांच-पड़ताल की। पूर्णतया उस घटना की प्रामाणिकता की जांच करने के बाद उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किये। इन में ऐसे बच्चों की भी घटनाएँ हैं, जिन बच्चों के माता-पिता या वंशपरम्परा में 'पुनर्जन्म' को सामान्यतया नहीं माना जाता था। उन बच्चों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की जो बातें बताईं, वे सचमुच आश्चर्यचकित कर देने वाली हैं।[१] आत्मा और कर्म को अस्वीकार करने वाले, तथा पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को नहीं मानने वाले जिन-जिन लोगों ने उन घटनाओं की गहरी जांच की, परीक्षा की, उन बच्चों का भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया, और अन्त में उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि आत्मा है, कर्म है और पूर्वजन्म-पुनर्जन्म भी है। उन सत्य घटनाओ को वे असत्य कैसे सिद्ध कर पाते? उन बालकों के मुँह से कही हुई पूर्वजन्म की बातें सही निकलीं, आज भी उनका उत्तर दे पाना कठिन है।

पुनर्जन्म को प्रत्यक्षवत् सिद्ध कर दिया परामनोवैज्ञानिकों ने

इन परामनोवैज्ञानिकों ने समस्त परोक्षज्ञानियों के तर्कों, युक्तियो, प्रमाणों एवं आप्तवचनों को बहुत पीछे छोड़ दिया, पूर्वजन्म की घटनाओं के अनुसन्धान से उन्होने प्रत्यक्षवत् सब कुछ सिद्ध कर बताया। इससे पूर्वजन्म एव पुनर्जन्म के विषय में जो तर्क, प्रमाण, युक्ति तथा अनुभव आदि प्रस्तुत किये गये थे, वे निरर्थक नहीं हुए, बल्कि उनकी सार्थकता और पुष्टि में चार चांद लग गए।

परामनोविज्ञान विज्ञान की ही एक शाखा है। सर्वप्रथम आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु मनोवैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को जानने का प्रयत्न किया, उनके इस कार्य को आगे बढ़ाने के लिए परामनोवैज्ञानिक आगे आए।

परामनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत चार तथ्य

उन्होने प्रत्यक्ष प्रयोग करके पूर्वजन्म एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व को सिद्ध करने के साथ-साथ आत्मा के अनादित्व को और प्रवाहरूप से कर्म के अनादित्व को भी सिद्ध कर दिया है। इतना ही नहीं, परामनोविज्ञान ने विविध घटनाओं की जाच पड़ताल करके चार तथ्य प्रस्तुत किये हैं—

---

१. (क) 'घट-घट दीप जले' (युवाचार्य महाप्रज्ञ) मे देखें, 'पूर्वजन्म-पुनर्जन्म' पृ. ५४, ५७

(ख) अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७४, मे प्रकाशित 'मरने के साथ ही जीवन का अन्त नही हो जाता,' लेख का सारांश पृ. १२

(ग) जैनदर्शन मे आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. २२२

१. किसी-किसी को मृत्यु होने से पूर्व अथवा किसी को अकस्मात् ही भविष्य में घटित होने वाली घटना का पहले से ही आभास (पूर्वाभास) हो जाता है।

२. भविष्य के ज्ञान की तरह अतीत (पूर्वजन्म या पूर्वजन्मों) का ज्ञान हो सकता है।

३. किसी-किसी को किसी भी माध्यम के बिना प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है, अर्थात्—किसी वस्तु या व्यक्ति के विषय मे वह साक्षात् जान लेता है।

४. बिना किसी माध्यम के एक व्यक्ति हजारों कोस दूर बैठे हुए व्यक्ति को अपने विचार प्रेषित (विचार-सम्प्रेषण) कर सकता है।[1]

पुनर्जन्म की सिद्धि के साथ आत्मा और कर्म का अनादि अस्तित्व भी सिद्ध :

परामनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रयोगसिद्ध इन चार तथ्यों के आधार पर उन लोगों को भी यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा, जो यह मानते थे, कि मृत्यु के बाद जीवन नहीं है। आत्मा और कर्म का अस्तित्व नही है। या आत्मा और कर्म इस जन्म तक ही हैं, उनका चिरकाल स्थायित्व नही है। ईसाई और इस्लाम धर्म पुनर्जन्म को नही मानते हैं। इसलिए यदि कोई बालक उस तरह की बात करे तो उसे शैतान का प्रकोप समझकर उसे डरा-धमकाकर उसका मुंह बद कर दिया जाता है। परन्तु मिथ्या-कल्पना, अन्ध-विश्वास और किंवदन्तियो की सीमाओं को तोड़कर प्रामाणिक व्यक्तियों के द्वारा किये गए अन्वेषणों से ऐसी घटनाएँ सामने आती रहती हैं, जिनसे पूर्वजन्म और पुनर्जन्म, दोनों तथ्य भलीभाति सिद्ध हो जाते हैं। परामनोवैज्ञानिकों ने उनकी आँखें खोल दी हैं, और उन्हें यह मानने को बाध्य होना पड़ा है कि पूर्वजन्म भी है और पुनर्जन्म भी है। आत्मा और कर्म का अस्तित्व भी चिरस्थायी है।"[2]

ईसाई-परिवार से सम्बद्ध पूर्वजन्म-स्मृति की घटना

कोपनहेगन (डेनमार्क) की एक सात वर्षीय ईसाई परिवार की लड़की लीना मार्कोनी अपने पूर्वजन्म की स्मृति का विवरण बताती थी। वह अपने को पिछले जन्म की फिलीपीन-निवासी किसी होटल-मालिक की 'मारिया एस्पिना' नामक पुत्री कहती थी। ग्यारह वर्ष की उम्र में वह मरी और फिर

---

१. (क) 'घट-घट दीप जले' से पृ. ५७

(ख) अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७४, के लेख से सारांश

२. अखण्ड ज्योति जुलाई, १९७४, के लेख पर से पृ. ११-१२

यहाँ आकर पैदा हो गई। ये सभी बातें, विशेषतया ईसाई परिवार की लड़की के लिए बड़ी विचित्र थीं, जिसमें पुनर्जन्म की मान्यता नहीं है। किन्तु उस लड़की की पूर्वजन्म की स्मृति के अनुसार, उसके द्वारा बताये गये देश तथा स्थान में जाकर पता लगाया, जांच-पड़ताल की, तो मालूम हुआ कि उसका कथन यथार्थता की कसौटी पर बिलकुल खरा था।[१]

मुस्लिम परिवार से सम्बद्ध पूर्वजन्म-स्मृति की घटना

अब लीजिए इस्लाम धर्म की बालिका के पूर्वजन्म स्मृति की घटना। अजमेर के जैनस्थानक में कविरत्न उपाध्याय श्री केवलमुनि जी के दर्शनार्थ एक महिला अपनी एक बालिका को लेकर आई। मां का नाम था—किरणदेवी और बालिका का नाम था—मीना। उस समय वह चार-पांच वर्ष की थी। और जब-तब अपनी मां के समक्ष अपने पूर्वजन्म की बातें कहने लगती थी—"मेरा घर आगरा में है। मैं मुसलमानी हूँ । मेरा पति है। उसके दो पत्नियाँ हैं। वहाँ मेरे दो बच्चे हैं, मैं नमाज पढ़ना जानती हूँ। इत्यादि।" मीना जब ये बाते कहती तो उसकी मां उसे डांट-डपट कर चुप कर देती। आज भी बातचीत के सिलसिले मे किरणदेवी ने मीना के द्वारा जब-तब कही जाने वाली इन पूर्वजन्म-सम्बन्धी बातों का जिक्र किया तो उन्होने किरणदेवी को समझाया—आत्मा नित्य और अविनाशी है। पिछले जन्म के प्रबल कर्मजन्य सस्कारों को साथ लेकर वह अगले जन्म में आती है। उन संस्कारो की स्मृति को जैनशास्त्रों में जाति-स्मरण-ज्ञान कहते हैं। अतः अगर यह बच्ची पिछले जन्म की बातें कहती है तो उसे रोको-टोको मत, ध्यानपूर्वक सुनो।" किरणदेवी के सहमत होने के पश्चात् श्री केवलमुनिजी ने मीना को आश्वासन दिया, और उसके पिछले जन्म की बाते कहने के लिए प्रोत्साहित किया। मीना ने कहा—"मैं पिछले जन्म में आगरा रहती थी। लोहामंडी की एक गली मे हमारा छोटा-सा मकान था। मेरा नाम नूरजहाँ था। हमारे घर से थोड़ी दूर जैन भवन था। वहाँ मैं कभी-कभी पहुँच जाती थी। वहाँ प्रायः जीवदया पर मुनिश्री का प्रवचन होता था, उसे मैं सुना करती थी। फिर मैं जैन पाठशाला में पढ़ी, वहाँ भी मुझे यही शिक्षा मिली। इसके बाद मेरी इस्लाम की शिक्षा शुरू हुई। मौलवी साहब ने मुझे नमाज पढ़ना सिखाया। मैं जब १३-१४ साल की हुई तो मेरी मां सालभर की बीमारी के बाद चल बसी। पिताजी मेरे विवाह के लिये चिन्तित रहते थे। एक दिन एक व्यक्ति ने मेरे पिताजी को सुझाव दिया कि

१. वही, जुलाई १९७४, के लेख से पृ. १३

'मेरा दोस्त अब्दुल्ला कपड़े की दुकान करता है। उसकी पहली बीवी के कोई सन्तान नहीं है। वह दूसरी शादी करना चाहता है। उसमें किसी प्रकार का कोई ऐब नहीं है। आप चाहें तो 'नूर' की शादी उसके साथ कर सकते हैं।' पिताजी ने उक्त युवक से बात करके उसके साथ मेरी शादी कर दी। मैं अपने पीहर के दया धर्म के संस्कारवश मांसाहार से सख्त नफरत करती थी। ससुराल में भी मुझे मांसाहार से परहेज रहा। मेरे पति ने भी मांस खाना छोड़ दिया। पर मेरी सौत मांस खाती थी। वह मेरे साथ कलह करती, मुझे तंग करती और जली-कटी सुनाती रहती थी। मै दो बच्चों की मां बन गई, यह उसकी आँखों में खटकता था। एक दिन मैं रात को पानी भरने के लिए पास वाले कुंए पर गई। मुझे मार डालने की नीयत से मेरी सौत ने पीछे से आकर मुझे धक्का दे दिया। मैं कुए में गिर गई। पीछे क्या हुआ, मुझे नहीं मालूम। अब भी मुझे मासूम बच्चों की याद आती है तो मैं छटपटाती हूँ।" यों कहकर वह आँसू बहाने लगी। केवलमुनिजी ने उसे आश्वासन देकर समझाया—"ये तो जीते-जी के जंजाल हैं। पिछले जन्मो मे तुमने कई परिवारों को छोड़ा, उसकी चिन्ता नहीं करती, तो इस पिछले जन्म के परिवार की भी चिन्ता मत करो। वर्तमान जन्म को सुधारने की चिन्ता करो।"[१]

मीना का यह पूर्वजन्म मुस्लिम-परिवार से सम्बद्ध था; किन्तु उसके दयाधर्म के प्रबल संस्कारो के फलस्वरूप पूर्वकृत शुभकर्मोदय से मरने के बाद जैनधर्मी परिवार में उसका जन्म हुआ।

सभी धर्मों के परिवारों में घटित घटनाएँ : पूर्वजन्म को सिद्ध करती हैं

इस प्रकार ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध, हिन्दू आदि सभी धर्म-परम्परा के बच्चों की पूर्वजन्म और पुनर्जन्म की स्मृति की घटनाएँ परामनोवैज्ञानिकों ने एकत्र की हैं और उन पर पर्याप्त जाच-पड़ताल करने के पश्चात् वे सभी सत्य सिद्ध हुईं। इस पर से परामनोवैज्ञानिको का कथन है कि "पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त उपहासास्पद, भ्रान्तियुक्त या अन्धविश्वासपूर्ण नहीं है, अपितु यह सत्य और प्रत्यक्ष अनुभव के धरातल पर स्थित अकाट्य सिद्धान्त है।" कुछ वर्षों पूर्व 'गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित 'कल्याण' (मासिक पत्र) के पुनर्जन्म-विशेषाक में देश-विदेश के सभी धर्मपरम्परा के बालकों की पूर्वजन्म-स्मृति से सम्बन्धित आश्चर्यजनक

१. उपाध्याय श्री केवलमुनिजी द्वारा लिखित 'दो आसू' (कहानी सग्रह) से सार-संक्षेप, पृ. १ से २०

एवं रोचक सच्ची घटनाएँ छपी हैं। इन सब घटनाओं पर से पाश्चात्य-विचारकों को भी पूर्वजन्म-पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अध्ययन की ओर आकर्षित किया है।[१]

डॉ. स्टीवेंसन द्वारा पुनर्जन्म की घटनाएँ प्रस्तुत

वर्जीनिया विश्वविद्यालय, अमेरिका के चिकित्सा-विज्ञान-विभाग के प्रोफेसर डॉ. हयान स्टीवेंसन ने 'आत्मा की खोज' विषय को लेकर विश्व-भ्रमण किया। उन्होंने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को आत्मा एवं कर्म के चिरस्थायी अस्तित्व का मूल आधार माना; और इसके लिए भारतवर्ष में आए। भारत को अपने परामनोवैज्ञानिक शोधकार्य के लिए उन्होंने विशेष उपयुक्त समझा। इसका कारण उन्होंने यह बताया कि भारतीय धर्म-परम्पराओं में पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। इसलिए पिछले जन्म की स्मृतियाँ बताने वाले बालकों की बातें यहाँ दिलचस्पी से सुनी जाती हैं, और उनसे प्रामाणिक तथ्य उभरकर सामने आते रहते हैं। डॉ. स्टीवेंसन ने बर्मा, थाईलैण्ड, श्रीलंका आदि बौद्ध धर्म प्रधान देशों में भी पुनर्जन्म की उपयोगी घटनाओं का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त लेबनान, टर्की, सीरिया, साइप्रस तथा अन्य कई यूरोपीय देशों में भी, जहाँ भी पता चला, वे स्वयं अपनी टीम के साथ गए, घटना का अध्ययन करके उसकी प्रामाणिकता की जांच की तथा गहराई से छानबीन भी की। तत्पश्चात् नये-नये तथ्य और आश्चर्यजनक निष्कर्ष प्रस्तुत किये।[२]

बौद्ध देशो या यूरोपीय देशों मे भी अधिक विवरण दिये जाने से पुनर्जन्म की घटनाओ की छानबीन आसानी से की जा सकती है।

डॉ. स्टीवेंसन ने संसारभर से लगभग ६00 ऐसी घटनाएँ एकत्रित की हैं, जिनमें उन-उन व्यक्तियों द्वारा बताये गये उनके पूर्वजन्मों के अनुभव प्रामाणिक सिद्ध हुए हैं। इनमें से १७0 प्रमाण तो अकेले भारत के हैं। इनमें बड़ी आयु के लोग बहुत कम हैं। तीन से लेकर पांच वर्ष तक के अधिकांश बालक हैं। नवोदित कोमल मस्तिष्क एव निश्छल सरल हृदय पर पूर्वजन्म की छाया अधिक स्पष्ट रहती है। आयु बढ़ने के साथ-साथ वर्तमान जन्म

---

१. (क) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. २२२

(ख) देखें—'कल्याण' (मासिक पत्र) का पुनर्जन्म-विशेषांक

२. (क) अखण्ड ज्योति, जुलाई, १९७४ में प्रकाशित 'मरने के बाद भी आत्मा का अस्तित्व' लेख से सारांश

(ख) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. २२२

की जानकारियाँ उसके मस्तिष्क में इतनी अधिक लद जाती हैं कि उस दबाव से पिछले जन्म की स्मृतियाँ विस्मृति के गर्त में गिरती जाती हैं।

डॉ. स्टीवेंसन के शोध रिकार्ड में एक ऐसी पंचवर्षीय लड़की की घटना भी अंकित है, जो हिन्दीभाषी परिवार में जन्म लेकर भी बंगला भाषा के गीत गाती थी और उसी शैली में नृत्य करती थी; जबकि कोई भी बंगाली उस घर या परिवार के निकट नहीं था। इस लड़की ने अपना पूर्वजन्म सिलहट (आसाम) का बताया। इस जन्म में वह जबलपुर (म.प्र.) में पैदा हुई। उसने पूर्वजन्म की जो-जो घटनाएँ तथा स्मृतियाँ बताईं, वे पता लगाने पर ९५ प्रतिशत सही निकलीं।

पूर्वजन्म की स्मृति कैसे-कैसे लोगों को होती है

पूर्वजन्म का स्मरण किस प्रकार के लोगो को रहता है, इस सम्बन्ध में डॉ. स्टीवेंसन आदि परामनोवैज्ञानिको ने बताया कि जिनकी मृत्यु प्रचण्ड भयंकर आवाज सुनकर या आग्नेयास्त्र देखकर अथवा बिजली गिरने आदि के भय, आशका, अभिरुचि, बुद्धिमत्ता, उत्तेजनात्मक, आवेशग्रस्त मनःस्थिति मे हुई हो, उन्हें पिछले जन्म की स्मृति अधिक स्पष्ट होती है। अथवा दुर्घटना, हत्या, आत्महत्या, अतृप्ति, कातरता या उद्विग्नता अथवा मोह-ग्रस्तता से युक्त चित्तविक्षोभकारी पिछले जन्म के घटना क्रम भी स्मृति-पटल पर उभरते रहते हैं। पिछले जन्म के कला-कौशल, विशिष्ट स्वभाव या आदत अथवा शौक की भी छाप किसी-किसी बालक में वर्तमान जन्म में बनी रहती है। जिनसे अधिक प्यार या अधिक द्वेष रहा है, वे लोग भी इस जन्म में विशेष रूप से याद आते हैं।[१]

डॉ. स्टीवेंसन को कुछ केस ऐसे भी मिले, जिनमें पूर्वजन्म का स्मरण करने वाले उन्ही बीमारियो से ग्रस्त थे, अथवा उन्हीं पूर्वजन्म की आदतो से घिरे थे, अथवा उनके शरीर पर वे ही निशान थे, जो पूर्वजन्म मे थे। अर्थात्—आकृति की बनावट, और शरीर पर जहाँ-तहाँ पाये जाने वाले विशेष चिन्ह भी अगले जन्म में उसी प्रकार पाये गए।

इंग्लैण्ड की पुनर्जन्म की एक विचित्र घटना कुछ वर्षों पूर्व प्रकाश में आई थी। नॉर्थम्बरलैण्ड निवासी एक सज्जन मि. पोलक की दो लड़कियाँ सड़क पर एक मोटर की चपेट मे आकर मर गई थीं। बड़ी—जोआना ११ वर्ष की थी, और छोटी—जैकलिन ६ वर्ष की थी।

---

१. (क) अखण्ड ज्योति, जुलाई, १९७४ के लेख पर से सार-सक्षेप पृ. १२

(ख) जैनदर्शन मे आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. २२२

दुर्घटना के कुछ समय बाद श्रीमती पोलक गर्भवती हुई तो उन्हें रह-रहकर यही लगता रहा कि उनके पेट में दो जुड़वाँ लड़कियाँ हैं। डॉक्टरी जांच करने पर वैसा प्रमाण न मिला, किन्तु बाद में यथासमय दो जुड़वाँ लड़कियाँ ही जन्मीं। एक का नाम रखा गया—'गिलियन' और दूसरी का 'जेनिफर'। इन दोनों के शरीर पर वे ही निशान पाये गए, जो उनके पूर्वजन्म में थे। इतना ही नहीं, उनकी आदतें भी मृत लड़कियों जैसी ही थीं। इन दोनों लड़कियों को मृत लड़कियों के बारे में कुछ भी बताया नहीं गया था, फिर भी कुछ बड़ी होने पर ये आपस में पूर्वजन्म की घटनाओं की चर्चा करने लगीं। समयानुसार उन दोनो ने अपने पूर्वजन्म के अनेक संस्मरण सुनाकर तथा अपने उपयोग में आने वाली अनेक वस्तुओं की जानकारी देकर यह सिद्ध कर दिया कि इन दोनों ने इसी घर में पुनः जन्म लिया है।

कर्मसिद्धान्तानुसार—पूर्वजन्म में इसी घर या परिवार के मोह-ममत्वजनित कर्मवश इस जन्म में भी इसी घर में उन दोनों का जन्म हुआ। इससे आत्मा और कर्म का अविच्छिन्न प्रवाहरूप से अस्तित्व प्रतिफलित होता है।

एक केस में पूर्वजन्म-स्मरणकर्त्ता व्यक्ति के पिछले जन्म में पेट का ऑपरेशन चिन्ह, अगले जन्म में भी उसी स्थान पर एक विशेष लकीर के रूप में पाया गया। इसके अतिरिक्त पूर्वजन्म में जिस प्रकार की दुर्घटना हुई हो, उसके स्मरणकर्त्ता को उस स्तर का वातावरण देखते ही अकारण डर लगने लगता है। जैसे—किसी की मृत्यु बन्दूक की गोली से, बिजली कड़कने या गिरने से हुई है तो उसका स्मरणकर्त्ता साधारण पटाखों की आवाज से भी डरने लगता है। पानी में डूबने से मृत्यु हुई हो, तो वह जलाशयों को देखते ही अकारण डरने लगता है।[१]

पूर्वजन्म की स्मृति संजोये रहने वालों में आधे से अधिक ऐसे थे, जिनकी मृत्यु पिछले जन्म में २० वर्ष से कम आयु में हुई थी। डॉ. स्टीवेंसन का कहना है कि पूर्वजन्म-स्मरण का केस देखते ही उस बच्चे से छोटी उम्र मे ही पूछताछ करनी चाहिए, क्योंकि ५-६ वर्ष के होने पर पूर्वजन्म की बातें वे प्रायः भूलने लगते हैं। जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे भावुक संवेदनाएँ समाप्त होती जाती हैं। मनुष्य कामकाजी, बहुधंधी या दुनियादार बनता जाता है। भावनात्मक कोमलताएँ जितनी कठोर होती

१. अखण्ड ज्योति, जुलाई, १९७४ के लेख से सारांश पृ. १२-१३

जाएँगी, उतनी ही उनकी संवेदनाएँ फीकी और स्मृतियाँ धुँधली पड़ती जाएँगी।[१]

'आत्मरहस्य' में प्रकाशित पूर्वजन्म-स्मृति की घटना

"श्री रतनलालजी जैन ने 'आत्म-रहस्य' नामक पुस्तक में देश-विदेश की पूर्वजन्म-पुनर्जन्म से सम्बन्धित कई घटनाएँ अंकित की हैं। बरेली की एक घटना सन् १९२६ की है। वहाँ कैकयनन्दन वकील के यहाँ एक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह बालक ५ वर्ष का हुआ और बोलना सीख गया तो वह अपने पूर्वजन्म की बातें बताने लगा कि पूर्वजन्म में मैं बनारस-निवासी बबुआ पाण्डे का पुत्र था। उसके पिता श्री कैकयनन्दन कई मित्रों के साथ उस बालक को बनारस ले गए और बालक के बतलाये हुए स्थान पर गए। उस समय बनारस के जिलाधीश श्री बी. एन. मेहता भी उपस्थित थे। बबुआ पाण्डे तथा उस मोहल्ले के एकत्रित सज्जनों को उनके नाम ले लेकर वह बालक पुकारने लगा और अनेक प्रश्न भी पूछने लगा कि अमुक-अमुक वस्तुएँ कहाँ हैं ? और कैसी हैं? उक्त बालक का बतलाया हुआ पूर्वजन्म का वृत्तान्त बिलकुल सच निकला।"[२]

नौ जन्मों की स्मृति की आश्चर्यजनक घटना

परामनोवैज्ञानिकों ने एक ही जन्म नहीं, नौ-नौ जन्मों तक की स्मृति की घटनाएँ संगृहीत की हैं। इस सन्दर्भ में दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सवर्ग की एक घटना है—पिता एडवर्ड बर्वे और माता कैरोलिन फ्रांसिस एलिजाबेथ की पुत्री 'जोय बर्वे' की। दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सवर्ग स्थित 'विट्टाटर स्ट्रैण्ड विश्वविद्यालय' के प्रोफेसर आर्थर ब्लेकस्ले ने 'साइकिक रिसर्च' के क्षेत्र में प्रयोग के दौरान तेरह वर्षीय जोय बर्वे की विचित्रताओं की बात ज्ञात होने पर जाँच-पड़ताल शुरू की।[३]

यों तो 'जोय' जब ढाई वर्ष की थी, तभी से वह पूर्वजन्म-परिचित वस्तुओं का स्मरण करके अति प्राचीन ऐतिहासिक दृश्यो और वस्तुओं के चित्र बनाने लगी थी। उसकी इस शक्ति का प्रचार तब से हुआ, जब १२ वर्ष की आयु में वह क्रूगर हाउस नामक भवन देखने गयी, जहाँ १९वीं शताब्दी में वहाँ का गणतन्त्र-प्रधान 'ओम पॉल' रहता था। 'जोय' ने ओम पॉल से सम्बन्धित सारी ऐतिहासिक घटनाएँ क्रमबद्ध बताई, जो

---

१. (क) अखण्ड ज्योति, जुलाई, १९७४ से सारांश पृ. १२

(ख) जैनदर्शन मे 'आत्म विचार' (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. २२२

२. महाबन्धो पुस्तक २ की प्रस्तावना (पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. ११

३. अखण्ड ज्योति, फरवरी १९७५, के 'पुनर्जन्म सिद्धान्त को भलीभांति समझा जाय' लेख से साराश पृ. ३४

इतिहास प्राध्यापक द्वारा छानबीन करने से बिल्कुल सही निकलीं। फिर यह बालिका परामनोवैज्ञानिकों के अध्ययन का एक आकर्षण केन्द्र बन गई। जोय का दावा है कि उसे पिछले नौ जन्मों की स्मृति है। 'जोय' के अनुसार बहुत पहले के एक जन्म की उसे इतनी ही बात याद है कि डिनासार (डायनासोर) (प्राचीन भीमकाय पशु) ने एक बार उसका पीछा किया था। यह पाषाणकाल की घटना है। दूसरे जन्म में जोय दासी थी। उसके स्वामी ने अप्रसन्न होकर उसका सिर काट दिया था। तीसरे जन्म में भी वह दासी के रूप में रही। वह नाचती भी थी। चौथे जन्म में रोम में वह एक जगह रहती थी और रेशमी कम्बल और वस्त्र बुनती थी। पांचवें जन्म में वह एक धर्मान्ध महिला थी और एक धर्मोपदेशक को उसने पत्थर दे मारा था। जोय का छठा जन्म इटली में नवजागरणकाल में हुआ। उस समय वहाँ कला और साहित्य के क्षेत्र में नई जागृति उभार पर थी। उसके घर में दीवारों और छतों पर बड़े-बड़े चित्र अंकित थे। सातवां जन्म 'गुडहोप' अन्तरीप में १७वीं शताब्दी में हुआ। वहां वह ठिगने पीले रंग के लोगों में से थी। राज्याश्रय में पलने वाले व्यवसाय से उसका आजीवन सम्बन्ध रहा।

आठवें जन्म में वह अधिक विकासशील क्षेत्र में पैदा हुई। १९वीं शताब्दी की यह बात है। सन् १८८३ से १९०० तक वह ट्रांसवाल गणतंत्र के राष्ट्रपति 'ओम पॉल' के निवास भवन में आती-जाती थी। उसी दौरान उसने उससे सम्बन्धित सारे ऐतिहासिक संस्मरण प्रस्तुत किये थे। साथ ही कला और कारीगरी में उसे गहरी रुचि थी। नौवें—वर्तमान जीवन में वह प्रीटोरिया नगर की एक छात्रा है। वह पिछले जन्मों के बारे में विस्तृत विवरण बताती रही। प्रत्येक जन्म में उसकी कलारुचि अक्षुण्ण रही।[1]

इस बालिका के नौ जन्मो के संस्मरणों से एक ही तथ्य परिलक्षित होता है कि मनुष्य के विकास क्रम में एक सातत्य है, सतत् धारावाहिकता है। वह पिछले जन्मों के संस्कारों (कर्मजन्य कार्मणपरमाणुपुद्‌गलों) के साथ नया जीवन प्रारम्भ करता है।

जीते-जी पूर्वजन्मों का ज्ञान एवं स्मरण

प्रसिद्ध योगी श्यामाचरण लाहिड़ी ने जीते-जी अपने पिछले अनेक जन्मों के दृश्य प्रत्यक्षवत् देखे थे। उस समय सन् १८६१ में वे दानापुर कैंट (पटना) में एकाउंटेंट थे। अचानक उन्हें तार मिला—रानीखेत ट्रांसफर के आदेश का। वे वहाँ से रानीखेत पहुँचे। वहाँ आफिस में काम करते समय उनके कानों में बार-बार आवाज आई—निकटवर्ती द्रोण पर्वत पर पहुँचने की। वे तीसरे दिन द्रोण पर्वत पर पहुँचे। वहाँ एक अदृश्य अजनबी की

१. अखण्ड ज्योति फरवरी १९७५, में प्रकाशित लेख से सारांश पृ. ३४-३५

अपने पास आने के लिए आवाज आई। वे प्रकाश पुंज के पास पहुँचे। एक योगीराज एक गुफा के द्वार पर खड़े मुस्कराए। उन्होंने श्यामाचरण को सम्बोधित करके अपने पास बुलाने का कारण बताया। फिर श्रद्धाभिभूत योगिराज ने लाहिड़ी के मस्तक पर अपना दाहिना हाथ रखा। शीघ्र ही लाहिड़ी के शरीर में विद्युत-सी शक्ति और प्रकाश भरने लगे। तन्द्राएँ जागृत हो उठीं। मन का अन्धकार दूर होने लगा। ऋतम्भरा प्रज्ञा जाग उठी। अलौकिक अनुभूतियाँ होने लगीं। लाहिड़ी ने देखा—"मैं पूर्वजन्म में योगी था, यह साधु मेरे गुरु हैं, जो हजारों वर्ष की आयु हो जाने पर भी शरीर को अपनी योग-क्रियाओं द्वारा धारण किये हुए हैं।" लाहिड़ी को याद आया कि "पिछले जन्म में उन्होने योगाभ्यास तो किया, मगर सुखोपभोग की वासनाएँ नष्ट नहीं हुई। फिर अव्यक्त दृश्य भी व्यक्तवत् और गहरे होते चले गए, जिनमे उनके अनेक जन्मों की स्मृतियाँ साकार होती चली जा रही थी।" इस प्रकार श्री लाहिड़ी ने अपने पिछले अनेक जन्मों के दृश्यो से लेकर वहाँ पहुँचने तक का सारा वर्णन चलचित्र की भांति देख लिया................।"[१]

श्री लाहिड़ी द्वारा अनेक पूर्वजन्मों का प्रत्यक्षवत् दर्शन आत्मा और कर्म के चिरकालीन अस्तित्व को सिद्ध करता है। आत्मा के साथ प्रवाहरूप से कर्म का अनादित्व माने बिना पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त घटित हो ही नही सकता।

महर्षि अरविन्द की प्रधान सहयोगिनी श्री मां जब मीरा रिचार्ड के रूप मे फ्रांस मे बाल्यावस्था व्यतीत कर रही थी, तब उन्हे पूर्वजन्मों के कर्मजनित सस्कारो के फलस्वरूप दिव्य दर्शन हुआ करते थे। आचार्य विनोबा भावे ने अपने बारे मे कहा था—"मुझे यह भास होता है कि मै पूर्वजन्म मे बगाली योगी था।" साथ ही जिन वस्तुओं के प्रति जन-सामान्य में प्रबल आकर्षण होता है, उनके प्रति विनोबा में कदापि आकर्षण नही हुआ। इसे भी वे अपने पिछले जन्म की कमाई मानते थे।"[२]

निष्कर्ष यह है कि परामनोवैज्ञानिको द्वारा प्रस्तुत पूर्वजन्म और पुनर्जन्मो की स्मृति की अनेकानेक घटनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि मरने के साथ ही जीवन का अन्त नही हो जाता। एक जन्म या अनेक जन्मों के कर्मफल अगले एक या अनेक जन्मों में मिलने की बात भी प्रमाणित हो जाती है, आत्मा का स्वतंत्र और अनन्त अस्तित्व मानने से। और यह सिद्ध हो जाता है कि सभी पुनर्जन्मो का मूलाधार व्यक्ति के पूर्वकृत कर्म ही हैं। ■

---

१. (क) अखण्ड ज्योति मार्च १९७२, के लेख पर से सारांश पृ. ५२-५३
(ख) ऑटोबायोग्राफी ऑफ ए योगी (स्वामी योगानन्द)

२. अखण्ड ज्योति, फरवरी ७९, के लेख पर से सारांश पृ. ३५-३६

६

प्रेतात्माओं का साक्षात् और सम्पर्क : पुनर्जन्म का साक्षी

मरणोत्तर जीवन के दो प्रत्यक्ष प्रमाण

मरणोत्तर जीवन के दो प्रमाण ऐसे हैं, जिन्हें प्रत्यक्षरूप में देखा, समझा और परखा जा सकता है—(१) पूर्वजन्म की स्मृतियाँ और (२) प्रेत-जीवन का अस्तित्व। पूर्व प्रकरण में हमने पूर्वजन्म की स्मृतियों की अनेक घटनाएँ प्रस्तुत करके इसे प्रत्यक्षवत् सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकरण में हम प्रेत-जीवन के अस्तित्व को प्रत्यक्षवत् सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।

परामनोवैज्ञानिकों द्वारा पर्याप्त अनुसन्धान

परामनोवैज्ञानिकों ने इस विषय मे भी पर्याप्त अनुसन्धान किये हैं। खास तौर से पाश्चात्य देशों में प्रेतविद्याविशारदों ने पूर्वजन्म की आसक्ति, मोह, घृणा, द्वेष आदि से बद्धकर्म-संस्कारो से अगले जन्म मे प्राप्त प्रेतयोनि की स्थिति के विषय में शोध और प्रयोग के अद्भुत कार्य किये हैं। सर ऑलिवर लॉज, सर विलियम वारेट, रिचर्ड हडसन, मिसेज सिडफिक, सर आर्थर कानन, ए. पी. सिनेट आदि परामनोवैज्ञानिको ने विभिन्न प्रेतों से स्नेहपूर्वक सम्पर्क स्थापित करके गम्भीर खोजे की हैं। ऐसा करके उन्होंने भारतीय धर्मों और दर्शनों द्वारा मान्य परलोकवाद की सत्यता को परिपुष्ट किया है। इतना ही नही, आत्मा तथा कर्म और कर्मफल के प्रवाहरूप से अनादि अस्तित्व को भी प्रमाणित किया है।[1]

जैन दर्शन-सम्मत प्रेतात्मा का लक्षण एवं स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस आदि व्यन्तर जाति के देव माने जाते हैं। मनुष्य के रूप में रहते हुए इनका किसी स्थान-विशेष, व्यक्ति-विशेष या वस्तु-विशेष से प्रबल मोह-ममत्व, आसक्ति, मूर्च्छा,

१ अखण्डज्योति, नवम्बर १९७६, मे प्रकाशित लेख : 'दिव्य प्रेतात्मा की अदृश्य सहायता' से पृ. ३९

लालसा-आकांक्षा अथवा प्रबल ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, वैर-विरोध, द्रोह, नियाणा आदि होता है। ऐसे ही व्यक्ति व्यन्तरजाति के देवों में से भूत, प्रेत, पितर, यक्ष, राक्षस आदि किसी भी योनि में अपने पूर्वकृत कर्मानुसार मरकर जन्म लेते हैं। जन्म लेने के पश्चात् भी पूर्वोक्त जीव अपनी अतृप्त आकांक्षा के कर्म-फलानुसार पूर्वोक्त वस्तु, व्यक्ति या स्थान विशेष के आस-पास चक्कर लगाते रहते हैं, या वहीं अपना अड्डा जमा कर बैठते हैं।[१] व्यन्तर जाति के इन्हीं देवों को प्रेतात्मा, पितर, भूत, यक्ष, राक्षस आदि विविध रूपों में सम्बन्धित मनुष्यों से पुनः पुनः सम्पर्क करते देखा-सुना जाता है। अतृप्त आकांक्षाओ का उद्वेग मरने के बाद भी चैन से बैठने नहीं देता। ये वैक्रिय शरीरधारी होने से मनचाहा रूप बना सकते हैं, अथवा वे अदृश्य रहकर अपनी इच्छापूर्ति के लिए किसी दूसरे के माध्यम से बोलकर अथवा दूसरे के शरीर में प्रवेश करके अपनी उपस्थिति और इच्छा व्यक्त करते रहते हैं। कुछ लोगों के अकालमृत्यु-प्राप्त पारिवारिक जन पितर बन जाते हैं या प्रेतयोनि (व्यन्तरजाति के देवों) में जन्म ले लेते हैं। ऐसे पितर या प्रेत दो प्रकार के होते हैं। जिनके प्रति श्रद्धा या प्रतीति होती है, अथवा मन में आदरभाव होता है, या जिनके साथ पूर्वजन्म में मित्रता, अनुराग, या प्रीति होती है, ऐसे पितर तो हितैषी एवं सहायक होते हैं। दूसरे ऐसे पितर होते हैं, जिन्हें पारिवारिक जनों या अमुक परिवार या व्यक्ति से कष्ट पहुँचा है, अथवा उनकी अवज्ञा-अनादर या उपेक्षा हुई है, उनसे वे बदला लेते हैं, उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं, उनके कार्यों में विघ्न डालते हैं, उनको हानि पहुँचाते हैं। कई लोगों को प्रेतात्मा या मृतात्मा प्रत्यक्ष भी दिखाई देते हैं और कई अदृश्य रहकर किसी दूसरे के मुँह से बोलते हैं।[२]

जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के पूर्णतः या अंशतः आराधक होते हैं, वे मरकर या तो उच्चजाति के सम्यग्दृष्टि देव बनते हैं, या फिर सद्-भावनाशील भवनपति या व्यन्तरजाति के सम्यग्दृष्टि देव बनते हैं। वे धर्मनिष्ठ लोगो की सहायता करते हैं, उनकी परीक्षा भी करते हैं, उनकी परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर वे उन धर्मात्माओं के चरणों में नतमस्तक[३] होते

१ अखण्ड ज्योति जुलाई १९७७ में 'अतृप्त आकांक्षाओं से पीड़ित भूत-प्रेत,' लेख से साराश पृ. २७

२ (क) वही, जुलाई १९७७ के लेख से पृ. २७
(ख) संलेखनाव्रत के ५ अतिचारो से तुलना करें—"जीवित-मरणाशंसा-सुखानुबन्ध-मित्रानुराग-निदान करणानि ।" —तत्त्वार्थ सूत्र अ. ७, सूत्र ३२

३ देखिये : राजप्रश्नीय सूत्र में सूर्याभदेव का प्रकरण, उपासकदशांगसूत्र में चुलनी-पिता व कामदेव श्रावक की देव द्वारा परीक्षा का प्रकरण

हैं। ऐसे देवों के किसी को प्रतिबोध देने, धर्मकार्य में सहायक होने आदि के रूप में मर्त्यलोक में आने के कई शास्त्रीय, ऐतिहासिक एवं आधुनिक प्रमाण भी मिलते हैं।

प्रेतात्मा द्वारा वैर-विरोध का प्रतिशोध

पूर्वजन्म में जिनके साथ किसी प्रकार का अन्याय-अत्याचार किया था, या जिन निर्दोष व्यक्तियों को यातना दी गई थी, उन्होंने अगले जन्म में प्रेत बनकर उसका बदला लिया है।

जापान की जनश्रुतियों में सत्रहवीं शताब्दी में एक महाप्रेत 'सोगोरो' की अगले जन्म में प्रेत बनकर बदला लेने की घटना प्रसिद्ध है। उन दिनों सामन्ती जागीरों में बंटे हुए जापान के शिमोसा प्रान्त के साकूरा गढ़ का सामन्त 'कोत्सुके' बड़ा अत्याचारी था। एक बार ४८ वर्षीय सोगोरो के नेतृत्व में १३६ गाँवो के किसानों ने अपने पर अत्याचार की कष्ट कथा लिखकर उक्त जागीरदार तक पहुँचाने की चेष्टा की। लेकिन वे इस प्रयत्न में सफल नहीं हुए। न तो जागीरदार उनसे मिला, न ही अर्जी पर गौर किया। किन्तु सोगोरो अन्त तक अपने निश्चय पर डटा रहा। उसने सामन्त का रास्ता रोक कर अर्जी उसके हाथ में थमा दी। फलतः उसने क्रुद्ध होकर सोगोरो को राष्ट्रद्रोह के अपराध में समस्त परिवार सहित मृत्यु दण्ड दे दिया। उनकी लाशें दफना दी गईं। परन्तु उसी दिन से वातावरण दमघोंटू और भयावह बन गया। सोगोरो का प्रेत बदला लेने के लिये राजपरिवार के पीछे बुरी तरह पड़ा रहा। अन्त मे किसी न किसी प्रकार से जागीरदार 'कोत्सुके' और उसके परिवार को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा।[१]

प्रेतात्माओं द्वारा बदला लेने के विभिन्न तरीके

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्रेतात्माओं सम्बन्धी शोधकार्य करने के लिए एक विशेष विभाग ही खुला हुआ है। अमेरिका में 'साइकिक रिसर्च फाउंडेशन' नामक संस्था द्वारा अनेक वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों द्वारा इस सम्बन्ध में सुनियोजित रूप से शोध-कार्य चल रहा है। कई प्रेतात्माएँ बदला लेने के लिए उक्त घटना और वस्तु की भी पुनरावृत्ति करती हैं। ब्रिटिश परामनोवैज्ञानिक जे. बर्नर्ड हटन ने ऐसी घटनाओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला है— अपनी पुस्तक 'द अदर साइड ऑफ दि रीएलिटी' में।[२]

---

१ अखण्डज्योति मई १९७४ में 'उसने प्रेत बनकर बदला लिया' लेख से पृ. ३३
२ (क) अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७७ में प्रकाशित लेख से पृ. २७
(ख) वही, मई १९७६ से पृ. १३

कोई तीस वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड में पोर्ट्स साउथ रोड इशर कस्बे के पास से जो भी मोटर गुजरती, उसे बंदूक की गोली इस तरह लगती कि शीशे, छत या दरवाजे पर एक इंच का साफ सीधा गोलाकार छिद्र हो जाता। पुलिस-दल या स्कॉटलैण्ड-यार्ड का वैज्ञानिकदल इस अप्रत्याशित घटना का सुराग नहीं पा सका। अन्त में, परोक्ष जीवन (पुनर्जन्म) और अदृश्य जगत् पर विश्वास करने वाले परामनोवैज्ञानिकों ने इस घटना की गहराई से छानबीन की तो पता लगा कि पहले यह 'क्लेयर माउंट स्टेट' एक जागीरदार और मोटर मालिक 'ड्यूक ऑफ न्यु कौंसिल' के पास थी। उसने 'विलिथ केन्ट' नामक ठेकेदार से एक झील तैयार करवाई। तैयार होने पर 'ड्यूक' ने उसका पैसा दबा लिया और उसे मारकर उसी झील में फिंकवा दिया। वही क्षुब्ध आत्मा (प्रेतात्मा) शायद 'ड्यूक' मोटर मालिक के प्रति तथा साथ ही मोटरों के प्रति भी घृणा और आक्रोश पूर्वक उस वैर का बदला ले रहा हो।[1]

प्रेतात्मा (यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत आदि) बनकर इस प्रकार पूर्वजन्म मे स्वयं को दुःखी करने वाले से उक्त वैर का प्रतिशोध लेने की घटनाएँ विविध जैन कथाओं, वैदिक पुराणों आदि मे आती हैं। द्वारिका नगरी के यादवकुमारों द्वारा द्वैपायन ऋषि को छेड़ने, उन्हें पत्थर मारकर निष्प्राण करने से अगले जन्म में अग्निकुमार (भवनपति) देव बनकर द्वारिकानगरी को भस्म करने के रूप मे वैर का बदला लेने की घटना प्रसिद्ध है।[2]

ये सभी घटनाएँ आत्मा और कर्म के अस्तित्व तथा पूर्वजन्म-पुनर्जन्म की सत्ता को सिद्ध करती हैं।

तीस व्यक्तियों की साक्षीपूर्वक प्रेतात्मा के अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण

अठारहवी सदी के अन्तिम चरण से उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक क्रियाशील पादरी 'एब्राहम क्युमिंग्ज' ने १८२६ में एक किताब छपाई, जिसका नाम है "इम्मोर्टिलिटी प्रूव्ड बाइ द टैस्टीमनी ऑफ साइंस"। ७७ पेज की इस पुस्तक में एक कप्तान बटलर की मृत-पत्नी की प्रेत छाया के बारे में विवरण छपा है। पादरी क्युमिंग्ज ने इस पुस्तक में अपने हस्ताक्षर सहित ३० व्यक्तियों की शपथ पूर्वक की गई घोषणा भी छापी है, जिन्होंने उक्त मृतात्मा को कई बार देखा व सुना था।[3]

---

१ अखण्ड ज्योति मई १९७४ में प्रकाशित लेख से, पृ. ३३
२ देखिये—अन्तकृद्दशा सूत्र का द्वारिकादहनप्रकरण
३ अखंडज्योति, अप्रैल १९७७ में प्रकाशित "'अतृप्त आकांक्षाओं से पीड़ित भूत-प्रेत" पृ. २८ से

प्रेत ने प्रत्यक्ष पर्चा देकर अपनी उपस्थिति प्रमाणित की

अमेरिका के कैलिफोर्निया शहर के इण्डाबरी मोहल्ले में एक भुतहा मकान था। वहाँ एक बार चार साहसी छात्रों ने भूत-प्रेतों की मान्यता को निरी भ्रान्ति समझ कर किराये पर ले लिया। एक दिन सहसा आंगन में कुर्सियों पर बैठे-बैठे उन्होंने पाया कि उनकी कुर्सियाँ सात-आठ फीट की उँचाई पर उड़कर स्थिर हो रही हैं। फिर एक रात सहसा पत्थर बरसने लगे। खोज-बीन करने पर मालूम हुआ कि ४-५ वर्ष पूर्व वहाँ एक डॉक्टर आत्म-हत्या कर चुका है। उसी प्रेतात्मा का यह करिश्मा है। छात्रों को वह मकान छोड़ना पड़ा।[1]

'नवनीत' (हिन्दी डाइजेस्ट—सितम्बर १९६९) में प्रेतात्मा की एक घटना छपी थी—अमेरिका के 'रोजेनहीम एडवोकेट' के घर में सहसा टेलीफोन की घंटियाँ टनटना उठतीं। बिना स्विच दबाए ट्यूब-लाइट जल उठतीं। बल्ब जल कर फट जाते। टेलीफोन उठाने पर गोलियों की बौछार सुनाई पड़ती। लगातार छान-बीन के बाद परामनोवैज्ञानिक 'प्रो. हान्स बोंडर' ने मामले की जांच की और पाया कि किसी न किसी भूत-प्रेत की यह करामात है, जो पूर्वजन्म में इस मकान से सम्बद्ध रहा है।[2]

धर्मयुग के १ दिसम्बर १९६३ के अंक में श्री दामोदर अग्रवाल ने भी ऐसी आपबीती प्रकाशित कराई है। उनके घर में सफाई के बावजूद दुर्गन्ध आती, अलमारी में ताले में बंद पूरियाँ रात को गायब हो जाने, धुले बर्तन सुबह जूठे मिलने, आंगन में रखे लड्डुओं की जगह गीली मिट्टी बच रहने, मिठाइयो के रातभर में सड़ जाने, रसोईघर में अजनबी पंजों के निशान अंकित होने तथा दीवारों आदि पर उंगलियों के चिह्न दिखने तथा दूध का भरा गिलास पलभर में गायब होने की घटनाएँ घटती थीं।[3]

हॉलीवुड की फिल्म अभिनेत्री 'किम मनोवाक' ने इंग्लैण्ड में अपनी आउटडोर शूटिंग के लिए 'कैंटरबरी' के एक प्राचीन किले—'चिलहम कैसल' का स्थान चुना। "किम" एक दिन संगीत का कार्यक्रम टेलीविजन पर देख-सुन रही थी, कि अचानक उसके पैर संगीत की लहरों के साथ नृत्य करने लगे। उसे ऐसा लगा मानो किसी अदृश्य हाथों ने जबरन उसे पकड़ लिया है, और न चाहते हुए भी नृत्य करवा रही है। किम घबरा कर बेहोश होकर गिर पड़ी। होश में आने पर देखा तो वहाँ कोई नहीं दिखाई दिया।

१ अखण्ड ज्योति जुलाई ७७ में प्रकाशित घटना से पृ. २९

२ वही, जुलाई १९७७ में प्रकाशित घटना से पृ. २९

३ वही, जुलाई १९७७ में प्रकाशित घटना से पृ. २९

'किम' ने इसका जिक्र अपने साथी अभिनेता 'रिचार्ड जानसन' से किया तो उसने कहा कि यह तेरहवीं सदी के प्रसिद्ध राजा 'किंग जान' की प्रेतात्मा है। ११ अक्टूबर १२१६ को 'राजा जान' अपने दुश्मनों के चंगुल से भाग कर शरण लेने इसी किले में रुका था। दूसरे दिन एक खाई को पार करते समय नौका दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई थी। उसकी आसक्ति पिछले साढ़े सात सौ वर्षों से इस किले के साथ बनी हुई है। इसकी प्रतीति इस किले में रहने वालों को होती रहती है।[१]

ये और इस प्रकार की घटनाएँ प्रेतात्माओं तथा पुनर्जन्म (मरणोत्तर जीवन) के साथ ही कर्मकृत फल के अस्तित्व की सूचक हैं। मृत्यु के बाद भी जीवात्मा की अतृप्त आकांक्षाएँ तथा वासनाएँ कर्मजन्य संस्कारों के रूप में बनी रहती हैं। उनकी पूर्ति के लिए वह कर्मवशात् व्यन्तर देवों की जाति—प्रेतयोनि में जन्म लेता है। उसकी यह आसक्ति द्वेषमूलक ही नहीं होती, प्रेममूलक भी होती है।

प्रेतात्माओं द्वारा प्रियपात्र को अदृश्य रूप से सहायता

कभी-कभी यह आसक्ति इतनी गहरी होती है कि प्रेतात्मा अपने प्रियपात्र को अदृश्य रूप से सहायता भी देती है।

सन् १९६१ के जून मास की घटना है। स्ट्रामबर्ग का 'जेम केलघन' शराब के नशे में धुत होकर रात्रि के गहन अंधेरे में चला जा रहा था कि एकाएक पीछे से आवाज आई "रुको केलघन !" उसने पीछे मुड़कर देखा तो कहीं कोई दिखाई न दिया। अब भी आवाज गूँज रही थी। फिर उसे आवाज सुनाई दी—'बेटा' ! सहसा इस आवाज को सुनकर उसे अपनी मा का ध्यान आया, जो २७ वर्ष पूर्व मर चुकी थी। सोचने लगा—"क्या यह उसकी मां की प्रेतात्मा है ?" इस पर पुनः अदृश्य आवाज आई—"बेटा! तुम्हें इन (मद्यपान आदि) कुकृत्यों को छोड़ देना चाहिए। तुम नही जानते कि मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ रहा है। जब तक तुम अपने दुष्कृत्यों को नहीं छोड़ोगे, मुझे शान्ति नहीं मिलेगी।" माँ की इन बातो को सुनकर 'केलघन' का दिल दहल गया। उसने तत्काल मन मे सकल्प लिया—"आज से मैं कभी शराब नही पीऊँगा, तथा अपने आचरण को श्रेष्ठ बनाऊगा।" फिर केलघन ने उस अदृश्य प्रेतात्मा से कहा—'यदि तुम मेरी मा हो तो अपने हाथों से मुझे छूकर प्रतीति कराओ।' इतना कहते ही 'मा' की प्रेतात्मा ने अपना हाथ केलघन की कमीज की बांह पर रख दिया। मां के हाथ का चिन्ह कमीज की बांह पर उभर आया, जो आज भी लदन के परगेटरी म्यूजियम (हाउस ऑफ शैडोज) में सुरक्षित है।[२]

---

१ अखण्ड ज्योति जुलाई १९७९ मे प्रकाशित घटना से पृ. ५

२ अखण्डज्योति के जुलाई १९७९ मे प्रकाशित घटना से पृ. ६

जीवशास्त्री 'कैरिंग्टन' पहले मरणोत्तर जीवन को काल्पनिक मानता था, किन्तु एक घटना ने प्रेतात्मा और पुनर्जन्म के अस्तित्व में उसका विश्वास दृढ़ कर दिया। वह लिखता है—एक दिन जब मैं अपनी प्रयोगशाला से लौट रहा था तो एकाएक मुझे मेरा मृत मित्र 'इलियट' सामने से आता हुआ दिखाई दिया, मैंने सोचा कि कहीं मुझे भ्रम तो नहीं हो गया है ? मेरे मित्र को मरे ३ माह हो चुके हैं। मैं उसकी शवयात्रा में स्वयं रहा हूँ, इन्हीं आँखों से उसको दफन होता देखा है। फिर इलियट पुनः यहाँ कैसे आ गया ? तभी क्षीण-सी आवाज सुनाई दी— "मित्र ! मेरी पत्नी आर्थिक तंगी का जीवन जी रही है। मैंने उसके लिए एक लाख डालर जोड़कर अमुक तहखाने में रखे हैं। जिसकी चाभी गुप्त रूप से अमुक स्थान पर रखी है। आप उसे चुपचाप वह बता दें। आप से अधिक विश्वासपात्र और कोई नहीं है। इसीलिए यह बात आप तक पहुँचा रहा हूँ।" मैंने उसकी कही हुई बात की सत्यता का अनुभव किया, उसकी आवाज सुनी, रूप देखा, स्पर्श भी किया। इन तथ्यों पर से मरणोत्तर जीवन की सत्यता में मुझे कोई सन्देह या भ्रम नहीं रहा।[१]

प्रेतात्मा द्वारा अपनी उपस्थिति का चिन्ह

श्रीमती 'एलिस वैल' ने अपने पति स्व. कैनेडी का सन् १९६८ मे मरणोपरान्त जैसा चेहरा देखा था, वैसा ही हूबहू चित्र, एक दिन पहले खरीदे हुए नये बेलचे पर उभरा हुआ देखा। जहाँ कैनेडी का बिम्ब उभरा था, वहाँ छूकर देखा तो वह भाग गर्म था। आश्चर्यचकित एलिस वैल ने परामनोवैज्ञानिक 'डॉ. टिमोरी वेल जोन्स' से परामर्श किया तो उसने भी कैनेडी की प्रेतात्मा के रूप में उपस्थिति का स्वीकार किया। बेलचे का गर्म होना भी इस बात का प्रमाण है कि कैनेडी की प्रेतात्मा ही द्रवित होकर इस चित्र में उपस्थित है।[२]

अदृश्य सत्ता द्वारा मार्गदर्शन एवं सहयोग

अदृश्य सत्ता द्वारा मार्गदर्शन की, भविष्य की दुर्घटना से सावधान करने की, तथा सहायता करने की देश-विदेश की तथा अतीत और वर्तमान की कई सच्ची घटनाएँ मिलती हैं, जो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के तथा कर्म और कर्मफल के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। जिससे सम्बद्ध व्यक्ति अनिष्ट से बचने और अभीष्ट को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

---

१ अखण्ड ज्योति, मार्च १९७८ में प्रकाशित घटना से पृ. ४

२ अखण्डज्योति, जुलाई १९७९ मे प्रकाशित घटना से पृ. ७

महारानी विक्टोरिया के पति प्रिंस अलबर्ट मृत्यु के उपरान्त भी प्रिय पत्नी से सम्पर्क बनाये रहे और समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव देते रहे।

नेपोलियन जब सेंट हेलेना में निर्वासित जीवन बिता रहा था, तो उसकी मृत पत्नी जोसेफाइन की आत्मा ने उसे उसकी मृत्यु की पूर्व-सूचना दी थी।

प्रख्यात उपन्यासकार राजा राधिकारमण सिंह रियासतों-रजवाड़ों की समाप्ति के बाद धनाभाव से पीड़ित थे। उनकी पुत्री विवाह-योग्य हो गई थी। उनकी दिवंगत माता ने उन्हें मीडियम द्वारा जानकारी दी कि रत्न-आभूषण आदि महल की दक्षिणी दीवार मे गोशाला के छप्पर के पास गड़े हुए हैं। राजा साहब ने निर्दिष्ट स्थान पर खोदकर धन निकाला और चिन्तामुक्त हुए।[१]

फ्रांस के सम्राट हेनरी चतुर्थ एक दिन सन्ध्या समय घूम रहे थे, तभी एक छाया जैसी आकृति उन पर मंडराने लगी। हेनरी ने घबरा कर उससे पूछा—'तुम कौन हो ?' उस आकृति ने कहा—"मै प्रेतात्मा हूँ और यह बताने आया हूँ कि तुम्हारी मृत्यु शीघ्र ही एक षड्यंत्र के द्वारा होने वाली है। चाहो तो सुरक्षा-व्यवस्था कर लो।" परन्तु हेनरी के दरबारियों ने इसे सुना तो वे दिवास्वप्न कहकर हंसने लगे। किन्तु कुछ ही दिनों बाद प्रेतात्मा के संकेतानुसार हेनरी की हत्या हो गई।

'दि होल्ड्स' के सम्पादक 'मोरिस बारवानिल' का कथन है—इस दृश्य विश्व से परे भी एक विलक्षण विश्व है, जहाँ मृत्यु के उपरान्त जीवन है।"[२]

प्रेतात्मा द्वारा भावी घटना के संकेत

प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ कन्हैयालाल माणकलाल मुशी भारतीय पत्रिका, 'भवन्स जर्नल' आदि में पितरों से प्राप्त सहयोगो की चर्चा करते रहते थे। एक बार उन्होने लिखा कि बीजापुर जेल में उन्हें उस कोठरी मे रखा गया, जहाँ पहले फासी लगा करती थी। वहाँ एक मृतात्मा ने, जिसे वहीं फासी लगाई गई थी, उन्हे सूचना दी—"आप शीघ्र ही जेल से मुक्त होने वाले हैं, किन्तु जल्दी ही दुबारा जेल में भेजे जाएँगे।" वही हुआ।[३]

सम्राट् एडवर्ड सप्तम की पत्नी 'महारानी एलेक्जेण्ड्रा' पितरों से सम्पर्क करती रहती थी। एक बार एक पितर 'सेमान्स' ने उन्हें सूचित किया

---

१ अखण्ड ज्योति, नवम्बर ७६ पृ. ३८

२ वही, नवम्बर ७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३९

३ अखण्ड ज्योति मार्च १९७९ में प्रकाशित घटना से, पृ. ३५

कि तुम्हारे पति का कुछ दिनों के पश्चात् ही 'कोबे' में देहान्त हो जाएगा। महारानी दूसरे ही दिन 'कोबे' पहुँची तो वहाँ सम्राट् रोगशय्या पर मूर्च्छित थे। महारानी के पहुँचते ही उन्होंने आँखें खोलीं और फिर सदा के लिए आँखें मूंद लीं।[१]

हिन्दू धर्म में पितरों को मानने, पूजने और समय-समय पर उनके लिए कुछ दान देने का बहुत रिवाज है। वस्तुतः जिनमें पितरों के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा और सद्भावना होती है, उन्हें ही वे सहयोग प्रदान करते हैं। वे संकटों की पूर्व सूचना देते हैं, आसन्न खतरों से बचने का उपाय बताते हैं, तथा उन्नति-अवनति का पूर्व-ज्ञान भी करा देते हैं। यह जरूर है कि जिनके पुण्यकर्म प्रबल होते हैं, उनको वे सहायता देने में निमित्त बनते हैं। उन्हे पथनिर्देश, बहुमूल्य सुझाव एवं सत्कार्य के लिए प्रोत्साहन भी उनसे प्राप्त होता है।

प्रेत के माध्यम से अनेकों अविज्ञात जानकारियाँ प्राप्त

सर ओलिवर लॉज ने आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म आदि के अस्तित्व को आवश्यक अन्वेषणपक्ष मानकर 'साइकिक रिसर्च सोसाइटी' की स्थापना की। अपनी शोध दृष्टि का समुचित प्रयोग करके उन्होंने न केवल आत्मा और कर्म के अस्तित्व तथा मरणोत्तर जीवन की यथार्थता स्वीकार की, वरन् प्रेतात्माओं का साक्षात् करने तथा उनसे सम्पर्क करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। उनका पुत्र 'रेमण्ड' प्रथम विश्वयुद्ध में मारा गया था। उसकी मृतात्मा से सम्पर्क करने और उसके माध्यम से अनेकों अविज्ञात जानकारियाँ प्राप्त करने मे वे सफल हुए, जिन्हें जांचने-परखने पर पूर्णतया सत्य सिद्ध हुई।[२]

प्रेतात्मा का स्वीकार : ठोस प्रमाणों के आधार पर

उनके समकालीन सर विलियम क्रुक्स ने भी प्रेतात्मा सम्बन्धी अपने अन्वेषणों का विवरण 'रिसर्च इंनेट फेनोफिनम् ऑफ स्प्रिच्युएलिज्म' में प्रकाशित किया है। इसी तरह डॉ ए. रसल वालेस और सर विलियम वैरेट आदि ने भी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व किन्हीं किंवदन्तियों या पूर्व-प्रचलित मान्यताओं के आधार पर नहीं, वरन् उपलब्ध ठोस प्रमाणों के आधार पर स्वीकार किया है।[३]

---

१ अखण्ड ज्योति मार्च १९७९ में प्रकाशित घटना से पृ. ३४

२ वही, मार्च १९७९ में प्रकाशित घटना से पृ. ३३

३ वही, मार्च १९७६ पृ. १३

प्रेतात्माओं का अड्डा : अमेरिका का राष्ट्रपति भवन

अमेरिका के राष्ट्रपति भवन में समय-समय पर एब्राहिम लिंकन, राष्ट्रपति जैक्सन आदि पिछले कई राष्ट्रपतियों तथा उनकी पत्नियों की प्रेतात्माएँ डेरा डाले पड़ी रहती हैं। वे अपने सम्बन्धित व्यक्तियों को सहायता देने, परिस्थितियों को संभालने तथा अपनी प्रिय वस्तुओं की सुरक्षा करने के लिए बार-बार अपने अस्तित्व का परिचय देती रहती हैं। राष्ट्रपति मेडीसन की मृत-पत्नी अपने हाथ से लगाये हुए गुलाब के पौधों के रख-रखाव के बारे में मालियों को कई तरह के परामर्श देती थी। राष्ट्रपति ट्रूमैन को लिंकन का प्रेत दिखाई देता था।[१]

जार्ज लेथम द्वारा आत्मा और पुनर्जन्म के ठोस प्रमाण

विश्वविख्यात 'लाइट' पत्रिका के सम्पादक 'जार्ज लेथम' ने अपनी लेखमाला— 'मैं परलोकवादी क्यों हूँ ?' शीर्षक से कई पत्रो में प्रकाशित कराई थी। उनका पुत्र 'जॉन' फैलडर्स के मोर्चे पर महायुद्ध में मारा गया था। तोप के गोले से उसका शरीर टुकड़े-टुकड़े हो गया था। पर उसकी आत्मा ने पुनर्जन्म प्राप्त करके अपने पूर्वजन्म के पिता से सतत सम्पर्क बनाये रखा। लेथम ने लिखा— "मेरे लिए मेरा पुत्र स्वर्गीय जॉन अभी भी जीवित की तरह सतत सन्देश का आदान-प्रदान करता है।" उन्होने आत्मा और पुनर्जन्म की अपनी इस मान्यता को भ्रान्ति या भावावेश समझने वाले लोगों की शंकाओं का खण्डन करके ऐसे ठोस प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनके आधार पर मरणोत्तर जीवन पर सन्देह करने वालों को इस सन्दर्भ मे प्रामाणिक जानकारियाँ तथा तथ्य तक पहुँचने मे सहायता मिल सकेगी।"[२]

मृतात्माओं से वार्तालाप एवं सम्पर्क किसी माध्यम द्वारा

आजकल एक प्रयोग मृत-आत्माओं का आह्वान करने और उनसे उनकी शंकाओं एवं समस्याओं का समाधान कराने में माध्यम बनने का भी हुआ है। उनके माध्यम से दूसरे व्यक्ति अपने सम्बन्धी मृत-आत्माओं से बातचीत करते हैं। इन प्रयोगों के परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि वे निष्कर्ष प्रायः यथार्थ निकलते हैं।

स्वीडन के अठारहवीं शताब्दी के शरीरशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं खगोल विद्या के माने हुए विद्वान 'एमेनुअल' ने परलोक विद्या पर गहरी खोज की

१ अखण्ड ज्योति अक्टूबर १९७५ में प्रकाशित 'स्नेह और सहयोग भरी पितर आत्माएँ' से सार संक्षेप पृ. २२

२ वही, नवम्बर ७६ पृ. ३५

और अनेक प्रेतात्माओं से आत्मीयतापूर्ण स्नेह सम्पर्क स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। एक बार हॉलैण्ड के मृत राजदूत की विधवा पत्नी पति के द्वारा कहीं रखे हुए दस्तावेजों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए उनके पास आई। 'एमेनुअल' ने उक्त मृतात्मा का आह्वान करके उससे पूछकर वह स्थान बता दिया, जहाँ वे महत्त्वपूर्ण दस्तावेज रखे हुए थे।[1]

मैडम ब्लैवेटस्की द्वारा प्रेतात्माओं से सम्पर्क स्थापित

थियोसोफिकल सोसाइटी की जन्मदात्री मैडम ब्लैवेटस्की को बचपन से ही दिव्य आत्माओं का सान्निध्य प्राप्त होने लगा था। वे सहसा ऐसी तथ्यपूर्ण बातें कह बैठती थीं, जिन्हें कह पाना विशेषज्ञों के लिए ही सम्भव था। परन्तु बाद में जब प्रेतात्माओं के साथ प्रत्यक्ष सम्पर्क के प्रमाण देखने को मिले, तो परिवार और समाज वालों को उनकी विशेषता एवं सत्यता स्वीकार करनी पड़ी। मैडम ब्लैवेटस्की के कथनानुसार उनकी मंडली में सात सहयोगी प्रेत थे, जो समय-समय पर उन्हें उपयोगी परामर्श और मुक्त मन से सहयोग देते थे। उन्होंने अनेक व्यक्तियों की मृत-आत्माओं का आह्वान करके उनके माध्यम से उनकी समस्याओं को हल किया था।[2]

छह प्रेतों के सहयोग से आर्थर धनिक, कवि, लेखक एवं विद्वान

अमेरिका के कन्सास सिटी का एक निर्धन व्यक्ति था—'आर्थर एडवर्ड स्टिलबैल'। उसने अपनी जिंदगी ४० डालर प्रतिमास कुलीगीरी की नौकरी से प्रारम्भ की। किन्तु पूर्वजन्म के शुभकर्मोदय से १५ वर्ष की आयु में उसके साथ छह प्रेतों की मण्डली जुड़ गई, जो जीवन भर उसका साथ देती रही। उन ६ प्रेतों में तीन इंजीनियर, एक लेखक, एक कवि और एक अर्थ-विशेषज्ञ था। उनके साथ अनायास ही उसकी मैत्री हो गई। उनके मार्गदर्शन से वह उच्चकोटि का धनवान, विद्वान, लेखक और कवि बन गया, जबकि उसके पास न तो ज्ञान था, न अनुभव और न ही साधन। फिर भी सभी योजनाओं में वह आश्चर्यजनक रूप से सफल होता गया।[3]

प्रेत के माध्यम से सुकरात द्वारा सहस्रों व्यक्तियों को मार्गदर्शन

सुकरात को एक हितैषी प्रेत-आत्मा (डेमन) की सहायता से अतीन्द्रिय दर्शन की तथा आध्यात्मिक मार्गदर्शन देने की क्षमता प्राप्त हुई। वह प्रेत उन्हें अदृश्यरूप से आजीवन विशिष्ट मसलों के सम्बन्ध में

---

१ अखण्ड ज्योति, नवम्बर ७६ पृ. ३५

२ अखण्डज्योति नवम्बर १९७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३५

३ वही नवम्बर ७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३५

जानकारी एवं मार्गदर्शन देता रहता था। इसके माध्यम से सुकरात ने सहस्रों व्यक्तियों को सही मार्गदर्शन दिया और आत्म-कल्याण के पथ पर आरूढ़ किया।[१]

जार्ज बर्नार्ड शॉ की पत्नी 'पेट्रीशिया' अपने मृत-पति से एकान्त में बातें करती और उनकी (बर्नी की) प्रेरणा से वह साहित्य लिखा करती थी। 'जॉन ऑफ आर्क' ने बताया कि उसे विशिष्ट कार्य करने की शक्ति और प्रेरणा किसी अदृश्य प्रेतात्मा से मिलती है।[२]

साहित्य सृजन : प्रेतात्मा के सहयोग से

इसी प्रकार इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध लेखक 'तोएल कोवर्ड' ने अपनी रचना 'दि ब्लिथे स्पिरिट' को, अमेरिका की श्रीमती रूथ मांटगुमरी ने अपने ग्रन्थ 'ए वर्ल्ड बियोंड' को और श्रीमती जॉन कूपर ने 'टेल्का' आदि विविध उपन्यास किसी न किसी दिव्य अदृश्य आत्मा के मार्गदर्शन और सहयोग से लिखा है।[३]

चार्ल्स डिकेन्स अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'मिस्ट्री ऑफ एडविनहुड' के २० अध्याय लिख कर ही चल बसे थे। दो वर्ष बाद उनकी मृत-आत्मा ने 'थॉमस जेम्स' को माध्यम बनाकर शेष कार्य स्वय लिखवा कर पूर्ण किया।[४]

'एडवेचर्स ऑफ स्पिरिच्युएलिज्म' के लेखक बम्बईवासी पोस्टन जी. डी. महालक्ष्मीवाला ने ३ सितम्बर १९२५ को एक प्रसिद्ध परलोक विद्याविद् अमेरिकी डॉ. पी. वल्स की मृतात्मा का आव्हान किया एक सफेद कागज रखकर। मृतात्मा ने उस कोरे कागज पर अपने हस्ताक्षर किये, जो डॉ. पी. वल्स के जीवित अवस्था में किये गए हस्ताक्षरों से बिलकुल मिलते-जुलते थे।[५]

जज द्वारा परलोक विद्या का अध्ययन और तथ्योद्घाटन

प्रो. बी. डी. ऋषि इन्दौर में जज थे। उनकी धर्मपत्नी सुभद्रादेवी की मृत्यु ने उनमे मृतपत्नी से वार्तालाप की इच्छा जगाई। फिर वे इसी खोज मे लग गये। वे सफल हुए। फिर उन्होंने अपना पूरा जीवन परलोक विद्या के अध्ययन में लगा दिया। उन्होंने कई मृतात्माओ को बुलाकर अत्यन्त

---

१ अखण्ड ज्योति नवम्बर १९७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३७

२ वही, पृ. ३७

३ अखण्डज्योति नवम्बर ७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३६

४ वही, पृ. ३६

५ वही, नवम्बर ७६, मे प्रकाशित घटना से पृ. ३९

महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के समक्ष विभिन्न प्रमाणों सहित वार्तालाप किया—कराया था। मृतात्माएँ ऐसे तथ्य भी उद्घटित करतीं. जो नितान्त निजी होते।[१]

परलोकवाद पर विशिष्ट अध्ययन

ब्रिटेन के सम्मानित नागरिक 'सर आर्थर कानन डायल' ने अपने स्व. पुत्र डेनिस की मृतात्मा से सम्पर्क करके प्रेतलोक के बारे में बहुत-सी जानकारी एकत्रित की थी और उससे जनसाधारण को परिचित कराया था। "विज्ञान और मानव-विकास" तथा 'मैं आत्मा के अमरत्व में क्यों विश्वास करता हूँ ?" नामक पुस्तकों में मरणोत्तर जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।[२]

मृतात्माओं के आह्वान का अभिनव प्रयोग

प्रसिद्ध पत्रकार एवं शिक्षाशास्त्री पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी के पिता स्व. पं. द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी भी मृतात्माएँ बुलाने के प्रयोग करते थे। एक मेज पर वे पंचपात्र और एक चमची रख देते थे। मृतात्मा के आते ही पंचपात्र स्वयं बज उठता था।[३]

प्रेतात्मा ने स्वयं उपस्थित होकर अदालत में साक्षी दी

१७वीं शताब्दी के पादरी 'जेरेन्सी टेलर' ने अपनी संस्मरण पुस्तिका में प्रेतात्मा-सम्बन्धी आँखों देखा वर्णन किया है। एक बार पादरी 'बेलफास्ट' से 'डिल्स गेटो' घोड़े पर सवार होकर जा रहे थे। अचानक एक व्यक्ति उसके पीछे घोड़े पर बैठ गया। उसने अपना नाम 'हैडक जेम्स' बताते हुए कहा—"आप मेरी पत्नी तक सन्देश पहुँचा दें कि उसका नया पति शीघ्र ही उसकी हत्या करने वाला है।" पादरी ने उक्त महिला को यह सन्देश दिया तो उसे विश्वास ही न हुआ। किन्तु कुछ दिनों बाद उक्त महिला की हत्या कर दी गई। यह मुकद्दमा 'कैरिक फोरेंस' के न्यायालय में चला। पुलिस को उसके नये पति पर हत्या की शंका थी जिसकी साक्षी पादरी 'जेरेन्सी टेलर' ने प्रेतात्मा के शब्दों में दी थी। किन्तु मजिस्ट्रेट ने यह साक्षी अमान्य करते हुए कहा—"यदि यह सत्य है तो प्रेतात्मा स्वयं आकर इसकी साक्षी दे।" इस पर एकदम बिजली कड़की और एक हाथ निकला।

१ अखण्ड ज्योति, नवम्बर १९७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३९

२ वही मार्च १९७९ से पृ. ३३

३ अखण्डज्योति नवम्बर ७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ४०

उसने अदालत की मेज पर तीन बार जोर-जोर से थपकी दी। इस पर न्यायाधीश ने उक्त महिला के नये पति 'डेवीज' को अपराधी घोषित करके उचित दण्ड दिया।[1]

प्रेतात्मा अधिकारी व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है

महारानी विक्टोरिया आर. डी. लीज और जार्ज ब्राऊन की सहायता से अपने मृत पति प्रिन्स एलबर्ट की आत्मा से परामर्श और सहयोग लेती थी। क्योंकि अधिकांश प्रेतात्मा अधिकारी व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होती हैं। यदि उचित माध्यम से सम्पर्क स्थापित किया जा सके तो मरणोपरान्त भी कई प्रेतात्माएँ उचित परामर्श, सहयोग और सान्निध्य देने में आनाकानी नहीं करती।[2]

स्काटलैण्ड के राजा 'जेम्स चतुर्थ' को, उन्हीं का एक पूर्वज, जो प्रेतयोनि (व्यन्तर देवयोनि) में था, बार-बार दर्शन देता था। इंग्लैंड पर आक्रमण करते समय जेम्स चतुर्थ को उस प्रेत ने रक्तपात न करने की चेतावनी दी थी, मगर जेम्स ने उसे सुनी-अनसुनी कर दी। एक बार वह पुनः जब युद्ध के लिए चला तो उक्त प्रेत ने मना करते हुए कहा- "इस युद्ध से तुम जीवित न रह सकोगे।" परन्तु जेम्स माना नहीं, वह इस युद्ध में मारा गया।[3]

प्लेंचेट के माध्यम से प्रेतात्माओं का आह्वान

इसी प्रकार वर्तमान युग में मृतात्माओं का आह्वान करने की प्लेंचेट पद्धति भी पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को सिद्ध करती है। प्लेचेट के माध्यम से मृतात्माओं का आह्वान किया जाता है, उनके साथ सम्पर्क साधा जाता है और कुछ प्रश्न भी पूछे जाते हैं। उनके उत्तर इतने सही और प्रामाणिक निकलते हैं कि उनकी यथार्थता, पूर्वजन्म की सत्यता और आत्मा की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता।[4]

फोटो द्वारा सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व सिद्ध

वर्तमान युग में सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने के प्रयोग भी प्रारंभ हुए हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक 'किरलियान' दम्पति ने एक विशिष्ट प्रकार की फोटो-पद्धति आविष्कृत की है, उसके द्वारा वे सूक्ष्म शरीर के फोटो ले लेते हैं। इस

१ अखण्ड ज्योति, नवम्बर १९७६ मे प्रकाशित घटना से पृ. ३८
२ वही, नवम्बर १९७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ३८
३ वही, नवम्बर ७६, में प्रकाशित घटना से पृ. ३८
४ 'घट घट दीप जले' में प्रकाशित युवाचार्य महाप्रज्ञ के प्रवचन से पृ. ५८

प्रकार के फोटो में मरते हुए व्यक्ति के शरीर की कोई आकृति शरीर से निकलती है और बाहर जाती दिखाई देती है। इस प्रयोग ने आध्यात्मिक क्षेत्र में और विशेषतया पूर्वजन्म को प्रत्यक्ष सिद्ध करने में अभूतपूर्व क्रान्ति ला दी है। वह सूक्ष्मतर शरीर जैन कर्म-विज्ञान के अनुसार तैजस् युक्त कार्मण शरीर ही है। और तैजस् युक्त कार्मण शरीर ही कर्मों के अस्तित्व का प्रमाण है। फलतः कार्मण शरीर द्वारा यानी कृतकर्मों के विपाक के रूप में अगले जन्म में प्रवेश की बात भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।[1]

सूक्ष्म शरीर के फोटो से कर्म के अस्तित्व का प्रत्यक्ष समाधान

सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने की सफलता ने अब तर्क, युक्ति, अनुमान और आगम प्रमाण की परोक्ष जगत् की सीमा को बहुत पीछे छोड़ दिया। अब तो प्रेतविद्याविशारदों, परामनोवैज्ञानिकों एवं सूक्ष्म शरीर चित्रांकनकलाकारो ने प्रत्यक्ष जगत् की सीमा में पुनर्जन्म, पूर्वजन्म, आत्मा और कर्म के अस्तित्व का प्रत्यक्षवत् समाधान कर दिया है। सूक्ष्म शरीर के फोटो लेने में सफलता के कारण पुनर्जन्म और कर्म का अविनाभाव सम्बन्ध मानने मे भी किसी को कोई हिचक नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टि से पूर्वजन्म और पुनर्जन्म कर्म के अस्तित्व के मूल आधार मानने में कोई भी बाधक युक्ति या प्रमाण नहीं हैं।[2]

■

---

१ अखण्ड ज्योति, नवम्बर ७६ में प्रकाशित घटना से पृ. ५८

२ वही, पृ. ५९

७

कर्म अस्तित्व का मुख्य कारण : जगत्वैचित्र्य

जैन संस्कृति का उज्ज्वल धवल प्रासाद लाखों करोड़ों वर्षों से कर्मविज्ञान की सुदृढ़ भित्ति पर खड़ा है। जैन संस्कृति की प्रेरक प्रवृत्तियों, उसके मौलिक भावों एवं उसके अन्तस्तल को हृदयंगम करने के लिए उसके द्वारा व्याख्यायित कर्मविज्ञान को समझना परम आवश्यक है। जैनदर्शन अपने अकाट्य तर्कों, युक्तियों और प्रमाणों के आधार पर 'कर्म' के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

जगत् का वैचित्र्य : कर्मों के अस्तित्व का प्रबल प्रमाण

'कर्म' के अस्तित्व का सर्वाधिक प्रबल प्रमाण है—जगत् का वैचित्र्य, अर्थात्—जगत् के प्राणियों की विविधरूपता, उनके सुख-दुःखो की विभिन्नता, उनकी आकृति-प्रकृति-सस्कृति मे पृथक्ता, उनके संस्कारो एव विकारो के चयापचय, उनके स्वभाव और विभाव की दूरता-निकटता तथा एक ही जाति के प्राणियो के असंख्य प्रकार और असंख्य आकार 'कर्म' के अस्तित्व का स्पष्ट डिण्डिम-घोष करते हैं। 'अभिधर्मकोष' और ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य में भी इस लोक-विचित्रता तथा जीवो की विभिन्नताओं का कारण 'कर्म' को ही माना गया है।[1]

सिद्ध और ससारी जीवों के अन्तर का कारण : कर्म

इस विराट् विश्व मे चारो ओर दृष्टिपात, चिन्तनचञ्चुपात और विश्लेषण करने से यत्र-तत्र-सर्वत्र सर्वतोव्यापी विषमता, विविधता और विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। निश्चयदृष्टि से सभी जीव (समस्त आत्माएँ) स्वभाव और स्वरूप की अपेक्षा से समान है।[2] जैसा सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही एक निकृष्टतम निगोद के जीव का स्वरूप है। उसमें निश्चयदृष्टि से कोई भेद या कोई अन्तर नही है। फिर

---

१ (क) कर्मजं लोकवैचित्र्यम्। —अभिधर्मकोष ४/१

(ख) ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २/१/१४

२ सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया। —द्रव्यसग्रह

क्या कारण है कि एक जीव तो समस्त सांसारिक सुख-दुःखों से सर्वथा रहित है, जन्म-मरणादि दुःखों के कारणों से भी सर्वथा विमुक्त है, और दूसरा अभी कषायादि विकारों से लिपटा हुआ है । सांसारिक सुख-दुःखों से ग्रस्त है, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग अथवा इष्टसंयोग और अनिष्टवियोग में संवेदनशील बनकर राग और द्वेष के, आसक्ति और घृणा के, या मोह और द्रोह के झूले में झूल रहा है ?

एक सिद्ध परमात्मा है और दूसरा संसारी आत्मा है, इसका क्या कारण है ? "बृहदालोयणा" में श्रावक रणजीतसिंहजी ने इस अन्तर का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध होय ।
कर्म-मैल का आंतरा, बूझे विरला कोय ॥

वस्तुतः सिद्धजीव और संसारीजीव के स्वभाव (आत्मभाव), आत्म गुण, एवं स्व-रूप में निश्चयदृष्टि से सदृशता होने पर भी व्यवहार में इतना जो गहन अन्तर है, वह कर्मों के कारण है । सिद्धों की आत्मा परम विशुद्ध और समस्त कर्मों से रहित है, जबकि संसारी जीवों की आत्माएँ कर्ममल से लिप्त हैं । इन दोनों में अन्तर का कारण **'कर्म'** के सिवाय और कोई नहीं है ।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप में अशुद्धि का कारण : कर्म

जैनदर्शन का यह निश्चित सिद्धान्त है कि स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ एक हैं—समान हैं ।[१] आत्माओं की यह विभिन्नता, पृथक्ता, विविधता या विरूपता उसकी स्वरूपगत या निजगुणगत नहीं है, अपनी नहीं है । आत्मा तो शुद्ध सौ टंची सोने के समान अपने आप में शुद्ध है। जैसे—सौ टंची सोने की डलियों में कोई अन्तर नहीं होता । जिस किसी सर्राफ को दिखाइए, सौ टंचे सोने का दाम और भाव वह एक ही बताएगा। अध्यात्मजगत् के सिद्धहस्त जैन कवि श्री 'द्यानतरायजी' भी यही कहते हैं—

जो निगोद में सो मुझ मांही, सोई है शिव-थाना ।
'द्यानत' निहचे रंच भेद नहीं, जाने सो मतिवाना ॥
आपा प्रभु जाना, मैं जाना ।

अर्थात्—जो आत्मा का स्वरूप निगोद के जीव का है, वही मेरा है, और वही स्वरूप नारकों, तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवों की आत्मा का है तथा

१ एगे आया।—ठाणांग सूत्र १/१

मोक्षगत् मुक्त-सिद्ध आत्माओं का भी वैसा ही स्वरूप है । इसमें तिलभर भी भेद नहीं है । सम्यग्दृष्टि पुरुष निश्चयदृष्टि से इस तथ्य को भली-भांति जानता-मानता है कि मेरी आत्मा और सिद्धप्रभु की आत्मा में द्रव्य-दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है ।[१]

सांसारिक जीवों में विभिन्नता या विचित्रता विजातीय तत्त्व के कारण

प्रश्न होता है, द्रव्यदृष्टि या निश्चयदृष्टि से जब स्वरूप की अपेक्षा से विश्व के समस्त जीव (आत्माएँ) एक समान हैं, तब यह भेद डालने वाला, आत्माओं में विभिन्नता एवं विषमता पैदा करने वाला कौन-सा ऐसा विजातीय तत्त्व है, जो इनकी पृथक्-पृथक् आकृति-प्रकृति, स्वभाव की मात्रा में न्यूनाधिकता और आत्मगुणों में तथा चेतना के विकास में हीनाधिकता उत्पन्न कर देता है ?

इसका समाधान जैन कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है । उन्होंने बताया कि द्रव्यदृष्टि से अर्थात्—अपने मूलस्वरूप की दृष्टि से विश्व की सभी आत्माएँ शुद्ध हैं, एक-स्वरूप हैं, अशुद्ध नहीं हैं, किन्तु जो भी अशुद्धता है, विषमता, विसदृशता या विभिन्नता है, वह सब विभाव के कारण—पर्यायदृष्टि से है । जिस प्रकार दूध अपने आपमें शुद्ध है, परन्तु उसमें दही आदि की खटाई पड़ते ही उसकी पर्याय बदल जाती है, कई बार दूध फट जाता है । शुद्ध दूध से उसकी पृथक्ता खट्टे पदार्थ के संयोग के कारण होती है । इसी प्रकार जल का अपने आप मे शीतल स्वभाव है, किन्तु बाहर के तैजस् पदार्थों के संयोग से उसमें उष्णता आ जाती है । इसी प्रकार सौ टंची सोना अपने आपमें शुद्ध है, किन्तु उसमें मिट्टी और किट्टिका के मिल जाने से अशुद्धता आ जाती है । यही बात आत्मा के सम्बन्ध मे समझिए ।[२]

शुद्ध सौ टची सोने में बाहर के विजातीय तत्त्वों (मिट्टी, पीतल आदि) की खोट मिल जाने पर भी कोई व्यक्ति शुद्ध सोने की डली और खोट मिले हुए सोने की डली सर्राफ के पास बेचने हेतु ले जाएगा तो वह दोनों के मोल-भाव में बहुत ही अन्तर बताएगा । बेचने वाला यदि उससे कहेगा कि सोना-सोना तो सभी एक है, फिर इनके मूल्य एवं भाव मे इतना अन्तर क्यों बता रहे हो ? तब सर्राफ यही कहेगा—यह डली तो शुद्ध सोने की है,

---

१ (क) कर्म मीमांसा पृ. ६
(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. ५-६

२ कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. ५-६

परन्तु दूसरी डली में खोट मिली हुई है । इसलिए इन दोनों के मोल-भाव में कमी-वेशी होना स्वाभाविक है । मूल्य में इतना भेद मैं या सोना नहीं डाल रहे हैं, सोने की एक डली में जो खोट मिली हुई है, वही विजातीय तत्त्व यह भेद डाल रहा है । इसी प्रकार संसारी आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि विकारों की खोट मिली हुई है, इन विजातीय तत्त्वों का जो संयोग है, वही शुद्ध और संसारी आत्मा में भेद डाल रहा है ।[१] यह विभिन्नता या विचित्रता बाहर से ही आती है, अन्दर से नहीं। अंदर में तो प्रत्येक आत्मा में चैतन्य का शुद्ध प्रकाश देदीप्यमान है ।

आत्माओं में यह अशुद्धि सकारण है, अकारण नहीं

आत्माओं में यह अशुद्धि (खोट) सकारण अर्थात् सहेतुक मानी जाती है । यदि उस बाहर से आई हुई अशुद्धि को अहेतुक या अकारण मानी जाएगी, तब तो आत्मा में स्थायी रूप से सदा-सर्वदा कायम रहेगी, कभी मिट ही नही सकेगी, ऐसी स्थिति में आत्मा में सुषुप्त अनन्तज्ञानादि के असीम प्रकाश को कदापि अनावृत नहीं किया जा सकेगा, न ही आत्मा मे विराजमान परमात्म-तत्त्व को जगाया जा सकेगा । फिर सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय द्वारा आत्मा को परम विशुद्ध बनाने तथा मोक्ष की साधना भी निरर्थक दुष्पुरुषार्थ सिद्ध होगी । अतः जल में बाहर से आई हुई उष्णता के समान आत्मा में भी बाहर से आई हुई अशुद्धि सहेतुक-सकारणक माननी चाहिए, अकारणक नहीं । आत्मा पर आई हुई उस अशुद्धि को सकारणक मानने पर उस (जीव) के द्वारा रत्नत्रयसाधना में किया हुआ पुरुषार्थ सार्थक होता है, एक दिन वह आत्मा शुद्ध-बुद्ध मुक्त हो सकती है। उसमें सुषुप्त अनन्त ज्ञानादि का प्रकाश पुनः जागृत होकर जगमगा सकता है ।[२]

प्रश्न होता है—इस दृश्यमान विश्व में दो ही पदार्थ मुख्य हैं—जड़ (अजीव) और चेतन (अजीव आत्मा)। दोनों का अपना-अपना पृथक् अस्तित्व है, दोनों का स्वभाव, स्व-रूप और गुणधर्म अलग-अलग है । जीव और अजीव दोनों अपने मूलरूप में शुद्ध हैं। तब फिर संसारी आत्माओ में जो अशुद्धि, विकृति या विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसका क्या कारण है, कौन-सा हेतु है ? जैन मनीषियों ने इसका कारण बताया है— विजातीय पदार्थों का संयोग।

अशुद्धि सजातीय पदार्थों के संयोग से नहीं आती

सजातीय पदार्थों के संयोग से अशुद्धि या विकृति नहीं आती, अशुद्धि

---

१ कर्ममीमांसा पृ. ६-७

२ कर्ममीमांसा, पृ. ७

या विकृति तथा विभिन्नता आती है—विजातीय पदार्थों के संयोग से । प्रत्येक पदार्थ के अपने समान स्व-भाव, गुणधर्म और उसकी क्रिया से मेल खाने वाले पदार्थ सजातीय कहलाते हैं, जबकि उक्त पदार्थ के स्वभावादि से विपरीत स्वभाव आदि वाले पदार्थ विजातीय कहलाते हैं । जीव (आत्मा) के लिए अजीव (जड़-अचेतन) विजातीय पदार्थ हैं । जब जीव के साथ अजीव (जड़ या पुद्गल रूप अचेतन) का संयोग होता है, तब जीव (आत्मा) में विकृति, अशुद्धि या विभिन्नता उत्पन्न होती है ।[1]

भगवान् महावीर ने भी इसका समाधान करते हुए कहा था—"कर्म से ही जीव सुख-दुःख तथा शरीरादि नाना उपाधियाँ प्राप्त करता है ।"[2] "कर्म से ही जीव विभिन्न अवस्थाओं, विषमताओं तथा विविधताओं को प्राप्त करता है, अकर्म से नहीं ।"[3]

निष्कर्ष यह है कि कर्म नामक अजीव (पुद्गल) ही एक ऐसा विजातीय पदार्थ है, जो आत्माओं की शुद्ध स्थिति को भंग करके उनमे भेद डालता है तथा विभिन्नता, विसदृशता और विरूपता पैदा करता है ।

चौदह द्वारों के माध्यम से कर्मरूप कारण का विचार

अब देखना यह है कि किन-किन पदार्थों को लेकर कर्म के कारण जीवो को कैसी-कैसी नाना उपाधियाँ, विषमताएँ, विस दृशताएँ अथवा विभिन्नताएँ प्राप्त होती हैं ? जैन कर्म-मर्मज्ञो ने वे १४ द्वार बताये हैं—(१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) ज्ञान, (८) सयम, (९) दर्शन, (१०) लेश्या, (११) भव्य, (१२) सम्यक्त्व, (१३) संज्ञी और (१४) आहार । इन चौदह बातो को लेकर जीवों मे जो विभिन्नताएँ होती हैं,[4] उनका मूल कारण कर्म ही है ।

गति, इन्द्रिय और काय को लेकर कर्मकारणक विषमताएँ

(१) गति—हम देखते हैं कि सासारिक जीवों में मनुष्य, देव, नरक, तिर्यञ्च आदि अनेक प्रकार की विषमता, विसदृशता, विरूपता एवं विविधता

१ कर्म-मीमासा पृ. ७-८

२ 'कम्मुणा उवाही जायइ ।' —आचाराग १/३/१

३ "कम्मओणं जओ, णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई ।"
—भगवतीसूत्र १२/५

४ निम्नोक्त गाथा के अनुसार गति आदि १४ द्वारों को लेकर जीवों की कर्मजन्य विषमता होती हैः—
'गइ-इंदिय-काए जोए वेए कसाय नाणेसु ।
सजम दंसण लेस्सा, भव्व सम्मे सन्नि आहारे ॥' —चतुर्थ कर्मग्रन्थ गा. ९

प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है । इसका भी कोई न कोई कारण होना चाहिए। एक जीव नरकगति में पड़ा विविध यातनाएँ भोग रहा है, एक जीव देवगति में विविध वैषयिक सुखों का उपभोग कर रहा है, एक मनुष्य गति में सुख और दुःख, उन्नति और अवनति, विकास और ह्रास, तथा प्रेय और श्रेय के हिंडोले में झूल रहा है, और एक जीव तिर्यञ्च गति[1] में उत्पन्न होकर परवशता और पराधीनता के कारण नाना दुःख भोग रहा है । जीवों की इस गति को लेकर जो विभिन्नता है, उसका क्या कारण है ? जैन दार्शनिकों ने उन-उन जीवों के द्वारा विभिन्न प्रकार से बांधे हुए कर्मों को ही इसका कारण माना है ।

(२) **इन्द्रिय**—फिर देखिये, उन सांसारिक जीवों में इन्द्रियों की विभिन्नता । कोई एक (स्पर्श) इन्द्रिय वाला है, तो कोई दो इन्द्रियों वाला है, कोई तीन इन्द्रियों वाला जीव है तो कोई चार इन्द्रियों वाला और कोई पाँचों इन्द्रियों वाला है । जीवों को इन्द्रियों की प्राप्ति का यह अन्तर भी कर्म के अस्तित्व को स्पष्ट कर रहा है । इसके अतिरिक्त कोई अन्धा, काना, बहरा है, या लूला, लँगड़ा, टूँटा या अंगविकल है, कोई नकटा है। इन सब इन्द्रिय विकलताओं-विरूपताओं का मूल कारण भी कर्म के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता ।

(३) **काय**—इसके पश्चात् देखिये उनके काय (शरीर) में भी कितना अन्तर है ?[2] कई त्रसकाय (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव) हैं, जबकि दूसरे स्थावरकाय (पृथ्वीकाय से वनस्पतिकाय तक के जीव) अनन्त हैं । उनमें भी कोई पृथ्वीकायिक है, कोई अप्कायिक है, कोई तेजस्कायिक है, कोई वायुकायिक जीव है तो कोई वनस्पतिकायिक है । फिर इन्हीं षट्कायिक जीवों में प्रत्येक काय के असंख्य-असंख्य प्रकार हैं, वनस्पति-कायिक जीवों के अनन्त प्रकार हैं। इन षट्कायिक जीवों की काया को लेकर जो इतने-इतने अन्तर हैं, उनका कारण भी 'कर्म' के सिवाय और कोई नहीं हो सकता ।

मन-वचन-काया के योग को लेकर जीवों में विभिन्नता का कारण : कर्म

(४) **योग**—योग की दो परिभाषाएँ जैनाचार्यों ने की हैं—(१) मन-वचन-काया का व्यापार या प्रवृत्ति—प्रयोग (२) पुद्गलविपाकी

---

१ गतियों को लेकर विभिन्नता भी कर्मजन्य है—"जं णरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तयं कम्मं तं गदिणामं ।" —धवला १३/५/५

२ गति आदि के लक्षणों के लिए देखिये—तृतीय कर्मग्रन्थ विवेचन (मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी म.) पृ. ४-५

शरीरनामकर्म के उदय से मन-वचन-काया से युक्त जीव की कर्मों को ग्रहण करने में कारणभूत शक्ति को भी योग कहते हैं।[1] समस्त प्रकार के सांसारिक जीवों के मन, वचन और काया के योगों (मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों—व्यापारों) को लेकर भी विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। समस्त जीवों के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति करने की शक्ति, अशक्ति, उनकी चेतना के विकास-ह्रास की स्थिति, उनके त्रिविध योगों के प्रयोग की क्षमता-अक्षमता, तथा पंचेन्द्रिय, मन आदि त्रिविध बल, उच्छ्वास-निःश्वास और आयु, इन दशविध प्राणों की बलवत्ता-अबलवत्ता तथा इनकी योग्यता-अयोग्यता में जो तारतम्य दिखाई देता है, उसे भी कर्मजन्य माने-बिना कोई चारा नहीं है।

(क) मनोयोग—की अपेक्षा से कोई प्राणी मननशील है, मनस्वी है, विचारशील है तो कोई मनन-चिन्तन ही नहीं कर पाता, न ही मनस्वी और विचारक है। कोई विवेकी और तार्किक है, तो कोई विचारमूढ़ है, अविवेकी है। कोई भावुक है, सहृदय है, उदारभावों से युक्त है, तो कोई निष्ठुर, हृदयहीन और पाषाणवत् कठोर हृदय है, कृपण और अनुदार है। कोई मंदबुद्धि और मूर्ख है तो कोई प्रखरबुद्धि, प्राज्ञ विद्वान् एवं सुशिक्षित है। कोई संस्कारहीन और अनघड़ है, फूहड़ है तो कोई सुसंस्कारी, प्रतिभासम्पन्न और चतुर है। मन की प्रवृत्ति (योग) के ये असंख्य प्रकार कर्म के कारण ही सम्भव हैं।

(ख) वचनयोग—वाणी-प्रयोग को लेकर जीवों के असंख्य प्रकार हैं—पृथ्वीकाय आदि पांच प्रकार के स्थावरकाय जीवों को तो वाणी ही प्राप्त नहीं है। वे बिलकुल भाषा-पर्याप्ति से रहित हैं। द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को भाषा के लिए जिह्वा (रसना) तो मिली है, परन्तु उनकी चेतना बहुत ही अविकसित है, इसलिए वे जिह्वा से पदार्थ का स्वाद चखने के सिवाय अन्य उपयोग नहीं कर सकते। वे मूक ही रहते हैं। अब रहे चतुरिन्द्रिय प्राणी, वे भाषा का प्रयोग तो करते हैं, किन्तु उनकी भाषा अव्यक्त है। न वे किसी की बोली को सुन पाते हैं और न ही उसका उत्तर दे पाते हैं। सभी पंचेन्द्रिय जीवों को भाषा (वाणी) तो प्राप्त हुई है, किन्तु तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों की भाषा अव्यक्त है, स्पष्ट नहीं है, व्यवस्थित नहीं

---

१ (क) मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरिय-परिणामो।
जिहप्पणिजोगो जोगो त्ति, जिणेहिं णिद्दिट्ठो ॥ —पंचसंग्रह ८८

(ख) कर्मग्रन्थ विवेचन भा. ३ (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. ५

है । वे कानों से दूसरों की बोली या वाणी को सुन और समझ सकते हैं, परन्तु उसका उत्तर अस्पष्ट ध्वनि के रूप में ही दे सकते हैं । एक जाति के पशु अपने सजातीय की अव्यक्त भाषा को समझ सकते हैं । कुछ मनुष्य भी उनकी अव्यक्त-अस्पष्ट भाषा को समझ सकते हैं । मनुष्य को स्पष्ट भाषा की पर्याप्ति मिली है, परन्तु उनमें भी कोई मूक (गूंगा) और अस्पष्ट भाषी (मुम्मुण शब्द करने वाला) होता है, कोई व्यवस्थित रूप से भाषण या संभाषण नहीं कर सकता, कोई स्पष्ट नहीं बोल पाता, जबकि कोई भाषण-संभाषणपटु होता है, वाग्मी तथा वाचाल भी होता है । इस प्रकार वचनकृत इन विभिन्नताओं में कर्म को ही कारण समझना चाहिए ।

(ग) काययोग[१]— किसी को छोटा या बड़ा, सरोग या नीरोग, दुर्बल या बलवान, हृष्ट-पुष्ट या मरियल, स्फूर्तिमान अथवा सुस्त, सुडौल या बेडौल, लंबा या ठिगना, काला-कुरूप या गोरा-सुरूप शरीर मिलता है अथवा अमुक संहनन और अमुक संस्थान से युक्त शरीर मिलता है । अथवा किसी को कुत्ते-बिल्ली आदि पशुओं या मोर, चिड़िया आदि पक्षियों का या कीट-पतग, सांप आदि का शरीर मिलता है तो किसी को विभिन्न आकृति व चेष्टा वाला मानव शरीर मिलता है । जीवों के शरीरों में जो विसदृशता, विभिन्नता और विचित्रता दिखाई देती है, इसके लिए पूर्वकृत कर्म को कारण मानना ही पड़ेगा । अन्यथा अमुक आत्मा को अमुक प्रकार का शरीर मिलता है, ऐसी व्यवस्था का समाधान कर्म के अतिरिक्त नहीं हो सकता । न्यायदर्शन भी इस तथ्य को स्वीकार करता है । भौतिक तत्त्वों का शरीरोत्पत्ति का निरपेक्ष कारण मानने पर तो सब जीवों के शरीर और उनकी प्रवृत्ति एक-सी होनी चाहिए, वह नहीं दिखाई देती। इसलिए शरीरोत्पत्ति में विविधरूपता कर्मसापेक्ष माननी चाहिए।[२]

वेद को लेकर जीवों में विभिन्नता का कारण : कर्म

(५) वेद—सांसारिक जीवों में पुरुष और स्त्री, या नर और मादा के अन्तर के अतिरिक्त जीवों की कामवासना (वेद-वेदन) में जो अन्तर पाया जाता है, वह भी कर्म-कारणक मानना चाहिए । वेद की परिभाषा है—स्त्री, पुरुष या नपुंसक के साथ रमण करने की (मैथुन की) अभिलाषा।

---

१ देखिये—गोम्मटसार(जीवकाण्ड) में भी गति आदि को लेकर जीवों की विभिन्नता का मूल कारण कर्म को बताया गया है—

"गइ-इंदिएसु काये जोगे वेदे कसाय णाणे य ।
संजम-दंसण-लेस्सा-भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥" गा. १४१

२ (क) जैन दृष्टिए कर्म, पृ. २४
(ख) न्यायदर्शन सूत्र ३/२

सांसारिक जीवों में कोई स्त्री-वेदी है, कोई पुरुष-वेदी है और कोई नपुंसक-वेदी है। एकेन्द्रिय जीव नपुंसक-वेदी माने जाते हैं। शेष जीवों में तीनों ही प्रकार के वेद पाये जाते हैं। किसी में किसी वेद की अधिकता है, किसी में न्यूनता । इस प्रकार सांसारिक जीवों की कामवासना (इन्द्रियरमण करने की अभिलाषा) में भी बहुत तरतमता है। किसी की कामवासना अन्यन्त मन्द, किसी की तीव्र और तीव्रतर भी होती है । इन सब तरतमताओं का कारण कर्म के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? मनोवैज्ञानिक इसका चाहे कोई भी शारीरिक या मानसिक कारण बताएँ, अन्य दार्शनिक इसे चाहे आनुवंशिक या पूर्वजन्मीय संस्कारों को कारण मानें; मगर उन सब कारणों का मूल कारण कर्म को मानने पर ही पूर्ण मनःसमाधान होता है।

कषाय को लेकर जीवों में तारतम्य का कारण : कर्म

(६) कषाय—इसके पश्चात जीवों के क्रोध-मान-माया-लोभरूप चार कषायों की मात्रा में जो अन्तर पाया जाता है, वह भी अकारण नहीं है । किसी में क्रोध तीव्र होता है, किसी में लोभ, किसी में अहंकार (मान) तीव्र होता है, किसी में माया (छल-कपट) तीव्र होती है । किसी में ये चारों, अथवा इनमें से कोई एक, दो या तीन मन्द होते हैं, किसी में चारों ही कषाय अत्यन्त मन्द होते हैं। इस प्रकार जीवों मे कषायो की मन्दता, तीव्रता की मात्रा में न्यूनाधिकता पाई जाती है, उसका मूल कारण 'कर्म' को ही माने बिना कोई चारा नहीं ।[१]

कर्म ही जीवों के ज्ञान, संज्ञा, संज्ञित्व-असंज्ञित्वादि में अन्तर का मूल कारण

(७) ज्ञान—जीवों के ज्ञान में भी पर्याप्त अन्तर है । एक को परिपूर्ण केवलज्ञान है, किसी को अवधिज्ञान तक तीन ज्ञान हैं, किसी को मनःपर्यायज्ञान तक चार ज्ञान हैं और किसी को सिर्फ मति, श्रुत ये दो ही ज्ञान हैं । अथवा अनन्त जीवो में सम्यग्ज्ञान ही नही, दो कुज्ञान, अथवा तीन कुज्ञान ही हैं । नारकीय जीवों में सम्यग्दृष्टि के सिवाय सभी को

---

१ (क) जातिनामकर्म के अविनाभावी त्रस अथवा स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को 'काय' कहते हैं ।
—कर्मग्रन्थ तृतीय विवेचन (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. ५

(ख) आत्म प्रवृत्तेर्मैथुन-सम्मोहोत्यादो वेदः । —धवला १/१/१/४

(ग) "कषत्यात्मानं हिनस्तीति कषाय इत्युच्यते ।"
"चारित्र परिणामकषणात् कषायः ।" —राजवार्तिक ६/७

(घ) इन सबके लक्षणों के लिए देखिये— कर्मग्रन्थ भा. ३ विवेचन (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.), पृ. ५

विभंगज्ञान होता है, यही हाल देवों का है । उन्हें भी या तो तीन ज्ञान होते हैं, या फिर तीन कुज्ञान । मनुष्यों में अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान, इन तीन प्रत्यक्ष ज्ञानों को छोड़कर मति-श्रुत जैसे दो परोक्ष ज्ञानों (इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञानों) में भी असंख्य प्रकार के तारतम्य पाए जाते हैं। इन सबका कारण दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक या नास्तिक लोग चाहे बौद्धिक क्षमता-अक्षमता या ज्ञान-तन्तुओं की सबलता-दुर्बलता बता दें, परन्तु इन सबके मूल कारण जीवों के अपने-अपने 'कर्म' ही हैं।[१]

(८) संज्ञा,[२] संज्ञी—जैनशास्त्रों में चार प्रकार की संज्ञा बताई गई हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रह-संज्ञा । इन चारों संज्ञाओं में भी किसी जीव में कोई संज्ञा अधिक और कोई संज्ञा कम दिखाई देती है । किसी में ये चारों ही संज्ञाएं अत्यन्त मन्द होती हैं और किसी में अत्यन्त तीव्र । इस प्रकार के तारतम्य का कारण प्रत्येक जीव के अपने-अपने कर्म ही होते हैं ।

अथवा कई जीव समनस्क (लब्धि और उपयोगरूप भावमन व द्रव्य मनवाले—सज्ञी) होते हैं और निगोद आदि के अनन्त जीव अमनस्क (द्रव्यमन से रहित—असज्ञी) होते हैं । समनस्क जीवों की मानसिक चेतना के विकास में भी अगणित प्रकार का अन्तर पाया जाता है। मन के साथ चित्त, बुद्धि और हृदय का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिए इन्हें भी जैन-आगमों मे मन के ही अन्तर्गत मान लिया गया है । इस दृष्टि से एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय जीवों तक में भावमन होने पर भी उनकी मानसिक चेतना, बौद्धिक स्फुरणा, चित्तीय एकाग्रता, आदि कई बातों में बहुत अन्तर पाया जाता है ।

संयम, दर्शन और लेश्या को लेकर जीवों में विभिन्नता भी कर्म के कारण

(९) संयम[३]—संयम पांचों इन्द्रियों पर नियंत्रण का नाम है । संसार में कई जीव ऐसे हैं, जिनका इन्द्रियों पर कोई नियंत्रण नहीं है, कुछ जीव ऐसे

---

१ ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्त्व तेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानम्। —अनुयोगद्वार टीका

२ (क) संज्ञिनः समनस्काः ।— तत्त्वार्थ सूत्र

(ख) आहारादि-विषयाभिलाषः संज्ञा । —सर्वार्थसिद्धि २/४

(ग) णो इंदिय आवरण खओवसमं, तज्जबोहणं सण्णा ।
सा जस्सा सो दु सण्णी इदरो सेसिंदियअवबोहो ॥
—गोम्मटसार (जी.) ६३०

३ (क) चउव्विहे संजमे—मणसंजमे, वइसंजमे, कायसंजमे, उवगरणसंजमे ।
—स्थानांग ४/२

(ख) गरहा-संजमे, नो अगरहा संजमे । —भगवती १/९

हैं, जिनका सीमित नियंत्रण है और थोड़े-से ऐसे महाव्रती हैं, जिनके वश में उनकी इन्द्रियाँ हैं। सावद्य (पापमय) प्रवृत्ति पर पापजनक हिंसादि प्रवृत्तियों पर नियंत्रण को भी संयम कहते हैं। इस प्रकार का सराग-संयम भी कुछ थोड़े-से साधु-साध्वियों में होता है, जो पंचमहाव्रतरूप संयम में प्रवृत्त होते हैं, और समस्त सावद्य व्यापारों से निवृत्त होते हैं । कई गृहस्थ संयमासंयमी है, जो अणुव्रतों का पालन करते हैं। वे आंशिक रूप से संयम में प्रवृत्ति करते हैं। इसके सिवाय अनन्त जीव असंयम में पड़े हैं । उनमें भी बहुत तारतम्य है। यह सब संयम-असंयम को लेकर जो तारतम्य है, उसका मूल कारण शुभाशुभ कर्म का उदय, क्षय या क्षयोपशम ही है।

(१०) **दर्शन**—पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके, केवल सामान्य अंश का निर्विकल्प रूप से ग्रहण (ज्ञान) करना दर्शन[1] कहलाता है। दर्शन को लेकर जीवों में अनेक प्रकार के भेद हैं। चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के चक्षुदर्शन होता है । वह एकेन्द्रिय से त्रीन्द्रिय तक के जीवों के नहीं होता । इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय स्पर्शन, रसन और घ्राणेन्द्रिय से दर्शन भी क्रमशः एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय जीवों को होता है । श्रोत्रेन्द्रिय से दर्शन सिर्फ पंचेन्द्रिय जीवों को होता है । और अवधिदर्शन तो नारकों और देवों को तो जन्म से होता है । शेष पंचेन्द्रिय जीवों में से किसी विरले ही मनुष्य या तिर्यंच को होता है । और केवलदर्शन तो वीतराग केवली को ही होता है । दर्शन को लेकर जीवों में इतनी विभिन्नता और विसदृशता का कारण भी कर्म के उदय, क्षय या क्षयोपशम को ही समझना चाहिए ।

(११) **लेश्या**[2]—लेश्या से आत्मा कर्मों से श्लिष्ट—लिप्त होती है । कषायोदय से अनुरंजित होने पर आत्मा (जीव) के जैसे-जैसे परिणाम होते हैं, वैसी-वैसी लेश्या उसकी होती जाती है । इस दृष्टि से कृष्ण, नील, कापोत आद तीन लेश्याएँ पहले से लेकर छठे गुणस्थान वाले जीवों तक में पाई जाती हैं । तेजोलेश्या और पद्मलेश्या आदि के सात गुणस्थानों में होती हैं, और शुक्ललेश्या में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव होते हैं । इसके अतिरिक्त किसी में कृष्ण, किसी में नील, किसी में कापोत

---

१ दर्शन सामान्यावबोध लक्षणम् । —षड्दर्शनसमुच्चय २/१८

२ (क) कषायानुरंजिता योगप्रवृत्तिः लेश्या ।

(ख) लिप्पइ अप्पा कीरइ एयाए पुण्ण-पावं च ।.....
जीवोत्ति होइ लेस्सा, लेस्सागुण जाणमक्खया ॥ —पंचसंग्रह १४२

और किसी जीव में तेजोलेश्या और किसी में पद्मलेश्या अधिक होती है। यह जो जीवों में लेश्याओं का तारतम्य है, वह भी कर्म के कारण है।

भव्य, सम्यक्त्व और आहार की अपेक्षा से कर्मकृत विभिन्नता

(१२) भव्य—जिस जीव में मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता हो, उसे भव्य[१] कहते हैं, जिसमें यह योग्यता न हो, वह अभव्य कहलाता है। अभव्य की अपेक्षा भव्य अधिक हैं। अभव्य का प्रथम गुणस्थान है, शेष तेरह गुण-स्थान भव्य जीवों के हैं। परन्तु उनमें भी एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक के जीवों में मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता नहीं है। पंचेन्द्रिय जीवों में भी भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीव हैं। मनुष्यों में भी कई आसन्न भव्य होते हैं, कई दूरभव्य। इस प्रकार भव्य-अभव्य को लेकर कर्मकृत विभिन्नता पाई जाती है। कहीं कर्म का अत्यन्त निबिड़ उदय होता है इस कारण जीव अभव्य ही बना रहता है, कहीं कर्मों के क्षय—क्षयोपशम से जीव भव्य होते हैं। जब तक मोक्ष न हो जाय तब तक सभी जीवों का एक या दूसरे रूप में कर्म से सम्बन्ध रहता है।

(१३) सम्यक्त्व[२]—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को लेकर भी कर्मकृत विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। सम्यक्त्व के भी कई भेद हैं—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि तथा इसके विपरीत मिथ्यात्व के भी पांच तथा पच्चीस भेद होते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व को लेकर भी जीवों में कर्मकृत विविधता होती है। सम्यक्त्वमोहनीय, मिथ्यात्व-मोहनीय एवं मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से कहीं त्रिविध मिथ्यात्व को लेकर और कहीं इन तीनों के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से जीवों की विभिन्न स्थितियाँ बनती हैं। इन विभिन्नताओं का मूल कारण कर्म है

(१४) आहार[३]—इसी प्रकार आहार और अनाहार को लेकर भी जीवों की कई विभिन्नताएँ बनती हैं। आहार कहते हैं—शरीरनामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमनरूप बनने योग्य नोकर्म-वर्गणा के ग्रहण को। अथवा तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को भी

---

१ कर्मग्रन्थ भा. ३ विवेचन (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. ६

२ छदव्व णवपयत्था सत्त तच्च निद्दिट्ठा।
सद्दहइ तत्ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥ —दर्शनपाहुड १/२

३ (क) कर्मग्रन्थ भा. ३ विवेचन (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. ७
(ख) त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्य-पुद्गल-ग्रहणमाहारः।
—सर्वार्थसिद्धिः २/३०

आहार कहते हैं । आहार ग्रहण करने वाले आहारक जीव के प्रथम गुणस्थान से लेकर तेरहवें सयोगि केवली पर्यन्त १३ गुणस्थान होते हैं, अनाहारक जीवों के पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ ये ५ गुणस्थान होते हैं । एक गति से दूसरी गति में जाते हुए जीव एक या दो अथवा तीन समय तक अनाहारक रहते हैं । इस प्रकार आहारक और अनाहारक को लेकर जीवों की विभिन्नता भी कर्मकृत होती है ।

निष्कर्ष यह है कि इन चौदह मार्गणा—द्वारों को लेकर जीवों की विभिन्न स्थितियाँ होने का मूल कारण कर्म है ।

आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ, कर्मों के कारण

आत्मा की इन विभिन्न अवस्थाओ को कर्मकृत बताते हुए तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में भी कहा गया है—"जिस प्रकार मल से आवृत मणि की अभिव्यक्ति विविध रूपों में होती है, उसी प्रकार विविध (ज्ञानावरणीयादि) कर्मों (कर्ममलों) से आवृत आत्मा की भी विविध अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं ।"[१]

चौरासी लाख जीवयोनि के अनन्त प्राणियों की कर्मकृत विभिन्न अवस्थाएं

इसके अतिरिक्त विश्व के विशाल रंगमंच पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो हमे अनन्त-अनन्त जीवों की सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, सौभाग्य-दुर्भाग्य, सुस्वर-दुःस्वर, आदेय-अनादेय, सुगति-दुर्गति, सुजाति-दुर्जाति, सुस्पर्शवत्ता-दुःस्पर्शवत्ता, सुरसता-विरसता, सुगन्धिमत्ता- दुर्गन्धिमत्ता, अनुकूलता-प्रतिकूलता, इष्टसयोग-अनिष्टसयोग, इष्टवियोग-अनिष्टवियोग आदि विभिन्न अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती हैं।[२] मनुष्यों मे ही नहीं कुल चौरासी लाख जीवयोनि के प्राणियों मे भी विचित्रता और विसदृशता देखी जाती है।

मनुष्य जाति के विभिन्न जीवनक्षेत्रों में विभिन्नताएँ कर्मकृत हैं

इनमे से एक मनुष्य जाति को ही ले लीजिए। उसमें भी अगणित प्रकार की विभिन्नताएँ और विषमताएँ प्रतीत होती हैं। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में ही नहीं, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक, आर्थिक एवं आध्यात्मिक-नैतिक जीवन में भी नाना प्रकार की भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।[३]

---

१ मलावृतमणेर्व्यक्तिर्यथाऽनेकविधेक्ष्यते ।
कर्मावृतात्मनस्तद्वत् योग्यता विविधा न किम् ?" —तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक १९१

२ देखिये—नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली विभिन्न कर्म प्रकृतियों का वर्णन—प्रथम कर्मग्रन्थ (विवेचन) (पं. सुखलालजी) पृ. ५० से ८९ तक

३ ज्ञान का अमृत (प. ज्ञानमुनिजी) पृ. २७ से २८ तक

(१) **व्यक्तिगत जीवन** में कोई व्यक्ति अपने आप में सरल है, कोई कुटिल है, कोई उदार है तो कोई अनुदार है, कोई लोभी है तो किसी मे लोभ अत्यन्त मन्द है, कोई तीव्र क्रोधी है तो कोई मन्द-क्रोधी है। किसी में तीव्र अहंकार है तो किसी में अहंकार की मात्रा अत्यन्त कम है। कोई छल-कपट करने में प्रवीण है, तो कोई छल-कपट से दूर रहता है। वैयक्तिक जीवन की इन विभिन्न अवस्थाओं का मूल कारण कर्म के वैविध्य के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।

व्यक्तिगत भिन्नता का मूल आधार : कर्म या आनुवंशिक संस्कार ?

कर्मविज्ञान, मनोविज्ञान और शरीरशास्त्र का तुलनात्मक विश्लेषण करते हुए श्री रतनलाल जैन ने अपने लेख में लिखा है—"वैयक्तिक भिन्नता भी प्रत्यक्ष देखी जा सकती है । कुछ व्यक्ति गोरे होते हैं, कुछ काले, कुछ बौने होते हैं, कुछ लम्बे । कतिपय व्यक्ति बेडौल होते हैं, कुछ सुडौल । कई प्रखर-बुद्धि के धनी होते हैं, कोई मन्दबुद्धि। स्मरणशक्ति और अध्ययन (अधिगम) शक्ति या ग्रहणशक्ति भी सबकी समान नहीं होती। सबका स्वभाव भी एक-सा नहीं होता । कुछ अतिक्रोधी होते हैं तो कई शान्तप्रकृति के होते हैं । कुछ लोग प्रसन्न रहते हैं, कुछ सदा मायूस-उदास रहते हैं। कई लोग निःस्वार्थ वृत्ति के होते हैं, तो कई तुच्छ स्वार्थपरायण।[१]

निष्कर्ष यह है कि कर्मशास्त्र में इस प्रकार की वैयक्तिक भिन्नता और विचित्रता का मूल कारण कर्म को ही माना गया है, आनुवंशिक संस्कारो को नही ।

(२) **पारिवारिक जीवन** में भी अनेक विभिन्नताएँ हम प्रत्यक्ष देखते हैं। कई लोगो को अतीव सुसंस्कारी, धार्मिक, कुलीन, उदार या मानवता-परायण तथा नैतिक नियमो का पालक परिवार मिलता है, तो किसी को मिलता है—कुसस्कारी, पापाचार-परायण, धर्म-कर्म से दूर, अनुदार, मानवता-विहीन, नीति-धर्म के नियमों की उपेक्षा करने वाला तथा कुल-परम्परा को ताक में रख देने वाला परिवार। कई व्यक्तियों को सुसंस्कारो की कमी के कारण, धर्म-कार्यों के प्रति उदासीन, किन्तु पापकर्मों से दूर, सिर्फ नीति-नियम-परायण परिवार मिलता है। आनुवंशिक या पैतृक संस्कार पारिवारिक विभिन्नताओं के मूल कारण नहीं हो सकते । "उत्तराध्ययन सूत्र" में बताया गया है कि "जीव पूर्वकृत पुण्यकर्मों के

१ देखिये श्रमणोपासक के १०/८/८९ के अक मे श्री रतनलाल जैन का 'कर्म की विचित्रता : मनोविज्ञान के सन्दर्भ में' लेख ।

फलस्वरूप ऐसे परिवार में जन्म लेते हैं, जहाँ उन्हें उत्तम खेत, सुन्दर गृह, स्वर्णादि धन, पालतू पशु और वफादार दास आदि मिलते हैं । तथा जहाँ (मनुष्यलोक में) वे सन्मित्रों से युक्त, उच्चज्ञातिमान्, उच्चगोत्रीय, सुन्दर, सुरूप, नीरोग, महाप्राज्ञ, कुलीन, यशस्वी, प्रतिष्ठित एवं बलिष्ठ होते हैं।[१]

इसके विपरीत अन्य कई लोगों को ऐसा परिवार मिलता है, जहाँ जीवन-यापन के सुसाधनों के अभाव मे वे पीड़ित, शोषित, पददलित एवं अभिशप्त जीवन जीते हैं । इससे भी बढ़कर विचित्र एवं आश्चर्यजनक बात यह है कि कई लोगो को कुसंस्कारी, धर्म-सत्कर्म-विहीन, पापाचारपरायण, नैतिकता से भ्रष्ट, मानवता-विहीन, अनुदार एवं घृणित परिवार मिलता है, किन्तु वैसे परिवार मे जन्म लेने पर भी कुछ व्यक्ति अहिंसक, सच्चरित्र, उदारस्वभाव के एवं धर्मनिष्ठ निकलते हैं। वे उक्त परिवार के पापाचरण से उदासीन एवं दूर रहते हैं। जैसे—राजगृह-निवासी कालसौकरिक का पुत्र सुलस कसाई-कर्म से बिलकुल उदासीन, पापभीरु एवं अहिंसापरायण रहा । इसी प्रकार हरिकेशबल मुनि को अपने गृहस्थ-जीवन का परिवार चाण्डालकुल वाला, कुसंस्कारी एवं मानवताविहीन मिला था, किन्तु वह अपने पूर्वकृत शुभकर्म के कारण उसी परिवार मे रहकर मृदुस्वभाव का एवं निर्लिप्त बना ।[२]

आशय यह है कि विभिन्न प्रकार के परिवार का मिलना तो पूर्वकृत कर्मजन्य ही है, आनुवंशिकताजन्य नहीं ।

(३) सामाजिक जीवन—सामाजिक जीवन मे नाना प्रकार की विसदृशताएँ पाई जाती हैं। समाज समविचार-आचारशील मनुष्यो का समूह होता है । परन्तु वह भी अनेक जातियो—उपजातियों, कौमों, वशों और कुलों तथा अनेक वर्णों, खानदानियो और बिरादरियो मे बँटा हुआ है । फिर प्रत्येक जाति (ज्ञाति), वंश, कुल, खानदान और बिरादरी आदि के रहन-सहन, संस्कार, परम्परा, रीति-रिवाज, धर्म-सम्प्रदाय (धर्मसघ) गत सस्कार आदि मे बहुत ही अन्तर पाया जाता है ।

कई जातियों, कौमो एव धर्म-सम्प्रदायो (पंथों) मे पशुबलि, नरबलि, कुर्बानी (पशुवध), मांसाहार, मद्यपान आदि की क्रूर, अमानवीय एव घृणित हिंसक प्रथाएँ हैं तो कई जातियों, कौमों, धर्मसम्प्रदायों या वंश परम्परा में मद्य, मांस, पशुबलि, आदि क्रूर हिंसक प्रथाएं बिलकुल नहीं है ।

---

१ उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३ गा. १६-१७-१८

२ (क) आवश्यक कथा,

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र अ. १२

कई समाज अकारण ही या सामान्य कारणवश दूसरों से लड़ने-भिड़ने और सत्ता हासिल करने में अपना गौरव समझते हैं, जबकि कई समाज शान्ति से जीवन-यापन करना पसन्द करते हैं। कई समाज बहुत ही सात्विक ढंग से अल्प-आरम्भ और अल्पपरिग्रह से अपना गुजर-बसर करते हैं, जबकि कई समाज बहुत ही आडम्बर, प्रदर्शन और ठाठ-बाट से महारम्भ और महापरिग्रह से जीवन बिताने में अपनी शान-शौकत समझते हैं।[१]

इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से सम्मानित और प्रतिष्ठित है। उसे समाज का अध्यक्ष या महामंत्री बनाया जाता है। वह समाज की श्रद्धा का केन्द्र बन जाता है। जबकि किसी को अध्यक्षादि पदों से च्युत कर दिया जाता है। उसके प्रति अविश्वास-प्रस्ताव पारित करके उसे समाज या संस्था से बहिष्कृत कर दिया जाता है। वह समाज में घृणा एवं उपहास का पात्र बन जाता है। इन और ऐसी ही सामाजिक विषमताओं या विभिन्नताओं का मूल कारण कर्म को ही मानना पड़ेगा।[२]

(४) **राष्ट्रीय जीवन**—राष्ट्रीय जीवन में भी नाना प्रकार के विभेद दृष्टिगोचर होते हैं। एक ही राष्ट्र कई प्रान्तों, प्रखण्डों, प्रदेशों, जनपदों, पंचायतों, जिलों आदि मे बंटा हुआ होता है। फिर प्रत्येक राष्ट्र की ही नही, उसके अन्तर्गत प्रान्त आदि की वेशभूषा, प्रकृति, संस्कृति, सभ्यता, शिष्टाचार, भाषा आदि के साथ-साथ उनकी प्रकृतिगत क्रूरता-सौम्यता, मानवीयता-अमानवीयता, देशद्रोह-देशमोह, राष्ट्रभक्ति-अभक्ति, वफादारी-गैरवफादारी, निर्बलता-सबलता, दुर्व्यसनता-दुर्व्यसनमुक्ति आदि विभिन्नताएँ दृष्टिपथ में आती हैं। उनका कारण उस-उस राष्ट्र या प्रान्त में जन्मे हुए लोगों के पूर्वकृत कर्म ही हो सकते हैं।

(५) मनुष्यो का **साम्प्रदायिक जीवन**[३] भी विभिन्न सम्प्रदायों, मजहबों, मतो-पथो का अजायबघर बना हुआ है। उसमें वर्तमान में धर्म की मात्रा प्रायः कम और पारस्परिक सम्प्रदायादिगत राग-द्वेष, ईर्ष्या, आसक्ति, मोह तथा प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा की लालसा, पदों और उपाधियों की तमन्ना, दूसरे सम्प्रदायादि की निन्दा, आलोचना, अप्रतिष्ठा, आक्षेप-प्रत्याक्षेप, खण्डन

---

१ कर्मग्रन्थ भा. १, (विवेचन पं. सुखलालजी) पृ. ३३

२ ज्ञान का अमृत, पृ. २८

३ (क) ज्ञान का अमृत, पृ. ३८

(ख) कर्मवाद : एक पर्यवेक्षण (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) (धर्म और दर्शन) पृ. ४३

आदि के आधार पर अपने सम्प्रदायादि की पूजा-प्रतिष्ठा में वृद्धि की बुद्धि, दूसरे सम्प्रदायादि के प्रति द्रोह, घृणा, अश्रद्धा, बदनामी, आदि दुर्भावना फैलाना आदि के कारण बंधने वाले अशुभ (पाप) कर्मों की ही मात्रा अधिक होती है। इससे साम्प्रदायिक जीवन से जो शान्ति, समाधि, मनःस्थिरता, अहिंसादि की निष्काम साधना, बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण द्वारा आत्मशुद्धि आदि की उपलब्धि होनी चाहिए, उसकी अपेक्षा अशान्ति, असमाधि, हिंसादि, बाह्य निष्प्राण कर्मकाण्डों का घटाटोप, आडम्बर, प्रदर्शन, सुख-सुविधा, सुखशीलता, सकाम साधना आदि ही दृष्टिगोचर होते हैं, जो कर्ममुक्ति के नहीं, कर्मवृद्धि के कारण होते हैं। साम्प्रदायिक जीवन की इन विभिन्न विकृतियों—विरूपताओं का कारण भी कर्मकृत मानना चाहिए।

(६) इसके अतिरिक्त मनुष्यों के **आर्थिक जीवन** मे नाना प्रकार की विभिन्नताएँ प्रतीत होती हैं। कोई अत्यन्त दरिद्र है, और धनाभाव के कारण दुःखी एवं अशान्त है, तो कोई धनसम्पन्न है, उसके पास सुख-साधनो की प्रचुरता है। कोई व्यक्ति अनायास ही किसी जरिये से प्रभूत धन प्राप्त कर लेता है, और कोई व्यापार-धंधे में अपार परिश्रम करने पर भी घाटे ही घाटे मे रहता है। किसी व्यक्ति को जन्म लेते ही पिता की सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त हो जाता है, तो किसी को धन-सम्पन्न पिता के होने पर भी पिता की सम्पत्ति में से जरा भी हिस्सा नही मिलता। किसी को धन मिलने पर भी वह उसे ऐश-आराम, मौज-शौक, व्यभिचार, कुमित्रो की सगति मे या निरर्थक कार्यो मे उड़ा देता है अथवा बीमारी, अगविकलता आदि के कारण धन या साधनो का उपभोग नही कर पाता; तो कोई धन प्राप्त होने पर धर्म-प्रचार, अहिंसा-प्रचार, धर्म-शिक्षणसस्कार, तथा अन्यान्य सत्कार्यों में, पात्रों और सुपात्रों को दान देने में, अभावग्रस्तों को सहयोग देने में, अभयदान, औषधदान आदि में उस धन का सदुपयोग करता है। एक की भावना अल्पपरिग्रह से सादगी और आडम्बररहित जीवन बिताने की है, दूसरे की भावना प्रचुर धन से ठाठ-बाट, आडम्बर, तड़क-भड़क, जुए तथा फैशन एव विलास मे अफलातून खर्च करके समाज मे अपनी धाक जमाने की है। आर्थिक जीवन में ये और इस प्रकार की विषमताएँ व्यक्ति के शुभाशुभ कर्मो को स्पष्ट द्योतित कर रही हैं।

(७) इसी प्रकार मनुष्यो के आध्यात्मिक और नैतिक जीवन को लीजिए, इसमे भी असंख्य विभिन्नताएँ हैं। एक-एक मनुष्य की मानसिक, बौद्धिक एव चैतसिक अगणित पर्यायें होती हैं। इसीलिए आचारागसूत्र मे कहा गया है—मनुष्य का मन अनेक विकल्पो वाला है।[१] एक घंटा पहले

---

१ "अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे।" —आचाराग सूत्र श्रु. १, अ. ३, उ. २

उपवास करने का मन होता है, एक घंटे बाद रसोईघर में खाद्य पदार्थ की भीनी-भीनी सुगन्ध आई, किसी ने थोड़ी-सी मनुहार की, बस, भोजन करने का मन हो गया। इस प्रकार एक व्यक्ति का मन एक घंटे में नहीं, अपितु एक-एक क्षण में बदल जाता है। बुद्धि का निर्णय भी बदल जाता है। चित्त का रवैया भी बहुत शीघ्र पलट जाता है। एक व्यक्ति अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अचौर्य और अपरिग्रह वृत्ति को ठीक समझता है और यत्किंचित्रूपेण या पूर्णरूपेण उस पर चलना चाहता है अथवा परीषहों और उपसर्गों पर विजय पाना चाहता है, आत्मशुद्धि के लिए बाह्य-आभ्यन्तर तप करना चाहता है, क्षमा आदि दशविध धर्मों का भी पालन करना चाहता है, किन्तु वह न तो व्रतों-महाव्रतों या नियमों का पालन या सम्यग्दर्शनादि धर्म का आचरण कर पाता है, न ही परीषहों और उपसर्गों को सह पाता है, वह सुखशील बनकर सुख-सुविधापूर्ण जीवन व्यतीत करता है, बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण भी नहीं कर पाता, न ही अपनी शक्ति क्षमादि धर्मों के आचरण में लगा पाता है। जबकि दूसरा व्यक्ति व्रतनियमादि का पालन, परीषहों-उपसर्गों पर विजय प्राप्त कर पाता है, उसका जीवन तपश्चरण से सधा हुआ—साधनामय होता है। अपनी समस्त शक्तियों को वह आध्यात्मिक जीवन में—आत्मस्वरूप में रमा देता है। इन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के अन्तर का कारण कर्म ही है। एक व्यक्ति के दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय कर्म का तथा वीर्यान्तराय कर्म का उदय है, जबकि दूसरे के इन कर्मों का क्षयोपशम है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में अनेक प्रकार की चारित्रिक पर्यायों का होना कर्म के ही अधीन है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार आत्म-गुणघातक (घाती) कर्म मनुष्यो के आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन में विषमता, विसदृशता, विरूपता और विभिन्नता पैदा करते है।[1]

न्यायमंजरीकार की दृष्टि में जगत् की विचित्रता का कारण : कर्म

न्यायमंजरीकार भी जगत् के प्राणियों की विचित्रता का कारण (अदृष्ट) कर्म को ही बताते हुए कहते हैं—"जगत् में जो भी विचित्रता प्राणियों के सुखी-दुःखी आदि भेद को लेकर दिखाई देती है, अथवा कृषि तथा नौकरी (सेवा) आदि समानरूप से करने पर भी किसी को विशेष लाभ होता है और इसके विपरीत किसी को नुकसान उठाना पड़ता है। किसी को अकस्मात् ही सम्पत्ति मिल जाती है और किसी पर बैठे-बैठे ही बिजली गिर जाती है; किसी को प्रयत्न किये बिना ही फल की प्राप्ति हो जाती है

१ देखिये—मोहनीय कर्म का स्वरूप, बन्धकारण और स्थिति को।

और किसी को प्रयत्न करने पर भी फल नहीं मिलता, ये और ऐसी ही अन्य बातें दृष्ट कारण से घटित होनी सम्भव नहीं है, इसलिए इन सब बातों का कोई न कोई अदृष्ट कारण मानना चाहिए। वह अदृष्ट कारण कर्म ही है।"[१]

बौद्धदर्शन की दृष्टि में विसदृशता का कारण : कर्म

सारांश यह है कि संसार में जिधर दृष्टि डालते हैं, उधर ही विषमता, विरूपता और विचित्रता दिखाई देती है। तथागत बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य स्थविर 'नागसेन' और राजा 'मिलिन्द' का प्रश्नोत्तर भी इसी तथ्य का समर्थन करता है।

मिलिन्द नृप ने पूछा—

"भंते! क्या कारण है, मनुष्य एक सरीखे नहीं होते ? कोई अल्पायु और कोई दीर्घायु है, कोई बहुत रोगी है, तो कोई नीरोग है, कोई कुरूप है, तो कोई सुरूप-अतिसुन्दर है, कोई प्रभावशाली है तो कोई प्रभावहीन है, कोई निर्धन है तो कोई धनवान् है, कोई नीचकुल में जन्मा है तो कोई उच्चकुल में, तथा कोई मूर्ख और कोई चतुर है ? ऐसा अन्तर क्यों है ?"

स्थविर ने प्रतिप्रश्न किया—"महाराज ! क्या कारण है कि सभी वनस्पतियाँ एक-सी नहीं होतीं ? कोई खट्टी, कोई नमकीन, कोई तिक्त, कोई कड़वी, कोई कसैली और कोई मीठी क्यो होती है ?"

मिलिन्द—"भंते ! मैं समझता हूँ कि बीजो के भिन्न-भिन्न (स्वभाववाले) होने से ही वनस्पतियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं।"

स्थविर—"राजन् ! इसी प्रकार सभी मनुष्यों के अपने-अपने कर्म-बीज भिन्न-भिन्न (स्वभाव वाले) होने से वे सभी एक-से नहीं हैं।"

इससे फलित होता है कि जिस प्रकार खट्टी, मीठी, नमकीन आदि वनस्पतियो की विभिन्नता के कारण वे बीज हैं, जो भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होते हैं, इसी प्रकार प्राणि जगत् की स्थिति—विभिन्नताओं, विषमताओं और विसदृशताओं का भी एक बीज है, जो अलग-अलग स्वभाव वाला है। उस

---

१ जगतो यच्च वैचित्र्य सुख-दुःखादिभेदतः ।
कृषि-सेवादि-साम्येऽपि, विलक्षणफलोदयः ॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित् ।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि, यत्नेऽप्यफलता क्वचित् ।
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणात् व्यभिचारिणः ।
तेनाऽदृष्टमुपेतकर्मस्य किंचन कारणम् ॥ —न्यायमंजरी (उत्तर भाग) पृ. ४२

बीज का नाम ही कर्म है । इस कर्म-बीज के कारण ही जीव की ये नाना उपाधियाँ हैं ।

स्थविर नागसेन ने फिर तथागत बुद्ध के वचनों को प्रस्तुत करते हुए कहा—"राजन् ! भगवान् (तथागत) ने भी कहा है कि हे मानव ! सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार फल भोगते हैं । सभी जीव अपने कर्मों के स्वयं मालिक हैं, वे अपने कर्मों के अनुसार ही नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं । स्वकृतकर्म ही अपना बन्धु है, स्वकर्म ही अपना आधार है । कर्म से ही जीव उच्च-नीच होते हैं।"[१]

जैनदृष्टि से मानव-विचित्रता का कारण : कर्म

जैनकर्मशास्त्रकार श्री देवेन्द्रसूरि ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया है कि राजा-रंक, बुद्धिमान्-मूर्ख, सुरूप-कुरूप, धनिक-निर्धन, बलिष्ठ-निर्बल, रोगी-नीरोगी, तथा भाग्यशाली-अभागा, इन सब मे मनुष्यत्व समानरूप से होने पर भी जो अन्तर दिखाई देता है, वह कर्म-कृत है और वह कर्म जीव (आत्मा) के बिना होना युक्तिसंगत नही है।[२] 'पंचाध्यायी' मे भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया गया है—"संसार में एक व्यक्ति दरिद्र है और एक धनिक है, यह कर्म के ही कारण है।"[३]

प्राणिमात्र की विभिन्नता का कारण भी कर्म

केवल मनुष्यों की विभिन्नता ही नहीं, प्राणिमात्र की विभिन्नता और विषमता का कारण कर्म को माने बिना कोई चारा नही है । पशुओं, पक्षियो तथा कीट-पतंगो की योनियाँ भी इस विषमता से बच नहीं सकी हैं। उदाहरण के लिए—कुत्तो को ही देखिये । अधिकाश कुत्ते ऐसे हैं, जो पेट भरने के लिए इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, जिनके शरीर पर खुजली और घाव हो रहे हैं, फिर भी बेचारे मार खाते हुए घूमते हैं; दूसरे ऐसे भी कुत्ते हैं, जिनका पालन-पोषण राजकुमारों की तरह होता है, वे मोटरो में बैठे

१ (क) मिलिन्द प्रश्न पृ. ८०-८१

(ख) भासित येत महाराज ! भगवता—"कम्मस्सका माणवसत्ता, कम्मदायादा, कम्मयोनी, कम्मबधू, कम्मपटिसरणा, कम्म सते विभजति, यदिद हीन-पणीतता याति । —मिलिद प्रश्न ३/२

२ क्ष्माभृद्-रंकयोर्मनीषि-जड्योः सद्रूप-नीरूपयोः ।
श्रीमद्-दुर्गतयोर्बलाबलवतो र्नीरोग-रोगार्त्तयोः ।
सौभाग्याऽसुभगत्व-सगमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेऽन्तरम् ।
यत्तत्-कर्म-निबन्धन, तदपि नो जीव विना युक्तिमत् ॥
—कर्मग्रन्थ प्रथम, टीका (देवेन्द्रसूरि कृत)

३ एको दरिद्र एकोहि श्रीमानिति च कर्मणः ॥ —पंचाध्यायी २/५

सैर करते हैं,[१] जिन्हें भरपेट दूध-रोटी मिलती है । भूतपूर्व पटियाला नरेश ने अपने यहाँ कई कुत्ते पाल रखे थे । उनकी सेवा के लिए आदमी तैनात कर रखे थे । उनको राजसी ठाठ से रखा जाता था। कई अंग्रेजदम्पती भी अपने यहाँ कुत्ते पालते हैं । कई राजाओं को घोड़ों को उत्तम ढंग से पालने और प्रशिक्षित करने का शौक था। न्यायमंजरीकार जयंतभट्ट ने पशु-पक्षियों की विषमता कर्ममूलक प्रस्तुत करते हुए कहा है—"कोई-कोई चूहे आदि अत्यन्त लोभी होते हैं । वे अहर्निश पदार्थों का संग्रह करने में तत्पर रहते हैं। तथा कई कबूतर आदि विशेष कामुक होते हैं । यह विचित्रता भी अदृष्ट (कर्म) कृत है।"[२] जैनधर्म के ज्योतिर्धर दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र भी इसी चिन्तन को प्रस्तुत कर रहे हैं—"जीव की काम, क्रोध, सुख-दुःख आदि विविध अवस्थाएँ अपने द्वारा बद्ध कर्म के अनुरूप ही होती हैं।"[३]

अतः कर्म का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए ये सब अकाट्य प्रमाण एवं तर्क ही पर्याप्त हैं।

जागतिक रंगमंच पर विभिन्न जीवों के द्वारा विचित्र कर्मकृत अभिनय

निष्कर्ष यह है कि तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह जगत् एक रंगमंच के समान प्रतीत होगा। यहाँ जीव (आत्माएँ) विविध चित्र-विचित्र वेश धारण करके नाटक खेलते हैं, अपना अभिनय दिखाते हैं, तथा अपना-अपना पार्ट अदा करते हैं । अपना-अपना खेल दिखाने के पश्चात् वे वेष बदलते हैं । "जो कुछ खेला जा रहा है, वह हमारे सामने है। परन्तु सब कुछ सामने (प्रत्यक्ष) नहीं है । कुछ पर्दे के पीछे है । सामने जो कुछ हो रहा है, वह भी चित्र-विचित्र है । पर्दे के पीछे पृष्ठभूमि मे जो अभिनय हो रहा है, वह भी बड़ा विचित्र है ।"

"......कर्म एक ऐसा अभिनेता है, जो पर्दे के पीछे निरन्तर अभिनय कर रहा है । सोते-जागते, दिन और रात में, वह निरन्तर क्रियाशील रहता है।"[४] यही कारण है कि बार-बार वेष-परिवर्तन और अभिनय-परिवर्तन कर्म-विपाक के अनुसार हुआ करता है । प्रायः सभी आस्तिक दर्शन और विशेषतः जैनदर्शन इस तथ्य से सहमत हैं । प्रसिद्ध पाश्चात्य नाटककार

---

१ कर्मग्रन्थ पचम (प्रस्तावना) (पं. कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री)

२ तथा च केचिज्जायन्ते लोभमात्र-परायणाः ।
द्रव्य-सग्रहणैकाग्रमनसो मूषिकादयः ।
मनोभावमयाः केचित् सन्ति पारावतादयः ॥ —न्यायमंजरी पृ. ४२

३ कामादि प्रभवश्चित्तं कर्मबन्धानुरूपतः । —आप्तमीमांसा

४ (क) महाबन्धो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) पृ. ५५
(ख) कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ. १५७, १६१

शैक्सपियर ने भी अपने नाटक 'एज यु लाइक इट' में इसी तथ्य का समर्थन किया है।[१] इस प्रकार विश्व के प्राणियों (जीवों) का वैचित्र्य कर्मकृत सिद्ध होता है ।

विश्ववैचित्र्य ईश्वरकृत सिद्ध नहीं होता

कई लोग विश्ववैचित्र्य को कर्मकृत स्वीकार करते हुए भी कहते हैं कि आत्मा (जीव) अज्ञ है, अनाथ है, इसलिए समस्त जीवों (आत्माओं) के सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकादि एवं गमनागमन सब ईश्वरकृत हैं। ईश्वर ही जगत् के वैचित्र्य का कर्ता, धर्ता, हर्ता है । वैदिक संस्कृति के मूर्धन्य ग्रन्थ महाभारत में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। वस्तुतः ईश्वरकर्तृत्ववादी जितने भी दर्शन या ईसाई, इस्लाम आदि मजहब हैं, वे सब ईश्वर को केन्द्रबिन्दु मानकर चलते हैं। वे मानते हैं कि जीव की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति का नियामक ईश्वर है। उसकी इच्छा या प्रेरणा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।[२] आप्तपरीक्षा[३] में इसका निराकरण करते हुए कहा गया है कि यह भावसंसार काम, क्रोध, अज्ञान, मोहादिरूप विभिन्न स्वभाववाला है, उसके सुख-दुखादि सद्कार्य में विचित्रता दृष्टिगोचर होती है। अतः भिन्न स्वभाव वाले पदार्थ या जगत् एक स्वभाव (शुद्ध आत्म-स्वभाव) वाले ईश्वर से उत्पन्न नहीं हो सकते। जिस वस्तु के

---

१ All the world's a stage;
And all the men and women merely players;
They have their exits and their entrances;
And one man in his time plays many parts. —'As You Like It' Act II, Scene VII

२ (क) अण्णाणी हु अणाहो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि।—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) श्लो. ८००

(ख) अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।—महाभारत वनपर्व ३०/२८

(ग) कर्मवाद : एक अध्ययन, पृ. ३

३ (क) अष्टसहस्री पृ. २६८-२७३

(ख) नैकस्वभावेश्वरकारणकृतं (भुवनादि) विचित्रकार्यत्वात्।
—आप्तपरीक्षा ९/५१-६८

(ग) "संसारोऽयं नैकस्वभावेश्वरकृतः, तत्कार्य-सुखदुःखादि वैचित्र्यात्।
नहि कारणस्यैकरूपत्वे कार्य-नानात्वं युक्तं शालिबीजवत्।" —अष्टशती

(घ) इस सम्बन्ध में विशद चर्चा के लिये देखिये—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, स्याद्वादमंजरी, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, रत्नाकरावतारिका आदि ग्रन्थ।

कार्य में विचित्रता पाई जाती है, उसका कारण एक स्वभाव-विशिष्ट नहीं होता। जैसे—अनेक धान्य-अंकुरादिरूप विचित्र कार्य, अनेक शालिबीजादि से उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सुख-दुःखादि विशिष्ट विचित्र कार्यरूप जगत् एक स्वभाव वाले ईश्वर के द्वारा कृत नहीं हो सकता। आशय यह है कि एक स्वभाव वाला ईश्वर क्षेत्र, काल तथा स्वभाव की अपेक्षा भिन्न शरीर, इन्द्रिय तथा जगत् आदि का कर्ता सिद्ध नहीं होता। यदि कहें कि यथावसर ईश्वर को वैसी इच्छा उत्पन्न हो जाती है, जो (जगत् को) विभिन्न कार्यों को उत्पन्न करता है; तब या तो सारे जगत् में एक ही प्रकार का कार्य होता रहेगा, या फिर इच्छा के स्थान से अतिरिक्त अन्य स्थानों में कार्य का अभाव ही हो जाएगा। अतः यह जगत् वैचित्र्य ईश्वरकृत नहीं, स्व-स्वकर्मकृत है। गीता में भी कहा है—ईश्वर जगत् के कर्तृत्व, और कर्मों का सृजन तथा कर्मफल-संयोग नहीं करता, जगत् अपने-अपने स्वभाव तथा कर्मानुसार प्रवर्तमान है।[1]

■

१ न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफल-सयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ —भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १४

८

विलक्षणताओं का मूल कारण : कर्मबंध

विलक्षणता के सम्बन्ध में जैव-वैज्ञानिक मान्यता

"आत्मा की अविच्छिन्नता एक सचाई है। नवीनतम वैज्ञानिक अन्वेषणों का भी निष्कर्ष यही है कि जीवन की निरन्तरता तो है ही; किन्तु जैव-वैज्ञानिक यह मानते हैं कि जीवन-ऊर्जा का रूपान्तरण होता रहता है। उनकी मान्यतानुसार जीवन-कोशिकाएँ और मस्तिष्क के विभिन्न चेतन-प्रकोष्ठ प्राणी की मृत्यु के पश्चात् इधर-उधर बिखर जाते हैं। वे भूमि, जल, वनस्पतियों आदि में समाहित हो जाते हैं और बाद में वे आहार के माध्यम से प्राणियों के भीतर रस, रक्त, मज्जा आदि धातुओं में घुल-मिलकर उनकी सन्तति में 'सेल्स', 'जीन्स', प्रोटोप्लाज्म आदि के रूप में सक्रिय रहते हैं।"[१]

पूर्वजन्म-स्मृति भी उनकी दृष्टि में आत्मा की अविच्छिन्नता नहीं

अनेक व्यक्तियों द्वारा पूर्वजन्म की स्मृतियो के प्रामाणिक विवरण मिलने के बाद जैव-वैज्ञानिक उसका विश्लेषण इसी रूप में करते हैं कि इन व्यक्तियो के पूर्ववर्ती किसी मृत प्राणी के चेतन प्रकोष्ठ या प्रोटोप्लाज्म का कोई अश गर्भ स्थिति मे इनके निर्माणकाल मे घासपात या पेड़-पौधों में मिल गया, वही अंश आहार द्वारा मनुष्य शरीर में पहुँचा है, और संतान में अभिव्यक्त हुआ है। ये वैज्ञानिक अभी यह नहीं मानते कि पूर्ववर्ती व्यक्ति का सम्पूर्ण मनोजगत् या आत्मा से जुड़े समस्त (कर्म) सस्कार नये शरीर में उसी पुरानी आत्मा के साथ स्वाभाविक रूप से आ गये हैं। पूर्वजन्म की प्रामाणिक पुनः प्रस्तुति मात्र उनकी दृष्टि में उसी आत्मा द्वारा नया शरीर धारण करने का यथेष्ट प्रमाण नहीं है।[२]

जैव-वैज्ञानिकों की दृष्टि में विलक्षणता का कारण आनुवंशिकता

जैव-वैज्ञानिको की इस परिकल्पना को यथार्थ माना जाए तब तो यह सिद्ध होता है, किसी भी नई संतान के व्यक्तित्व निर्माण मे आनुवंशिक

१ अखण्ड ज्योति जुलाई १९७९ पृ. ९ से साभार साराश उद्धृत

२ वही, जुलाई १९७९ पृ. ९

विशेषताएँ ही सर्वप्रधान कारण होती हैं, कुछ छुट-पुट नई विशेषताएँ प्रोटोप्लाज्म आदि के रूप में अवश्य सन्तान में प्रविष्ट हो सकती हैं। किन्तु इनका मन्तव्य है कि उस प्राणी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आनुवंशिक विशेषताओं (गुणों) के संवाहक 'जीन्स' से ही गठित होता है, उसके गुणधर्म, स्वभाव आदि का निर्माण ये वंशानुगत 'जीन्स' ही करते हैं।[१]

जैव-वैज्ञानिकों की दृष्टि में विलक्षणता के आधार जीन्स

जैव-विज्ञान ने वैयक्तिक विलक्षणताओ का आधार जीन्स को माना है। उसका विश्लेषण इस प्रकार किया गया है—जीवविज्ञान शारीरिक एवं मानसिक विलक्षणताओं तथा वैयक्तिक विभिन्नताओं की व्याख्या आनुवंशिकता (Heredity) और परिवेश (Environment — वातावरण) के आधार पर करता है। उसका मन्तव्य है कि जीवन का प्रारम्भ माता के डिम्ब और पिता के शुक्राणु से होता है। व्यक्ति के आनुवंशिक गुणों का निश्चय **'क्रोमोसोम'** के द्वारा होता है। 'क्रोमोसोम' अनेक 'जीनों' का समुच्चय है। एक 'क्रोमोसोम' में लगभग हजार 'जीन' माने जाते हैं। ये 'जीन' ही माता-पिता के आनुवंशिक गुणों के संवाहक होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह 'जीन' के द्वारा किया हुआ है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिये विशिष्ट प्रकार का 'जीन' होता है। इन्हीं में निहित होती है—व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास की क्षमताएँ (Potentialities) । व्यक्ति में ऐसी कोई विलक्षणता प्रकट नहीं होती, जिसकी क्षमता उसके 'जीन' में न हो।"[२] इस दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति में पाई जाने वाली विलक्षणता या विभिन्नता का आधार जैव-वैज्ञानिक 'जीन' की क्षमता को मानते हैं।[३] उनका कहना है कि माता-पिता के आहार-विहार का, विचार-व्यवहार का और शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं तथा वातावरण का प्रभाव गर्भावस्था से ही बालक पर पड़ने लगता है।[४]

१ अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७९ पृ. ९

२ (क) कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ)

(ख) कर्म की विचित्रता : मनोविज्ञान के सदर्भ मे (रतनलाल जैन)

३ (क) श्रमणोपासक १० अगस्त ७९ के अक में प्रकाशित रतनलालजी जैन के, 'कर्म की विचित्रता : मनोविज्ञान के सन्दर्भ में,' लेख से सारांश : पृ. ३५

(ख) Human Anatomy and Physiology [Edited By David A. Myshne]

(ग) मनोविज्ञान और शिक्षा (डॉ. सरयूप्रसाद चौबे) पृ. १६१ संस्करण सन् १९६०

४ कर्म ग्रन्थ भाग १, प्रस्तावना (सम्पादक—पं. सुखलालजी संघवी) पृ. ३२

कुछ मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में विलक्षणता का कारण : मौलिक प्रेरणाएँ

कुछ मनोवैज्ञानिक शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं तथा वैयक्तिक विभिन्नताओं का कारण मौलिक प्रेरणाओं (Primary motives) को मानते हैं। उनका मन्तव्य यह है कि "मूल प्रेरणाएँ सबमें होती हैं, किन्तु किसी में कोई एक मुख्य होती है, किसी में कोई दूसरी। अधिगम क्षमता (Learning Capacity) भी सबमें होती है, किसी में अधिक होती है, किसी में कम।"[१]

परन्तु इनसे पूर्णतया मनःसमाधान नहीं होता

किन्तु आनुवंशिकता, परिवेश या जीनों की क्षमता की न्यूनाधिकता को अथवा मूलप्रेरणाओं की गौणता-मुख्यता को शारीरिक-मानसिक विलक्षणताओं या वैयक्तिक विशेषताओं का कारण बताने मात्र से पूर्ण तथा मनःसमाधान नहीं होता।

विलक्षणता का सम्बन्ध 'जीवन' से नहीं, 'जीव' से है

अन्ततोगत्वा यही प्रश्न उठता है कि अमुक व्यक्ति को ऐसी ही प्रेरणा, ऐसी ही आनुवंशिकता, अथवा जीनों की क्षमता में ऐसी ही न्यूनाधिकता क्यो प्राप्त हुई ? एक ही वंश-परम्परा के एक साथ होने वाले बालकों मे जो अन्तर पाया जाता है, उनके स्वभाव में, उनकी योग्यता और बौद्धिक क्षमता मे जो न्यूनाधिकता पाई जाती है, उसका संतोषजनक समाधान न तो आनुवशिकता से होता है, और न ही मनोविज्ञानमान्य मूल प्रेरणा से या परिवेश (वातावरण) से होता है।

उचित मनःसमाधान न होने का एक विशिष्ट कारण यह भी है कि मनोविज्ञानगत जैवविज्ञान द्वारा मान्य आनुवशिकता जीन सिद्धान्त या मूल प्रेरणाओं का सम्बन्ध 'जीवन' से है, 'जीव' से नही। जबकि कर्म का सम्बन्ध 'जीव' से है, जीव के अनेक जन्मो के संचित कर्म से है। मनोविज्ञान में अभी तक 'जीवन' और 'जीव' का भेद स्पष्ट नहीं है किन्तु कर्मविज्ञान में जीवन और जीव का भेद स्पष्ट है।

मनोविज्ञान आनुवंशिकता, अथवा 'जीन' या परिवेश का सम्बन्ध इहलौकिक 'जीवन' से जोड़ता है, अर्थात्—इस जन्म के प्रारम्भिक जीवन से जोड़ता है, और उसी कारण से वैयक्तिक विभिन्नता और विलक्षणता बताता है।[२]

---

१ 'कर्म की विचित्रता : मनोविज्ञान के सन्दर्भ में,' लेख से साराश पृ. ३५-३७

२ (क) वही, (लेखक—श्री रतनलाल जैन) से साराश पृ. ३८

(ख) कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ)

विलक्षणताओं का मूल कारण अनेक जन्म संचित कर्म ही

यद्यपि जैनागमों में जीवन का प्रारम्भ (गर्भ में आगमन) माता-पिता के रज और वीर्य के संयोग से ही माना गया है। तथा बालक के 'जीवन' से सम्बद्ध शरीर और उसके अंगोपांग भी माता और पिता दोनों के होते हैं। तथा माता की रस-हरणी नाड़ी के द्वारा गर्भस्थ जीव को आहारादि मिलता है, जो उसके जीवन को पुष्ट करता है।[१] इसलिए कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीव के जीवन का प्रारम्भ भले ही मनोविज्ञान से सम्मत है, किन्तु प्राणियों की विलक्षणताओं या विभिन्नताओं का समाधान इहजीवन से या आनुवंशिकता से नहीं हो सकता। इसका समाधान जीव के साथ प्रवहमान पूर्वजन्मकृत कर्म-संचय से ही हो सकता है। अर्थात् जीव के अनेक जन्मों से संचित या कृतकर्मों के ही परिणामस्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता या विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है।

जीवन के प्रारम्भ और जीव के प्रारम्भ में अन्तर

आशय यह है कि 'जीवन' का प्रारम्भ माता-पिता के रज-वीर्य-सयोग आदि से हो सकता है, किन्तु जीव का प्रारम्भ यानी उसको जो योग्यता, विलक्षणता, या दूसरे प्राणियो से भिन्नता प्राप्त होती है, उसका प्रारम्भ माता-पिता से या आनुवंशिक अथवा पारिवेशिक नहीं होता। जीवो मे जो विलक्षणताएँ हैं, विभिन्नताएँ हैं, उनकी आकृति-प्रकृति, डील-डौल, सुन्दरता-असुन्दरता, लम्बापन-बौनापन आदि जो विभिन्नताएँ हैं, उनके मूल कारण न तो माता-पिता हो सकते हैं न वे आनुवशिक या पारिवेशिक हो सकती हैं। न ही मूलभूत तथारूप प्रेरणाएँ जीवो की विलक्षणताओ का कारण हो सकती हैं, अपितु उस-उस जीव की जन्म-जन्मान्तरकृत नामकर्म-प्रकृतियाँ ही उनका मूल कारण हो सकती हैं।[२]

'जीन' केवल स्थूल शरीर का घटक, कर्म सूक्ष्मतर कार्मणशरीर का

दूसरी बात यह है कि मनोवैज्ञानिक या जैववैज्ञानिक विश्व के प्राणियों में पाई जाने वाली तरतमता या विषमता का कारण 'जीन' को मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जैसा 'जीन' या गुणसूत्र होता है, वैसा ही

---

१ (क) भगवती सूत्र (ख) स्थानागसूत्र, ठाणा ३

२ (क) श्रमणोपासक (कर्म की विचित्रता : मनोविज्ञान के सन्दर्भ में) से पृ. ३७

(ख) देखे, प्रथम कर्मग्रन्थ मे नाम कर्म की प्रकृतियों की व्याख्या।

(ग) गदि आदि जीवभेदं, देहादी पोग्गलाण भेदं च।
गदियतर-परिणमनं, करेदि णाम अणेगविहं।
गोम्मटसार, कर्मकाण्ड गा. १२

आदमी का स्वभाव और व्यवहार हो जाता है। 'जीन' ही समस्त संस्कार सूत्रों और विभेदों का मूल कारण है। परन्तु 'जीन' तो केवल इस स्थूल शरीर का ही घटक है, इस स्थूल (औदारिक) शरीर के भीतर तेजस शरीर (विद्युतीय शरीर) है, जो उससे सूक्ष्म है और इससे भी सूक्ष्म शरीर और है—कार्मणशरीर। इसलिए 'जीन' जीव के वर्तमान जीवन के स्थूल शरीर की विचित्रता का समाधान कर पाता है। अतीत से जुड़े हुए कार्मणशरीर में अनेक जन्मों से संचित कर्मों पर से ही व्यक्ति-व्यक्ति की विलक्षणताओं का वास्तविक समाधान हो पाता है। जैविक विशेषताओं के लिए विशिष्ट 'कर्म' ही उत्तरदायी हैं।[1]

ग्रन्थियों का स्राव जीवों की विलक्षणता का मूल कारण नहीं

शरीरविज्ञान शरीर मे अवस्थित ग्रन्थियों के स्राव को मनुष्य की विलक्षणताओं का आधार मानता है। शरीरविज्ञानशास्त्री 'हार्मोन्स' को "सिक्रीशन ऑफ ग्लेण्ड्स" (ग्रन्थियों का स्राव) कहते हैं। ग्रन्थियों के स्राव की मात्रा में न्यूनाधिकता को वे विलक्षणता का कारण मानते हैं। परन्तु ग्रन्थियों के स्राव का सिद्धान्त भी तो इस स्थूल शरीर का ही विश्लेषण करता है। वह सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीर तक नहीं पहुँचता, जो जीव के साथ अनेक जन्मों से चले आ रहे हैं। अतः ग्रन्थियों का स्राव (हार्मोन्स) ऐसा ही क्यों ? एक समान क्यों नहीं ? इसका उत्तर शरीरविज्ञान के पास नहीं, कर्मविज्ञान ही इसका यथार्थ समाधान करता है। जीव के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही ग्रन्थियों के स्राव होते हैं। कार्मणशरीर में कर्मवर्गणा के एक-एक स्कन्ध पर अनन्त-अनन्त कर्मलिपियाँ अंकित हैं, अतः विलक्षणताओं का मूल कारण कर्म ही सिद्ध होता है।[2]

विलक्षणता का मूल कारण शरीरविज्ञानमान्य संस्कार सूत्र नहीं, कर्मपरमाणु ही

वर्तमान शरीरविज्ञान 'जीन' को शरीर का महत्त्वपूर्ण घटक मानता है। वह मानता है कि स्थूल शरीर में खरबों कोशिकाएँ (Biological cells) हैं। उन कोशिकाओं में गुणसूत्र होते हैं। प्रत्येक गुणसूत्र दस हजार जीनों से बनता है । ये सारे 'जीन' अतीव सूक्ष्म संस्कारसूत्र हैं, जिनसे एक 'क्रोमोसोम' बनता है। मानवशरीर मे ४६ 'क्रोमोसोम' होते हैं।

परन्तु 'कर्मविज्ञान-मान्य कर्म शरीरविज्ञानमान्य इन क्रोमोसोम नामक संस्कारसूत्रों से भी सूक्ष्मतर है। उसके नियमों को समझना बहुत ही

---

१ श्रमणोपासक (१० अगस्त ७९ मे प्रकाशित) रतनलालजी का लेख पृ. ३७

२ वही, पृ. ३७

कठिन है। स्थूल बुद्धि से वे नियम समझ में नहीं आ सकते। क्योंकि 'जीन', आनुवंशिकता और रासायनिक परिवर्तन, ये तीनों सिद्धान्त स्थूल शरीर और इस जीवन तक ही पहुँच पाए हैं। आधुनिक शरीरविज्ञान भी 'जीन' तक ही पहुँच पाया है, जो (जीन) मानव के इस जन्म के स्थूल शरीर का ही अवयव है, जबकि कर्म सूक्ष्मतर (कार्मण) शरीर का अंग है। अतः कर्म इससे एक चरण और आगे है, क्योंकि वह जन्म-जन्मान्तर के कर्मवर्गणा के परमाणुओं का संवहन करता है। इसलिए जीवों की वैयक्तिक विभिन्नताओं और मानसिक-बौद्धिक विलक्षणताओं का मूल कारण कर्म ही सिद्ध होता है।[१]

बौद्धिक और मानसिक क्षेत्र की विलक्षणताएँ कर्मजन्य ही हैं

आनुवंशिकी की ये मान्यताएँ शारीरिक सरचना के क्षेत्र में तो प्रायः खरी उतरती रही हैं। संतान की आँख, नाक, कान, दात, मुंह, देह-यष्टि, अंगोपांग आदि की बनावट तो प्रायः वशानुगत विशिष्टताओं के किसी न किसी अनुपात मे सम्मिश्रण का परिणाम होती हैं। किन्तु बुद्धि, भावना, स्वभाव और आदतों आदि के मानसिक-बौद्धिक क्षेत्र मे ऐसी कई विलक्षणताएँ सन्ततियों में उभरती देखी-पाई और सुनी-पढ़ी जाती है कि उनका आनुवंशिकी से दूर का भी सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो पाता। बड़ी दिमागी जोड़-तोड़ के बावजूद भी यह नहीं स्पष्ट हो पाता कि आखिर अमुक व्यक्तियों की अमुक संतान में ये बौद्धिक एवं भावनात्मक विलक्षणताएँ आई कहाँ से, जो न तो उसके माता-पिता के वंश मे थीं, न ही वातावरण में ? वे विशेषताएँ 'प्रोटोप्लाज्म' आदि के अश की अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि ऐसे व्यक्तियो मे ये विलक्षणताएँ आंशिक रूप में नहीं होती, अपितु उनके समग्र व्यक्तित्व का ही वैसा गठन होता है। ऐसी स्थिति में यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि व्यक्तित्व की ये विलक्षणताएँ—विशेषताएँ 'आनुवंशिकी', पर्यावरण, वातावरण, या पर्यटनशील 'प्रोटोप्लाज्म' की कृपा नहीं, बल्कि उसी व्यक्ति द्वारा पिछले जन्म (या जन्मों) में अर्जित-वर्द्धित, संचित-सुरक्षित (कर्म संस्कार जनित) विशेषताएँ हैं, जो जन्म से ही उसमें उभर कर आई है।[२]

१ (क) कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ. १६५ से सारांश

(ख) श्रमणोपासक १०/८/७९ में प्रकाशित 'कर्म की विचित्रता : मनोविज्ञान के सन्दर्भ में' लेख से साराश पृ. ३८

२ अखण्डज्योति जुलाई १९७९ पृ. ९ से सारांश साभार उद्धृत

इन विलक्षणताओं के मूल कारण आनुवंशिकता आदि नहीं, पूर्वजन्म संचित कर्म ही

हम देखते-सुनते हैं कि बहुधा बालक की योग्यता माता-पिता से अलग प्रकार की होती है। जो बलिष्ठता और वीरता महाराणा प्रताप में थी, वह उनके पूर्वजों या माता-पिता में नहीं थी। जो प्रखरबुद्धि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर में थी, वह उनके पिता में नहीं थी। हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा और विद्यार्जन के कारण उनके माता-पिता नहीं माने जा सकते, उनके गुरु भी उनकी प्रतिभा के मुख्य कारण नहीं थे। श्रीमती एनीबेसेंट में जो विलक्षण शक्ति थी, वह उनके माता-पिता में नहीं थी, न ही उनकी पुत्री में थी। ऐसे भी अनेक उदाहरण देखे जाते हैं कि माता-पिता शिक्षित और संस्कारी थे, किन्तु उनका पुत्र निरक्षर-भट्टाचार्य रहा। जो उदार स्वभाव अकबर बादशाह का था, वैसा उसके पूर्वजों का नहीं था। जो क्रूरता और धर्मान्धता औरंगजेब में थी, वह उसके पिता और अन्य भाइयों में नहीं थी। यहाँ तक देखा जाता है कि जिस बात में माता-पिता की रुचि बिलकुल नहीं होती, उसमें उनका बालक सिद्धहस्त हो जाता है। इन सब विलक्षणताओं का कारण केवल आनुवंशिकता या पारिपार्श्विक वातावरण या संयोग को नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक साथ जन्मे हुए दो बालकों में भी कई बार आकृति, प्रकृति और कषायादि विकृति में समानता प्रतीत नहीं होती। माता-पिता की एक समान देखभाल होने पर भी एक साधारण ही रहता है, दूसरा उससे कई गुना आगे बढ़ जाता है। एक का रोग से पिण्ड नहीं छूटता, जबकि दूसरा बड़े-बड़े पहलवानों से हाथ मिलाता है। एक दीर्घजीवी बनता है, जबकि दूसरा सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी यम का अतिथि बन जाता है। एक की इच्छा संयत होती है, दूसरे की असंयत।

एक सरीखी परिस्थिति और समान देखभाल होते हुए भी अनेक विद्यार्थियों में विचार और व्यवहार की भिन्नता देखी जाती है। यह परिणाम बालक के पृथक्-पृथक् ज्ञान-तन्तुओं का भी एकान्ततः नहीं माना जा सकता, क्योंकि बालक का शरीर तो माता-पिता के रज-वीर्य से बना होता है, फिर उनमें अविद्यमान ज्ञान-तन्तु बालक के मस्तिष्क में कहाँ से आए ? हाँ, माता-पिता की ज्ञानशक्ति बालक में कहीं-कहीं अवतरित होती है, परन्तु बालक को वैसा सुयोग क्यों मिला ? बालक के जन्म-जन्मान्तर-संचित पूर्व कर्म ही इन सबके मूल कारण हैं।[१]

---

१ कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (विवेचन—पं. सुखलालजी) पृ. ३३ से सारांश

बौद्धिक विलक्षणता का प्रतीक : यहूदी मेनुहिन

हम देखते हैं कि अशिक्षा, अज्ञान और अभाव के वातावरण में भी मेधावी, विद्वान, संगीतज्ञ, गणितज्ञ आदि बालक पैदा होते हैं।

यहूदी 'मेनुहिन' के माता-पिता आदि में से कोई भी संगीतकार नहीं थे। पिता स्कूल के साधारण शिक्षक थे। किन्तु मेनुहिन में बचपन से ही संगीत की विलक्षण सामर्थ्य थी। सिर्फ ८ वर्ष की आयु में उसने ब्रीथोवेव ब्राहम, बारव जैसे महानतम संगीतकारों की कठिन संगीत रचनाओं को कुशलता से प्रस्तुत कर लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था। उन दिनों उसे भारत में नेहरू पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। श्रेष्ठ संगीतज्ञों और संगील-समीक्षकों ने जब उसका वायलिन-वादन सुना तो विस्मयविमुग्ध हो गए। टोस्कानिन जैसे विश्वविख्यात संगीत-संचालकों ने उसे अलौकिक वायलिन-वादक कहा। विश्व के शीर्षस्थ कलाकारों, वैज्ञानिकों, लेखकों, राजनीतिज्ञो और संगीतशास्त्रियों ने एक स्वर से उसकी प्रशंसा की। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाइन ने उसकी विलक्षण प्रतिभा देखकर भावावेशवश आनन्दातिरेक में आकर उसे बांहों में उठा लिया था।[२]

तीन वर्ष के शिशु 'मेनुहिन' की वायलिंन-वादन की सामर्थ्य विलक्षण ढंग से प्रकट हुई। उसके माता-पिता उसके लिये नकली वायलिन खेलने के लिये लाये। मेनुहिन ने उसे बजाया तो उसका संगीत उसे अच्छा नही लगा। उसने वह खिलौना फैंक दिया। तब माता-पिता ने असली वायलिन लाकर दिया। उसे पाते ही वह बालक उसी में लीन रहने लगा। उसकी दक्षता उभर आई। तब जाकर चार वर्ष की आयु में माता-पिता ने उसे सगीत-शिक्षक से संगीत शिक्षा दिलानी शुरू की। उसकी विलक्षण गति-मति, लगन और प्रतिभा से संगीत-शिक्षक भी विस्मित हो उठता। कहने को तो मेनुहिन ने श्रेष्ठ संगीत शिक्षकों से संगीत शिक्षा ग्रहण की, किन्तु उसके प्रत्येक शिक्षक ने यह कहा कि 'हमने इसे सिर्फ सिखाया ही नहीं, इससे बहुत कुछ सीखा भी है।'

छह वर्ष के 'मेनुहिन' ने सेन्फ्रांसिस्को में हजारों श्रोताओं के समक्ष एक श्रेष्ठ संगीत-रचना प्रस्तुत की। अगले दिन अमरीकी अखबार उसकी प्रशंसा से भरे थे।

स्पष्ट है कि 'मेनुहिन' की यह विलक्षण प्रतिभा और क्षमता आनुवंशिक नहीं है। यह उसके पूर्वजन्मकृत कर्मों के संचित संस्कारों का ही

२ अखण्डज्योति जुलाई १९७९ पृ. १० से सारांश

प्रतिफल है, जो इस जन्म में बिना किसी पैतृक संस्कार, वातावरण एवं बचपन में शिक्षण-प्रशिक्षण के ही स्वतः सहज प्रादुर्भूत क्षमता है। इस विलक्षणता का मूल कारण पूर्वकृत कर्म के सिवाय और किसी को नहीं माना जा सकता।[१]

ल्यूथिनियन बालक में अनेक भाषाज्ञान की विलक्षणता

इसी प्रकार जिस बालक को माता-पिता, विद्यालय या अन्य प्रादेशिक वातावरण से विभिन्न भाषाओं का ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, वह सहसा विभिन्न भाषाओं में बेधड़क बोलता है, यह विलक्षणता भी पूर्वकृत शुभ कर्म के कारण है, इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।[२]

सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. फर्डीनेंड वान न्यूट्राइटर को उनके एक सहयोगी ने बताया कि "एक ल्यूथिनियन बालक किसी भी भाषा का कितना ही बड़ा वाक्य गद्य अथवा पद्य में आप कहें, वह बच्चा उसी भाषा में अर्द्धविराम, पूर्णविराम सहित दोहरा देता है। यही नहीं, आप बोलना प्रारम्भ करें तो वह स्वयं भी वही शब्द उसी मोड़ या लचक के साथ इस तरह शब्द से शब्द मिलाकर बोलता चला जाता है, मानो, उसे स्वयं को ही वह पाठ कण्ठस्थ हो।"

प्रो. फर्डीनेंड ने कहा—"सम्भव है, वह होठों की हरकत से उच्चारण पहचानने में सिद्धहस्त हो।" अतः उन्होंने स्वयं उसकी जांच करने का निश्चय किया। उन्होंने उस बच्चे को एक कमरे में और दूसरे एक व्यक्ति को दूसरे कमरे में बिठाकर उसे कई भाषाओं में लगातार बदल-बदल कर बोलने को कहा। दोनों कमरों से माइक लाकर एक सामने के कमरे में रखे गए जिसमें फर्डीनेंड स्वयं बैठे। प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो वाकई में वे अतीव आश्चर्यचकित रह गए कि यह बच्चा एक-दो भाषाओं का ज्ञाता हो सकता है। परन्तु वह तो किसी को भी लाकर खड़ा करने पर उसी की भाषा दोहरा देता था। इसका अर्थ यह हुआ कि बिना किसी से शिक्षण-प्रशिक्षण लिये तथा आनुवंशिक परम्परा से बिना उपलब्ध किये ही, उस बालक का शैशवावस्था में ही प्रत्येक भाषा एवं विद्या में निष्णात होना।

प्रो. फर्डीनेंड को मानना पड़ा कि ऐसी विलक्षणता किसी भी पार्थिव या भौतिक सिद्धान्त से, आनुवंशिक परम्परा से या प्रोटोप्लाज्म से सम्भव नहीं है, यह विलक्षण क्षमता भौतिक बायोलोजी (जैवविज्ञान) आदि से भी पर, अलौकिक है।[३]

---

१ अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७९ से साभार उद्धृत पृ. १०

२ वही, मार्च १९७८ से साभार उद्धृत पृ. ३

३ अखण्ड ज्योति, मार्च १९७८ के अंक से साभार उद्धृत पृ. ४

मेरठ जिले में 'शामहम' नामक एक छोटे-से गाँव में 'मिरजा अमीर अहमद' नामक पाँच वर्ष का बालक कुरान की आयतें और रामायण के दोहे एक भी गलती के बिना जल्दी-जल्दी बोल जाता था। आश्चर्य यह है कि वह अभी तक स्कूल में नहीं गया था।

आस्ट्रेलिया में नौ वर्ष की उम्र के एक भारतीय लड़के ने बी. ए. पास कर लिया। फिर वह आगे पढ़ने लगा। सरकार ने उसे स्कॉलरशिप देने का निश्चय किया है। वह फ्रेंच, जर्मन आदि कई भाषाएँ भी जानता है। ये जन्मजात विलक्षणताएँ पूर्वजन्मार्जित कर्म के सिवाय और किसी कारण नही हो सकती।[१]

ऐसी विलक्षणता भी कर्म (पूर्वकृत कर्म) के अस्तित्व की साक्षी है।

फ्रेडरिक गॉस की गणितीय विलक्षणता

महान् गणितज्ञ जॉन कार्ल फ्रेडरिक गॉस भी बचपन से ही ऐसी ही विलक्षण प्रतिभा का धनी था। ३० अप्रैल १६७७ को जर्मनी के ब्रसविक नगर में जन्मे गॉस के पिता गरीब किसान थे। वे छोटी-मोटी ठेकेदारी भी करते थे। तीन साल की आयु में गॉस ने मजदूरो का हिसाब कर रहे अपने पिता की हिसाब से भूल पकड़ ली, और उसे सुधार भी दी। नौ वर्ष की आयु में उसने कक्षा के अध्यापक को उस समय विस्मित और चमत्कृत कर दिया, जब गणित का लम्बा प्रश्न ब्लैक बोर्ड पर लिखकर जैसे ही अध्यापक रुका, गॉस ने उस कठिन प्रश्न का सही उत्तर प्रस्तुत कर दिया।[२] चौदह वर्ष की आयु मे गॉस की गणितज्ञ के रूप में प्रसिद्धि फैल गई। ब्रसविक के राजा ने उसे अपने दरबार मे बुलाया। वहाँ भी उसने अपनी गणितविद्या की सहज उपलब्धि से सबको आश्चर्यचकित कर दिया। १९ वर्ष की उम्र मे उसने यूक्लीडियन गणितसूत्रों में एक मूलभूत संशोधन प्रस्तुत किया कि १७ समान भुजाओ की आकृति को परकार तथा सीधी रेखाओं द्वारा भी बनाया जा सकता है। बाईस वर्ष की आयु में उसने अपनी थीसिस में—'फंडामेंटल थ्योरम ऑफ अलजब्रा' नामक सिद्धान्त प्रस्तुत किया। जिसने गणितीय जगत् मे तहलका मचा दिया।

यह विलक्षणता भी पूर्वजन्म मे उपर्जित कर्म के फल को प्रमाणित करती है।

कार्लविट की बौद्धिक विलक्षणता का मूल कारण : पूर्वजन्मकृत कर्म ही

जर्मनी के कार्लविट नामक बालक ने अल्प आयु में ही आश्चर्यजनक बौद्धिक प्रगति करने वाले बालकों मे अपना कीर्तिमान स्थापित किया है।

---

१ बाल जीवन (गुजराती मासिक पत्र) दिसम्बर १९६४ से

२ अखण्ड ज्योति, जनवरी १९७८ के अक से साभार उद्धृत पृ. ८

वह ९ वर्ष की आयु में माध्यमिक परीक्षा उत्तीर्ण करके 'लिपजिंग' विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुआ। और १४ वर्ष की आयु तक पहुँचने पर उसने न केवल स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की, वरन् विशेष अनुमति लेकर साथ ही पी-एच. डी. की डिग्री भी प्राप्त कर ली। १६ वर्ष की आयु में उससे भी ऊँची एल-एल. डी. की उपाधि अर्जित कर ली और उन्हीं दिनों वह बर्लिन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर भी नियुक्त किया गया।

'न्युरोन फिजियोलॉजी इन्ट्रोडक्शन' के लेखक डॉ. जी. सी. एकिल्स ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—ये अनुभव यह बताते हैं कि मनुष्य का बाल्यावस्था में उपलब्ध इतना ज्ञान जन्मान्तरों के (संचित कर्म) संस्कारों के अतिरिक्त क्या हो सकता है?[1]

पं. सुखलालजी ने कर्मग्रन्थ भा. १ की प्रस्तावना में विलक्षणताओं के प्रतीक कई ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वे भी पूर्वजन्म और कर्म के अस्तित्व की साक्षी दे रहे हैं।

प्रकाश के आविष्कारक डॉ. यंग की विलक्षण बौद्धिक क्षमता

[2]प्रकाश की खोज करने वाले डॉ. यंग दो वर्ष की आयु में पुस्तक को बहुत अच्छी तरह पढ़ सकते थे। चार वर्ष की आयु में वे दो दफा बाइबल पढ़ चुके थे। सात वर्ष की आयु मे उन्होंने गणितशास्त्र पढ़ना प्रारम्भ किया था। और १३ वर्ष की उम्र में लेटिन, हिब्रू, ग्रीक, फ्रेंच, इटालियन आदि अनेक भाषाएँ सीख ली थीं।

बचपन से ही विलक्षण प्रखरबुद्धि का धनी : रोवन हेमिल्ट

सर विलियम रोवन हेमिल्ट ने तीन वर्ष की उम्र मे हिब्रू भाषा सीखनी शुरू की और सात वर्ष की आयु मे तो इस भाषा मे इतनी निपुणता प्राप्त कर ली कि डबलिन की ट्रिनिटी कॉलेज के एक फेलो को यह स्वीकार करना पड़ा कि "कॉलेज के फेलो-पद के प्रार्थियो मे भी उसके जितना ज्ञान नही है।" तेरह वर्ष की आयु मे उसने कम से कम १३ भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया था।

साहित्य क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित करने वाली बालिका

ई. सन् १८९२ मे जन्मी हुई एक बालिका सन् १९०२ मे सिर्फ १० वर्ष की आयु में एक नाटक मण्डली मे सम्मिलित हुई। उसने उस आयु मे

---

१ अखण्ड ज्योति, जनवरी १९७८ के अक से साभार पृ. ८

२ प्रथम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. सुखलालजी) से साभार पृ. ३३

कई नाटक भी लिखे थे। उसकी माता के कथनानुसार वह ५ वर्ष की वय में कई छोटी-मोटी कविताएँ लिख लेती थी। उसके द्वारा लिखी हुई कुछ कविताएँ महारानी विक्टोरिया के पास थीं। उस समय उस बालिका का इंग्लिश भाषा का ज्ञान भी आश्चर्यजनक था। वह कहती थी—"मैं अंग्रेजी पढ़ी नहीं हूँ, किन्तु उसे जानती जरूर हूँ।"

इन विलक्षणताओं का मूल कारण : आनुवंशिकता आदि नहीं

ये और इस प्रकार के कई विलक्षण बालक आये दिन देखने को मिलते हैं, जो चलते-फिरते ज्ञानकोश हैं, अद्‌भुत स्मरण शक्ति के धनी हैं। इन सब विलक्षणताओं पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इस जन्म में देखी जाने वाली ये सब विलक्षणताएँ न तो वर्तमान जन्म की कृति (करणी) का ही फल हैं, और न माता-पिता के आनुवंशिक संस्कारों का परिणाम हैं, और न ही वातावरण या परिस्थिति में किसी विद्यमान विशेषता का ही यह परिणाम है।[१]

वज्रस्वामी को प्रखर शास्त्रीय ज्ञान : पूर्वजन्मकृत कर्म का परिणाम

आचार्य वज्रस्वामी[२] जब छोटे-से शिशु थे, वे पूर्वजन्म के संस्कारवश माता के पास न रहकर आचार्यश्री के पास विरक्त बनकर आ गये थे। अभी उनकी मुनिदीक्षा नहीं हुई थी। एक श्राविका उनका पालन-पोषण करती थी। वह श्राविका जब बालक वज्र को साध्वियों के पास ले जाती, वहाँ साध्वियाँ उस समय जो शास्त्रों का स्वाध्याय एवं अध्ययन-अध्यापन करती थीं, उसे पालने में लेटे-लेटे वज्रकुमार सुनते रहते थे। इस समय का ग्रहण किया शास्त्रज्ञान उन्होंने अपनी प्रखरबुद्धि से तथा पदानुसारिणीलब्धि से इतना पल्लवित किया कि बाद में अल्पवय मे दीक्षित होने पर एव गुरु से शास्त्रवाचना न लेने पर भी वे शास्त्रों की विस्तृत व्याख्या करने लगे। यहाँ तक कि गुरुजी की अनुपस्थिति में वे ही अन्य सब साथी साधुओं को शास्त्र की वाचना दे देते थे। वज्रस्वामी को इतने विशालज्ञान की उपलब्धि आनुवशिक या पारिपार्श्विक वातावरणजन्य नहीं थी किन्तु पूर्वजन्मकृत कर्म के क्षयोपशम के कारण हुई थी।

ये स्वभावगत एवं भावनात्मक विलक्षणताएँ भी कर्मकृत हैं, आनुवंशिक नहीं

बौद्धिक विलक्षणताओं के अतिरिक्त ऐसी भी स्वभावगत, एवं भावनात्मक विलक्षणताएँ देखने में आती हैं, जो उन बालकों के माता-पिता

---

१ प्रथम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. सुखलाल जी) पृ. ३४

२ जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य—(उपाचार्य देवेन्द्रमुनि)

में भी नहीं थीं, न ही वातावरण या कुल के संस्कार उन्हें प्राप्त हुए थे। जिस देश, समाज और परिवार में चारों ओर मांसाहार एक सामान्य आहार के रूप में प्रचलन हो, वहाँ किसी अबोध बालक द्वारा मांस को छूने से भी अस्वीकार कर देना तथा सात्विक शाकाहारी भोजन पंसद करना, पूर्वजन्मकृत कर्म के संस्कारों के कारण है, जो कर्म और आत्मा अस्तित्व को स्पष्टः सिद्ध करते हैं।

जार्ज बर्नार्ड शॉ के कुल में सभी मांसाहारी थे। उनके समाज में भी मांसाहार का प्रचलन था, पारिपार्श्विक वातावरण में भी मांसाहार का दौर चलता था किन्तु वे बचपन से शाकाहारी रहे। उन्होंने मांस को छुआ तक नहीं।[1]

इसी प्रकार श्रेष्ठ परम्पराओं और उत्कृष्ट वातावरण वाले परिवारों मे दुर्गुणी-दुराचारी संतति का जन्म लेना, तथा देशभक्त परिवारों में विद्रोही एवं दुराचाररत परिवारों में सज्जन-साधु व्यक्तियों का जन्म लेना, तथा क्रूरता के वातावरण में जन्म लेने वाले बालक में जन्म से ही अथाह करुणा की प्रवृत्ति का पाया जाना आदि अनेक विलक्षणताएँ देखने-सुनने में आती हैं, जो आनुवंशिकी सम्बन्धी, अथवा जीवात्मा के मरणोपरान्त पंचभूतों के बिखर जाने सम्बन्धी मान्यताओ को खण्डित करती हैं। इस प्रकार की विलक्षण घटनाएँ उसी आत्मा द्वारा पूर्वजन्म में उपार्जित कर्म के अनुसार नया जन्म—नया शरीर धारण करने की पुष्टि करती हैं।[2]

इलायचीकुमार श्रेष्ठीपुत्र था। वह अच्छे धर्म-संस्कारी कुल में जन्मा था। माता-पिता आदि किसी की भी रुचि या भावना नाट्यकला की ओर नही थी। किन्तु इलायचीकुमार का नटकन्या के रूप-लावण्य को देखकर सहसा उस पर मोहित हो जाना और नाट्यकला में प्रवीणता प्राप्त कर लेना, संस्कारों की दृष्टि से वंशानुक्रम एवं वातावरण से भिन्न ही है।[3] वस्तुतः यह मोहोद्रेक पूर्वजन्मकृत कर्म का फल था।

शिवाजी चरित्रवान्, वीर और देशभक्त थे, जबकि उनके पुत्र शम्भाजी दुश्चरित्र, कायर, शराबी और विद्रोही सिद्ध हुए।

बुद्धि, स्वभाव, भावना और गुणों की ये विलक्षणताएँ जो आनुवंशिकता तथा पर्यावरण (प्रोटोप्लाज्म) के प्रभावों से सर्वथा भिन्न होती

---

१ अखण्डज्योति, जुलाई १९७९ के लेख से साभार उद्धृत अंश

२ वही, जुलाई ७९ से

३ जैनकथाकोष (मुनि श्री छत्रमलजी) से

है। वे सम्बद्ध व्यक्ति के स्वतः पूर्वजन्मार्जित कर्मजन्य संस्कारों का ही परिणाम मानी जा सकती हैं।

पूर्वजन्मार्जित कर्म ही जन्मजात विलक्षणता के मूल कारण

अब तो परामनोवैज्ञानिकों के प्रयत्न से किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियों में ऐसी जन्मजात विशेषताएँ दिखाई पड़ती हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। बड़े-बड़े विचारक भी उन विलक्षणताओं का कारण स्पष्टतः नहीं जान सके। पूर्वजन्म के सिद्धान्त को मानने से यह गुत्थी सहज ही सुलझ जाती है। अन्ततोगत्वा यह मानना पड़ता है कि इस जन्मजात विलक्षणता के मूल कारण उस जीव द्वारा पूर्वजन्मों में संचित या अर्जित कर्म ही हैं।

मानवीय गुणों में विकास की जन्मजात विभिन्नता पैतृक नहीं

विकासवाद के समर्थकों ने मानवीय गुण एवं प्रवृत्तियों के आधार तक की ही व्याख्या की है, और वह भी इस जन्म को लेकर ही। मानवेतर प्राणियों की विलक्षणताओं और विशेषताओं के आधार का कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया। उन्होंने मानवीय गुणों और प्रवृत्तियों का आधार पैतृक माना है। विकासवाद के मूल आविष्कारक डार्विन ने मानवीय विशेषताओं की विवेचना पैतृक गुणों के आधार पर करने का प्रयत्न किया है। अर्थात् बच्चा अपने माता-पिता से अपनी मूल विशेषताओ के अनुरूप कुछ विशिष्ट गुणों को प्राप्त करता है। किन्तु यह तथ्य एक सीमा तक ही सही है। सम्पूर्ण विशेषताओं का आधार पैतृक मानना सही नहीं है। अनेक बच्चों मे जन्मजात ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो उनके माता-पिता में नहीं थी। वैज्ञानिक इन विशेषताओं के कारणों की खोज पिता-पितामह से लेकर अनेक पीढ़ियो तक की करते हैं; किन्तु खोज करने पर भी इन पीढ़ियो मे कोई ऐसी विशेषता नही मिलती, जो उस बालक में थी। अतः इस प्रकार के विश्लेषण से निराशा ही उनके हाथ लगती है। वस्तुतः बच्चों मे वे गुण मौलिक होते है, जिन्हें वे जन्म-जन्मान्तर के अपने कर्मजन्य सस्कारो के रूप में साथ लाते हैं। पैतृक गुणों के आधार पर व्याख्या करने से वैज्ञानिकों को प्रायः असफलता ही मिलती है। उन्हें वास्तविकता मालूम हो जाती है कि उस बच्चे की पैतृक-पीढ़ियो मे कोई भी इन गुणों से युक्त नहीं था। तथ्य यह है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने पूर्वकृत कर्मानुसार अपनी मौलिक क्षमता, विशेषता और विलक्षणता लेकर यहाँ आता है।[1]

---

१ अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७९ मे प्रकाशित लेख के आधार पर सार-सक्षेप

यदि पैतृकगुण ही संतान के गुणों के आधार होते तो, एक ही परिस्थिति में पैदा होने वाले, समान-सुविधा-प्राप्त बालक, यहाँ तक कि एक ही पिता के पुत्र इतने असमान या भिन्न क्यों दिखाई देते हैं? यह असमानता उनकी मौलिक विशेषता, क्षमता एवं योग्यताओं में भिन्नता को लेकर होती है। एक उन्हीं परिस्थितियों और असुविधाओं में भी विद्वान, विचक्षण, योग्य, प्रतिभाशाली बन जाता है, जबकि दूसरा दयनीय अवस्था में ही पड़ा रहता है। यह पूर्वजन्मों में कृत-कर्मों द्वारा उपार्जित सूक्ष्म क्षमता या संस्कारों की ही विशेषता है, जो एक को विकास की उच्च अवस्था में पहुँचा देती है, जबकि दूसरे को अविकसित स्थिति में पड़ा रहने देती है। विकास की यह पारस्परिक भिन्नता इस बात की प्रमाण है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ पूर्वजन्मों की कुछ मौलिक विशेषताएँ अपने साथ बीज रूप में लेकर आता है।[1]

इससे जन्म-जन्मातर-कृत कर्मों का अस्तित्व तथा आत्मा का अविनाशित्व सिद्ध होता है।

मानवेतर प्राणियों में विलक्षणताएँ कर्म को मूल कारण मानने पर ही सिद्ध होती हैं

कर्मविज्ञान ने तो पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण मानवीय गुणो में ही नही, मानवेतर प्राणियो, यहाँ तक कि वृक्ष-वनस्पतियों में भी विशेषताएँ एव विलक्षणताएँ प्रमाणित की हैं।

सुना है, बीकानेरनरेश गंगासिंह जी के यहाँ दो बैल ऐसे थे, जिनमें से एक बैल ग्यारस के रोज और एक बारस के रोज बिलकुल नहीं खाता था। उन दोनो के नाम क्रमशः ग्यारसिया और बारसिया रखे हुए थे। महाराणा प्रताप के चेतक घोड़े की स्वामिभक्ति इतिहास-प्रसिद्ध है।

इसी प्रकार लोहावट (फलौदी जिले) में एक ऐसा कुत्ता था, जो अष्टमी को बिलकुल नही खाता था। कई-कई कुत्ते बड़े स्वामिभक्त और विलक्षण होते हैं जो अपने मालिक के लिए प्राण तक दे देते हैं। एक अंग्रेज ने तो अपने स्वामिभक्त कुत्ते के मरने पर उसकी शवयात्रा निकाली थी, और सम्मानपूर्वक दफना कर उस जगह पर उसकी समाधि बनवा दी थी। एक विदेशी धनाढ्य ने अपने मरने के बाद अपनी सारी सम्पत्ति कुत्ते के नाम से वसीयत कर दीथी।[2]

इसे पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही फल मानना पड़ता है। कई पशुओं के स्वभाव मे इतना विलक्षण परिवर्तन आ जाता है, उससे ऐसा प्रतीत होने

१ अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७९ के 'गतिशील जीवन प्रवाह' लेख से सार संक्षेप पृ. १८

२ 'आँखो से देखी, कानों से सुनी' पुस्तक से सार-संक्षेप

लगता है जैसे मनुष्यों जैसा आचरण करने वाला यह पशु पूर्वजन्म में मनुष्य हो। अगस्त १९७९ में कानपुर से प्रकाशित होने वाले दैनिक 'आज' में एक बड़ा मनोरंजक समाचार छपा था—बम्बई के उपनगरीय क्षेत्र चेम्बूर के एक विद्यालय की एक कक्षा में जब पढ़ाई चल रही थी, तो एक बंदर न जाने कहाँ से घुस आया और छात्रों के बीच में बैठ गया। बंदर को देख कर छात्र चुहलबाजी करने लगे, फिर भी वह चुपचाप शान्तिपूर्वक बैठा रहा। उसे भगाने की कोशिश की गई, फिर भी वह वहाँ से भागा नहीं। और जब कक्षा समाप्त हुई, तभी वह वहाँ से उठकर गया। वह बन्दर कई दिनों तक लगातार इसी प्रकार विद्यालय में आता और कक्षा में आकर बैठ जाता। जब तक विद्यालय के अधिकारियों ने दमकल वालो को बुला कर उस बन्दर को चिड़ियाघर में नहीं भिजवा दिया, तब तक वह नियमित रूप से समय पर विद्यालय में आता और चुपचाप पढ़ाई का आनन्द लेता रहा।[1]

६ अप्रेल १९७९ के समाचारपत्र 'आज' में एक विचित्र घटना प्रकाशित हुई है—उन्नाव (उ. प्र.) मे गंगाघाट के पास रहने वाली एक महिला ने मानव शिशु के स्थान पर कुत्ते के दो पिल्लों को जन्म दिया। प्रत्यक्षदर्शियों के अनुसार ये पिल्ले एक दूसरे से जुड़े हुए थे। उनके मुँह तो दो थे, परन्तु पैर चार ही थे। कान और मूँछ सब कुत्ते जैसे ही थे।"[2]

कुछ वर्षों पहले 'कल्याण' (मासिक पत्र) मे एक घटना छपी थी एक भक्त गाय की। पाली (राजस्थान) जिले के पूनागर (पाली से १३ मील) गाँव में एक छोटी-सी पहाड़ी पर दुर्गा देवी का एक छोटा-सा मन्दिर बना हुआ है। इसी गाँव की एक गाय प्रतिदिन ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर इस दुर्गा मन्दिर में जा पहुँचती और भक्तिभाव से दुर्गा के सामने बैठी रहती। चाहे कैसा ही मौसम हो, अपने मालिक के घर से खुलते ही वह सर्वप्रथम मन्दिर मे अवश्य पहुँच जाती। गाय के मालिक ने उसकी इस भक्तिभावना में बाधा डालने की बहुत कोशिश की, पर वह न मानी। पिछले सात वर्षों से उसका यह दर्शनक्रम जारी रहा। लोग उस गाय को देखने आते, और उसे खाद्य पदार्थ भेंट कर जाते। कहते हैं कि वह गाय आज तक गर्भवती नहीं हुई। भक्तकन्या की तरह कामवासना से सर्वथा दूर रहकर वह दुर्गासाधना में सलग्न रहती थी।[3]

---

१ दैनिक 'आज' (कानपुर) की अखण्डज्योति सितम्बर १९७९ में प्रकाशित घटना से

२ वही, ता. ६ अप्रैल १९७९ मे प्रकाशित घटना से

३ कल्याण (मासिक पत्र) जून १९६७ में प्रकाशित घटना

इस प्रकार की कीर्तन प्रेमी अहिंसक सर्प की एक घटना 'अखण्ड ज्योति' में प्रकाशित हुई थी। देवरिया जनपद की तहसील सलेमपुर के अन्तर्गत ग्राम 'माडोपार' के ग्रामप्रधान की सूचनानुसार ता. ११-१-६५ को उस ग्राम में अखण्डकीर्तन हो रहा था। भक्तमण्डली तन्मय होकर धार्मिक भजन गा रही थी, भक्तिरस का वातावरण था। श्रोतागण भी मधुर-स्वर में गुनगुना रहे थे। परमात्म-प्रार्थना के कारण पारस्परिक द्वेष, दुर्गुण तथा दुष्ट मनोभाव दूर हो गए थे। इसी बीच संगीत माधुर्य तथा कीर्तन के पवित्र वातावरण से प्रभावित होकर एक सर्प न जाने कहाँ से आ गया, और अखण्डकीर्तन के मंच पर चढ़ गया। दूसरों की तरह वह भी फन ऊँचा किये, वही चुपचाप बैठ गया। पहले तो सब लोग भयभीत हुए। किन्तु भक्त सर्प ने किसी को भी परेशान नहीं किया। वह तन्मय एवं भावविभोर होकर चुपचाप कीर्तन सुनता रहा। वह हिला-डुला नहीं। गाँव वालों ने जब सुना तो दर्शनार्थियों का तांता लग गया। कीर्तन पूर्ववत् चलता रहा। तब तक वह सर्प न तो थका और न उठा। कीर्तन समाप्त होते ही वह न जाने कहाँ रफूचक्कर हो गया। गाँव वालों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा।[१]

इसी प्रकार रोडेशिया (अफ्रीका) के एक कौए द्वारा कुत्ते के बच्चे पर दयालुता की, अजरबेजान के स्वामिभक्त गरुड़ की, धोबी के स्वामिभक्त गधे की, तांगानिका (अफ्रीका) में एक बिल्ली द्वारा मनुष्य को सांप से बचाने की, बंदरों द्वारा तोते के बच्चे को तथा भैंस द्वारा गाय के बछड़े को पालने की घटनाएँ भी प्राणियों के पूर्वजन्म के कर्म-सस्कारों की मुंहबोलती कहानियाँ हैं।[२]

इतना ही नहीं, पशुपक्षियो की तरह, पेड़-पौधों में भी विलक्षणताएँ पाई जाती हैं। बंगाल में नदिया जिले के 'भामजोआन' गाँव में एक शिक्षक के घर नारियल का एक पेड़ लगा हुआ है, जिसके बीज या फल से नहीं, किन्तु शाखाओं से ही उसकी सन्ताने जन्मने लगती हैं। पिछले पाँच वर्षों में इस पेड़ ने करीब १00 पौधों को जन्म दिया है। वे सभी पौधे उस पेड़ के पत्तों के मूल स्थान में अंकुर के रूप में फूटे थे। प्रत्येक अंकुर के कुछ बड़े होने पर उक्त शिक्षक ने उसे वहाँ से निकाल कर दूसरे स्थान पर रोप दिया। कुछ दिनों बाद उस पेड़ पर पुनः वैसा ही अंकुर फूटा। उक्त शिक्षक का कहना है कि अगर उन अंकुरों को उक्त पेड़ से अलग नहीं किया जाता, तो

१ अखण्डज्योति (मासिक) जुलाई १९७४ में प्रकाशित ११-१-१९६५ की घटना
२ अखण्ड ज्योति, जून १९७६ में प्रकाशित घटनाओं के आधार से

वे नष्ट हो जाते हैं, जबकि अंकुर निकाल कर दूसरे स्थान पर लगाने से वह नया पेड़ बन जाता है। पिछले ५ वर्षों में उक्त नारियल के पेड़ द्वारा १00 पौधों को जन्म देने के उपरान्त अब भी नये पौधों को जन्म देने का क्रम जारी है।[1]

आमतौर पर आम का पेड़ १५-२0 फुट ऊँचा बढ़ने के बाद ही बौराता और फल देता है। लेकिन जबलपुर मे किसी व्यक्ति ने कुछ महीने पूर्व आम का एक पौधा लगाया, वह दो फुट ऊँचा बढ़कर ही आम्रफल देने लगा। कुछ महीनों की आयु वाले इस पौधे में ८0 आम लगे। कोई भी यह नहीं समझ सका कि इतनी कम आयु के, इतने छोटे-से आम के पौधे मे कैसे इतने फल-फूल लग गये। इस आम के पौधे को देखने के लिए दूर-दूर से हजारों लोग आने लगे।[2]

पेड़-पौधे और वनस्पतियों में पाई जाने वाली इन विलक्षणताओं का रहस्योद्घाटन 'जीन्स', आनुवंशिकता या विकासवाद के आधार पर नही किया जा सकता, क्योंकि ये सब तो मानवीय विलक्षणताओं की और वह भी इस जन्म (जीवन) की ही व्याख्या करते हैं, जबकि कर्मविज्ञान ने लाखो करोड़ो वर्ष पहले की, प्रत्येक प्राणी की नित्य आत्मा के साथ पूर्वजन्मकृत कर्म परमाणुओं का अगले जन्म या जन्मों में अविच्छिन्नरूप से अनुगमन के सिद्धान्त से इन विलक्षणताओं का रहस्योद्घाटन कर दिया है।

इन सब मनुष्येतर प्राणियों तथा पेड़-पौधों आदि के स्वभाव, गुणधर्म एवं परम्परागत-संस्कारों में विलक्षण परिवर्तन न तो आनुवंशिक है, न ही 'जीन्स' का चमत्कार है और न ही प्रोटोप्लाज्म (परिवेश या वातावरण) का आंशिक अवतरण है, क्योंकि मनोविज्ञान या जैवविज्ञान केवल मानवीय विलक्षणताओ की व्याख्या 'जीवन' (केवल इहलौकिक जन्म) के आधार पर करता है, जबकि कर्मविज्ञान मानवीय ही नही, मानवेतर सभी प्राणियों तथा पेड़-पौधो आदि मे पाई जाने वाली विलक्षणताओं की व्याख्या 'जीव' के आधार पर करता है। यही कारण है कि ये सब प्राणी तथा पेड़-पौधे आदि भी जन्म-जन्मान्तर मे अर्जित कर्मजन्य सस्कार लेकर इस जन्म में पशुयोनि मे होते हुए भी मानवगत विलक्षणता के धनी होते हैं तथा पेड़-पौधे भी पूर्वजन्मकृत पुण्यकर्म के फलस्वरूप विशेषता को लिये हुए

---

१ अखण्डज्योति सितम्बर १९७९ के अक मे प्रकाशित लेख से सार संक्षेप पृ. २७

२ वही, सितम्बर १९७९ के अक से पृ. २७

आते हैं। इन सब प्राणि-विलक्षणताओं को देखते हुए जन्म-जन्मान्तर से कर्म का अस्तित्व तथा आत्मा का परिणामी-नित्यत्व सिद्ध होता है।

फिर भी युवाचार्य महाप्रज्ञ ने एक नई आशा व्यक्त की है—"जैसे-जैसे विज्ञान की निरन्तर नई-नई खोजें होती हैं, मुझे विश्वास है कि एक दिन यह तथ्य भी अनुसन्धान में आ जायेगा कि 'जीन' केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, किन्तु ये हमारे (तथा अन्य प्राणियों के) किये हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं, ये (जीन) कर्म से भी जुड़े हुए हैं। यह तथ्य अभी तक खोजा नहीं गया, पर बहुत सम्भव है, यह शीघ्र खोज लिया जाएगा।...... दोनों शरीर से जुड़े हुए हैं—एक स्थूल (औदारिक या वैक्रिय) शरीर से और दूसरा सूक्ष्मतर (कर्म) शरीर से।– आनुवंशिकता के ये नियम कर्मवाद के संवादी नियम हैं।–आज के आनुवंशिकता के सिद्धान्त ने कर्मसिद्धान्त को समझने में सुविधा दी है और प्रवेश-द्वार खोला है।—तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आनुवंशिकता, जीन और रासायनिक परिवर्तन—ये तीनों सिद्धान्त कर्म के ही सिद्धान्त हैं। आनुवंशिकता के सिद्धान्त की खोज के आधार पर कर्मवाद को जानने में एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है।—।"[१]

■

१ कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से साभार संक्षिप्त, पृ. १६४-१६५

१

कर्म का अस्तित्व विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध

कर्मविज्ञान : जैन संस्कृति की रग-रग में रमा हुआ

जैन संस्कृति की मूल चिन्तनधारा का एक मौलिक विशिष्ट एवं स्वतंत्र तत्त्व है—कर्म। जैनधर्म और संस्कृति के कर्ममर्मज्ञों ने कर्मतत्त्व को लेकर जितना गहन मन्थन एवं सूक्ष्म विश्लेषण किया है, उतना अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। 'कर्मविज्ञान' के विश्लेषणकार जीवन की अन्तरंग और बहिरंग क्रिया-प्रक्रिया के सम्बन्ध में जब सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत करते हैं, तब ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक प्राणी के जीवन का कण-कण और क्षण-क्षण कर्मसूत्र के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इतना ही नहीं, प्राणिजगत् की तमाम गतिविधियों, हलचलों, मानसिक-वाचिक कायिक परिवर्तनों एवं वृत्ति-प्रवृत्तियों का सारा लेखा-जोखा कर्मविज्ञान के दर्पण में प्रतिबिम्बित देखा जा सकता है। जीव-सृष्टि का समूचा चक्र कर्म की धुरी पर ही घूम रहा है। कर्म ही मदारी की तरह जीवरूपी वानर को मनचाहा नचा रहा है।

कर्म के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न

परन्तु दूसरी ओर चार्वाक आदि दार्शनिकों ने कर्म-विज्ञान के रहस्य से तथा इसके सूक्ष्म विश्लेषण से सर्वथा आँखे मूद कर 'कर्म' के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगा दिया है। उनका कहना है कि घट, पट, कट आदि के समान 'कर्म' नाम का कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं होता। किसी के मस्तक पर भी यह अंकित नहीं होता कि यह कर्म से युक्त है अथवा वियुक्त है। जिस प्रकार भूत-प्रेत आदि से आविष्ट व्यक्ति की चेष्टाओं पर से यह जान लिया जाता है कि यह व्यक्ति भूत-ग्रस्त है, या यक्षाविष्ट है, उस प्रकार कर्मग्रस्त जीव की कोई भी ऐसी विलक्षण चेष्टा प्रतीत नहीं होती, जिससे यह ज्ञात हो सके कि यह जीव कर्मग्रस्त है। प्रत्येक जीव की शरीर, इन्द्रियाँ, मन, वाणी आदि की समस्त क्रियाएँ भी सहजरूप से होती रहती हैं। उनसे कुछ भी पता नहीं लगता कि यह जीव कर्म से युक्त है। जब शरीर का अन्त हो जाता है, तब ये क्रियाएँ भी बंद हो जाती हैं। उसके

सोचने, समझने, सुनने, देखने, बोलने, सूंघने और स्पर्श करने तथा हलन-चलन करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। बस, यहीं उसका खेल खत्म हो जाता है। इसके बाद उसे न कहीं आना है, न जाना है। इन सब क्रिया-कलापों में 'कर्म' नाम की कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।

तीर्थंकर भगवान् महावीर के द्वितीय गणधर अग्निभूति ने भी भगवान् से दीक्षित होने से पूर्व कर्म के विषय में इसी प्रकार की शंका उठाई थी कि कर्म प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, अतः वह गधे के सींग के समान अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष नहीं है।"[1]

इसके उत्तर में भगवान् महावीर ने कर्म का अस्तित्व प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध करके उनकी शंकाओं का समाधान किया है।

प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा कर्म के अस्तित्व की सिद्धि

(द्रव्य) कर्म पुद्गल है और वह चतुःस्पर्शी होने के कारण सूक्ष्म है, इसलिए परोक्षज्ञानियों को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, जैसे—परमाणु भी पुद्गल है, किन्तु वह भी सूक्ष्म एवं अतीन्द्रिय होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, किन्तु सर्वज्ञ आप्त वीतराग पुरुषों को दोनों ही प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। दूसरी बात, जो वस्तु एक को प्रत्यक्ष हो, वह सबको ही प्रत्यक्ष हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। संसार में सिंह, व्याघ्र आदि अनेक वस्तुएँ हैं, जिनका प्रत्यक्ष सभी मनुष्यों को नहीं होता, फिर भी यह कोई नहीं मानता कि संसार मे सिंह आदि प्राणी नहीं हैं। इस प्रकार कर्म का अस्तित्व भी सर्वज्ञों को प्रत्यक्ष है, इसलिए अल्पज्ञों को भी उसका अस्तित्व मानना ही चाहिए। तीसरी बात, जिस प्रकार (अल्पज्ञों को) परमाणु प्रत्यक्ष नहीं है परन्तु उसके घट आदि कार्य तो प्रत्यक्ष ही हैं, इसी प्रकार कर्म (अल्पज्ञों को) चाहे प्रत्यक्ष न हो, उसके सुख-दुःखादि रूप कार्य (फल) के प्रत्यक्ष ही हैं। इसलिए कर्म को कार्यरूप में प्रत्यक्ष मानना ही चाहिए।[2]

अनुमान-प्रमाण द्वारा कर्म की अस्तित्व-सिद्धि

विविध अनुमानों से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है—

(१) जिस प्रकार अंकुररूप कार्य का कारण बीज है, उसी प्रकार सुख-दुःखादि रूप कार्य का जो कारण (हेतु) है, वह कर्म ही है।[3]

(२) इस सम्बन्ध में गणधर इन्द्रभूति का कथन है कि जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प माला, चन्दन आदि पदार्थ सुख के और सर्पविष, कांटा आदि

---

१ विशेषावश्यक भाष्य में गणधरवाद गा. १६१० पृ. २९

२ वही, गा. १६११ पृ. ३०

३ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १६१२ पृ. ३१

पदार्थ दुःख के प्रत्यक्ष हेतु हैं, इन दृष्ट कारणों से सुख-दुःख होता है, तब अदृष्ट कारण रूप कर्म को क्यों माना जाए ?[१]

इसका समाधान करते हुए भगवान् ने कहा—सुख-दुःख के बाह्य कारण (साधन) समान रूप से उपस्थित होने पर भी उनके फल (कार्य) में जो तरतमता (विशेषता) दिखाई देती है, उसका भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह विशेषता भी घट के समान कार्यरूप है। अतः सुख-दुःख में विशेषता (तरतमता) का कारण (हेतु) वही कर्म है। जैसे—सुख-दुःख के बाह्य-साधन एक सरीखे होने पर भी दो व्यक्तियों को उन (साधनों) से मिलने वाले सुख-दुःखरूप फल में तारतम्य दृष्टिगोचर होता है। अर्थात्—जिन साधनों से एक को सुख मिलता है, दूसरे को उससे कम या अधिक सुख मिलता है, अथवा नहीं भी मिलता। माला को सुख का दृष्ट कारण माना जाता है, परन्तु उसी माला को कुत्ते के गले मे डाल दी जाए तो वह उसे दुःख का कारण मानकर उससे छूटने का प्रयास क्यों करता है ? इसी प्रकार विष भी सदैव दुःख का दृष्ट कारण हो तो वह कई रोगों के निवारण के रूप में सुख का कारण क्यों बनता है ? अतः मानना चाहिए कि माला, विष आदि सुख-दुःख के बाह्य साधन (कारण) दिखाई देते हैं, उनके अतिरिक्त भी उनसे भिन्न अन्तरंग कारण कर्म है, जो सुख-दुःख की तरतमता का अदृष्ट कारण है।[२]

अतः सुख दुःख के अदृष्ट कारण के रूप में कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

(३) जिस प्रकार युवाशरीर बालशरीरपूर्वक होता है, उसी प्रकार बालशरीर किसी अन्य शरीरपूर्वक होना चाहिए। वह अन्य शरीर कार्मण शरीर है, कार्मण शरीर ही कर्म है। इस प्रकार शरीररूप कार्य के निर्माण के कारणरूप में कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। न्यायदर्शन में भी धर्माधर्म (शुभाशुभ कर्म) से प्रेरित पचभूतों से शरीर की उत्पत्ति बतलाई है।[३]

यद्यपि पूर्वभवीय स्थूल (औदारिक) शरीर तो यहीं छूट जाता है, उससे आगामी जन्म के नये शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। नये शरीर के

---

१ विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १६१२ पृ. ३१

२ वही, गा. १६१३ पृ. ३१

३ (क) वही, गा. १६१४ पृ. ३१-३२

(ख) न्यायदर्शन सूत्र, ३/२/६३

रूप में प्राणी का नया जन्म कार्मण-शरीरपूर्वक ही होता है, जो कर्मरूप ही है। वही तत्काल-उत्पन्न बालशरीर का कारण होता है।[1]

(४) दानादि क्रियाओं का कुछ न कुछ फल अवश्य होना चाहिए क्योंकि ये कृषि क्रिया की तरह सचेतन व्यक्ति द्वारा की हुई क्रियाएँ हैं। जिस प्रकार सचेतन कृषक की कृषिक्रिया निष्फल नहीं होती उसे धान्यादि रूप फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार सचेतन व्यक्ति की दान आदि क्रियाएँ भी निष्फल नहीं होनी चाहिए। उसे कुछ न कुछ फल मिलना ही चाहिए। जो फल प्राप्त होता है, वह (शुभ-अशुभ=पुण्य-पाप) कर्म है। इस प्रकार कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। दान आदि की क्रियाओं के फल में जो तारतम्य दिखाई देता है, उसमें व्यक्ति द्वारा क्रिया करने में साधनों की विकलता-सकलता या न्यूनाधिकता अथवा क्रिया की अज्ञानता-सज्ञानता आदि उसके कारण होते हैं। अथवा तारतम्य का कारण यह भी हो सकता है कि जैसे—दानादि शुभ क्रियाएँ हैं, वैसे ही चोरी आदि अशुभक्रियाएँ भी हैं, इस अपेक्षा से शुभक्रियाओ का फल शुभकर्म (पुण्य) और अशुभकियाओं का फल अशुभकर्म (पाप) प्राप्त होता है।[2] वैदिक (बृहदारण्यक) उपनिषद् में भी इस आशय का वाक्य मिलता है कि "पुण्यकर्म (शुभकर्म) से पुण्य होता है और पापकर्म (अशुभकर्म) से पाप होता है"।[3]

अतः कर्म को प्रमाणसिद्ध ही मानना चाहिए।

"यदि यह कहा जाए कि कृषि आदि का धान्यादि फल तो दृष्ट है, उसी प्रकार चेतन की दानादि समस्त क्रियाओं का फल दृष्ट ही मान लेना चाहिए, अदृष्ट कर्म को फल मानने की क्या आवश्यकता है ? जिस प्रकार संसार मे जो लोग पशुवध आदि क्रियाएँ करते हैं, वे अशुभकर्म (अधर्म) रूप अदृष्ट फल के लिए नही, किन्तु मांस- भक्षण आदि दृष्ट फल के प्रयोजन से ही करते हैं; इसी प्रकार सभी क्रियाओं का कोई न कोई दृष्ट फल ही मानना चाहिए अतः अदृष्ट फल मानना अनावश्यक है। आशय यह है कि जैसे—लोक-व्यवहार में लोग कृषि, व्यवसाय आदि क्रियाएँ धान्यादि दृष्ट फल-प्राप्ति के लिए करते हैं, वैसे ही अधिकांश लोग दानादि क्रियाएँ भी यश-कीर्ति आदि दृष्ट फल के लिए करते देखे जाते हैं। अदृष्ट कर्म (शुभकर्म) रूप फल की प्राप्ति के लिए दानादि क्रियाएँ करने वाले विरले ही होते हैं।[4]

---

१ 'विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १६१४ पृ. ३२

२ वही, गा. १६१५-१६१६ पृ. ३२-३३

३ 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणा' । —बृहदारण्यक ४/४/५

४ विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १६१५ पृ. ३३

भ. महावीर ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि अधिकतर लोग जब दृष्टफल के लिए कृषि, वाणिज्य या पशुवध, आदि शुभ-अशुभ क्रियाएँ करते हैं, तब यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि कृषि आदि क्रियाओं का दृष्ट के अतिरिक्त अदृष्ट (शुभाशुभ कर्मरूप) फल भी होना चाहिए।[१]

वे लोग अदृष्ट अधर्म (अशुभकर्मरूप फल) के लिए चाहे अशुभ क्रियाएँ चलाकर न करते हों, फिर भी यह मानना अनिवार्य है कि कार्य का आधार उसकी सामग्री पर है। जिस कार्य की सामग्री होती है, वह कार्य अवश्य होता है। किसान बीज बोते समय यदि अज्ञानतावश गेहूँ के स्थान पर कोदों धान्य के बीज बो देगा, तो उसे हवा, पानी, सूर्य का ताप आदि अनुकूल सामग्री मिलने पर किसान की इच्छा-अनिच्छा की उपेक्षा करके कोदों धान्य उत्पन्न हो ही जाएगा। इसी प्रकार हिंसादि कार्य करने वाले या मांसाहारी व्यक्ति चाहें या न चाहें; अशुभ कर्म (अधर्म) रूप अदृष्टकर्म (फल के रूप में) उत्पन्न होता ही है। इसी प्रकार दानादि शुभ क्रियाएँ करने वाले विवेकी पुरुष भी चाहें या न चाहें उन्हें शुभकर्म (धर्म) रूपी अदृष्ट फल मिलता है।[२]

"यदि शुभ या अशुभ क्रियाओ से शुभाशुभ कर्मरूप अदृष्ट फल नही माना जाएगा तो शंकाकार के मतानुसार पापजनक अशुभ क्रियाएँ करने वाले सभी पापियों द्वारा नये कर्मों का ग्रहण न करने से मृत्यु के बाद अनायास ही कर्म के अभाव में वे मुक्त हो जाने चाहिए। इसके विपरीत जो लोग अदृष्ट शुभ कर्म के विभिन्न दानादि क्रियाएँ करेंगे, वे इस क्लेशबहुल—दुःख-प्रचुर संसार में ही रहेंगे। यह भी प्रत्यक्ष अनुभव है कि संसार में अनन्त जीव हैं, उनमें अशुभ क्रियाएँ करने वाले अधर्मात्मा ही अधिक हैं। अतः मानना होगा कि समस्त क्रियाओ के दृष्टफल के अतिक्ति अदृष्टकर्म रूप फल भी होता है।[३]

यद्यपि अनिष्टरूप अदृष्ट (कर्म) फल की प्राप्ति के लिए कोई भी जीव इच्छापूर्वक क्रिया नहीं करता, फिर भी इस जगत् में अनिष्टफलभोक्ता जीव अत्यधिक दृष्टिगोचर होते हैं। अतः हमें मानना पड़ेगा कि क्रिया शुभ हो या अशुभ उसका अदृष्ट रूप में शुभाशुभ कर्म फल अवश्य होता है।[४]

---

१ विशेषावश्यक भाष्य (गणधरवाद) गा. १६२० पृ. ३४
२ वही, गा. १६२० पृ. ३५
३ वही, गा. १६२१ पृ. ३५
४ वही, गा. १६२२-२३ पृ. ३६

इसके विपरीत (शुभ) दृष्ट फल की इच्छा करने पर भी दृष्टफल की प्राप्ति हो ही, ऐसा एकान्त नियम नहीं है; क्योंकि इसका मूल कारण तो पूर्वबद्ध अदृष्ट कर्म ही होता है। जैसे—कोई व्यक्ति दृष्ट फल धान्य आदि के लिए कृषि आदि क्रिया करता है, उसे उसका धान्य आदि दृष्ट फल पूर्वबद्धकर्म के कारण कदाचित् न भी मिले, मगर अदृष्ट कर्म रूप फल तो अवश्य मिलेगा ही ; क्योंकि सचेतन द्वारा प्रारम्भ की गई कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती।[१]

यही तथ्य विशेषावश्यकभाष्य में अन्यत्र व्यक्त किया गया है कि "एक सरीखे साधन होने पर भी फल (परिणाम) में जो अन्तर मानव जगत् में दिखाई दे रहा है, वह बिना कारण के नहीं हो सकता। जैसे—एक सरीखी मिट्टी और एक ही कुम्हार द्वारा बनाये जाने वाले घड़ों में पंचभूत समान होते हुए भी अन्तर (तारतम्य) दिखाई देता है, इसी प्रकार एक ही माता-पिता के, एक साथ उत्पन्न हुए दो बालकों में साधन और पंचभूत एक समान होने पर भी उनकी बुद्धि, शक्ति आदि में जो अन्तर पाया जाता है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। गौतम! इस अन्तर या तारतम्य का कारण कर्म — पूर्वकृत कर्म ही है।[२]

कार्य और कारण भिन्न-भिन्न होने चाहिए। सचेतन द्वारा की गई क्रिया कारण है, और कर्म (फल) उसका कार्य है। इस दृष्टि से भी सचेतन द्वारा की गई क्रिया का कोई न कोई अदृष्ट-कर्मरूप फल ऐसा होना चाहिए, जो उस क्रिया से भिन्न हो।

इसलिए दृष्ट फल विशेष रूप कार्य का भी कोई न कोई अदृष्ट पूर्वकृत कर्मरूप फल अवश्य होना चाहिए। इन सब अनुमानों से कर्म के अस्तित्व की सिद्धि में कोई भी सन्देह नही रह जाता।[३]

माता के गर्भ में आने से लेकर जन्म होने तक बालक को जो भी दुःख भोगने पड़ते हैं, उन्हें बालक के इस जन्म के कर्मों का फल तो नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि गर्भावस्था में अविकसित चेतनाशील बालक ने कोई भी अच्छा या बुरा काम नही किया है। उन दुःखों को माता-पिता के कर्मों का

---

१ विशेषावश्यकभाष्य (गणधरवाद) गा. १६२२-२३ पृ. ३६

२ (क) जो तुल्ल साहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउ ।
कज्जतणओ गोयमा! घडोव्व हेऊ य सो कम्म ॥

—विशेषावश्यकभाष्य गा. १६१३

(ख) कर्ममीमांसा पृ. ९-१०

३ कर्ममीमांसा पृ. ११-१२

फल भी नहीं कह सकते, क्योंकि माता-पिता जो भी अच्छे या बुरे आचरण या कार्य करते हैं, उनका फल अकारण ही बालक को क्यों भोगना पड़े ? तथा बालक भी गर्भावस्था में जो भी दुःख भोगता है, उसे भी अकारण मानना बिल्कुल उचित नहीं है, क्योंकि कारण के बिना कोई भी कार्य नहीं हो सकता, यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त है। यदि यह कहा जाए कि गर्भावस्था में ही माता-पिता के आहार-विहार, आचार-विचार और संस्कार-विकार तथा शारीरिक-मानसिक अवस्थाओं का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ने लगता है और उन्हीं के कारण उसे दुःख भोगने पड़ते हैं ; ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि गर्भस्थ शिशु को ऐसे माता-पिता मिले ही क्यों ? अन्ततोगत्वा, इस प्रश्न का समाधान यही होगा कि गर्भस्थ शिशु के जैसे पूर्वजन्मकृत कर्म थे, तदनुसार उसे वैसे माता-पिता, सुख-दुःख या अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिले।[1]

इस युक्ति से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है।

'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में कर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने हेतु यह तर्क प्रस्तुत किया गया है कि सिंह, भेड़िया, चीता, व्याघ्र, सांप, मनुष्य आदि मे जो शूरता-क्रूरता आदि धर्म (स्वभाव) होते हैं, वे परोपदेशपूर्वक न होकर सहज (नैसर्गिक) होते हैं। तथा ये गुणधर्म आकस्मिक या अकारण भी नही होते। इनका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, वह कारण पूर्वकृत कर्म ही है, कर्मोदय के निमित्त से ये उन-उन जीवों में उत्पन्न होते हैं।[2]

'प्रवचनसार (तत्त्व प्रदीपिका)' में बताया गया है कि जिस प्रकार ज्योति तेल के स्वभाव को निजस्वभाव से नष्ट करके प्रदीप्त होने का कार्य करती है, उसी प्रकार कर्म जीव के स्व-भाव (आत्म-भाव) का विघात करके उसके मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पर्याय रूप कार्यों का जनक (कारण) बनता है। अर्थात्—कर्म जीव की विभिन्न पर्यायो (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अवस्थाओं) का उसी प्रकार कारण है, जिस प्रकार दीपक का तेल ज्योति का कारण है। जीव की मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कार्यरूप नाना पर्याएँ (अवस्थाएँ) अकारण नही होतीं। उनका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए, वह कारण कर्म ही है। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव का घात करके

---

१ कर्ममीमांसा पृ. १२

२ (क) तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/३/६

(ख) जैन दर्शन में आत्मविचार पृ. १९०

उसकी विभिन्न अवस्थाओं के कारण के रूप में कर्म की सत्ता सिद्ध होती है।[1]

इसी प्रकार 'कषायपाहुड' में कर्म का अस्तित्व सिद्ध करते हुए कहा गया है कि "जीवों का ज्ञान सदैव एक-सा नहीं रहता। ज्ञान की मात्रा की इस प्रकार की न्यूनाधिकता या तरतमता का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। ज्ञान के न्यूनाधिक भाव का जो भी कारण है, वह कर्म ही है।[2]

अन्य दर्शनों में भी 'कर्म' की अस्तित्व-सिद्धि

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में भी कर्म के अस्तित्व को माना गया है और विभिन्न प्रमाणों, युक्तियो और तर्कों से कर्म के अस्तित्व को सिद्ध भी किया गया है।

भगवद्गीता में बताया गया है कि "कोई भी (संसारी) व्यक्ति कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी नहीं होता"।[3] बौद्धदर्शन में बताया गया है कि "प्रतीत्य-समुत्पाद का चक्र कर्म के नियम के आधार से ही चलता है। कर्म और फल के पारस्परिक सम्बन्ध के कारण भवचक्र चलता रहता है।"

"कर्म ही प्राणियों को निकृष्ट या उत्कृष्ट बनाता है। जो मनुष्य हिंसा करता है, क्रोध करता है, ईर्ष्या करता है, लोभ और अभिमान करता है, वह वर्तमान शरीर को छोड़कर मरने के बाद दुर्गति में जाता है, अगर मनुष्य योनि में जन्म लेता है, तो वह हीन, दरिद्र और बुद्धिहीन बनता है। जो मनुष्य शुभकर्म करता है, उसकी सुगति होती है और यदि वह मनुष्य योनि में जन्म ग्रहण करता है तो उत्तम, समृद्ध और प्रज्ञावान् होता है। सारांश यह है कि विश्व की व्यवस्था में कर्म ही प्रधान है।[4]

---

१ (क) प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका गा. ११७
(ख) जैन दर्शन में आत्मविचार पृ. १९०

२ (क) एदस्स पमाणस्स वड्ढि-हाणि-तरतम भावो ण ताव णिक्कारणो ······· ····· तम्हा सकारणा हि ········ । जं तं हाणि-तरतमभावकारणं तमावरणमिति सिद्धं । —कसाय पाहुड १/१/१ प्र. ३७-३८
(ख) जैन दर्शन में आत्मविचार, पृ. १९०

३ (क) भगवद्गीता ३/५
(ख) वही, ३/८

४ (क) बौद्धधर्मदर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव) पृ. २५०
(ख) मज्झिमनिकाय के चुल्लकम्मविभंगसुत्त, महाकम्मविभंगसुत्त में देखें ।

मीमांसा दर्शन में स्वर्गादि फलों की निष्पत्ति के लिए कर्म का अस्तित्व अनिवार्य माना गया है।[1] न्यायदर्शन में शरीरोत्पत्ति में 'कर्म' को निमित्त कारण माना गया है।[2] सांख्य और योगदर्शन भी कर्म के अस्तित्व का स्वीकार करते हैं। योगदर्शन में जन्म (जाति), आयु और भोग (सुख-दुःख-संवेदन) रूप फल का कारण कर्म को माना गया है।[3]

जैन और बौद्ध दर्शन में तो कर्म का अस्तित्व विभिन्न प्रमाणों से सिद्ध किया गया है। इससे पूर्व प्रकरण में आगम प्रमाण से भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया जा चुका है।

■

१ तंत्रवार्तिक पृ. ३९५.

२ न्यायदर्शन सूत्र ३/२ पृ. ६२-६७

३ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । —योगदर्शन अ. २, सू. १३

१०

कर्म का अस्तित्व कब से और कब तक ?

संसार में जितने भी आस्तिक दर्शन हैं, उन्होंने एक या दूसरे प्रकार से कर्म का अस्तित्व स्वीकार किया है। पिछले प्रकरणों में हम विभिन्न युक्तियों, सूक्तियों, अनुभूतियों, पहलुओं और प्रमाणों से कर्म का अस्तित्व सिद्ध कर चुके हैं।

कर्म और आत्मा दोनों के अस्तित्व और सम्बन्ध को समझना अनिवार्य

आस्तिक दार्शनिकों ने अध्यात्म के क्षेत्र में दो महत्वपूर्ण शोध की हैं। एक—आत्मा की, और दूसरी कर्म की। आत्मा और कर्म इन दो महत्वपूर्ण उपलब्धियों ने महान सत्य का उद्घाटन किया है, अध्यात्म के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति की है, इन दो तत्त्वों की खोज ने। ये दो तत्त्व ही अध्यात्म के मौलिक आधार स्तम्भ हैं। केवल आत्मा के अस्तित्व को मान लेने मात्र से अध्यात्म का प्रासाद स्थिर नहीं रह सकता। कर्म को उसके साथ द्वितीय आधारस्तम्भ माने बिना अध्यात्म प्रासाद डगमगा जाएगा। क्योंकि अध्यात्म की समग्र परिकल्पना, पूर्णता, लक्ष्यप्राप्ति की योजना, और तत्त्व व्यवस्था है—आत्मा (जीव) को कर्म से सर्वथा मुक्त करना। यदि आत्मा का ही अस्तित्व न हो तो किसको मुक्त किया जाएगा ? और यदि कर्म का अस्तित्व ही न हो तो किससे मुक्त किया जाएगा ? अतः इन दोनों के अस्तित्व को माने बिना अध्यात्म-पूर्णता की कोई युक्तिसंगत परिकल्पना ही नहीं हो सकती।

बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा, इन दोनों प्रकार की आत्मा के बीच कर्म का एक सूत्र है, जो मुक्त-आत्मा तक पहुंचने तक में अनेक उपाधियों से युक्त बना देता है। बद्ध आत्मा कर्म-संयुक्त है, जबकि मुक्त आत्मा कर्मों से सर्वथा मुक्त है। दोनों में अन्तर डालने वाला कर्म है। जब तक आत्मा बद्ध है, संसारी है, तब तक कर्मों की परिक्रमा लगती रहती है। अतः जैसे आत्मा के अस्तित्व को तथा उससे सम्बद्ध तत्त्वों को समझना आवश्यक है, वैसे ही उन बाधक-साधक (आस्रव-संवरादि) तत्त्वों के कारणभूत 'कर्म' के

अस्तित्व को भी समझना आवश्यक है।[1] आध्यात्मिक विकास और ह्रास को समझने के लिए आत्मा के साथ-साथ कर्म को भी समझना आवश्यक है। आत्मा के अस्तित्व को समझना जितना प्राथमिक और अनिवार्य है, उतना ही प्राथमिक और अनिवार्य है— 'कर्म' के अस्तिव को जानना, मानना और विश्वास करना; तथा अन्ततोगत्वा कर्म के जाल से सर्वथा मुक्ति पाना। तभी आध्यात्मिक पूर्णता के शिखर पर आत्मा पहुँच सकती है।

कर्म का अस्तित्व कब से ? कब तक ?

जिन मनीषियों ने कर्मविज्ञान के महासागर में गोते लगाए, उनके समक्ष यह प्रश्न आया कि 'कर्म का अस्तित्व कब से है और कब तक रहेगा' ? इसका सीधा और सरल समाधान उन्होंने यही दिया कि जब से जीव (आत्मा) संसारी हुआ और जब तक वह ससारी (बद्ध) रहेगा, तब से तब तक कर्म का अस्तित्व है।

दोनों का सम्बन्ध अनादि क्यों ? कैसे ?

प्रश्न यह है कि जीव संसारदशा को क्यों प्राप्त होता है, जबकि रागद्वेष के बिना कर्मबन्ध नहीं हो सकता और कर्मबन्ध हुए बिना राग-द्वेष नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे जीव की यह (संसारी) अवस्था कैसे और कब से हुई है ? इसका समाधान जैनकर्ममर्मज्ञो ने यह दिया कि ससार की यह चक्र-परम्परा अनादिकाल से बीज-वृक्ष या पिता-पुत्र से समान चली आ रही है। बीज से वृक्ष होता है, वृक्ष से बीज; इन दोनो में से किसका प्रारम्भ सर्वप्रथम हुआ, यह कोई नही कह सकता। इसी प्रकार कर्म और जीव (संसारी जीव) की परम्परा अनादि है। अर्थात् जीव के संसार के कारणभूत राग-द्वेष और कर्मबन्ध की परम्परा को अनादिकालिक समझना चाहिए।

संसार आनादि है, अतएव जीव और कर्म का सम्बन्ध भी अनादि

संसार अनादि है। इस अपेक्षा से जीव और कर्म का सम्बन्ध भी जब तक ससार है, तब तक है, अर्थात्—प्रवाहरूप से जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। वेदान्तदर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' में संसार का अनादित्व स्वीकार करते हुए, कर्म को भी अनादि माना गया है।[2] जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि बताते हुए 'गोम्मटसार' में कहा गया हैः—'कनक

---

१. (क) जैनयोग (युवाचार्य महाप्रज्ञ) पृ. ३५
   (ख) आनन्दघन चौबीसी पद्मप्रभस्तवन

२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्यसहित, २-१-३५

(सोना), और उपल (पत्थर या मिट्टी का पिण्ड) के समान जीव और कर्म का सम्बन्ध प्रकृति, शील और स्वभाव के कारण अनादि है। इसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं, यह स्वतः सिद्ध है।[1]

तात्त्विक दृष्टि से कर्म और जीव का सादि और अनादि सम्बन्ध

इसे तात्त्विक दृष्टि से समझना चाहें तो यों समझ सकते हैं—जीव की मानसिक, वाचिक और कायिक शुभाशुभ प्रवृत्ति (क्रिया या व्यापार) जब से शुरू हुई है, अथवा जब से कषायादि का संयोग हुआ है, तब से कर्म आत्मा के लगे हैं और तब तक लगे रहेंगे, जब तक जीव के योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) और कषाय (क्रोधादि तथा राग-द्वेष-मोहादि) रहेंगे। अतः अनेकान्तवाद की भाषा मे यों कहा जा सकता है—एक जीव (आत्मा) की अपेक्षा से कर्म का अस्तित्व सादि (आदि-प्रारम्भयुक्त) सिद्ध होता है, जबकि जगत् के समग्र जीवों की अपेक्षा से कर्म प्रवाहरूप से अनादि है।

विकासवाद और जीव का सम्बन्ध

यद्यपि वर्तमानकाल मे डार्विन आदि के विकासवाद-सिद्धान्त को मानने वाले यह कहते हैं कि मनुष्य अपनी प्रारम्भिक विकास की अवस्था में बन्दर था, धीरे-धीरे उसे यह अवस्था प्राप्त हुई है। विकासवाद का यह सिद्धान्त कैसा भी क्यो न हो, इससे बीज-वृक्षन्यायेन कर्म और जीव की ससारी दशा की अनादिकालीन मान्यता मे कोई बाधा नहीं आती। अतीतकाल में जहाँ भी जाकर हम प्राणियों की उत्पत्ति के क्रम का विचार करते हैं, वहाँ हमें यही मानना पड़ेगा कि जिस क्रम से इस समय प्राणियों की उत्पत्ति होती है, उसी क्रम से अतीतकाल में भी उनकी उत्पत्ति होती रही होगी। यह नहीं हो सकता कि पहले उनकी उत्पत्ति बिना माता-पिता के या बिना बीज के वृक्ष के होती थी, और अब उनकी उत्पत्ति इस क्रम से होने लगी है।[2]

आत्मा अनादि है तो क्या कर्म भी अनादि है ? : एक विश्लेषण

भारतीय आस्तिक दर्शनों की दृष्टि में आत्मा अनादि है, वह अज, अविनाशी, अमर, अजर, नित्य और शाश्वत तत्त्व है। भगवद्गीता और स्थानांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है—"यह आत्मा न तो कभी उत्पन्न होती

---

१. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. २—पयडी सील सहावो, जीवंगाण अणाइसंबंधो ।
कणयोवले मलं वा, ताणत्थित्तं सयं सिद्धं ॥ २ ॥

२. महाबंधो भा.२ की प्रस्तावना (भारतीय ज्ञानपीठ) पृ.१६

है, न मरती (नष्ट होती) है, अर्थात्—न तो यह कभी (उपन्न) हुई है, न होगी, और न होती है। यह नित्य, अजन्मा, पुराण और शाश्वत है। शरीर के हनन किये जाने पर भी आत्मा का हनन नहीं होता।[1]

कर्म और आत्मा में पहले कौन ? पीछे कौन ?

जब आत्मा अनादि है तो कर्म भी अनादि होना चाहिए, क्योंकि कर्म करने वाला तो आत्मा ही है। ऐसी स्थिति में यह ज्वलन्त प्रश्न कर्ममर्मज्ञों के समक्ष उपस्थित किया गया कि कर्म और आत्मा; इन दोनों में पहले कौन है, बाद में कौन है ? कर्म पहले है अथवा आत्मा ? कर्म आत्मा के साथ कब से लगे ? वे पहले लगे या पीछे लगे ?

जैन कर्मविज्ञान के महामनीषी तीर्थंकरों एवं तलस्पर्शी अध्येता आचार्यों ने इस प्रश्न पर युक्तिपूर्ण एवं अनुभवपूर्ण समाधान किया है कि कर्म और आत्मा, इन दोनों में पहले कौन, पीछे कौन ? यह प्रश्न ही नहीं उठता। पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में स्पष्ट कहा है "जैसे आत्मा अनादि है, वैसे पुद्गल (कर्म) भी अनादि है। आत्मा और कर्म दोनों का सम्बन्ध भी अनादि है। आत्मा कार्मणात्मक कर्मों के साथ अनादि काल से बद्ध होकर चला आ रहा है।"[2]

कर्म पहले या आत्मा ?, इसका युक्तिसंगत समाधान

जैन संस्कृति के उन्नायक तीर्थंकरों तथा कर्ममर्मज्ञ आचार्यों ने कर्म पहले है या आत्मा पहले ? आत्मा से साथ कर्म कब से लगे ? इत्यादि प्रश्नों का युक्तिसंगत समाधान मुर्गी और अण्डे के, अथवा बीज और वृक्ष के न्याय से किया है। उन्होंने कहा कि मुर्गी और अण्डा, इन दोनों में पहले कौन, पीछे कौन ? यदि अण्डे को पहले मानते हैं तो प्रश्न होता है—'मुर्गी के बिना अण्डा कहाँ से उत्पन्न हुआ या आया ?' यदि मुर्गी को पहले मानते

---

१. (क) न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥
— भगवद्गीता २/२०

(ख) कालओ णं कयाई णासी, ण कयाइ न भवइ, ण कयाई न भविस्सइत्ति, भुविय भवइ य भविस्सइ य, धुवे, णितिए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए णिच्चे।
—ठाणांग ५/३/५३०

२. (क) यथाऽनादिः स जीवात्मा, तथाऽनादिश्च पुद्गलः।
द्वयोर्बन्धोऽप्यनादिः स्यात्, सम्बन्धो जीव-कर्मणोः॥ —पंचाध्यायी २/३५

(ख) अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः। — लोकप्रकाश, ४२४

हैं तो प्रश्न उठेगा—अण्डे के बिना मुर्गी कहाँ से आई ? इसी प्रकार दूसरी यह युक्ति भी प्रस्तुत की जाती है कि बीज और वृक्ष इन दोनों में पहले कौन, बाद में कौन ? यदि वृक्ष को पहले मानते हैं तो प्रश्न उठेगा कि बीज के बिना वृक्ष कहाँ से उत्पन्न हुआ ? और यदि बीज को पहले मानते हैं तो प्रश्न उठेगा कि वृक्ष के बिना बीज कहाँ से आया ? इसी प्रकार आत्मा और कर्म दोनों जब अनादि हैं, तो प्रश्न होता है आत्मा और कर्म, इन दोनों में पहले कौन हुआ, पीछे कौन ? यदि आत्मा को कर्म से पहले मानते हैं तो प्रश्न उठेगा—जैनदृष्टि से निश्चयनय की अपेक्षा से आत्मा विशुद्ध माना जाता है। जब आत्मा विशुद्ध है, तब उस पर कर्म कालिमा कैसे लग गई ? शुद्ध आत्मा पर तो कर्म लगना ही नहीं चाहिए। यदि शुद्ध आत्मा पर भी कर्ममल का लगना माना जाएगा तो कर्ममुक्त शुद्ध परमात्मा पर भी कर्ममल लग जाएगा। ऐसी स्थिति में शुद्ध आत्मा भी कर्मलिप्त होकर पुनः पुनः संसार में आवागमन करने लगेगी। परन्तु दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार कर्मबीज दग्ध हो जाने के पश्चात् कर्ममुक्त शुद्ध सिद्ध परमात्मा संसार में फिर कभी नहीं आते।[१]

'आत्मा प्रथम है या कर्म?' यह ऐसी प्रश्नावली है, जिसका कोई उत्तर आत्मा को या कर्म को प्रथम मानने वालों के पास नहीं है। इसलिए कर्म और आत्मा, इन दोनों में भी पहले-पीछे का प्रश्न खड़ा किया जाएगा, तो अनेक उलझनें आकर व्यक्ति के दिमाग के चारों ओर घेरा डालकर खड़ी हो जाएँगी, विभिन्न तर्क-वितर्क अपना तीर तान कर समाधान प्राप्त करने के लिए उपस्थित हो जाएँगे।[२]

कर्म अकारण ही कैसे लग गए आत्मा के ?

यदि आत्मा का अस्तित्व कर्म के अस्तित्व से पहले माना जाए तो शंका होगी कि अगर कर्म पहले अस्तित्व में नही था तो इसका मतलब यह हुआ कि आत्मा पर किसी प्रकार का कर्ममल नहीं लगा था, वह अपने पूर्ण शुद्ध रूप में था। ऐसी दशा में, कर्म अकारण ही हठात् कैसे लग गए आत्मा के ? आत्मा (जीव) के बिना किये ही कर्म उसके साथ कैसे लिपट गए ? जब 'कर्म' का पहले अस्तित्व ही नहीं था,[३] और आत्मा के साथ उसके लगने

---

१. जहा दड्ढाणं बीयाणं ण जायंति पुण अंकुरा।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, ण जायंति भवांकुरा॥ — दशाश्रुतस्कन्ध ५/१५

२. (क) कर्ममीमांसा पृ. १७
(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन, पृ. ११/१२/१३

३. (क) कर्मवाद : एक अध्ययन, पृष्ठ १२

का कोई कारण ही नहीं था, तब बिना ही कारण के कर्म कहाँ से कब और कैसे लग गए ? कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। ऐसी स्थिति में कर्म के कारणभूत रागद्वेषादि के अभाव में शुद्ध आत्मा के साथ कर्म का संयोग क्यों और कैसे हो गया ? अगर कहें कि आत्मा के साथ कर्म यों ही लग गए तब तो यों ही, बिना कारण के आकाश, पाषाण, दीवार आदि जड़पदार्थों के भी कर्म लग जाने चाहिए। किन्तु ऐसा नही होता। अतः कर्म से पूर्व अस्तित्व में आये हुए आत्मा के अकृत कर्म लगना तो कार्य-कारण नियम के विरुद्ध है।[१]

कहा भी है "यदि जीव (आत्मा) को पहले कर्मरहित मान लिया जाए तो उसके बन्ध का अभाव हो जाएगा। और शुद्ध आत्मा के भी कर्मबन्ध मानने पर उसकी मुक्ति कैसे होगी ? पंचाध्यायीकार का आशय यह है कि पूर्व-अशुद्धता के बिना बन्ध नहीं होता। पूर्व मे शुद्ध जीव के भी कर्मबन्ध मान लेने पर निर्वाण-प्राप्ति असंभव हो जाएगी। जब शुद्ध जीव के भी कर्म बंधने लगेगा, तब संसारचक्र बार-बार चलते रहने से मुक्ति कभी नहीं हो सकेगी।"[२]

शुद्धि और अशुद्धि का क्रम कैसे टूटेगा ?

अगर विशुद्ध आत्मा के अकस्मात् ही कर्म लग जाते है, ऐसा माना जाएगा, तब तो तप, त्याग, संयम, वैराग्य, एव रत्नत्रयरूप धर्म एवं क्षमादि दशविध उत्तम धर्म की साधना का क्या अर्थ रहेगा ? और कर्मों के बन्ध और मोक्ष की दूरगामी व्यवस्था भी कैसे बनेगी ? एक ओर, लोग तप, संयम आदि की साधना करके कर्ममल को धोकर आत्मा को विशुद्ध बनाएँगे, दूसरी ओर उनकी विशुद्ध हुई आत्मा पर भी कर्म अकस्मात् चिपटते रहेंगे। यह तो हस्तिस्नानवत् क्रिया हो जाएगी। जैसे हाथी सरोवर मे नहा कर अपने शरीर को स्वच्छ करता है, फिर कुछ देर के बाद ही वह अपने शरीर पर कीचड़ उछाल कर उसे गंदा कर देता है। हाथी की तरह आत्मा के ऐसे शुद्धीकरण से क्या लाभ हुआ ? पूर्वोक्त साधना का अन्तिम प्रयोजन तो कुछ भी सिद्ध नहीं हुआ। एक बार आत्मा विशुद्ध हुई, उसके फिर कर्ममैल लगा और फिर वही अशुद्धि आ धमकी। फिर तो आत्मा और कर्म की यह परम्परा सदा-सदा के लिए चलती रहेगी, इस परम्परा के टूटने का अवसर कदापि नही आएगा। ऐसी स्थिति में प्रत्येक जीव शुद्धि के बाद अशुद्धि और

१. कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. १२

२. तद्यथा यदि निष्कर्मा जीवः प्रगेव तादृशः ।
बन्धाभावेऽथ शुद्धेऽपि बन्धश्चेन्निर्वृतिः कथम् ? —पचाध्यायी २/३७

अशुद्धि के बाद फिर शुद्धि के उतार चढ़ाव के दौर में चलता रहेगा। यह कहाँ का सिद्धान्त है कि शुद्धि के बाद फिर अशुद्धि आ जाए। वस्तुतः उसे शुद्धि ही नहीं कहना चाहिए।[१] ज्ञानसार में इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है—जो साधक समता-कुण्ड में स्नान करके अनन्त-अनन्त काल के लिए कषाय तथा रागद्वेषादि जनित कर्मकृत मल को धो डालता है; वह फिर कभी अशुद्ध (मलिन) नही होता। वास्तव में, वह अन्तरात्मा ही परम शुद्ध विमल है।[२]

कर्म पहले था, आत्मा बाद में ? यह भी ठीक नहीं

यदि कहा जाये कि कर्म पहले से ही था, आत्मा बाद में आकर खड़ा हो गया, तब यह प्रतिप्रश्न होगा कि आत्मा (जीव) के बिना कर्म किया किसने ? चूंकि आत्मा तो पहले था नहीं, जिसके द्वारा किये जाने से वह 'कर्म' कहलाता। फिर कर्म की सत्ता और कर्म की 'कर्म संज्ञा' आत्मा से पहले हो ही कैसे सकेगी? अर्थात् आत्मा के द्वारा किये बिना कर्म ही कैसे कहलाएगा ?[३]

दूसरी बात—'कर्म पहले और आत्मा बाद में,' इस मन्तव्य के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि आत्मा ने भी एक दिन जन्म लिया। आत्मा भी एक उत्पन्न-विनष्ट होने वाला पदार्थ हुआ। संसार का यह नियम है कि जिसका जन्म होता है, उसका मरण भी अवश्य होता है, परन्तु आत्मा के उत्पन्न-विनाश या जन्म-मरण का विचार भारत के किसी भी आस्तिक दर्शन को मान्य नहीं है। सभी आस्तिक दर्शनों ने आत्मा को एकस्वर से अजन्मा, नित्य, अविनाशी और शाश्वत माना है।[४]

ऐसी दुविधापूर्ण स्थिति में जैनदर्शन के महामनीषियों ने 'आत्मा और कर्म', इन दोनो मे पहले कौन और पीछे कौन? यह गुत्थी दोनों को अनादि, तथा दोनो के सम्बन्ध को भी अनादि कहकर सुलझा दी है।

---

१. (क) कर्ममीमांसा पृ. १७
(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. १३

२. यः स्नात्वा समताकुण्डे, हित्वा कश्मलनं मलम् ।
पुनर्न याति मालिन्यं, सोऽन्तरात्मा परः शुचिः॥
—ज्ञानसार (उपाध्याय यशोविजय जी) विद्याष्टक ५

३. कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. १४

४. (क) वही पृ. १४
(ख) जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।'— गीता
(ग) अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो.........। — गीता

ईश्वरकृत सृष्टि-रचना का सयुक्तिक निराकरण

यद्यपि संसारी आत्मा (जीव) और कर्म के अनादि सम्बन्ध की युक्तिपूर्ण मान्यता से ईश्वरकर्तृत्ववादी सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि विश्व की उत्पत्ति और रचना का मुख्य कारण कर्म नहीं, ईश्वर है। उपनिषद् में बताया गया है—'ईश्वर ने इच्छा की-मैं एक (अकेला) हूँ, बहुत हो जाऊँ'। इस प्रकार उसने जगत की सृष्टि की। इसकी विस्तृत चर्चा मनुस्मृति तथा अन्य वैदिक पुराणों में की गई है। वहाँ लिखा है—

"यह संसार पहले तम-प्रकृति में लीन था। इससे यह दिखलाई नहीं देता था। सर्वत्र गाढ़निद्रा की सी अवस्था थी। तब अव्यक्त स्वयम्भू अन्धकार का नाशकर पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) को प्रकट करते हुए स्वयं व्यक्त हुए..........। अनेक प्रकार के जीवों की सृष्टि की। इच्छा से उस ईश्वर ने ध्यान करके सर्वप्रथम अपने शरीर से जल उत्पन्न किया और उसमें शक्ति रूप बीज डाला। वह बीज सूर्य के समान चमकने वाला सोने का-सा अण्डा बन गया।[१]

"उस अण्डे में वह ब्रह्मा एक वर्ष तक रहा। फिर उसने अपने ध्यान से स्वयं ही उस अण्डे के दो टुकड़े कर डाले। ब्रह्मा ने इन दो टुकड़ों से स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया। मध्य में आकाश, आठो दिशाएँ और जल के शाश्वत स्थान—समुद्र का निर्माण किया। फिर आत्मा से मन और मन से अहंकार तत्त्व को प्रकट किया। साथ ही बुद्धि, तीनों (सत्व, रज और तम) गुण, और विषयों को ग्रहण करने वाली पाचों इन्द्रियों को क्रमशः उत्पन्न किया। ......फिर उस ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में वेद के शब्दों से सबके अलग-अलग नाम और कार्य नियत कर दिये। और उनकी संस्थाएँ बना दीं। सनातन ब्रह्मा ने यज्ञसिद्धि के लिये अग्नि, वायु और सूर्य से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद, इन तीनो वेदों को प्रकट किया। फिर समय, समय के लिये विभाग, नक्षत्र, ग्रह, नदी, समुद्र और पर्वत बनाए।"

"हिरण्यगर्भ ने अपने शरीर के दो भाग किए और आधे से पुरुष और आधे से स्त्री बन गया। उस स्त्री मे उसेने विराट् पुरुष की सृष्टि की।"

"मैंने प्रजाओं की सृष्टि की इच्छा से अतिदुष्कर तपस्या करके दस महर्षियों को उत्पन्न किया ....। इस प्रकार मेरी आज्ञा से इन महात्माओं ने अपने तप-योग से कर्मानुसार स्थावर-जगम की सृष्टि की।"[२]

---

१. (क) 'सोऽकामयत— एकोऽहं बहुस्याम् । — तैत्तिरीय उपनिषद्

(ख) जैनगजत् में प्रकाशित भदन्त आनन्द कौशल्यायन के लेख पर से

(ग) महाबन्धो भाग २ की प्रस्तावना पृ. १५ से साराश ।

२. 'जैनजगत्' में प्रकाशित 'भदन्त आनन्द कौशल्यायन" के लेख से

इस पर से यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्मा या ईश्वर के मन में इस क्रम से सृष्टि-रचना का विचार क्यों आया ? उसने जिस क्रम से आदि में पशु, पक्षी, मत्स्य, सरीसृप और मनुष्य की उत्पत्ति की थी, आज भी उसी क्रम से वह उनकी उत्पत्ति क्यों नहीं करता ? क्यों नहीं वह वन्ध्या या पतिविहीना (विधवा या त्यक्ता) स्त्रियों को कम से कम एक पुत्र दे देता, जिससे वे अपने वन्ध्यापन या पति के अभाव के दुःख को भूल जाएं ? वे मनुष्य जो कष्ट से जर्जर (पीड़ित) हो रहे हैं या जो धनाभाव के कारण पशुओं का सा जीवन बिता रहे हैं, उन्हें क्यों नहीं ऐसे साधन जुटा देता है, जिनका आलम्बन पाकर वे अपने कष्ट को कुछ कम करने में समर्थ हों ? उनके पाप ईश्वर को ऐसा नहीं करने देते, इस कथन में कुछ भी सार नहीं है, क्योंकि पुण्य के समान पाप का निर्माण भी तो उसने किया है। उसने पाप का निर्माण ही क्यों किया ?[1]

युक्ति, तर्क, प्रमाण और अनुभव के आधार पर विचार करने से सच्चे माने में यही ज्ञात होता है कि इस प्रकार विश्व की उत्पत्ति या रचना मानना भावुक कल्पना है। जो दर्शन ईश्वरकर्तृत्ववादी माने जाते हैं, उनसे भी इस कल्पना का समर्थन नहीं होता। ईश्वर-कर्त्तृत्ववाद के समर्थक दो मुख्य दर्शन हैं—एक न्यायदर्शन और दूसरा वैशेषिक दर्शन। परन्तु ये दोनों दर्शन पूर्वोक्त सृष्टिक्रम को स्वीकार नहीं करते।

तटस्थतया युक्तिपूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की यह रचना अनादि है और स्वतः रचित है। उसमें जो यत्किंचित् परिवर्तन समय-समय पर दिखाई देता है, उसमें किसी की इच्छा कारण न होकर परस्पर-सम्बद्ध घटनाक्रम ही उसके लिए उत्तरदायी है। सूर्य नियत समय पर उदित होता है और नियत समय पर अस्त होता है। इसमें किसी भी अज्ञात शक्ति का हाथ नहीं है। जगत् का यह क्रम अनादिकाल से इसी प्रकार चलता आ रहा है, और अनन्तकाल तक चलता रहेगा। जिन विचारकों का जगत् के इस स्वाभाविक क्रम की ओर ध्यान गया है, उन्होंने जगत् की यथार्थ स्थिति का विश्लेषण करके विश्व में स्थित अनेक पदार्थों के संयोग और स्वभाव को ही इसका कारण माना है। इसी प्रकार जीव और कर्म का ऐसा स्वभाव है, जिससे वे अनादिकाल से सम्बद्ध हो रहे हैं और जब तक उन्हें परस्पर बन्ध के कारणों (मिथ्यात्वादि) का संयोग मिलता रहेगा, तब तक वे बन्ध को प्राप्त होते रहेंगे।[2]

---

१. महाबंधो भाग—२ की प्रस्तावना से पृ. १५—१६

२. महाबन्धो भाग—२ की प्रस्तावना पृ. १६ (सारांश)

दोनों के अनादि सम्बन्ध का अन्त कैसे ?

आत्मा (जीव) और कर्म का अनादि सम्बन्ध मानने पर उस सम्बन्ध का अन्त कैसे होगा ? वह सम्बन्ध तोड़ा कैसे जाएगा ? क्योंकि सामान्य नियम यह है कि जो अनादि होता है, वह अनन्त भी होता है, उसका कभी अन्त नहीं हो सकता। जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने इसका समाधान करते हुए कहा कि कर्म और आत्मा के अनादि सम्बन्ध के बारे में यह नियम सार्वकालिक नहीं है। अनादि के साथ अनन्तता की कोई व्याप्ति नहीं है। अनादि होते हुए भी सान्तता पाई जाती है। बीज-वृक्ष-सन्तति को परम्परा की अपेक्षा अनादि कहा जाता है, किन्तु बीज को जला देने पर फिर वृक्ष की परम्परा का अन्त आ जाता है । इसी प्रकार तत्त्वार्थसार में कहा गया है "—आत्मा (जीव) से कर्मबीज के दग्ध हो जाने पर फिर भवांकुर की (संसार में उत्पन्न होने की) उत्पत्ति नहीं होती। बीज-वृक्ष परम्परा जैसे टूट जाती है, वैसे ही कर्म का आत्मा के साथ सम्बन्ध टूट सकता है। इसी तथ्य का सूत्रकृतांगसूत्र में इंगित किया गया है—"पहले बधन को जानो-समझो, फिर उसको तोड़ डालो।"[1]

जो धीर-वीर मुनिपुंगव होते हैं, वे अपने-तप-संयम में सुदृढ़ रहते हैं। उन्हें अनायास ही कर्म से छुटकारा मिलता रहता है। अतः यद्यपि जैसे स्वर्ण और मिट्टी का, दूध और घी का, बीज और वृक्ष का अनादि सम्बन्ध है, तथापि प्रयत्न-विशेष से वे पृथक-पृथक होते देखे जाते हैं; वैसे ही आत्मा और कर्म के अनादि सम्बन्ध का अन्त हो जाता है।

पंचाध्यायी मे आत्मा और कर्म दोनों के सम्बन्ध को स्वर्ण और मिट्टी के सम्बन्ध के समान अनादि बताया है। योगीश्वर आनन्दघनजी ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया है कि कर्मप्रकृति और पुरुष (आत्मा) की जोड़ी स्वर्ण और उपल के समान अनादि है।[2] सोना खान से निकलता है, तब अशुद्ध होता है, उसमें मिट्टी और पत्थर मिले रहते हैं, वे दोनों उस समय

---

१. (क) दग्धे बीजे तथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नाकुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे न प्ररोहति भवांकुरः ॥ —तत्त्वार्थसार

(ख) कर्मग्रन्थ भा. १ (विवेचन) की प्रस्तावना (मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी म.) . पृ ४० से

(ग) बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधण परिजाणिया ।' — सूत्रकृताग १/१/१/१

२. (क) 'द्वयोरप्यनादिसम्बन्धः कनकोपलसन्निभः ।' —पचाध्यायी २/३६

(ख) 'कनकोपलवत् पयडी-पुरुष तणी रे, जोड़ी अनादि-स्वभाव ।"
— आनन्दघन चौबीसी (अध्यात्मदर्शन) से

एकमेक से दिखते हैं, किन्तु स्वर्णकार द्वारा वह मिट्टी-मिश्रित स्वर्ण आग में तपाया-गलाया जाता है, तो स्वर्ण में से मिट्टी आदि मैल कट-छटकर अलग हो जाता है; तब स्वर्ण और मिट्टी का जो अनादि-सम्बन्ध था, वह टूट जाता है, अशुद्ध स्वर्ण शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी अनादिकाल से चला आ रहा है। जीव अपने पूर्वकृत कर्मों का परिभोग करता रहता है और नये कर्मों का बन्धन भी करता रहता है। कर्मबन्धम की यह प्रक्रिया अनादिकालीन होते हुए भी चैतन्यवान जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों को बिलग करके अपने अमूर्त, शुद्ध, निरंजन, निराकार, अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप स्वरूप को प्रकट कर सकता है।

स्पष्ट शब्दों में कहें तो कर्म और आत्मा का सम्बन्ध अनादि होने पर भी उसे तप, त्याग, व्रत, संयम आदि की साधना से तोड़ा-काटा जा सकता है।

चार प्रकार के सम्बन्ध

आत्मा और कर्म के सम्बन्ध के रहस्य को समझने के लिए हमें सर्वप्रथम इन चार प्रकार के सम्बन्धों का परिज्ञान कर लेना चाहिए। सम्बन्ध चार प्रकार के होते हैं—(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३) सादि-अनन्त और (४) सादि-सान्त। जिस सम्बन्ध का न तो आदिकाल हो, न ही अन्तकाल, वह अनादि-अनन्त होता है। जिसका आदिकाल तो न हो, किन्तु अन्तकाल हो, वह अनादि-सान्त होता है। जिसका आदिकाल हो, पर अन्तकाल न हो, वह सादि-अनन्त होता है, और जिसका आदिकाल भी हो तथा अन्तकाल भी, वह सम्बन्ध सादि-सान्त होता है।[1]

आत्मा और कर्म का तीन प्रकार का सम्बन्ध

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कब से है और कब तक रहेगा ? इस प्रश्न का समाधान जैनदर्शन ने इस प्रकार किया है— 'आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-अनन्त भी है, अनादि-सान्त भी है, और सादि-सान्त भी'।[2]

---

१. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनि जी) से पृ. ३६

२. गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए, अत्थेगइए अणादीए सपज्जवसिए, अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए; नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए । से केणट्ठेणं ? गोयमा! इरियावहिय बंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए, भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए, अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए, से तेणट्ठेणं ।

—भगवतीसूत्र श. ६, उ. ३

प्रवाहरूप से आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध

कर्म-प्रवाह की दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि माना गया है। प्रवाहरूप या समष्टि की दृष्टि से कर्मसंतति की कोई आदि (प्रारम्भ) नहीं है। अनादिकाल से जीव कर्मों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है। अतीत काल में ऐसा कोई समय नहीं आया, जब यह आत्मा कभी कर्मों से जकड़ा हुआ या पृथक नहीं था। भूतकाल में ऐसी कोई घड़ी नहीं थी कि आत्मा और कर्मपरमाणु पृथक-पृथक पड़े हों, और किसी ने किसी समय उन्हें मिश्रित कर दिया हो। ऐसा होने पर तो कर्ममुक्त सर्वथा विशुद्ध सिद्धालयस्थित आत्मा भी अकारण ही स्वतः कर्मबद्ध हो जाएगी, अपनी अकर्म स्थिति को सुरक्षित नहीं रख पाएगी। अतः आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को प्रवाहरूप से अनादि ही मानना चाहिए।[१]

भव्य और अभव्य जीव का लक्षण

कर्ममुक्ति की साधना की दृष्टि से दो प्रकार के जीव माने जाते हैं— भव्य और अभव्य। जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपी सद्धर्म की आराधना करके मुक्त होने की क्षमता है वह जीव भव्य कहलाता है और जिस जीव में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता, सम्यग्दर्शन की ज्योति से अपनी अन्तरात्मा को आलोकित करने की सामर्थ्य नहीं है वह अभव्य कहलाता है।[२]

अभव्य जीव का कर्म के साथ अनादि-अनन्त सम्बन्ध

जैनदृष्टि से अभव्यजीव अपने आत्म-प्रदेशों से कर्म-परमाणुओं को सर्वथा पृथक् कदापि नहीं कर पाते। उनके आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध सदैव सतत किसी न किसी रूप में बना ही रहता है। अतएव अभव्यजीवों (आत्माओं) का कर्म के साथ सम्बन्ध अनादि-अनन्त माना गया है। वन्ध्या नारी लाख प्रयत्न करले, फिर भी वह माँ बनने का सौभाग्य प्रप्त नहीं कर सकती, वैसे ही अभव्य जीव भी अपनी स्वभावसिद्ध प्रकृति के कारण सम्यग्दर्शन का स्पर्श कदापि नहीं कर पाता। वह मिथ्यात्व के गहन अन्धकार में डूबा हुआ ही समग्र जीवन यापन करता है। अतः ऐसे अभव्य जीव (आत्मा) का कर्म-सम्बन्ध सदैव स्थायी होने से अनादि-अनन्त कहलाता है।[३]

---

१. ज्ञान का अमृत से, पृ. ३७

२. ज्ञान का अमृत, पृ. ३७

३. वही, पृ. ३७

भव्यजीव का कर्म के साथ सम्बन्ध अनादि-सान्त

भव्यजीव का कर्म के साथ सम्बन्ध अनादि-सान्त माना जाता है। क्योंकि भव्यजीव साधनानुरूप योग्य साधन प्राप्त होने पर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, तत्त्वों का ज्ञान करता है, तत्पश्चात सम्यक्चारित्र का पालन करके कर्मों को आंशिकरूप से आत्मा से पृथक् (निर्जरा) कर देता है। इसके पश्चात् सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय की सम्यक् आराधना साधना करके समस्त कर्मों को क्षय कर डालता है, अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध को सर्वथा समाप्त कर देता है, और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाता है। इसी कारण भव्यजीव के कर्म-सम्बन्ध को अनादि-सान्त माना गया है। अर्थात्--कर्मप्रवाह की दृष्टि से भव्यजीव का कर्म-सम्बन्ध अनादि है किन्तु उसका अन्त अवश्य है।

आत्मा और कर्म का संयोग वियोगपूर्वक नहीं होता

इस सम्बन्ध में एक शंका उठाई जाती है कि आत्मा और कर्मों के सम्बन्ध (सयोग) को यहाँ अनादिकालीन कहा गया है, यह कैसे ? क्योंकि विश्व में जितने भी संयोग (सम्बन्ध) होते हैं, वे सब सादि (आदिकाल वाले) होते हैं, अर्थात् सयोग-वियोगमूलक होते हैं। जिन दो वस्तुओं का संयोग पाया जाता है, वे पहले कभी न कभी वियुक्त अवश्य थी। अतः किसी भी सयोग को अनादि नही कहा जा सकता। इसका समाधान भी जैनाचार्यों ने यो किया है—"संयोग वियोगपूर्वक ही हो, ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। सयोग वियोगपूर्वक भी होता है, वियोग पूर्वरहित भी। व्यवहार मे ऐसे कई संयुक्त पदार्थ भी देखे जाते हैं, जो पहले कभी वियुक्त थे ही नहीं। जैसे—खान के निकले हुए सोने को ही ले लें। वह स्वर्ण मिट्टी से संयुक्त होता है, सुनार के हाथो में जाकर जब उसका मल दूर किया जाता है, तब वह शुद्ध स्वर्ण कहलाता है। यदि कोई पूछे कि इस सोने के साथ मिट्टी का संयोग कब से हुआ ? क्या ऐसा भी कोई समय था, जब सोना और मिट्टी अलग-अलग पड़ी हों, और किसी ने दोनों को मिलाकर संयुक्त कर दिया हो ? इसका उत्तर यही मिलेगा कि स्वर्ण सदा से ऐसा ही था, स्वर्ण और मिट्टी का संयोग वियोगपूर्वक (वियोगमूलक) नहीं था। ऐसा कोई काल नहीं था, जब इन दोनों का संयोग कभी वियुक्तदशा में रहा हो। जैसे—स्वर्ण और मिट्टी आदि के संयोग (सम्बन्ध) का कोई आदिकाल नहीं है, वह अनादि है, वैसे ही जीव (आत्मा) और कर्म परमाणुओं का संयोग (सम्बन्ध) भी अनादि समझना चाहिए।[1]

१. ज्ञान का अमृत. पृ. ३९

जीव और कर्म का संयोग प्रवाहसन्तति की अपेक्षा अनादि

यह तो सभी अनुभव करते हैं कि संसारी जीव सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते किसी न किसी तरह की हलचल किया करता है, हलचल का होना ही कर्म-सम्बन्ध (संयोग) का कारण है। संसारी जीवों के कर्म का प्रवाह कब से चला ? इसे कोई भी नहीं जानता, और न कोई बता सकता है। भविष्यकाल के समान भूतकाल भी अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय किसी दूसरे शब्द से होना असम्भव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना अन्य कोई चारा नहीं है। जिस प्रकार खान के भीतर स्वर्ण और पाषाण, दूध और घृत, अण्डा और मुर्गी, या बीज और वृक्ष का संयोग (सम्बन्ध) अनादिकालीन चला आ रहा है, उसी प्रकार जीव और कर्म का भी प्रवाह-सन्तति की अपेक्षा स्वयंसिद्ध अनादि-कालीन मानना चाहिए।[१]

अनादि की व्याख्या को समझकर सादि मानने में दोष

कुछ लोग अनादि की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घबरा कर कर्मप्रवाह को सादि बताने लगते हैं, वे लोग स्वमतिकल्पित दोष की आशंका करके उसे दूर करने के प्रयत्न में बड़े दोष को स्वीकार कर लेते हैं कि यदि कर्मप्रवाह की आदि मानते हैं तो जीव को पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिए। फिर उसे कर्मलिप्त होने का क्या कारण ? यदि सर्वथा शुद्ध-बुद्ध जीव भी कर्मलिप्त हो जाता है तो मुक्त हुए जीव भी कर्मलिप्त होने लगेगे। वैसी स्थिति में मुक्ति को सोया हुआ ससार ही कहना पड़ेगा। परन्तु इस सिद्धान्त का निराकरण करके सभी प्रतिष्ठित आस्तिक दर्शनों ने कर्मप्रवाह के अनादित्व को तथा मुक्त जीवों को पुनः संसार में न लौटने की बात को एकस्वर से स्वीकार किया है।[२]

सादि-सान्त सम्बन्ध की मीमांसा

अतः यह स्पष्ट हो गया कि अभव्य जीवों का कर्म-सम्बन्ध अनादि-अनन्त है, और भव्यजीवों का कर्म-सम्बन्ध अनादि-सान्त है। अब रही बात तीसरे सादि-सान्त सम्बन्ध की। ऐसा कर्म सम्बन्ध तो भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों में पाया जाता है। अर्थात्—व्यक्तिरूप से कोई एक कर्म अनादि नहीं है। व्यक्ति की अपेक्षा से कर्म सादि है। आदिकाल वाला है और एक दिन उस कर्म की समाप्ति (भोगने के बाद क्षय) हो जाने से वह सान्त (अन्तकाल वाला) भी है। एक जीव (आत्मा) से पूर्वबद्ध कर्म अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर पृथक् (वियुक्त) होते जाते हैं और

---

१. कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. ३८

२. वही, पृ. ३९

नये-नये कर्म बंधते जाते हैं। आत्मा से पुराने कर्मों के वियुक्त (अलग) होने को जैन परिभाषा में 'निर्जरा' कहते हैं और आत्मा के साथ नये कर्मों के सम्बन्ध (युक्त) हो जाने को 'बन्ध' कहते हैं।[1] इस प्रकार प्रवाहरूप से कर्म के अनादि होने पर भी व्यक्तिशः वह अनादि नहीं है । और अहिंसादि के आचरण से नये कर्मों का प्रवाह रुक जाने (संवर) से तथा तप, संयम आदि के द्वारा प्राचीन (पूर्वबद्ध) कर्मों के नष्ट हो जाने से आत्मा मुक्त हो जाती है। यों कर्मों की अनादि-परम्परा प्रयत्न-विशेषों से समाप्त हो जाती है और नये कर्मों का आस्रव और बन्ध पुनः नहीं होता। अतः भिन्न-भिन्न कर्मों के संयोग का प्रवाह ही अनादिकालीन है, किसी एक कर्म-व्यक्ति का संयोग नहीं। वह तो सादि-सान्त है। किसी एक कर्मविशेष का आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा हो, ऐसी जैन कर्मविज्ञान मान्यता नहीं है।[2]

इसे एक उदाहरण से समझिए—मान लीजिए, एक मनुष्य ने किसी की हत्या कर दी। हत्या करने के बाद वह पकड़ा गया। उस पर अभियोग चला और अपराध सिद्ध होने से न्यायाधीश ने उसे मृत्युदण्ड का आदेश दिया। यथासमय उसे फाँसी पर लटका दिया गया। जिस कर्म (मोहनीय-कर्म) के कारण उसे मृत्युदण्ड मिला, उस कर्म की दृष्टि से वह कर्म-सम्बन्ध सादि हुआ, क्योंकि एक दिन उस कर्म का प्रारम्भ हुआ था, और दण्ड भोगने के बाद आज उस की समाप्ति (क्षय) हो गई। इस दृष्टि से वह सान्त हुआ। इस दृष्टि से यह कर्म-सम्बन्ध-सादि-सान्त कहलाता है।[3]

आशय यह है कि किसी एक कर्मविशेष को लेकर जब चिन्तन किया जाता है, तब वह कर्म-सम्बन्ध सादि-सान्त सिद्ध होता है और जब कर्मप्रवाह को लेकर चिन्तन किया जाता है, तब कर्म-सम्बन्ध अनादि-कालीन सिद्ध होता है, क्योंकि जब व्यक्ति के जीवन के अतीतकाल की ओर दृष्टिपात किया जाता है, तब कोई ऐसी घड़ी नहीं मिलती, जब आत्मा कर्ममल से या कर्म-परमाणुओं के सम्बन्ध से सर्वथा रहित रहा हो। इस

---

१. (क) ज्ञान का अमृत
   (ख) कर्मवाद : एक अध्ययन पृ. १५

२. (क) स वीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं ।
   तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चांतरायं पकरेई कम्मं।।
   सव्वंतओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए ।
   अणासवे झाण समाहिपत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सद्धे॥
   —उत्तराध्ययन अ. ३२/१०८-१०९

   (ख) कर्ममीमांसा
   (ग) ज्ञानमीमांसा पृ. ३९/४०

३. ज्ञान का अमृत, पृ. ३९,४०

दृष्टि को मुख्यता देकर जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादिकालीन कहा गया है।[१]

आत्मा के साथ कर्म के अनादि और सादि सम्बन्ध का स्पष्टीकरण

प्रवाह-सन्तति की अपेक्षा से आत्मा के साथ कर्म के अनादि सम्बन्ध को और व्यक्ति की अपेक्षा से सादि सम्बन्ध को स्पष्टतः समझाने के लिए पंचास्तिकाय में गया गया है—

"जो जीव संसार में स्थित है, अर्थात् जन्म-मरणादिरूप संसारचक्र में पड़ा हुआ है, उसे मन-वचन-काया में परिस्पन्दन से राग-द्वेषरूप परिणाम होते हैं। परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों के कारण नाना गतियों में गमन करना (जन्म लेना) पड़ता है। उस गति को प्राप्त कर लेने पर वहाँ जन्म लेना पड़ता है, जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर प्राप्त होने से उसमें इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से वह विषयों का ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण से फिर रागद्वेषदिरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसार चक्र में पड़े हुए जीव के (रागादि) भावों से कर्म और कर्म से भाव उत्पन्न होते रहते हैं। यह कर्मप्रवाह अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है और भव्यजीव की अपेक्षा से अनादि-सान्त है।"[२]

सैद्धान्तिक दृष्टि से देखा जाये तो आत्मा के साथ कर्म का संयोग प्रथम (मिथ्यात्व गुणस्थान) से प्रारम्भ होता है और तेरहवें (सयोगी केवली) गुणस्थान तक यह चलता है। चौदहवे (अयोगी केवली) गुणस्थान में योगों (मन-वचन काया की प्रवृत्ति) का सर्वथा निरोध हो जाने पर आत्मा कर्म से सर्वथा वियुक्त (मुक्त) हो जाता है। आत्मा का फिर कर्म के साथ पुनः सयोग नही होता।

इस प्रकार कर्म का अस्तित्व अनादि सिद्ध होने के साथ-साथ 'आत्मा के साथ कर्म कब से लगते हैं और कब तक रहते हैं ?', इस सन्दर्भ में— 'आत्मा पहले या कर्म ?', आत्मा के साथ कर्म के त्रिविध सम्बन्ध कौन से और कैसे हैं ? इन सब शकाओ का युक्तिसंगत यथोचित समाधान दिया गया है। ■

---

१. ज्ञान का अमृत पृ. ४०

२. (क) जो खुल ससारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं, कम्मादो होदि गदि सु गदि ।।१२८।।
गदिमधिगदस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायते ।
तेहिं दु विसयगहण, तत्तो रागो व दोसा वा ॥१२९॥
जायदि जीवस्सेव भावो, संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो, सणिधणो वा ॥१३० ॥
—पंचास्तिकाय १२८ से १३०

(ख) कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना, पृ. ३९-४०

११

कर्म अस्तित्व के प्रति अनास्था अनुचित

आत्मा और कर्म के प्रति आस्था : तब और अब

प्राचीन भारत के उज्ज्वल इतिहास की पृष्ठभूमि आत्मा, कर्म, लोक तथा परलोक के प्रति आस्था के तत्त्वज्ञान द्वारा समृद्ध हुई थी। उन दिनो अधिकांश लोग आत्मा और धर्म-कर्म के प्रति दृढ़ आस्थावान् थे। उन्हें कोई भय या प्रलोभन देकर विचलित करने आता तो भी वे किसी भी मूल्य पर अपनी आत्मा के शाश्वत अस्तित्व के, कर्मों की जन्म-जन्मान्तर चलने वाली अविच्छिन्नता के, स्व-पर-कल्याणकर धर्म के आचरण एवं फल के प्रति अपने सुदृढ़ विश्वास को कभी नहीं छोड़ते थे, और न ही कभी उसे जर्जर एवं शिथिल होने देते थे। ऐसे पवित्र वातावरण में व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय एवं आध्यात्मिक प्रगति की अनेकानेक उपलब्धियाँ दृष्टिगोचर होती थीं। उनसे अगणित लोगों को प्रेरणा भी मिलती थी।

आज आत्मा और कर्म के अस्तित्व पर आस्था का सुनहरी मुलम्मा तो चढ़ा हुआ है, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से, तथा आध्यात्मिक चिन्तन की दृष्टि से वह खोखला ही नहीं, विकृत भी होता जा रहा है। फलतः उसका लाभ मिलने की अपेक्षा उसकी विकृति की सड़ान की दुर्गन्ध से हानि ही अधिक उठानी पड़ रही है। आत्मा और कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में आज अनेकों प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों और लेखों के बावजूद भी, अर्थात् आत्मा और कर्म के अस्तित्व और तत्व के ज्ञान-विज्ञान में वृद्धि होने पर भी संसार के अधिकांश बुद्धिजीवियों की आस्था इन पर से डगमगाने लगी है।

वर्तमान में आस्था-संकट के दुष्परिणाम

अब प्रायः यह समझा जाने लगा है कि हम चाहे जैसा उलटा-सीधा व्यवहार या कर्म करें, आत्मा के लिए वह हितकर हो या अहितकर, इसका विचार, आलोचना, प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप या प्रायश्चित्त करके आत्मशुद्धि की दिशा में बढ़ने की अपेक्षा सस्ते नुस्खे अपनाए जा रहे हैं। उन्हीं सस्ते नुस्खों के आधार पर मनुष्य स्वयं को परम आस्तिक, सम्यक्त्वी, विश्वासी

और फेथफुल मानने लगा है। इसी कोटि के अधिकांश लोग अपने दुष्कृत्यों पर पर्दा डालने के लिये मन्दिर, मस्जिद, गिर्जाघर, स्थानक, रामद्वारा, उपाश्रय, संगत, गुरुद्वारा आदि धर्मस्थानों में जाकर परमात्मा, भगवान्, गॉड, खुदा या प्रभु की थोड़ी-सी स्तुति, भक्ति, पूजा-पत्री, क्रियाकाण्ड आदि या धर्मक्रिया, स्तोत्रपाठ आदि करके स्वयं को परमात्मा के भक्त, आस्तिक, श्रद्धालु एवं धर्मात्मा मानने लगते हैं।[1]

देव आदि द्वारा मानव का भाग्य बदलने की अन्धश्रद्धा

आज एक प्रकार की अन्धश्रद्धा अधिकांश लोगों के दिमाग में घुस गई है कि अमुक देव या भगवान् अपनी मर्जी और मौज के मुताबिक किसी के भाग्य को बुरा और किसी के भाग्य को अच्छा लिखते या बनाते रहते हैं। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता नहीं है, वह अज्ञ है, असमर्थ है, भला उसके किये से क्या होगा ? इस प्रकार स्वयंकृत शुभकर्मों (सत्कृत्यों) द्वारा अपने भाग्य का निर्माण करने या उसे बदलने का तथ्य भुलाकर मनुष्य कर्म एवं कर्मफल के प्रति संदेहशील, द्विविधाग्रस्त, बन जाता है। परन्तु जैन दार्शनिकों ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करके कर्म के अस्तित्व के प्रति सशय, दुविधा, भ्रान्ति, अन्धविश्वास आदि की आंधी को उड़ा दिया है।"इस आत्मा ने पहले (इससे पूर्व या पूर्वजन्म में) जो शुभाशुभ कर्म स्वयं किया है, उसका शुभाशुभ फल वह स्वयं ही पाता है। यदि कोई दूसरा (देव, देवी या भगवान् आदि) किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं न किये हुए कर्म का फल दे देता है तो ऐसी स्थिति में स्वकृत कर्म निरर्थक ही ठहरेगा !"[2]

यों देवी-देव या भगवान् आदि कोई भी शक्ति अगर अपनी इच्छानुसार किसी को कर्म-फल देने लगे तो इन्हें शक्तिसम्पन्न पागलों के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ? भला, पूजा-पत्री और मिथ्या या अतिरंजित प्रशंसा तथा अत्यन्त सस्ती उपहार सामग्री पाकर कोई भी शक्ति या देवी-देव, भगवान् अपनी नैतिकता-प्रामाणिकता को ताक में रख देने वाले होते तो आधुनिक अस्त-व्यस्त रिश्वत-खोर या खुशामद से बहकने

---

१. जैसा कि तुलसीदासजी ने रामायण मे कहा है—
"वंचक भक्त कहाय राम के, किंकर कंचन कोह काम के ।"
जे जन्मे कलिकाल कराला, वायस के गुण, वेष मराला ॥"

२. जैसा कि सामायिक पाठ मे कहा गया है—
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीय लभते शुभाशुभम् ।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥—श्लोक ३०

वाले सरकारी अधिकारियों या बाबुओं से भी गये-बीते भौंदू सिद्ध होते ! परन्तु अन्धविश्वास प्रेरित व्यक्ति स्व-कर्म के अस्तित्व को भूलकर इनका स्वरूप और कार्य भी ऐसा ही मान बैठता है।

वर्तमान जीवन में भी देखा जाता है कि जो विद्यार्थी कसकर मेहनत करता है, उसे ही अवश्य उस सत्कृत्य का शुभ फल (उत्तीर्ण होने के रूप में) मिलता है। जो व्यायाम करता है, वही व्यक्ति सुदृढ़ व सशक्त शरीर वाला बनता है। दूसरा कोई देव या भगवान् ऐसा नहीं है, जो किसी को बिना ही अध्ययन किये परीक्षा में उत्तीर्ण कर दे या बिना ही व्यायाम आदि किये किसी के भी शरीर को सुदृढ़ एवं सुडौल बना दे, तब देव या भगवान् शुभाशुभ कर्म को किये बिना ही व्यक्ति को शुभ या अशुभ कर्म का अच्छा-बुरा फल कैसे दे देगा ?

कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्थाहीनता : क्यों और कैसे ?

इसी प्रकार दुष्कर्मों का तत्काल फल न मिलने के कारण कुछ लोगों की आस्था कर्म और कर्मफल से डगमगाने लगती है। वे इस तर्ज में सोचने लगते हैं कि हमारे दुष्कृतों को कौन देखता है ? फल तो तत्काल मिलने वाला है नहीं । बाद में भी किसी जन्म में मिलेगा, तब देखा जाएगा; परमात्मा से अपने उन दुष्कृत्यों एवं पापों के लिए माफी मांग कर उनके दुष्परिणामो से बच जाएँगे। कई लोग शुभकर्म करने वालों को निर्धन, अभाव-पीड़ित और दर-दर के मोहताज बनते और अशुभकर्म—पापकर्म या अधर्म करने वालों को सुख-सुविधाओं और आर्थिक सम्पन्नता से युक्त देखते हैं, तो उनका हृदय भी कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्थाहीन होने लगता है।

यह तो प्रतिदिन का अनुभव है कि आग को छूते ही तत्काल हाथ जल जाता है, मिर्च खाने से मुंह भी तत्काल जलता है, इसलिए आग को छूने और मिर्च को बिना सोचे-समझे खाने की कोई मूर्खता नहीं करता, किन्तु अन्य शुभ या अशुभ कर्मों का फल प्रायः तत्काल नहीं मिलता, उनके परिपाक में विलम्ब हो जाता है, इसी में बालबुद्धि के अदूरदर्शी लोग अधीर होकर यह सोचने लगते हैं कि कर्म नाम की कोई चीज संसार में नहीं है। यदि शुभ या अशुभ कर्म होता तो उसका फल तत्काल क्यों नही मिलता है। कई नास्तिक तो यहाँ तक कहने लगते हैं कि "बर्फ खाते ही तत्काल मुंह ठंडा हो जाता है, पानी में कूदते ही तत्काल डूबते हैं, शिकंजे में हाथ फंसाते हैं तो तत्काल हमारा हाथ दब जाता है। तब फिर अच्छे या बुरे कर्मों का फल देर से मिलने या इस जन्म में न मिलने की बात से कर्म को ही क्यों माना जाए ? जो कुछ अच्छा या बुरा करना हो करते जाओ।"

कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्थाहीन दो वर्ग

इस प्रकार कर्म के अस्तित्व को न मानने वाले दो वर्ग बन जाते हैं— एक वर्ग ऐसा है, जो परम्परा से कर्म और कर्मफल की बात सुनता आया है, पर इस समय उसकी आस्था कर्म के अस्तित्व के प्रति संशयग्रस्त हो गई है। दूसरा वर्ग—बिलकुल नास्तिक है। वह कर्म के अस्तित्व के विषय में संशय-सागर में मग्न होकर उल्टे-सीधे कुतर्क करता है, और कर्म के अस्तित्व से सर्वथा इन्कार करता है।

प्रथम वर्ग की अश्रद्धा का कारण

प्रथम वर्ग के लोग कर्म के अस्तित्व से सर्वथा इन्कार तो नहीं करते, किन्तु उनकी श्रद्धा कर्म के अस्तित्व के विषय में डांवाडोल हो जाती है। इसका एक कारण यह भी होता है कि ऐसे व्यक्ति कई बार ऐसी आकस्मिक दुर्घटनाओं, संकटों और विपदाओं से घिर जाते हैं कि उनसे जूझते-जूझते वे थक जाते हैं। जब उन्हें इस जन्म में प्राप्त संकटों एवं दुःखों का कुछ भी कारण समझ मे नहीं आता, अपनी स्मृति पर बहुत जोर लगा लेने पर भी उन्हें अपनी ऐसी कोई तात्कालिक भूल, गलती, अपराध या त्रुटि नहीं मालूम होती, तब कर्म और कर्मफल के प्रति उनकी रही-सही श्रद्धा भी विदा होने लगती है। तब वे कर्म के अस्तित्व के प्रति भी अश्रद्धाशील होकर यह सोचने लगते हैं कि धर्म-कर्म कुछ नहीं है। अगर कर्म होता तो इतने आकस्मिक सकटों की वृष्टि मुझ पर क्यो होती ? अमुक व्यक्ति ने ही मुझे हानि पहुँचाई होगी या अमुक देवी, देव या शक्ति ने मुझ पर कोप किया होगा ! इस प्रकार वह निमित्तों या देवी-देवों को कोसने लगता है। अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों-सुकर्मों की ओर उसका ध्यान ही नही जाता।

कर्म के प्रति आस्थाहीन : अर्थलिप्सु लोगों के चक्कर में

ऐसे समय में देवी-देवो, ग्रह-नक्षत्रों या भूत-प्रेतों के अर्थलिप्सु स्वार्थी एजेंट अपनी दूकान लगाकर बैठे मिलते हैं। संकटग्रस्त व्यक्ति किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर उन निपट स्वार्थी एजेंटों के पास जाकर आकस्मिक संकटों का कारण पूछते हैं तो वे तपाक से भूत-प्रेतों, अमुक देवी-देवों या अमुक ग्रह-नक्षत्रों का प्रकोप बतला कर पूजा-पाठ, ग्रहशान्ति अथवा भूत-प्रेतों के वशीकरण के बहाने उनसे पर्याप्त धन और साधन ऐंठ लेते हैं। अथवा कोई मंत्र-तंत्रवादी लोग उसके मन-मस्तिष्क में ऐसा बहम घुसा देते हैं कि किसी ने उस पर तांत्रिक प्रयोग या मारण, मोहन, उच्चाटन या वशीकरण मंत्र का प्रयोग कर दिया है। कर्म के प्रति पहले से संदिग्ध संकटग्रस्त व्यक्ति झटपट ऐसे लोगों के चक्कर में आ जाते हैं। वह ऐसा नहीं सोच पाता कि

इस जन्म में दूसरे किसी को कोई त्रास नहीं पहुँचाई है, फिर क्यों कोई अकस्मात् ही मुझे त्रास देगा या मुझे अकारण ही हानि पहुँचाएगा ? ऐसे समय में अर्थलिप्सु मांत्रिक या तांत्रिक लोग उसके दिमाग में यह बात ठसा देते हैं कि किसी ने उसे डरा कर उससे कुछ धन या अमुक वस्तु प्राप्त करने के इरादे से ऐसा किया होगा, अथवा किसी को प्रलोभन देकर उससे ऐसा जादू-टोना या टोटका कराया होगा। इस प्रकार के अर्थलोलुप व्यक्ति उस संकटग्रस्त को वाग्जाल में फँसाकर अथवा उलटे-सीधे कारण बताकर उसे आकस्मिक संकट के वास्तविक कारण की खोज से हटा देते हैं और अन्धश्रद्धा के मार्ग पर चलाकर उसे अधिकाधिक संकट के बीहड़ वन में भटका देते हैं। संकटों के वास्तविक निदान न होने से ऐसी विसंगत अटकलबाजियों से व्यक्तियों का मनःसमाधान नहीं हो पाता।[1] फलतः ऐसे भोले-भाले लोग कर्म के अस्तित्व के प्रति संदिग्ध ही बने रहते हैं।

नास्तिकों की कर्म के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धा का कारण और निवारण

नास्तिक वर्ग के लोग इन और ऐसे किसी अन्धविश्वास, गुरुडम, झाड़-फूँक या मंत्र-तंत्रों के चक्कर में तो प्रायः नहीं फसते, क्योंकि अधिकांश नास्तिक बुद्धिजीवी, तार्किक या प्रत्यक्षवादी होते हैं। वे अपने किसी भी आकस्मिक संकट, विघ्न, विपत्ति, दुःख, रोग या चिन्ता को सहसा पूर्वकृत कर्म का फल मानने से कतराते हैं। वे 'कर्म' के अस्तित्व को झटपट मानना ही नही चाहते, प्रत्युत ऐसे आकस्मिक संकटों के विषय मे ऊटपटांग कल्पना करके मन को समझा लेते हैं, परन्तु जब उनके किसी पुत्र, पुत्री, पत्नी या माता-पिता आदि किसी स्वजन को कोई भयंकर रोग हो जाता है, तो वे पहले तो यही कहकर समाधान कर लेते हैं—खान-पान की अमुक गलती के कारण इसके यह दुःसाध्य रोग हुआ। परन्तु जब खान-पान की कोई भी तात्कालिक गलती उक्त रोगी की नहीं मालूम होती, और वे उस आकस्मिक रोग का कारण नहीं खोज पाते, तब साधारण सर्दी-गर्मी आदि के लगने की किसी कारण की कल्पना करके मनःसमाधान कर लेते हैं। उसकी चिकित्सा के लिए नित-नये चिकित्सकों के दरवाजे खटखटाते रहते हैं, उनके द्वारा बताई हुई नई-नई दवाइयाँ तथा पेटेंट औषधियाँ रोगी को खिलाते रहते हैं। इतने पर भी जब बीमारी नहीं मिटती; उलटे, वह बढ़ती ही जाती है, तब वे आशा-निराशा के झूले में झूलते रहते हैं। औषध, उपचार, चिकित्सा आदि सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। बीमारी किसी भी

---

१. (क) समतायोग (रतनमुनि) से भाव-ग्रहण, पृ. ४९६

(ख) अखण्ड ज्योति जून १९७७ के अंक से सार संक्षेप

उपाय से मिटने का नाम ही नहीं लेती, बल्कि उसके साथ ही नित-नये उपद्रव खड़े हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में नास्तिक कहलाने वाले लोगों को भी यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ता है, कि "यह बीमारी जो असाध्य-सी हो रही है, इस रोगी के किसी न किसी पूर्वकृत कर्म का ही फल है।" जैसाकि योगशास्त्र में कहा है – "पंगुपन, कोढ़ीपन और कुणित्व (टोंटापन) आदि हिंसाजनित कर्म के फलों को देखकर विवेकी पुरुष निरपराध त्रसजीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करें।"[1]

वैद्यों एवं नीतिकारों की दृष्टि में रोगादि का मूल कारण : कर्म

प्रसिद्ध वैद्य चरक, धन्वन्तरि आदि भी रोगों का मूल कारण पूर्वकृत अशुभ कर्मों को ही मानते हैं। एक बार जिज्ञासु अग्निवेश ने आचार्य चरक से पूछा—"संसार में जो अगणित रोग पाये जाते हैं, उनका कारण क्या है ?" 'चरक संहिता' में आचार्य ने बताया कि-"व्यक्ति के पास जिस स्तर के पाप सचित हो जाते हैं, उसी के अनुरूप शारीरिक और मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।"[2]

नीतिकार चाणक्य ने भी स्पष्ट कहा—"दरिद्रता, दुःख, रोग, शोक बन्धन, संकट और विपत्तियाँ ये सब, प्राणियों के अपने अपराध (दुष्कर्म) रूपी वृक्ष के फल हैं।" मनुस्मृति में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—पापकर्म से व्याधि, बुढ़ापा, दीनता-निर्धनता, दुःख एव भयंकर शोक की प्राप्ति होती है। छोटे और बड़े पापों के क्रमशः छोटे-बडे फल प्राणी को भोगने पड़ते हैं। दुराचारी पुरुष लोक और समाज में निन्दित होता है, वह सदा दुःखी रहता है, रोगी रहता है और अल्पायु होता है। जो पाप कर्म करता है, वह उनके फलस्वरूप दरिद्र होता है, तथा क्लेश, दुःख, सताप, भय, संकट और रोगों से घिरा रहता है और अन्त मे बेमौत मरता है।[3]

---

१. पंगु-कुष्टि-कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसा फल सुधीः।
नीरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥ —योगशास्त्र प्र. २ श्लो. १९

२. चरक-संहिता

३. (क) आत्मापराध वृक्षस्य फलान्येतानि देहिनाम् ।
दारिद्र्य-दुःख-रोगानि बन्धन व्यसनानि च ॥ —चाणक्य नीति

(ख) पापेन जायते व्याधिः पापेन जायते जरा ।
पापेन जायते दैन्य, दुःखं शोको भयंकरः॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं, व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥ —मनुस्मृति

कर्मों के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धा होने पर

कर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में विविध महान पुरुषों के अनुभवयुक्त प्रमाण होने पर भी ये दोनों कोटि के व्यक्ति बार-बार कर्म के प्रति अश्रद्धा प्रकट करते रहते हैं। आगे चलकर दोनों वर्ग के लोग पुण्य (शुभकर्म) के सम्बन्ध में निराश और उदासीन तथा पाप (अशुभ कर्म) के सम्बन्ध में ढीठ, निर्भय और निःशंक हो जाते हैं, बेधड़क होकर पापकर्म करने लगते हैं। पापकर्मों के प्रति निःशंकता-निर्भयता और सत्कर्मों के प्रति उपेक्षा या उदासीन का प्रमुख कारण कर्म के अस्तित्व के प्रति संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय ही प्रतीत होता है। यही है, वह प्रमुख अवरोधरूप चट्टान, जिससे टकरा कर उनकी आत्मिक प्रगति ध्वस्त हो जाती है या चूर-चूर हो जाती है। मनुष्य कर्म की सत्ता के प्रति अविश्वासरूप अवरोध के कारण धैर्य, गम्भीर्य, सद्विचार-सदाचार के प्रति निष्ठा, फल के प्रति अनासक्ति, पवित्रता, सात्विकता, क्षमाशीलता, दया, सहृदयता आदि आत्मिक गुणों से भी प्रायः भ्रष्ट, शिथिल और उदासीन हो जाता है। वह नहीं जानता कि कर्म के अस्तित्व के प्रति अविश्वास करना, आत्मा और परमात्मा के प्रति अविश्वास करना है। क्योंकि आत्मा और कर्म दोनों का परस्पर संयोग-सम्बन्ध है। इसी को दूसरे शब्दों में नास्तिकता, अनास्था, मिथ्यादृष्टि अथवा अश्रद्धा कहते हैं।[१]

आस्थाहीन अपने लिए अनिष्ट संयोगों को निमंत्रण देता है

कर्मतत्त्व के प्रति अश्रद्धालु व्यक्ति अपने जीवन में जो भी धर्मक्रियाएँ तप, जप, व्रत, नियम आदि करते हैं, वे सब मिथ्यादृष्टि से युक्त होने से संसारक्षय (कर्मक्षय) कारक नही अपितु संसारवर्द्धक ही होते हैं, और जो आत्मा और कर्म के अस्तित्व के प्रति नास्तिक होकर निर्भयता-निःशंकतापूर्वक अनिष्ट दुष्कृत्यों का आचरण करते हैं और सुकृत्यों की घोर निन्दा व उपेक्षा करते हैं, वे तो अपने ही पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारने का-सा कार्य करते हैं। सुमार्ग को छोड़कर कुमार्ग की कंटीली राह पर चलने से अपने ही पैर कांटों से बिंधते हैं। अपने ही अंगोपांग छिलते और कपड़े फटते हैं।[२] अर्थात्—कर्मों का क्षय करने की अपेक्षा हिंसा, झूठ-

---

१. अखण्ड ज्योति अप्रैल १९७७ से सार-संक्षेप

२. (क) तुलना कीजिए —

येनैव देहेन विवेकहीनाः संसारमार्ग परिपोषयन्ति।
तेनैव देहेन विवेकभाजः संसारमार्गं परिशोषयन्ति ॥ —अध्यात्मसार

(ख) अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७७ से सार-संक्षेप

फरेब, चोरी-डकैती, व्यभिचार-अनाचार आदि दुष्कर्मों में निःशंक प्रवृत्त होने से वे भयंकर महामोहनीय कर्मों का बन्ध कर लेते हैं, जिनसे जन्म-जन्मान्तरों तक पिण्ड छुड़ाना दुष्कर हो जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है कि प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त जीवों को अनेक जन्मों तक बोधि (सम्यक्त्व या सम्यग्दृष्टि) प्राप्त होनी[१] अति दुर्लभ होती है और जो लोग कर्म के अस्तित्व के प्रति संदिग्ध होकर दुष्कर्म तो नहीं करते, किन्तु पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने तथा नये आते हुए कर्मों को रोकने के लिए कोई पुरुषार्थ निर्जरा और संवर में नहीं करते, वे भी पूर्वकृत कर्मों के उदय में आने पर अकस्मात् घोर संकट, विपत्ति और दुःखों से घिर जाते हैं। ऐसी दुष्परिस्थिति में उन्हें पश्चात्ताप के सिवाय कोई चारा नही रहता।

अश्रद्धालुओं द्वारा घोर दुष्कर्म अनन्त संसारभ्रमण का कारण

जो व्यक्ति कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धालु होकर भयंकर दुष्कृत्य करते रहते हैं, उनके घोर दुष्कर्मों के दुष्परिणामों का तो कहना ही क्या ? मंखलीपुत्र गोशालक भगवान् महावीर से पृथक् होकर उनका कट्टर विरोधी बन गया। वह स्वतंत्र आजीवक सम्प्रदाय की स्थापना करके कर्मवाद के प्रति आस्थाहीन बन गया। उसने नियतिवाद की स्थापना की। कर्म और कर्मफल व्यवस्था को मानने से उसने इन्कार कर दिया। जीवों को सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति सब कुछ नियति, भवितव्यता या होनहार से होता है। फलतः उसे हिंसादि से कर्मबन्ध होने और उसके उदय में आने पर उन दुष्कर्मों के कटुफल भोगने का कोई विचार नही रहा। वह मिथ्याग्रस्त हो गया। स्वच्छन्दाचारी बनकर मनमानी प्ररूपणा करता रहा। अहंकार से उद्धत होकर वह भगवान् की घोर निन्दा करता रहा, स्वयं को तीर्थंकर बताकर जनता की दृष्टि मे तीर्थंकर महावीर को गिराने का उपक्रम करता रहा। हिंसा जैसे घोर दुष्कर्म का विचार न करके उसने भगवान् महावीर के दो शिष्यों—सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या के प्रहार से भस्म कर दिया। यहाँ तक कि विश्ववत्सल भगवान् महावीर जैसे उपकारी गुरु पर भी उसने तेजोलेश्या का प्रहार करके उन्हें भस्म करना चाहा। परन्तु उसका यह दाँव उलटा ही उस पर पडा। भगवान् महावीर पर छोड़ी गई तेजोलेश्या पुनः गोशालक पर ही पड़ी और उसका सारा तन-वदन उसकी अत्यन्त उष्णता के कारण प्रज्वलित होने लगा। उसके प्रभाव से वह विक्षिप्त और उन्मत्त-सा इधर-उधर घूमता रहा

---

१. बहुकम्मलेव-लित्ताणं बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं । — उत्तराध्ययन सूत्र ८/१५

और कुछ ही दिनों में उसका प्राणान्त हो गया। यद्यपि वह साधुधर्म के कठोर क्रियाकाण्ड और कष्टकारक चर्या का पालन करता था, परन्तु मिथ्या प्ररूपणा और कर्म एवं धर्म के अस्तित्व के प्रति संदेहशीलता तथा दुष्कृत्य प्रवृत्तियों के कारण उसे दीर्घकाल तक संसार-परिभ्रमण का भागी होना पड़ा। यह था, गोशालक की कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धा के दुष्परिणाम का ज्वलन्त निदर्शन ![1]

कर्म के अस्तित्व के प्रति श्रद्धाहीनों के द्वारा की गई कठोर साधना निष्फल

निष्कर्ष यह है कि कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के प्रति श्रद्धाहीन व्यक्ति दुष्कर्मों के बन्धनों से जकड़ जाते हैं और दिग्भ्रान्त तथा किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर दुष्कर्मों की भूलभुलैया में उलझते तथा भटकावों से खिन्न और उद्विग्न बने दिखाई देते हैं। ऐसे लोगों की कठोर चर्या और साधना की कमाई कुसंस्कारों, मिथ्या-मान्यताओं और दुष्कर्मों के गर्त में गिरकर नष्ट हो जाती है। धर्म-कर्म के प्रति श्रद्धाहीनता के कारण जो व्यक्ति निकृष्ट चिन्तन और घृणित कर्तृत्व बनाए रखते हैं अथवा दुर्बुद्धि और दुष्प्रवृत्ति को अपनाते रहते हैं उन्हें किसी भी पूजापाठ कठोर क्रियाकाण्ड या साधना में सफलता प्राप्त नहीं होती।[2]

कर्म के अस्तित्व को झुठलाया नहीं जा सकता

आज जब कि सारा संसार कर्म-व्यवस्था के आधार पर चल रहा है, तब इस प्रकार फल के प्रति संदेहशील अथवा सद्यः फलाकांक्षी लोग भ्रम में पड़े रहते हैं और कर्म के अस्तित्व से ही इन्कार करने लगते हैं। परन्तु किसी वस्तु के अस्तित्व से इन्कार करने मात्र से उसके अस्तित्व को झुठलाया नहीं जा सकता। सूर्य का जगमगाता प्रकाश व आतप सारे संसार के प्राणियों के द्वारा दृश्यमान या अनुभूयमान (स्पृश्यमान) होने पर भी अगर उल्लू कहे कि सूर्य है ही नहीं, या सूर्य नामक किसी भी पदार्थ का अस्तित्व संसार में नहीं हैं, तो कौन उसकी बात मानेगा ? किसी वस्तु की अनुभूति या प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देर से होने पर उस वस्तु के अस्तित्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। कर्म तथा उसके फल की अनुभूति देर-सबेर से होने पर उसके अस्तित्व या वस्तुत्व से इन्कार नहीं किया जा सकता।

---

१. (क) देखिए—भगवती सूत्र शतक १५ में गोशालक प्रकरण
   (ख) भगवान महावीर : एक अनुशीलन (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि)

२. अखण्ड ज्योति जून १९७७ से सार-संक्षेप

इन कृत्यों का फल तत्काल कहाँ मिलता है ?

यह तो सबका अनुभव है कि आज का बोया हुआ बीज काफी समय के बाद वृक्ष बनता है। आज का जमाया हुआ दूध कल या कम से कम चार-पाँच घंटे बाद दही बनता है। आज ही पढ़ना शुरू करने वाला आज का आज ही कहाँ विद्वान् बन जाता है ? आज से व्यायाम करना प्रारम्भ करने वाला आज ही कहाँ भीम या हनुमान जैसा बलिष्ठ और राममूर्ति, गामा या सेंडो के समान पहलवान बन जाता है ? आज से ही यम-नियम की साधना प्रारम्भ करने वाला आज ही नहीं, कभी-कभी एक जन्म में भी नहीं, कई जन्मों के पश्चात् सिद्धि प्राप्त कर पाता है। भगवद्गीता में भी कहा गया है— "अनेक जन्मों के पश्चात् सम्यक् सिद्धि प्राप्त होती है, और तत्पश्चात् जीव परा-गति (मोक्षगति) को प्राप्त होता है।"

अतः यह नियम एकान्तरूप से लागू नही होता कि कर्म करते ही उसका फल तुरंत ही मिल जाए। भूमि मे बीज डालते ही तुरंत वह अंकुरित नहीं हो जाता, न ही फूल-फल देने लगता है। कदम उठाते ही कोई अपने गन्तव्य स्थान तक नहीं पहुँच जाता। यात्रा प्रारम्भ करते ही कोई अपने निर्धारित स्थान पर नहीं पहुँच जाता। भोजन पेट में डालते ही तुरंत पच नहीं जाता, उसे पचने में भी काफी समय लग जाता है।[१]

व्यवसाय शुरू करते ही प्रारम्भ में कहाँ जम पाता है ? व्यवसायी एक ही दिन में कहाँ व्यवसाय जगत मे प्रसिद्ध होता है ? इसी प्रकार क्या नेता, क्या अभिनेता, क्या राजनेता, सभी एक ही दिन में नेतृत्व, अभिनेतृत्व या राजनेतृत्व नहीं करने लग जाते। उन्हें भी समय पक जाने पर लोग परखते हैं, तभी नेता, अभिनेता या राजनेता मानते हैं।

कृषक फल न मिलने पर भी आशा और विश्वास नहीं छोड़ता

किसान बीज बोते समय इसी आशा और विश्वास के साथ बोता है कि यह बीज एक दिन अंकुरित, पुष्पित-फलित होगा। वह धैर्य के साथ असंदिग्ध मन से प्रतीक्षा करता है और एक दिन अपने पुरुषार्थ का फल स्वयं देखता है। यद्यपि बीज बोने से लेकर फसल काटने तक किसान डटकर पुरुषार्थ करता है, फिर भी कदाचित् अन्न पैदा नहीं होता, या

---

१. (क) अखण्ड ज्योति जून १९७७

(ख) समतायोग (रतनमुनि) से सार-संक्षेप

(ग) अनेक जन्म-संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम्

— भगवद्गीता अ. ४, श्लोक ४५

अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि के प्रकोप से फसल नष्ट हो जाती है फिर भी किसान मन में कदापि अविश्वास नहीं लाता कि बीज बोना बेकार है, इससे अन्न उत्पन्न नहीं हुआ। अतः वह न तो बीज के अस्तित्व के विषय में सन्देह करता है, और न ही उसके बोने के परिणाम के विषय में। वह बीज और उसके आरोपण के फल के विषय में संदिग्ध होकर अगले वर्ष बीज बोने का पुरुषार्थ छोड़ नहीं देता।

दुष्प्रवृत्तियों से अपना ही अहित है

इसी प्रकार सत्कर्म या दुष्कर्म करने पर उसका सुख-दुःख रूप फल तुरंत या इस जन्म में न मिले तो भी कर्मबीज और उसके फल के होने में संदेह करना अपनी ही आत्मिक प्रगति को रोकना या अपनी ही दुर्गति को निमंत्रण देना है। कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के प्रति श्रद्धाहीन लोगो द्वारा दुष्कृत्यों, दुर्भावनाओं और दुष्प्रवृत्तियों से दूसरों का अहित और अपना हित होने की बात सोची जाती है, परन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है।[१]

जैसा बोओगे, वैसा काटोगे

दुष्कर्म हों या सुकर्म वे तो समय पर अपना फल दिये बिना नहीं रहते। समग्र जगत् कर्म-व्यवस्था के आधार पर चलता है। 'जैसा तुम बोओगे वैसा ही काटोगे', यह कहावत प्रसिद्ध है। क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। घड़ी का पेण्डुलम जिस ओर से चलता है, उसे लौट कर वापस उसी ओर आना पड़ता है। गेंद जहाँ से फैंक कर मारी जाती है, वहाँ से लौट कर वह वापस उसी जगह पर आना चाहती है। शब्दवेधी बाण की तरह शुभ-अशुभ विचार या उच्चार भी अन्तरिक्ष में चक्कर काटकर वापस उसी मन-मस्तिष्क में आ विराजते हैं, जहाँ से उन्हें छोड़ा गया है।[२] कर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है।

क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है

दूसरों के हित-अहित के लिए जो विचार, उच्चारण या आचरण किया जाता है, उसकी प्रतिक्रिया कर्ता पर तो अनिवार्यरूप से होती है, जिसके लिए वह विचार आदि किये गये थे, उसे लाभ-हानि भले ही न हो।

---

१. अखण्ड ज्योति जून १९७७ से सार संक्षेप

२. (क) 'As you sow, so you will reap'—English Proverb

(ख) अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७७ से सार संक्षेप

"जो जो क्रिया होती है, वह-वह अवश्य ही फलवती होती है" यह न्याय प्रसिद्ध है। कर्म भी वन्ध्य, फलहीन या नपुंसक नहीं होते, वे भी तथारूप प्रतिरूप प्रतिक्रिया-सन्तति अवश्य उत्पन्न करते हैं।[१]

दूरदर्शी व्यक्ति कर्मफल न मिलने पर भी दुष्कृत्यों में प्रवृत्त नहीं होता

हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि कोई व्यक्ति कुपथ्य सेवन करता है, उसी दिन उसका शरीर जर्जर एवं अस्वस्थ नहीं हो जाता। खान-पान में संयम न करने पर उसी दिन शरीर रुग्ण नहीं हो जाता। किसी व्यक्ति ने व्यभिचार या अनाचार किया, उसे उसी दिन ही जेल की सजा मिल जाए, ऐसा कहाँ होता है ? फिर भी विचारशील एवं कर्म के प्रति श्रद्धावान् व्यक्ति यह सोचकर उन अनिष्ट कृत्यो में प्रवृत्त नहीं होता कि एक-दो दिन नहीं, परन्तु आखिर तो एक न एक दिन उस दुष्कृत्य या अनिष्ट प्रवृत्ति का परिणाम भुगतान ही पडेगा। 'महाभारत' मे कहा गया है-"हे सज्जन ! जो व्यक्ति शुभ या अशुभ जैसा भी कर्म करता है, उसे उस कर्म का फल अवश्य मिलता है।"

विलम्ब में ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की परीक्षा

अतः सत्कर्मों और दुष्कर्मों के सुनिश्चित परिणाम को ध्यान मे रखते हुए दूरदर्शिता अपनानी चाहिए। जैसे अध्ययन, व्यायाम और व्यवसाय का फल तत्काल नहीं मिलता, इन सब क्रियाओ की प्रतिक्रिया उत्पन्न होने मे कुछ समय लग जाता है, इसी प्रकार सत्कर्म और दुष्कर्म के परिणाम में कुछ विलम्ब हो जाए तो भी निराश और भ्रमग्रस्त होकर कर्म एवं उसके फल के सम्बन्ध मे अविश्वास नही प्रकट करना चाहिए।

इसी विलम्ब मे मनुष्य की दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की परीक्षा है। यदि कर्म का फल तत्काल मिला करता, तब किसी के अच्छे-बुरे का निर्णय करने की आवश्यकता ही न रहती। चोरी करने वालों के हाथ टूटे हो जाते, पर-स्त्री पर कुदृष्टि करने वालों की आँखें फूट जातीं, और झूठ बोलने वाले का मुख सूज जाया करता या हत्या करने वाले का शीघ्र ही प्राणान्त हो जाता अथवा ठगी करने वाले के दिमाग की नस फट जाती। परन्तु ऐसा क्वचित् ही होता है, कर्म और उसके फल के बीच में समय का व्यवधान रहता है। जो मनुष्य इस धीरता, बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता की परीक्षा में फेल हो जाते हैं। वे कर्म के अस्तित्व के प्रति संदिग्ध होकर सत्कर्मों के

---

१. (क) अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७७ से सार संक्षेप
   (ख) 'या या क्रिया, सा सा फलवती'

सुखद फल की सम्भावना पर अविश्वास करके उन्हें छोड़ बैठते हैं[१] और दुष्कर्मों का हाथोंहाथ फल न मिलते देखकर उन्हें धड़ल्ले के साथ करने लगते हैं।

अदूरदर्शी प्राणी स्वयं दुर्दशा के जाल में फंसते हैं

कर्म एवं उसके फल के अनिश्चित होने की बात सोचकर ही अधिकांश अदूरदर्शी व्यक्ति दुष्कृत्य करते हैं, कुमार्ग पर चलते हैं, और दुर्दशा के जाल में फंसते हैं। संसार में प्रत्येक अदूरदर्शी प्राणी दुर्दशा और दुरवस्था का शिकार होता है। ऐसी ही अदूरदर्शिता के कारण पक्षी पारधी द्वारा फैलाये हुए जाल में फंस जाते है, वे अन्नकण देखते हैं, जाल नहीं। अदूरदर्शी मछली आटे के लोभ में अपना गला फंसाती है और बेमौत मारी जाती है। रोशनी पर अंधाधुंध टूट पड़ने वाले पतंगे, केवल प्रकाश को देखते हैं, अपनी मृत्यु को नहीं। इसी प्रकार मक्खी चाशनी के लोभ में उस पर बैठकर अपने पंख चिपका लेती है और तड़फ-तड़फकर प्राण दे देती है।[२]

कर्म के अस्तित्व के प्रति संदिग्ध दुष्कर्मों के कारण दण्डित होता है

इस दूरदर्शिता, बुद्धिमत्ता और धैर्य को तिलांजलि देकर जो व्यक्ति निःसकोच दुष्कर्म करते रहते हैं, वे भले ही कुछ लोगों की दृष्टि में भले बने रहें, परन्तु उन्हें अपने दुष्कर्मों का फल कई रूप में मिलता ही है। समाज में उनकी निन्दा होती है। चरित्रवान् लोग उनसे घृणा करने लगते हैं। ऐसे लोग दूसरों की आँखों में अविश्वस्त, अप्रामाणिक और असम्माननीय ठहरते हैं। उन्हें किसी का ठोस सहयोग एवं विश्वास नहीं मिलता। पारिवारिक जन भी उन्हें सदा आशंका की दृष्टि से देखते हैं। परिजनों से उन्हें आत्मीयता एवं घनिष्ठता का लाभ नहीं मिलता। जनता के विश्वास और सहयोग के अभाव में वे नैतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र मे प्रगति से वंचित रहते है। समाज द्वारा घृणा, तिरस्कार, अपमान, असहयोग, अप्रतिष्ठा, उपेक्षा आदि के रूप में दुष्कर्मो का जो दण्ड मिलता है, वह कम नहीं है। उसकी अन्तरात्मा भी अपने दुष्कर्मों के कारण पीड़ित, चिन्तित एवं व्यथित रहती है। वह अंदर ही अंदर सदैव उसे कचोटती रहती है।

---

१. (क) अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७७ से सार संक्षेप

(ख) यत्करोत्यशुभं कर्म, शुभं वा यदि सत्तम ।
अवश्यं तत्तामाप्नोति पुरुषो नाऽत्र संशयः ॥

— महाभारत वनपर्व, अ. २०८

२. अखण्ड ज्योति सितम्बर १९७७ से सार संक्षेप

पापकर्म छिप नहीं सकते

पाप और पारा छिप नहीं सकता, वह देर-सबेर में फूट-फूट कर बाहर निकलता ही है। जैसे हींग की गन्ध कई थैलियों में बन्द करके रखने पर भी फैलती है, वैसे ही पापकर्मों या दुष्कर्मों की दुर्गन्ध हवा में इस तरह फैलती है कि वह छिपाने पर भी नहीं छिपती।[१] कहावत है—

"पाप छिपाये ना छिपे, छिपे तो मोटा भाग।
दाबीदूबी ना रहै, रुई-लपेटी आग।"

एक सवैया में इस तथ्य को एक विचारक कवि ने अनावृत किया है —

"तारों की ज्योति में चन्द्र छिपे नहीं,
सूर्य छिपे नहीं बादल छाये।
इन्द्र की घोर से मोर छिपे नहीं,
सर्प छिपे नहीं पूंगी बजाये।।
जंग जुड़े रजपूत छिपे नही,
दातार छिपे नहीं मांगन आए।
जोगी का वेष अनेक करो पर,
कर्म छिपे न भभूत रमाए ।।"

दुष्कर्मी समाजदण्ड, राजदण्ड और प्रकृतिदण्ड पाता है

कई बार ऐसे दुष्कर्मी को समाज के द्वारा प्रतिशोध, प्रत्याक्रमण और आक्रोश के रूप में उग्रदण्ड मिलता है। बहुधा ऐसे लोग मित्रविहीन, समाज बहिष्कृत, एकाकी एवं नीरस जीवन जीते हैं। आत्मप्रताड़ना और नैतिक मृत्यु तो ऐसे लोगों की पद-पद पर होती है।

कदाचित् ऐसा व्यक्ति समाजदण्ड से किसी तरह बच जाए किन्तु कितनी ही चतुरता बरतने पर भी वह कभी न कभी शासकीय दण्ड की पकड़ में आ ही जाता है। दुष्कर्मी लोगों का दमन करने के लिए ही कोर्ट-कचहरी, पुलिस, जेल, फाँसी आदि शासकीय दण्ड की व्यवस्था है। राजदण्ड में आर्थिक, शारीरिक, मानसिक यातनाएँ दुष्कर्मी को प्राप्त होती हैं। कभी-कभी अपने दुष्कर्मों के फलस्वरूप वे बदनाम भी होते हैं और नागरिक अधिकारों से भी वंचित हो जाते हैं।

दुष्कर्म इतने पर भी उसका पिण्ड नहीं छोड़ते। कई बार दुष्कर्मी लोगों को अनेक शारीरिक व्याधियाँ तथा चिन्ता, तनाव, भय आदि मानसिक व्याधियाँ आ घेरती हैं जो रिबा-रिबाकर मारती हैं। कई बार ऐसे

---

१. अखण्ड ज्योति, जून १९७७ से सार संक्षेप

व्यक्तियों पर अकस्मात् हार्टफेल, ब्रेन हेमरेज, हृदयरोग का आक्रमण आदि हो जाता है, कई बार वे स्वयं विक्षिप्त या अर्ध विक्षिप्त होकर या मानसिक सन्तुलन खोकर आत्म-हत्या तक कर बैठते हैं। इन सारे पापकर्मों या दुष्कृत्यों के फल प्रत्यक्ष अनुभव में आने पर भी जो व्यक्ति कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के विषय में श्रद्धाहीन बना रहता है, समझना चाहिए, वह अपने लिए स्वयं दुर्गति का द्वार खोलता है।[1]

कर्मफल विलम्ब से मिले तो भी उसके अस्तित्व के प्रति श्रद्धा रखो

कर्मफल तत्काल न मिलने, देर से मिलने या इस जन्म में न मिलने के कारण कई अधीर लोग आस्था खो बैठते हैं, और विलम्ब होने के कारण वे दण्ड से बचे रहने की बात सोचते हैं, मगर पापकर्मों का दण्ड किसी न किसी रूप में मिलता ही है, इस विषय में सभी धर्मशास्त्र एक स्वर से साक्षी देते हैं।[2]

तत्काल फलवादियों के अव्यवहार्य कुतर्क

कई तत्काल फलवादी कह बैठते हैं — हम तो कर्म और कर्मफल को तभी सत्य माने और कर्म के अस्तित्व में तभी आस्था रखें, जब इधर कर्म करें और उधर उसका फल मिल जाए। यदि कुमार्गगामियों की चलने-फिरने की शक्ति तत्काल खत्म हो जाती, षड्यत्रकारियों की स्मरणशक्ति उसी क्षण नष्ट हो जाती, उद्दण्डता करने वाले को तत्काल असाध्य व्याधियाँ घेर लेतीं, डकैती करने वाले को उसी दिन लकवा मार जाता, भ्रष्टाचारी तत्काल दरिद्र हो जाता, तो फिर किसी को धोखाधड़ी, ठगी, चोरी, डकैती, भ्रष्टाचार, जालसाजी, उद्दण्डता या षड्यंत्रकारिता सूझती ही नहीं, किसी को पापकर्म या अनैतिक दुष्कृत्य करने का साहस ही न होता। इसी प्रकार सज्जनों को उनके द्वारा अपनाई गई सत्प्रवृत्तियों, सत्कार्यों के फलस्वरूप सम्पन्नता, विद्वत्ता, नीरोगता एवं सफलता जैसे लाभ मिल जाया करते तो उन्हें भी सत्कर्मों के प्रति अरुचि, अनुत्साह या निराशा न होती।

समाधान और अनुभव

इस अव्यवहार्य तर्क का समाधान यह है कि यदि कर्मों के प्रत्यक्ष फल प्राप्त होने की कठोर व्यवस्था संसार में होती तो फिर धर्मशास्त्रों,

---

१. (क) अखण्ड ज्योति जून १९७७ से सार संक्षेप

(ख) पापेन जायते व्याधिः, पापेन जायते जरा।
पापेन जायते दैन्य, दुःख शोको भयंकरः ॥ —मनुस्मृति

२. (क) अखण्ड ज्योति, सितम्बर १९७७ से सार संक्षेप

(ख) समतायोग पृ. ५०१ से सार संक्षेप

धर्मोपदेशकों या धर्मसंस्थापकों, सुधारकों या जनसेवकों की आवश्यकता ही न रहती, और न ही राजकीय, सामाजिक एवं न्यायिक दण्ड व्यवस्था की जरूरत पड़ती। फिर तो किसी को नीति और धर्म की मर्यादा तोड़ने की नौबत ही न आती। सत्कार्यों से लोग प्रत्यक्ष लाभान्वित होते और दुष्कृत्यों से स्वयमेव दण्डित हो जाते।

कर्मफल विलम्ब से मिलने पर भी सभी व्यवहार होते हैं

कर्मफल पर जो पूर्ण आस्थावान होते हैं, वे कर्म के अस्तित्व के विषय में कभी सन्देह नहीं करते। उनका अनुभव यह है कि कर्मफल विलम्ब से मिलने में अपवाद अधिक नहीं, कम ही दृष्टिगोचर होते हैं। लोकव्यवहार में हम देखते हैं कि अधिकांश कर्मों के फल यथासमय मिलते ही हैं। जैसे— गृहस्थ जीवन में कृषि, पशुपालन, चिकित्सा, शिक्षा, व्यवसाय, नौकरी, शिशुपालन आदि अनेक उपयोगी प्रवृत्तियाँ चलती हैं, उनका फल भी यथासमय मिलता है। अन्यथा इनमें से कोई भी सत्प्रवृत्ति अनिश्चितता की स्थिति में न चलती। पारस्परिक व्यवहार में भी सज्जनता-दुर्जनता, न्याय-अन्याय, नैतिकता-अनैतिकता, सभ्यता-असभ्यता आदि की प्रतिक्रिया भी होती है, यदि प्रतिक्रिया न होती तो लोग इनके परिणामों को देख-सुनकर स्वयं के स्वभाव और आचरण को अच्छाई की ओर न ढालते; वैज्ञानिक, अध्यापक, चिकित्सक, उपदेशक आदि भी अपने-अपने सत्कार्यों में प्रवृत्त न होते।

इसलिए यह तो कदापि नहीं समझना चाहिए कि शुभाशुभ कर्मों का फल नहीं मिलता। रही देर-सबेर की बात। यह तो कर्मों के परिपक्व होने पर निर्भर है। कारखाना लगाने से लेकर पर्याप्त लाभ मिलने तक की प्रक्रिया में समय का काफी अन्तर रहता है, रोपे हुए पौधे को विशाल वृक्ष बनने और फलने मे कई वर्ष लग जाते हैं। इसका मतलब है, प्रत्येक कार्य को सफलता के शिखर तक पहुँचने मे काफी समय लगता है। इसलिए कर्म का फल तत्काल न मिलते या कुछ विलम्ब से मिलते देख धैर्य खो बैठना और कर्म या फल के विषय में संदेह कर बैठना, या अभी फल नहीं मिला तो कभी नहीं मिलेगा, यह मान बैठना बालबुद्धि का लक्षण है।[१]

महान् पुरुषों को मिलने वाले अशुभकर्मफल का कारण पूर्वजन्मकृत कर्म हैं

कई लोग कर्म और कर्मफल के सम्बन्ध में अधिकाधिक अनास्था तब प्रकट करते हैं जब वे देखते-सुनते हैं कि सदाचारी, नीतिमान, धर्मात्मा एवं

---

१. समतायोग पृ. ५०२ से सार संक्षेप

सज्जन व्यक्तियों की अपेक्षा चोर, डाकू, लुटेरे, व्यभिचारी, अन्यायी, अत्याचारी एवं भ्रष्टाचारी व्यक्ति अधिक सम्पन्नता और सुख-सुविधा प्राप्त करते हैं और जब वे पढ़ते हैं कि इतिहास-प्रसिद्ध महान् चरित्रवान् व्यक्तियों का जीवन कष्टों और यातनाओं से पूर्ण था, तब तो उन्हें ऐसा लगता है कि घोर अन्धेर है। कर्म-व्यवस्था नाम की कोई वस्तु संसार में नहीं है। उनका तर्क है कि लोकमंगल की भावना से आजीवन प्रेम पुजारी, पवित्र जीवन-जीवी ईसामसीह को क्रूस पर लटकाया गया, यह उनकी व्यापक करुणा थी कि दुष्ट प्रकृति के लोगो को उन्होंने अनुचित मार्ग से हटाकर सन्मार्ग मे लगाया और आजीवन लोगों को नैतिकता और सदाचार का उपदेश देते रहे। आजीवन सत्यनिष्ठ, सदाचार-परायण, चरित्रवान् एवं नैतिक आदर्शों के दृढ़ अनुगामी सुकरात को जबरन विष का प्याला पिलाकर अकाल में ही मौत के गाल में धकेल दिया गया। पवित्र जीवन-जीवी स्वामी श्रद्धानन्द और सत्य-अहिंसा के परम उपासक महात्मा गांधी को गोली का शिकार होना पड़ा। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम को चौदह वर्ष तक वन-वन की खाक छाननी पड़ी। श्री कृष्ण को अन्यायी अत्याचारी लोगों के त्रास से मुक्ति पाने के लिये मथुरा छोड़कर सौराष्ट्र तक कूच करनी पड़ी और वही द्वारिका नगरी बसानी पड़ी। ऐसे कर्मयोगी की भी इहलीला जराकुमार के बाण से अरण्यभूमि में पूर्ण हुई। देश-विदेश में व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार करने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचारी स्वामी विवेकानन्द को भयंकर रोग ने आ घेरा, जिससे असमय में ही उनका निधन हो गया। स्वामी रामतीर्थ भी अल्पायु में ही इस संसार से विदा हो गए। रामकृष्ण परमहंस भी गले के कैंसर के कारण मरण-शरण हुए। परम धार्मिक एवं आध्यात्मिक तपोमय जीवन जीने वाले भगवान् महावीर को अपने जीवन-काल में घोर कष्टों और उपसर्गों का सामना करना पड़ा। आद्य शंकराचार्य २८-३0 वर्ष की अल्पायु में ही परलोकगामी हो गए।[१]

इन सब तथ्यों को देखकर स्थूल दृष्टि वाले अदूरदर्शी व्यक्ति कर्म एवं कर्मफल के अस्तित्व के प्रति संदिग्ध होकर कहने लगते हैं—संसार जिन्हें आदर्श पुरुष मानता है, वे आजीवन पवित्र जीवन-जीवी, सन्मार्गगामी व्यक्ति क्यों दुःखी, रोगग्रस्त या असमय में ही मौत के मेहमान हुए ?

पूर्वजन्मकृत कर्मों के कारण ही विपत्ति, वर्तमानजन्मकृत नहीं

भारत के सभी आस्तिक दर्शन इन सब शंकाओं का युक्तियुक्त समाधान इस प्रकार करते हैं कि वर्तमान जीवन ही किसी जीव का समग्र

१. समतायोग, पृ. ५0३

जीवन नहीं है। आत्मा की जीवनयात्रा अनेक गतियों और योनियों के शुभ-अशुभ कर्म-संस्कारों को साथ में लिये हुए चलती है। इसलिए इस जन्म में सदाचारी, धर्मनिष्ठ, पवित्र, अहिंसा-सत्यमय जीवन जीने वाले महान् व्यक्तियों और सतियों पर यदि कोई संकट, दुःख एवं कष्ट आता है या आया है तो समझना चाहिए कि यह उनके किसी पूर्वजन्मकृत अशुभकर्म का फल है। पूर्वजन्मों में किये हुए दुष्कर्मों के फलस्वरूप कई व्यक्ति जन्म से ही अंधे, लूले, लंगड़े, कुबड़े, अपंग एवं बैडोल होते हैं। अष्टावक्र पवित्र, सदाचारी, ज्ञानी एवं सरलतम व्यक्ति थे, फिर भी उनके आठ अंग जन्म से ही टेढ़े-मेढ़े थे। दुःखविपाक सूत्र में बताया गया है कि मृगालोढ़ा राजा का पुत्र था, उसका शरीर जन्म से ही फुटबाल की तरह गोलमटोल मांसपिण्ड था। उसके सारे शरीर में सड़ान हो गई थी, जिससे इतनी दुर्गन्ध आती थी, कि पास मे खड़ा रहना भी कठिन था। वह न तो स्वयं खा-पी सकता था और न ही उसको खाया हुआ पचता था। उसकी माँ (मृगारानी) ममतावश उसके मुँह में कौर देती थी, मगर वह भी मवाद बनकर सड़ जाता था। बताइए, जन्म से ही मृगालोढ़ा की ऐसी दुर्दशा क्यों हुई, जबकि उसने इस जन्म में कोई भी दुष्कर्म नही किया था ? स्पष्ट है कि यह उसके पूर्वजन्मकृत भयंकर दुष्कर्मों का फल था। अतः कर्म के अस्तित्व के विषय में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है।

इनकी जन्म से विलक्षणता में कर्म ही कारण है

कई लोग जन्म से ही दरिद्र, विपन्न, मानसिक दृष्टि से अविकसित देखे जाते हैं। इसमें उनका इस जन्म का कोई दुष्कर्म या दोष नहीं होता। इसी प्रकार कई लोग जन्म से ही प्रतिभाशाली, कलाकुशल, प्रखर बुद्धिशाली एवं उत्तराधिकारजन्य सम्पन्नता आदि से युक्त होते हैं। उनकी इन विशेषताओ के पीछे इस जन्म का कोई पुरुषार्थ या अभिभावकों का सहयोग अथवा अनुकूल परिस्थिति भी कारण नहीं होती। अतः मानना होगा कि इन सब विशेषताओं के पीछे पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म ही कारण है।

अतः कर्म के अस्तित्व में दृढ़ श्रद्धा रखने वाले दूरदर्शी, विचारशील व्यक्तियों की तरह कष्टों और विपत्तियों के आ पड़ने पर भी न तो कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के प्रति अनास्था प्रगट करनी चाहिए और न ही निमित्तों को कोसना चाहिए, बल्कि आए हुए संकट और कष्ट को पूर्वजन्मकृत कर्मों का फल मानकर समभाव से शान्तिपूर्वक सह लेना चाहिए।

ये चार सिद्धान्त अध्यात्म की सभी शाखाओं द्वारा स्वीकृत

(१) शरीर की नश्वरता, (२) आत्मा की अमरता, (३) कर्म और कर्मफल की सुनिश्चितता तथा (४) परलोक-पुनर्जन्म की अवश्यम्भाविता, ये चार सिद्धान्त ऐसे हैं, जो किसी न किसी रूप में अध्यात्म की सभी शाखाओं में प्रतिपादित किये गये हैं। कई धर्म-सम्प्रदायों में अमुक (कयामत-प्रलय के) दिन पापों के (स्वीकार करने पर) क्षमा हो जाने की और मरणोत्तर जीवन की स्थिति के विषय में मतभेद है फिर भी वह मान्यता लचीली है, उसमें पुनर्जन्म और कर्म तथा कर्मफल के अस्तित्व का किसी न किसी रूप में स्वीकार का स्वर है। वह मान्यता इतनी कठोर (कट्टर) नहीं कि उससे उपर्युक्त चार अध्यात्म-सिद्धान्त जड़-मूल से कट जाते हों, क्योंकि ये चारो अध्यात्म सिद्धान्त व्यक्तिगत जीवन के अधिकाधिक पावन एवं शालीन बनाने की भूमिका तैयार करते हैं, तथा सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय जीवन को भी सुख-शान्तिमय बनाने की आधारशिला रखते हैं। कर्म के अस्तित्व को भले ही नैतिक रूप में न मानकर साम्प्रदायिक विश्वासों की परिधि में लपेट लिया गया हो, फिर भी यह नहीं कहा गया कि अच्छे-बुरे कर्म का कोई फल नहीं मिलता। इस जीवन में नहीं, तो मरणोत्तर जीवन में भी कर्म किसी न किसी रूप में बना रहता है, वह समय आने पर फल देता है। निष्कर्ष यह है कि छोटे-मोटे मतभेदों के रहते हुए भी मूल सिद्धान्तों से प्रायः सभी धर्म-सम्प्रदाय या दर्शन सहमत हैं।

मरणोत्तर जीवन में कर्म और कर्मफल के मानने से लाभ

वर्तमान जीवन में शुभ कर्म करने पर भले ही इस जन्म में उसका सुखद प्रतिफल न मिले, परन्तु मरणोत्तर जीवन मे उसका मंगलमय परिणाम उपलब्ध हो जाएगा, इसी विश्वास के आधार पर लोग त्याग और बलिदान के बड़े से बड़े साहसपूर्ण कदम उठाते रहते हैं। कर्म और कर्मफल मरणोत्तर जीवन में भी कर्ता के पीछे आता है, यदि इस सिद्धान्त में विश्वास न होता तो भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध, श्री राम और श्री कृष्ण, ईसामसीह, सुकरात, हजरत मोहम्मद अथवा अन्य महान् आध्यात्मिक पुरुष क्यों अपने जीवन में भयंकर कष्ट सहते, तपस्या करते, त्याग और बलिदान करते। इसी प्रकार इस जन्म में किये गए पापों के दण्ड से भले ही इस समय चालाकी या चातुरी से बचाव कर लिया जाए, पर आगे चलकर उसका दण्ड भुगतना ही पड़ेगा, यह सोचकर मनुष्य दुष्कर्म करने से अपने हाथ रोक लेता है और कुमार्ग पर पैर बढ़ाने से डरता-झिझकता रहता है। अधिकांश क्रूरकर्मा पापपरायण व्यक्ति अन्तिम समय में मरणोत्तर जीवन में मिलने वाले कर्मफल का विचार करके शोकसंतप्त हो

जाते हैं, उस समय वे कर्म एवं कर्मफल के अस्तित्व को मानने के लिए बाध्य हो जाते हैं।[१]

क्रूरकर्मा व्यक्ति भी मृत्यु के समय स्वकृत-दुष्कर्म-फल के भय से संत्रस्त

'उत्तराध्ययन सूत्र' में बताया गया है कि जो लोग कर्म और परलोक में उसके मिलने वाले फल को न मानकर इन सबको बेकार समझते हैं। उन नास्तिकों की दृष्टि में कामभोगों के वर्तमान में हस्तगत सुख ही जीवन की सफलता के केन्द्रबिन्दु हैं जो भविष्यकालीन सुख है, वह अभी परोक्ष है, दूर है, उस पर उसे कतई विश्वास नहीं होता। वह सोचता है—किसने परलोक देखा है ? किसे याद है-भूतकाल का सुख ? इस मान्यता से प्रेरित होकर जो लोग हिंसादि पापकर्मों में रत रहते हैं, वे कर्ममल संचित होने पर अन्तिम समय में किसी भयंकर रोग या आतंक से आक्रान्त होने पर खिन्न होकर अत्यन्त परिताप करते हैं। वे इस जीवन में किये हुए पाप कर्मों को याद करके बेचैन और शोकमग्न होकर सोचने लगते हैं कि "मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है, जहाँ तीव्र वेदना है। जो शील से रहित क्रूर कर्मा अज्ञानी जीवों की गति है।"...... "इस प्रकार मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी जीव उसी प्रकार शोक, पश्चात्ताप करता रहता है, जैसे कि धुरी टूट जाने पर गाड़ीवान करता है। इस प्रकार मरणोत्तर जीवन मे कर्म और कर्मफल के अनुगमन को न मानने वाला क्रूरकर्मा अज्ञानी जीव मृत्यु के समय परलोक के भय से अत्यन्त सत्रस्त होता है।" आशय यह है कि क्रूरकर्मा व्यक्ति भी अन्तिम समय में कर्म और कर्मफल के अस्तित्त्व को बाध्य होकर अव्यक्त रूप से मान लेता है।[२]

सिकन्दर अन्तिम समय में स्वकृत दुष्कर्मफल से त्रस्त

इतिहास-प्रसिद्ध सिकन्दर जब मरणासन्न था, तब उसने अपने सब मंत्रियों, विद्वानो तथा मौलवियों आदि से पूछा—"मैंने जिन्दगी में इतने क्रूरकर्म करके आधी दुनिया पर जो विजय पाई है तथा आधी दुनिया की दौलत इकट्ठी की है, क्या यह मेरे साथ परलोक मे नहीं जाएगी ?" इस पर उन्होंने स्पष्ट कहा— "हजूर ! आपके साथ तो एक तागा भी नहीं जाएगा। आपके अच्छे-बुरे कर्म ही आपके साथ जाएँगे।" यह सुनकर सिकन्दर बहुत रोया और पछताने लगा—"हाय ! मुझे यह मालूम होता कि मेरे साथ परलोक मे न धन जाएगा, न जमीन और न कोई ऐश-आराम का सामान, तो मैं इतनी उखाड़-पछाड़ क्यो करता ? क्यों इतने लोगों को सताकर, मारकर तथा त्रस्त करके इतने देश जीतता, किसी की हत्या करता और इतना धन इकट्ठा करता। अब तो यही हो सकता है कि दुनिया को नसीहत

---

१. अखण्ड ज्योति, मई १९७६ से साभार सार संक्षिप्त

२. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ५ गा. ५ से १६ तक का सारांश

देने के लिए मरने के बाद मेरे दोनों हाथ जनाजे (अर्थी) के बाहर लटका कर रखे जाएँ, ताकि लोग देख सके कि सिकन्दर परलोक में खाली हाथ जा रहा है।"[१] ऐसा ही किया गया।

सिकन्दर की इस कहानी से स्पष्ट है कि वह इस लोक से विदा होते समय अपने क्रूर पापकर्मों के लिए परलोक में मिलने वाले फल के विषय में सोचकर अत्यन्त भयभीत और शोकसंतप्त हुआ था।

परामनोवैज्ञानिकों ने यह अनुभव किया है कि दुष्कर्म कर्ता और दुर्बुद्धिग्रस्त मनुष्य मरते समय डरावने दृश्य देखते हैं। उन्हें अपने चारों ओर भय तथा आतंक का वातावरण छाया दीखता है। यमदूतों की डरावनी आकृतियाँ, उनकी धमकियाँ तथा प्रताड़नाएँ भी उन्हें अनुभव होती हैं तथा वैसी ही कष्टकारक अनुभूति होती रहती है। यदि अन्तःकरण शान्त और संतुलित हुआ तो उस स्थिति मे सुसंस्कारों और सत्कर्मों की प्रतिक्रिया स्वर्गीय सुखानुभूति जैसी होती रहती है।[२]

इहजीवनवादियों द्वारा अनैतिक एवं स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति

भौतिकविज्ञानी यह कहते रहे हैं कि प्राणी एक प्रकार का रासायनिक संयोग है। चार्वाक् आदि दर्शन पंचभूतों या चारभूतों के सन्तुलन क्रम से शरीर की उत्पत्ति और स्थिति मानते हैं। इन पंचभूतों के बिखरते ही यह शरीर मर जाता है, उसके साथ ही यह जीव भी समाप्त हो जाता है। शरीर से भिन्न आत्मा (जीव) की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

यह मान्यता मनुष्य को निराश ही नहीं, अनैतिक, स्वच्छन्दाचारी और निरंकुश भी बनाती है। वह सोचता है—जब शरीर के साथ ही सब कुछ मर जाता है तब इहलौकिक कामभोगजन्य सुखों का जितना उपभोग किया जा सके, मौज की जा सके, उतनी क्यों नहीं कर ली जाए ? यदि राजदण्ड या समाजदण्ड से बचा जा सकता है, तो जघन्य अपराधों और पापकर्मों द्वारा शीघ्रातिशीघ्र अधिक मात्रा मे सुख-साधन क्यों न जुटा लिये जाएँ![३]

अतः कर्म और कर्मफल में अनास्था रखकर मरणोत्तर जीवन में उनका अस्तित्व न मानने वाले अज्ञ और अदूरदर्शी मानव शुभकर्म का फल तत्काल न मिलने की स्थिति में उसके लिए उत्साहित नहीं होते और यही सोचते हैं कि पुण्य-परमार्थ का हाथोंहाथ कोई लाभ नहीं मिलता, तब क्यों समय और धन की बर्बादी की जाए ? इसी प्रकार अशुभ कर्मों का फल तत्काल न मिलने की कल्पना में मनुष्य पापकर्मों के दण्ड से सामाजिक एवं राजकीय

१. 'भारतीय इतिहास के नायक' से संक्षिप्त

२. अखण्ड ज्योति जून ७४ के 'मृत्यु न तो जटिल है, न दुःखद' लेख से पृ.२९

३. अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७४ से सारांश उद्धृत

बचाव कर लेने की उपलब्ध तरकीबें ढूँढ़कर अनीति अपनाने से मिलने वाले अर्थलाभादि को छोड़ना नहीं चाहता। समाज और राज्य के संगठन में इतने छिद्र हैं कि सत्कर्मों का सत्परिणाम मिलना तो दूर, दुष्कृत्यों का दण्ड भी प्रायः नहीं मिलता। अपराधी खुलकर खेलते रहते हैं और अपनी चालाकी और चतुरता के आधार पर कुकृत्यों का किसी प्रकार का दण्ड पाये बिना मौज करते रहते हैं।[१]

कर्म को परलोकानुगामी न मानने से बहुत बड़ी हानि

इस स्थिति को देखकर सामान्य मनुष्यों का मन भी अनैतिकता अपनाने और दुष्कृत्य करके अधिक लाभ उठाने के लिए लालायित हो जाता है। इस पापलिप्सा पर अंकुश रखने के लिए कर्म और कर्मफल पर दृढ़ आस्था रखकर मरणोत्तर जीवन को मानना बहुत ही आवश्यक है। अन्यथा व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के जीवन में अनैतिक-अवांछनीय तत्त्वों की बाढ़-सी आ जाएगी और मर्यादाओं के बाँध टूट जाएँगे। धार्मिक मान्यताओं का अंकुश रहने पर भी जब लोग दुष्प्रवृत्तियाँ अपनाने में सकोच नहीं करते, तब मानसिक नियंत्रण न रहने की स्थिति मे तो भयंकर स्वच्छन्दाचार, निरंकुशता एवं उच्छृंखलता के फैल जाने पर समूची मानवजाति का ही नहीं, समग्र प्राणि जगत् का भारी अहित होगा। यह भीषण मान्यता व्यक्ति की गरिमा और समाज की सुरक्षा, दोनो दृष्टियो से खतरनाक है।

आस्तिकता के मुख्य चार अंग अपनाने आवश्यक

भौतिक विज्ञान ने शरीर के साथ जीव की सत्ता का अन्त हो जाने का जो नास्तिकवादी प्रतिपादन किया है, उसका परिणाम तो हम नैतिकता और परोपकारवृत्ति की सत्प्रवृत्तियों का बांध तोड़ देने वाली विभीषिका के रूप में देख रहे हैं। अतः व्यक्ति की आदर्शवादिता, गरिमा, समाज और राष्ट्र की स्वस्थ परम्परा और सुरक्षा के लिए आत्मा, परलोक-पुनर्जन्म, कर्म और कर्मफल के प्रति पूर्ण आस्था रखने की आवश्यकता है। इसी आस्तिकता के इन चार महत्वपूर्ण अगो का प्रतिपादन 'आचारांग सूत्र' में इसी दृष्टि से किया गया है कि "आत्मा की शाश्वतता, लोक परलोक (स्वर्ग-नरकादि) तथा पुनर्जन्म के अस्तित्व, कर्म एवं सत्क्रिया-दुष्क्रिया के फल (कर्मफल) के अस्तित्व पर जो दृढ़श्रद्धा रखता है, वही सच्चा आस्तिक है।"[२]

---

१. (क) अखण्ड ज्योति, जुलाई १९७४ से साराश उद्धृत (ख) अखण्ड ज्योति, मई ७६
२. 'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी ।'

— आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. १, उ. १

कर्म को मरणोत्तर जीवन में अनुगामी मानने से लाभ

आस्तिकता का महत्वपूर्ण अंग है—मरणोत्तर जीवन। मरणोत्तर जीवन एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को आज तो परामनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रत्यक्ष घटनाओं द्वारा सिद्ध करके बता दिया है। इस आस्था को अक्षुण्ण रखने से जो इस जन्म में नहीं पाया जा सकता, वह अगले जन्म में अवश्य मिल जाएगा, यह सोच कर मनुष्य बुरे कर्मों से बचा रहता है और सत्कर्म करने के उत्साह को बनाये रहता है। तत्काल भले-बुरे कर्मों का फल न मिलने के कारण जो निराशा उत्पन्न होती है, उसका समाधान पुनर्जन्म की मान्यता पर दृढ़ विश्वास रखे बिना नहीं हो पाता।

कर्म का मरणोत्तर जीवन में अस्तित्व न मानना कितना अहितकर ?

मरणोत्तर जीवन की सच्ची घटनाएँ कर्म और कर्मफल के अस्तित्व को तो सिद्ध करती ही हैं, साथ ही मानव जाति को उत्कृष्ट चिन्तन के कितने ही उत्कृष्ट आधार प्रदान करती हैं। आज कोई हिन्दू है, भारतीय है या उच्च जातीय व्यक्ति है, कल को अगले जन्म में वह कर्मफलानुसार ईसाई, मुस्लिम, यूरोपियन या नीच जातीय भी बन सकता है अथवा दुष्कर्मों के फलस्वरूप वह चण्डकौशिक आदि की तरह सांप, भेड़िया, ऊँट, बकरा आदि भी बन सकता है। फिर क्यों इस सिद्धान्त को न मानकर व्यक्ति अनैतिक एव स्वच्छन्द प्रवृत्ति करे और अपने लिए विपत्ति के बीज बोए ? आज का सत्ताधीश या उच्चकुलीन मानव कल अपने निकृष्ट कर्मानुसार सामान्य जन, अछूत या पशु बन सकता है। वह अनैतिक व्यवहार, स्वेच्छाचार या पापयुक्त कर्म उसके भावी जीवन के लिए कितना अनिष्टकर, दुःखद एवं अहितकर होगा ? यह सोचकर कौन समझदार और दूरदर्शी व्यक्ति कर्म के यथातथ्य सिद्ध होने वाले अस्तित्व को मानने से इन्कार करेगा ?

कर्म के अस्तित्व के प्रति आस्था-संकट से बचिये

अतः दीर्घदर्शी, विचारशील एवं जनहितैषी व्यक्तियों को चाहिए कि वे कर्म और कर्मफल के अस्तित्व के प्रति वर्तमान में आए हुए आस्था-संकट से बचकर चलें, दुष्कर्मों से अपनी आत्मरक्षा करें, अपनी स्थिति, क्षमता और शक्ति के अनुसार अनिवार्य सत्कर्मों को करें और समस्त कर्मों से मुक्त होने के लक्ष्य की ओर बढ़ें।

■

कर्म-विज्ञान

(द्वितीय खण्ड)

कर्मवाद का ऐतिहासिक पर्यालोचन

१

अध्यात्म-शक्तियों के विकास का उत्प्रेरक : कर्मवाद

भारतवर्ष प्राचीनकाल से आध्यात्मिकता की क्रीड़ास्थली रहा है । यहाँ एक से एक बढ़कर तीर्थंकर, अवतार, सर्वज्ञ, केवलज्ञानी, वीतरागी, कर्मयोगी, धर्मगुरु, आचार्य, उपाध्याय, ऋषि-मुनि, साधु-सन्यासी एव महामनीषी, धर्म-धुरन्धर हुए हैं; जिन्होने अशन, वसन, शयन-जागरण, स्वप्न, गमनागमन, आसन, उपवेशन, भोजन, भाषण, यहाँ तक कि त्याग, तप, व्रत-नियम, श्रम, व्यवसाय, आवास, शिक्षण, आवश्यक आदि प्रत्येक प्रवृत्ति एवं क्रिया के साथ अध्यात्म का आलोक प्रदान किया और उस क्रिया या प्रवृत्ति को विवेक, संयम एव उपयोग सहित करने का विधान किया।[1]

साथ ही उन महान् मनीषियो ने यहाँ तक मार्ग-निर्देश किया कि प्रत्येक कार्य, फिर वह धार्मिक, आध्यात्मिक या नैतिक ही क्यो न हो, उसे करते समय आत्मा का ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए।[2]

तप, जप, धर्माचरण—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह या परिग्रह-परिमाण आदि व्रताचरण, दया, दान, सयम, सामायिक, पौषध आदि धार्मिक क्रिया एवं साधना करते समय भी उन्होंने इहलौकिक-पारलौकिक फलाकाक्षा, तथा कीर्ति, प्रशसा, प्रसिद्धि एवं प्रतिष्ठा, अहंकारवृद्धि एवं आसक्ति की दृष्टि से न करने का स्पष्ट मार्गदर्शन दिया, और एकमात्र आत्मशुद्धि एव वीतरागता की दृष्टि से ही सभी धर्माचरणों एव आध्यात्मिक साधनाओ को करने का निर्देश दिया।[3]

---

१. जयं चरे जय चिट्ठे जयमासे जय सए।
जय भुजंतो भासतो पावकम्म न बंधइ॥ —दशवैकालिक सूत्र, अ. ४, गा. ८

२. आत्मा वाऽरे श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यश्च। —बृहदारण्यक २/४/५

३. (क) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा॥

(ख) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो कित्ति-वन्न-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा॥ —दशवैकालिक सूत्र अ. ९ उ. ४ सू. ४-५

यही कारण है कि उन महामनीषियों ने सभी साधकों को सावधान कर दिया कि प्रत्येक कदम विवेकयुक्त हो तथा फूंक-फूंक कर कदम रखो, तुम्हारे चारों ओर बन्धन और पाश के स्रोत हैं,[१] यदि तुमने जरा-सी भी असावधानी (प्रमाद) की तो उनमें फंस जाओगे।

उन महर्षियों ने अपने अनुभवज्ञान में देखा कि आत्मा जब प्रमाद-युक्त होकर अपने शुद्धस्वरूप को छोड़ देता है, साधना-पथ पर चलता हुआ भी असावधानी रखता है, राग-द्वेष-मोह आदि विजातीय पदार्थों-परभावों के चक्कर में पड़ जाता है, तब वह उनसे बंध जाता है, अध्यात्म-दृष्टि को चूक जाता है, उसके फलस्वरूप उसे जन्म-मरणरूप संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है। इसीलिए उन्होंने अपने अनुगामी साधकों को सावधान करते हुए कहा—"ऊर्ध्वदिशा में स्रोत (शुभाशुभकर्मप्रवाह) हैं, अधोदिशा मे स्रोत हैं, तिर्यक्दिशाओं में भी स्रोत हैं। इन्हें देखो! इन्हें ही शुभाशुभ कर्मप्रवाह (स्रोत) कहा गया है, जिनसे आत्मा के साथ (कर्मों का) संग-बन्ध होता है।"[२]

यही कारण है कि उन्होंने कहा—"दया, क्षमा, समता, मृदुता आदि आत्मगुणों की साधना करते समय भी पहले इन सब गुणों का सम्यग्ज्ञान और फिर दया (क्षमादि गुणो का आचरण), इस प्रकार सभी संयमी साधक आत्मभावों में स्थित होते हैं। बेचारा अज्ञानी क्या कर सकता है? वह कैसे जान सकेगा कि क्या श्रेय है क्या पाप?"[३]

इस प्रकार उन प्रतिभासम्पन्न अध्यात्मविज्ञो ने अध्यात्म क्षेत्र के प्रत्येक पहलू का सम्यक् अध्ययन-मनन-चिन्तन किया और जिस चिरन्तन सत्य का साक्षात्कार किया, अपने जीवन को भी उसी साचे में ढाला। उन्होंने आत्मा के साधक-बाधक पदार्थों का, आत्मा के लिए हित-अहित, कल्याण-अकल्याण, श्रेय-प्रेय, लाभ-अलाभ, गुण-अवगुण इत्यादि तत्त्वो का विश्लेषण करते हुए आत्म-हितकर पदार्थों एवं तत्त्वो का आश्रय लिया। संसार के समक्ष अपनी अनुभूतियो की प्रभास्वर रश्मिमाला प्रस्तुत करते हुए उन्होने कहा—"सदैव आत्मा का हित ही सोचना और करना चाहिए।

---

१. चरे पयाई परिसंकमाणो, ज किंचि पासं इह मन्नमाणो ।

—उत्तराध्ययन अ. ४, गा. ७

२. उड्ढं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया।
एए सोया वि अक्खाया जेहिं संगति पासहा। —आचारांग सूत्र श्रु. १, अ. ६, उ. ५

३. पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किंवा, नाही उ सेय-पावगं।।

—दशवैकालिक सूत्र अ. ४ गा. १०

पहले आत्महित है उसके पश्चात् ही परहित है। परहित गौण है, आत्महित ही मुख्य है।[१]

भारतीय अध्यात्म एवं धर्म का इतिहास एवं साहित्य इस तथ्य का ज्वलन्त प्रमाण है कि आध्यात्मिक अन्वेषण, अनुसन्धान, शोध, गवेषणा, एवं तदनुसार आत्मकल्याण की साधना ही उन महामनीषी महापुरुषों के जीवन का एकमात्र अभीष्ट लक्ष्य रहा है। इसी आध्यात्मिक दृष्टि, आध्यात्मिक उत्क्रान्ति और आध्यात्मिक प्रेरणा के द्वारा भारतवर्ष ने सारे विश्व का नेतृत्व किया और विश्व के आध्यात्मिक गुरु के महत्वपूर्ण पद को अलंकृत किया।

भारत की पुण्यभूमि पर सभ्यता और संस्कृति की, धर्म और अध्यात्म की, आध्यात्मिक चिन्तन-मनन की, दर्शन और धर्म की तथा संस्कृति और नीति की विचारधारा आदिकाल से ही सुरसरिता गंगा की पावन धारा की तरह अबाधगति से बहती चली आ रही है। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, बौद्ध और जैन प्रभृति अनेक दर्शनो और वैदिक, जैन, बौद्ध आदि धर्मों ने यहाँ जन्म ग्रहण किया। ये सभी यहाँ पुष्पित-फलित हुए। इन सबकी विचारधाराएँ आसेतु हिमालय तक फैली। उस युग के सभी वर्ग के लोगों ने समुद्र से भी अधिक गम्भीर एवं गगन से भी व्यापक उस अध्यात्म विद्या का आचमन किया।

इतना ही नहीं, यहाँ के मनस्वी तत्त्वज्ञानियो ने आत्मा-परमात्मा, इहलोक-परलोक, कर्म-अकर्म, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, आदि कमनीय तत्त्वों की गगन-विहारी कल्पना एवं प्रेरणा ही नहीं की, जीवन के गम्भीर एवं अटपटे प्रश्नों पर भी अपनी युक्ति, अनुभूति और सूक्ति के आधार पर विवेचन, एवं विश्लेषण किया है, स्वयं भी उन तथ्यों पर अनुशीलन-परिशीलन किया है। उन्होंने अध्यात्मविद्या का गौरव-गान भी किया और स्वयं भी आत्मा से परमात्मा बनने में आस्रव, बन्ध आदि बाधक तत्त्वो से दूर रहकर समता, क्षमा, संयमशीलता, तप, त्याग, वीतरागता, संवर एवं निर्जरा के आग्नेय पथ पर अग्रसर हुए।[२]

---

१. आदहिदं कादव्वं ....

२. परिसह-रिउ-दन्ता, धूयमोहा जिइन्दिया।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो॥
दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य।
केइऽत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झन्ति नीरया॥
खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुपत्ता, ताइणो परिणिव्वुडा॥
—दशवैकालिकसूत्र अ. ३ गा. १३-१४-१५

आत्मगुणों के विघातक चार घातिकर्मों का समूल उन्मूलन करके वे स्वयं वीतराग, जीवन्मुक्त परमात्मा बने। अपना मौलिक एवं स्वयम्भू अनुभव-प्रसाद भी उन्होंने संसार को वितरित किया।

जिस समय उन पर भयंकर संकट, विघ्न, कष्ट और उपसर्ग आए, उस समय भी उन्होंने किसी भी अन्य शक्ति, भगवान् या प्रभु से सहायता की अथवा उस संकट एवं कष्ट से उबारने की प्रार्थना/याचना नहीं की; उन्होंने अपने आपको टटोला, अपनी देह में विराजमान विदेह (शुद्ध आत्मा) की शक्ति की खोज की और अपनी आत्म-शक्ति के सहारे उस संकट एवं कष्ट का समभाव से सामना किया, उसे अपनी तितिक्षाशक्ति से पराजित किया। उन्होंने अपने विशुद्ध ज्ञान मे देखा कि मेरे पूर्वकृत अशुभ कर्म ही मेरे इस संकट और कष्ट के कारण हैं। उसमें निमित्त कोई भी हो सकता है। अतः मुझे निमित्त पर किसी प्रकार का दोषारोपण या रोष-द्वेष किये बिना अपने उपादान (आत्मा) को ही दोषयुक्त मानकर उक्त पूर्वकृत-कर्म के फलस्वरूप प्राप्त कष्ट या संकट को समभाव से भोग कर क्षय करना चाहिए और अपनी आत्मा की शुद्धि करनी चाहिए।

उदाहरणार्थ—श्रमण भगवान् महावीर के जीवन को ही ले। भगवान् महावीर ने देखा कि शुद्ध आत्मा के साथ कर्म लगकर उसे विकृत एव दुर्बल बनाये हुए हैं। अतः वे अकेले ही उन कर्मों से जूझने के लिए उद्यत हुए । साधना-काल मे पूर्वकृत अशुभ कर्मों के फलस्वरूप कितने ही सकट, उपसर्ग एवं कष्टो के पहाड़ उन पर टूटे; परन्तु भगवान् महावीर अकेले ही समभाव से सहकर उन कर्मों को क्षय करते जा रहे थे।

एक बार भक्तिपूर्ण हृदय से देवेन्द्र ने आकर प्रभु-चरणो मे निवेदन किया— "भगवन् ! आप पर बड़े-बड़े संकट आ रहे हैं। अबोधजन आपको पीड़ा पहुँचाते हैं। अतः मै आपकी सेवा में रहकर आपकी हर प्रकार से सेवा करूँगा ताकि कोई आपको कष्ट न दे सके।"

भगवान् महावीर ने इन्द्र को उत्तर दिया— "देवराज! ऐसा नहीं हो सकता। अगर कोई कष्ट देता है तो इसमें मेरा क्या बिगड़ता है ? मिट्टी के इस शरीर को कोई हानि पहुँचा सकता है, अच्छेद्य-अभेद्य आत्मा को कैसे नष्ट कर सकता है ? रही बात मेरी साधना में तुम्हारी सेवा और सहायता की। तुम्हारी यह धारणा ठीक नही है। सहायता लेने से मैं पराश्रित और सुविधा का गुलाम बन जाऊँगा। फिर मैं कष्ट-सहिष्णु एवं तितिक्षु होकर कर्मों को क्षय नही कर सकूँगा।[1]

---

१. "स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परम पदम्। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

जितने भी अर्हत् (वीतराग) परमात्मा होते हैं वे सहाय निरपेक्ष होकर अपनी आत्मशक्ति के बल पर ही कर्मक्षय करके परम (परमात्म) पद को प्राप्त करते हैं।"

कर्म-मुक्ति के उस अमर साधक ने इन्द्र से कहा—

"इन्द्र! कोई भी साधक किसी देव, इन्द्र या चक्रवर्ती आदि की सहायता के बल पर न तो अतीत में कर्ममुक्त पूर्ण परमात्मा हो सका है, न ही वर्तमान में हो सकता है, और न भविष्य में ही हो सकेगा।"[१]

यह था, भारत के महान् आत्मनिष्ठ महापुरुषों का उच्च आदर्श!

उन्होंने पूर्वकृत कर्मों से मलिन आत्मा को पूर्ण शुद्ध परमात्मा बनाने के लिए अपने सत्पुषार्थ से, अनन्त आत्मशक्ति, पूर्ण आत्मज्ञान-दर्शन, एवं पूर्ण आनन्द की साधना का आश्रय लिया। और जगत् को भी उन्होंने अध्यात्म की पूर्णता के लिए कर्मवाद को जानने तथा नवीन कर्मों के आगमन को रोकने (संवर) और पूर्वकृत कर्मों के क्षय करने (निर्जरा) का महत्वपूर्ण उपदेश दिया। उन्होने बताया कि कर्मवाद के रहस्य को जाने-समझे बिना अध्यात्मवाद का यथार्थ परिज्ञान तथा आत्मा के परिमार्जन-परिष्करण का बोध नहीं हो सकता। उन्होंने जगत् के समक्ष अपनी अनुभवसिद्ध वाणी मे कहा—

"आत्मा ही अपने कृतकर्मों के अनुसार विविध गतियों और योनियों मे भटकता है"[२] और "अपने ही पुरुषार्थ से कर्म-परम्परा का सर्वथा उच्छेदकर सिद्ध बुद्ध और मुक्त परमात्मा बनता है।"[३]

यही कारण है कि भारत के सभी आस्तिक दार्शनिकों, धर्म-धुरन्धरों एवं अध्यात्मविज्ञों ने किसी न किसी रूप में कर्मवाद की चर्चा-विचारणा की है। यद्यपि कर्म के स्वरूप-निर्धारण में प्रत्येक दर्शन और धर्म में मत-विभिन्नता रही है, फिर भी आत्मा के पूर्ण विकास के लिए प्रायः सबने बताया कि "आत्मा जब कर्मों से मुक्त हो जाता है, तभी वह परमात्मा बनता है।"[४]

अतः कर्म-विज्ञान को हृदयंगम किये बिना कोई भी साधक अध्यात्म-विकास के सर्वोच्च शिखर तक नहीं पहुँच सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है। ■

---

१. "इन्दा! न एवं भूयं, न एवं भव्वं, न वा भविस्सई..........। —महावीर चरियं

२. जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठय॥ —सूत्रकृतांग १२/१/४

३. जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेन्ति। —औपपातिक

४. अप्पो वि य परमप्पो, कम्म-विमुक्को य होइ फुडं। —भावपाहुड १५१

(२)

विभिन्न कर्मवादियों की समीक्षा : चार पुरुषार्थों के सन्दर्भ में

चार पुरुषार्थ और उनके स्वरूप

भारतीय संस्कृति के पुरस्कर्ताओं ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने हैं और मानव-जीवन को व्यावहारिक दृष्टि से सुचारु रूप से सफल बनाने के लिए इन चार पुरुषार्थों की ओर उन्होंने संकेत किया है। अर्थ-पुरुषार्थ का अर्थ है—जीवनयापन के लिए विविध साधनों-पदार्थों का जुटाना और काम-पुरुषार्थ का अर्थ है—उन जुटाए हुए पदार्थों अथवा इन्द्रियो और मन से ग्रहण किये हुए विभिन्न सजीव-निर्जीव 'पर'—(आत्म-बाह्य) पदार्थों का राग-द्वेष एव कषायपूर्वक उपभोग करना। धर्म-पुरुषार्थ का यहाँ अभिप्रेत अर्थ है—शुभ या कुशल कर्म (कर्त्तव्य) करना, नैतिक दृष्टि से उपादेय, समाजमान्य शुभ कर्मो को करना, पुण्य कार्य करना। धर्म-पुरुषार्थ यहाँ कर्मक्षय (निर्जरा) या कर्मनिरोध (संवर) करने के अर्थ में विवक्षित नही है। चौथे मोक्ष-पुरुषार्थ का अर्थ है—पूर्वकृत कर्मो का क्षय, नवीन आते हुए कर्मो का निरोध करने हेतु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप में पुरुषार्थ करना।

मोक्ष-पुरुषार्थ के मार्ग (साधन) के रूप में तत्त्वश्रध्दा तथा देव-गुरु-धर्म एवं शास्त्र पर श्रद्धा द्वारा सम्यग्दर्शनाचरण, शास्त्रीय ज्ञान, स्वाध्याय आदि द्वारा ज्ञानाचरण, अहिंसा-सत्य आदि व्रतो-महाव्रतों तथा क्षमा आदि दशविध उत्तम धर्मों की या सयम की साधना करना चारित्राचरण एवं द्वादशविध तपश्चरण का विधान है। तपश्चरण का समावेश चारित्राचरण में हो जाता है।[१]

---

१. (क) जैसे कि भ. महावीर ने कहा है—

नाणं च दसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. २८ गा. २

(ख) सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः । —तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू. १

चारों ही पुरुषार्थों का साध्य

इन चारों ही पुरुषार्थों का साध्य इहलौकिक और पारलौकिक और लोकोत्तर सुख—प्राप्ति रहा है। किन्तु शर्त यह थी कि धर्म और मोक्ष के अंकुश में अर्थ और काम पुरुषार्थ रहें, तभी इहलौकिक एवं पारलौकिक तथा लोकोत्तर सुख (आत्मानन्द) प्राप्त हो सकता है। यदि अर्थ और काम निरंकुश रहें तो उनसे क्षणिक वैषयिक सुख भले ही प्राप्त हो जाय, इहलौकिक—पारलौकिक जीवन में सच्चा सुख अथवा आत्मिक (आत्माधीन-स्वाधीन) सुख (आनन्द) प्राप्त होना बहुत ही दुष्कर है। एकान्त धर्म पुरुषार्थ यदि केवल शुभकर्म (पुण्य) के उपार्जन करने अर्थ में हो, तो वह भी जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण कराने का कारण है। प्रचुर पुण्यराशि के उपार्जन के कारण कदाचित् स्वर्ग (देवलोक) में देवजन्म या मानवजन्म प्राप्त हो जाए, परन्तु वह भी तो संसार का कारण है।

धर्म-पुरुषार्थ यहाँ संवर-निर्जरा का हेतु नहीं

कोई कह सकता है कि धर्म तो साक्षात् मोक्षप्राप्ति का कारण है। जैनदर्शन के महान् विद्वान् आचार्य समन्तभद्र ने भी सम्यग्दर्शन्-ज्ञान-चारित्र रूप रत्नत्रय को धर्म माना है।[1] जिससे आत्मशुद्धि हो, कर्मों का क्षय या निरोध जिस अनुष्ठान से हो, जिस अनुष्ठान के साथ किसी प्रकार की आसक्ति, ममत्व, फलाकांक्षा अथवा कषायवृत्ति न हो, वह शुद्ध धर्म है। किन्तु जहाँ धर्म-पालन के साथ राग, द्वेष, फलाकांक्षा, या बड़प्पन की आकांक्षा, प्रतिस्पर्द्धा, कषायवृत्ति, आसक्ति आदि कालुष्य की मिलावट हो, वहाँ वह शुद्धता नहीं रहती। यही कारण है कि शुद्ध संयम (संवर-निर्जरारूप धर्म) जहाँ कर्म-क्षय एवं कर्मनिरोध एवं मोक्षप्राप्ति का कारण है, वहाँ सराग-संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, तथा सम्यग्ज्ञानरहित तप से शुभकर्म (पुण्य) बन्ध होने से ये देवजन्म-प्राप्ति के कारण हैं।[2]

मोक्षपुरुषार्थ का फल एवं उपादेयत्व

इसीलिए श्रमण भगवान् महावीर आदि समस्त तीर्थंकरों, अवतारों, महापुरुषों एवं ऋषि—मुनियों ने मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष या परमानन्द की प्राप्ति बताया है। उन्होंने मोक्ष को ही एकान्त निराबाध

---

१. सद्दर्शन-ज्ञानवृत्तस्तु धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीय-प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ —रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लो. ३

२. सराग संयम-संयमासंयमाकामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य ।
—तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सू. २०

आत्मिक सुख (आनन्द) प्राप्तिरूप कहा है। भगवान् महावीर ने पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में यही कहा था—(कर्मबन्ध के मूल कारण) राग और द्वेष के सम्यग्तया क्षय से, अज्ञान और मोह से विवर्जित (रहित) होने से तथा समस्त सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो जाने से साधक एकान्त (निराबाध) सुखरूप मोक्ष को प्राप्त करता है।"[१]

यह है मोक्ष-पुरुषार्थ की साधना पर भारतीय अध्यात्मविदों एवं अध्यात्मनिष्ठों द्वारा बल देने का मुख्य कारण।

जैनदर्शन के अनुसार मोक्ष का अर्थ है—[२] सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाना। इसलिए एकमात्र मोक्ष ही मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य होने से पिछले तीन पुरुषार्थों के कारण होने वाले कर्ममात्र, चाहें वे पुण्यरूप हों या पापरूप, हेय हैं। मोक्ष पुरुषार्थ ही सर्वथा उपादेय है।

मोक्ष पुरुषार्थ को उपादेय मानने का प्रबल कारण

मोक्ष-पुरुषार्थ को सर्वथा उपादेय मानने का एक प्रबल कारण यह भी है कि उसी पुरुषार्थ को मुख्यरूप से अपनाने के कारण व्यक्ति अव्याबाध एवं ऐकान्तिक अनन्त आत्मिक सुख (आनन्द) को प्राप्त कर सकता है और समस्त दुःखों से सर्वथा और सर्वदा मुक्त भी हो सकता है।

'दशवैकालिक सूत्र' मे इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है—"परीषहरूपी शत्रुओ का दमन करने वाले, मोह को प्रकम्पित (धराशायी) करने वाले जितेन्द्रिय महर्षि समस्त दुःखो को नष्ट करने के लिए (कर्म-मोक्षरूप) पुरुषार्थ (पराक्रम) करते हैं।"[३]

यह निश्चित है कि जब तक आठ कर्मो मे से चार घाती (आत्मगुण-विघातक) कर्मो से जीव मुक्त वीतराग केवलज्ञानी नही हो जाता,[४] तब तक उसे संसार की विविध गतियों और योनियो में परिभ्रमण करना पड़ता है। और संसार समस्त दुःखों से ओतप्रोत ही है।

भगवान् महावीर ने जन्म-मरणादिरूप संसार को दुःखमय बताया है—संसार मे जन्म दुःखरूप है, मरण दुःखरूप है, जरा (वृद्धावस्था) भी

---

१. नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाण-मोहस्स विवज्जणाए ।
रागस्स दोसस्स य संखएण, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥
—उत्तराध्ययन अ. ३२, गा. २

२. कृत्स्न-कर्मक्षयो मोक्षः । —तत्त्वार्थसूत्र अ. १० सू. ३

३. परीसह-रिउदन्ता धूयमोहा जिइंदिया ।
सव्व दुक्खपहीणट्ठा पक्कमति महेसिणो ।

४. मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् । —तत्त्वार्थ अ. १०. /१

दुःखरूप है, और विविध आधि-व्याधि-उपाधि (शारीरिक मानसिक रोग) भी दुःखकारक हैं। अहो ! निश्चित ही यह संसार एकान्त दुःखरूप है, जिसमें सांसारिक प्राणी क्लेश पा रहे हैं।"[१]

इसलिए मोक्ष को छोड़कर या मोक्षपुरुषार्थ की उपेक्षा करके पूर्वोक्त तीनों पुरुषार्थों को अपनाना संसार-परिभ्रमण का कारण होने से एकान्त स्वाधीन एवं निराबाध आत्मिक सुख का कारण नहीं है। मोक्षपुरुषार्थ ही एकान्त, अव्याबाध एवं स्वाधीन पूर्ण सुख (आत्मानन्द) का कारण है। इसलिए कहा गया है—"**कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः।**" मोक्ष के आनन्द के लिए पुरुषार्थ करो।"

कौन-सी प्रवृत्ति उपादेय, कौन-सी हेय ?

यहाँ शंका हो सकती है कि पुरुषार्थ मात्र में प्रवृत्ति है, भले ही वह शारीरिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो। तीनों प्रकार की प्रवृत्तियो को जैनागमों की परिभाषा में त्रिविध 'योग' कहा गया है। वहाँ कहा गया है—कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म योग है, और वही आस्रव (कर्मों के आगमन का कारण) है। वह आस्रव शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) दोनों प्रकार का होता है।[२] अतः मोक्ष पुरुषार्थ भले ही शुभ प्रवृत्ति (शुभ योग) रूप हो, फिर भी वह शुभकर्मों के आस्रव का कारण तो है ही। तब फिर मोक्ष पुरुषार्थ के द्वारा कर्मों से छुटकारा (मुक्ति) कैसे संभव है ?

इसका युक्तियुक्त समाधान जैनकर्मशास्त्रियो ने इस प्रकार किया है।

साम्परायिक कर्मबन्ध से बचो, ऐर्यापथिक से बचना कठिन

यह सत्य है कि प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति से कर्म आते हैं। किन्तु फलाकांक्षारहित या कषाय (क्रोधादि या राग-द्वेषादि) से रहित मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्ति या क्रिया हो, तो उससे कर्मों का आस्रव तो होता है, परन्तु उससे उन कर्मों में रसबन्ध या स्थितिबन्ध नहीं होता है, प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध ही होता है, वह ऐर्यापथिक कर्मबन्ध है। इसमें शुभ कर्म आते हैं किन्तु वे एक समय तक रहते हैं और दूसरे समय में झड़ जाते हैं। कषायसहित मन-वचन-काया की प्रवृत्ति करने वाले के साम्परायिक कर्मबन्ध होते हैं। इससे कर्मों का रसबन्ध और स्थितिबन्ध भी

---

१. जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु ससारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र १९/१५

२. 'काय-वाङ्-मनः कर्म योगः । स आस्रवः । शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य ।' —तत्त्वार्थसूत्र ६/१-२-३

होता है। संसारचक्र का मुख्य कारण कषाय-राग-द्वेष-मोह आदि हैं। कषायसहित प्रवृत्ति ही संसारचक्र का प्रमुख कारण है।"[१]

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ की मर्यादाएं

अतः मनुष्य जब तक चौदहवें गुणस्थान की अयोग (योगों का सर्वथा निरोध) की भूमिका पर न पहुँच जाए वहाँ तक वह संसार में है। यद्यपि बारहवें-तेरहवें गुणस्थान में मोहक्षय हो जाने से कषायों का सर्वथा अभाव हो जाने से चार घाति-कर्मों का क्षय हो जाता है। इसी प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थ भी सामान्य मनुष्य से लेकर गृहस्थ-साधक और उच्च साधक को करना पड़ता है। उच्चसाधकों को भी अपने जीवन निर्वाह के लिए आहार, पानी, वस्त्र-पात्रादि उपकरण या ग्रन्थ-पुस्तक आदि पदार्थों को जुटाना एक तरह से अर्थ-पुरुषार्थ है। हाँ, वह अर्थपुरुषार्थ किसी फलासक्ति या तीव्र कषायादि से या मूर्च्छा-ममत्वभाव से प्रेरित नहीं होता। तथा पंचेन्द्रिय विषयों (इन्द्रियार्थों) तथा मनोजन्य विषयों का भी उसे ग्रहण करना और आहारादि पदार्थों का संयमी जीवन यात्रा के लिए उपभोग करना एक तरह से उनका काम-पुरुषार्थ है, किन्तु निर्ग्रन्थों—उच्चसाधकों का अर्थ-काम-पुरुषार्थ धर्म से युक्त एवं मोक्ष पुरुषार्थ की साधना मे सहायक होने से वह अशुभ कर्मबन्ध का कारण नहीं होता। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में निर्ग्रन्थों के धर्मयुक्त अर्थ-कामपुरुषार्थ का उल्लेख किया गया है।[२]

गृहस्थ साधक (सम्यक्त्वी और व्रती श्रावक) को भी जीवन-निर्वाह एव जीवन-यात्रा चलाने के लिए अर्थ और काम पुरुषार्थ करना पड़ता है। परन्तु वहाँ वे दोनों पुरुषार्थ व्रत, नियम, मर्यादा, त्याग, प्रत्याख्यान आदिरूप धर्म-पुरुषार्थ से युक्त होते हैं। सामान्य मार्गानुसारी सद्गृहस्थ भी जीवन में नीति, न्याय और ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि सामान्य धर्मों का पालन करते हुए अर्थ और काम का सेवन मर्यादापूर्वक करता है।

मोक्षलक्ष्यी धर्मयुक्त अर्थ-काम-पुरुषार्थ

निष्कर्ष यह है कि उच्चसाधक हो, गृहस्थ-साधक हो अथवा सामान्य सद्गृहस्थ हो, उसके साथ जब तक शरीर और मन है, इन्द्रियाँ

---

१. (क) जोगा पयडिपएसं ठिई अणुभागं कसायओ वुच्चइ ।
   (ख) सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः । —तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सू. ५
   (ग) रागं दोसं च तहेव मोहं उद्धत्तुकामेण समूलजालं........। —उत्तराध्ययन ३२/९
   (घ) दुक्खं जाइ-मरणं वयंति । वही, ३२/७

२. 'हंदि धम्मत्थकामाणं निग्गंथाणं सुणेह मे ।' —दशवैकालिकसूत्र अ. ६ गा. ४

और प्राण हैं; तब तक उसे इन्हें टिकाने, इनसे धर्मपालन करने, आध्यात्मिक साधना करने तथा गृहस्थवर्ग को आजीविका करने एवं कुटुम्ब, समाज तथा समष्टि के प्रति अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह के लिए अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करना पड़ता है, परन्तु वह करता है धर्मयुक्त, तथा मोक्ष-लक्ष्य में साधक पुरुषार्थ।

यद्यपि अर्थ और काम के साथ धर्म-मर्यादा का तथा नैतिक मर्यादाओं का ध्यान रखना आवश्यक होता है। धर्म से अविरुद्ध अर्थ और काम व्यक्ति को अशुभ कर्मबन्ध से रोक देते हैं। जैसा कि 'दशवैकालिक निर्युक्ति' में कहा गया है—[1]धर्म, अर्थ और काम ये भले ही परस्पर विरोधी कहे जाते हैं, किन्तु वे यदि जिनवचन के अनुसार (धर्म से अनुबन्धित या धर्मानुकूल) रहते हैं, तो वे कुशल (पुण्य) अनुष्ठान में परिणत होकर (अविरोधी) हो जाते हैं। महाभारत में भी धर्म की मर्यादा में अर्थ और काम का सेवन करने की प्रेरणा की है।[2]

संयम के हेतु मोक्षपुरुषार्थलक्ष्यी प्रवृत्ति निर्दोष है

सभी कोटि के साधक अपने जीवन में मन, वचन, काया से आवश्यक प्रवृत्तियाँ करते हैं। परन्तु यदि वे प्रवृत्तियाँ संयम के हेतु से की जाती हैं तो 'बृहत्कल्पभाष्य' के अनुसार, "उसी प्रकार निर्दोष हैं, जिस प्रकार वैद्य के द्वारा किया जाने वाला वृणच्छेद (फोड़े का ऑपरेशन) आरोग्य के लिये होने से निर्दोष होता है।"[3]

इसी प्रकार जहाँ नीति-धर्ममर्यादाओं एवं संयम-साधना की दृष्टि से मोक्ष पुरुषार्थ का लक्ष्य रखकर विवेकपूर्ण प्रवृत्ति की जाती है, तो वहाँ भी वह प्रवृत्ति पापकर्म-बन्धकारक नहीं होती।

'दशवैकालिक सूत्र' में साधक को मन-वचन-काया से की जाने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति (चलने, उठने, बैठने, सोने, खाने-पीने, बोलने आदि की क्रिया) करते समय यतना (विवेक) रखने का निर्देश किया गया है, ताकि पापकर्म का बन्ध न हो।[4] इसके अतिरिक्त जो प्रवृत्तियाँ (रत्नत्रय की शुद्ध

---

१. धम्मो अत्थो कामो भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता ।
जिणवयणे उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा ॥ —दशवै. निर्युक्ति २६२

२. धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ? —महाभारत

३. संजमहेऊ जोगो पउज्जमाणो अदोसवं होइ ।
जह आरोग्ग निमित्तं गण्डच्छेदो व्व विज्जस्स ॥ —बृ. क. भाष्य गा. ३९५१

४. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए ।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ ॥ —दशवै. अ. ४

साधना या सम्यक्—तपश्चरण आदि) केवल कर्मक्षय की दृष्टि से की जाती हैं, वे अबन्धक भी होती हैं, वे संवर-निर्जरामय होती हैं। जैसे कि 'दशवैकालिक सूत्र' में निर्जरा (कर्मक्षय) के उद्देश्य से तपश्चर्या करने तथा वीतरागता के हेतु से ज्ञान-दर्शन-चारित्राचरण का विधान किया गया है।[1]

सर्वथा प्रवृत्ति त्याग तो चौदहवें गुणस्थान की भूमिका से पूर्व होना असम्भव है। अतः साधक के लिए कहा गया है कि जिस प्रकार कांटे से कांटा निकाला जाता[2] है, उसी प्रकार अशुभ (पापजनक) प्रवृत्तियों को निकालने के लिए शुभप्रवृत्तियो का आश्रय लिया जा सकता है। इसी कारण 'उत्तराध्ययन सूत्र' में बताया गया है कि खड़े होने, बैठने, करवट बदलने, लांघने और तीव्रगति से गमन करने में तथा इन्द्रियों का प्रयोग करने मे, संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ करने मे शरीर को प्रवृत्त करते समय साधु यत्नपूर्वक अपने पर नियत्रण रखे तथा प्रवृत्ति के लिए इन पांच समितियों में और निवृत्ति के लिये तीन गुप्तियों मे तथा चारित्र में प्रवृत्ति करते समय अशुभ विषयों से सर्वथा निवृत्त होकर आराधना-साधना करे।"[3]

प्रवृत्ति-निवृत्ति का विवेक

इसी दृष्टि से जैनाचायो ने व्यवहार-चारित्र की परिभाषा की है—अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को चारित्र समझो।[4] अतः मन को प्रवृत्त करते समय प्रवृत्ति को व्यवहार चारित्र जानना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में भी प्रत्येक साधक को विधि-निषेधात्मक, अथवा ग्रहण-त्यागात्मक या प्रवृत्ति-निवृत्त्यात्मक आचरण में भी सावधान करते हुए कहा गया है—एक ओर से साधक निवृत्ति करे और एक ओर से प्रवृत्ति करे। अर्थात्—असंयम से वह निवृत्ति करे और सयम में प्रवृत्ति करें।[5]

---

१. (क) "नन्नत्थ निज्जरट्ठाए तवमहिट्ठिज्जा ।"
(ख) नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा ॥
—दशवैकालिकसूत्र अ. ९, उ. ४

२. कण्टकेनैव कण्टकम् इति न्यायः —न्यायविजयजी

३. ठाणे निसीयणे चेव तहेव य तुयट्टेण ।
उल्लघण-पल्लघणे इंदियाण य जुजणे ॥
सरंभ-समारम्भे आरंभम्मि तहेव य ।
कायं पवत्तमाणं तु नियतेज्ज जय जई ॥
एयाओ पंच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥
—उत्तराध्ययन अ. २४ गा. २४ से २६ तक

४. असुहादो विणिवित्ति, सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं ॥

५. एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तण ।
असजमे नियत्ति च, सजमे य पवत्तणं ॥ —उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३१/२

अध्यात्म साधक श्रीमद्राजचन्द्र ने इसी सत्य तथ्य को स्वीकार करते हुए अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं, संयम साधना के लिए मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करते हुए यदि साधक स्व-स्वरूप में लीन रहता है, सदा सर्वदा वीतराग-आज्ञा का लक्ष्य रखता है तो वह साधक आयु समाप्त होने पर परमात्मभाव में लीन हो जाता है।[१]

इसलिए जैनधर्म न तो एकान्ततः प्रवृत्तिप्रधान है और न ही एकान्त निवृत्ति-प्रधान। इसके मतानुसार नीति, न्याय, अहिंसादि धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप धर्म, एवं आध्यात्मिकता प्रधान संवर-निर्जरामय मोक्ष-साधक धर्मलक्ष्यी प्रवृत्ति उपादेय है, और कषाय राग-द्वेष-मोह, ममत्व आदि जिस प्रवृत्ति से बढ़ते हों, उससे निवृत्ति उपादेय है। असंयम, पाप एवं अधर्म की ओर ले जाने वाली प्रवृत्ति, अथवा आलस्य, प्रमाद, असावधानी, सयम के प्रति उपेक्षा, क्रियाओं के साथ अविवेक—अयतना की ओर ले जाने वाली निवृत्ति हेय है।

दो पुरुषार्थों को मानने वाले : प्रत्यक्षवादी चार्वाक आदि

कर्मतत्त्व को मानने वाले सभी आस्तिक दर्शन एवं धर्म-सम्प्रदाय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों में से कोई वर्ग दो पुरुषार्थों को, कोई तीन को और कोई चार पुरुषार्थों को मानते थे। इस विषय में विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विभिन्न मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। जिनकी दृष्टि मे प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् ही सब कुछ है। वह पंचभूतों से उत्पन्न शरीर को ही सब कुछ मानता है। वही चेतनाशील तत्त्व है, उसके सिवाय आत्मा नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। इस शरीर के समाप्त होने के साथ यही सब कुछ समाप्त हो जाता है। वे कर्म और कर्म के फल को नहीं मानते, इसलिए स्वर्ग, नरक आदि परलोक को भी नही मानते। और न ही शुभ कर्म करने की, पूर्वकृत कर्मों के क्षय करने या आते हुए नये कर्मों को रोकने की प्रेरणा इनके द्वारा रचित ग्रन्थो में है, न ही इनकी ऐसी मान्यता है, और न उत्सुकता है।

ऐसे प्रत्यक्षवादियों की विचारधारा में पुरुषार्थद्वय

सूत्रकृतांगसूत्र मे ऐसी मान्यता को 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' कहा गया है। इसी तरह उस युग में चतुर्भूतवादी एव पंचभूतवादी दर्शन भी इसी मत

---

१. संयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना,
स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा-आधीन जो ।
ते पण क्षण-क्षण घटती जाती स्थितिमां,
अन्ते थाये निजस्वरूपमा लीन जो ॥अपूर्व.॥ —आत्मसिद्धि गा. ५

से मिलता-जुलता था। भारतीय छह या नौ दर्शनों में 'चार्वाक दर्शन' इस विषय में प्रसिद्ध हुआ। इन सब प्रत्यक्षवादियों या भूतवादियों की दृष्टि में इहलोक ही पुरुषार्थ था। ये आत्मा एवं कर्म नामक किसी तत्व को स्वतंत्ररूप से मानने के लिए प्रतिबद्ध एवं उत्सुक नहीं थे, जिससे अच्छे बुरे फल की या भले-बुरे पर-लोक अथवा जन्मान्तर की प्राप्ति होती हो। कर्मतत्त्व से अप्रतिबद्ध स्वच्छन्द प्रवृत्ति (मन-वचन-काया से मनमाना आचरण या कर्म) करना ही उनका पुरुषार्थ था। उनका मुख्य मन्तव्य सूत्र था—"जब तक जीओ, सुख से जीओ; कर्ज करके भी घी पीओ।[1] अर्थात्—स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों का मनचाहा उपभोग करो। इन्द्रियों और मन का जी में आए वैसा उपयोग कर लो। जो कुछ उपभोग या मौज-शौक करना है, यहीं कर लो। मरने के बाद शरीर को यहीं जला देने के पश्चात् फिर कहीं आना है, न जाना है। यहीं सब खेल खत्म है।

उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसे लोगों की वृत्ति के विषय में कहा गया है—कामभोगों में आसक्त व्यक्ति नरकगामी होते हैं। वह कहता है—ये कामभोग हाथ में आए हुए हैं। भविष्य या परलोक में मिलने वाले कामभोग संदिग्ध हैं। कौन जानता है परलोक है या नहीं ? मैंने परलोक तो देखा नहीं। यहाँ कामभोगों की मौज (रति) तो प्रत्यक्ष आँखों के सामने है।"[2]

इस प्रकार ये प्रत्यक्षवादी दार्शनिक कर्मवाद को बिलकुल नहीं मानते थे। इसलिए परलोक को मानना तो दूर रहा, इस लोक में भी वे धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ की मर्यादाओं को ताक में रखकर धर्मनिरपेक्ष निरंकुश अर्थ और काम को ही जीवन के साध्य मानते थे। निष्कर्ष यह है कि ये और इस प्रकार के पक्ष या दर्शन 'काम' और उसके साधन के रूप मे अर्थ-पुरुषार्थ के सिवाय अन्य किसी पुरुषार्थ को नहीं मानते थे। निरंकुश जीवन-यापन ही उनके जीवन का लक्ष्य था। अपने हिताहित, कर्त्तव्य-अकर्तव्य का कोई भान या विचार करना ऐसे लोगो को अभीष्ट नहीं था।

---

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

२. जे गिद्धे कामभोगेसु एगे कूडाय गच्छई ।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥
हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया ।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥ —उत्तराध्ययन ५/५-६

त्रिपुरुषार्थवादी कर्मवाद—समर्थक

साथ ही उस अति प्राचीन युग में ऐसे भी चिन्तक थे, जो यह मानते थे कि मृत्यु के बाद जन्मान्तर भी है। इतना ही नहीं, वे इस प्रत्यक्ष दृश्यमान लोक के अतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ और निकृष्ट लोक भी मानते थे। वे पुनर्जन्म और परलोक को मानते और उसका युक्तिसंगत प्रतिपादन भी करते थे। पुनर्जन्म और परलोक के कारण के रूप में 'कर्मतत्त्व' को स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि अगर पुनर्जन्म और परलोक न हो तो यहाँ किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल यदि यहाँ न मिले तो फिर कभी मिल ही नहीं सकता। इसलिए कर्म-सिद्धान्त को मानना अनिवार्य है। यदि कर्म न हों तो जन्म-जन्मान्तर एवं श्रेष्ठ-निकृष्ट, इहलोक-परलोक का सम्बन्ध घटित ही नहीं हो सकता। अतएव पुनर्जन्म और परलोक की मान्यता के आधार पर कर्मतत्त्व का स्वीकार करना अनिवार्य है। ये कर्मवादी स्वयं को आस्तिक एवं परलोकवादी कहते थे।

इस प्रकार आस्तिक माने जाने वाले प्रत्येक विचारक, मानव, या दर्शन, धर्म-सम्प्रदाय या मत ने इहलोक-परलोक तथा इनके कारण के रूप मे कर्म और कर्मफल का विचार एक या दूसरे रूप में किया है।

कर्म और कर्मफल के विषय में विचार : क्यों और कैसे ?

भारतीय ही नहीं, वैदेशिक संस्कृति का अनुगामी प्रत्येक व्यक्ति, जो कुछ स्वय करता है, उसका क्या फल है ? इस विषय में जानना-समझना और विचार करना चाहता है। इसी दैनन्दिन अनुभव के आधार पर वह निश्चित करता है कि उसके लिए कौन-सा कार्य करणीय है, कौन-सा अकरणीय ? कौन सी प्रवृत्ति हेय है, कौन-सी उपादेय ? किस कर्म, या कर्म-त्याग से, अथवा निष्काम साधना से उसे प्राप्त हुए या प्राप्त होने वाले दुःख, संकट, अनिष्ट, विपत्ति अथवा दुर्गति से या दुर्दशा से बचा जा सकता है ? किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, कैसा नहीं ?[१] यही कारण है कि प्रागैतिहासिक काल से आधुनिक काल तक का समस्त पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चिन्तन-मनन और निर्धारण एक या दूसरे रूप में कर्म और कर्मफल के विषय में होता आ रहा है। इसी पर से श्रुति, स्मृति, आगम, वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण आदि में विभिन्न मनीषियों ने अपने अनुभव, सिद्धान्त एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

---

१. प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्य, किन्नु सत्पुरुषैरिव ॥

कर्मवादियों के मुख्य दो दल

इन कर्मवादियों के भी मुख्यतया दो दल रहे हैं। एक था—प्रवर्तक धर्मवादी और दूसरा था—निवर्तक धर्मवादी। यह तो दोनों धर्मवादी मानते थे कि पंचभूतात्मक या पौद्गलिक शरीर से भिन्न, किन्तु उसमें विद्यमान एक अन्य तत्त्व—आत्मा जीव है, जो अनादि-अनन्त है, अजर-अमर-अविनाशी है। कर्म-विशेष से सम्बद्ध होने के कारण अनादिकालीन संसार (जन्म-मरण) यात्रा के दौरान वह विभिन्न भौतिक शरीरों को धारण करता और त्यागता रहता है। परन्तु प्रवर्तक धर्मवादी दल का यह मन्तव्य था कि जन्म-जन्मान्तर के इस चक्र (संसार-परिभ्रमण) का सर्वथा उच्छेद कदापि शक्य नहीं है।

इन कर्मतत्त्ववादियो के मत में प्रवृत्ति ही प्रधान थी, वह भी इहलौकिक-पारलौकिक प्रवृत्ति ही इनके मतानुसार उपादेय थी। लोकोत्तर कर्मक्षयकारक प्रवृत्ति इन्हें अभीष्ट नही थी। उनकी प्ररूपणा इस प्रकार की थी कि कर्म का फल, जन्म-जन्मान्तर और परलोक अवश्य है, यदि अच्छा लोक और अधिक सुख पाना है, अथवा सुख-सामग्री एव भोग-सामग्री पाना है तो उसके लिए कर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिए; गर्हित और निन्दित निषिद्ध कर्म का त्याग उसके लिए अनिवार्य है। श्रेष्ठ लोक और अधिक सुख-भोग पाने के लिए धर्म—विशेषतः वेदविहित कर्म ही आचरणीय एव करणीय है।

इस मत के अनुसार अधर्म-पाप हेय है और धर्म-पुण्य उपादेय है। इसका मन्तव्य था—"अधर्म-अशुभ कर्म या दोष का फल नरक आदि निकृष्ट लोक है और धर्म-पुण्य या शुभ कर्म का फल स्वर्गलोक है। धर्म-अधर्म ही प्रकारान्तर से पुण्य-पाप है, वे ही 'अदृष्ट' कहलाते हैं। उन्हीं के द्वारा इहलोक-परलोक मे जन्म-जन्मान्तर एव मरण आदि का चक्र चलता रहता है। उस चक्र का अन्त करना कदापि संभव नहीं है।

इससे यह स्पष्ट है कि प्रवर्तक धारा एक निश्चित परिधि से आगे नही बढ़ी। वह शुभकर्म और उसके फल तक ही सीमित रही। फलतः वह जीव (आत्मा) को उसकी असीम और शुद्ध शक्ति का सम्यग्दर्शन न करा सकी।

इस प्रकार यह प्रवर्तक धर्मवादी दल परलोकवादी होते हुए भी स्वर्गलोक को सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम लक्ष्यरूप मानता था। और उसके साधन के रूप मे धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों को ही स्वीकार करता था। इसी कारण यह दल त्रिपुरुषार्थवादी अथवा प्रवर्तक-धर्मवादी के

रूप में प्रसिद्ध हुआ। मोक्ष और उसके साधन के रूप में संन्यास, सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय-साधना, तप, त्याग, संयम, संवर-निर्जरारूप धर्म आदि इस दल को बिलकुल मान्य नहीं थे।

यह दल गृहस्थ-वर्ग की सामाजिक-सुव्यवस्था का ही विशेषतः प्रतिपादक एवं समर्थक रहा। इसलिए इसने बहुजन-सम्मत, शिष्ट पुरुषों द्वारा मान्य, एवं वेदविहित आचरणों से धर्म की तथा निन्द्य एवं वेदनिषिद्ध आचरणों या कर्मों से अधर्म की उत्पत्ति बतलाकर कर्मफल के रूप में प्रायः सामाजिक सुव्यवस्था ही निश्चित की। इसी सुव्यवस्था का संकेत यत्र-तत्र वेदादि ग्रन्थों में मिलता है। यही प्रवर्तक धर्मवादी दल आगे चलकर ब्राह्मण-मार्ग, मीमांसक और कर्मकाण्डी नाम से विख्यात हुआ।

निवर्तक धर्मवादी दल : मोक्ष पुरुषार्थ प्रधान

कर्मतत्त्ववादियों का दूसरा दल पूर्वोक्त दल के दृष्टिकोण से आंशिक रूप से सहमत होते हुए भी मानव-जीवन के अन्तिम लक्ष्य के विषय में सर्वथा भिन्न मत रखता था। उसका मन्तव्य था कि तथाकथित श्रेष्ठ लोक (स्वर्गलोक) प्राप्त कर लेने में ही जीव के पुरुषार्थ की विशेषतः मानव-जीवन के पराक्रम की अन्तिम परिणति नहीं है, और न ही शुभाशुभ कर्म के कारण जन्म-मरणरूप संसारचक्र में ही परिभ्रमण करते रहना, उसका अन्तिम लक्ष्य हो सकता है। उसकी अन्तिम मंजिल अथवा अन्तिम परिणति यही है, और होनी चाहिए कि वह (सांसारिक आत्मा—जीव) अपने आप को कर्मों से सर्वथा विमुक्त तथा तप-संयम की संवर-निर्जरामय साधना से आत्मा को सर्वथा शुद्ध[1] करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्र से सदा-सदा के लिए मुक्त होकर सच्चिदानन्दघनरूप अथवा अनन्त-ज्ञान-दर्शन-शक्ति-आनन्दरूप सिद्ध-परमात्मा की स्थिति प्राप्त कर ले। ऐसी ध्रुव, अनादिनिधन, शिव, अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, और अपुनरागमनरूप सिद्धि, मुक्ति एवं स्थिति[2] प्राप्त करना ही जीवमात्र का, विशेषतः मानव का यथार्थ पुरुषार्थ है। उसके पुरुषार्थ का तेजस्वी एवं ऊर्जस्वी रूप तभी प्रगट होगा, जब वह सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर समस्त दुःखों का अन्त करेगा। और समस्त

---

१. (क) सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो । दशवै. ३/१३ उत्तरा. २८/३६
(ख) सव्वकम्मं खवित्ताणं सिद्धिं पत्ता अणुत्तरं ॥ —उत्तरा. अ. २३, गा. ४८

२. "सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वावाहमपुणरावित्ति सिद्धि गई नामधेयं ठाणं......।"
—आवश्यकसूत्र मे प्रणिपातसूत्र (शक्र-स्तव) पाठ ।

दुःखों का अन्त भी तभी होगा, जब उनके कारणभूत कर्मों का सर्वथा क्षय होगा।[१]

निवर्तक धर्मवादी दल का अभीष्ट, कर्मों से मुक्ति

जहाँ कहीं निवर्तक (निवृत्ति-प्रधान) धर्म का उल्लेख आता है, वहाँ सर्वत्र इसी (निवर्तकधर्मवादी) दल का संकेत है। इस दल के मन्तव्यानुसार आत्यन्तिक कर्म-निवृत्ति अर्थात्—कर्मों से सर्वथा मुक्ति और उसके लिए मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ करना अभीष्ट है और वह शक्य भी है। कर्मों की आत्यन्तिक निवृत्ति किसी दूसरी शक्ति देवी-देव, या ईश्वर आदि के सहारे से या उनके वरदान, आशीर्वाद मात्र से नहीं, अपितु स्वयं आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ से ही सम्भव है। कर्म चाहे शुभ हों या अशुभ, श्रेष्ठ हो या निकृष्ट, पुण्य-रूप हों या पापरूप, दोनों ही आस्रव (कर्मागमन) के कारण हैं, और उन तथाकथित कर्मों (कार्यों) के साथ राग, द्वेष, कषाय, मोह, अज्ञान (मिथ्यात्व) आदि का जाल होने से उनसे बन्ध अवश्य होगा। और कर्मबन्ध होता रहेगा, वहाँ तक जन्म-मरण रूप संसार-चक्र से छुटकारा नहीं होगा। इस प्रकार कर्म की उत्पत्ति के मूल कारण की मीमांसा करते हुए इस निवर्तकदल ने कहा कि अवश्य ही पुनर्जन्म का कारण कर्म है; और शिष्टजनसम्मत वेदविहित एवं तथाकथित समाज में उस युग मे मान्य या प्रचलित कर्मों (कार्यों) के आचरण से स्वर्ग भी प्राप्त हो सकता है, किन्तु स्वर्ग-प्राप्ति में ही सन्तोष मानना, उससे आगे का शक्य पुरुषार्थ न करना संसारी जीव का—विशेषतः मानव का चरम लक्ष्य नही है और न ही इसमे आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ की पूर्णता है। इसमे आत्मा के द्वारा शुद्ध, स्व-स्वरूप की उपलब्धि करके परमात्मपद को प्राप्त करने का पुरुषार्थ नहीं है। अतः शुद्ध आत्मभाव की उपलब्धि, दूसरे शब्दों मे कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर परमात्मपद की प्राप्ति, और तदनुसार सम्यक् पुरुषार्थ की पूर्णता के लिए अधर्म-पाप (अशुभकर्म) की तरह तथाकथित धर्म-पुण्य (शुभकर्म) भी हेय है। कैसी भी शिष्ट-सम्मत और विहित सामाजिक प्रवृत्ति का आचरण हो, उसके पीछे राग, द्वेष, कषाय एवं तत्त्वज्ञान की अज्ञानता होने से वह अधर्मोत्पादक अथवा कर्मबन्धकारक ही होता है।

इसलिए पुण्य-पाप का अन्तर स्थूल दृष्टिवाले व्यक्तियों के लिए है, तात्त्विक दृष्टि से तो पुण्य और पाप ये दोनों ही राग-द्वेषादिमूलक होने से प्रकारान्तर से आस्रव और बन्ध के कारण हैं। अतः ये अधर्म एवं हेय ही हैं;

---

१. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुपत्ता ताइणो परिणिव्वुडा । —दशवैकालिक अ. ३, गा. १५

क्योंकि आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता, कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्ति एवं समस्त दुःखों के अन्त के लिए राग-द्वेष-मोह-मिथ्यात्व-मूलक समाजप्रचलित शिष्ट एवं विहित कर्म अन्ततोगत्वा पापकर्मों की तरह त्याज्य ही समझे जाने चाहिए।

दोनों दलों की ध्येय दिशा में अन्तर

निष्कर्ष यह है कि प्रवर्तक और निवर्तक धर्म की ध्येय-दिशा एक दूसरे से विरुद्ध है। प्रवर्तक-धर्मवादी दल का ध्येय "गृहस्थवर्ग की पारिवारिक[१] एवं सामाजिक सुरक्षा और व्यवस्था से वैषयिक सुख की प्राप्ति है, जबकि निवर्तक धर्मवादी दल का ध्येय स्व-पुरुषार्थ से कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर मोक्षसुख—आत्यन्तिक अव्याबाध शाश्वत आत्मिक सुख की प्राप्ति है।

निवर्तक दल के द्वारा कर्मसिद्धान्त का व्यवस्थित विकास

इस दल ने जब कर्मों का सर्वथा उच्छेद और मोक्ष-पुरुषार्थ को मुख्यरूप से उपादेय और अभीष्ट मान लिया, तब इसे कर्मों के उच्छेदक एवं मोक्ष के जनक कारणो पर युक्ति, सूक्ति एव अनुभूति के माध्यम से चिन्तन-मनन एव सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चय करना अनिवार्य हो गया। यही कारण है कि इस दल ने व्यवस्थित रूप से जीव (आत्मा) के साथ अजीव पदार्थों के सम्बन्ध, तथा कर्मों के आगमन, बन्ध, एवं कर्मों के निरोध, आंशिक क्षय एवं सर्वथा क्षय करने के सम्बन्ध मे (सात या नौ तत्त्वों के विषय मे)[२] व्यवस्थित ढंग से युक्तिसगत चिन्तन-मनन करके सिद्धान्त स्थिर किया। कर्मों की प्रवृत्ति[३] अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व एव राग-द्वेष,

---

१. जैसाकि उत्तराध्ययन सूत्र में संकेत है—

(क) इम वय वेयविओ वयंति, जहा न होइ असुयाण लोगो ।
अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे, पुत्ते परिठप्प गिहंसि जाया !
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं, आरण्णगा होइ मुणी पसत्था ॥
—उत्तरा. अ. १४ गा. ८-९

(ख) घोरासमं चइत्ताण अन्नं पत्थेसि आसम ।
इहेव पोसहरओ भवाहि मणुयाहिवा!॥४२॥
जइत्ता विउले जन्ने, भोइत्ता समण-माहणे ।
दत्ता भोच्चा य जट्ठा य, तओ गच्छसि खत्तिया! ॥३८॥
—उत्तरा. अ. ९ गा. ४२, ३८

२. (क) जीवाजीवा य बंधो य पुण्ण पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सतेए तहिया नव ॥ —उत्तराध्ययन अ. २८, गा. १४

(ख) जीवाजीवास्रव-बन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् ॥—तत्त्वार्थसूत्र अ. १ सू.४

३. रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयति ।
—उत्तरा. अ. ३२, गा. ७

कषायादि-जनित होने से उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति के मुख्य उपाय— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्-तप माने गए।[१] इन्हीं की साधना के रूप में स्वाध्याय, ध्यान, सुश्रद्धा, महाव्रत-अणुव्रत, तप संयम, समभाव, परीषहजय, क्षमादि दशविध धर्म आदि माने गए।[२]

निवर्तक कर्मवादियों द्वारा मोक्ष पुरुषार्थ के विषय में विशेष चिंतन

निवर्तक धर्मवादियो ने जब मोक्ष के स्वरूप और मोक्ष प्राप्ति के विविध उपायों के विषय मे गहराई से चिन्तन-मनन और विश्लेषण किया, तब उन्हें उनके साथ-साथ कर्मवाद पर भी गहन मनोमन्थन करना पड़ा। तीर्थंकरो और उनके पश्चात् महान् ज्योतिर्धर चतुर्दश-पूर्वधारक गणधरो एव ज्ञानी आचार्यों ने कर्म-सिद्धान्त के विषय में अपने जो अनुभव प्ररूपित किये थे, "पूर्व" नामक शास्त्रो में जो गुम्फित हुए थे, उनके आधार पर परवर्ती आचार्यों एव कर्मशास्त्रिरो ने कर्म के स्वरूप, प्रकार, उनकी विविध प्रकृतियाँ, तथा उनके स्वरूप तथा कर्मबन्ध के कारणों और विविध कर्मों के बन्ध से मुक्त होने, अशुभ को शुभ मे तथा शुभकर्म को अशुभ-कर्म में परिणत होने के कारणों पर विचार किया, सबकी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ सुनिश्चित कीं। कर्म की फलगत शक्तियों का विवेचन किया। कर्मों के विपाकों की अवधि के सम्बन्ध में निरूपण किया। कर्मों के पारस्परिक सम्बन्धो पर भी चिन्तन किया। आत्मा की कर्म-क्षयकारक शक्ति आदि का भी विचार किया। निष्कर्ष यह है कि कर्मतत्त्व से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर सागोपांग क्रमबद्ध एव व्यवस्थित विचार किया।

इस प्रकार निवर्तक धर्मवादी जैनमनीषियों के कर्मतत्त्वविषयक व्यवस्थित चिन्तन-मनन एव निरूपण से कर्म-शास्त्र का प्रामाणिक एवं सागोपाग निर्माण हो गया। इसके पश्चात् भी उत्तरोत्तर नये-नये प्रश्नों एव विवादों के उभरने पर उनके समुचित समाधानों से कर्म-सिद्धान्त अधिकाधिक पल्लवित-पुष्पित होता गया। यही दल आगे चलकर श्रमण धर्म, संन्यास मार्ग, योगमार्ग, परिव्राजकवर्ग, तपस्वीगण आदि नामों से प्रसिद्ध हुआ।

समस्त निवर्तक धर्मवादियों द्वारा मोक्ष को सर्वोच्च स्थान

सभी निवर्तक धर्मवादियो के चिन्तन ने पुरुषार्थ के रूप मे मोक्ष को सर्वोच्च स्थान दिया और उसी दिशा मे अपनी समग्र विचारधारा और

---

१. नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गुत्ति पण्णत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं ॥ —उत्तरा अ. २८, गा. २

२. स गुप्ति-समिति-धर्मानुप्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रैः। तपसा निर्जरा च।
—तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ सू. २-३

क्रियाओं को नियोजित किया। इस विषय में तो सभी निवर्तक धर्मवादियों का मतैक्य रहा कि किसी प्रकार से कर्मों को समूल नष्ट करके, ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लेना जिससे पुनः जन्म-मरण रूप संसार के चक्र में परिभ्रमण करना न पड़े। आत्मा अपने साथ लगे हुए कर्मों से सर्वथा मुक्त तथा आत्यन्तिकरूप से निवृत्त होकर अपने परम शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध कर ले, परमात्मपद को—सच्चिदानन्द पद को प्राप्त कर ले।

निवर्तक धर्मवादियों के मुख्य तीन पक्ष

किन्तु इन निवर्तक धर्मवादियों में भी अनेक पक्ष प्रचलित थे। यह पक्ष-भिन्नता कुछ तो वादो की स्वभावमूलक उग्रता-मृदुता के कारण थी, और कतिपय अंशों में तत्त्वचिन्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण थी। जो भी हो, उस युग के निवर्तकवादी चिन्तकवर्ग को मुख्यतया तीन पक्षों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) परमाणुवादी, (२) प्रधानवादी और (३) प्रधान-छायापन्न परमाणुवादी।

इनमे **प्रथम पक्ष** परमाणुवादी था, वह मोक्ष-समर्थक होने पर भी प्रवर्त्तक धर्म का उतना विरोधी नही था, जितना दूसरा और तीसरा पक्ष था। यह (परमाणुवादी) पक्ष न्याय और वैशेषिक दर्शन के रूप में प्रख्यात हुआ।

दूसरा पक्ष प्रधानवादी था। यह पक्ष आत्यन्तिक कर्म-निवृत्ति तथा दुःखों से सर्वथा मुक्ति का समर्थक था, और प्रवर्त्तक धर्म अर्थात्—श्रौत-स्मार्त-कर्म को हेय बतलाता था। यह पक्ष साख्य-योगदर्शन के नाम से प्रख्यात हुआ। इन्ही के तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि पर तथा इन्हीं के निवृत्तिवाद के आश्रय मे आगे चलकर वेदान्त-दर्शन, औपनिषदिक दर्शन, आरण्यक एवं सन्यासमार्ग स्थापित हुए।

तीसरा पक्ष है—प्रधानछायापन्न परमाणुवादी, अर्थात् परिणामी-परमाणुवादी। यह भी दूसरे पक्ष के समान प्रवर्तक धर्म का प्रबल विरोधी रहा। यह पक्ष जैन-दर्शन या निर्ग्रन्थदर्शन के नाम से प्रख्यात हुआ। यद्यपि बौद्धदर्शन भी प्रवर्तक धर्म का विरोधी माना जाता है, परन्तु वह स्वतंत्र नही, बल्कि द्वितीय और तृतीय पक्ष के मिश्रण का उत्तरवर्ती विकास है।

लक्ष्य के प्रति सब एकमत, कर्म के स्वरूप के विषय में नहीं

परन्तु सभी निवर्तक धर्मवादियो का इस लक्ष्य के प्रति सर्वात्मना मतैक्य रहा कि जीव किसी न किसी प्रकार से कर्मों को समूल नष्ट करके अपनी स्वाभाविक मौलिक शुद्ध अवस्था को प्राप्त करे और जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त सच्चिदानन्द दशा को प्राप्त करे, जिससे उसे पुनः ससार के जन्म-मरण के चक्र में न आना पड़े।

आशय यह है कि कर्म के बन्धक कारणों और उनके उच्छेदक उपायो के सम्बन्ध में तो निवर्त्तक धारा के सभी चिन्तक सामान्यतया गौण-

मुख्यरूप से सहमत रहे, किन्तु कर्मतत्त्व के स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हुए।

प्रवर्तक धर्म पहले प्रचलित था या निवर्तक धर्म ?

प्रवर्तक धर्म पहले प्रचलित था अथवा निवर्तक धर्म ? इस सम्बन्ध में हम पंचम कर्मग्रन्थ के पूर्वकथन के पाद टिप्पण में उल्लिखित मन्तव्य को अक्षरशः उद्धृत कर रहे हैं–

"मेरा ऐसा अभिप्राय है कि इस देश मे किसी भी बाहरी स्थान से प्रवर्तक धर्म या याज्ञिक धर्म आया और वह ज्यों-ज्यों फैलता गया, त्यों-त्यों इस देश में उस प्रवर्तक धर्म के आने से पहले से ही विद्यमान निवर्तक धर्म अधिकाधिक बल पकड़ता गया। याज्ञिक प्रवर्तक धर्म की दूसरी शाखा ईरान में जरस्थोस्त्रियन-धर्मरूप से विकसित हुई। और भारत में आने वाली याज्ञिक प्रवर्तक धर्म की शाखा का निवर्तक धर्मवादियों के साथ प्रतिद्वन्द्वीभाव शुरू हुआ। यहाँ के पुराने-निवर्तकधर्मवादी आत्मा, कर्म, मोक्ष, ध्यान, योग, तपस्या आदि विविध मार्ग, यह सब मानते थे। वे न तो जन्म-सिद्ध चातुर्वर्ण्य मानते थे और न चातुराश्रम्य की नियत व्यवस्था। उनके मतानुसार किसी भी धर्मकार्य मे पति के लिए पत्नी का सहचार अनिवार्य न था, प्रत्युत त्याग मे एक दूसरे का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था। जबकि प्रवर्तकधर्म में इससे सब कुछ उल्टा था। महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो मे गार्हस्थ्य और त्यागाश्रम की प्रधानता वाले जो सवाद पाये जाते हैं, वे उक्त दोनो धर्मों के विरोधसूचक हैं। प्रत्येक निवृत्तिधर्मवाले दर्शन के सूत्रग्रन्थों में मोक्ष को ही पुरुषार्थ लिखा है, जबकि याज्ञिक मार्ग के विधान स्वर्गलक्षी बतलाए हैं। आगे जाकर अनेक अंशो में उन दोनों धर्मों का समन्वय भी हो गया है।"[1]

इस पर से यह मत स्थिर नही जा सकता कि किसी समय केवल प्रवर्तक धर्म ही प्रचलित रहा और निवर्तक धर्म का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। तथापि ऐसा प्रारम्भिक काल अवश्य व्यतीत हुआ है, जब समाज मे– विशेषतः गृहस्थवर्ग मे प्रवर्तकधर्म की प्रतिष्ठा ही प्रमुख थी। उस समय में जो भी ऋषि-मुनि आदि हुए, वे भी प्रवर्तक धर्मवाद से प्रभावित थे, वे सपत्नीक रहकर वनो मे अपने-अपने आश्रम चलाते थे।

वर्णों मे ब्राह्मण वर्ण को गुरुत्व प्राप्त था और आश्रमो मे गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठता प्राप्त थी। ब्राह्मणवर्ण उस युग के सपत्नीक ऋषिवर्ग के सान्निध्य में यज्ञ, होम आदि अनुष्ठान चलाते थे, षोड़श संस्कार भी कराते

---

१. कर्मग्रन्थ पंचम भाग (पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री द्वारा संपादित) के पूर्व-कथन (पं. सुखलालजी) के पादटिप्पण से उद्धृत

थे। प्रवर्तकधर्म की इस प्रबलता के कारण निवर्तक धर्म कुछेक व्यक्तियों तक सीमित और प्रवर्त्तक धर्मवादियों की ओर से उपेक्षित भी रहा।

निवर्त्तक धर्मवादियों को उस समय प्रवर्त्तक धर्मवादियों के द्वारा समय-समय पर होने वाले विरोध, निन्दा, तिरस्कार, उपेक्षा और प्रहार आदि के कड़वे घूंट भी पीने पड़े हैं। प्रवर्तक धर्मी याज्ञिको द्वारा विरोध और प्रहार के प्रमाणबीज 'उत्तराध्ययन' आदि आगमो मे यत्र-तत्र मिलते हैं।[1]

पाणिनि ने अपने द्वारा रचित व्याकरण (भट्टोजी दीक्षित द्वारा सम्पादित वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी) द्वन्द्वसमास के सन्दर्भ मे **येषां च शाश्वतिको विरोधः**' (जिनका शाश्वत विरोध हो) इस सूत्र के उदाहरण के रूप में **ब्राह्मण-श्रमणम्, अहि-नकुलम्** (जैसे—ब्राह्मण और श्रमण, सांप और नेवला) आदि शब्द प्रस्तुत किये हैं।[2]

परन्तु विभिन्न परम्पराओं के निवर्तक धर्मवादियों ने अपने सिद्धान्तो पर अटल रहकर ज्ञान, ध्यान, तप, योग, क्षमादि धर्म, तथा अणुव्रत-महाव्रत, सयम, नियम आदि आत्मशुद्धि-साधक अन्तरंग साधनाओं का निष्ठापूर्वक इतना अधिक विकास किया, तथा सवर्ण-असवर्ण के भेदभाव से ऊपर उठकर प्रत्येक जाति और धर्म-सम्प्रदाय के स्त्री-पुरुषों को इन साधनाओं में सम्मिलित किया कि प्रवर्तकधर्म की जड़ें हिल उठीं। प्रवर्त्तक धर्म का प्रभाव क्षीण होने लगा, समग्र समाज तथा गृहस्थवर्ग एवं त्यागीवर्ग पर निवर्तक धर्म एक तरह से जादू की तरह छा गया। आबाल-वृद्ध लोगो की जिह्वा पर निवृत्तिधर्म की ही चर्चा होने लगी, उस युग का रचित साहित्य भी निवृत्ति के (त्याग-वैराग्य, तप-सयम के) रंग मे रंगा हुआ प्रकाशित-प्रचारित होने लगा।

निवर्तकधर्मवादियों को भी जनसमूह की विभिन्न समस्याओं तथा अटपटे प्रश्नो के समाधान के लिए आत्मा-परमात्मा, कर्मबन्ध और कर्मक्षय, तथा मोक्ष और उसके साधनों एवं आत्मशुद्धि के उपायो के विषय मे चिन्तन-मनन, ऊहापोह करना ही पड़ता था। इस कारण निवर्तक धर्मवादियो का प्रभाव झौंपड़ी से लेकर महलों तक, शूद्रवर्ग से लेकर ब्राह्मणवर्ग पर, और बालक-युवक-वृद्ध वर्ग पर अचूक रूप से पड़ा।[3]

---

१. (क) उत्तराध्ययनसूत्र अ. १२ गा. ४ से ७, तथा १८, १९
   (ख) वही, अ. १४ इषुकारीय गा. ७ से १५ तक
   (ग) वही, यज्ञीय अ. २४ गा. ६ से ३0 तक
२. वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी (द्वन्द्वसमास प्रकरण)
३. (क) देखिये उत्तराध्ययनसूत्र का हरिकेशीय (अ. १२) और चित्तसम्भूतीय अध्ययन (१३)।
   (ख) अन्तकृद्दशांग—अर्जुनमाली एवं अतिमुक्तककुमार का वर्ग.

निवृत्तिधर्मी मोक्षवादियों के समक्ष पहले से यह एक जटिल प्रश्न था कि "प्रत्येक जीव के—विशेषतः मानव के पूर्ववद्ध कर्म अनन्त हैं, फिर क्रमशः उनका फल भोगते समय भी प्रतिक्षण नये-नये कर्म बंधते हैं, तब इन सब कर्मों का सर्वथा क्षय कैसे और किन साधनों से हो सकता है ?"

परन्तु मोक्षवादियों ने इस जटिल प्रश्न का भी युक्तियुक्त एवं अकाट्य तर्कसंगत समाधान दिया था। आज हम उक्त निवृत्तिवादी दर्शनों के साहित्य में इस और ऐसे ही कर्मवाद सम्बन्धी कई जटिल प्रश्नों के समाधान का संक्षिप्त या विस्तृतरूप मे एक सरीखा निरूपण पाते हैं।

इस वस्तुस्थिति पर से इतना तथ्य तो अवश्य ही प्रतिफलित होता है कि निवर्तकवादियों के विभिन्न पक्षो में यदा-कदा कर्मवाद और मोक्ष आदि विषयों पर पर्याप्त विचार-विनिमय होता था। इतना जरूर है कि ये निवर्तकवादी विभिन्न पक्ष परस्पर विचार विमर्श के लिए अपनी-अपनी सुविधानुसार जब तब परस्पर मिलते रहे, पृथक्-पृथक् भी चिन्तन करते रहे। और जब तक ये प्रवर्तक धर्मवाद की सिद्धान्त विरुद्ध तथा तत्त्व से असगत बातों का निराकरण करते रहे, तब तक इनमें एकवाक्यता भी रही। यही कारण है कि साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, जैन और बौद्ध दर्शन के साहित्य में कर्म विषयक वर्णन के संदर्भ मे लक्षण, अर्थ, परिभाषा, भाव, वर्गीकरण आदि बातो मे कही शब्दशः और कहीं अर्थशः साम्य प्रचुरमात्रा मे परिलक्षित होता है। यह साम्य भी उन-उन निवर्तकवादी दर्शनो के विद्यमान रचित साहित्य मे उस समय अंकित हुआ, जबकि उन-उन दर्शनो मे परस्पर सद्भाव एवं विचारों का आदान-प्रदान बहुत ही कम हो गया था।

दुर्भाग्य से, शनैः शनैः ऐसा समय आ गया, जब ये निवृत्तिवादी पक्ष पहले जितने निकट नही रहे, फिर भी प्रत्येक पक्ष कर्मवाद के विषय में ऊहापोह तो करता ही रहा। फिर भी एक समय ऐसा आया कि निवृत्तिवादियो के एक पक्ष—जैनदर्शन मे कर्मसिद्धान्त पर गहराई से चिन्तन-मनन और अध्ययन-अध्यापन करने वाला एक अच्छा-खासा वर्ग तैयार हो गया। यह वर्ग मोक्षसम्बन्धी प्रश्नो की अपेक्षा कर्मसम्बन्धी प्रश्नो पर गहराई से विचार करता था। इस कर्मसिद्धान्तविशेषज्ञ वर्ग ने कर्मशास्त्र-विषयक कई ग्रन्थ भी लिखे हैं। जो आज भी नई पीढ़ी ही नहीं, जैन-जैनेतर सभी वर्ग के अध्यात्म-चिन्तको के लिए पर्याप्त मार्गदर्शन देते हैं।

साराश यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन चारो पुरुषार्थों मे कर्मवाद का क्या और कितना स्थान है ? यह विवेक कर्मनिवृत्ति के अन्तिम लक्ष्य के सन्दर्भ में करना आवश्यक है।

■

३

कर्मवाद का आविर्भाव

आत्मा और परमात्मा के बीच में अन्तर का कारण : कर्म

इस विराट विश्व में भारतवर्ष के मुख को उज्ज्वल—समुज्ज्वल रखने तथा मानव-मस्तिष्क को ऊर्जस्वी, वर्चस्वी एवं तेजस्वी बनाने में और प्राणी मात्र के जीवन की विविध सुख-दुःखमूलक गुरु गंभीर समस्याओं के समुचित समाधान हेतु अतीत काल से लेकर वर्तमान युग तक आध्यात्मिक महामनीषी महापुरुषो ने प्रबल प्रयास किया है। उन्होंने आत्मा से परमात्मा बनने के मार्ग मे साधक और बाधक तत्त्वों का भली-भांति परिशीलन किया। उन्होने साधकों को यह प्रेरणा प्रदान की कि तुम्हें बाधक तत्त्वों से सदा सर्वदा दूर रहना है और उन बाधक तत्त्वों की चट्टानों को चीरते हुए तुम्हें साधना के पथ पर वीर सेनानी की तरह आगे बढ़ना है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग को अपनाना है, यह हमारा अपना अनुभूत मार्ग है। एक दिन हमारी आत्मा भी मोह के दल-दल मे फंसी हुई थी। राग का दावानल धू-धूकर हमारे अन्तर्हृदय मे जल रहा था। उन दुर्गुणो को हमने नष्टकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट किया है। आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा के बीच में व्यवधान पैदा करने वाला कर्मतत्त्व है। कर्मयुक्त जीव आत्मा की अभिधा से सम्बोधित किया जाता है और कर्ममुक्त जीव परमात्मा की संज्ञा से पहचाना जाता है। एक कवि के हृदयतन्त्री के सुकुमार तार इस प्रकार झनझना उठे—

आत्मा-परमात्मा में कर्म का ही भेद है।
काट दे गर कर्म तो फिर भेद है न खेद है॥

शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ही परमात्मा है **अप्पा सो परमप्पा**। आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। पर व्यवहारनय की दृष्टि से संसारी जीवों की आत्मा पर कर्मों का सघन आवरण है, जिसके कारण आत्मा का विशुद्ध रूप आच्छादित हो गया है। जितनी भी सांसारिक

आत्माए हैं वे सभी कर्ममल से आवृत हैं। हाँ, उस कर्ममल में तरतमता अवश्य ही होती है।

प्रश्न है, वे कर्म किस-किस प्रकार के हैं, कितने हैं? उन कर्मों का आगमन किन कारणों से होता है? वे कर्म किस प्रकार बंधते हैं और किस अनुपात से उनका बंधन होता है? उन कर्मों का निरोध, क्षय, क्षयोपशम और उपशम किस प्रकार हो सकता है वे कर्म कब और कितने समय के पश्चात् अपना फल देते हैं? उन कर्मों से आत्मा कैसे सदा के लिए पूर्णतया मुक्त हो सकता है? ये और इस प्रकार के कर्म से सम्बन्धित प्रश्नो पर उन महर्षियों ने गभीर चिन्तन किया। उन्होंने शान्त मस्तिष्क से चिन्तन करते हुए सोचा—अध्रुव, अशाश्वत और दुःखबहुल ससार मे वह कौन सा कर्म या अनुष्ठान है, जिससे मै दुर्गति में न जाऊँ।[1]

फिर उन्होंने अपनी अनुभव-पूत वाणी मे कहा था—

'तवसा धुयकम्मंसे सिद्धे हवइ सासए।'[2]

—तपस्या से कर्मों का क्षय करके वे शाश्वत सिद्ध-मुक्त हो जाते हैं।

जैनदृष्टि से कर्मवाद का आविर्भाव

सर्वथा कर्ममुक्ति की ओर जाना अनिवार्य

जैनधर्म के आगमों और पौराणिक ग्रन्थो मे कर्म के आविर्भाव की कुछ-कुछ झांकी मिलती है। उससे इतना तो स्पष्ट रूप से जाना जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल मे भी तीर्थंकरो और ऋषि-मुनियो ने आध्यात्मिक विकास के सन्दर्भ में कर्मवाद की चर्चा-विचारणा अवश्य की है। जैनधर्मशास्त्रों की मान्यता के अनुसार इस अवसर्पिणी काल में आदि-तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर श्रमण भगवान् महावीर तक जो चौबीस तीर्थंकर हुए हैं, उनसे पहले भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के कालचक्र में भी अनन्त चौबीसी (चौबीस-चौबीस तीर्थंकरो की श्रृंखला) हो चुकी है। यह सिद्धान्त सभी तीर्थंकर, केवलज्ञानी (सर्वज्ञ), जीवन्मुक्त (सदेहमुक्त) महान् आत्माओं के लिए अबाधित है कि चार घाती (आत्म-गुणघातक) कर्मों का सर्वथा क्षय किये बिना कोई भी मानव तीर्थंकर, केवलज्ञानी या अर्हत्—जीवन्मुक्त परमात्मा नही हो सकता, और सिद्ध-

---

१. अध्रुवं असासयम्मि संसारम्मि दुक्खपउराए।
किं नाम होज्ज तं कम्मय जेणाऽहं दोग्गइं न गच्छेज्जा॥

— उत्तराध्ययन सूत्र अ. ८ गा. १

२. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३ गा. २०

बुद्ध-मुक्त परमात्मा होने के लिए आठों ही कर्मों का सर्वथा क्षय करना अनिवार्य है।

अनादि कर्म प्रवाह को तोड़े बिना सदेह-विदेह परमात्मा नहीं बनते

इसलिए भले ही प्रागैतिहासिक काल का कोई लिखित या मौखिक परम्परागत श्रुतिसम्मत कर्णोपकर्ण धारणा रूप में प्रचलित प्रमाण न मिलता हो, फिर भी इतना तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि जगत् के जीवों के साथ जैसे आत्मा अनादिकाल से है, वैसे ही कर्म भी प्रवाहरूप से अनादिकाल से है, किन्तु जैसे व्यक्तिशः कर्म की आदि है, वैसे उसका अन्त भी है। आत्मा निश्चयदृष्टि से अनादि अनन्त है। यदि ऐसा न होता तो तीर्थंकर, अर्हत्-जीवन्मुक्त वीतराग परमात्मा चार घातिक कर्मों का क्षय क्यों और कैसे करते? और वीतराग बनने के पश्चात् भी शेष रहे चार अघाति कर्मों का क्षय क्यो और कैसे करते और सिद्ध-बुद्ध-मुक्त निरंजन-निराकार परमात्मा कैसे होते? इसलिए यह निर्विवाद है कि 'कर्म' का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है।

जैसा कि 'प्रमाणमीमांसा' मे कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने कहा है—[1] "अनादिकाल से प्रवाहरूप से, शब्दरूप से नही तो भावरूप से चली आ रही कर्मवाद आदि विद्याओं का आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक समय-समय संक्षिप्त अथवा विस्तृतरूप में नयी-नयी शैली मे प्रतिपादन होता रहा है। इस दृष्टि से कर्म सिद्धान्त के प्रतिपादन- कर्ता वे-वे तीर्थंकर, गणधर या आचार्य आदि कहलाते हैं।"

यो तो जैनधर्म का अभाव किसी देश-विशेष या काल-विशेष मे एक समान भले ही दिखाई न देता हो, किन्तु जैनधर्म और कर्मवाद का सूर्य और उसकी किरण के समान घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसलिए यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि कर्मवाद भी प्रवाहरूप से अनादि है, वह अभूतपूर्व नही है। नये-नये ढंग से उसका विश्लेषण-विवेचन विभिन्न तीर्थंकरों के समय अवश्य हुआ है। अतः जैन इतिहास की दृष्टि से कालचक्र के अन्तर्गत इस अवसर्पिणी काल मे आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग से कर्म सिद्धान्त का आविर्भाव मानना अनुपयुक्त नहीं होगा।[2]

कर्मवाद के आविर्भाव का एक और प्रबल कारण

आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से कर्मवाद का आविर्भाव या आविष्करण (अभिव्यक्तिकरण) मानने में एक प्रबल कारण यह भी है कि

---

१. अनादय एवैता विद्याः संक्षेप-विस्तार-विवक्षया नवनवी भवन्ति, तत्तत्कर्तृकाश्चोच्यन्ते। — प्रमाणमीमांसा सू. १

२. कर्मग्रन्थ प्रथम भाग की पं. सुखलालजी की प्रस्तावना पृ. ७

जैन इतिहास के अनुसार उस युग से पहले तक भोगभूमि का साम्राज्य था। यौगलिक काल था। सभ्यता, संस्कृति, धर्म और कर्म के विषय में वे लोग सर्वथा अनभिज्ञ थे। धर्म और संस्कृति का, कर्म और सभ्यता का श्रीगणेश नहीं हुआ था। बालक-बालिका युगलरूप से जन्म लेते थे और युगलरूप से ही वे दाम्पत्य सम्बन्ध जोड़ लेते थे। अन्त मे, एक युगल को जन्म देकर वे इस लोक से विदा हो जाते थे। वे अपना जीवन निर्वाह वनों में रहकर पेड़-पौधे, पत्र-पुष्प फल घास एव वनस्पति आदि से कर लेते थे।[1] ओढ़ने-बिछाने आदि के लिए विविध वनस्पति से उपकरण बना लेते थे। वृक्षों के चारों ओर घेरा डालकर अथवा वृक्ष-लताओ से चारों ओर आवेष्टित करके घर बना लेते थे। खेती-बाड़ी, अग्नि के उपयोग, विनिमय, व्यवसाय, बर्तन आदि के निर्माण का आविष्कार उस समय तक नहीं हुआ था। यद्यपि उन लोगों का जीवन बहुत ही शान्त, मधुर और प्राकृतिक (प्रकृति-निर्भर) था; पृथ्वी, वनस्पति, हवा, सूर्य का ताप और प्रकाश, चन्द्र का शीतल, सौम्य प्रकाश, पानी के झरने, स्रोत, नदी-नाले आदि ही उनके जीवनयापन के आधार थे। जनसंख्या सम रहती थी, उसमे वृद्धि-हानि नहीं होती थी, इस कारण किसी वस्तु का अभाव या न्यूनता नही थी। प्राकृतिक सम्पदाएँ प्रचुरमात्रा मे यत्र-तत्र मिलती थी। इस कारण उनमें कभी आपस में संघर्ष, कलह, तू-तू-मैं-मै या मन-मुटाव नही होता था। उनके क्रोधादि कषाय अत्यन्त मन्द थे। स्वार्थ, लोभ, लालसा, तृष्णा, सग्रहवृत्ति, अत्यधिक उपभोगलिप्सा अथवा पंचेन्द्रिय विषयो की काम-भोगजन्यवृत्ति आदि भी उनमें अत्यन्त कम थी।

किन्तु इस भोगभूमिक काल का जब तिरोभाव होने जा रहा था, तब इन सबमे परिवर्तन आने लगे। यौगलिक काल लगभग समाप्त हो चला था। संततिवृद्धि होने लगी। इससे जनसंख्या भी बढ़ने लगी। उधर प्राकृतिक सम्पदा मे कोई वृद्धि नही हो रही थी। वह उतनी ही थी। अतः जीवन-निर्वाह के साधनो में कमी होने लगी। जहाँ अभाव होता है, वहाँ जनस्वभाव भी बदलने लगता है। इस दृष्टि से यौगलिक जनों में जीवन-निर्वाह के साधनों के लिए परस्पर संघर्ष होने लगा। प्रतिदिन के सघर्ष से लोगो का जीवन कलुषित होने लगा। परस्पर कलह और मनोमालिन्य बढ़ने लगे।

---

१. देखिये जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति प्रथम वक्षस्कार—

"जुगलिया किमाहारा पण्णत्ता ? ... पत्ताहारा, पुप्फाहारा फलाहारा ......।"

ऐसी स्थिति में यौगलिक जनता उस युग के कुलकर नाभिराय के सान्निध्य में पहुँची और अपने वर्तमान संकट के निवारण के लिए उपाय पूछने लगी। नाभिरायजी ने अपने सुपुत्र भावी तीर्थंकर ऋषभदेव के पास जाने और उनसे परामर्श एवं मार्गदर्शन लेने को कहा। अतः मुख्य-मुख्य लोग मिलकर श्रीऋषभदेवजी की सेवा में पहुँचे और संकटापन्न परिस्थिति के निवारण की प्रार्थना की।

कर्मभूमिक कालानुसार शुभकर्म युक्त जीवन जीने की प्रेरणा

भगवान् ऋषभदेव[1] उस युग में परम-अवधिज्ञान सम्पन्न महान् पुरुष थे। उन्होंने यौगलिकजनों के असन्तोष और पारस्परिक संघर्ष के कारण और उसके निवारण का उपाय बताते हुए कहा—"प्रजाजनो! अब भोगभूमि-काल समाप्त हो चला है, और कर्मभूमि-काल का प्रारम्भ हो चुका है। अब तुम लोग उसी पुराने ढर्रे के अनुसार प्राकृतिक सम्पदाओं से ही अपना निर्वाह करना चाहो, यह सम्भव नहीं है। तुम देख ही रहे हो कि जनसंख्या तेजी से बढ़ती जा रही है और वनसम्पदा या प्राकृतिक सम्पदा कम होती जा रही है। ऐसी स्थिति में अब तुम्हें कर्मभूमि के अनुसार जीवन-निर्वाह के लिए कुछ न कुछ कर्म (वर्तमानकालिक पुरुषार्थ) करना चाहिए। इसके बिना कोई चारा नहीं है। तुम चाहो कि कुछ भी कर्म (कार्य या प्रवृत्ति) न करना पड़े और प्रकृति से सीधे ही जीवन-निर्वाह के साधन मिल जाएँ, ऐसा अब नहीं हो सकता। यद्यपि किसी भी क्रिया या प्रवृत्ति के करने से कर्मों का आगमन (आस्रव) अवश्यम्भावी है और तुम लोग एकदम कर्म से अकर्म (कर्ममुक्त) स्थिति प्राप्त कर लो, यह भी अभी अतीव दुष्कर है तथापि क्रिया करते समय अगर तुम में राग, द्वेष, आसक्ति, मोह, ममता आदि कम होंगे और सावधानी एवं जागृति रखी जाएगी तो पापकर्मों का बन्ध नहीं होगा। इसलिए गृहस्थ-जीवन की भूमिका में तुम्हें वे ही कर्म (क्रिया या प्रवृत्तियाँ) करने हैं, जो अत्यन्त आवश्यक हों, सात्त्विक हो, अहिंसक हों, परस्पर प्रेमभाववर्द्धक हों।'

इसके लिए उन्होने मुख्यतया असि, मसि और कृषि ये तीन मुख्य कर्म एवं विविध शिल्प तथा कलाएँ उस समय के स्त्री-पुरुषो को [illegible]ाई। कृषि कर्म, कुम्भकार कर्म, गृहनिर्माण, वस्त्रनिर्माण, भोजननिर्माण आदि कर्म उन्होंने स्वय करके जनहित की दृष्टि से जनता को सिखाए।[2]

---

१. देखिये—जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति सूत्र मे भ. ऋषभदेव के युग का वर्णन।

२. (क) शशासु कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा —बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति प्रथम वक्षस्कार

(ग) 'पयाहियाए उवदिसई ।' — जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

इन सब कलाओं, विद्याओं, शिल्पों आदि से जनता को प्रशिक्षित करने के पीछे उनका उद्देश्य यही था कि जनता परस्पर संघर्षशील एवं कषायाविष्ट होकर अशुभ (पाप) कर्म से बचे तथा भविष्य में शुभ कर्म करते हुए शुद्धपरिणति की ओर मुड़कर संवर-निर्जरारूप आत्म-धर्म की ओर मुड़ सके। अगर भगवान् ऋषभदेव उस समय की यौगलिक जनता को इन सात्विक कार्यों का उपदेश एवं प्रशिक्षण न देते तो बहुत सम्भव था, जनता परस्पर लड़-भिड़कर, सघर्ष और कलह करके तबाह हो जाती। सबल लोग निर्बलों पर अन्याय-अत्याचार करते, उन्हें मार-काटकर समाप्त कर देते, अथवा अत्याचार एवं शोषण से पीड़ित जनता रोटी, रोजी, सुरक्षा एव शान्ति के अभाव में स्वयं ही समाप्त हो जाती, या फिर वह पीड़ित जनता विद्रोह, लूट, मार-काट और अराजकता पर उतर जाती। इस प्रकार अराजक एव निरंकुश जनता हिंसा, झूठ, चोरी, ठगी, बेईमानी, अन्याय, अत्याचार आदि पाप कर्मों मे प्रवृत्त हो जाती।

कर्ममुक्ति के लिए धर्मप्रधान समाज का निर्माण

निष्कर्ष यह है कि उस समय की जनता जिस भूमिका मे थी, उस भूमिका के अनुरूप भगवान् ऋषभदेव ने उसे विविध कलाएँ, विद्याएँ, शिल्प और कर्मों का प्रशिक्षण भविष्य मे सम्भावित पापकर्म से विरत करने और शुद्ध (धर्म) की ओर मोड़ने हेतु कम से कम शुभकर्म (पुण्य) में टिकाने का प्रयास किया था। यही कारण है कि भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम समग्र जनता को राज्यसगठन (राज्यशासन) मे आबद्ध किया। फिर उन्होने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्ग के लोगो को प्रशिक्षण देकर जनशासन (जनसगठन) बनाया। सबको अपने-अपने लोक-धर्म (कर्तव्य) का मार्गदर्शन किया। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने शुभकर्म (सात्त्विक कार्य) और धर्म दोनों से सम्बन्धित तथ्यो का मार्गदर्शन दिया। तत्कालीन समग्र जनता ने उन्हें विधिवत् राज्याभिषेक करके अपना राजा और जननायक बनाया।

जब भगवान् ने देखा कि अब राज्यशासन और जनशासन दोनों व्यवस्थित ढंग से चल रहे हैं। नैतिकताप्रधान शुभकर्म एव लोकधर्म दोनों जनजीवन मे व्याप्त हो गए है। हाकार, माकार और धिक्कार, इन तीनों दण्डक्रमों के कारण जनता में अराजकता, अनीति, अन्याय-अत्याचार आदि अपराध बहुत ही कम हो पाते थे। परन्तु भगवान् ऋषभदेव को तो समग्र जनता को शुद्ध-लोकोत्तर धर्म-पालन की ओर मोड़ना था, ताकि जनता कर्मों से मुक्त होने का पुरुषार्थ कर सके और शुद्ध (स्वभावरूप), बुद्ध, मुक्त (सिद्ध) परमात्मा बन सके।

इसके लिए सर्वप्रथम निम्नोक्त कहावत "Charity begins at home" के अनुसार स्वयं से प्रारम्भ किया। स्वयं सर्वविरत महाव्रती अनगार बने और जिनशासन (धर्म-संघ) का निर्माण किया। प्रथम तीर्थंकर बने। राज्यशासन अपने दोनों प्रतापी एवं शासनकुशल पुत्रों—भरत और बाहुबली को सौंपा। और शेष ९८ पुत्रों को छोटे-छोटे राज्यों के शासक बनाए। भगवान् ऋषभदेव के साथ ४000 अन्य व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने अपने धर्मसंघ (जिनशासन) में दो प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन किया। सद्गृहस्थों के लिए श्रावकधर्म और साधु-साध्वियों के लिए साधु धर्म।[१] दोनों धर्मों का लक्ष्य एक ही था—कर्मों से सर्वथा मुक्ति पाना, मोक्ष प्राप्त करना। बाद में उनके ९९ पुत्रों और दो पुत्रियों (ब्राह्मी और सुन्दरी) ने भी साधु धर्म की दीक्षा अगीकार की।

धर्म, कर्म, संस्कृति आदि का श्रीगणेश

निष्कर्ष यह है कि भगवान् ऋषभदेव से पूर्व उस युग में धर्म, कर्म, संस्कृति और सभ्यता का श्रीगणेश नहीं हुआ था। उन्होंने उस युग की जनता को ग्राम और नगर बसाकर, सभ्यता और संस्कृति का प्रशिक्षण दिया, कर्मवाद से भलीभाति परिचित किया। अशुभकर्म करने से रोका, शुभकर्म से भी आगे बढ़कर शुद्ध धर्म का पालन करने और कर्मों से मुक्त होने अथवा कर्मक्षय करने की प्रेरणा दी।

कर्म को ही सृष्टि की विविधता एवं विचित्रता का कारण बताया

उन्होने प्रारम्भ से ही धर्मप्रधान समाज रचना की, उसमे अर्थ और काम को गौण रखा और मोक्ष पुरुषार्थ को जीवन का अन्तिम लक्ष्य बताया। इसमें कही भी उन्होंने देवी, देव या किसी प्राकृतिक शक्ति (इन्द्र, अग्नि, वरुण, कुबेर, यम, मरुत आदि) का आश्रय लेने, उसके आगे गिड़गिड़ाने, उसकी मनौती करने अथवा उसके कारण से लोकोत्तर आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त करने का विधान नहीं किया। न ही उन्होंने यह बताया कि सृष्टि में विविध प्रकार के पशु-पक्षियों, कीट-पतंगो एवं मनुष्यों और उनमें भी सुखी-दुःखी, उन्नत-अवनत, अल्पायु-दीर्घायु, बुद्धिमान् अथवा मन्दबुद्धि, योग्य-अयोग्य, सुडौल-बेडौल आदि विचित्रताओं के होने का कारण कोई ब्रह्मा, इन्द्र या कोई शक्ति-विशेष या पुरुष-विशेष (ईश्वर) आदि है अर्थात्—इस सृष्टि की रचना (निर्माण) या संवर्धन अथवा इन विचित्रताओं और विविधताओं का निर्माण किसी शक्ति-विशेष या पुरुष-विशेष द्वारा

---

१. विस्तृत वर्णन के लिए देखिये—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र, कल्पसूत्र, आदिपुराण, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि।

हुआ है। बल्कि उन्होंने सृष्टि के प्राणियों की विविधता एवं विचित्रता का कारण बाह्य तत्त्वो में ढूंढ़ने और मानने की अपेक्षा अन्तरात्मा (अन्तरंग) में ढूंढ़ने व मानने की प्रेरणा दी तथा जनता को यही उपदेश दिया कि तुम्हारे एवं सभी जीवों के ही अपने पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप ये सब विविधताएँ एवं विचित्रताएँ हैं। ये अच्छे या बुरे निमित्त सभी के अपने-अपने कृतकर्मों के आवरणयुक्त उपादान (आत्मा) के कारण मिले हैं। भविष्य में भी तुम्हें या सभी प्राणियों को अपने द्वारा किये हुए अच्छे या बुरे (शुभ या अशुभ) कर्मों के फल अच्छे या बुरे रूप में तत्काल भी मिल सकते हैं, कुछ देर-सबेर से भी। परन्तु जैसे कर्म करोगे, वैसा ही फल तुम्हें मिलने वाला है, दूसरे प्राणियों को भी अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ फल प्राप्त होंगे। इसका ज्वलन्त प्रमाण है, उनके स्वयं के द्वारा तथा उनके पुत्रों द्वारा कर्ममल से आवृत अपनी आत्मा को उज्ज्वल-समुज्ज्वल बनाने तथा परमविशुद्ध मोक्ष सुख—अनन्त आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए किसी शक्तिविशेष, देवविशेष, पुरुषविशेष का आश्रय न लेकर एकमात्र मुनिधर्म दीक्षा अंगीकार करके तप-संयम एवं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र की साधना में स्वयं पुरुषार्थ करना।

उन महान् आत्माओं को तथा भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रेरि अनुगामी आत्माओं को अनन्तज्ञान-दर्शन, अनन्त-शक्ति एव अनन्त आत्मिक आनन्द की जो उपलब्धि हुई, वह भी किसी शक्तिविशेष के वरदान से नहीं, किन्तु तप, त्याग, संयम एव रत्नत्रय की साधना-आराधना में अपने ही विवेकपूर्वक पुरुषार्थ से हुई थी। जैनागमों एवं आदिपुराण, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि ग्रन्थो से यह स्पष्टतः प्रमाणित है।

कर्मवाद का प्रथम उपदेश : भ. ऋषभदेव के द्वारा

उन्होने संसार की विषमताओ से पीड़ित एवं व्यथित अपने ९८ पुत्रो को जो उपदेश दिया, वह भी भागवत-पुराण एव जैनागम-सूत्रकृतांग सूत्र में अंकित है। उस उपदेश से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उन्होंने अपने गृहस्थाश्रमपक्षीय पुत्रों को न तो स्वयं ही वरदान दिया है और न ही किसी इन्द्र, कुबेर, ब्रह्मा आदि देवविशेष या पुरुषविशेष की मनौती करके सुखी होने का उपाय बताया है, बल्कि उन्होने उनकी कर्ममलावृत आत्माओं को अपने तप-संयम के पुरुषार्थ से कर्मविमुक्त शुद्ध बनाकर मोक्ष का राज्य अथवा मोक्ष का अव्याबाध सुख (अनन्त आनन्द) प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

उनके द्वारा पुत्रों को दिये गये श्रीमद् भागवत्-पुराण में अंकित उपदेश का भावार्थ यह है [1] "पुत्रो! देहधारियों की यह देह उन भोगों को भोगने के लिये नहीं है, जिन्हें प्राप्त करने में, भोगने में और भोगने के पश्चात् भी अत्यन्त कष्ट सहना पड़ता है। अतएव इन काम-भोगों पर गर्व न करो। इन भोगों को तो विष्टा खाने वाले शूकर आदि पशु भी भोगते हैं। तुम राजपुत्र हो, तुम्हारा यह शरीर काम-भोगों के सेवन के लिए नहीं, किन्तु कर्ममुक्ति के हेतु दिव्यतप करने के लिए है, जिससे अन्तःकरण (अन्तरात्मा) शुद्ध हो क्योंकि शुद्ध अन्तःकरण से अनन्त ब्रह्म (आत्म) सुख की प्राप्ति होती है।"

इसी प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र में उल्लिखित भगवान् ऋषभदेव के उपदेश का तात्पर्य यह है कि "हे पुत्रो! तुम सम्बोध प्राप्त करो, समझो। यह भौतिक राज्य, सुख-सम्पदा, भोगसामग्री आदि प्राप्त भी कर लो तो भी तुम्हें शान्ति, समाधि और स्वतत्रता नहीं मिलेगी। सच्ची शान्ति, स्वतंत्रता और समाधि मोक्षसुखसम्पन्न शाश्वत आध्यात्मिक राज्य पाने से ही हो सकेगी। जागृति का यह अमूल्य अवसर है। लोभवृत्ति के कारण भरत की वर्तमान दशा देखकर तुम्हें बोध पाना (समझना) चाहिए कि राज्य पा लेने पर भी सच्ची शान्ति, कर्ममुक्ति और स्वाधीनता नहीं प्राप्त होती। तुम इसे जान-बूझकर क्यों नश्वर साम्राज्य के चक्कर में पड़ना चाहते हो? सम्बोधि का यह सुन्दर अवसर खोओ मत। यहाँ यह मौका चूक गए तो परलोक में सम्बोधि का पाना बहुत दुर्लभ है। जो रात्रियाँ बीत जाती हैं, वे लौटकर वापस नहीं आती और यह मनुष्य-जीवन भी जो कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष पाने के लिए है, पुनः सुलभ नहीं है"।

कर्मवाद के पुरस्कर्ता : भगवान् ऋषभदेव

कितनी सुन्दर प्रेरणाएँ हैं, भगवान् ऋषभदेव की अपने पुत्रों के लिए। उन्होने अपने उपदेशों में कहीं भी किसी शक्तिविशेष या देवी-देव अथवा पुरुषविशेष से स्वर्ग, मोक्ष या अन्य किसी वस्तु को पाने की प्रार्थना या

---

१. भ. ऋषभदेव का उपदेश भागवत् में—

(क) नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका! येन सत्त्व, शुद्धयेदस्माद् ब्रह्मसौख्य त्वनन्तम्॥

— श्रीमद् भागवत पंचम स्कन्ध

(ख) जैनागम सूत्रकृतांग सूत्र में—
संबुज्झह, किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमंति राइओ, नो सुलहं पुणरावि जीवियं ॥

याचना करने की प्रेरणा नहीं दी। उन्होंने स्वयं के तप-संयम-त्याग और वैराग्य के पुरुषार्थ से अपनी आत्मा को विशुद्ध एवं कर्ममल रहित बनाने की ही देशना दी है।[1]

इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव कर्मवाद के रहस्य और धर्माचरण में पुरुषार्थ के पुरस्कर्ता थे। वे देववाद, यज्ञवाद अथवा पुरोहितवाद के प्रेरक या पुरस्कर्ता कतई नहीं थे।

इसलिए यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल में कर्मवाद का आविर्भाव जैन दृष्टि से आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग से हुआ है।

वैदिक परम्परा में कर्मवाद का प्रवेश : कब से, कहाँ से ?

वेदों और उनकी ऋचाओ का अनुशीलन-परिशीलन करने से उनमे कर्मवाद का कहीं अता-पता नहीं लगता। यह तो नही कहा जा सकता कि वैदिककालीन ऋषियों को मानव नर-नारियों मे तथा विविध प्रकार के पशुओं, पक्षियों, सरीसृपो, कीट-पतगों तथा वनस्पतियों, पेड़-पौधो तथा विविध प्रकार की पृथ्वियो, जलो, हवाओ आदि मे विद्यमान विचित्रताओ-विरूपताओं की अनुभूति नहीं हुई हो, लेकिन ऐसा मालूम होता है कि उन ऋषियों ने उन विचित्रताओ एव विविधताओं का कारण अन्तरात्मा मे खोजने और पता लगाने की अपेक्षा उन्हें बाह्य पदार्थों मे ही खोज कर मनःसमाधान कर लिया था।

सृष्टि के प्राणियो की इस प्रकार की विविधतायुक्त रचना या उत्पत्ति का कारण किसी ने वरुण, मरुत्, अग्नि, यम, इन्द्र, कुबेर आदि एक या अनेक सजीव-निर्जीव पदार्थों को माना, किसी ने ब्रह्मा या प्रजापति को इस वैविध्यपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का कारण माना। विभिन्न वैदिक ऋषियों ने विविधताओ से पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति के आधार की कल्पना इन और ऐसे ही बाह्य तत्त्वों में की। परन्तु किसी भी ऋषि ने विविधतापूर्ण सृष्टि का कारण उन-उन प्राणियों की अन्तरात्मा में होने की कल्पना नहीं की। इतना ही नहीं, इस सृष्टि मे प्राणियो की विविधता का आधार यथार्थ में क्या है ? इसका स्पष्ट समाधान करने का प्रयास भी नहीं किया। सृष्टि के

१. (क) 'आदि पुराण'
(ख) 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' से संक्षिप्त
(ग) जवाहर किरणावली भा. १४ (रामवनगमन भा. १) से संक्षिप्त
(घ) श्रीमद् भागवत
(ङ) सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १ अ. २ से

दूसरे-दूसरे प्राणिवर्ग की बात तो दूर रही, केवल मानव-जगत् में भी शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण के तारतम्य, शक्ति-अशक्ति, न्यूनाधिक योग्यता, न्यूनाधिक सुख-दुःख, धनी-निर्धन, रोगी-नीरोग, मन्दमति-प्रखरमति आदि को लेकर जो विभिन्नताएँ एव विरूपताएँ हैं, उनके कारणो की भी खोज-बीन की गई हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

वेदो के परिशीलन से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम वेदकालिक ऋषियों ने इन्द्र, वरुण, मरुत्, अग्नि, यम, सविता आदि अनेक देवों की एवं तत्पश्चात् प्रजापति ब्रह्मा जैसे एक देव की परिकल्पना की। फिर उन देवों से स्वर्ग, पुत्र, स्त्री, पशु, वृष्टि, धन-धान्य, सुरक्षा आदि भौतिक सुख-सामग्री की प्राप्ति की लौकिक मनोकामना पूर्ण करने हेतु स्तुति की गई। वेदों मे बताया गया कि सुखी एव सम्पन्न होने के लिए अथवा अपनी समृद्धि के लिए या शत्रुओ से अपनी और अपनो की सुरक्षा के लिए अथवा शत्रुओं का नाश करने के लिए तथा दुष्टो का दमन करने के लिए अमुक-अमुक देव या देवो की स्तुति एव मनौती करे। तदनन्तर कहा गया कि उस-उस भोग्य सामग्री की शीघ्र प्राप्ति के लिए यज्ञ करे, और उसमें सजीव या निर्जीव अभीष्ट पदार्थ अर्पण करे। ऐसा करने से देवता सन्तुष्ट और तृप्त होकर उसकी मनोवाछा पूर्ण करते हैं।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक समस्त अनुष्ठान या तत्त्वज्ञान देववाद और यज्ञवाद मे केन्द्रित होकर पुष्पित-फलित हुआ। विविध देवों को अपनी विभिन्न मनोकामनाओ की पूर्ति के लिए प्रसन्न करने का तथा उसके साधन के रूप मे यज्ञ कर्म का क्रमशः विकास हुआ। कालक्रम से यज्ञ-यागों का विधि-विधान इतना जटिल और दुरूह हो गया कि साधारण व्यक्ति भी यज्ञ करना चाहता तो यज्ञकर्म मे पूर्ण निपुण याज्ञिक पुरोहितों के बिना सम्भव नहीं था। इस प्रकार देववाद और यज्ञवाद के साथ पुरोहितवाद का भी बोलबाला हुआ। जो व्यक्ति जितने अधिक यज्ञ कराता, वह उतना ही बड़ा, पुण्यशाली और स्वर्ग का अधिकारी समझा जाता। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञकर्म के प्रोत्साहन के लिए—**'पुत्रकामो यजेत', 'वृष्टिकामो यजेत', 'राज्यकामो यजेत', 'स्वर्गकामो यजेत'** इत्यादि वैदिक वाक्य प्रस्तुत किये जाते। यह मान्यता वेदवाद (देववाद, यज्ञवाद एव पुरोहितवाद) से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थो के प्रणयन-काल के प्रारम्भ तक विकास पाती रही। इस काल के अन्त तक वेदों की रचना पूर्ण हो चुकी थी, फिर ब्राह्मण ग्रन्थों (गृह्यसूत्रों आदि) की रचना हुई। इसमें भी यज्ञादि अनुष्ठानो की विधियों, याज्ञिकों की योग्यता

आदि का वर्णन था। इस प्रकार वेदकाल से लेकर ब्राह्मण काल तक सारा तत्त्वज्ञान देवों की पूजा और उन्हें प्रसन्न करने के साधनभूत यज्ञ-यागादि की परिधि में सीमित रहा।

ब्राह्मण काल के पश्चात् विविध उपनिषदों की रचना हुई। इनका तत्त्वज्ञान वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों से निराला ही था। वेदों और ब्राह्मणों में जहाँ कामनामूलक यज्ञ-यागादि कर्मों का ही विधान था, वहाँ उपनिषदों ने निष्काम कर्म, आत्मा एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि के विकास की नूतन विचारधारा प्रवाहित की। वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों का[१] भाग होने के कारण ये वेदान्त के रूप में प्रसिद्ध हुए। वेदान्त शब्द स्वतः यह सूचित करता है कि ये वेदवाद (देववाद, यज्ञवाद और पुरोहितवाद) का अन्त (परिसमाप्ति) करने वाले हैं, अथवा इनके बाद वेद-परम्परा का लगभग विसर्जन निकट आ गया है। अतः उपनिषद् वैदिक साहित्य के अंगभूत होने पर भी वेदवाद के विरोधी-से थे। इनमे सृष्टि तथा अदृष्ट (कर्म का पर्याय वाचक) के विषय मे नई विचारधारा का उल्लेख था[१] जो वेदो और ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं था।[२]

भगवद्गीता आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में उपनिषदों के पूर्वकालीन वेदवाद का खण्डन मिलता है। उनका भावार्थ इस प्रकार है—

"सकामी (अज्ञानी) तथा अनिश्चयी पुरुषो की बुद्धियाँ अनेक भेदो वाली और अनन्त होती हैं। हे अर्जुन! जो सकामी (अज्ञानी) पुरुष केवल फलप्राप्ति में प्रीति रखते हैं, स्वर्ग को ही परम लक्ष्य मानते हैं. वे वेदवादरत कामनापरायण लोग 'इससे बढ़कर और कुछ नहीं हैं,' ऐसा कहते हैं। वे विवेकमूढ़ जन जन्म-मरणरूप कर्मफल को देने वाली तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत-सी कामनामूलक यज्ञादि कियाओ की प्रचुरता से युक्त लच्छेदार भाषा से सुशोभित वाणी बोलते हैं। उस वाणी द्वारा जिनके चित्त अपहृत हो जाते है, और जो भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हो जाते हैं, उनके अन्तःकरण में व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि नहीं होती। इसलिए समस्त वेद तीनों गुणो (सत्व, रज, तम) के कार्यरूप संसार विषय के ही प्रतिपादक हैं। अतः हे अर्जुन ! तू त्रिगुणो से (संसार) से

---

१. इसके विस्तृत वर्णन के लिए 'आत्ममीमासा' (डॉ. दलसुख मालवणिया) में कर्म विचारणा प्रकरण देखिये।

२. आत्ममीमांसा पृ. ८०

रहित निष्काम, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु में स्थित तथा योग-क्षेम से निःस्पृह होकर आत्मपरायण बन"[१]।

कर्मवाद का मूल स्रोत

संसार और अदृष्ट के ये वेदवादविरुद्ध विचार वैदिक साहित्य के अंग माने जाने वाले उपनिषदों में कहाँ से आए? वैदिक परम्परा के विचारों से ही ये विचार प्रादुर्भूत हुए, अथवा अवैदिक परम्परा के विचारक मनीषियों से ये विचार वैदिक मनीषियों द्वारा लिये गए? इस तथ्य का निर्णय अभी तक आधुनिक विद्वान् एवं दार्शनिक नहीं कर पाए। यह निर्विवाद है कि उपनिषदों से पूर्वकालीन वैदिक साहित्य में कहीं भी सृष्टि और अदृष्ट की चर्चा नहीं मिलती। उपनिषदों में भी स्पष्टरूप से 'कर्म' शब्द का पुण्य-पापकर्म के अर्थ में उल्लेख नहीं मिलता। कहीं-कहीं 'कर्म' शब्द (कुर्वन्नेह कर्माणि ...)[२] आता है, वह कार्य करने अर्थ में है। यही कारण है कि उपनिषदो ने भी कर्म को सृष्टि की विविधता का कारणरूप सर्वसम्मत वाद नहीं माना। अतः इसे वैदिक परम्परा का मौलिक वाद या विचार नहीं माना जा सकता।[३] श्वेताश्वतर उपनिषद् में जहाँ काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत अथवा पुरुष आदि अनेक कारणों का अथवा इन सबके संयोग का कथन है, वहाँ इन कारणों में 'कर्म' का उल्लेख नही है। इसलिए विद्वानों के लिए यह अवश्य अन्वेषणीय है कि कर्म या अदृष्ट तत्त्व का वैदिक परम्परा मे किस परम्परा से आयात हुआ ?

कतिपय विद्वानों का मत है कि आर्यों ने ये विचार भारत के आदिवासियों से ग्रहण किये। आदिवासियों का यह मत था कि मनुष्य का

---

१. बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं, प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म-कर्मफल प्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तयाऽपहृत-चेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥
त्रैगुण्य विषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
—भगवद्गीता अ. २, श्लो. ४१ से ४५ तक

२. "कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।" — ईशोपनिषद्

३. कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुख-दुःख हेतुः ॥— श्वेताश्वतर उपनिषद्

जीव मरकर परलोक मे वनस्पति आदि के जीवों में जन्म ग्रहण करता है। यद्यपि इस मान्यता को अन्धविश्वास (Superstition) कहकर प्रो. हिरियन्ना ने निराकृत कर दिया था।[1] मगर तथ्य यह है कि जिस कर्मवाद को वैदिक देववाद, यज्ञवाद आदि से विकसित एव समन्वित नही किया जा सका, उस कर्मवाद का मूल आदिवासियो के उक्त मत से आसानी से सम्बद्ध होता है। इस तथ्य की सत्यता का पता उस समय लगता है, जब हम जैनधर्मसम्मत कर्मवाद और आत्मवाद के गहन मूल को खोजने का प्रयत्न करते हैं। निष्कर्ष यह है कि जैनधर्मसम्मत कर्मवाद की परम्परा का चाहे जो नाम हो, वह उपनिषदो से स्वतंत्र और पुरातन है।

वैदिकों पर जैन परम्परा के कर्मवाद का प्रभाव

जैनदर्शन के उद्‌भट विद्वान प. दलसुख मालवणिया का यह मन्तव्य यहाँ विचारणीय है–

"अतः यह मानना निराधार है कि उपनिषदो मे प्रस्फुटित होने वाले कर्मवाद विषयक नवीन विचार जैन-सम्मत कर्मवाद के प्रभाव से रहित हैं। जो वैदिक परम्परा देवो के बिना एक कदम भी आगे नही बढ़ती थी, वह कर्मवाद के इस सिद्धान्त को हस्तगत कर यह मानने लगी कि फल देने की शक्ति देवों में नहीं, प्रत्युत स्वयं यज्ञकर्म मे है। वैदिक विद्वानो ने देवो के स्थान पर यज्ञकर्म को आसीन कर दिया। देव और कुछ नही, वेद के मत्र ही देव है। इस यज्ञकर्म के समर्थन मे ही अपने को कृतकृत्य मानने वाली दार्शनिक काल की मीमासक विचारधारा ने तो यज्ञादि कर्म से उत्पन्न होने वाले 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना कर वैदिक दर्शन मे देवो के स्थान पर अदृष्ट=कर्म का ही साम्राज्य स्थापित कर दिया।"

यदि हम इस समस्त इतिहास को दृष्टि-सम्मुख रखें तो "वैदिको पर जैनपरम्परा के कर्मवाद का प्रभाव स्पष्टतः प्रतीत होता है।"

अदृष्ट की कल्पना भी वेदेतर प्रभाव का परिणाम

"वैदिक परम्परा के लिए अदृष्ट अथवा कर्म का विचार नवीन है और बाहर से उसका आयात हुआ है, इस बात का एक प्रमाण यह भी है कि वैदिक लोग पहले आत्मा की शारीरिक, मानसिक क्रियाओ को ही 'कर्म' मानते थे। तत्पश्चात् वे यज्ञादि बाह्य अनुष्ठानो को भी 'कर्म' कहने लगे। किन्तु ये अस्थायी अनुष्ठान स्वयमेव फल कैसे दे सकते हैं ? उनका तो उसी समय नाश हो जाता है। अतः किसी माध्यम की कल्पना करनी चाहिए।

---

१. इसके उल्लेख और खण्डन के लिए देखिये–
'Outlines of Indian Philosophy'—P. 79 (Prof. Hiriyanna)

इस आधार पर मीमांसा-दर्शन में 'अपूर्व' नाम के पदार्थ की कल्पना की गई। यह कल्पना वेद में अथवा ब्राह्मणों (ग्रन्थों) में नहीं है। यह दार्शनिक काल में दिखाई देती है। इससे भी सिद्ध होता है कि अपूर्व के समान अदृष्ट पदार्थ की कल्पना मीमांसकों की मौलिक देन नहीं, परन्तु वेदेतर प्रभाव का परिणाम है।"[१]

वैदिकों द्वारा सृष्टि के अनादित्व की मान्यता पर जैन परम्परा का प्रभाव

"वैदिक परम्परा में मान्य वेद और उपनिषदों तक की सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार जड़ और चेतन सृष्टि अनादि न होकर सादि है। यह भी माना गया कि वह सृष्टि किसी एक या किन्ही अनेक जड़ अथवा चेतन तत्त्वों से उत्पन्न हुई है। इसके विपरीत कर्म-सिद्धान्त के अनुसार यह मानना पड़ता है कि जड़ अथवा जीवसृष्टि अनादिकाल से चली आ रही है। यह मान्यता जैन परम्परा के मूल मे ही विद्यमान है। उसके अनुसार किसी ऐसे समय की कल्पना नही की जा सकती, जब जड़ और चेतन का अस्तित्व—कर्मानुसारी अस्तित्व न रहा हो। यही नहीं, उपनिषदों के अनन्तरकालीन समस्त वैदिक मतों मे भी संसारी जीव का अस्तित्व इसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। यह कर्मवाद की मान्यता की ही देन है।"[२]

अनादि संसार सिद्धान्त का मूल : वेदेतर परम्परा में

"कर्मतत्त्व की कुंजी इस सूत्र से भी प्राप्त होती है कि जन्म-मरण का कारण (मूल) कर्म है।[३] इसी सिद्धान्त के आधार पर संसार के अनादि होने की कल्पना की गई है। अनादि ससार के जिस सिद्धान्त को बाद में सभी वैदिक दर्शनो ने स्वीकार किया, वह इन दर्शनो की उत्पत्ति के पूर्व ही जैन एवं बौद्ध-परम्परा मे विद्यमान था। किन्तु वेद अथवा उपनिषदों में इसे सर्वसम्मत सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत नही किया गया। इससे पता चलता है कि इस सिद्धान्त का मूल वेदबाह्य परम्परा में है। यह वेदेतर परम्परा भारत में आर्यो के आगमन से पहले के निवासियो की हो सकती है और उनकी इन मान्यताओं का ही सम्पूर्ण विकास वर्तमान जैन-परम्परा में सम्भव है।"[४]

---

१. (क) आत्ममीमांसा (प. दलसुख मालवणिया) से उद्धृत पृ. ८२, ८४
(ख) गणधरवाद प्रस्तावना (पं. दलसुख मालवणिया) से उद्धृत पृ. १२०, १२२

२. आत्ममीमांसा से उद्धृत

३. 'कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं' — उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३२

४. गणधरवाद की प्रस्तावना पृ. १२१ से उद्धृत

कर्मवाद का मूल उद्गम : जैन-परम्परा

आगे चलकर पं. दलसुख मालवणिया इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जैन-परम्परा प्राचीन (प्रागैतिहासिक) काल से ही कर्मवादी है, उसमें देववाद को कभी भी स्थान प्राप्त नहीं हुआ।"

वैदिक विचारक यज्ञ की क्रिया के चारों ओर ही समस्त विचारणा का आयोजन करते हैं। जैसे उनकी मौलिक विचारणा का स्तम्भ यज्ञक्रिया है, वैसे ही जैन विद्वानों की समस्त विचारणा कर्म पर आधारित है। अतः उनकी मौलिक विचारणा की नींव कर्मवाद है।[१]

वैदिक परम्परा में यज्ञादि के साथ कर्म का समावेश

वैदिक परम्परा में यज्ञकर्म तथा देव दोनों की मान्यता थी। जब देव की अपेक्षा कर्म का महत्व अधिक माना जाने लगा, तब यज्ञ का समर्थन करने वालों ने यज्ञ और कर्मवाद का समन्वय कर यज्ञ को ही देव बना दिया और वे यह मानने लगे कि यज्ञ ही कर्म है तथा इसी से सब फल मिलते हैं। दार्शनिक व्यवस्था काल मे इन लोगो की परम्परा का नाम 'मीमांसा दर्शन' पड़ा।[२]

प्रजापति देवाधिदेव के साथ कर्मवाद का समन्वय

आगे चलकर वैदिक परम्परा में यज्ञ के विकास के साथ-साथ देवों की विचारणा का भी विकास हुआ। ब्राह्मण काल में प्राचीन अनेक देवो के स्थान पर एक प्रजापति को देवाधिदेव माना जाने लगा। जिन लोगों की श्रद्धा इस देवाधिदेव पर अटल रही उनकी परम्परा में भी कर्मवाद को स्थान प्राप्त हुआ और उन्होंने भी प्रजापति तथा कर्मवाद का समन्वय अपने ढंग से किया।

वे मानते हैं कि जीव को अपने कर्मानुसार फल तो मिलता है, किन्तु इस फल को देने वाला देवाधिदेव ईश्वर है। ईश्वर जीवो के कर्मानुसार उन्हें फल देता है, अपनी इच्छानुसार नहीं। इस समन्वय को स्वीकार करने वाले वैदिक दर्शनों मे न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और उत्तरकालीन सेश्वर सांख्यदर्शन (योगदर्शन) का समावेश है।"[३]

वैदिकों में कर्मवाद का प्रवेश क्यों, कब और किस रूप में ?

वैदिक विद्वानों ने यज्ञ, देव या देवाधिदेव के साथ कर्मवाद का समन्वय भी तभी किया, जब कर्मसिद्धान्त का प्राबल्य होने लगा। जिस प्रकार

---

१. गणधरवाद की प्रस्तावना पृ. १२१ से उद्धृत

२. आत्ममीमांसा से उद्धृत पृ. ८४

३. 'गणधरवाद की प्रस्तावना' पृ. १२२ से उद्धृत

उपनिषद्काल में अध्यात्मवाद का प्रबलता से प्रतिपादन होने लगा, तब पशुवधमूलक यज्ञों एवं अन्य कर्मकाण्डों पर से लोगों की श्रद्धा क्षीण होने लगी, उसी प्रकार कर्मवाद के व्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन होने पर अनेक देवों से सम्बन्धित श्रद्धा का भी ह्रास होने लगा। याज्ञवल्क्य जैसे उपनिषद्कालीन ऋषि भी कर्मवाद का रहस्य समझाते हुए कहते हैं—पुण्यकर्म (शुभ कार्य) से मनुष्य पुण्यवान् बनता है, और पापकर्म से पापी।[१] जो जैसा कार्य या आचरण करता है, वह वैसा ही बन जाता है। अच्छा कार्य करने वाला अच्छा बनता है और बुरा कार्य करने वाला बुरा।"[२]

"इसीलिए कहा गया है कि मनुष्य कामनाओं का बना हुआ (काममय) है। जैसी उसकी कामना होती है, तदनुसार वह निश्चय करता है, और जैसा निश्चय करता है, वैसा ही कर्म वह करता है, तथा जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है।"[३]

वैदिकों द्वारा कर्मवाद की स्पष्ट धारणा नहीं

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक विद्वानों ने कर्मवाद का समावेश तो अपने-अपने ग्रन्थों में किया, किन्तु संसार के समस्त प्राणियों की विविधता तथा मनुष्यों की अनेकरूपता के कारणभूत कर्म का रहस्योद्घाटन नहीं कर सके। कर्मकाण्डी मीमांसकों ने देवों और यज्ञों की परिधि में ही कर्मवाद को समाविष्ट किया, तथा देवाधिदेववादी, प्रजापतिवादी या ईश्वरवादी भी अपनी सारी बौद्धिक शक्ति ईश्वर-कर्तृत्व एवं ईश्वर की सिद्धि में लगाते रहे। वे संसार की विचित्रता के कारणभूत विविध कर्मों तथा उनके बन्ध के कारणों और विविध फलो के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं बना सके।

कर्मवाद का मूल और विकास जैन परम्परा में ही

अतः कर्मवाद मूलरूप में जिस जैनपरम्परा का था, उसी ने इस वाद पर गहराई से छानबीन करके उस सिद्धान्त को वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया। संसार के विभिन्न वर्ग के प्राणियों के जितने भी उच्चावच प्रकार सम्भव हैं, तथा एक ही जीव की आध्यात्मिक दृष्टि से सांसारिक निकृष्टतम अवस्था से लेकर उसकी उच्चतम अवस्था तक

---

१. 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन।" — बृहदारण्यक ३/२/१३

२. "यथाकारी यथाचारी तथा भवति ।
साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापी भवति।" ... बृहदारण्यक ४/४५

३. "अथा खल्वाहुः काममय एवाऽयं पुरुष इति स यथाकामो भवति, तत्कर्तुर्भवति, यत्कर्तुर्भवति तत्कर्मकुरुते, यत्कर्म कुरुते, तदभिसम्पद्यते।" —वही, ४/४५

विकास के जितने भी मुख्य सोपान (श्रेणियाँ) हो सकते हैं, उन सबका उल्लेख करके उन सब अवस्थाओं में किस-किस कर्म का क्या-क्या प्रभाव है? एवं उस प्रभाव से मुक्त होने के लिए जीव किस प्रकार का पुरुषार्थ करे? यह सब विस्तृत एवं व्यवस्थित वर्णन जैसा जैनपरम्परा के शास्त्रों एव ग्रन्थों तथा जैन कथाओं में है, वैसा अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि कर्मवाद का मौलिक विचार, उसका सयुक्तिक विकास तथा उसे व्यवस्थित रूप देने का प्रयास जैनपरम्परा में हुआ है। जैनपरम्परा द्वारा प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त के स्फुलिंग अन्य परम्पराओं मे पहुँचे और उन्होने भी अपने-अपने ग्रन्थों में उसका समावेश किया, इससे उनकी विचारधारा भी तेजस्वी बनी है।

■

(४)

कर्मवाद का तिरोभाव-आविर्भाव : क्यों और कब

आविर्भाव या आविष्कार आवश्यकता होने पर होता है

संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका आविष्कार आवश्यकता के बिना हुआ हो। पाश्चात्य जगत् का यह माना हुआ सिद्धान्त है कि "आवश्यकता आविष्कार की जननी है।"[१] जब मनुष्य को कृत्रिम प्रकाश की आवश्यकता हुई तो बिजली का आविष्कार हुआ। जब उसे समुद्र के अथाह जल पर सही-सलामत चलने और अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की इच्छा हुई तो उसने स्टीमर (वाष्प-जलयान) का आविष्कार किया, जो एक ही साथ सैकड़ो टन वजन अपनी छाती पर उठाये, समुद्र के अथाह जल पर तैरता हुआ मनुष्य को दूर-सुदूर गन्तव्य स्थान तक ले जाता है। जब मनुष्य को आकाश में उड़कर द्रुतगति से कुछ ही घंटों में हजारों मील दूर गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की आवश्यकता हुई, समय की बचत करने की इच्छा हुई तो उसने एक से एक बढ़कर शीघ्रगामी वायुयानों का आविष्कार किया। स्थल पर शीघ्रगति से पहुँचने की इच्छा से उसने रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, बस आदि का आविष्कार किया, जो शीघ्र ही गन्तव्य स्थल तक पहुँचा देती हैं। सैकड़ो टन माल एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए मालगाड़ी, भार वाहक ट्रक का आविष्कार मानव बुद्धि की उपज है। इसी प्रकार मानव ने अपने भौतिक जीवन यापन के लिए जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता हुई, उन-उन वस्तुओ, उत्पादक यंत्रों, मशीनो, आदि का आविष्कार किया। दूर-सुदूर बैठे हुए व्यक्ति से बातचीत करने के लिए उसने फोन, केबिल, वायरलेस आदि का; उसका चित्र, उसकी मुखमुद्रा एव आकृति देखने तथा उसकी वाणी सुनने आदि की आवश्यकता पड़ी तो उसने रेडियो, टेलिविजन, वीडियो केसेट आदि का आविष्कार किया। चन्द्रलोक

---

1. 'Necessity is the mother of invention.'

तथा अन्यान्य ग्रहों पर पहुँचने और वहाँ की गतिविधि जानने के लिए उसने कृत्रिम उपग्रहों का निर्माण किया।

एक साथ हजारों लाखों, करोड़ों मनुष्यों के सुख-शान्ति से रहने, अपने-अपने परिवार के साथ सुख से जीवन यापन करने एवं उसकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए मनुष्य ने ग्राम, नगर बसाए, आवास-गृह बनाए, व्यापार के लिए दुकानें आदि खोलीं, किसी भी मनुष्य पर अन्याय-अत्याचार न हो, कोई भी व्यक्ति चोरी, व्यभिचार, लूट-पाट, बेईमानी, ठगी, हत्या आदि अनैतिक कुकृत्य या अपराध न कर सके, इसके लिए मनुष्य ने न्यायालय, कारागार, आरक्षक दल (पुलिस दल) आदि की रचना की।

इसी प्रकार नैतिक, धार्मिक साधना सामूहिक रूप से करने तथा श्रद्धा-भक्ति को जागृत करने के लिए मनुष्यों ने विविध मन्दिर, धर्मस्थान, देवालय, तीर्थस्थल बनाए। मनुष्यों की विचारशक्ति को जागृत करने एव आत्म-चिन्तन, आत्मशक्तियों को जगाने के लिए विविध मनीषियों ने आध्यात्मिक साहित्य का सृजन किया।

इस प्रकार मानव ने एक से एक बढ़कर आविष्कार जीवन के सभी क्षेत्रो की आवश्यकता की पूर्ति के लिए किये। नैतिक, सामाजिक, पारिवारिक, नागरिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक आदि मानव-जीवन के सभी क्षेत्रो में मानव ने अपनी आवश्यकता के अनुरूप नानाविध वस्तुओं का आविष्कार किया। इतना ही नहीं, कितनी ही ऐसी वस्तुएँ भी मानव ने आविष्कृत की हैं, जो सबको आश्चर्य मे डालने वाली हैं। कितने ही ऐसे पदार्थों का आविष्कार भी उसने किया, जो उसके नगर, गाँव, राष्ट्र या विश्व के मानव बन्धुओं के लिए अत्यन्त हानिकारक एव विनाशकारी हैं।

कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया गया ?

निष्कर्ष यह है कि इन सब तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्मवाद का आविष्कार क्यों किया? हमारे महामनीषी तीर्थंकरो, विश्वहितैषी महापुरुषों एवं सर्वज्ञों को कर्मवाद को आविर्भूत (आविष्कृत) करने की क्या आवश्यकता थी? आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव आदि के समक्ष कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं, कौन-सी ऐसी आवश्यकताएँ थीं अथवा कौन-सी ऐसी विवशताएँ या अपेक्षाएँ थीं, जिनके कारण उन्हें कर्मवाद सम्बन्धी इतना सूक्ष्म चिन्तन जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ा? प्रश्न बहुत ही सामयिक है, और बुद्धिग्राह्य भी।

प्रागैतिहासिक काल में भ. ऋषभदेव द्वारा आविर्भूत कर्मवाद

यों तो हमने प्रत्येक कालचक्र में होने वाले तीर्थंकरों द्वारा प्रस्तुत और आविष्कृत होने के कारण कर्मवाद को प्रवाहरूप से अनादि माना है और इस अवसर्पिणी काल में प्रागैतिहासिक काल से—आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से कर्मवाद का आविर्भाव, आविष्करण या प्रारम्भिक प्रस्तुतीकरण माना है। उन्होंने कर्मवाद का आविष्करण या आविर्भाव क्यों किया? उस समय क्या आवश्यकता थी, कर्मवाद के आविष्करण की? इस सम्बन्ध में हम 'कर्मवाद का आविर्भाव' शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट कर चुके हैं। उस समय यौगलिक जनता का भोगभूमिका से कर्मभूमिका में संक्रमण, जनता के समक्ष जीवन-यापन का संकट, आपाधापी, अनैतिकता, अन्याय-अत्याचार का दौर, छीना-झपटी, कलह, स्वार्थलिप्सा, आध्यात्मिक, नैतिक और धार्मिक तत्त्वों के प्रति अनभिज्ञता, फलतः मनमाना आचरण एवं स्वच्छन्दाचार आदि अनेक विकट संकट उपस्थित थे। संक्रमणकालिक परिस्थितियों के कारण उस युग का मानव धर्म, कर्म, कर्त्तव्य और दायित्व से बिल्कुल अबोध था। ऐसे समय में आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने उस युग की जनता को नैतिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक पथ पर लाने के लिए कर्मवाद का सांगोपांग बोध दिया। उन्होने स्वयं अनगार बनकर पूर्वबद्ध (पुराकृत) कर्मों से मुक्ति पाने तथा आत्मा और परमात्मा के बीच में दीवार बने हुए कर्मों से छुटकारा पाने का ज्वलन्त-जीवित उदाहरण प्रस्तुत किया। कर्मवाद का चिन्तन-मनन-श्रवण, अध्ययन करने तथा अपने जीवन में मन-वचन-काया से होने वाली प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति के बारे में चौकसी रखने, यतना एवं सावधानी रखने का निर्देश किया। उन्होंने अपना धर्मसंघ (धर्मतीर्थ) स्थापित किया। उसके माध्यम से जनता में कर्मवाद का आविर्भाव ही नहीं, प्रचार-प्रसार भी हुआ।[१] यह हुआ प्रागैतिहासिक काल में कर्मवाद के सर्वप्रथम आविर्भाव का कारण।

नये-नये तीर्थंकरों द्वारा अपने-अपने युग में कर्मवाद का आविर्भाव

इस अवसर्पिणीकाल में कालक्रम से चौबीस तीर्थंकर हो चुके हैं। एक तीर्थंकर के पश्चात दूसरे तीर्थंकर के होने में सैकड़ों, हजारों, लाखों वर्षों का अन्तराल[२] हो जाता है। इस अवसर्पिणी युग के आदितीर्थंकर भगवान्

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिये—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, कल्पसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आदि ग्रन्थ एवं शास्त्र।

२. एक तीर्थंकर से बाद दूसरे तीर्थंकर के आने के अन्तराल के लिए देखिये कल्पसूत्र में वर्णित चौबीस तीर्थंकरों का अन्तराविषयक पाठ।

ऋषभदेव के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाने के बाद आगे के द्वितीय तीर्थंकर के आने तक में लाखों वर्षों का समय हो गया। इतना लम्बा व्यवधान जनता की तत्त्वज्ञान की स्मृति, धारणा या परम्परा को धूमिल कर देता है। जनता अपने समय के तीर्थंकर के द्वारा आविर्भूत कर्मवाद के सैद्धान्तिक तत्त्वो एवं तथ्यों को धीरे-धीरे विस्मृत हो जाती है। यही कारण है कि एक तीर्थंकर के मोक्ष पधारने के पश्चात् जनता सैकड़ो-हजारों वर्षों तक उस आविष्कृत कर्मवादीय सिद्धान्त को अविकल रूप से स्मरण नहीं रख पाती। उसमें मिश्रण हो जाता है।

इसलिए युग-युग में एक तीर्थंकर के मुक्त हो जाने के बाद दूसरा तीर्थंकर आता है, और जनता में सुषुप्त, विस्मृत एवं धूमिल पड़े हुए एवं तिरोहित हुए कर्मवाद के सस्कारो को पुनः जागृत एवं आविष्कृत करता है, स्मरण कराता है और उस पर पड़ी हुई विस्मृति की धूल की परत को हटाता है।

इस प्रकार हर महायुग मे नया आने वाला तीर्थंकर अपने-अपने युग की परिस्थितियो और आवश्यकताओ को देखकर कर्मवाद का आविर्भाव-आविष्कार करता है।

इतिहास इस विषय में मौन है कि भगवान् ऋषभदेव के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि तक होने वाले बीस तीर्थंकरो ने अपने-अपने महायुग मे किन-किन आवश्यकताओ, परिस्थितियो एव अपेक्षाओ को लक्ष्य मे रखकर कर्मवाद का आविर्भाव-आविष्कार किया था ?

बाईसवे तीर्थंकर (अरिष्टनेमि) से लेकर इस महायुग के अन्तिम तीर्थंकर ज्ञातपुत्र निर्ग्रन्थ श्रमण भगवान् महावीर तक को ऐतिहासिक महापुरुष माना जाता है। उन्होने अपने-अपने जीवनकाल में किन-किन आवश्यकताओं, परिस्थितियो एव अपेक्षाओ को लेकर कर्मवाद का आविष्करण-आविर्भाव किया, इसकी कुछ-कुछ झाकी जैनागमे में तथा जैनाचार्यों एवं मनीषी मुनियों द्वारा लिखित ग्रन्थो मे मिलती है।

भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा तिरोभावापन्न कर्मवाद का आविर्भाव

बाईसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के द्वारा कर्मवाद के आविष्करण-अभिव्यक्तीकरण की एक झांकी उत्तराध्ययन सूत्र में मिलती है। संक्षेप में वह इस प्रकार है—जब अरिष्टनेमि श्रीकृष्णजी आदि यादव-पुंगवों के अनुरोध पर राजीमती (राजुल) से विवाह करने के लिए बारात लेकर प्रस्थान करते हैं और ज्योंही उग्रसेन राजा के महलो के निकट पहुँचते हैं, त्यों ही उनकी दृष्टि वहाँ एक विशाल बाड़े में पिंजरों में बंद पशुओं पर

पड़ती है। वे जान गये कि ये पशु यहाँ क्यों बंद किये गये हैं? उनके मन में मन्थन जागा कि "ये बेचारे मूक और निर्दोष पशु, अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण तिर्यञ्चयोनि पाये हैं। ये अपनी वेदना, व्यथा, मानवभाषा में किसी से कहकर प्रगट नहीं कर सकते। फिर भी इनका करुण चीत्कार प्रगट कर रहा है, इन्हें अपनी करुण मृत्यु का आभास अत्यन्त पीड़ाजनक एवं दुःखद लग रहा है। मनुष्यों को क्या अधिकार है—इन निर्दोष, निरपराध पशुओं को मारकर इनका मांस खाने का? क्या इस प्रकार के क्रूर एवं पशुघातक मानव को अपने इस दुष्कर्म का फल भविष्य में दारुणफल के रूप में नहीं भोगना पड़ेगा? पशुओं के साथ बाँधी हुई इस वैर-परम्परा का अन्त भी तो अनेक जन्मो तक नही आ पाएगा, और उन-उन जन्मों में कुगतियाँ और कुयोनियाँ और दुष्परिस्थितियाँ पाकर इस मानव नामक प्राणी को हिंसा-कृत्य के दुष्कर्मों को काटने या नष्ट करने का सुबोध कहाँ मिलेगा? फलतः जन्म-जन्मान्तर तक दुष्कर्मों का यह कुचक्र चलता रहेगा। वर्तमान में अबोध हिंसाकृत्य पर उतारू इन मानवों की कर्मों से मुक्ति बहुत ही दुष्कर हो जाएगी। अतः इस प्रसंग पर मुझे इन अबोध मानवो को समझाना चाहिए और मुझे भी—मेरे निमित्त से होने वाले इस पशुहिंसा के कुकृत्य से बचना चाहिए।" इस प्रकार के मनोमथन[1] के फलस्वरूप उन्होंने जनता को कर्मवाद का बोध देने की दृष्टि से अपने सारथी से पूछा—'ये सब सुखार्थी प्राणी किस लिए इन बाड़ों और पिंजरों में रोके हुए हैं?' उसने विनम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—'स्वामिन्! आप के विवाह-कार्य में उपस्थित होने वाले बहुत से लोगो को मांस-भोज देने के लिए इन प्राणियों को इस विशाल बाड़े में एकत्रित किया गया है।'

इस पर नेमिनाथ ने उक्त रथ को वही रुकवा दिया। बारात आगे नहीं बढ़ सकी। करुणाशील महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने कर्मवाद के रहस्य को अप्रत्यक्ष रूप से जनता के समक्ष आविष्कृत करने तथा उपदेश देने हेतु कहा—"यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से प्राणियों का वध होता है, तो उससे होने वाला यह कर्मबन्ध परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।"[2]

---

१. "चिंतेइ से महापन्ने, साणुक्कोसे जिएहिउ।" —उत्तराध्ययनसूत्र अ. २२, गा. १८

२. कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
बाडेहिं पंजरेहिं च सन्निरुद्धा य अच्छहिं ?॥१६॥
अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो।
तुज्झ विवाह कज्जंमि भोयावेउं बहुं जणं॥१७॥
जइ मज्झकारणा एए हम्महिंति बहू जिया।
न मे एयं तु निस्सेसं परलोगे भविस्सइ॥१९॥
—उत्तराध्ययन अ. २२ गा. १५ से १९ तक

इस प्रसंग में इस दुष्कर्म का परिणाम परलोक (आगामी जन्म) में श्रेयस्कर न होने के भ. नेमिनाथ द्वारा निकाले गए उद्‌गार क्या कर्मवाद के आविष्करण—आविर्भाव के स्पष्ट संकेत नहीं हैं?

इसी प्रकार कर्मयोगी त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्री कृष्ण जब तीर्थंकर अरिष्टनेमि से द्वारिका नगरी के भावी विनाश के मूल (कारण) के विषय में पूछते हैं,[१] तब भी उनका उत्तर कर्मवादगर्भित होता है। सुरापान तथा अग्निकुमार द्वैपायन ऋषि पर मर्मान्तक प्रहार के कारण हुए[२] घोर पाप कर्मबन्ध का ही परिणाम द्वारिकानगरी के विनाश के रूप में फलित होता है। यह भी उनके द्वारा कर्मवाद की अभिव्यक्ति है।

श्री कृष्णजी के सहोदर लघुभ्राता गजसुकुमाल मुनि जब महाकाल श्मशान में कायोत्सर्ग में स्थित थे, तब उनके सिर पर सोमल ब्राह्मण ने खैर के धधकते अंगारे रखकर उनका निर्मम प्राणान्त करने का उपक्रम किया था। किन्तु उसे समभाव से सहन करते हुए आत्म-स्वभाव में अडोल रहने के कारण वे समस्त कर्मों से मुक्त, सिद्ध-बुद्ध हो गए। दूसरे दिन प्रातः श्री कृष्ण जी द्वारा भगवान् अरिष्टनेमि से गजसुकुमाल मुनि का वृत्तान्त पूछने पर उन्होंने कहा—कृष्ण! गजसुकुमाल अणगार ने अपना कार्य (आत्मार्थ) सिद्ध कर लिया।[३]

श्री कृष्णजी द्वारा विशेष विवरण पूछे जाने पर भगवान अरिष्टनेमि ने कहा—"जैसे तुमने उस वृद्ध पुरुष को सहायता दी, ठीक उसी प्रकार, उस पुरुष ने गजसुकुमाल अनगार को उनके अपने अनेक शत-सहस्र अर्थात् लाखों (९९ लाख) भवों (जन्मों) में संचित किये हुए कर्मों की उदीरणा करके सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करने मे सहायता दी है। ....इसलिए हे कृष्ण! तुम उस मनुष्य पर प्रद्वेष (रोष) मत करो। अर्थात् उस व्यक्ति ने गजसुकुमाल मुनि को समस्त कर्मों को निर्मूल करने मे तथा सर्वदुःखों का अन्त करने मे बड़ी सहायता पहुँचाई है। अब तुम उस पर रोष करके नये दुष्कर्म मत बाँधो।"[४]

---

१. "इमी से ण भंते! वारवत्तीए णयरीए दुवालस जोयण आयामाए जाव पच्चक्ख देवलोगभूयाए किं मूलाए विणासे भविस्सइ?"

२. "इमी से वारवत्तीए णयरीए..............सुरग्गिदीवायणमूलाए विणासे भविस्सइ।"

—अन्तकृद्दशाग सूत्र वर्ग ५ अ. १

३. "साहिए ण कण्हा! गयसुकुमालेण अणगारेणं अप्पणो अट्ठे.........।"

४. (क) जहा णं कण्हा! तुमं तस्स पुरिसस्स साहिज्जे दिन्ने, एवमेव कण्हा! तेणं पुरिसेण गयसुकुमालस्स अणगारस्स अणेगभव-सय-सहस्स-संचियं कम्मं उदी रेमाणेणं बहुकम्म-णिज्जरत्थं साहिज्जे दिन्ने।"

—अन्तकृत् दशांग वर्ग ३ अ. ८

(ख) "मा णं तुम तस्स पुरिसस्स पदोसभावज्जाहि एवं खलु कण्हा! तेणं पुरिसेणं गय सुकुमालस्स अणगारस्स साहिज्जे दिन्ने।" —वही, वर्ग ३ अ. ८

इस प्रसग में तथा पूर्वप्रसंग में भी घोर संकट, मरणान्तक कष्ट, एवं उपसर्ग के समय तीर्थंकर नेमिनाथ ने किसी ईश्वर, देवी-देव, या किसी शक्ति से सहायता की प्रार्थना करने, उसे मनाने या उसके द्वारा दूसरे को मुक्त करने की बात नहीं की, बल्कि उन्होंने दुष्कर्मों का फल की. साथ ही पूर्वबद्ध (९९ लाख जन्मों पूर्व बाँधे हुए) कर्मों का समभाव से क्षय करने, आत्म-स्वरूप में तन्मय होने तथा शुक्लध्यान के द्वारा आत्म-ज्योति में लीन होकर समस्त कर्मों से रहित सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा हो जाने की बात कही। ये प्रसग भी उनके द्वारा तिरोहित हुए कर्मवाद के आविष्करण-आविर्भाव को द्योतित कर रहे हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ द्वारा तिरोहित कर्मवाद का आविर्भाव

बाईसवे तीर्थंकर भगवान् नेमिनाथ के मुक्त हो जाने के बाद भगवान् पार्श्वनाथ के समय तक मे कर्मवाद को लोग लगभग भूल गए थे। कर्मवाद के मूल सिद्धान्तो पर विस्मृति की धूल पड़ चुकी थी। उस युग में तापसों का प्रबल प्रभाव था। आम जनता उनके बाह्याडम्बर, पंचाग्नि तप, धूनी में काष्ट-प्रज्वालन तथा विविध प्रकार के वरदान और शाप के दौर, भूत-भविष्य-कथन आदि के वाग्जाल को देखकर प्रभावित होती थी।

वाराणसी का अचल उस समय तापसों का केन्द्र था। नदी तटो पर और सुरम्य वनो मे सैकड़ो हजारो तापस मठ, आश्रम या कुटी बनाकर विचित्र-विचित्र प्रकार के अज्ञानयुक्त कठोर क्रियाकाण्ड, आडम्बर और मायाचार फैलाए बैठे थे। प्रज्वलित अग्नि में, प्रज्वलित काष्टो मे एवं विविध अज्ञानमूलक तप के आचरण से, एव जरा-जरा-सी बात पर रोष, द्वेष, अहंकार एवं शाप का प्रदर्शन करने से तथा हिंसाजनक कृत्यों से होने वाले अशुभ कर्मबन्ध और उनसे भविष्य में प्राप्त होने वाले कष्टदायक कर्मफल से वे बिल्कुल अनभिज्ञ थे। जनता भी अन्धविश्वास, पाखण्ड और आडम्बर की चकाचौंध में पड़कर कर्म-सिद्धान्त को भुला बैठी थी।

कर्म-सिद्धान्त के इस प्रकार के तिरोभाव के युग में भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ। जन्म से ही उन्हें तीन ज्ञान थे। इस कारण उनकी प्रतिभा-शक्ति, निर्णयशक्ति, विश्लेषणशक्ति, निरीक्षण-परीक्षणशक्ति काफी विकसित थी। वे अज्ञान और अन्धविश्वास, कुरूढ़ियो और कुप्रथाओं में जकड़े हुए मनुष्यों को दुःखित-पीड़ित देखकर दयार्द्र हो उठते थे। असत्य और पाखण्डों को देखकर वे कर्मवाद पर गहराई चिन्तन करते फिर अपने मित्रों और सेवको के समक्ष उनका प्रतिवाद करते और असत्य और पाखण्ड आदि से होने वाले कर्मबन्ध और प्राप्त होने वाले कठोर परिणाम का तत्त्व समझाते ।

पार्श्वनाथ ने कर्मवाद का तिरोभाव दूर किया

उस समय के प्रसिद्धि प्राप्त तापस कमठ के आडम्बर और अज्ञान-मूलक तप तथा उसके पाखण्ड के प्रभाव को देखकर एक दिन पार्श्वकुमार अपने सेवकों के साथ उसके आश्रम में पहुँच गए। उस समय वह पंचाग्नि से आतापना ले रहा था। बीच-बीच में आग की आंच मंदी होते ही वह उसमें बड़े-बड़े लक्कड़ बिना देखे-भाले ही झौंकता जा रहा था। उसके चारों ओर लोगो का जमघट लगा हुआ था।

राजकुमार पार्श्वनाथ ने अपने ज्ञान से लक्कड़ में छिपे हुए सर्प को आग की लपटों में छटपटाते देख, उनके करुणाशील हृदय ने तापस से कहा—"तपस्वी! इन आग की लपटो में पंचेन्द्रिय प्राणियों को होमकर आत्मकल्याण करना चाहते हो? यह तो निरा अज्ञान है, दयाशून्य क्रिया-काण्ड में धर्म नहीं, अपितु प्राणिहिंसा से कठोर दुष्कर्मों का बन्ध है।"

यह सुनते तापस की भृकुटियाँ तन गई, वह अहंकार से गर्ज उठा—'राजकुमार! तुम्हें क्या पता धर्म और कर्म का? तुम अभी अबोध बालक हो। मैं कोई हिंसा नहीं कर रहा हूँ।'

पार्श्वनाथ ने जब कहा कि इस लक्कड़ में सर्प जल रहा है, छटपटा रहा है। तो उसके कथन को असत्य बताते हुए तापस ने कहा—"तुम द्वेषवश मेरी साधना को भंग करना चाहते हो। मेरे प्रभाव को देखकर तुम्हें ईर्ष्या हो रही है।"

पार्श्वकुमार ने विवाद मे समय न बिताकर शीघ्र ही अपने सेवकों को जलते लक्कड़ को सावधानी से चीरने की आज्ञा दी। लक्कड़ चीरा गया तो उसमे से अग्नि की तीव्र ज्वालाओं मे जलता हुआ सर्प बाहर निकल आया। वह अन्तिम सांस ले रहा था। पार्श्वकुमार ने सर्प को नवकार मंत्र सुनाकर सम्बोधित करते हुए कहा—"नागराज! मन में शान्ति और शुभ भावना रखो। नवकार मंत्र ध्यान से सुनो, तुम्हारी सद्गति अवश्य होगी।"

झुलसते हुए सर्प को देखकर तापस का चेहरा फक्क हो गया। उसकी अन्धभक्ति करने वाले लोग भी अब उसकी दयाहीनता और अज्ञानता की भर्त्सना करने लगे। राजकुमार पार्श्व पर उसे बहुत ही क्रोध आया। पर राजकुमार ने उसे सान्त्वना देकर शान्त किया।

इस अपमान और पराजय से तिलमिलाकर वह वाराणसी से डेरा उठाकर कहीं दूर दूसरे जंगल में चला गया। वहाँ भी वह कठोर अज्ञान तप और देहदण्ड की क्रियाएँ करने लगा। मन मे पार्श्वकुमार से बदला लेने की क्रूर भावना करता रहा। अन्त मे, रौद्रभावों के साथ मरकर वह 'मेघमाली' नामक असुरकुमार देव बना।

कर्मवाद से अनभिज्ञ कमठ ने वैर-परम्परा बढ़ाई

भगवान् पार्श्वनाथ दीक्षित होकर विहार करते हुए एक बार जंगल में तापसों के एक आश्रम के पास पहुँचे और निकटवर्ती एक वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग करके खड़े हो गए। कमठ तापस मेघमाली देव के रूप में वहाँ आया। भगवान् पार्श्वनाथ को ध्यानस्थ खड़े देख पूर्व-वैर का स्मरण करके एकदम रोषाविष्ट होकर टूट पड़ा उन पर। कभी सिंह का, कभी हाथी का एवं कभी जहरीले सांप एवं बिच्छू का रूप बनाकर उन्हें भयंकर यातनाएँ देने लगा।

कर्म-सिद्धान्त से अनभिज्ञ तापस इस प्रकार हिंसा, रोष, एवं द्वेष तथा वैरशोधन करने लगा। किन्तु कर्मवाद के मर्मज्ञ प्रभु उस पर किसी प्रकार का रोष-द्वेष न करते हुए कष्ट को समभावपूर्वक सहते रहे। प्रभु को शान्त और निश्चल देख मेघमाली ने उत्तेजित होकर प्रचण्ड तूफान के साथ घनघोर जलवृष्टि शुरू कर दी। चारों ओर जल-प्रलय-सा हो गया। वृक्ष, आश्रम, पशु-पक्षी सब पानी में डूब गये। पानी बढ़ता-बढ़ता कायोत्सर्गस्थ प्रभु के नाक के अग्रभाग को छूने लगा। फिर भी प्रभु ध्यान में स्थिर और प्रसन्न थे।

प्रभु के इस विकट उपसर्ग को देखकर धरणेन्द्र शीघ्र प्रभु-चरणों में पहुँचा। उसने विराट् सप्तफन[1] फैलाकर उनके मस्तक पर छत्र कर दिया। कमल की भाँति प्रभु का आसन स्वतः ऊँचा आने लगा। फिर धरणेन्द्र ने मेघमाली देव को फटकारा—"दुष्ट! क्यों त्रिलोकनाथ आनन्दकन्द प्रभु के प्रति उपद्रव करके घोर कर्मों का बंध कर रहा है?" यह सुन कमठ का जीव मेघमाली देव हतप्रभ होकर भाग खड़ा हुआ।

परन्तु पार्श्वनाथ प्रभु के साथ इससे पूर्व कई जन्मों तक वह वैरभाव धारण करके रहा। और जहाँ कहीं दाँव चलता वह उन्हें कष्ट देने में कोई कसर नहीं छोड़ता। परन्तु क़र्म-सिद्धान्त के मर्मज्ञ प्रभु उस पर दयाभाव रखकर शान्त और समभावी रहे।

जैन इतिहासकार कहते हैं—दीक्षा लेने के ८३ दिन तक भगवान् पार्श्वनाथ कठोर और उग्र कष्ट (उपसर्ग) समभाव से सहते हुए जनपदों में विचरते रहे। चौरासीवें दिन वाराणसी के बाहर आँवले के वृक्ष के नीचे परम शुक्लध्यान करते हुए चार घनघाती कर्मों का क्षय करके वे केवल-ज्ञानी वीतराग बने।

---

१. देखें—'पासणाह चरिउ' में विस्तृत वर्णन

प्रभु पार्श्वनाथ द्वारा कर्मवाद का रहस्योद्घाटन

उस समय प्रभु पार्श्वनाथ ने जनपरिषद् के बीच अपनी प्रथम दिव्य-देशना दी जिसमें उन्होंने कषाय और विद्वेष के कटु परिणामस्वरूप होने वाले कठोर दुष्कर्मबन्ध और कर्मक्षय, कषायशमन, इन्द्रियदमन आदि करने के विविध उपायों का मार्मिक वर्णन किया। कर्मवाद का रहस्य सुनकर जनता की सुषुप्त चेतना जाग उठी। अनेक नर-नारियों ने कर्मक्षय करने के लिए विविध यम, नियम, तप, त्याग, प्रत्याख्यान अंगीकार किये।

भगवान् पार्श्वनाथ ने कर्मक्षय करने के लिए उद्यत संसारविरक्त आत्माओ को मुनि-दीक्षा दी। चतुर्विध सघ की स्थापना की। कर्मक्षय करने के लिए उन्होंने चातुर्याम धर्म का प्रवर्तन किया।[१]

इस प्रकार तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ने विस्मृत और धूमिल हुए कर्मवाद के रहस्य का, अपने जीवन से, तथा कमठ के द्वारा चलाई हुई वैर-परम्परा के विरुद्ध शान्ति एवं समता के आचरण से, तथा अपने उपदेशो से आविर्भाव-आविष्करण किया।

भगवान् महावीर द्वारा कर्मवाद का आविर्भाव

भगवान् महावीर के जीवन का लेखा-जाखा तो आचाराग, कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, भगवती सूत्र, महावीर चरिय, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, महापुराण आदि शास्त्रो एवं ग्रन्थों मे विशद-रूप से अकित है। उनका जीवन एक तरह से कर्मों से—पूर्वकृत कर्मों से समभावपूर्वक जूझने और उन्हें परास्त करने वाले अजेय धर्मयोद्धा का जीवन है।

भ. महावीर के सम्यक्त्वप्राप्ति के पश्चात् हुए खास-खास २७ भवो (नयसार के जन्म से लेकर वर्द्धमान महावीर के रूप में जन्म लेने तक के २७ जन्मो) का वृत्तान्त मिलता है। जिसमें कई जन्मों में उन्होंने कठोर कर्मबन्धन के तथा कई जन्मो में कर्मक्षय करने के अनुभव किये। इनमें मरीचि, विश्वभूति, त्रिपृष्ठ वासुदेव, सेवापरायण तपोधनी नन्दन मुनि भवों में विशेष रूप से कर्मवाद की साक्षात् अनुभूति उन्हें हुई। मरीचि के भव में वे तापस के रूप मे कर्मवाद की साधना करते-करते जातिमद एवं कुलमद के कारण उस श्रेष्ठ साधना के फल से वचित हो गए। विश्वभूति के भव में आवेशवश अगीकृत मुनि-जीवन मे कठोर तपश्चर्या करके कर्मक्षय की

---

१. इसके विशेष विवरण के लिए देखिये—कल्पसूत्र, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, 'पासणाहचरिउ', और भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन ले. उपाचार्य देवेन्द्र मुनि आदि ग्रन्थ।

अमृतमयी साधना क्रोधाविष्ट होकर राख में मिला दी। फिर उस अशुभकर्मवश कई जन्मों में डूबते-उतराते वे त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में शक्तिशाली पराक्रमी राजा हुए। इस जन्म में कर्मक्षय करने के उत्तम अवसर को खोकर राजसत्ता के अहंकार के नशे में अपने शय्यापालक की जरा-सी भूल के कारण उसके कानों में खौलता हुआ गर्मागर्म शीशा उंडेलवा कर उसे प्राणान्त दण्ड दे दिया। इस क्रूर कर्म के कारण सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर वे अनेक जन्मों तक नरक और तिर्यञ्चगति में जन्म लेकर विविधरूप में यातनाएँ भोगते रहे।

अन्त में २५ वें 'नन्दन' राजकुमार के भव में उन्होंने गृहस्थजीवन तथा साधुजीवन दोनों में तप, सेवा, दया, विरक्ति, गुरुभक्ति, क्षमा आदि के फलस्वरूप बहुत से अशुभ कर्मों का क्षय करके उच्चतर आत्मविशुद्धि के कारण संचित पुण्यराशि के फलस्वरूप तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया। उसके पश्चात् २६वें भव मे वे दशम देवलोक में पहुँचे और वहाँ से च्यवकर इसी भरतक्षेत्र में ज्ञातपुत्र तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर बने।[1]

महावीर ने ३० वर्ष के यौवनवय में निकाचित रूप से बँधे हुए अपने अवशिष्ट कर्मों को स्वकीय पुरुषार्थ से क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा बनने हेतु मुनिदीक्षा अगीकार की । मुनिजीवन में भी उन्हें पूर्वजन्मों मे बद्ध निकाचित कर्मों के उदय के कारण अनेक बार प्राणान्त कष्ट भोगने पड़े। उनमे कहीं गोपालक, कहीं संगमदेव, कहीं तापस, कहीं यक्ष, कहीं अपरिचित ग्रामीण, कहीं अनार्य देशीय लोग, कही सुदंष्ट्र नागकुमार आदि कठोर यातनाएँ देने में निमित्त बने। श्रमणशिरोमणि दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर ने कर्मक्षय के सुन्दर अवसर को न खोने का निश्चय किया और समभाव, क्षमा, धैर्य, कष्टसहिष्णुता आदि भावों के साथ उन कर्मों को भोग कर क्षय कर डाला।

पूर्वकृत कर्मोदयवश विकट सकट-घटाओं से घिरे होने पर भी वे उन कर्मों से परास्त नहीं हुए। अजेय योद्धा की तरह साहसपूर्वक पूर्वकर्मों का कटुफल उन्होंने समभावपूर्वक भोगा, घोर यातनाएँ सहीं, और अन्त में, उन कठोर आत्मगुणघाती कर्मों को ध्वस्त करके पराजित किया। साथ ही, साधनाकाल में भी तीव्र सावधानी रखी, ताकि कोई नया कठोर कर्म आकर उनके जीवन के साथ न बंध जाए। इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन से

१. विशेष विवरण के लिए देखिये—आवश्यकचूर्णि, कल्पसूत्र आदि तथा भ. महावीर : एक अनुशीलन (ले. उपाचार्य देवेन्द्र मुनि)

जनता को कर्मवाद का जीता-जागता रहस्य अभिव्यक्त आविर्भूत कर दिया। जो लोग कर्मवाद के सिद्धान्त को विस्मृत हो गए थे, उन्हें भी कर्म और कर्मफल के रहस्य का साक्षात्कार हो गया।[1]

उस युग मे कर्मकाण्डी मीमासकों का जोर था। यज्ञ-यागों का बोलबाला था। जगह-जगह यज्ञो में निर्दयतापूर्वक पशुओं का वध करके उनकी बलि दी जाती थी। आम जनता भगवान् पार्श्वनाथ के द्वारा उपदिष्ट एवं अभिव्यक्त कर्मवाद के रहस्यों और तत्त्वों को लगभग भूल-सी गई थी। उस समय के ब्राह्मण पण्डितों को भी इस कर्मतत्त्व का रहस्य ज्ञात नहीं था। फलतः जाति-मद, पाण्डित्य-मद, एवं पशुवधमूलक यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान में रत, ब्राह्मणवर्ग ही नहीं, उनके साथ-साथ क्षत्रिय वर्ग एवं आम जनसमूह भी कर्मवाद के रहस्य से अनभिज्ञ हो गया था।

देववाद, यज्ञवाद एवं पुरोहितवाद का बोलबाला था। सृष्टि के मूल कारण तथा संसार में इतनी विविधता, विचित्रता एवं भिन्नता का वास्तविक कारण वे विविध देवो को ही समझते थे। बाद में प्रजापति—ब्रह्मा को ही इस विचित्र सृष्टि के सृजन-संहार का कारण मानने लगे, और विविध दुःखो का कारण अपने कर्मों को न समझकर देवों या प्रजापति के द्वारा दिये हुए समझ कर उनके निवारण के लिए स्वयं तप, त्याग, सयम, नियम के आचरण में पुरुषार्थ करके कर्मक्षय करने के बदले, वे उन देवों या प्रजापति की स्तुति, मनौती, यज्ञादि के रूप मे करके सुख-सुविधा पाना चाहते थे। भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन, भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) आदि आगमों में विविध प्रकार से कर्मवाद का रहस्य खोला है।

गणधरों की कर्मवादसम्बन्धित शंकाओं का समाधान

भगवान् महावीर के तीर्थंकर बनने के पश्चात् जो ग्यारह धुरन्धर विद्वान् पण्डित उनके सम्पर्क मे आए, वे वेदपाठी ब्राह्मण थे, परन्तु आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, मोक्ष, कर्म एवं कर्मफल के विषय में उनके मन में संशय था। उन ग्यारह भावी गणधरों की क्या-क्या शंकाएँ थीं, और उनका समाधान कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य मे भगवान् महावीर ने किस प्रकार किया? इसका समस्त विवरण 'गणधरवाद' में विशदरूप मे मिलता है। ग्यारह गणधरों की संक्षेप में क्रमशः ये शंकाएँ थी—

१. इन्द्रभूति गौतम—जीव (आत्मा) का अस्तित्व है या नहीं?

२. अग्निभूति गौतम—कर्म है या नहीं?

३. वायुभूति गौतम—जीव (आत्मा) और शरीर एक ही हैं, या भिन्न-भिन्न?

---

१. देखिये, विशेष विवरण के लिए—भगवान् महावीर : एक अनुशीलन ले. उपाचार्य देवेन्द्र मुनि

४. व्यक्त भारद्वाज—पृथ्वी आदि पंचभूतों के विषय में शंका; (शून्यवाद)

५. सुधर्मा अग्निवेश्यायन—इहलोक—परलोक, सादृश्य-वैसादृश्य का संशय।

६. मण्डिक वशिष्ठ—बन्ध और मोक्ष के विषय में संशय।

७. मौर्यपुत्र काश्यप—स्वर्गलोकवासी देव हैं या नहीं?

८. अकम्पित गौतम—नारक हैं या नहीं? इस विषय में सन्देह।

९. अचलभ्राता हारित—पुण्य और पाप हैं या नहीं?

१०. मैतार्य कौण्डिन्य—परलोक है या नहीं?

११. प्रभास कौण्डिन्य—निर्वाण (मोक्ष) है या नहीं?

ग्यारह भावी गणधरों की शकाएँ और उनका समाधान पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भगवान् महावीर ने उनकी शंकाओं के समाधान में कर्मवाद के अस्तित्व को विविध पहलुओं से अभिव्यक्त-आविर्भूत किया है।

प्रथम भावी गणधर इन्द्रभूति ने जीव (आत्मा) के अस्तित्व के विषय में शंका की है। उसका समाधान भी विभिन्न युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया है। संसारी जीवों (आत्माओं) के साथ कर्म का प्रवाहरूप से अनादि-काल से सम्बन्ध है। इसलिए आत्मा का अस्तित्व मानने पर कर्मवाद का अस्तित्व मानना ही पड़ता है।

दूसरे भावी गणधर अग्निभूति ने तो कर्म के अस्तित्व के विषय में ही शका उठाई है। उसके समाधान के प्रसग में भ. महावीर ने कर्म का अस्तित्व सिद्ध किया है। साथ ही कर्म मूर्त, परिणामी, विचित्र, अनादि-कालसम्बद्ध और अदृष्ट है, इत्यादि कर्मवाद सम्बन्धी रहस्यों का भी उद्घाटन किया है।

तीसरे भावी गणधर का आत्मा (जीव) और शरीर की भिन्नता-अभिन्नता का प्रश्न भी आनुषगिक रूप से कर्मवाद से सम्बद्ध है। कर्म के फलस्वरूप जीव को विभिन्न गतियो योनियों में विभिन्न शरीर प्राप्त होते हैं, जबकि आत्मा (जीव) तो वही रहता है।

चौथे भावी गणधर के साथ पंचभूतों के विषय में चर्चा हुई है। बहुधा शून्यवादी ही पंचभूतों के अस्तित्व से इन्कार करते हैं। जैन दृष्टि से कर्म भौतिक (पौद्गलिक) हैं। अतः पंचभूतो की चर्चा के साथ आनुषंगिकरूप से कर्मवाद की चर्चा भी आ जाती है ।

पंचम भावी गणधर सुधर्मा के साथ लोक-परलोक के सादृश्य-वैसादृश्य से सम्बन्धित शंका-समाधान हुए हैं, उस सन्दर्भ में भगवान् ने बताया है कि यह लोक हो अथवा परलोक आदि के मूल में कर्म की सत्ता है। सारे जन्म-मरणरूप संसार का मूल कर्म है।[१]

छठे भावी गणधर के साथ चर्चा हुई है—बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में। दोनों के साथ कर्मों के लगने और छूटने का सम्बन्ध है। इसलिए कर्मवाद का स्पष्ट दिग्दर्शन भगवान् ने उसे कराया ही है।

सातवें और आठवें भावी गणधरो के साथ देव और नारकों के अस्तित्व के सम्बन्ध में चर्चा है। उसका समाधान भी कर्मवाद से सम्बन्धित है। क्योंकि शुभकर्मों के फलस्वरूप देवत्व और अशुभ कर्मों के फलस्वरूप नारकत्व की प्राप्ति होती है।

नौवें भावी गणधर की चर्चा का प्रमुख विषय है—पुण्य-पाप। उसमे भी शुभ-अशुभ कर्म के अस्तित्व की चर्चा प्रधान है। इसी सन्दर्भ मे कर्म-ग्रहण की प्रक्रिया, कर्मसंक्रमण, कर्मों का शुभाशुभ रूप मे परिणमन इत्यादि कर्मवाद विषयक चर्चा भी हुई है।

दसवें भावी गणधर ने परलोक के सम्बन्ध मे शंका उठाई है, उसका समाधान भी इस तथ्य के साथ हुआ है कि परलोक कर्माधीन है। कर्म है तो परलोक अवश्य है।

ग्यारहवें गणधर के साथ निर्वाण विषयक चर्चा हुई है, उसमें भी भगवान् ने अभिव्यक्त किया है कि अनादि कर्म-संयोग का सर्वथा क्षय ही निर्वाण है—मोक्ष है।[२]

निष्कर्ष यह है कि भगवान् महावीर ने इन ग्यारह विद्वान ब्राह्मणों की शंकाओं का समाधान कर्मवाद की दृष्टि से किया है। अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान होने पर सबने सत्य को अंगीकार किया और कर्मक्षय की साधना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनने हेतु उन्होंने स्वेच्छा से अपने-अपने शिष्य-समुदाय सहित मुनिधर्म अंगीकार किया।

किसी भी शक्ति, देवी-देव या प्रजापति, ईश्वर आदि का सहारा, आश्रय न लेकर तथा किसी की मनौती एवं यज्ञादि से किसी देव आदि को प्रसन्न न करके उन्होने स्वयमेव मोक्षसाधक ज्ञानादि की साधना से सर्वथा कर्मक्षय किया। आत्मा को स्वपुरुषार्थ से परम शुद्ध बना करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

---

१. 'कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं'—उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३२, गा. ७

२. देखिये—गणधरवाद और उसकी प्रस्तावना (पं. दलसुख मालवणिया)

ये ग्यारह ही दिग्गज विद्वान् भगवान् महावीर के धर्म-संघ (गण) में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप की सुप्रतिष्ठा एवं चतुर्विध संघ की सुव्यवस्था करने हेतु 'गणधर' पद से अलंकृत हुए।

केवलज्ञान होते ही चतुर्विध संघ स्थापना के पश्चात् भगवान् कर्मविज्ञान सम्बन्धी अपनी अनुभवज्ञाननिधि सार्वजनिकरूप से वितरित करने लगे। उन्होंने सांसारिक जीवों की विविध आधि, व्याधि, उपाधि, विविध अवस्थाओं का मूल कर्म को बताया। कृतकर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं हो पाता। आत्मा से परमात्मा के पृथक्भाव को भी कर्म-जनित बताया। जहाँ-जहाँ भी अवसर मिला, अथवा जो-जो जिज्ञासु उनके या उनके संघ के साधुओं के सम्पर्क में आये, वहाँ-वहाँ इन्होंने यज्ञवाद, देववाद या ईश्वरकर्तृत्ववाद के सम्बन्ध में युक्तिसंगत चर्चा की और कर्मवाद की ही प्रतिष्ठा की। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और वैश्य वर्णों को जन्म से न मान कर कर्म से मानने के सिद्धान्त का निरूपण किया। उत्तराध्ययन और भगवतीसूत्र में यत्र-तत्र कमवाद के आविष्करण की चर्चा मिलती है।

कर्मवाद के तिरोभाव होने में तीन प्रबल कारण

भगवान् महावीर ने देखा कि भारत में कर्मवाद के तिरोभाव होने में तीन प्रबल भ्रान्त मान्यताएँ प्रचलित हैं जिनको लेकर सामान्य जनसमूह ही नहीं, विद्वान पण्डित वर्ग भी भ्रान्त है। उन तीन मान्यताओं को युक्ति, अनुभूति और प्रमाणों से निराकरण करके और जनता को अनेकान्त (सापेक्ष) दृष्टि से सत्य समझाने के लिए वे कटिबद्ध हुए। कर्मवाद के आविर्भाव में ये तीन मान्यताएँ प्रबल बाधक थीं—(१) वैदिक परम्परा की ईश्वर-सम्बन्धी भ्रान्त मान्यता, (२) बौद्ध धर्म के एकान्त क्षणिकवाद की अयुक्त मान्यता और (३) आत्मा का जड़तत्त्वों के अन्तर्गत स्वीकार।[1]

ईश्वर कर्तृत्ववाद की मान्यता में तीन मुख्य भूलें

भगवान् महावीर के युग में जैन के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध ये दो धर्म भी भारतवर्ष में मुख्य थे। परन्तु दोनों के सिद्धान्त मुख्य-मुख्य विषयों में नितान्त पृथक् थे। वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों में तथा वेदानुगामी कतिपय अन्य दर्शनों में ईश्वर सम्बन्धी ऐसी कल्पनाएँ थीं, जो युक्ति, सूक्ति, अनुभूति और प्रामाणिकता की कसौटी पर खरी नहीं उतर रही थीं। जैसा कि ऋग्वेद में कहा गया है—"उस विधाता (ब्रह्मा—

---

१. कर्मग्रन्थ प्रथम भाग (पं. सुखलाल जी) की प्रस्तावना पृ. ९

प्रजापति) ने सूर्य, चन्द्र, द्यौ, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग आदि सबकी रचना यथापूर्व की।[1]

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है—"जिससे ये सब भूत (प्राणी) जन्म लेते हैं, जिससे जातक (जीव) जीते हैं, वही पालन-पोषण करता है, जिसमे सभी समाविष्ट (विलीन) हो जाते हैं, उसे विशेषरूप से जानो। वह ब्रह्म है[2]।" इसी प्रकार मनुस्मृति में कहा गया है—"यह सृष्टि आदिकाल में तमोमय थी; अज्ञात, अलक्षित, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, चारों ओर से प्रसुप्त (व्याप्त) थी, उस अव्यक्त भगवान् स्वयम्भू ने इसे व्यक्त किया। महाभूत आदि में अन्धकार निवारक ओज धारण करके वह स्वयं प्रादुर्भूत हुआ। उसने यह कहकर अपने शरीर से विविध प्रजा (प्राणियों) का सृजन किया। उसने सर्वप्रथम जल का सृजन किया। उसमे बीज का सृजन किया। फिर वह सहस्रांशु (सूर्य) के समान प्रभा वाला स्वर्णमय अण्डा हो गया। उसमें स्वयं सर्वलोक-पितामह ब्रह्मा ने जन्म लिया।"[3]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विधाता, ब्रह्म, ब्रह्मा तथा ईश्वर आदि के विषय में आम धारणा यह बन गई थी कि जगत् (सृष्टि) का कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता ईश्वर ब्रह्मा ही है। वही समस्त जड़-चेतन सृष्टि का उत्पादक है। सृष्टि में जो कुछ अच्छा-बुरा होता है, वह सब ईश्वर की लीला है। ईश्वर ही अच्छे या बुरे कर्मों का फल जीवो से भुगवाता है। कर्म अपने आप मे जड़ हैं। वे अपना फल स्वय नही दे सकते। इसी तरह संसार में सभी प्राणी अज्ञ है, वे अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल स्वय नही भोग सकते। अतः कर्म भी ईश्वर की प्रेरणा से अपना फल देते हैं, और ईश्वर के द्वारा ही अच्छे-बुरे कर्मों का सुख-दुःख रूप फल का भुगतान होता है।

---

१. "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।
दिव च पृथिवी, चान्तरिक्षमथो स्वः॥ —ऋग्वेद म. १०, सू. १९ मं. ३

२. यतो वा इमानि भूतानि जायते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्थ तद्ब्रह्मेति। —तैत्तिरीयोपनिषद् ३-१

३. आसीदिद तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥५॥
ततस्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादिषु सुतेजः प्रादुरासीत्तमोनुदः॥६॥
सोऽपि विधाय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव स सर्जादौ, तासु बीजमिवासृजत्॥८॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशु-समप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक-पितामहः॥९॥
—मनुस्मृति अ. १. श्लोक ५ से ९ तक

दूसरी बात यह है, जीवों में उत्कृष्ट मानव है, परन्तु वह भी जीव ही रहता है, चाहे वह उच्च कोटि की साधना करले, चाहे कितने ही तप, संयम का आचरण करले, वह परमात्मा नहीं बन सकता है। नौकर चाहे जितना ऊँचा वेतन पा ले, चाहे जितना उच्चकोटि का कार्य करले, वह नौकर ही रहता है, मालिक नहीं बन सकता। इसी प्रकार जीव चाहे जितनी क्रियाएँ, तपस्याएँ एवं अर्चना-प्रार्थना करले, अपना सर्वोच्च विकास करके ईश्वर नहीं हो सकता। ईश्वर की कृपा के बिना संसार-सागर से कोई भी जीव पार नहीं हो सकता।

इसी प्रकार वैदिक परम्परा की ईश्वर-सम्बन्धी मान्यताएँ भगवान् महावीर के कर्म-सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत एवं युक्तिविरुद्ध प्रतीत हुईं। इन मान्यताओ मे उन्हें मुख्यतः तीन भूलें दृष्टिगोचर हुई—(१) कृतकृत्य ईश्वर का निष्प्रयोजन सृष्टि की रचना आदि कार्यों में हस्तक्षेप करना, (२) आत्मा की शक्ति एवं स्वतंत्रता का ईश्वर के नीचे दब जाना, सब कार्यों मे ईश्वराधीनता स्वीकारना और (३) कर्म की प्रचण्ड शक्ति के चमत्कार का अबोध। इन्ही तीन भूलों का परिमार्जन करने और संसार के समक्ष वस्तुस्थिति का यथार्थ प्रतिपादन करने के लिए भगवान् महावीर ने कर्मवाद का रहस्य प्रकट किया।

ईश्वर द्वारा सृष्टि का सृजन मानना, कृतकृत्य और सिद्ध-बुद्ध सर्व-कर्ममुक्त, निरंजन-निराकार ईश्वर को व्यर्थ ही संसार के प्रपंच में और जन्म-मरणरूप संसार के कारणभूत कर्मों के पचड़े में डालना है। ईश्वर जब कृतकृत्य और कर्मों से सर्वथा मुक्त हो गया, तब उसे सृष्टि की रचना करने की क्यों आवश्यकता पड़ी? सृष्टि की रचना किये बिना ईश्वर को क्या तकलीफ थी? फिर रचना भी की तो, ऐसी सृष्टि क्यों बनाई, जिसमें आधि, व्याधि और उपाधि से प्राणी पीड़ित होते रहें? जिसमें कामनाओं और वासनाओं की ज्वालाएँ धधक रही हों, जहाँ शान्ति की सुव्यवस्था का नामोनिशान न हो, जहाँ दुःख ही दुःख व्याप्त हो? यदि ईश्वर ही सर्वेसर्वा है, उसी की प्रेरणा से संसार में सब कुछ होता है, वह सर्वशक्तिमान है, तो जनजीवन के दुःखो की भट्टी जलाने का काम क्या उसी की प्रेरणा से हुआ है? चोर और डाकू भी क्या उसी की प्रेरणा से चोरी और डकैती करते हैं? आततायी, गुंडे और व्यभिचारी लोग क्या उसी की प्रेरणा से निर्दोष अबलाओं का शीलभंग एवं उनके साथ बलात्कार करते हैं? कसाई क्या उसी की प्रेरणा से पशुओं की गर्दनों पर छुरियाँ चलाता है?

अतः न तो ऐसे किसी क्रूर व्यक्ति को ईश्वर कहा जा सकता है और न ही सर्वशक्तिमान होकर तथाकथित ईश्वर ऐसा कर सकता है। अतः यही

मान्यता उचित है कि संसार की रचना तथा सांसारिक प्राणियों को कर्मफल भुगवाने तथा सुख-दुःख देने में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। संसारी जीव जो कुछ करता है उसका दायित्व उसी पर रहता है। कर्मफल भुगवाने के लिए उसे किसी ईश्वर या विधाता की आवश्यकता नहीं रहती, कोई चाहे या न चाहे, कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। कोई प्राणी चाहे या न चाहे, कर्मों में स्वतः ऐसी शक्ति है कि वे स्वयं कर्त्ता को अपना फल दे देते हैं। जैसे—भांग या शराब का चेतन के साथ संयोग होते ही वे दोनों नशा चढ़ा देती हैं वैसे कर्म भी विविध रूप में चेतना पर आवरण डाल कर उसे सुख-दुःख रूप फल प्रदान करते हैं।

जीव सदा-सदा के लिए जीव ही रहता है, वह आत्मा से परमात्मा नहीं बन सकता, यह मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं है। कारण यह है कि पूर्वबद्ध कर्मों के आत्यन्तिक क्षय और नये आते हुए कर्मों का विरोध करने से वह जीव (आत्मा) भी सर्वकर्म रहित होकर सिद्ध-बुद्ध मुक्त परमात्मा बन सकता है।[1] कोई भी युक्ति, तर्क या अनुभूति इसका खण्डन नहीं कर सकती। प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है, बशर्ते कि वह कर्मों का सर्वथा क्षय कर डाले।

इसके अतिरिक्त कर्म जड़ (पुद्गल) अवश्य है, किन्तु यह अपनी विलक्षण शक्ति का चेतन पर अवश्य प्रभाव दिखाता है। जैसे रसायन आदि औषधियाँ जड़ होती हुई भी अपना प्रभाव चेतन पर दिखाती है। वैसे ही कर्म जड़ होते हुए भी अपना प्रभाव चेतन पर दिखलाते हैं, तब आश्चर्य-चकित कर देते हैं।

बौद्ध दर्शन कर्मवाद को मानने पर भी क्षणिकवादी था

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध दोनों समकालीन महापुरुष थे। जैनधर्म की तरह बौद्ध धर्म भी उस समय प्रचलित था। उसमें ईश्वरकर्तृत्व का निषेध नहीं था, तो उसका स्वीकार भी नही था। इस तथ्य के सम्बन्ध में तथागत बुद्ध उदासीन थे। उनका उद्देश्य उस युग में प्रचलित विविध यज्ञादि अनुष्ठानों में हिंसा को रोकना और निर्वैरभाव को फैलाना था। उनकी तत्वनिरूपण पद्धति भी उस तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के अनुरूप थी। वे कर्मवाद के सन्दर्भ में कर्म और उसके विपाक को मानते थे। सुत्तनिपात में इसका स्पष्ट रूप से निरूपण भी है कि यह समग्र लोक कर्म

---

१. (क) अप्पा वि य परमप्पो, कम्म विमुक्को य होइ फुडं। —भावपाहुड १५१

(ख) तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए। —उत्तराध्ययन ३/२०

(ग) "खवित्तु कम्म गइमुत्तम गया।" —दशवैकालिक अ. ९ उ. २ गा. २४

से प्रवर्तित है और सारी प्रजा (प्राणिगण) भी कर्म से प्रवर्तित है। जैसे धुरी के आधार पर रथ का संचालन होता है, वैसे ही कर्म के कारण सभी प्राणियों का भवभ्रमण होता है।[1] इसी प्रकार अंगुत्तरनिकाय में भी स्पष्ट प्रतिपादन है कि "मैं जो कुछ भी कल्याणकारी और पापकारी कर्म करूँगा, उसका उत्तरदायीं (दायाद=भागी) मैं ही होऊँगा।"[2]

कर्मवाद को इस रूप में मानने पर भी बौद्धदर्शन में क्षणिकवाद का महत्वपूर्ण स्थान था। क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाती है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदलता रहता है। कोई भी सजीव-निर्जीव पदार्थ स्थायी नहीं है। बौद्ध दर्शन के अनुसार आत्मा को यदि क्षणिक मान लिया जाए तो कर्मफल की उपपत्ति कथमपि नहीं हो सकती। क्योंकि कर्म का जो करने वाला था, वह दूसरे ही क्षण समाप्त हो गया, तब उस कृतकर्म का फल कौन भोगेगा? फलतः स्वकृत-कर्मफलभोग की समस्या आत्मा को क्षणिक मान लेने से किसी भी प्रकार हल नहीं हो सकती। अतः स्वकृत कर्म का स्वयं फलभोग और परकृत कर्म के फलभोग का अभाव तभी घटित हो सकता है, जब आत्मा को एकान्त क्षणविध्वसी न मानकर परिणामी-नित्य माना जाए, अर्थात्— आत्मा को न तो एकान्त क्षणिक माना जाए और न ही एकान्त नित्य। यह मान्यता कर्मवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध होने से भगवान् महावीर ने कर्मवाद का उपदेश दिया।

भूतचैतन्यवादियों का मत कर्मवाद विरोधी था

आत्मा को स्वतंत्र तत्त्व न मानकर चार्वाक आदि दर्शन, वर्तमान भौतिकवादी नास्तिको की तरह पृथ्वी आदि पंचभूतों से निष्पन्न मानते थे। उनका कहना था कि पंचभूतों के संयोग से इस शरीर में चेतना आ जाती है, और पाँच भूतो के नष्ट होते ही वह चेतना भी नष्ट हो जाती है। संयोग जब वियोग का रूप ले लेता है तो वह शरीरगत चैतन्य (जिसे चाहे आत्मा मान लो) वही समाप्त हो जाता है। उसके बाद वह न कहीं जाता है, न आता है।

---

१. कम्मना वत्तती लोको, कम्मना वत्तती पजा।
कम्मनिबंधना सत्ता रथस्साणीव यायतो॥ —सुत्तनिपात-वासिट्ठसुत्त ६१

२. यं कम्मं करिस्सामि कल्लाणं वा पावकं वा तस्स दायादो भविस्सामि।
—अंगुत्तरनिकाय

निष्कर्ष यह है कि ये भौतिकवादी नास्तिक शरीर के नाश होने के बाद कृतकर्मों का फल-भोग करने वाले तथा पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले किसी स्थायी तत्त्व को नहीं मानते ।

भगवान् महावीर को यह मान्यता भ्रान्तिजनक, युक्तिविरुद्ध और अनिष्टकारक प्रतीत हुई। उन्होंने सूत्रकृतांगसूत्र में ईश्वरकर्तृत्ववाद, तथा तज्जीव-तच्छरीरवाद-सम्बन्धी भ्रान्त मान्यताओं का खण्डन किया है। वे आत्मा को एक स्वतंत्र, शाश्वत, अनादि-अनन्त एवं परिणामी-नित्य द्रव्य मानते हैं। पंच महाभूतों के समुदाय से आत्मा की उत्पत्ति उन्हें कथमपि अभीष्ट नहीं है। इसी भ्रान्त मान्यता का निराकरण करने हेतु भगवान् महावीर ने कर्मवाद सिद्धान्त को जगत् के समक्ष उद्घोषित किया। कर्मवाद की दृष्टि से आत्मा मूलरूप में कभी नष्ट नहीं होती। कर्म के कारण विभिन्न योनियों और गतियों मे भ्रमण करती है।

इन और ऐसे ही विभिन्न कारणों से तिरोहित हुए कर्मवाद सिद्धान्त का भगवान् महावीर ने आविर्भाव किया।

■

५

कर्मवाद के समुत्थान की ऐतिहासिक समीक्षा

कर्मवाद का मूल स्रोत

कर्मवाद के आविर्भाव के विषय में जैनपरम्परा और वैदिक परम्परा दोनों दृष्टियों से विश्लेषण कर चुके हैं। उससे यह तो स्पष्टतः प्रतीत हो जाता है कि कर्मवाद यों तो प्रवाहरूप से अनादि है, नया नहीं। फिर भी इस कालचक्र के अवसर्पिणीकाल के प्रारम्भ से—आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के युग से प्रागैतिहासिक काल प्रारम्भ होता है। इसलिए प्रागैतिहासिक काल से कर्मवाद का आविर्भाव आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव (जिनकी जीवनी भागवत पुराण में भी उल्लिखित है) से माना जाना चाहिए। उसी कर्मवाद का प्रवेश सर्वप्रथम मीमांसादर्शनकाल में, और तत्पश्चात् उपनिषद्काल में अपने-अपने ढंग से हुआ है। परन्तु कर्मवाद का मूलस्रोत और उससे सम्बन्धित प्रत्येक पहलुओं का वैज्ञानिक पद्धति से सयुक्तिक विशद प्रतिपादन जितना जैनपरम्परा में मिलता है, उतना अन्य परम्पराओं मे नहीं।[1]

जैनदृष्टि से कर्मवाद का समुत्थानकाल

यह तो हुआ कर्मवाद के उद्भव और तत्पश्चात् उसके आविर्भाव (आविष्करण) का काल सम्बन्धी निर्णय, किन्तु इतने पर से वर्तमान तर्कप्रधान युग के शिक्षितों और अध्यात्मप्रेमी जिज्ञासुओं, इतिहासप्रेमी जैनों, तथा जैनेतर जिज्ञासु विचारकों का मनःसमाधान नहीं होता। वे परम्परावाद को या सुदूर अतीत की बात को बिना ननु-नच किये मानने को सहसा तैयार नहीं होते। हाँ, यदि ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर उनका समाधान किया जाए तो वे उसे स्वीकार करने में जरा भी नहीं हिचकिचाते।

यद्यपि कर्मतत्त्वसम्बन्धी प्रक्रिया इतनी प्राचीन है कि उस विषय में निश्चितरूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि कर्मवाद का समुत्थान

१. इसके विषय में विशेष जानकारी के लिए 'कर्मवाद का आविर्भाव' लेख देखिये।

और विकास कब से प्रारम्भ हुआ-? इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्वकाल में भी कर्मतत्त्व-चिन्तकों में परस्पर विचार-विमर्श पर्याप्त मात्रा में हुआ करता था। प्रत्येक निवर्तक-धारा के चिन्तक-वर्ग ने अपने-अपने दर्शन में कर्मवाद का एक या दूसरे रूप में अवश्य ही विचार किया है। परन्तु जैन परम्परा में कर्मविज्ञान पर जितनी गहराई से श्रृंखलाबद्ध और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण और उसके प्रत्येक पहलू पर जितना अधि विवेचन हुआ है, उतना किसी अन्य-परम्परा में नहीं हुआ। इससे एक तथ्य स्पष्टतया अभिव्यक्त होता है कि जैनपरम्परा की कर्मविद्या का विशिष्ट निरूपण प्रत्येक तीर्थंकर ने किया। ऐतिहासिक दृष्टि से तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ से पहले वह अवश्य स्थिर हो चुका था। इसी विद्या के कारण जैन मनीषी कर्म-शास्त्रवेत्ता कहलाए और यही कर्मविद्या चतुर्दश पूर्व-शास्त्रों में से अग्रायणीय पूर्व तथा कर्मप्रवादपूर्व के रूप में उपनिबद्ध एवं विश्रुत हुई।

यद्यपि यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भगवान् महावीर से पूर्व भी उनके समान ही भगवान् पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि जैनधर्म के तीर्थंकर एवं मुख्य-मुख्य प्रवर्तक हुए हैं, और उन्होंने भी अपने-अपने युग में जैनशासन (धर्मसंघ) का प्रवर्त्तन भी किया है। सभी इतिहासज्ञ उन्हें जैनधर्म के धुरन्धर नायक एव ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। ऐसी स्थिति में जैनदृष्टि से कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास का काल उन तीर्थंकरो के समय से माना जाए तो क्या आपत्ति है ?

इस विषय में प्रज्ञाचक्षु पं. सुखलालजी का समाधान द्रष्टव्य है[1]— "यह बात भूलनी न चाहिए कि भगवान् नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ आदि जैन धर्म के मुख्य प्रवर्तक हुए हैं और उन्होंने जैनशासन को प्रवर्तित भी किया है; परन्तु वर्तमान मे जैन-आगम, जिन पर इस समय जैनशासन अवलम्बित है, वे उनके उपदेश की सम्पत्ति नहीं।"........

"यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि इस समय जो जैनधर्म श्वेताम्बर-दिगम्बर शाखा रूप से वर्तमान है, इस समय जितना जैन तत्त्व ज्ञान है, और जो विशिष्ट परम्परा है, वह सब भगवान् महावीर के विचार का चित्र है। अतः कर्मवाद के समुत्थान का.....यही समय.......अशंकनीय समझना चाहिए।"

कर्मवाद के समुत्थान का मूलस्रोत

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराएँ समानरूप से मानती हैं कि बारह अंग और चौदहपूर्व भगवान् महावीर के विशद उपदेशों का

१. कर्मग्रन्थ प्रथम भाग की प्रस्तावना, पृ. ९ से उद्धृत

साक्षात् फल है। फलितार्थ यह है कि वर्तमान में उपलब्ध समग्र कर्मशास्त्र शब्दरूप से नहीं तो, भावरूप से भगवान् महावीर के द्वारा[१] गणधरदेवों के समक्ष साक्षात् उपदिष्ट है।

दूसरा अभिमत यह भी है कि समस्त अंगशास्त्र (द्वादशांगी) भावरूप से भगवान् महावीरकालिक ही नहीं, अपितु पूर्व-पूर्व में हुए अन्यान्य तीर्थंकरों से भी पूर्व-काल के हैं। अर्थात् वे अनादि हैं। किन्तु प्रवाहरूप से अनादि होते हुए भी समय-समय होने वाले तीर्थंकरों द्वारा वे अंगशास्त्र (अंगविद्याएं) नया नया रूप धारण करती रहीं।[२] गणधरदेव अर्थरूप (भावरूप) से उपदिष्ट अंगविद्याओं को शब्दबद्ध, सूत्रबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से सकलित-ग्रथित करते हैं।

कर्मवाद सम्बन्धी सांगोपांग वर्णन का मूलस्रोत

यद्यपि जैन-आगमों में से कोई भी आगम या द्वादशांगी के दृष्टिवाद को छोड़कर ग्यारह अंगो में से कोई भी अंगशास्त्र ऐसा नहीं है, जिसमें केवल कर्मवाद सम्बन्धी विस्तृत विवेचन हो। वर्तमान में उपलब्ध जैन-आगमों में जैनकर्मवाद का स्वरूप एव विवेचन अमुक प्रमाण में किसी एक दो अध्ययन, शतक या उद्देशक में छुटपुट रूप से हुआ है, वह भी बहुत ही सक्षेप में। अतः इतने अल्प प्रमाण मे उपलब्ध विवेचन कर्मवाद के महत्त्व एवं रहस्य को उजागर करने में अंगरूप नहीं बन सकता। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है, और उठना भी चाहिए कि जैनदर्शन के प्राणरूप कर्मवाद की विस्तृत व्याख्या का मूलस्रोत कौन-सा है? जैन कर्मवाद के पुरस्कर्ताओं एवं व्याख्याताओं का कहना एवं मानना है कि जैनकर्मवाद के तत्त्वों पर मौलिक एवं विस्तृत समग्र व्याख्या का, दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, जैनदृष्टि से कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास का मूल स्रोत 'कर्मप्रवाद-पूर्व' नामक महाशास्त्र है। कर्मप्रवाद पूर्व गणधरदेव द्वारा संकलित एव शास्त्ररूप में ग्रथित (निबद्ध) चौदह पूर्व शास्त्रों में से आठवाँ पूर्वशास्त्र है। 'कर्मप्रवाद' नाम से ही स्पष्ट बोध होता है कि इसमें 'कर्मवाद' अथवा कर्मतत्त्व से सम्बन्धित सांगोपांग एवं विस्तृत वर्णन था।

इसके अतिरिक्त 'अग्रायणीय' नामक द्वितीय पूर्व के एक विभाग का नाम था—कर्मप्राभृत (कम्म-पाहुड), तथा पंचम पूर्व के एक विभाग का नाम

---

१. अत्थं भासई अरहा, सुत्तं गंथति गणहरा।

२. प्रमाणमीमांसा पृ. १

था—कषाय प्राभृत (कसाय-पाहुड)। इन दोनों प्राभृतों (पाहुडों) में भी कर्म से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर सांगोपांग विशद विवेचन था।

चतुर्दश विभागों में विभक्त पूर्वविद्या का यह (कर्मवाद-सम्बन्धी) विभाग सबसे बड़ा, अतीव महत्त्वपूर्ण एवं सबसे पहला था। कर्मवाद-सम्बन्धी इन पूर्वशास्त्रों का अस्तित्व तब तक माना जाता है, जब तक पूर्वविद्या का विच्छेद नहीं हुआ। श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के नौ सौ अथवा एक हजार वर्ष तक पूर्वविद्या सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुई थी। अतः यहीं से ही कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास का प्रारम्भ समझना चाहिए।

यद्यपि काल के प्रभाव से पूर्वविद्यागत ये मूल महाशास्त्र विस्मृति और विलुप्ति के गर्भ में चले गए हैं। कालक्रम से उक्त पूर्वविद्या का ह्रास हो जाने पर भी आज हमारे समक्ष उपलब्ध कर्मवाद-सम्बन्धी साहित्य पूर्वगत कर्म महाशास्त्र के आधार पर रचित साहित्य है। इस समय श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैनधर्म-शाखाओं के साहित्य में पूर्वात्मिक कर्मशास्त्र का मूल अंश उपलब्ध नही है। फलतः कर्मशास्त्र सम्बन्धी साहित्य के परवर्ती रचयिताओं को कर्मवाद-विषयक कितने ही तथ्यों की व्याख्या प्रसंग-प्रसंग पर छोड़ देनी पड़ी है। साथ ही, कई स्थलो पर विसंवादी प्रतीत होने वाले कर्मतत्त्व-सम्बन्धी वर्णन श्रुतधरों, श्रुतकेवलियो अथवा केवलज्ञानियों पर छोड़ दिये गए हैं।

मूल के आधार पर रचित कर्म-साहित्य

वस्तुतः मूल मूल ही है। उसके आधार पर रचित साहित्य मूल की समानता नहीं कर सकता। समय के प्रभाव से मूल वस्तु में कुछ न कुछ परिवर्तन होना स्वाभाविक है। समय के प्रभाव से जैनकर्मसिद्धान्त विषयक साहित्य के पुरस्कर्त्ता आचार्य श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गए थे। भ. महावीर के बाद ऐसा संकटापन्न मध्यवर्ती काल आया—बारह-बारह वर्ष के दो दुष्कालो ने जैनकर्मविद्या के मर्मज्ञों की स्मृति, मति एवं धारणाशक्ति तथा पल्लवितशक्ति छिन्न-भिन्न कर दी थी।

इसके अतिरिक्त आगमों एवं पूर्वों का जो कुछ भी ज्ञान था, वह श्रुत-परम्परा से चला आ रहा था। अभी तक वह लिपिबद्ध नहीं किया गया था। इसलिए बहुत सम्भव है, इस विकट परिस्थिति के कारण पूर्वगत कर्मशास्त्रीय विद्या के मूल प्रवर्तक की भाषा और शैली से बाद के दोनों जैन सम्प्रदायों के कर्मशास्त्रज्ञ आचार्यों की शास्त्रीय भाषा और प्रतिपादन-शैली में कुछ अन्तर आ गया हो। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि पूर्वगत कर्मविद्या के आधार पर रचित कर्मवाद-सम्बन्धी साहित्य में वर्णित

तत्त्वज्ञान और तात्त्विक व्याख्यान में दोनों परम्पराओं का प्रतिपादन समान रहा। मूल तत्त्वों और तत्त्व-प्ररूपणा में कोई अन्तर नहीं पड़ा।

हाँ, ग्रन्थकारों के क्षयोपशम के अनुसार वस्तुवर्णन एवं तत्त्वों के विवेचन में विशदता-अविशदता, सुगमता-दुर्गमता या न्यूनाधिकता अवश्य हुई है और होनी सम्भव है। किन्तु दोनों सम्प्रदायों के महान् मनीषियों द्वारा रचित विपुल कर्मसाहित्य को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने कर्मसिद्धान्त का गौरव कम किया है। इस पर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कर्मवाद का उत्तरोत्तर समुत्थान और विकास जैन मनीषियों ने किस प्रकार किया है। यही कर्मविषयक विपुल-साहित्य जैनदर्शन की बहुमूल्य निधि है।

नयवाद आदि के समान कर्मवाद का समुत्थान भी भ. महावीर से

वर्तमान श्वेताम्बरीय जैनागम भगवती (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) सूत्र एवं उत्तराध्ययनसूत्र में भी कर्मविद्या के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से वर्णन किया गया है। वर्तमान जैन आगमों की रचना किस समय और किसके द्वारा हुई? यह प्रश्न इतिहासज्ञों की दृष्टि से भले ही विवादास्पद हो, किन्तु इतना तो सभी विचारकों को मान्य है कि वर्तमान आगमों में वर्णित नयवाद, निक्षेपवाद, प्रमाणवाद, स्याद्वाद एवं कर्मवाद आदि सभी विशिष्ट एव प्रमुख वाद श्रमण भ. महावीर के ही मूल विचारों के अंकुर हैं। कर्मवाद जैनदर्शन का असाधारण एवं प्रमुख वाद है। अतः नयवाद, प्रमाणवाद आदि वादों की तरह कर्मवाद का समुत्थान भी भ. महावीर से ही समझना चाहिए। जैनदर्शन का गहराई से अध्ययन करने वाले जानते हैं कि कर्मवाद का भ. महावीर के शासन (धर्मसंघ) के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कर्मवाद को उससे पृथक् कर दिया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा, मानो जीव से प्राण को अलग कर दिया हो। वस्तुतः कर्मवाद जैन सिद्धान्त की चर्चाओं का मूलस्रोत है। भारतीय तत्त्व चिन्तन में उसका विशिष्ट स्थान है। अनेक प्रश्नों का समाधान भी कर्मवाद पर आधारित है। कर्मवाद का सांगोपांग अध्ययन एवं उसे हृदयंगम किये बिना कोई भी व्यक्ति जैन सिद्धान्त का सम्यक् मर्मज्ञ नहीं हो सकता, न ही उसकी अनेक अटपटी गुत्थियों को आसानी से सुलझा सकता है।

वैदिक दृष्टि से कर्मवाद का समुत्थान

कतिपय विद्वानों का यह भी अभिमत है कि वेदों के रचयिता कतिपय ऋषिगण कर्मवाद के ज्ञाता थे।[1] उनका मन्तव्य है कि वेदों-

१. देखिये—'कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' से (जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक) पृ. २०

संहिताग्रन्थों में भले ही 'कर्मवाद' या 'कर्मगति' आदि शब्दों का प्रयोग न हो, किन्तु उनमें कर्म से सम्बन्धित कुछ तथ्यों का प्रतिपादन अवश्य हुआ है। 'ऋग्वेद' में यह वर्णन है कि पूर्वजन्म के निकृष्ट कर्मों के भोग के लिए जीव किस प्रकार वृक्ष, लता आदि स्थावर-शरीरों में प्रविष्ट होता है। वैदिक मंत्रों में यह भी वर्णन है कि पूर्वजन्म के दुष्कर्मों के कारण ही लोग पापकर्म में प्रवृत्त होते हैं। 'वामदेव' ने अपने अनेक पूर्वजन्मों का वर्णन भी किया है। कतिपय वेदमंत्रो मे संचित और प्रारब्ध कर्मों का भी संकेत है। साथ ही यह भी कहा गया है कि श्रेष्ठकर्म करने वाले लोग देवयान से ब्रह्मलोक में जाते हैं, और साधारण कर्म करने वाले पितृयान से चन्द्रलोक में जाते हैं। कितने ही मंत्रो में स्पष्टरूप से यह निरूपण है कि कर्मों के अनुसार ही जीव अनेक बार ससार मे जन्म लेता है और मरता है। शुभ कर्म करने से अमरत्व की प्राप्ति होती है। कई वेदमंत्रो में पूर्व-जन्मकृत पापकृत्यो से तथा परकृत पापों से मुक्त होने के लिए अथवा बचने के लिए मानवो द्वारा देवो से प्रार्थना की गई है। निम्नोक्त मंत्र इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

"मा वो भुजेमान्यजातमेनो।"
"मा वा एनो अन्यकृतं भुजेम ॥"

'हम अन्य जन्म के पाप को न भोगे, और न ही अन्य-कृत पाप को भोगे।'

इन मत्रो से यह भी परिलक्षित होता है कि वैदिककाल मान्य देवों से प्रार्थना करने से जीव अपने पूर्वजन्मकृत पाप के फल-भोग से तथा अन्यजीवकृत पापो के फल-भोग से बच सकता था। यद्यपि मुख्यरूप से कर्मसिद्धान्त का नियम यह है कि जो जीव कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, चाहे वे कर्म पूर्वजन्मकृत हो, चाहे इस जन्मकृत हो। परन्तु यहाँ देववाद की मान्यता से प्रभावित वैदिक लोग मानते थे कि विशिष्ट शक्ति के निमित्त से एक जीव के कर्मफल को दूसरा भी भोग सकता है। इसके अतिरिक्त देवो के विशेषण के रूप मे ऋग्वेदसंहिता में कतिपय मंत्रो का उल्लेख मिलता है, जो कर्म से सम्बन्धित हैं। जैसे—**'शुभस्पतिः'** (शुभकर्मों के रक्षक) **'धियस्पतिः'** (बौद्धिक सत् कार्यों के रक्षक), **'विचर्षणिः'** 'विश्वचर्षणिः' (शुभ और अशुभ कार्यों के द्रष्टा) तथा **'विश्वस्य कर्मणो धर्ता'** (समस्त कर्मों के आधार) इत्यादि पद कर्मवाद के बीजरूप में व्यवहृत हुए हैं।

इन और ऐसे ही अन्य प्रमाणो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वेदों मे कर्म-सम्बन्धी मन्तव्यों का पूर्णरूप से अभाव तो नहीं है, परन्तु देववाद, यज्ञवाद एवं पुरोहितवाद के प्राबल्य से कर्मवाद का

युक्ति-तर्क-संगत स्पष्ट और व्यवस्थित विश्लेषण नहीं किया गया। इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि कर्म क्या है ? वह कितने प्रकार का है ? कर्म किस प्रकार से बंधते हैं और कौन-सा कर्म किस प्रकार का फल देता है ? कर्मों का फल जीव कैसे और कब भोगता है ? क्या शुभकर्म को अशुभ मे और अशुभ कर्म को शुभ में बदला जा सकता है ? या फल देने की अवधि से पहले ही फल भोगा जा सकता है ? कर्मों का बन्ध किस प्रकार, कितने और कितनी मात्रा में, किस अनुपात में होता है ? कर्मों से प्राणी अंशतः और सर्वांशतः कैसे मुक्त हो सकता है ? किस कर्म का क्षय करने का क्या उपाय है ?

इन और इनसे सम्बन्धित जिज्ञासाओं का समाधान वैदिक संहिताओं में नहीं है। वहाँ मुख्यरूप से यज्ञ या वेदविहित अनुष्ठान या कर्मकाण्ड को ही कर्म माना गया है और पद-पद पर उन कामनामूलक कर्मों की सफलता के लिए विविध देवों से याचना की गई है। इससे यह स्पष्ट है कि वहाँ विविध कर्मों में रचे-पचे रहने का ही उल्लेख है। अधिक से अधिक हुआ तो यज्ञों और देवो की पूजा-प्रार्थना से उन कर्मों पर शुभ की मुहरछाप लगवाकर स्वर्ग प्राप्त करने का अवश्य विधान है, किन्तु कर्मों का क्षय करने की, तथा कर्मों से आंशिकरूप से या सर्वांशतः मुक्त होने का विधान वहाँ बिल्कुल नही है। मोक्ष की—कर्मों से सर्वथा मुक्ति की वहाँ चर्चा ही नही है। कर्मकाण्डी मीमांसकों की दौड़ तो स्वर्गलोक तक ही है, उससे आगे नहीं।

यह हुई कर्मवाद के समुत्थान की वैदिक दृष्टि से ऐतिहासिक समीक्षा। ऐतिहासिक दृष्टि से कर्मवाद के विकास पर चिन्तन करते समय हमें वेदकालीन कर्मसम्बन्धी विचारो पर इतना चिन्तन करना आवश्यक था; क्योंकि उपलब्ध साहित्य में वेद सबसे प्राचीन माना जाता है।

वैदिक की अपेक्षा जैनपरम्परा में कर्मवाद का सांगोपांग विकास

दोनों परम्पराओं की दृष्टि से जब हम कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास की ऐतिहासिक समीक्षा करते हैं तो हमारे समक्ष यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि जैन-दर्शन के कर्मतत्त्व-मर्मज्ञों ने कर्मवाद का जितना समुत्थान एव विकास किया है, उतना वैदिक मनीषियो ने नहीं। जैनकर्मशास्त्रियों ने कर्मतत्त्व का सांगोपांग चिन्तन-मनन एवं विश्लेषण किया है। उनका ध्यान कर्मवाद के प्रत्येक पहलू पर गया है। साथ ही उन्होंने कर्मवाद के सम्बन्ध मे लोकमानस मे उठती हुई शंकाओं का बहुत ही सुन्दर ढंग से युक्तियुक्त समाधान किया है, युगसमस्याओं का भी

कर्मविज्ञान के द्वारा हल सुझाया है। जबकि सांख्य और योगदर्शन ने कर्मवाद पर अपने ढंग से चिन्तन अवश्य किया था, मगर इन दोनों ने प्रायः ध्यान और तत्त्वचिन्तन पर ही अधिकाधिक ध्यान दिया। आगे चलकर तथागत बुद्ध आए, उन्होंने भी ध्यान पर अधिक जोर दिया। यही कारण है कि कर्मवाद की बारीकी और व्यापकता पर जैनकर्मशास्त्रियों ने सर्वाधिक ध्यान दिया। उसी के फलस्वरूप विपुल कर्मसाहित्य की रचना हुई, जिसका असाधारण महत्व है, दर्शनशास्त्र के अध्येता के लिए। फिर भी सांख्य, योग एवं बौद्ध आदि दर्शनों के साथ जैनकर्मवाद का बहुत कुछ साम्य है, मौलक बातों में भी काफी समानता है।

जैनसाहित्य में कर्मवाद की प्रांजल व्याख्या

वैदिक साहित्य और बौद्ध साहित्य में भी यत्र-तत्र कर्मसम्बन्धी चिन्तन मिलता है, परन्तु वह इतना स्वल्प है कि कर्मवाद के विशिष्ट जिज्ञासु अथवा शोधार्थी विद्वान, उतने भर से अपना मनःसमाधान नहीं कर सकते। उनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ भी दृष्टिपथ में नहीं आता। प्रासंगिक रूप में यत्र-तत्र यत्किंचित् प्रकीर्णक विचार अवश्य किया गया है। किन्तु इसके विपरीत जैन वाङ्मय में कर्मवाद के सम्बन्ध में अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनमें कर्मवाद का पूर्वापरश्रृंखलाबद्ध, क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित एवं व्यापकरूप में निरूपण किया गया है। इतना ही नहीं, कर्मविज्ञान-विशेषज्ञों ने कर्म से सम्बद्ध विभिन्न तथ्यो को पारिभाषिक शब्दों में आबद्ध करके सैद्धान्तिक रूप दे दिया है। यों कहा जा सकता है कि जैन-वाङ्मय में कर्म-साहित्य का वही स्थान है, जो संस्कृत-साहित्य में व्याकरण का है। जैसे व्याकरण संस्कृतभाषा में निबद्ध साहित्य को अनुप्राणित एवं निर्वचनीकृत करता है, वैसे ही कर्मशास्त्र जैन दर्शन एवं जैनधर्म के समग्र साहित्य को अनुप्राणित एवं सुपुष्ट करता है। शब्दशास्त्र शब्दरचना को नियमबद्ध करता है, उसी प्रकार कर्मशास्त्र भी कर्मतत्त्वों को नियमबद्ध करता है। अतः जैनवाङ्मय में कर्मशास्त्र अथवा कर्मग्रन्थ के रूप में प्रख्यात कर्मसाहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्वतंत्र कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त व्याख्याप्रज्ञप्ति, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन, विपाकसूत्र, निरया- वलिका आदि आगमों में तथा परवर्ती आचार्यों एवं कर्मशास्त्र के मर्मज्ञों द्वारा रचित ग्रन्थों में कर्म-सम्बन्धी चर्चा-विचारणा विशदरूप से हुई है।

यद्यपि तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद के आधार पर संकलित एवं रचित कर्म-विषयक ग्रन्थों में सम्प्रदायभेद और भाषाभेद की दृष्टि से कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ है। भगवान् महावीर का शासन (धर्म-संघ) जिस समय दो शाखाओं में विभक्त हुआ, तब से कर्मशास्त्र

भी विभाजित-सा हो गया। सम्प्रदाय-भेद के कारण दोनों सम्प्रदायों के मनीषियों को परम पितामह भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिल-बैठकर विचार-विनिमय करने का पुण्य अवसर नहीं मिला। फलतः मूल तत्त्वों के विषय में मतभेद न होने पर भी उनकी परिभाषाओं, पारिभाषिक शब्दों एवं व्याख्याओं में और कहीं-कहीं तात्पर्य में यत्किंचित् अन्तर अवश्य हो गया। फिर भी दोनों संप्रदायों के विद्वानों द्वारा रचित कर्म-साहित्य में काफी साम्य है। तटस्थ दृष्टि से सोचें तो जैनदर्शन की मौलिक देन कर्मवाद की गरिमा को सुरक्षित रखने में उभयसम्प्रदायीय जैनाचार्य सर्वात्मना सजग रहे। कर्मवाद के मूल हार्द को उन्होंने सुरक्षित रखा।

कर्मवाद के विकास के सन्दर्भ में जब हम जैनधर्म की दोनों सम्प्रदायों द्वारा रचित कर्म-विषयक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें गौरव का अनुभव होता है, कि जो कर्म सिद्धान्त पारिभाषिक शब्दावलियों और गूढ़ परिभाषाओं में जटिल और दुरूह बना हुआ था, उसे कर्मवाद-मर्मज्ञों ने बहुत ही सरल और सरस तथा लोकभोग्य बना दिया।

कर्मवाद का विकासक्रम : साहित्यरचना के सन्दर्भ में

कर्मवाद का यह विकास किस क्रम से हुआ, कब-कब हुआ ? इस सम्बन्ध में अनादिकाल से प्रवाहरूप से चले आ रहे कर्मवाद का भगवान् महावीर से लेकर अब तक ढाई हजार वर्ष से कुछ अधिक समय तक उत्तरोत्तर जो संकलन हुआ है, उस पर विचार करना आवश्यक है। उक्त संकलन को हम तीन विभागों मे विभक्त कर सकते हैं। ये ही तीन विभाग कर्मवाद के उत्तरोत्तर विकास के तीन महायुग समझे जाने चाहिए। वे तीन विभाग इस प्रकार हैं—(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (२) पूर्वोद्धृत अथवा आकर कर्मशास्त्र, और (३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—कर्मवाद का पूर्वात्मक रूप में सकलन कर्मवाद के विकास का प्रथम महायुग था। पूर्वात्मकरूप मे संकलित कर्मशास्त्र सबसे विशाल और सबसे प्रथम हुआ था। इसका प्रतिपादन हम पहले कर चुके हैं।

(२) पूर्वोद्धृत-कर्मशास्त्र—पूर्वोद्धृत रूप में कर्मवाद के विकास का यह द्वितीय महायुग था। इसे आकर-कर्मशास्त्र भी कहते हैं। यद्यपि पूर्वात्मक कर्मशास्त्र से यह विभाग काफी छोटा है। किन्तु कर्मशास्त्र के वर्तमान अध्येताओं की दृष्टि से यह भी काफी बड़ा है।

जब भगवान् महावीर के बाद लगभग ९00 या १000 वर्ष तक पूर्वविद्याओं का ह्रास होने लगा था, तभी ऐसा समय आ गया था कि कुछ

दशपूर्वधर या कुछेक पूर्वो के ज्ञाता थे, उन्हें जितना और जैसा कर्मविषयक ज्ञान का स्मरण था, उनसे ग्रहण-धारण करके ये आकर-कर्मशास्त्र लिखे गये। यह भाग साक्षात् पूर्वो से उद्धृत माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही जैन सम्प्रदायों के विद्वानों द्वारा रचित कर्मशास्त्रों में यह पूर्वोद्धृत अंश विद्यमान है; क्योंकि ऐसा देखा गया है कि पूर्वविद्या का मूल अश विद्यमान न रहने के कारण इनमें कहीं-कहीं श्रृंखला खण्डित हो गई है। फिर भी पूर्व से उद्धृत पर्याप्त अंश इनमें सुरक्षित है।

आकर-कर्मशास्त्रों की रचना के समय तक सम्प्रदाय-भेद रूढ़ हो जाने के कारण पूर्व महाशास्त्रों से उद्धृत अंश पृथक् पृथक् नामों से प्रख्यात हैं। जैसे—श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में कर्मप्रकृति, शतक, पंचसंग्रह और सप्ततिका, ये चार महाग्रन्थ पूर्वोद्धृत माने जाते हैं। कर्मप्रकृति आचार्य शिवशर्मसूरि द्वारा रचित है, जिसका समय विक्रम की पांचवी शताब्दी माना जाता है। इसमे कर्म सम्बन्धी बन्धन, सक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, निधत्ति, निकाचना, एव निषेचना इन ८ करणों का, तथा उदय और सत्ता इन दो अवस्थाओं का वर्णन है। 'पचसग्रह' महाग्रन्थ आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर द्वारा रचित है। इसमे योगोपयोग, मार्गणा, बन्धव्य, बन्ध-हेतु और बन्धविधि, इन पाच द्वारो तथा शतकादि[1] पाच ग्रन्थो का समावेश होने से इसका पचसंग्रह नाम सार्थक है। दिगम्बर सम्प्रदाय में महाकर्मप्रकृति प्राभृत तथा कषाय-प्राभृत, ये दो ग्रन्थ पूर्वो से उद्धृत माने जाते हैं।

(३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र के पश्चात् कर्मवाद के सरल और प्राजल विकास का यह तीसरा महायुग था। यह विभाग तृतीय सकलन का फल है। इसमे कर्म सम्बन्धी अनेक छोटे-बड़े प्रकरण-ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन विशेषतः प्रचलित है। इन प्रकरणग्रन्थो का सांगोपाग अध्ययन करने के पश्चात् मेधावी अभ्यासी पूर्वोद्धृत आकर-ग्रन्थो का अध्ययन करते हैं।

इन प्राकरणिक कर्मशास्त्रो का संकलन-सम्पादन विक्रम की आठवीं-नौवी शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्रहवी शताब्दी तक हुआ है। यह कर्मसाहित्य रचना का उत्कर्षकाल है। इस काल में कर्मसिद्धान्त पर विभिन्न आचार्यों द्वारा रचित प्रकरण ग्रन्थों के पठन-पाठन की ओर विशेष रुचि जगी। कर्मवाद-विषयक प्रकरणग्रन्थों के पठन-पाठन को इस युग में

१. शतकादि पांच ग्रन्थ इस प्रकार है—(१) शतक (२) सप्ततिका, (३) कषाय-प्राभृत, (४) सत्कर्म-प्राभृत और (५) कर्म प्रकृतियाँ।

अधिकाधिक प्रोत्साहन भी मिला। इसके मुख्यतया दो कारण हैं—मध्ययुग के आचार्यों का ध्यान अन्यान्य विषयों से हटकर कर्मविषयक प्राकरणिक ग्रन्थों की रचना की ओर आकर्षित हुआ। फलतः उन्होंने क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ढंग से कर्मशास्त्रों को निर्मित एवं पल्लवित किया। इसलिए इन प्रकरण ग्रन्थों के अध्ययन- अध्यापन को प्रोत्साहन मिलने का पहला कारण यह है कि कर्मप्रकृति, पंचसंग्रह आदि पूर्वोद्धृत ग्रन्थ बहुत ही विशाल एवं गहन हैं। उनमें साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति का प्रथम तो प्रवेश ही दुष्कर है। यदि प्रवेश हो जाए तो भी उनमें से कुछ मतलब की बात निकाल लेना तो और भी दुष्कर है।

अतः यदि प्रत्येक विषय को लेकर पृथक्-पृथक् कर्मग्रन्थों तथा नव्य पंचसंग्रह के दस भागों की रचना न की जाती तो कर्मविषयक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन को प्रोत्साहन नहीं मिलता। श्वेताम्बर कर्मसाहित्य में ६ प्राचीन कर्मग्रन्थो की रचना, भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में की गई। प्राचीन षट्कर्मग्रन्थों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) कर्मविपाक, (२) कर्मस्तव, (३) बन्ध-स्वामित्व, (४) षडशीति, (५) शतक और (६) सप्ततिका।

इन प्राचीन कर्मग्रन्थों का अनुसरण करते हुए आचार्य देवेन्द्रसूरि ने पांच नव्य् कर्मग्रन्थों की रचना की। उनके नाम भी प्राचीन कर्मग्रन्थों के जो नाम थे, वे ही दिये हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने प्राचीन कर्मग्रन्थ और नये में अन्तर बताने के हेतु प्रत्येक भाग के नाम के पूर्व बृहत् शब्द लगाया है। प्राचीन कर्मग्रन्थों से नवीन कर्मग्रन्थों में यह विशेषता थी कि एक तो ये प्राचीन कर्मग्रन्थों से छोटे थे, दूसरे, इनमें उनमें वर्णित कोई भी विषय छूटा नहीं है, तथा अन्य अनेक नये विषयों का समावेश भी किया गया है।

उधर दिगम्बरसम्प्रदाय में पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र के सन्दर्भ में आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ने विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी में महाकर्म-प्रकृति प्राभृत (दूसरा नाम कर्मप्राभृत) की रचना की। इसके छह खण्डों के नाम यों हैं—(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रकबन्ध, (३) बन्धस्वामित्व विचय, (४) वेदना, (५) वर्गणा और (६) महाबन्ध। इसे 'षट्खण्डागम' भी कहते हैं। इस पर अतिविस्मृत धवला टीका है।

इसी तरह कषायप्राभृत (अपरनाम-पेज्जदोसपाहुड-प्रेयोद्वेषप्राभृत) की रचना आचार्य गुणधर ने की। इसमें जयधवलाकार के अनुसार निम्नोक्त १५ अर्थाधिकार हैं—(१) प्रेयोद्वेष, (२) प्रकृतिविभक्ति, (३) स्थितिविभक्ति, (४) अनुभाग-विभक्ति, (५) प्रदेशविभक्ति, (६) बन्धक, (७) वेदक, (८)

उपयोग (९) चतुःस्थान, (१०) व्यंजन, (११) सम्यक्त्व, (१२) देशविरति, (१३) संयम, (१४) चारित्रमोहनीय की उपशमना, (१५) चारित्रमोहनीय की क्षपणा। इसकी जयधवला टीका प्रसिद्ध है।

इसके पश्चात् दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड' की रचना हुई है। इसमें कर्मसम्बन्धी नौ प्रकरण हैं। इन्हीं आचार्य की एक कृति है—लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)। इसमें कर्म से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन है। इसमें तीन प्रकरण हैं-(१) दर्शनलब्धि, (२) चारित्रलब्धि और (३) क्षायिक चारित्र।[१]

वर्तमान में श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कर्मग्रन्थ और पंचसंग्रह के तथा दिगम्बर सम्प्रदाय में गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) के पठन-पाठन को बहुत ही महत्त्व और प्रोत्साहन मिला हुआ है।

इस प्रोत्साहन का दूसरा कारण यह है कि कर्मवाद जैनदर्शन का प्रमुख अग है, अध्यात्मवाद के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्मशास्त्र के गहन वन मे प्रविष्ट होने के बाद पाठक की चित्तवृत्ति स्वतः एकाग्र होने लगती है। प्रारम्भ में कठिनतर प्रतीत होने वाला कर्मशास्त्र, अभ्यास हो जाने के बाद अतीव रसप्रद लगता है। उसमें चिन्तन-मननपूर्वक डुबकी लगाने पर अनेक दुर्लभ तत्त्वरत्न मिल जाते हैं, व्यक्ति अध्येता से ध्याता बन जाता है।

कर्मग्रन्थों एवं गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) के रूप मे कर्मसिद्धान्त का सर्वांगीण वर्णन होने से पाठकों को कर्मतत्त्व के सांगोपांग अध्ययन-मनन एवं स्मरण करने में बहुत आसानी हो गई। परन्तु पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्रों में वर्णित समग्र कर्मरहस्य का पूर्वापर सम्पर्कसूत्र विच्छिन्न हो गया, और ऊपरी तौर पर कर्म-सिद्धान्त के स्थूल अंशों का जान लेना ही पर्याप्त समझ लिया गया। फलतः कर्मसिद्धान्त के सर्वांगपूर्ण अध्ययन-अध्यापन में व्यवधान आया और उक्त पूर्वोद्धृत ग्रन्थो को दुरूह एवं क्लिष्ट समझकर उपेक्षा की जाने लगी। यदि कर्मशास्त्रों का मनोयोगपूर्वक क्रमबद्ध अध्ययन किया जाए तो इससे सुगम और चित्त को धर्मध्यान के चरणभूत अपायविचय और विपाकविचय के ध्यान में तन्मय करने में आसान अन्य कोई शास्त्र नहीं है। धर्मध्यान के बिना प्रारम्भिक दशा में मन को एकाग्र

---

१. कर्मसाहित्य के विशेष विवरण के लिए देखे—
'जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास—भा.४ पृ. २७ से १४२ तक

करना अतीव दुष्कर है। और कर्म सिद्धान्त के चिन्तन-मनन-ध्यान द्वारा स्व-स्वरूप में लीनता हो जाने से परमात्मपद-प्राप्ति या मुक्ति भी सहज हो सकती है।

इस शताब्दी में भी कर्मवाद का गहन अध्ययन करने वाले कई आचार्य, मुनिवर एवं श्रावक-श्राविकागण हैं। श्वेताम्बर आचार्यों में स्व. विजयप्रेमसूरी जी म. कर्मसिद्धान्त के मर्मज्ञ माने जाते हैं। उनके प्रयत्न एवं प्रेरणा से उनके समुदाय में कर्मशास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में उनकी समस्त शिष्यमण्डली तैयार हो गई है। उन्होंने उपलब्ध समस्त श्वेताम्बर एवं दिगम्बर कर्मसाहित्य का अध्ययन, मनन, मन्थन करके प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में नई शैली में लगभग दो लाख श्लोक परिमित 'खवगसेढ़ी' 'पयडीबंधो,' 'ठिईबंधो' 'रसबंधो,' 'पएसबंधो' आदि महान् ग्रन्थों की रचना की है।[1]

और भी कई छोटी बड़ी अनेक पुस्तकें हिंदी, गुजराती, अंग्रेजी आदि प्रादेशिक भाषाओं में कई मुनियों एवं विद्वानों ने लिखी हैं। फिर भी कर्मसिद्धान्त के सम्बन्ध में अभी बहुत-कुछ शोधकार्य अपेक्षित है।

पूर्वात्मक, पूर्वोद्धृत, एवं प्राकरणिक कर्मशास्त्र की मूलगाथाएँ प्राकृतभाषा मे है। किन्तु उन पर व्याख्याएं, टीकाएं, निर्युक्तियाँ प्रायः संस्कृतभाषा में हैं।

प्राकरणिक कर्मसाहित्य पर हिन्दी, गुजराती, कन्नड आदि तीन भाषाओं में अनुवाद, विवेचन, टीका-टिप्पणी आदि हैं। दिगम्बर साहित्य ने कन्नड़, तमिल एवं हिन्दी आदि प्रादेशिक भाषाओं का तथा श्वेताम्बर साहित्य ने हिन्दी, गुजराती तथा राजस्थानी भाषा का आश्रय लिया है।

इन सब विवरणों का पर्यालोचन करने से एक बात स्पष्टतः परिलक्षित होती है कि वर्तमान में दर्शनशास्त्र के अध्येताओं, अध्यात्मशास्त्र के चिन्तकों, धर्मधुरन्धर साधु-साध्वियों एवं कतिपय श्रावक-श्राविका वर्ग में, तथा शिक्षितवर्ग में कर्मसिद्धान्त के अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति बढ़ी है। कर्मसिद्धान्त के सभी अंगों और रहस्यों को जानने की उत्सुकता में भी

---

१. इसके विस्तृत विवरण के लिये देखिये—
(क) 'कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी साहित्य' सं. २०२१ में श्री मोहनलालजी ज्ञानभण्डार सूरत से प्रकाशित
(ख) कर्मसाहित्यनु संक्षिप्त इतिहास (मुनिश्री नित्यानन्दविजयजी)
(ग) जैनकर्मसाहित्य का संक्षिप्त विवरण (ले. अगरचन्द नाहटा) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक

वृद्धि हुई है। कई विश्वविद्यालयों, धार्मिक परीक्षा बोर्डों एवं धार्मिक पाठशालाओं में कर्मशास्त्र को पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया है। कर्मसिद्धान्त पर रिसर्च करने वाले भी कई शोधस्नातक तैयार हो रहे हैं। कई स्थानों पर दर्शनान्तरीय कर्मविवेचन के साथ जैनकर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन एवं अनुसन्धान भी हो रहा है। यह कार्य कर्मवाद के विकास में चार चांद लगाने वाला सिद्ध हो रहा है।

विकास के सर्वोच्च शिखर पर कर्मवाद: कब और कैसे?

इस प्रकार कर्म-विषयक साहित्य का सृजन उत्तरोत्तर कर्मवाद के समुत्थान से लेकर विकास के सोपानों पर चढ़ता रहा है। और इस प्रगतिशील वैज्ञानिक युग मे तो हिन्दी, अग्रेजी एवं प्रादेशिक गुजराती, बंगला, मराठी, कन्नड़ आदि भाषाओं मे कर्मविज्ञान का विवेचन मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षाविज्ञान, जीवविज्ञान, शरीरविज्ञानशास्त्र, तथा भौतिक विज्ञान आदि के परिप्रेक्ष्य मे तुलनात्मक अध्ययन, मनन, परिशीलन एव साहित्य-सृजन हो रहा है। इसलिए वह दिन दूर नहीं, जब कर्मविज्ञान आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर विश्व के समस्त विज्ञानों के साथ अनेकान्तदृष्टि से परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करता हुआ विकास के सर्वोच्च शिखर को छू लेगा।

■

६

कर्मशास्त्रों द्वारा कर्मवाद का अध्यात्ममूलक सर्वक्षेत्रीय विकास

कर्मशास्त्र में शरीरादि का वर्णन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर

कर्मवाद के समुत्थान एवं विकास के सोपानों पर उत्तरोत्तर आरोहण में कर्मशास्त्र से सम्बन्धित समग्र साहित्य के सृजन का महत्त्वपूर्ण हाथ है। परन्तु देखना यह है कि कर्मशास्त्र के इन अंगोपांग का सृजन किस पृष्ठभूमि पर हुआ है ? यदि कर्मशास्त्र से सम्बन्धित साहित्य का सृजन केवल भौतिक दृष्टि से ही होता तो जैन-कर्मवाद का समुत्थान एवं विकास इतनी द्रुतगति से नहीं होता।

कर्मशास्त्र में शरीरसम्बन्धी वर्णन : एक समीक्षा

कर्मशास्त्र में शरीर, उसके स्थूल-सूक्ष्म प्रकार, उसके अंगोपांग, उनकी सुदृढ़ता-अदृढ़ता, वृद्धि-ह्रास, अल्पायुष्कता-दीर्घायुष्कता तथा उनसे सम्बन्धित मन, वचन और प्राण तथा इन्द्रियों आदि की बनावट, उनके विविध प्रकार एवं तन, मन, वचन, प्राण आदि की शक्तियों के प्रयोग, प्रभाव, तथा प्रवृत्तियों आदि का वर्णन है, जोकि ऊपर-ऊपर से देखने वाले को एकान्त भौतिक ही प्रतीत होता है। कई नासमझ अथवा तत्त्व से अनभिज्ञ लोग तो सहसा कह बैठते हैं कि कर्मशास्त्र जैसे आध्यात्मिक शास्त्र में शरीरसम्बन्धी वर्णन क्यों ? परन्तु जरा गहराई से सोचें तो इस भ्रान्ति का समाधान शीघ्र ही हो जाता है।

कर्मशास्त्र में जहाँ एक ओर शरीरशास्त्र का वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर वैसे शरीरादि अवयव प्राप्त होने के मूलकारणभूत अमुक-अमुक कर्मों का भी प्रतिपादन है। अमुक कर्मों के उपार्जन से शरीर से सम्बन्धित भौतिक सुख-सामग्री प्राप्त होने का भी विधान है। साथ ही शरीरादि के बन्धनों से मुक्त होने के भी उपाय बताये गए हैं। उदाहरणार्थ—उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है—"तथा-कथित पुण्यकर्मों के फलस्वरूप वे दश प्रकार की सुख-सामग्री से युक्त होते हैं—शुभ क्षेत्र, वास्तु (अच्छा मकान), स्वर्ण, पशु,

दास-पौरुषेय तथा सन्मित्र, सुज्ञातिजन, उच्चगोत्र, सौन्दर्य, स्वस्थता, महाप्रज्ञा, कुलीनता, यशस्विता एवं बलिष्ठता आदि से युक्त होते हैं। फिर वे पूर्वकृत तप-संयमादि शुद्ध धर्म के कारण विशुद्ध बोधि का अनुभव करते हैं। इसके पश्चात् इस मनुष्य शरीर से तप-संयमादि की साधना से सभी कर्मों का क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, शाश्वत मुक्त परमात्मा हो जाते हैं।[१]

कहना होगा कि कर्मशास्त्रों में शरीरशास्त्र का वर्णन मनुष्यों को भौतिकता एवं कामभोगों में फंसाने के लिए नहीं, अपितु प्राप्त शरीरादि अवयवों से तप, त्याग, संयमादि धर्मों की अध्यात्म-साधना करके मुक्ति प्राप्त करने के लिए है। इसलिए कर्मशास्त्र में, शरीरशास्त्र का वर्णन भी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित है।

शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र की अपेक्षा कर्मशास्त्र की विशेषता

शरीरशास्त्र शरीर की परिधि में ही विचार करता है। कोई व्यक्ति नहीं जानता है कि उसे क्या करना है ? अथवा कोई व्यक्ति जानता तो है, परन्तु उसे करने में सक्षम नहीं है। कोई व्यक्ति करता तो है, किन्तु यथार्थ ढंग से नहीं करता। परन्तु एक व्यक्ति ऐसा है, जो जानता भी नहीं, और कर भी नहीं सकता।शरीरशास्त्री से पूछा जाएगा कि इन चारों के पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व अथवा पृथक्-पृथक् क्षमता-अक्षमता का क्या कारण है ? शरीरशास्त्र इसका कारण और कुछ नहीं बताकर स्नायविक उत्तेजना और परिस्थिति के तारतम्य को ही कारण बताएगा। परन्तु ऐसी स्नायविक उत्तेजना और ऐसी परिस्थिति ही इन चारों को क्यों मिली ? यह शरीर-शास्त्र नहीं बता सकता।

मानसशास्त्र इन्हीं चारो प्रकार के व्यक्तियों की क्षमता-अक्षमता के समाधान के लिए चारों के अवचेतन मन का मनोविश्लेषण करके मानसिक समस्या को ही कारण रूप में प्रस्तुत करेगा और अन्त में वह परिस्थिति और परिस्थितिजनित स्नायविक उत्तेजना को ही कारण बताएगा। मानसशास्त्र की दौड़ अवचेतन मन तक ही तो है। वह अवचेतन मन के सन्दर्भ में ही उत्तर देगा। किन्तु अवचेतन मन में चारों की क्षमता में ऐसा तारतम्य क्यों ? इसका समाधान मानसशास्त्र के पास नहीं है।

कर्मशास्त्र चारों प्रकार की क्षमता-अक्षमता वाले इन चार व्यक्तियों के सामर्थ्य के मूल कारणों पर विचार करता है, उसी के सन्दर्भ में उत्तर देता है। वह परिस्थितियों को निमित्त जरूर मानता है। परन्तु ऐसी परि-स्थितियाँ, क्षमता-अक्षमता का मूल हेतु क्या है ? इसके समाधान के लिए कर्मशास्त्र कहेगा—इसके पीछे कोई न कोई कर्म अवश्य ही मूल कारण है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र अ. ३ गा. १६ से २०

उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति जानता नहीं है कि उसे क्या करना है ? उसकी बुद्धि अतीव मन्द है। इसका कारण मानस-शास्त्री से पूछोगे तो वह यही उत्तर देगा कि उक्त व्यक्ति का मस्तिष्क विकसित नहीं है। उसके ज्ञान-तन्तु दुर्बल हैं। इस कारण इसका ज्ञान कम विकसित है। अभिप्राय यह है कि मानस-शास्त्र ज्ञान के ह्रास या बौद्धिक मन्दता का कारण शरीर में ढूंढ़ेगा, तदनुसार उक्त समस्या का समाधान करेगा।

परन्तु उक्त व्यक्ति की बौद्धिक मन्दता, ज्ञानतन्तु की दुर्बलता अथवा मस्तिष्क का न्यून विकास क्यों है ? इसके कारण के विषय में मानसशास्त्र निरुत्तर हो जाएगा।

कर्मशास्त्र के पास इसका अनुकूल एवं युक्तियुक्त समाधान है। वह कहेगा—उक्त व्यक्ति के मस्तिष्क का विकास नहीं हुआ, या उसके ज्ञानतन्तु कमजोर हैं, इसका मूल कारण स्थूल शरीर में ढूंढ़ने जाओगे तो पता नहीं लगेगा। सूक्ष्मतम शरीर—कार्मण शरीर में इसका कारण छिपा है। इसके ज्ञानावरणीय कर्म का प्रबल उदय है, जिसके कारण बौद्धिक विकास नहीं हुआ है, ज्ञानतन्तु दुर्बल हो रहे हैं। और ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के भी मुख्यतया ५ कारण हैं। जिनके कारण इसके ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध हुआ है। वह पूर्वबद्ध ज्ञानावरणीय कर्म अब उदय में आ रहा है, फल दे रहा है।

जो व्यक्ति जानता तो है, परन्तु करने में सक्षम नहीं है। उसका कारण भी मानसशास्त्र या शरीरशास्त्र शरीर की शक्ति-अशक्ति को अथवा वंशपरम्परा से प्राप्त अशक्ति को बताएगा। परन्तु कर्मशास्त्र से पूछेंगे तो वह वीर्यान्तराय कर्म के उदय को मूल कारण बताएगा। यही कर्म उसकी कार्यक्षमता, करने की शक्ति को रोक रहा है, शक्ति प्रकट करने में बाधक बना हुआ है। उसकी कर्तृत्व शक्ति में अवरोध पैदा कर रहा है।

यद्यपि बौद्धिक मन्दता या कर्तृत्व-अक्षमता में ज्ञान के साधनों, सहायक अध्यापकों या गुरुजनों के संयोग, अध्ययन-स्मरण में प्रमाद, आलस्य, अकर्मण्यता, हीनता की भावना, आत्मविश्वास की कमी, वैसे पोषक खाद्य का अभाव आदि कई निमित्त एवं परिस्थितिजन्य सहायक कारण हो सकते हैं। उन सहायक कारणों को मानने में कर्मशास्त्र को आपत्ति नहीं है, किन्तु इन सबके मूल कारण की मीमांसा में कर्मशास्त्र का उत्तर सर्वाधिक युक्ति-संगत एवं प्रामाणिक होगा।

निष्कर्ष यह है कि कर्मशास्त्र प्रत्येक घटना, आचरण या व्यवहार अथवा समस्या के मूल कारण की मीमांसा करता है, जबकि शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र या भौतिक विज्ञान बाह्य निमित्त कारणों की मीमांसा करके रह

जाता है। यद्यपि कर्मशास्त्र शरीरशास्त्र और मानसशास्त्र की दृष्टि से भी विचार करता है और उस-उस कर्म के उदय में अमुक-अमुक निमित्त एवं परिस्थिति को स्वीकार करता है।

कर्मशास्त्र अध्यात्म शास्त्र से भिन्न नहीं

कर्मशास्त्र का नाम सुनते ही कई स्थूलदृष्टि वाले लोग यह समझने लगते हैं कि इसमें खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना आदि शरीर से सम्बद्ध विविध कर्मों-कार्यों का वर्णन होगा अथवा केवल अच्छे-बुरे कर्मों का ही विवरण होगा। किन्तु यह महान् भ्रान्ति है। कर्मशास्त्र में कर्म का स्वरूप, प्रकार आदि का वर्णन करने के साथ-साथ आत्मा और कर्म का क्या सम्बन्ध है ? कर्म आत्मा के साथ कब लगे, कैसे लगे, किन-किन कारणों से लगे ? कर्म पहले था या आत्मा ? आत्मा बलवान् है या कर्म ? कर्म आत्मा को सदा के लिए पराधीन कर देता है या आत्मा इससे सर्वथा मुक्त, स्वतंत्र भी हो सकता है ? कर्म आत्मा के साथ किस-किस रूप में बंधते हैं ? कर्म आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कैसे आवृत-आच्छादित कर देते हैं ? ये और ऐसी आत्मा से सम्बन्धित विविध समस्याओं का समाधान जिस कर्मशास्त्र में हो, क्या उसे भौतिकशास्त्र या दैहिक कार्यशास्त्र कहा जाएगा, अथवा आध्यात्मिक शास्त्र ? नहीं, वह सर्वांग पूर्ण अध्यात्मशास्त्र ही कहलाएगा।

आध्यात्मिक शास्त्र में भी आत्मा से सम्बन्धित प्रत्येक अतीत, अनागत और वर्तमान विषयो पर चर्चा-विचारणा की जाती है। वह आत्मा को निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से तौलता है। आत्मा की विविध शक्तियों का भी प्रतिपादन करता है, किन्तु वर्तमान में आत्मा की उन शक्तियों पर किसका काला पर्दा पड़ा हुआ है ? इसका भी सांगोपांग विश्लेषण करता है। आत्मा से सम्बन्धित प्रत्येक पहलू पर विचार-चिन्तन प्रस्तुत करना ही अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य है। अतएव अध्यात्म-शास्त्र आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का निरूपण करने के साथ-साथ उसके व्यावहारिक स्वरूप का भी निरूपण करता है। अर्थात्—आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है और वर्तमान में उसकी चेतना कुण्ठित, आवृत, एवं बुझी हुई क्यों और किस कारण से है ? इस प्रकार आत्मा के आदर्श और व्यवहार, प्रकृति और विकृति दोनो का यथार्थ प्रतिपादन करना ही अध्यात्मशास्त्र का प्रयोजन है। यदि अध्यात्मशास्त्र केवल निश्चय का एकांगी प्रतिपादन करता है तो उसके समक्ष गतियों, योनियों एवं शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, योग, उपयोग, वेद (काय), कषाय, ज्ञान, आहार आदि को लेकर प्राणी के रूपों की विविधता, सुखी-दुःखी, धनी-निर्धन,

विद्वान्-मूर्ख आदि आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ क्यों, कैसे और कब तक ? इत्यादि विकट प्रश्न मुँह बाए खड़े रहेंगे। अपने साथ लगी हुई इन उपाधियों से विकृत बनी हुई, शुद्ध स्वरूप से दूर आत्मा कैसे और कब अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होगी ? निष्कर्ष यह है कि आत्मा की वर्तमान दृश्यमान अवस्थाओं का स्वरूप भलीभांति, जाने बिना, उस अवस्था से ऊपर उठने की या उससे पार परिपूर्ण शुद्ध, बुद्ध-मुक्त आत्मा होने की योग्यता एवं तदनुकूल तत्त्वदृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है ? तथा दृश्यमान विभिन्न दशाएँ आत्मा का स्वभाव क्यों नहीं है ? आत्मा स्वभाव को छोड़कर परभावों में कैसे और कब चला जाता है ? इसीलिए अध्यात्मशास्त्र आत्मा के इन सब दृश्यमान वर्तमान अवस्थाओं की उपेक्षा करके केवल शुद्ध आत्मा की ही निश्चय—दृष्टि की ही बात करेगा तो वह अपने अध्येता या पाठक को केवल हवाई कल्पनाओं के पंख लगाकर आध्यात्मिक आकाश में उड़ने की प्रेरणा करेगा, किन्तु व्यावहारिक धरातल पर उसकी आत्मा आस्रव और बन्ध के भार से पूरी नहीं तो, आत्मगुण घातक कर्मों से कुछ अंशों में जब मुक्त होती जाएगी, तभी वह शुद्ध आत्मा हलकी होकर अध्यात्म-गगन में उड़ान भर सकेगी। अर्थात्—अध्यात्म-शास्त्र के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले आत्मा के दृश्यमान विरूप की संगति एवं उपपत्ति बिठाकर फिर आगे बढ़े। यही कार्य कर्मशास्त्र करता है। वह दृश्यमान समस्त सांसारिक अवस्थाओं को कर्मजन्य बताकर उक्त अवस्थाओं से आत्मा के स्वरूप का पार्थक्य बतलाकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कर्मों से सर्वथा मुक्त होना आवश्यक बताता है। इस दृष्टि से देखें तो कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का ही एक प्रमुख अंग है। कर्मशास्त्र की उपेक्षा करके अध्यात्म-शास्त्र की व्याख्या सर्वांगपूर्ण नहीं हो सकती।

अध्यात्मशास्त्र के उद्देश्य की पूर्ति ही कर्मशास्त्र करता है।

यदि अध्यात्मशास्त्र का उद्देश्य केवल आत्मा के शुद्धस्वरूप का वर्णन करना और आत्मा से परमात्मा बनना ही माना जाए, तब भी कर्मशास्त्र को उसका पहला पड़ाव मानना पड़ेगा। क्योंकि जब तक आत्मा शरीर से सम्बद्ध है, तब तक विविध प्रकार की अनुभव में आने वाली वैभाविक परिणतियों अथवा विकृत अवस्थाओं, राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि से सम्पृक्त विविध संवेदनों के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? वह सम्बन्ध त्रिकालस्थायी है या परिवर्तनशील है ? तब तक आत्मा के शुद्धस्वरूप की बात करना दिवास्वप्नवत् होगा। जब यह भलीभांति प्रतीत हो जाता है कि सांसारिक आत्मा का यह वर्तमान रूप औपाधिक है, कर्मजन्य है, मायिक है

या वैभाविक है, तब सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि तब फिर आत्मा का वास्तविक शुद्ध स्वरूप क्या है ? और तभी आत्मा के शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन कृतकार्य होता है। कर्मशास्त्र इसी क्रम से आत्मा के परमशुद्ध स्वरूप तक पहुंचने का पथ-प्रदर्शन करता है। परमात्मा के साथ आत्मा का क्या और कैसा सम्बन्ध है ? यह जैसे अध्यात्मशास्त्र का विषय है, वैसे ही कर्मशास्त्र का भी है। वह घातिकर्म-चतुष्टयमुक्त अथवा अष्टविधकर्ममुक्त होने पर आत्मा का परमात्मस्वरूप बनने का प्रतिपादन करता है। आत्मा ही परमात्मा है, इस तथ्य का प्रतिपादन करके उसकी कर्मावृत एवं अनावृत अवस्था को लेकर कर्मशास्त्र आत्मा के तीन रूपों का बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के नाम से प्रतिपादन करता है। भगवद्गीता, उपनिषद्, योगवशिष्ठ, योगदर्शन आदि आध्यात्मिक ग्रन्थो में आत्मा से सम्बन्धित जैसे विचार मिलते हैं, वैसे ही विचार कर्मशास्त्र में भी पाये जाते हैं। कर्मशास्त्र की दृष्टि से आत्मा का परमात्मा में मिल जाने का फलितार्थ भी यही है कि अपनी कर्मावृत अवस्था को दूर करके शुद्ध होकर परमात्मभाव को व्यक्त करना, आत्मा का परमात्मरूप हो जाना। जीव परमात्मा का अंश है, इसका अभिप्राय भी कर्मशास्त्र की दृष्टि से यह है कि जीव में ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्ति की जितनी कला व्यक्त है, वह परिपूर्ण किन्तु अव्यक्त (आवृत) चेतनचन्द्र की पूर्णकलाओं का एक अंश भर है। कर्मों का आवरण दूर हो जाने से चेतनचन्द्र पूर्णरूप से अनावृत—व्यक्त हो जाता है।

कर्मशास्त्र जीव को कर्मों में बधे रहने की प्रेरणा नही देता, किन्तु वह कर्मों से बंधी हुई आत्मा को उसके कर्मबद्ध रूप का ज्ञ-परिज्ञा से ज्ञान करा कर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से कर्मों से मुक्त होने, उन्हें क्षय करने की प्रेरणा देता है। शरीर, इन्द्रियाँ, बाह्य सुख सामग्री, धन-कुटुम्ब, मकान आदि पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि अर्थात्—सजीव-निर्जीव पर-पदार्थों में अहंत्व-ममत्वबुद्धि करना बहिरात्मा का लक्षण बताकर कर्मशास्त्र बहिरात्मभाव को छोड़ने की ही प्रेरणा देता है। जिनके संस्कारों में बहिरात्मभाव कूट-कूटकर भरा हो, उन्हें भले ही कर्मशास्त्र की यह शिक्षा रुचिकर न लगे, परन्तु उसके द्वारा सत्य-तथ्य में किंचित् भी अन्तर नहीं पड़ता। आत्मा के स्वभाव को छोड़कर परभावो में मन-वचन-काया को रमण कराने वाले, तथा विषय-कषायों में डूबे हुए उनके फलस्वरूप शुभाशुभ कर्म बाँधने वाले लोगों को कर्मशास्त्र उन सबके अनिष्ट परिणाम, जन्म-मरणादि दुःखाक्रान्त संसार में परिभ्रमण की चेतावनी भी देता है।

कर्मशास्त्र शरीर और आत्मा की या स्वभाव-परभावों की अभिन्नता के भ्रम को मिटाकर भेदविज्ञान (विवेक-ख्याति) को जागृत करता है।

जिससे आत्मस्वरूप का भान होते ही व्यक्ति की अन्तर्दृष्टि खुल जाती है। सम्यग्दृष्टि खुलते ही व्यक्ति आत्मा में सुषुप्त परमात्मभाव को जान-देख पाता है। उसी परमात्मभाव को पूर्णतः अनुभव में लाने, अर्थात्—स्व-भाव में पूर्णतः लीन होने की प्रक्रिया कर्मशास्त्र बतलाता है। यही जीव का ब्रह्म (शिव) होना है। इसी परब्रह्म भाव को जीव में शीघ्र व्यक्त कराने की विधि धर्म-शुक्लध्यान के माध्यम से कर्मशास्त्र बताता है।

पहले वह अभेदज्ञान के भ्रम से हटाकर जीव को भेदविज्ञान की ओर ले जाता है, फिर अभेद-ध्यान (शुक्ल-ध्यान) की उच्चभूमिका पर आत्मा को आरूढ़ होने की प्रेरणा देने भर का कार्य कर्मशास्त्र का है। एक दृष्टि से देखा जाए तो हिंसादि पांच आस्रवों एवं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, एवं योग आदि पांच आस्रव कारणों को दूर हटाकर आत्मा को, तप, संयम, व्रत-महाव्रत, (यम), नियम, त्याग-प्रत्याख्यान, ध्यान, मौन, समिति-गुप्ति, परीषहजय आदि के द्वारा अध्यात्म के उच्च-सर्वोच्च शिखर तक ले जाने का कार्य भी कर्मशास्त्र करता है। वह आत्मा के उत्तरोत्तर विकास के लिए शुभाशुभ कर्मों के आस्रवों का निरोध करने और संवर, संयम तथा समत्व में रमण करने का उपदेश देता है। साथ ही पुराकृत शुभाशुभ कर्मों के क्षय के लिए भी विविध उपाय बताता है।

इससे यह स्पष्ट है कि कर्मशास्त्र प्राणियों के शुभाशुभ आचरणों का कार्य-कारण के रूप में विश्लेषण करता है। वह मनुष्यों की अच्छी बुरी वृत्ति-प्रवृत्तियों के कारण अच्छे-बुरे फल प्राप्त होने की स्पष्ट मीमांसा करता है। कर्मशास्त्र अध्यात्म को समझने की कुञ्जी है। अध्यात्म के सही और गलत रूप का निर्णय करने के लिए कर्मशास्त्र ही न्यायाधीश का कार्य करता है। अध्यात्म का उचित मूल्यांकन कर्मशास्त्र के सांगोपांग अध्ययन से ही हो सकता है। कर्मशास्त्र का गम्भीर अध्ययन करने से ही अध्यात्म की गूढ़ गुत्थियाँ सुलझाई जा सकती हैं। जो व्यक्ति कर्मशास्त्र को नजरअंदाज करके अध्यात्मवाद का परिशीलन करना चाहते हैं, वे अध्यात्म की गूढ़ बातों को न तो समझ सकते हैं, न ही आध्यात्मिक विकास कर पाते हैं, वे अध्यात्म के नाम पर इधर-उधर के कठोर क्रिया-कलापों में ही उलझ जाते हैं, उसी को वे अध्यात्मवाद समझ लेते हैं।

इसलिए कर्मशास्त्र अध्यात्मवाद का परिपोषक एवं पूर्ण समर्थक है। वह प्राणियों को कर्मों के जाल में उलझाने और फंसाने के लिए नहीं है, अपितु कार्य-कारणों की पूर्ण मीमांसा करके जीवों को उनकी संसारगत अशुद्ध एवं पराधीन दशा बतलाकर कर्मों से छुटकारा पाने का मार्ग बताने के लिए है।

कर्मशास्त्र अन्तरंग कारण बताता है

मन-वचन-काया की प्रत्येक प्रवृत्ति के पीछे दो प्रकार के कारण होते हैं—अन्तरंग कारण और बाह्य कारण। बाह्य कारण तो हमें झटपट समझ में आ जाते हैं, किन्तु अन्तरंग कारण को गहराई में जाकर खोजना पड़ता है।

एक व्यक्ति बीमार है। वह वैद्य, डॉक्टर, प्राकृतिक चिकित्सक, आदि अलग-अलग चिकित्सकों के पास जाएगा तो वे उक्त रोग का कारण भी अलग-अलग बतायेंगे। फिर ज्योतिषी, मांत्रिक-तांत्रिक, मनश्चिकित्सक आदि के पास जाएगा तो वे भी अपने-अपने ढंग से बीमारी का कारण बताएँगे। एक ही रोग के विभिन्न कारण विभिन्न दृष्टिकोणों से बताये जाएँगे। सम्भव है, वे उक्त रोग के निवारण के लिए अपने-अपने तरीके से उपचार भी करें। परन्तु कई बार ऐसा होता है कि विभिन्न प्रकार के सभी सम्भव उपचार करने पर भी वह रोग नहीं मिटता। उसका कारण यह है कि ये सभी रोग-प्रतीकारक विभिन्न व्यक्ति रोग के केवल बाह्य कारणों को ही बता पाते हैं, जो उनके ग्रन्थों में लिखे होते हैं। रोग के आन्तरिक कारण की तह में वे नहीं पहुँच पाते। इसीलिए एक प्राचीन श्लोक प्रसिद्ध है—

"वैद्या वदन्ति कफ-मारुत-पित्तकोपम्,
ज्योतिर्विदो ग्रहगणस्य फल वदन्ति।
भूताभिषग इति भूतविदो वदन्ति;
प्राचीनकर्म बलवद् मुनयो वदन्ति॥"

विभिन्न वैद्यों से जाकर पूछेंगे तो वे शरीरगत वात, पित्त या कफ का विकृत-कुपित होना बतलाएँगे। ज्योतिषियो से पूछने पर वे विपरीत ग्रहगति बताएँगे। भूतवादी कहेंगे—तुम भूताविष्ट हो गए हो, या तुम पर भूत-प्रेत की छाया पड़ गई है। इसी प्रकार विभिन्न पैथियो के डाक्टरों में कोई कीटाणुओं के कारण, कोई शरीर मे विजातीय द्रव्य इकट्ठे होने के कारण तथा कोई अमुक लवण की कमी के कारण, अथवा हड्डी विशेषज्ञ अमुक हड्डियों का सन्तुलन ठीक न होने के कारण और रंग चिकित्सा शास्त्री (Colour therapist) शरीरगत विभिन्न रंगों की हानि-वृद्धि होने के कारण उक्त रोग का होना बतलाएँगे। परन्तु कर्मशास्त्र-विशेषज्ञ मुनिवर रोग का अन्तरंग कारण बतायेंगे—पूर्वकृत कर्मों का विपाक; अथवा पूर्वबद्ध अशुभ (असातावेदनीय) कर्मों का उदय।

कर्मशास्त्र प्रत्येक अच्छी-बुरी घटना के मूल (अन्तरंग) कारण को अभिव्यक्त करता है। रोग भी एक घटना है, उसका अन्तरंग कारण कोई न कोई पूर्वकृत अशुभ आचरण है, जिसके कारण कर्मबन्ध हुआ है, और उसी प्राक्-बद्ध कर्म का फल इस रोग के रूप में व्यक्ति को मिल रहा है। अतः

कर्मशास्त्र किसी भी अच्छे-बुरे परिणाम की—कार्य की पृष्ठभूमि की वास्तविक खोज करना सिखाता है। जीव की जो भी वर्तमान-कालिक अवस्था है, अथवा उसकी आकृति, प्रकृति, व्यवहार या आचरण है, वह ऐसा क्यों है? इसके समाधान के लिए कर्मशास्त्र उसके मूल उद्गम—उत्स की खोज करने की प्रेरणा देता है। कर्मशास्त्र प्रायः मुख्य-मुख्य वृत्तियों-प्रवृत्तियों के, भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के बाह्य कारणों या बाह्य निमित्तों पर दोषारोपण न करके अथवा उसी में एकान्त आग्रही न बनकर उनके अन्तरंग कारण को ढूंढने की प्रेरणा देता है। वह श्वानवृत्ति की नहीं, सिंहवृत्ति की प्रेरणा देता है; अपने उपादान (आत्मा) को गहराई से टटोलने का सुझाव देता है।

कर्मशास्त्र द्वारा धर्मध्यान का निर्देश

जैनागमों में धर्मध्यान के चार प्रकार बताए गए हैं—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय।[१] इन चारों का कर्मवाद से सम्बन्ध है। आज्ञा से मतलब है—जिनाज्ञा का। जिनाज्ञा-सम्मत कार्य करने से अशुभकर्म का बन्ध नहीं होता और न करने से होता है। पर जिनाज्ञा किन कार्यों के लिए है ? इसी प्रकार संस्थान-विचय में लोक के समस्त संस्थान और उसकी विभिन्न गतियों, योनियों में उत्पन्न होने का चिन्तन भी कर्मवाद से सम्बन्धित है। षट्द्रव्यात्मक लोक का चिन्तन करना भी उसका एक अंग है। परन्तु कर्मवाद से प्रबल सम्बन्ध विपाक-विचय और अपाय-विचय का है। विपाक का अर्थ है—कर्म का परिणाम—फल और अपाय का अर्थ है—कोई न कोई अनिष्ट कारण।

कर्मशास्त्र बताता है कि जब कोई विपाक-परिणाम-फल सामने है, तो उसका कोई न कोई कारण भी होना चाहिए। विपाक वर्तमान क्षण का पाक-फल है, और अपाय उस विपाक के पीछे रहा हुआ हेतु है—कारण है, जो दीर्घकालिक अतीत है। इन दोनों की खोज कर्मवाद के सन्दर्भ में साथ-साथ चलती है। तथ्यों की अथवा किसी घटना या आचरण आदि कार्यों की जानकारी के लिए कर्मशास्त्र सुदूर दीर्घकालिक अतीत को देखना आवश्यक बताता है। अतीत को समझे बिना, वर्तमान के विपाक, परिणाम या कार्य को समझना अतीव दुष्कर है।

अतः सर्वप्रथम अतीत को देखना अनिवार्य है, क्योंकि अतीत का परिणाम ही वर्तमान बनता है। धर्मध्यान का उल्लेख कर्मशास्त्रों में कर्मों

---

१. (क) धम्मे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा—आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए।' —व्याख्याप्रज्ञप्ति श. २५ उ. ७

(ख) आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्म्यम्। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. ३६

को क्षय करने के सन्दर्भ में है। विशेषतः विपाक-विचय और अपाय-विचय, इन दोनों को भलीभांति समझ लेना ही कर्म का मर्म समझ लेना है, जिसे कर्मशास्त्र बतलाता है।

दूसरी दृष्टि से सोचा जाए तो कर्मशास्त्र अध्यात्मशास्त्र का सहचर है, अथवा दोनों अन्योन्याश्रित हैं। दोनों का एक दूसरे के बिना कार्य नहीं चल सकता। अध्यात्म-साधना का उद्देश्य भी यही है कि किसी भी परिणाम-फल या वर्तमान अवस्था के अनादि (अतीतकालिक) हेतु को खोजना और उसका अन्त करना है।

किसी भी आचरण या व्यवहार के पीछे, अथवा आचरण या व्यवहार की अस्वाभाविकता (असाधारणता) के पीछे जो भी कारण या हेतु है, उसे खोजने के लिये प्रेरित करना अध्यात्मशास्त्र के सहायक के रूप में कर्मशास्त्र का काम है। अकेले अध्यात्मशास्त्र से यह कार्य नहीं हो सकता। कर्मशास्त्र इससे भी आगे बढ़कर यह करता है कि जो कारण व्यक्ति के आचरण या व्यवहार में विसंगति, विषमता या अस्वाभाविकता पैदा करता है, एकरूपता, समरसता या समतुल्यता (सन्तुलन) नहीं रहने देता, उस हेतु या कारण का अन्त कैसे-कैसे किया जा सकता है ? इस तथ्य का अन्वेषण करना कर्मशास्त्र का उद्देश्य है।

निष्कर्ष यह है कर्मशास्त्र कार्य-कारण भाव की सम्यक् मीमांसा करके जीव को उक्त पूर्वकृत कर्मरूप कारण से मुक्त होने या उसका अन्त करने की प्रेरणा देता है।

इसके अतिरिक्त ध्यान, धारणा, चित्तसमाधि, समता, आत्मशान्ति, आत्मबल, सन्तोष, आत्मिक आनन्द एवं सम्यग्ज्ञान आदि योगशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषयों का वर्णन भी कर्मशास्त्र कर्मक्षय करके आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करने के सन्दर्भ में करता है।

योगशास्त्र में चित्तवृत्तिनिरोध के सन्दर्भ में तथा मानसशास्त्र में मनोविज्ञान के सन्दर्भ में मन के पूरे विश्लेषण एवं मन की सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रक्रियाओं और प्रवृत्तियों की जानकारी दी गई है, जबकि कर्मशास्त्र मन की गहनतम अवस्था के कारणों की मीमांसा करके उन कारणों से होने वाले परिणामों का विश्लेषण करने के साथ-साथ उक्त कारणों के निवारण का पूर्ण उपाय बताकर, मन-वचन-काया की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध (योगनिरोध) बताता है और आत्मा की पूर्णशुद्ध निष्कम्प अवस्था—परमात्मभावापन्न दशा का वर्णन करता है।

इस प्रकार कर्मशास्त्र नानाविध अध्यात्मशास्त्रीय विचारों की खान है।

■

७

कर्मवाद पर प्रहार और परिहार

यद्यपि कर्मवाद मनोविज्ञान, दर्शन, धर्मपरम्परा, भौतिक विज्ञान, शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र, शिक्षणशास्त्र आदि सभी पहलुओं से युक्ति, प्रमाण, अनुभव आदि के आधार पर सिद्ध सिद्धान्त है। विश्व की समस्त व्यवस्थाओं, विचित्रताओं, प्राणियों की विविध मनोदशाओं, शारीरिक अवस्थाओं, बौद्धिक विभिन्नताओं आदि के सम्बन्ध में युक्ति, तर्क, प्रमाण और अनुभव के आधार पर कर्मवाद को प्रस्तुत करता है। आधुनिक युग की विभिन्न समस्याओं और व्यवस्थाओं का समाधान भी जैनदर्शन कर्मवाद की दृष्टि से करता है। फिर भी **"मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना, तुण्डे-तुण्डे सरस्वती, मुखे-मुखे नवा वाणी"**[1] इस प्राचीन लोकोक्ति के अनुसार विश्व में प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में बुद्धि और विचारशक्ति की भिन्नता दृष्टिगोचर होती है, प्रत्येक व्यक्ति के विद्याध्ययन, विद्वत्ता, पाण्डित्य अथवा शिक्षा-दीक्षा में भी अन्तर पाया जाता है और वस्तु तत्त्व को प्रकट करने की शैली, तथ्य को प्रस्तुत करने की वाणी, और संसार की विभिन्नताओं के कारणों को अभिव्यक्त करने के कथन में पर्याप्त विभिन्नता भी प्रतीत होती है।

जैनदर्शन द्वारा मान्य, सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा विविध पहलुओं द्वारा पल्लवित-विकसित कर्मवाद जैसे सिद्धान्त पर भी ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता या प्रेरक मानने वाले दर्शनों, धर्म-सम्प्रदायों अथवा मत-पन्थों के कुछ आक्षेप हैं। वे आक्षेप दूसरे पक्ष पर शान्तिपूर्वक विचार-विमर्श न करके ऐकान्तिक, और स्वकथन ही सत्य के हठाग्रहमूलक हो जाते हैं, तब वे शाब्दिक प्रहार का रूप ले लेते हैं। जब एकान्त-आग्रहवश मनुष्य अपने विचारों को ही सत्य मानकर तथा अपनी ही बात को खींच-तानकर सिद्ध करने पर तुल जाता है, अपने ही पक्ष के समर्थन में युक्तियों को खींचता है, दूसरे पक्ष की बात को अमुक अपेक्षा से सुनने-मानने को तैयार नहीं होता, तब वह एकान्त खण्डनात्मक आक्षेप, निन्दा, विरोध, वितण्डा और विद्वेष के शस्त्रों

---

१. 'प्रमाणमीमांसा' से उद्धृत

को अपना लेता है। समन्वयवादी जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के शब्दों में [१]"आग्रही कुदार्शनिक युक्तियों को उसी ओर खींचता है, जहाँ (जिस विषय में) उसकी बुद्धि, अभिप्राय या मत पहले से ही बना होता है, किन्तु अनाग्रही, पक्षपात एवं पूर्वाग्रह से रहित सच्चा दार्शनिक अपना मत उसी के अनुसार बनाता है, जहाँ युक्ति जाती है, अर्थात्—जो युक्तिसिद्ध हो पाता है।"

अतः हठाग्रही व्यक्ति पूर्वाग्रहग्रस्त होकर किसी दूसरे की अच्छी युक्तियुक्त और कल्याणकारी बात को भी विपरीतरूप में ग्रहण करता है। अच्छी से अच्छी हितकर एवं युक्तिसंगत तथ्य में से भी वह अपनी असम्यक्-दृष्टि द्वारा दोष और त्रुटि ढूढ़ने का प्रयत्न करता है।[२]

कर्मवाद पर मुख्यतः तीन प्रहार

जो भी हो, जैनदर्शनसम्मत कर्मवाद पर सृष्टिकर्तृत्ववादियों द्वारा मुख्यतः तीन प्रहार किये जाते हैं—

प्रथम प्रहार—मकान, महल, घर, पट, यंत्र आदि विश्व की छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ जब किसी न किसी व्यक्ति द्वारा निर्मित होती हैं, तब समग्र सृष्टि (जगत्) जो कार्यरूप दिखाई देती है, प्राकृतिक वन, वृक्ष, लताएँ, फल, फूल, पहाड़, नदियाँ तथा कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मानव आदि विविध प्राणिगण जो दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबका भी कोई न कोई उत्पादक, निर्माता या रचयिता होना चाहिए। वह उत्पादक ईश्वर के सिवाय और कोई हो नहीं सकता।

द्वितीय प्रहार—सभी प्राणी अच्छे ही कर्म करते हों, ऐसा नहीं है। अधिकांश प्राणी बुरे कर्म भी करते हैं। अच्छे कर्मों का फल तो सभी चाहते हैं, मगर बुरे कर्म का फल कोई नही चाहता। और कर्म अपने आप में जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के बिना फल देने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में कर्मवादियों को मानना ही चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियो को कर्मफल भोगवाने में कारणरूप है।

तृतीय प्रहार—ईश्वर केवल एक ही व्यक्ति होना चाहिए, जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवों की अपेक्षा भी उसमें कुछ विशेषता हो। वही सर्वशक्तिमान, समर्थ, नित्य, स्वतंत्र, सर्वाधिपति एवं सर्वज्ञ हो। इसलिए कर्मवाद का यह मानना उचित नही है, कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव

१. आग्रही वत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपात रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥ —हरिभद्रसूरि

२. वादी भद्रं न पश्यति

मुक्त अथवा ईश्वर हो जाते हैं।[1] अनेक ईश्वर हो जाने पर जगत् की व्यवस्था में गड़बड़झाला पैदा हो जाएगी। स्याद्वाद-मंजरी में इसी आशय की एक कारिका भी है।[2]

उक्त प्रहारों का क्रमशः परिहार

प्रथम प्रहार का परिहार—यह जगत् अनादिकाल से है, किसी काल में नया नहीं बना है। हाँ, इसमें परिवर्तन अवश्य होते रहे हैं, होते रहते हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे। अधिकांश परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जिनमें मनुष्य आदि प्राणिवर्ग का प्रयास अपेक्षित होता है। कई परिवर्तन ऐसे भी होते हैं, जिनमें किसी के प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती। जड़ पदार्थों के विभिन्न प्रकार के संयोगों या वियोगों से उनमें स्वतः परिवर्तन उष्णता, वेग, क्रिया होते देखे जाते हैं। जैसे—इधर-उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से नदी रूप मे बहना; मिट्टी पत्थर आदि वस्तुओं के एकत्रित हो जाने से छोटे-बड़े टीले या पर्वत का बन जाना, एवं भाप का पानी बन जाना, तथैव पानी का फिर से भापरूप बन जाना, समुद्र से सूर्यकिरणों द्वारा पानी खींचा जाने से आकाश में मेघरूप बन जाना और उन बादलों का धरती पर बरसना एवं भूकम्प हो जाना; ये और ऐसे कई परिवर्तन स्वतः अनायास निर्मित हैं, जिनके निर्माण में ईश्वर या किसी प्राणी विशेष का हाथ नहीं है। और फिर घड़ा, कपड़ा आदि के निर्माण के साथ उसका कर्ता प्रत्यक्ष या परोक्ष (अनुमान, आगम आदि प्रमाण) रूप में देखा जाता है, मगर सृष्टि के या सृष्टि के इन प्राकृतिक जड़ पदार्थों के परिवर्तन या निर्माण के साथ कदापि ईश्वर नाम का कोई चेतनाशील पुरुष नहीं देखा गया। बांध, पुल, सड़क, मशीने आदि बनती हैं, उनके साथ तो कोई न कोई निर्माणकर्त्ता अवश्य ही देखा जाता है, अथवा पढ़ा-सुना जाता है। इसलिए ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, निर्माता या उत्पादक मानने की कोई आवश्यकता नहीं।[3]

द्वितीय प्रहार का परिहार—यह ठीक है कि कर्म जड़ हैं, और कोई भी प्राणी अपने द्वारा किये हुए बुरे कर्म का फल नहीं चाहता, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जीव (चेतन) के साथ संयोग होने से कर्म में स्वतः एक प्रकार की शक्ति पैदा हो जाती है; जिससे वह नियत समय पर जीव पर अच्छे-बुरे विपाकों (शुभाशुभकर्मफलों) को प्रकट करता है। अर्थात्—जो

---

१. कर्मग्रन्थ भा. १ विवेचन (पं. सुखलालजी) से साभार

२. कर्त्ताऽस्ति कश्चिद् जगतः स चैकः, स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।

—स्याद्वादमंजरी

३. विशेष विवरण के लिए देखिये—रत्नाकरावतारिका, स्याद्वादमंजरी, प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड, जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार) आदि ग्रन्थ।

प्राणी जैसा और जिस किस्म का कर्म करता है, उसे वैसा और उस किस्म का फल कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। प्राणी अपने बुरे कर्म का फल चाहे या न चाहे, उसका फल कर्म द्वारा मिल ही जाता है।

उदाहरणार्थ—कोई प्राणी जहर खा ले, और फिर चाहे कि उसका फल न मिले, यह असम्भव है। जैनदर्शन-मान्य कर्मवाद इतना अवश्य मानता है कि चेतन के साथ सम्बन्ध के बिना जड़ कर्म फल देने में समर्थ नहीं है। परन्तु कर्मवाद का यह सयुक्तिक एवं सप्रमाण कथन है कि फल देने के लिए ईश्वररूप चेतन की प्रेरणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि सभी जीव चेतन हैं। वे जैसा कर्म करते हैं, तदनुसार उनकी गति-मति भी वैसी हो जाती है। इस कारण बुरे कर्म का फल न चाहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं, जिससे उन्हें अपने कृतकर्म के अनुसार वैसा ही, उसी किस्म का फल मिल जाता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है—"पहले जैसा भी कुछ (अच्छा-बुरा) कर्म किया गया है, वह भविष्य में उसी रूप में फल देने आता है।"[1] "जैसा किया हुआ कर्म, वैसा ही उसका फल भोग।"[2] "अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है, और बुरे कर्मों का फल बुरा होता है।"[3]

कर्म करना और उसका फल न चाहना, ये दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। कोई व्यक्ति हत्यारा, डाकू, चोर या बलात्कारी है, आततायी है, वह हत्या, डकैती, चोरी, बलात्कार आदि दुष्कर्म करके यह चाहे कि मुझे अपने कुकृत्य का फल न मिले, राजदण्ड, लोकनिन्दा, समाजदण्ड, अथवा अन्त में परलोक में भयकर दण्ड से मैं बच जाऊँ, यह कथमपि सम्भव नहीं है। इहलौकिक दण्ड से कदाचित् वह बच जाय, परन्तु पारलौकिक दण्ड से बचना दुष्कर है। हाँ, जिस व्यक्ति ने अमुक अपराध या दुष्कर्म किया है, वह व्यक्ति पश्चात्तापपूर्वक निष्पक्ष गुरु के समक्ष अपनी आलोचना-निन्दना करे, समाज या सम्वन्धित जन-समूह के समक्ष अपना अपराध नम्रतापूर्वक सपश्चात्ताप स्वीकार करे और तदनुरूप प्रायश्चित्त अंगीकार करके आत्मशुद्धि कर ले तो उसके उक्त दुष्कर्म का दण्डरूप में फल उसे बहुत ही स्वल्प मिलता है।

इसी प्रकार शुभ फलाकांक्षा के बिना कोई भी सत्कार्य या परोपकार का कार्य—सेवाकार्य करता है, तब भी उसे उसका फल शुभ ही मिलता है।

---

१. 'जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए।' —सूत्रकृतांगसूत्र

२. 'जहाकडं कम्म, तहासि भारे।' —सूत्रकृतांगसूत्र

३. 'सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति,
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति।' —औपपातिक सूत्र

परन्तु बुरा कर्म करे और फिर चाहे कि उसका फल न मिले, तो केवल न चाहने से उक्त दुष्कर्म का फल मिलने से रुक नहीं जाता। जैसे—सामग्री इकट्ठी होने पर कार्य अपने-आप होने लगता है, इसी प्रकार चोरी आदि दुष्कर्मों के लिए विचार करने, तदनुरूप साधन, सहायक और उपाय जुटाने पर, एवं चोरी के लिए दृढ़निश्चयपूर्वक चल पड़ने पर वह उक्त चोर द्वारा स्वतः होने लगती है।

इसी प्रकार एक व्यक्ति सूर्य के प्रचण्ड ताप में खड़ा हो, मिर्च-मसाला भरी हुई गर्म चीज खा रहा हो, और फिर वह चाहे कि मुझे पानी की प्यास न लगे तो क्या किसी तरह वह जलपिपासा रुक सकती है ? कदापि नहीं। इसी प्रकार दुष्कर्म का फल न चाहने पर भी चेतनाशील व्यक्ति के साथ कर्म का संयोग होने पर उसका फल मिले बिना नहीं रहता।

यदि ईश्वरकर्तृत्ववादी यह कहें कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर ही कर्म अपना फल प्राणियों पर प्रगट करते हैं, कर्म सीधे ही (Directly) फल नहीं दे देते, तो यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। किसी ने मिर्च खाने की क्रिया की, उस समय क्या मुँह जलाने ईश्वर आएगा ? उसे तो तत्काल उक्त क्रिया से होने वाले कर्म का फल प्राप्त होता है। वास्तव में कर्म करने के समय में जीव के परिणामों के अनुसार स्वतः ही उसमें ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं, जिनसे प्रेरित होकर कर्मकर्ता कर्म का फल स्वयमेव भोगता है। उसमें ईश्वर को कर्मफल भुगवाने के लिए बीच में डालने की आवश्यकता नही रहती। इसी तथ्य का समर्थन भगवद्गीता ने किया है।[१]

अगर ईश्वर प्रत्येक प्राणी के प्रति दिन और प्रति रात्रि में होने वाले हजारों-लाखों कर्मों का फल देने लगेगा, तो उसे संसार के अनन्त-अनन्त जीवों के कर्मों का लेखा-जोखा रखना पड़ेगा, फिर फल के विषय में सोचने, फल भुगवाने, तथा जीव द्वारा फल भोगते समय भी परिणामों के अनुसार बंधने वाले कर्मों का फल भुगवाने में ईश्वर को इतना समय कहाँ मिलेगा ? फिर वह अपने अनन्त ज्ञान-दर्शन-अनन्तशक्ति और आनन्दरूप परम आत्मिक ऐश्वर्य से रहित हो जाएगा। उस पर नाना प्रकार के आक्षेप भी आएँगे, वह सांसारिक प्राणियों की तरह कर्मों से लिप्त होकर फिर जन्म-मरण रूप संसार में परिभ्रमण करने लगेगा। अतः जीव कर्म करने में

---

१. न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्म-फल-संयोग, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥ —भगवद्गीता अ. ५ श्लो. १४

प्रभु (ईश्वर) लोक (जगत्) के कर्तृत्व और कर्मों का सृजन नहीं करता, न ही कर्मफल का संयोग कराता है। यह जगत् अपने स्वभावानुसार प्रवृत्त होता है।

जैसे स्वतंत्र है, वैसे ही कर्मफल भोगने में भी स्वतंत्र ही रहता है, ईश्वर का वहाँ कोई हस्तक्षेप नहीं होता। मुक्त ईश्वर को कर्मफल भुगवाने के प्रपंच में डालना उचित नहीं।

तीसरे प्रहार का परिहार—ईश्वर भी चेतन है और जीव भी चेतन है। फिर उनमें अन्तर ही क्या है ? अन्तर केवल इतना ही हो सकता है कि ईश्वर की सभी शक्तियाँ पूर्णरूप से विकसित हैं जबकि जीव की सर्वशक्तियाँ कर्म के आवरणों से आच्छादित हैं। जब जीव अपने ज्ञानादि रत्नत्रय में सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा अपने कर्मावरणों को दूर कर देता है, तब उसकी समग्र आत्मिक शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित-अभिव्यक्त हो जाती हैं। फिर जीव और ईश्वर में विषमता और तरतमता किस बात की रह गई ? विषमता और तरतमता का कारण तो औपाधिक कर्म हैं। जैसे—पूर्णरूप से प्रकाशित मध्याह्न के सूर्य के प्रकाश और आतप को बादल चाहे जितना आच्छादित और मन्द कर दें, फिर भी बादलों के हटते ही सूर्य पुनः पूर्णरूप से प्रकाशित हो उठता है, वैसे ही समग्र शक्तियों से परिपूर्ण सांसारिक आत्मा भी कर्मों के बादलों से कितना ही आवृत हो जाए, किन्तु सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय एवं तप, संयम के कारण कर्ममेघों का आवरण हटते ही वह अपनी शुद्ध और पूर्ण प्रकाशयुक्त अवस्था में आ जाती है।

सोने में से मैल निकाल दिया जाए तो फिर मलिन सोने को शुद्ध सोना होने में कोई संदेह नहीं रह जाता। इसी तरह आत्मा में से कर्ममल को दूर करने पर शुद्ध आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

औपाधिक कर्मों के हटने पर भी यदि विषमता बनी रही तो फिर कर्म-मुक्ति की साधना किस काम की ? वह मुक्ति ही क्या, जो कर्ममुक्त हो जाने पर भी आत्मा को पुनः विषमतामय संसार में डाल दे। इसलिए यह मानने में किसी प्रकार की सैद्धान्तिक बाधा या आपत्ति नहीं है, कि कर्मों से मुक्त हो जाने पर सभी जीव मुक्त परमात्मा (ईश्वर) हो जाते हैं।

युक्ति-प्रमाण-विरुद्ध कोरी कल्पना या गतानुगतिकता अथवा अन्ध-परम्परा के आधार पर यह प्रतिपादन करना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए, कथमपि उचित नहीं है। आत्माएँ अनन्त हैं, और वे सभी स्वरूप एवं तत्त्व की दृष्टि से ईश्वर ही हैं। इसीलिए 'बृहदालोयणा' में कहा गया है—

सिद्धां जैसो जीव है, जीव सोही सिद्ध होय।
कर्ममैल का आन्तरा, बूझे विरला कोय ॥

संसार में अनन्त-अनन्त आत्माएँ (जीव) हैं, केवल कर्म-बन्धनरूप उपाधि के कारण वे छोटे-बड़े, विभिन्न रूपों में सांसारिक दृष्टिगोचर होती

हैं। यह सिद्धान्त संसार के समस्त जीवों (आत्माओं) को अपने में सुषुप्त एवं प्रच्छन्न—आवृत ईश्वरत्व—परमात्मत्व प्रगट करने का पूर्ण उत्साह एवं बल प्रदान करता है। और तदनुरूप सम्यक्-पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देता है। अतीत में भी कर्मवाद के इस सिद्धान्त के अनुसार अनन्त-अनन्त मानवात्मा स्वकीय सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा (ईश्वर) हुए हैं, भविष्य में भी होंगे, और वर्तमान में भी महाविदेहक्षेत्र में हो रहे हैं।

सृष्टिकर्तृत्व एवं एकेश्वरत्व का समन्वयात्मक समाधान

जैनदर्शन के प्रखर पुरस्कर्ता आचार्य हरिभद्रसूरि ने ईश्वर (परमात्मा) के विषय में जैन, वैदिक दोनों धर्मधाराओं का समन्वयात्मक श्लोक दिया है। उसका भावार्थ यह है कि[1] आत्मा ही (निश्चयदृष्टि से) अनन्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्तिरूप परम आत्मिक ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण ईश्वर माना गया है। वह निश्चयदृष्टि से तो अपने ज्ञानादिचतुष्टय-रूप स्व-भाव का कर्त्ता-भोक्ता है, [2]और व्यवहारदृष्टि से जो जीवन्मुक्त (अघाति-कर्मयुक्त) ईश्वर अथवा अष्टकर्मयुक्त बद्ध ईश्वर है, वह अपने शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है। इसे ही दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं,—सिद्ध, मुक्त एवं बद्ध तीनों प्रकार के ईश्वर अपनी-अपनी सृष्टि के कर्त्ता-भोक्ता हैं। और ये तीनों प्रकार के ईश्वर अकेले-अकेले (एकाकी) ही अपनी सृष्टि के कर्त्ता-भोक्ता तथा कर्मक्षयकर्त्ता हैं। इस अपेक्षा से ईश्वर-कर्तृत्ववाद एवं ऐकेश्वरवाद, दोनों ही सिद्धान्तों का समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित हो गया।

इस प्रकार 'कर्मवाद' पर जो जो आक्षेप थे, उन सबका यथायोग्य समाधान एवं समन्वय जैनदर्शन ने किया है।

■

---

१. पारमैश्वर्य-युक्तत्वात् आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादोव्यवस्थितः॥

—शास्त्रवार्तासमुच्चय स्तवक ३, श्लो. १४

२. अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य। —उत्तराध्ययन २०/३७

८

कर्मवाद के अस्तित्व-विरोधी वाद-१

कर्मवाद को चुनौती देने वाले छह वाद

जैनदर्शन ने विश्व की विविधताओं, विचित्रताओं तथा विभिन्नताओं के कारण के रूप में कर्मवाद को प्रस्तुत किया है। परन्तु विश्व की रचना एवं परिणमनरूप घटना की विचित्रता के कारणों के सम्बन्ध में अनेक वाद दृष्टिगोचर होते हैं। औपनिषदिक युग से पूर्वकाल में वैदिक मनीषियों ने इस विचित्रतामयी सृष्टि, वैयक्तिक विभिन्नताओं, प्राणी की विभिन्न सुख-दुःखजनक अनुभूतियों तथा शुभाशुभ प्रवृत्तियों के कारण की खोज एक या अनेक देववाद, यज्ञवाद और ब्रह्मवाद में की। उनकी खोज का मुख्य आधार बाह्य था। ऋग्वेद से भी यह प्रगट नहीं होता कि उस समय विश्ववैचित्र्य अर्थात्—जीवसृष्टि के वैचित्र्य के निमित्त के कारण पर भी विचार किया गया हो। उपनिषद्काल से सृष्टि की पूर्वोक्त विविधताओं का समाधान करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों एवं विचारकों ने अपने-अपने मन्तव्य एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं।

इस विषय का सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद्[1] में मिलता है। वहाँ प्रश्न किया गया है कि इस विश्ववैचित्र्य का क्या कारण है? कहाँ से हम सब उत्पन्न हुए हैं? किसके बल पर हम सब जीवित हैं? हम कहाँ स्थित हैं? अपने सुख-दुःख में किसके अधीन होकर हम प्रवृत्त होते हैं? उत्तर दिया गया—"काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी आदि (पंचभूत) और पुरुष ये जगत् के कारण (योनि—उत्पत्ति के मूल) हैं, यह चिन्तनीय है। इन सबका संयोग भी कारण नहीं है। सुख-दुःख हेतु होने से आत्मा भी जगत् को उत्पन्न करने में असमर्थ है।"

इस श्लोक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय के चिन्तक विश्ववैचित्र्य के कारण की खोज में तत्पर हो गए थे किन्तु वे किसी एक

१. 'कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माऽप्यनीशः सुख-दुःखहेतोः ॥'

—श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१/२

निर्णय पर नहीं पहुँच सके थे कि काल आदि में से कौन-सा वाद माना जाए? इसलिए उन्होंने इस उपनिषद् में इन सब वादों के अलग-अलग नाम गिनाकर इनमें से किसी एक को अथवा सबके संयोग को मानने वाले वादों का प्रतिपादन-मात्र किया है, अपना निर्णय नहीं दिया है। इससे मालूम होता है कि विश्ववैचित्र्य की व्याख्या उस समय के चिन्तक अपने-अपने दृष्टकोण से करते थे।

यह तो निश्चित है कि प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। विश्व-रचना या विश्ववैचित्र्यरूप कार्य (परिणाम) के पीछे भी कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। यद्यपि जैनदर्शन में विश्ववैचित्र्य की व्याख्या कर्मवाद के आधार पर की गई, तथापि निम्नोक्त पाँच कारणों (वादों) पर विचार करना अनिवार्य बताया है— (१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) कर्म और (५) पुरुषार्थ।

एकान्तवाद मिथ्या है

इन वादों के पुरस्कर्ताओं ने अपने-अपने वाद को ही प्रधानता दी। इन पाँचों वादो का परस्पर भयंकर संघर्ष रहा। फलतः इन सभी ने परस्पर एक-दूसरे के वाद का खण्डन और अपने माने हुए वाद के द्वारा ही कार्य-सिद्धि का मण्डन किया। इसलिए अपने-अपने वाद के एकान्त आग्रह के कारण ये सभी वाद एकांगी हो गए; क्योंकि ये प्राणियों के सुख-दुःख का कारण एकांगी रूप से बताते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अलावा, सूत्रकृतांग, सन्मतितर्क, महाभारत, गोम्मटसार, अंगुत्तरनिकाय, भगवद्गीता एवं महाभारत के शान्तिपर्व आदि में भी काल आदि वादों के सम्बन्ध में चर्चा उपलब्ध होती है।

कालवाद-मीमांसा

श्वेताश्वतर उपनिषद् आदि में उक्त वादों में कालवाद प्राचीन प्रतीत होता है। अथर्ववेद में एक कालसूक्त है, उसमें बताया गया है कि काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया। काल के आधार पर सूर्य तपता है। काल के आधार पर ही समस्त भूत रहते हैं। काल के कारण ही नेत्र देखते हैं। काल ही ईश्वर है। वह प्रजापति का भी पिता है।[१] इस प्रकार काल को समग्र सृष्टि का मूलाधार माना गया है। काल को समस्त प्राणियों के सृजन-संहारादि का कारण बताते हुए 'महाभारत' में भी कहा गया है—[२] "काल ही समस्त

१. अथर्ववेद कालसूक्त १९/५३-५४

२. कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥ —महाभारत १/२४८

भूतों (प्राणियों) का सृजन करता है, वही संहार करता है, सभी के सो जाने पर भी काल जाग्रत रहता है। काल दुरतिक्रम है।" महाभारत के आदिपर्व (१/२७२-२७६) में कालवाद के महत्त्व का विस्तृत विवेचन है। जगत् के समस्त भाव, अभाव, सुख और दुःख कालमूलक हैं। काल ही संसार के सारे शुभाशुभ विकारों—अतीत-अनागत-वर्तमान भावविकारों—का उत्पादक एवं कारण है। यह दुरतिक्रम महाकाल जगत् का आदि-कारण है। उसमें यहाँ तक कहा गया है कि कर्म अथवा यज्ञ-यागादि अनुष्ठान या किसी पुरुष द्वारा मनुष्य को सुख-दुःख प्राप्त नहीं होता, अपितु काल द्वारा ही प्राणी सब कुछ प्राप्त करता है। समग्र कार्यों में काल ही समान रूप से कारण है। तथा काल ही विश्व की विचित्रता का मूल कारण है, यही समग्र जीवसृष्टि के जीवन-मरण आदि का आधार है, इत्यादि।[१]

दार्शनिक काल में नैयायिक आदि दार्शनिको ने जगत् के प्राणियों के जनक के रूप में ईश्वरादि कारणों के साथ काल को भी साधारण कारण माना है।[२]

'गोम्मटसार' में काल को सब की उत्पत्ति और विनाश का तथा सोते हुए प्राणियों को जगाने का कारण बताया गया है।[३] शास्त्रवार्तासमुच्चय मे कहा गया है—बटलोई आदि साधनो के होने पर भी अनुकूल काल के बिना मूंग भी पक नहीं सकते। तथा जीवों का गर्भ में प्रवेश, किसी अवस्था (वय आदि) की प्राप्ति एवं शुभाशुभ का अनुभव आदि समस्त घटनाएँ काल पर निर्भर हैं।[४]

काल के प्रभाव से ही ससार का प्रत्येक कार्य (क्रिया) हो रहा है। जिस वस्तु, बात या बनाव का समय पक जाता है, तभी वह वस्तु, बात या बनाव बनता है। समय आने पर ही अमुक वस्तु पैदा होती है, और समय पूरा होते ही नष्ट हो जाती है। बालक या बालिका अमुक मास के होने पर ही बोलने लगते हैं, जन्मते ही तो वे सिर्फ रो सकते हैं। अमुक वय होने पर ही बालक स्वयं चल-फिर सकता है, जन्म होने के बाद शीघ्र ही वह चल-फिर नहीं सकता। अमुक वर्ष का होने पर ही पुरुष के दाढ़ी-मूँछें आती हैं। दूध में

१. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २५, २८, ३२, ३३ आदि
२. जन्यानां जनकः कालः, जगतामाश्रयो मतः। —न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली का. ४५
३. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गाथा ८७९
४. (क) किञ्च कालादृते नैव मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते।
स्थाल्यादि-संनिधानेऽपि, ततः कालादसौ मता॥ —शास्त्रवार्ता समुच्चय २/५५
(ख) शास्त्रवार्ता समुच्चय २/१६५

छाछ का जावण डालने के बाद अमुक काल के बाद ही उसका दही जमता है। वृक्ष में फल भी अमुक समय के बाद ही पकता है, पहले नहीं।

काल के पके बिना स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति आदि भी कुछ नहीं कर सकते। अच्छे-बुरे कर्मों का फल भी तुरंत नहीं मिलता, योग्य समय आने पर ही उनका फल प्राप्त होता है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य तपता है और शीत ऋतु में ठंड पड़ती है। ग्रीष्म ऋतु में बर्फ और वर्षा नहीं पड़ती। कई बार मनुष्य के द्वारा प्रयत्न करने पर भी कार्य नहीं होता, वह समय आने पर ही यथायोग्य ढंग से हो जाता है।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग अथवा उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालचक्र के छह-छह आरे, तथा उस-उस समय जनता के भाव काल के आधार पर परिवर्तित होते रहते हैं। अकाल में कोई भी वस्तु नहीं बनती। समय आये बिना उस वस्तु को बनाने का चाहे जितना प्रयत्न किया जाए नहीं बनती, प्रत्युत सारी मेहनत बेकार जाती है। अतः कोई कार्य बनने, न बनने का कारण काल है। समय पक जाने पर उस वस्तु के बनने को कोई रोक नहीं सकता। अकाल में आम नहीं पकते। मोसंबी, अंजीर आदि फल तथा चने, गेहूँ आदि अन्न सर्दियों में ही होते हैं। मोठ, बाजरी चौमासे में ही होती है।

भारतवर्ष में बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ये छह ऋतुएँ अपने-अपने समय पर ही आती हैं। दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद पुनः दिन आता है। अमुक समय होने पर ही सूर्य और चन्द्रमा, नक्षत्र और तारे गगनमण्डल में उदित होते हैं। बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था काल की महत्ता को ही उजागर कर रही हैं। जीवन के इन तीन पड़ावों में उस-उस अवस्था में योग्य भाव, हार्दिक विकास, बौद्धिक बल एवं शक्तियों का विकास-ह्रास भी काल का ही आभारी है। वस्तुएँ गलती हैं, सड़ती हैं, विध्वस्त होती हैं, उनका रंग-रूप बदल जाता है, उनकी कार्यक्षमता भी उत्तरोत्तर कम हो जाती है, इसमें काल ही कारण बनता है। प्रत्येक चौबीसी में चौबीस तीर्थंकर तथा बारह चक्रवर्ती होते हैं, वे भी अपने-अपने समय में आते हैं। उसी समय में होते हैं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के अमुक-अमुक आरे में ही ये होते हैं, अन्य आरों में ये जन्म नहीं लेते।

निष्कर्ष यह है कि समस्त क्रियाओं, घटनाओं, बनावों तथा समग्र अभाव और विनाश का कारण सिर्फ काल है। काल के सिवाय अन्य कारण खोजना निरर्थक बौद्धिक व्यायाम करना है।

कालवाद का निराकरण शास्त्रवार्तासमुच्चय[1] तथा माठरवृत्ति कारिका में किया गया है।

स्वभाववाद-मीमांसा

स्वभाववाद भी अपने अनूठे तर्क और दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। स्वभाववाद का कहना है कि जगत् में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, वे सब पदार्थों के अपने-अपने स्वभाव के प्रभाव से हो रहे हैं। इसमें काल, नियति, कर्म आदि क्या कर सकते हैं? आम की गुठली में ही आम का वृक्ष और फल होने का स्वभाव है, नीम की निम्बोली में आम का वृक्ष या फल होने का स्वभाव नहीं है। इसलिए निम्बोली में ही नीम का पेड़ और फल होने का स्वभाव है। गन्ना मीठा और नीम तथा करेला आदि स्वभाव से ही कड़वे क्यों होते हैं? इसमें उनका अपना-अपना स्वभाव ही कारण है। सूर्य और अग्नि स्वभाव से गर्म हैं, चन्द्रमा शीतल है, क्या काल, नियति या कर्म इन्हें ठंडा या गर्म करते हैं? इनका स्वभाव ही वैसा है।[2] बर्फ का स्वभाव ही ठंडा है। क्या काल उसे गर्म कर सकता है?

काल हजारों वर्षों तक मंडराता रहे तो भी वटवृक्ष पर आम का फल, गुलाब के पौधे पर चम्पा, चमेली आदि के फूल उत्पन्न नहीं कर सकता। सभी वस्तुएँ, सभी प्राणी और सभी घटनाएँ अपने-अपने स्वभाव को लेकर होती हैं। स्वभाव न हो तो काल बेचारा क्या कर सकता है? कोई भी द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, इसमें काल का क्या काम है? जिसका जैसा स्वभाव होता है, वैसा ही उसका परिणाम या परिपाक होता है। प्रकाश की प्रकाशकर्त्री शक्ति, अन्धकार की अन्धकारशक्ति तथा वायु की अप्रतिबद्ध एवं अदृश्य गतिवाहनशक्ति स्वभाव की ही आभारी है। पर्वत का स्थिर रहना, हवा का चलना, नदी और झरने का बहना, समुद्र में उत्ताल तरंगें उठना, सरोवर के जल का शान्त रहना आदि सब स्वभाव के कारण ही हैं। क्या काल इन्हें वैसा बनाता है?

काष्ठ चाहे जितना बड़ा या भारी भरकम क्यों न हो, पानी पर तैर जाता है और लोहे का छोटा-सा टुकड़ा पानी में डालने पर डूब जाता है,

---

१. (क) शास्त्रवार्तासमुच्चय २५२-९
(ख) माठरवृत्ति, का. ६१

२. स्वभाववाद-बोधक निम्नोक्त श्लोक प्रसिद्ध है—
नित्यसत्त्व भवत्यन्ये, नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः॥
अग्निरुष्णो जलं शीतं, समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥

इसी प्रकार तुम्बा पानी पर तैर जाता है और पत्थर पानी में डूब जाता है, इन सबमें स्वभाव का ही चमत्कार है, काल इसमें क्या कर सकता है?

गोम्मटसार, बुद्धचरित और सूत्रकृतांग टीका में कहा गया है—बबूल आदि के कांटों को कौन तीखा (नुकीला) करता है? मृग, मोर तथा अन्य पक्षियों को विचित्र रंगों से कौन चित्रित करता है? इन सबका एकमात्र कारण स्वभाव है। अतः इस सृष्टि की विचित्रता या रचना का अन्य कोई ईश्वर, काल आदि कारण नहीं दिखता। विश्व में सब कुछ स्वभाव से निर्हेतुक होता है, दूसरे के प्रयत्न या इच्छा को इसमें अवकाश नहीं है।[1]

गीता और महाभारत[2] में भी स्वभाववाद का उल्लेख है। स्वभाववादी जगत् की प्रत्येक घटना, कार्य, गतिविधि, प्रगति या रचना आदि को स्वभावमूलक मानता है। वह जगत् की विचित्रता का कोई नियामक या कर्ता नहीं मानता।

शास्त्रवार्तासमुच्चय में स्वभाववाद का पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया है—जीव का गर्भ में प्रविष्ट होना, विविध अवस्थाओं को प्राप्त करना, शुभ-अशुभ अनुभवों का होना स्वभाव के बिना शक्य नहीं है। इसलिए समस्त घटनाचक्र का कारण स्वभाव ही है। जगत् के सभी पदार्थ (भाव) स्वभाववश अपने-अपने स्व-भाव-स्वरूप में उस-उस प्रकार से रहते हैं, और किसी की इच्छा के बिना ही फिर स्वभाव से निवृत्त हो जाते हैं।[3]

कालादि के मौजूद रहने पर भी स्वभाव के बिना अभीष्ट कार्य नहीं होता। एक स्त्री युवावस्था में है, उसका शरीर भी स्वस्थ और सशक्त है, पति का योग भी है, फिर भी सन्तानोत्पत्तिरूप अभीष्ट कार्य नहीं होता, क्योंकि वह वन्ध्या है। संतान रहित रहना वन्ध्या का स्वभाव है।

---

१. (क) को करइ कंटयाणं, तिक्खत्तं मिय-विहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहाओ, इदि सव्वंपि य सहाओत्ति॥
—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ८८३

(ख) कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृग-पक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः? ।—सूत्रकृतांग टीका

(ग) बुद्धचरित ५२ तथा १८/३१

२. (क) भगवद्गीता ५/१४
(ख) महाभारत शान्तिपर्व २५/१६

३. (क) शास्त्रवार्तासमुच्चय २/१७१-१७२
(ख) सर्वे भावाः स्वभावेन स्व-स्वभावे तथा तथा।
वर्त्तन्तेऽथ निवर्त्तन्ते कामचार-पराङ्मुखाः॥ —शास्त्रवार्तासमुच्चय २/५८

अतः संसार में प्रत्येक वस्तु अपने-अपने मूल स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। वर्षा आदि ऋतुओं में प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में आकाश में रंग-बिरंगे बादल छा जाते हैं, उनके रंगों की विविधता, नवीनता और आकर्षकता दर्शक को मुग्ध कर देती है और एक घंटे के पश्चात् देखो तो सब अदृश्य एवं लुप्त। कालादि कौन चित्रकार इन्हें चित्रित कर गया और बाद में मिटा गया? कोई नहीं। ये सब अपने स्वभाव से ही बने और स्वभाव से ही बिगड़े-बिखरे।

मोगरा, चमेली, जाई, जूई, गुलाब, चम्पा आदि फूलों को अलग-अलग डिजाइन, आकृति, सुगन्धियाँ, रंग-रूप में किसने बनाए? अणुबम आदि में प्रचण्ड शक्ति कहाँ से आई? किसने इनमें शक्ति भरी? ऑक्सीजन और हाईड्रोजन के मिलने पर उनसे पानी कौन निष्पन्न करता है? विद्युत् का प्रवाह एक सैकंड में लाखों माइल तक पहुँच जाता है, कौन इसे इतनी दूर धकेलता है? इनमें स्वभाव के सिवाय और कोई कारण नहीं है। उस-उस वस्तु के स्वभाव पर ही यह सब निर्भर है।

जिसका जैसा स्वभाव होता है, वह उसी प्रकार काम करता है। इसके प्रमाण में सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। जैसे—सूंठ खाने से वह वात नाश करती है, और हरें खाने से वह कब्ज मिटाती है। इसी प्रकार काले कोयले पर चाहे जितना साबुन रगड़ो, वह सफेद नहीं होगा, मूंग के कोरडू को पानी में चाहे जितना उबालो, चाहे जितनी आँच दो, वह कभी सीझेगा नहीं। आशय यह है कि कोई भी पदार्थ अपना स्वभाव नहीं छोड़ता। स्वभाव का अतिक्रमण करना अतीव दुष्कर है।[1]

जगत् में जो भी घटित हुआ है, होता है अथवा होगा, उसका आधार वस्तु का निजस्वभाव है। स्वभाव के समक्ष बेचारे काल आदि अकिंचित्कर हो जाते हैं।

माठर वृत्ति, न्यायकुसुमांजलि,[2] विशेषावश्यकभाष्य प्रभृति ग्रन्थों में एवं अन्य अनेक दार्शनिकों ने स्वभाववाद का सयुक्तिक निराकरण किया है।

यदृच्छावाद-मीमांसा

यदृच्छावाद का मन्तव्य[3] है कि कोई भी घटना निष्कारण, अहेतुक या

---

१. 'स्वभावो दुरतिक्रमः' —पंचतंत्र

२. (क) माठर वृत्ति का. ६१

(ख) न्याय-कुसुमांजलि १/५

३. न्यायभाष्य ३/२/३१

अकस्मात् ही होती है। किसी निश्चित कारण के बिना ही कार्य की उत्पत्ति होती है। न्यायसूत्रकार के अनुसार[1] यदृच्छावाद का मानना है कि अनिमित्त ही, अर्थात्—किसी निमित्तविशेष के बिना ही काँटे की तीक्ष्णता के समान भावों की उत्पत्ति होती है। यदृच्छावाद एक प्रकार का अटकल-पच्चूवाद है। मनुष्य जिस विषय में कार्य-कारण-परम्परा का सामान्य बोध भी नहीं कर पाता, उसके सम्बन्ध में वह 'यदृच्छा' का पल्ला पकड़ता है। यदृच्छावाद के अनुसार किसी कार्य का कोई भी कारण या निमित्त नहीं खोजा जाता। इसमें कार्य-कारणभाव आदि के विषय में कोई भी विचार नहीं किया जाता। एक प्रकार से इसके प्रति उपेक्षा ही है। इसलिए यदृच्छावाद को सरल शब्दों में अकारणवाद, अनिमित्तवाद, अहेतुवाद, अकस्मात्वाद या अटकलपच्चूवाद कहा जा सकता है। न्यायसूत्रकार ने[2] इस वाद का निराकरण भी किया है। महाभारत में भी यदृच्छावाद का उल्लेख है।[3]

'कुछ लोग स्वभाववाद और यदृच्छावाद को एक ही मानते हैं, किन्तु दोनों में मौलिक अन्तर यह है कि स्वभाववादी स्वभाव को कारणरूप मानते हैं, जबकि यदृच्छावादी कारण की सत्ता से ही इन्कार करते हैं।'[4]

यदृच्छावाद कर्मवाद, ईश्वरवाद एवं नियतिवाद के विरोध में प्रयुक्त एक प्रतिशब्द है। किन्तु कर्मवाद आदि में तो कार्य-कारणभाव एवं निमित्त-नैमित्तिकभाव का विचार किया जाता है, यदृच्छावाद में तो कार्य-कारणभाव और वैज्ञानिकता दोनों के प्रति बिल्कुल उपेक्षा है।

नियतिवाद-मीमांसा

दार्शनिक और धार्मिक जगत् में कर्मवाद के स्थान में बहुधा नियति-वाद छाया हुआ है। नियतिवाद का अर्थ भी अनेक प्रकार से किया गया है। इसलिए यह वाद काफी जटिल बन गया है।

नियति का एक अर्थ प्रचलित है—भवितव्यता या होनहार। यह अर्थ आम जनता में विशेष प्रचलित है। नियति के इस अर्थ के अनुसार उसकी व्याख्या यों की गई है कि—'जिसका, जिस समय में, जहाँ, जो होना है, वह

---

१. न्यायसूत्र ४/१/२२
२. वही, ४/१/२२
३. महाभारत शान्तिपर्व ३३/२३
४. पं. फणिभूषणकृत न्यायभाष्य का अनुवाद ४/१/२४

होता ही है; जो नहीं होना है, वह उसका, उस समय, वहाँ नहीं होगा।'

सूत्रकृतांगसूत्र की टीका में इस आशय का एक श्लोक भी उद्धृत है, जिसका भावार्थ है—[1] "मनुष्यों को नियति के प्रबल आश्रय से जो भी शुभ या अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, परन्तु जो नहीं होना है, वह नहीं ही होगा। जो भवितव्य है, अर्थात्—होना है, उसे कोई मिटा नहीं सकता।"

लोकतत्त्व[2] में इसी आशय की व्याख्या मिलती है। श्वेताश्वतर उपनिषद्[3] के सिवाय अन्य उपनिषदों में इस वाद का विशेष विवरण नहीं मिलता। नन्दीसूत्र की टीका में एक श्लोक इस सम्बन्ध में उद्धृत है, जिसका आशय यह है कि [4]समस्त जीवों के सभी भाव नियत रूप से स्थित हैं। इसलिए उसके स्वरूपानुसार अपनी गति से सभी कार्य नियतिजन्य होते हैं। गोम्मटसार[5] एवं शास्त्रवार्तासमुच्चय[6] में नियतिवाद की व्याख्या करते हुए कहा गया है—जो बात जिस समय, जिस रूप में होनी होती है, वह उसी रूप में, उसी समय, उसी कारण से, उसी रूप में नियत (निश्चित) ही होती है। कौन इसे रोकने में समर्थ है? अतः भवितव्यता, होनहार या अवश्यम्भाविता को प्रत्येक घटना या स्थिति का कारण मानना नियतिवाद का सर्वमान्य प्रचलित प्रथम अर्थ है।

नियतिवाद के इस अर्थ के अनुसार जो होना होता है, वह अवश्य होता है, उसमें मनुष्य की धारणा, योजना या कर्तृत्वक्षमता की गणना काम नहीं आती, न ही उसमें काल, स्वभाव या पुरुषार्थ को कोई अवकाश है। वैसा होने का काल पक गया हो, और उसका स्वभाव भी वैसा होने का हो, किन्तु भवितव्यता (नियति) न हो तो वैसा नहीं होता। जगत् में प्रत्येक बनाव या बनाने का आधार होनहार पर ही है। एक दृष्टि से यह अकस्मात् है, परन्तु वह नियत है, इसी तरह से होता है, दूसरी तरह से नहीं। इसमें

१. प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्नेनाभाव्यं, भवति न भविनोऽस्ति नाशः॥
—सूत्रकृतांग टीका १/१/२

२. लोकतत्त्व अ. २९

३. श्वेताश्वतर उपनिषद १/२

४. नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधतः॥ —नन्दीसूत्र टीका

५. जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होति तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो हु॥ —गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ८८२

६. यद् यदैव यतो यावत्, तत् तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः॥ —शास्त्रवार्ता-समुच्चय २/१७४

जरा भी सन्देह नहीं है।

उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति समुद्र पार करके सुदूर देश की यात्रा करता है, बड़े-बड़े गहन और भयानक जंगलों को पार करता है, अपने शरीर का लाखों प्रकार से जतन करता है, परन्तु जो होनी होती है, वही होती है, अनहोनी कभी नहीं होती। महान् निष्णात डॉक्टर पन्द्रह-पन्द्रह मिनट में इंजेक्शन लगाते हों, हजारों सेवक सेवा और परिचर्या में उपस्थित हों, परन्तु जो जीव मरने वाला होता है, वह इस लोक से विदा हो ही जाता है। दूसरी ओर एक व्यक्ति गाढ़ जंगल में हो, सुदूर पर देश यात्रा पर हो, उस समय दुःसाध्य रोग का शिकार हो जाए, और पास में इलाज करने वाला कोई वैद्य, डॉक्टर, हकीम अथवा परिचर्या करने वाला कोई कुटुम्बीजन न हो, फिर भी मृत्यु के मुख से उसे बचना हो तो वह बच ही जाता है। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति तीन मंजिले मकान से गिरने पर भी बच जाता है, और कोई व्यक्ति केले के छिलके से पैर फिसलते ही खत्म हो जाता है। इसलिए जीव का जीने का स्वभाव होने पर भी तथा हजारों प्रकार से रक्षा के लिए पुरुषार्थ करने पर भी और काल द्वारा भी सतत जीव को कवलित करने के लिए उद्यत होने पर भी परिणाम जो होना होता है, वही होता है। होनहार या भवितव्यता को कोई मिटा नहीं सकता; उसमें काल, स्वभाव या पुरुषार्थ का दाव नहीं चलता।[१]

जगत् में हम देखते हैं कि जिसके विषय में सोचा नहीं था, वह अप्रत्याशित, अतर्कितरूप से घटित हो जाता है, और पहले से सोचा हुआ निष्फल हो जाता है। दुनिया में एक ही रात में शासन-परिवर्तन, पद-परिवर्तन एवं व्यक्तित्व-परिवर्तन हो जाता है। सोचा था एक और हो जाता है दूसरा ही।

एक रूपक द्वारा इसे समझिये—एक वृक्ष पर कोयल केकारव कर रही थी। एक शिकारी ने सामने आकर उस पर तीर का निशाना ताका। उधर से उसे झपटने के लिए बाज उसके सिर पर मंडराने लगा। अगर कोयल ऊपर उड़े तो बाज उसे झपट कर खा जाए और यदि वह सामने उड़े तो शिकारी उसे खत्म कर दे। फिर भी भवितव्यता उसके अनुकूल है जिससे वह बच जाती है। क्योंकि शिकारी के पीछे एक विषधर सर्प बैठा था, उसने शिकारी को डस लिया। तीव्र वेदनावश शिकारी के हाथ से तीर छूट गया, वह उस बाज के जा लगा। शिकारी धरती पर पड़ा और वहीं उसने दम तोड़ दिया।

---

१. नियतिवाद का विशेष वर्णन देखिये—'उत्थान' का महावीरांक पृ. ७४ (श्वे.स्था. जैन कॉन्फ्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित)

बाज भी घायल होकर जमीन पर गिर पड़ा। कोयल यह सुअवसर देखकर वहाँ से उड़ गई। इस प्रकार चारों ओर के संयोग प्रतिकूल थे, फिर भी बचना हो, तब भवितव्यता (नियति) के योग से बचा जा सकता है।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की सेवा में दो-दो हजार देव उपस्थित थे, फिर भी भवितव्यता ऐसी थी कि एक गोपालक ने उसकी दोनों आँखें फोड़ डालीं। इसलिए जो होना होता है, वह हुए बिना रहता नहीं। उसके न होने में आसपास के सहायक, संयोग एवं साधन बिल्कुल उपयोगी नहीं होते।

दो व्यक्ति एक ही रोग के रोगी हैं, दोनों का ऑपरेशन किया गया है, परन्तु उनमें से एक जी जाता है, और दूसरा सेप्टिक हो जाने से मरण-शरण हो जाता है। इसमें भी भवितव्यता (नियति) कारण है। हजारों प्रयत्न किये जाएँ, अनेक व्यक्तियों से सत्परामर्श, सहायता और सहानुभूति मिलने पर भी अन्त में जो होनहार होता है, वही होता है।

इसलिए काल, स्वभाव या कर्म आदि की अपेक्षा नियति बलवान् होती है। नियति के इस अर्थ के अनुसार संसार की प्रत्येक घटना पहले से ही नियत है। उसमें प्राणी का इच्छा-स्वातंत्र्य कुछ भी कर-धर नहीं सकता। पाश्चात्य दार्शनिक 'स्पिनोजा' इसी वाद का समर्थक था। उसका मन्तव्य था कि व्यक्ति अपनी अज्ञानतावश सोचता है कि मैं भविष्य को परिवर्तित कर सकूँगा। परन्तु भविष्य पहले से ही उसी प्रकार सुनिश्चित (नियत) एवं अपरिवर्तनीय है, जिस प्रकार अतीत। अतः जो कुछ होना होगा, वह अवश्य होगा, उसके लिए चिन्ता करने, डरने या आशा लगाए बैठना व्यर्थ है।[१] इसी प्रकार अच्छा होने पर किसी की प्रशंसा करना या बुरा होने पर किसी की निन्दा करना अथवा उस पर दोषारोपण करना भी व्यर्थ है। नियति ही ऐसी थी, इसलिए ऐसा हुआ।

नियति का दूसरा अर्थ है—इस जड़-चेतनमय विश्व में प्रकृति के अटल नियम।[२] इस अर्थ के अनुसार जगत् के सभी कार्य नियति के अधीन होते हैं। कोयल काली क्यों है? खरगोश और बगुला सफेद क्यों? अग्नि की लपटें ऊपर क्यों उठती हैं, नीचे क्यों नहीं जातीं? गाय, बैल आदि पशुओं के चार और मनुष्यों के दो पैर ही क्यों? पक्षी गगन में उड़ सकते हैं, गधे-घोड़े क्यों नहीं? कमल जल में ही क्यों पैदा होता है, स्थल पर क्यों

---

१. नीतिकार कहते हैं—यद् भावि न तदभावि, भावि चेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ता विषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते? —हितोपदेश

२. इस अर्थ का उल्लेख जैनत्व की झांकी, कर्मग्रन्थ भा. १ (प्रस्तावना) आदि में हुआ है।

नहीं? दिनकर पूर्व में ही क्यों उदय होता है, पश्चिम में क्यों नहीं? मछली पानी में ही जिन्दा रह सकती है, जमीन पर क्यों नहीं?

इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है, वह यह है विश्व-प्रकृति के अटल नियम के अनुसार जो नियत है, वही होता है, अन्यथा नहीं। अगर नियति के अटल नियमानुसार कार्य न हो तो संसार में कोई सुव्यवस्था ही नहीं रहेगी। इसलिए संसार में अभी तक जो कुछ हुआ है, भविष्य में जैसा जो कुछ होना है और वर्तमान में भी जैसा, जो कुछ हो सकता है, वह सब पहले से नियत है। नियति के अटल नियम के समक्ष काल, स्वभाव, कर्म आदि सब तुच्छ और अकृतकार्य हैं।

नियतिवाद का वर्णन आकर्षक ढंग से सूत्रकृतांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, उपासकदशांग[1] आदि जैनागमों में हुआ है। गोशालक के नियतिवाद का विवरण भवितव्यता, अकर्मण्यता, भाग्यवाद अथवा अक्रियावाद से अनुप्राणित है।

बौद्धत्रिपिटक दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में[2] मंखली गोशालक के नियतिवाद का विवरण इस प्रकार मिलता है-"प्राणियों की अपवित्रता का कोई कारण नहीं, वे बिना कारण ही अपवित्र होते हैं, इसी प्रकार प्राणियों की पवित्रता (शुद्धता) का भी कोई कारण या हेतु नहीं है, हेतु और कारण के बिना ही वे शुद्ध होते हैं। अपने सामर्थ्य के बल पर कुछ नहीं होता। पुरुष के सामर्थ्य के कारण किसी पदार्थ की सत्ता नहीं है। न आत्मकार है, न परकार है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य (शक्ति) है, और न ही पुरुष का पराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी जीव अवश हैं, दुर्बल हैं, बलवीर्य-रहित हैं। उनमें नियति, जाति, वैशिष्ट्य एवं स्वभाव के कारण परिवर्तन होता है। नियति से निर्मित अवस्था में परिणत होकर छह अभिजातियों में से किसी एक जाति में रहकर प्राणी दुःखों का अनुभव करते हैं। चौरासी लाख महाकल्प के चक्र में घूमने के बाद बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के दुःख का नाश हो जाता है।"

आगे 'बुद्धचरित' में बताया गया है—"यदि कोई यह कहे कि मैं शील, व्रत, तप अथवा ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूँगा अथवा परिपक्व हुए कर्मों को भोगकर उन्हें नामशेष कर दूंगा, तो ऐसी बात

---

१. (क) सूत्रकृतांग २/१/१२
   (ख) व्याख्या-प्रज्ञप्ति शतक १५
   (ग) उपासकदशांग अ. ६ और ७
२. दीघनिकाय-सामञ्ञफलसुत्त

कदापि होने वाली नहीं। इस संसार में सुख और दुःख इस प्रकार अवस्थित हैं कि उन्हें परिमित पायली (द्रोण) से नापा जा सकता है। संसार में (उनमें) घटना-बढ़ना (हानि-वृद्धि) अथवा उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं हो सकता। जैसे—सूत की गोली फैंकने पर खुलती हुई उतनी ही दूर जाती है, जितना लम्बा उसमें धागा होता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों के दुःख-संसार का अन्त इसी परिवर्त (आवागमन) में पड़कर होता है।"[1]

नियतिवाद का आध्यात्मिक रूप—[2]नियतिवाद का एक और आध्यात्मिक रूप वर्तमान मे आविष्कृत हुआ है। इसके अनुसार—"प्रत्येक द्रव्य की प्रति समय की पर्याय नियत-सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है, वह अपने नियत स्वभाव के कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादान शक्ति से ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, निमित्त वहाँ स्वयमेव उपस्थित हो जाता है। उसके मिलाने की आवश्यकता नहीं।"

इनके मत से पेट्रोल से मोटर नही चलती, किन्तु मोटर को चलना ही है और पेट्रोल को जलना ही है और यह सब प्रचारित हो रहा है—द्रव्य के शुद्ध स्वभाव के नाम पर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि—"एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करते हैं। जिसको जहाँ जिस रूप में निमित्त बनना है, उस समय उसकी वहाँ अपने आप उपस्थिति हो ही जाएगी। इस नियतिवाद से पदार्थों के स्वभाव और परिणमन का आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षण का अनन्तकाल तक का कार्यक्रम बना दिया है, जिस पर चलने को हर पदार्थ बाध्य है। किसी को कुछ नया करने का नहीं है।"

डॉ. महेन्द्रकुमार तथाकथित नियतिवाद के दुष्परिणाम के विषय में लिखते हैं—"इस तरह नियतिवादियों के विभिन्न रूप विभिन्न समयों में हुए हैं। इन्होंने सदा पुरुषार्थ की रेड़ मारी है और मनुष्यों को भाग्य के चक्कर में डाला है।"[3]

---

१. (क) मज्झिमनिकाय २/३/६
(ख) बुद्धचर्या (सामञ्ञफलसुत्त) पृ. ४६२-६३
(ग) बुद्धचरित पृ. १७१ (कौशाम्बी)

२. (क) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) से उद्धृत
(ख) इस प्रकार के नियतिवाद अपर नाम 'क्रमबद्धपर्यायवाद' के विशेष विवरण के लिए देखिये—वस्तुविज्ञानसार, क्रमबद्धपर्याय आदि (श्री कानजी स्वामी द्वारा लिखित) पुस्तकें।

३. (क) बुद्धचरित पृ. १९१ (कौशाम्बी)
(ख) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. ८४ से उद्धृत

भगवान् महावीर की दृष्टि में नियतिवाद का यह निरपेक्षिक रूप कर्मवाद और पुरुषार्थवाद पर कुठाराघात करने वाला है। भगवान् महावीर को भी कई नियतिवादियों से वाद-विवाद करके उनका युक्ति-युक्त समाधान करना पड़ा था। आजीवकों और जैनों में बहुत-सी बातों में समानता थी, किन्तु मुख्य भेद नियतिवाद और पुरुषार्थवाद का था। जैनागमों में ऐसे कई उल्लेख हैं, जिनसे स्पष्ट प्रतीत होता है, कि स्वयं भगवान् महावीर ने भी उस युग के कई प्रसिद्ध नियतिवादयों को एकान्त एवं निरपेक्ष नियतिवाद के दोष बताकर उनकी मान्यता पुरुषार्थवाद एवं कर्मवाद से सापेक्ष शुद्ध नियतिवाद के रूप में परिवर्तित कराई थी।[१]

■

१. (क) उपासकदशांग अ. ६ एवं ७

(ख) सूत्रकृतांग सूत्र २/१/६, २/१/१२

(ग) व्याख्या-प्रज्ञप्ति सूत्र, शतक १५

९

कर्मवाद के अस्तित्व-विरोधी वाद-२

भूतवाद-समीक्षा

श्वेताश्वतर उपनिषद् में बताये गए सृष्टि-वैचित्र्य के छह कारणों में से भूतवाद पाँचवाँ कारण है।

भूतवाद सृष्टि के सभी पदार्थों की उत्पत्ति पृथ्वी आदि चार भूतों के विशिष्ट संयोग से मानता है। भूतवादियों की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार भूतों,[1] (कोई आकाश को पाँचवाँ भूत मानकर पंचमहाभूतों) से[2] जगत् के समस्त चेतन-अचेतन या मूर्त-अमूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इन भूतचतुष्टय के अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र जड़ या चेतन पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है।

जिसे जैन कर्मवादी आत्मतत्त्व या चेतन तत्त्व कहते हैं, वह इन्हीं चार भूतों की ही एक विशिष्ट परिणति है; जो विशिष्ट प्रकार की परिस्थिति में उत्पन्न होती है, और उस परिस्थिति की अनुपस्थिति में वह वहीं स्वतः बिखर जाती है—नष्ट हो जाती है।

---

१. (क) 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि, तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषय-संज्ञा।'
—तत्त्वोपप्लवसिंह पृ. १

(ख) 'तेभ्यश्चैतन्यम्।' —तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ. २०५

२. (क) गणधरवाद गा. १६४९-१६५०

(ख) विशेषावश्यकभाष्य गा. १५५३

(ग) सूत्रकृतांग पौण्डरीक अध्ययन (श्रु. २, सू. १०) में—'दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूए त्ति आहिए', तथा इसी अध्ययन के नौवें सूत्र में—'इति पढमे पुरिसजाए तज्जीव-तच्छरीरएत्ति आहिए' कहा है।

(घ) सूत्रकृतांग निर्युक्ति गा. ३०

(ङ) बृहदारण्यक २/४/१२

(च) बौद्धपिटक में दीघनिकाय सामञ्जफलसुत्त

भूतचतुष्टय की प्रक्रिया

[1]'जिस प्रकार महुआ, गुड़ आदि वस्तुओं के विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से मद्य यैयार हो जाती है और उसमें मादकता (नशा) पैदा करने की शक्ति स्वयमेव आ जाती है। जैसे—चूना, कत्था, पान, सुपारी आदि पदार्थों के विशिष्ट संयोग से युक्त पदार्थ के सेवन करने से मुख में लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार भूत-चतुष्टय के विशिष्ट संयोग से—सम्मिश्रण से शरीर-सम्बद्ध चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है, जिसका प्रभाव समग्र शरीर, इन्द्रिय आदि में विशिष्ट शक्ति के रूप में देखा जाता है। उस तथाकथित चैतन्य का सदैव शरीर से सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में कहें तो, वह तथाकथित चैतन्य शरीर का ही धर्म है; आत्मा नाम के किसी स्वतंत्र तत्त्व का नहीं। शरीर के नष्ट या विशीर्ण होते (बिखरते) ही; अर्थात्-भूतचतुष्टय के संयोग में कुछ गड़बड़ी होते ही वह चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। बौद्धपिटक में 'अजित केश कम्बली' के भूतचतुष्टयवाद का वर्णन है। 'गणधरवाद' में वायुभूति की शंका के रूप में, तथा विशेषावश्यकभाष्य में भी इस वाद का उल्लेख है। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पौण्डरीक अध्ययन में पंचभूतों से जीव के पैदा होने का वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में विज्ञानघन चैतन्य का भूतों से उत्पन्न होकर उसी में विलीन होने का उल्लेख है। साथ ही "**न च प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति**" ऐसा भी संकेत है।[2]

भूतचतुष्टयवाद का मन्तव्य

जिस प्रकार एक मशीन अनेक छोटे-बड़े कल-पुर्जों से तैयार होती है। उन्हीं के परस्पर संयोग से उसमें गति एवं शक्ति आ जाती है, किन्तु अमुक अवधि के बाद उस मशीन के कल-पुर्जों के घिस जाने या बिगड़ जाने अथवा यंत्र में कोई गड़बड़ी हो जाने पर उसकी वह गति और शक्ति भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार का यह चैतन्य-सम्बद्ध शरीरयंत्र है, जो अमुक अवधि के बाद या किसी प्रकार की असाध्य बीमारी, एक्सीडेंट (दुर्घटना) अथवा किसी प्रकार की गड़बड़ी आदि होने पर चार या पांच महाभूतों का यह विशिष्ट संयोग टूटकर यहीं बिखर जाता है, नष्ट हो जाता है। यह जीवन की धारा गर्भ से लेकर मरण-पर्यन्त चलती है। मरणकाल में शरीर-यंत्र में विकृति आ जाने से जीवनशक्ति समाप्त हो

---

१. (क) न्याय सिद्धान्त मुक्तावली टीका
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४ पृ. १०

२. विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न च प्रेत्य संज्ञाऽस्ति।
—बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/१२

जाती है। इसके बाद न तो कहीं जाना है और न कहीं से आना है। यह खेल यहीं समाप्त हो जाता है। जो कुछ है, यह प्रत्यक्ष दृश्यमान इतना ही लोक है। परलोक या अन्य लोक की कल्पना करना मूर्खता है।[1] आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, धर्म, अधर्म, शुभ-अशुभ कर्म (पुण्य-पाप) आदि सब भ्रान्ति में डालने वाले तत्त्व हैं। भूतचतुष्टय या पंच महाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति और विनाश मानने वाले भूतवादियों के अनुसार इहलौकिक सुख को छोड़कर अन्य किसी लोक के सुखों या अन्य आत्मिक सुखों की कल्पना करना स्वयं को धोखे में डालना है। इनके मत से प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। मानव-जीवन में शुद्ध विचार और तदनुसार आचरण का इनके वाद में कोई स्थान नहीं है। यह भूतात्मवाद उपनिषद्काल से ही यहाँ प्रचलित है। सूत्रकृतांग में 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' के रूप में इसका विवरण है। वहाँ बताया गया है कि कोई मनुष्य म्यान में से तलवार को अलग दिखाता है या हथेली पर आँवला प्रत्यक्ष दिखाता है, अथवा दही में से मक्खन और तिल में से तेल निकाल कर अलग दिखाता है, इसी प्रकार जीव और शरीर को भिन्न मानने वाले शरीर से जीव को पृथक करके दिखा नहीं सकते, अतः जो शरीर है, वही जीव (आत्मा) है।[2]

डार्विन का विकासवाद : भौतिकवाद का रूप

डार्विन का विकासवाद भी इसी भूतचैतन्यवादी भूतवाद से मिलता-जुलता है। वह इसी का परिष्कृत रूप है। इसके सिद्धान्तानुसार चेतन तत्त्व (जीव जाति) का विकास जड़ और मूर्तिक तत्त्वों से ही माना जाता है। इस भौतिकवाद की मान्यता है कि अमीबा, घोंघा आदि बिना रीढ़ के प्राणियों से रीढ़दार पशुओं और मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है। जड़ तत्त्वों से भिन्न स्वतन्त्र कोई चेतनतत्त्व (आत्मतत्त्व) नहीं है। जड़ तत्त्वों के विकास और ह्रास के साथ ही चैतन्य तत्त्व का विकास-ह्रास होता जाता है। अर्थात् प्राणियों की शरीरिक शक्ति के विकास-ह्रास के अनुरूप ही उनमें प्राणशक्ति तथा बौद्धिक शक्ति का विकास-ह्रास होता है। परन्तु इस वाद का

---

१. (क) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार जैन)

(ख) एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः।
भद्रे! वृकपदं पश्य, यद् वदन्ति विपश्चितः॥ —षड्दर्शन समुच्चय श्लोक ८१
—लोकतत्त्वनिर्णय श्लोक २९०

२. (क) सर्वदर्शन संग्रह, परिच्छेद-१

(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ४ पृ. १०

(ग) सूत्रकृतांग श्रु. २, अ. १, सू. ९

निराकरण इसी से हो जाता है कि जड़ और मूर्तिक भूतों से चेतन और अमूर्तिक आत्मा की उत्पत्ति किसी भी प्रकार संभव नहीं है।[1]

यह तथाकथित भूतवाद कर्मवाद के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत है। क्योंकि बहुत-सी बार अच्छा या बुरा कर्म करने वाले को उसका फल तत्काल नहीं मिलता, अगले जन्म या कई जन्मों के बाद मिलता है। परलोक या अन्य लोक न मानने पर तो संसार में सारी ही अव्यवस्था और अराजकता हो जाएगी। फिर तो क्यों कोई अपने पूर्वकृत कर्मों को क्षय करने तथा अहिंसा, विश्वमैत्री, क्षमा, समता, कषायविजय आदि की साधना करेगा? आत्मा को शरीर की तरह मरणधर्मा, विनाशशील मानने से यह बात बनती नहीं है। आत्मा को शरीर से स्वतंत्र चैतन्य तत्त्व मानने पर ही यह सब सम्भव हो सकता है। देह से भिन्न आत्मा की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करने के लिए "मैं सुखी, मैं दुःखी" इत्यादि रूप में अहं-प्रतीति ही सबसे बड़ा प्रमाण है। प्रत्येक प्राणी को ऐसा अनुभव होता ही है।

भूतवाद के विषय में विचारणीय यही है कि इस भौतिक शरीर यंत्र में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, जिजीविषा, संकल्पशक्ति, भावना, अहिंसादि के आचरण की वृत्ति, दया, क्षमा, आदि कोमल भावनाओं का उद्भव, कार्य-कारणभाव का निश्चय इत्यादि बातें जो पाई जाती हैं, वे अकस्मात् कैसे आ जाती हैं? पूर्वकालिक स्मृति ही ऐसी वृत्ति है जो चिरकालीन पूर्वकृत कर्मसंस्कारों के बिना आ नहीं सकती। वे कर्मसंस्कार आत्मा के साथ प्रवाहरूप से अनादिकाल से सम्बद्ध है।

मनुष्यों के अपने जन्म-जन्मान्तरीय कर्मानुरूप संस्कार होते हैं, जिनके अनुसार वे इस जन्म में तथारूप में विकास करते हैं, उन्हें वैसी ही बुद्धि, शक्ति, प्राण, इन्द्रियाँ, शरीर के अंगोपांग आदि सामग्री (पर्याप्ति) मिलती है। अन्यथा एक ही समय में पंचभूतों के विशिष्ट संयोग से उत्पन्न होने वाले दो व्यक्तियों में जो अन्तर पाया जाता है, वह भूतवाद को मानने से घटित नहीं हो सकता।

कर्मवाद के अनुसार पूर्वजन्मों के कर्मसंस्कारों को मानने से ही यह घटित हो सकता है। जन्म-जन्मान्तरीय-स्मरण की अनेकों घटनाएँ अतीत में भी हुई हैं, वर्तमान में भी पढ़ी-सुनी जाती हैं। जिनसे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान शरीर को छोड़कर आत्मा जब तक संसारी है, तब तक नये-नये शरीर को अपने पूर्वकृत कर्मानुसार धारण करता है, और वैसे ही संयोग उसे मिलते हैं।

---

१. (क) जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. १४५
(ख) जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भा. ४, पृ. १०

संसारीदशा में आत्मा कर्म-परतन्त्र होने से उसके निजी गुणों का विकास भी शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि के आश्रय के बिना नहीं हो सकता। ये भौतिक (पौद्गलिक) द्रव्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, आदि की तरह उसके गुण विकास में निमित्त रूप से सहायक बनते हैं, जैसे कि झरोखे से देखने वाले को झरोखा देखने में सहारा देता है। आत्मा की संसारदशा में वर्तमान-स्थिति बहुत कुछ शरीर और उससे सम्बद्ध अंगोपांगों के अधीन हो रही है। इसीलिए जैनदर्शन संसारी आत्मा को देह परिमाण वाला, किन्तु देह से स्वतन्त्र मानता है। चूंकि जीव का वर्तमान विकास जिन आहार, शरीर आदि पर्याप्तियों के सहारे होता है, वे सब पौद्गलिक (भौतिक) हैं, इस निमित्त की अपेक्षा से आत्मा (जीव) को भगवतीसूत्र में तथा धवलाटीका में पौद्गली (**पोग्गली**) माना है।[१] जीव को यह 'पुद्गल' विशेषण शरीरादि निमित्तों की दृष्टि से दिया गया है, स्वरूप की दृष्टि से नहीं। अतः जैनदर्शन आत्मा को शरीररूप न मानकर, शरीर-परिमाण पृथक् द्रव्य मानता है। इससे कर्मवाद की इस सैद्धान्तिक व्याख्या से भौतिकवाद (भूतवाद) द्वारा किये जाने वाले काल्पनिक निरूपण का निराकरण हो जाता है।

पुरुषवाद-मीमांसा

पुरुषवाद का सामान्य अर्थ यह किया जाता है कि पुरुष ही इस जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता है और प्रलयकाल तक उस पुरुष की ज्ञानादि शक्तियों का लोप नहीं होता। प्रमेयकमलमार्तण्ड में इसे समझाने के लिए एक श्लोक उद्धृत किया गया है। उसका भावार्थ है—"जैसे मकड़ी जाले के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए और वटवृक्ष प्ररोहों—जटाओं के लिए कारण होता है, उसी प्रकार पुरुष भी जगत् के समस्त प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय में निमित्त कारण होता है।"[२]

पुरुषवाद में दो विचारधाराएँ अन्तर्हित हैं। एक है—ब्रह्मवाद और दूसरी है—ईश्वरवाद (ईश्वरकर्तृत्ववाद)।

ब्रह्मवाद—इसमें ब्रह्म ही जगत् के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि समस्त पदार्थों का उपादान कारण होता है। ब्रह्मसूत्र का[३] **'जन्माद्यस्य यतः'**

---

१. (क) भगवतीसूत्र शतक ८, उ. १०, सू. ३६१

(ख) जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो। —धवलाटीका

२. उर्णनाभ इवांशूनां, चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः, स हेतुः सर्वजन्मिनाम्॥

—उपनिषद् (प्रमेयकमलमार्तण्ड में उद्धृत) पृ. ६५

३. ब्रह्मसूत्र १/१

सूत्र इसी ब्रह्मवाद का सम्पोषक है। उपर्युक्त श्लोक भी ब्रह्मवाद के मन्तव्य को सूचित करता है। ऋग्वेद पुरुषसूक्त में बताया गया है—वह यह (जगत् का) सर्वस्व पुरुष ही है, जो हुआ है, जो होगा, जो अमृतत्व (मोक्ष) का ईश (स्वामी) है, अन्न (आहार) से वृद्धिगत होता है।[1] ईशावास्योपनिषद् में उक्त ब्रह्म की गतिविधि के विषय में बताया है कि[2] वह संचरण करता (गतिमान्) है, वह संचरण नहीं करता (स्थिर) है, वह दूर भी है, निकट भी, वह जड़ और चेतन सबके अन्तर् (भीतर) में व्याप्त है, और इन सबसे बाह्य (पृथक्) भी है। छान्दोग्य-उपनिषद् में अदृश्य ब्रह्म का परिचय दिया गया है कि जगत् में जितना सब (जड़-चेतन) है, वह ब्रह्म ही है, इसलिए इसमें नानात्व नहीं है, ब्रह्म एक और अद्वितीय ही है। लेकिन जो कुछ भी लोग देखते हैं, वह ब्रह्म के प्रपंच (आराम) को देखते हैं, उसे (ब्रह्म को) कोई नहीं देखता।[3]

तर्क की कसौटी पर कसने पर ब्रह्मवाद का यह रूप उपहासास्पद एवं युक्तिविरुद्ध प्रतीत होता है। सर्वप्रथम, यह विचारणीय है कि एक ही ब्रह्मतत्त्व विभिन्न जड़चेतन-पदार्थों के परिणमन में उपादान कारण कैसे बन सकता है? आधुनिक भौतिक विज्ञान ने अनन्त अणुओं (एटमों) का स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर उनके परस्पर संयोग और विभाग से इस जगत् की उत्पत्ति मानी है। यह मत युक्तिसंगत और अनुभवगम्य भी है। जगत् के समस्त पदार्थों को केवल 'माया' कह देने मात्र से अनन्त जड़ पदार्थों तथा अनन्त चेतन पदार्थों (आत्माओं) का पारस्परिक यथार्थ भेद तथा उनके पृथक्-पृथक् अस्तित्व एवं व्यक्तित्व को कैसे नष्ट किया जा सकता है?

जगत् में अनन्त-अनन्त जीव (आत्माएँ) अपने-अपने कर्मों (वासनाओं तथा संस्कारों) के अनुसार पृथक्-पृथक् विभिन्न पर्यायों को धारण करते हैं। उनका अस्तित्व और व्यक्तित्व अपना-अपना है। एक के भोजन कर लेने से दूसरे की उदरपूर्ति—तृप्ति नहीं हो जाती। एक जीव का सुख और दुःख, बुद्धिहीनता और बौद्धिक प्रखरता, कर्म-कौशल और अकर्मण्यत्व दूसरे के सुख-दुःख आदि नहीं माने जा सकते। इसी प्रकार जड़ पदार्थों के

---

१. पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं, यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशाना यदन्नेनातिरोहति॥ —ऋग्वेद पुरुषसूक्त

२. यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके।
यदन्तरस्य सर्वस्य, यदुत सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ —ईशावास्योपनिषद्

३. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म, नेह नानाऽस्ति किंचन।
आरामं (आयामं) तस्य पश्यन्ति, न तं पश्यति कंचन॥ —छान्दोग्य उपनिषद् ३/१४

अनन्त-अनन्त परमाणुओं का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। लाख प्रयत्न करने पर भी दो परमाणुओं के स्वतन्त्र अस्तित्व को मिटाकर उनमें एकत्व स्थापित नहीं किया जा सकता। अतः जगत् में प्रत्यक्षसिद्ध अनन्त जड़-चेतन सत्-पदार्थों के स्वतन्त्र अस्तित्व का अपलाप करके केवल एक ही पुरुष को अनन्त कार्यों के प्रति उपादान कारण मानना काल्पनिक, प्रतीतिविरुद्ध एवं उपहासास्पद है।

यदि अनुमान आदि प्रमाणों से इस अद्वैतैकान्त की सिद्धि की जाती है तो हेतु और साध्य, दोनों के पृथक्-पृथक् होने से द्वैत की ही सिद्धि होती है, अद्वैत की नहीं। फिर इस तथाकथित अद्वैतैकान्त[1] में कारण और कार्य का, पुण्य और पापकर्म का, कारक और क्रियाओं का, इहलोक और परलोक का, विद्या और अविद्या का, बन्ध और मोक्ष का तथा आस्रव और संवर आदि का वास्तविक भेद ही नहीं रह जाता, जो कि प्रतीतिसिद्ध है। अतः प्रतीतिसिद्ध विश्व-व्यवस्था के विरुद्ध अद्वैतैकान्त ब्रह्मवाद की कल्पना कथमपि युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होती।

दूसरी बात—समग्र जगत् के पदार्थों में सत् का अन्वय देखकर एकमात्र एक सत्तत्त्व की कल्पना करना और उसे ही यथार्थ मानना प्रतीतिविरुद्ध है। जैसे 'नागरिक मण्डल' में 'मण्डल' शब्द तो पृथक्-पृथक् सत्ता वाले नागरिकों का सामूहिक रूप से व्यवहार करने के लिए कल्पित है, किन्तु स्वतन्त्र अस्तित्व वाला अमुक-अमुक नागरिक ही इसमें परमार्थसत् है; एक मण्डल नहीं। इसी तरह अनेक जड़-चेतन सत् पदार्थों में कल्पित एक सत् कदाचित् व्यवहार सत्य हो सकता है; परमार्थ सत्य नहीं।

तीसरी बात यह है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** कहकर दृश्यमान प्रपंच को ब्रह्म की माया कहा गया है, वह भी तर्कविरुद्ध है। प्रश्न होता है—[2] माया ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो माया और ब्रह्म इन दो पदार्थों का अस्तित्व मानना पड़ेगा, फिर अद्वैतवाद नहीं रहा, द्वैतवाद ही सिद्ध हुआ। यदि कहें कि माया ब्रह्म से अभिन्न है तब यह जागतिक प्रपंच कहाँ से आया? किसने और कैसे किया? इस मान्यता में अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। यदि यह कहा जाए कि यह दृश्यमान-प्रपंच मिथ्यारूप है, वह मिथ्या है, असत् है। किन्तु जैसे सीप के टुकड़े में चाँदी की प्रतीति मिथ्या होती है, उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत्-प्रपंच भ्रान्त और मिथ्या प्रतीत

१. देखिये—'आप्तमीमांसा' २/१-६

२. इसके निराकरण के लिए देखें— स्याद्वादमंजरी की इस कारिका की व्याख्या —'माया सती चेद् द्वयतत्त्वसिद्धिः, अथासती हन्त कुतः प्रपञ्च?'

नहीं होता। इस प्रकार यह सारा ब्रह्मवाद काल्पनिक और मनगढ़ंत होने से मिथ्या सिद्ध होता है।

ईश्वरवाद—पुरुषवाद का दूसरा रूप ईश्वरवाद है। ईश्वरवाद का फलितार्थ ईश्वरकर्तृत्ववाद है। अर्थात्—इस विश्व में व्याप्त समस्त विचित्रताओं—विविधताओं का कर्त्ता ईश्वर है। उसकी इच्छा के बिना जगत् का कोई भी कार्य नहीं हो सकता। ईश्वर की अर्हता बतलाते हुए ईश्वरकर्त्तत्ववादी कहते हैं[1]—वह अद्वितीय है, सर्वव्यापी है, स्वतन्त्र है, सर्वज्ञ है और नित्य है। ईश्वर को एक, अद्वितीय इसलिए माना गया कि बहुत-से ईश्वर होने पर परस्पर इच्छाविरोध उत्पन्न होने पर जगत् के निर्माण में एक-रूपता, क्रमबद्धता एवं व्यवस्था नहीं रह पाएगी। ईश्वर को सर्वव्यापी न मानकर नियत देशव्यापी माना जाएगा तो अनियत स्थानों के सर्व पदार्थों का यथायोग्य उत्पादन सम्भव नहीं होगा। ईश्वर को सर्वज्ञ नहीं माना जाएगा तो यथायोग्य उपादान करणों से अनभिज्ञ रहकर वह तदनुरूप कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकेगा। ईश्वर को स्वतन्त्र मानने पर ही वह स्वेच्छा से समस्त प्राणियों को सुख-दुःखादि का अनुभव करा सकता है। इसी प्रकार ईश्वर को नित्य, अजन्मा, अविनाशी और स्थिररूप न मानने पर अनित्य एक ईश्वर से दूसरे ईश्वर की, और दूसरे से तीसरे की उत्पत्ति होने लगेगी, फिर इस परम्परा का अन्त नहीं आ पाएगा और वह (मूल) ईश्वर अपने अस्तित्व के लिए पराश्रित हो जाएगा।[2]

ईश्वरवाद का पक्ष प्रस्तुत करते हुए गोम्मटसार में बताया गया है कि आत्मा अनाथ है उसका सुख-दुःख, स्वर्ग-नरकगमन् आदि सब ईश्वर के हाथ में है।[3]

ईश्वरकर्तृत्ववाद अनुमान प्रमाण से इस प्रकार सिद्ध किया जाता है—"स्थावर और जंगम (जड़-चेतन) रूप जगत् का कोई न कोई पुरुष- विशेष कर्त्ता है, क्योंकि पृथ्वी, वृक्ष आदि पदार्थ कार्य हैं। ये कार्य हैं, इसलिए किसी न किसी बुद्धिमान कर्त्ता द्वारा निर्मित हैं, जैसे घट आदि के निर्माण में कुम्भकार। पृथ्वी आदि भी विशिष्ट कार्य हैं, इसलिए ये भी बुद्धिमान् कर्ता द्वारा बनाये हुए होने चाहिए। इनका जो बुद्धिमान् कर्त्ता है, उसी का नाम ईश्वर है।"

---

१. ईश्वरकर्तृत्ववाद के सन्दर्भ में ईश्वर के इन विशेषणों की समीक्षा के लिये देखें—स्याद्वादमंजरी के "कर्तास्ति कश्चिद् जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।" कारिका की व्याख्या।

२. कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) से

३. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) ८८०

ईश्वरकर्तृत्ववाद युक्तिबाधित

न्याय कुसुमांजलि में ईश्वर द्वारा सृष्टिकर्तृत्व के ७ कारण बताए गए हैं—(१) कार्य-कारणभाव, (२) आयोजन, (३) आधार, (४) निर्माण कार्यों का शिक्षक, (५) श्रुति रचयिता, (६) वेदवाक्य कर्त्ता, (७) ज्ञाता।[१] परन्तु एक ही तर्क से उक्त सभी कारणों का खण्डन हो जाता है कि ईश्वर निरंजन निराकार कृतकृत्य है, तब वह सृष्टि, वेद, तथा वस्तु निर्माण आदि रचना कैसे करेगा? कोई भी निराकार व्यक्ति ऐसा कर नहीं सकता। अतः ये सारे कारण काल्पनिक सिद्ध होते हैं।

दूसरी बात—ईश्वर यदि कारुणिक है, वह अज्ञ, दीन और परतन्त्र जगत् के प्राणियों को सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक आदि प्राप्त कराने में कारण है,[२] परन्तु जगत् के जड़ और चेतन पदार्थ अनादिकाल से अपने अस्तित्व और स्वरूप से स्वतन्त्र सिद्ध हैं, वे सब परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्री के अनुसार परिणमन करते हैं, ईश्वर ने असत् से किसी भी एक सत् को उत्पन्न नहीं किया है। ऐसी स्थिति में सर्वशक्तिमान् ईश्वर को जगत्कर्त्ता मानने की आवश्यकता नहीं रहती।

ईश्वर यदि कारुणिक है तो ऐसी विषम सृष्टि का निर्माण नहीं करता। करुणाशील व्यक्ति तो यह ध्यान रखता कि जगत् में कोई भी प्राणी दुःखी न हो, सभी सुखी हों। परन्तु ऐसा तो है नहीं। अधिकांश प्राणी दुःखी हैं और ईश्वर उनकी पुकार सुनकर भी दुःखनिवारण करने नहीं आता। यदि कहें उस-उस प्राणी के अदृष्ट के अनुसार ईश्वर उसे सुखी या दुःखी करता है, परन्तु अदृष्ट भी तो ईश्वर से ही उद्भूत तत्त्व है। फिर अपने ही द्वारा समुत्पन्न अदृष्ट से जगत् के प्राणियों को दुःखी बनाना कारुणिक ईश्वर के लिए उचित नहीं। सृष्टि रचना के पूर्व तो किसी प्राणी में 'अदृष्ट' नहीं था, न ही अनुकम्पायोग्य प्राणी थे, फिर उसने ऐसा अशुभ अदृष्ट उन प्राणियों में क्यों भरा, और किस पर अनुकम्पा करके शुभ अदृष्ट भरा? इस प्रकार ईश्वरवाद की निःसारता सिद्ध हो जाती है।

जगत् के निर्माण करने में उस ईश्वर की प्रवृत्ति अपने लिए होती है या दूसरों के लिए? ईश्वर स्वयं तो कृतकृत्य हो चुका है, उसकी कोई भी इच्छाएँ शेष नहीं रहीं। अतः वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति या लीला के लिए जगत् का निर्माण नहीं कर सकता। यदि वह दूसरों के लिए सृष्टि

---

१. (क) न्यायकुसुमांजलि

(ख) न्याय सिद्धान्त मुक्तावली टीका

२. जैसा कि कहा जाता है— अज्ञोजन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

रचना करता है, तब तो वह बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। उसकी स्वतन्त्रता में बाधा आएगी, उसे दूसरों की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ेगा।

यदि सृष्टि रचना करना ईश्वर का स्वभाव माना जाए तब तो सृष्टि रचना के कार्य से उसे कभी विश्राम ही नहीं मिलेगा। यदि विश्राम लेता है, तो उसके इस स्वभाव में क्षति पहुँचेगी। यदि यह कहें कि सृष्टि रचना करना ईश्वर का स्वभाव नहीं है, तब तो वह कदापि सृष्टि रचना नहीं कर सकेगा। फिर सृष्टि की रचना और संहार ये दोनों पृथक्-पृथक् कार्य हैं, एक ही स्वभाव से दोनों कार्य उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। होंगे तो सृष्टि की रचना और संहार दोनों एक हो जाएँगे। फिर तो उसमें दो स्वभाव मानने पड़ेंगे, जोकि संभव नहीं है।

यदि ईश्वर सर्वगत (सर्वव्यापी) माना जाएगा तो वह अकेला ही शरीर से तीनों लोकों में व्याप्त हो जाएगा। फिर दूसरे बनने वाले जड़-चेतन पदार्थों को रहने के लिए अवकाश कहाँ रहेगा? यदि उसे ज्ञान की अपेक्षा से सर्वगत माना जाएगा तो वह वेदवाक्य से विरुद्ध होगा। शुक्ल यजुर्वेद-संहिता में ईश्वर के शरीर का वर्णन करते हुए कहा गया है—ईश्वर के नेत्र, मुख, हाथ और पैर विश्व में सर्वत्र व्याप्त हैं। कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ ईश्वर के ये शरीरावयव न हों।"[1] ऋग्वेद में भी बताया गया है कि "वह पुरुष (पर-ब्रह्म) हजार मस्तकों वाला है, उसके हजार नेत्र हैं, हजार पैर हैं। वह सब ओर से विश्व को धारण करके केवल दस अंगुलभर भूमि पर ठहरा हुआ है।"[2]

ईश्वर को शरीरवान् मानने पर साधारण प्राणियों के शरीर का निर्माण अदृष्ट (भाग्य या पूर्वकृत कर्म) द्वारा होने की तरह ईश्वर के शरीर का निर्माण भी अदृष्ट द्वारा निर्मित मानना पड़ेगा। और तब फिर ईश्वर भी साधारण प्राणियों के समान कर्मावृत हो जायगा। और ईश्वर को अशरीरी मानने पर तो उससे किसी भी दृश्यमान पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

जगत् के उद्धार के लिए ईश्वर की जरूरत नहीं

जगत् के उद्धार के लिए ईश्वर की कल्पना करना पदार्थों के अपने स्वरूप को परतन्त्र बनाना है। प्रत्येक प्राणी स्वयं अपने कर्मों के कारण विकास एवं विनाश तथा उत्थान और पतन के पथ पर अग्रसर होता है।

---

१. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो, विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पाद्।

—शुक्ल यजुर्वेद-संहिता १७/१९

२. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिं विश्वतो धृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्॥ —ऋग्वेद १०/९०/१

अपने विवेक और सदाचारण के लिए प्रत्येक प्राणी स्वयं स्वतन्त्र एवं उत्तरदायी है। यदि ईश्वर ही अपनी इच्छा से प्राणियों को कर्म कराता है, और वही उसका फल भुगवाता है, तब तो वह ईश्वर स्वयं ही अपराध एवं दण्ड का पात्र ठहरेगा। ऐसी स्थिति में चोरी आदि पाप कर्म करने वाले को नहीं, ईश्वर द्वारा उस-उस पाप कार्य में प्रेरित होने से वही (ईश्वर ही) दोषी माना जाएगा। इसलिए ईश्वर को जगत्-कर्तृत्व आदि के प्रपंच में न डालकर कर्मवाद को मानना ही श्रेयस्कर है।

कर्मवाद की दृष्टि से ईश्वर कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध, अनन्तज्ञानादि चतुष्टय से युक्त होते हैं, वे जगत्-रचना आदि के प्रपंचों में नहीं पड़ते। जीव किसी विधाता या ईश्वर के आश्रित या उससे प्रेरित होकर न तो कर्म करता है, न ही उसकी प्रेरणा से उसका फल भोगता है। कर्मों में इतनी शक्ति है कि वे स्वयं ही उसका फल दे देते हैं, और जीव स्वयमेव अपनी कर्मानुसारिणी बुद्धि एवं इच्छा के अनुसार शुभाशुभ कर्म करता है, और यथासमय उसका फल पाता है। अतः जगत्-वैचित्र्य का कारण पुरुषवाद को मानना निरर्थक है। ईश्वर या ब्रह्म जगत्-वैचित्र्य का कारण कथमपि सिद्ध नहीं होता।

कौन-से वाद हेय, कौन-से उपादेय?

जैनदर्शन ने जगत्-वैचित्र्य के कारणरूप उक्त वादों को अनेकान्त-वाद की कसौटी पर कसा और जिनका जितनी मात्रा में, जिस अपेक्षा से समन्वय हो सकता था, उनका समन्वय किया और जिन वादों की कोई उपयोगिता नहीं थी, जिन वादों से आत्मा के स्वातन्त्र्य में, आत्मा के स्वयं विकास में बाधा पहुँचती थी, उनका सयुक्तिक निराकरण किया और विचित्रता के मूल कारणों को कर्मवाद के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। जगत् के समक्ष जैनदर्शन ने कर्मवाद के उस सत्य को स्थापित किया, जो आध्यात्मिक विकास में, आत्मस्वातन्त्र्य में, समस्त दुःखों का अन्त करने में और अनन्तज्ञान-दर्शन, आत्मिक आनन्द एवं शक्ति को प्राप्त करने में प्रेरक हो।

इस दृष्टि से जैनदर्शन ने 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में विश्व-वैचित्र्य के कारणों के रूप में उल्लिखित काल आदि छह वादों में से यदृच्छावाद, भूतवाद और पुरुषवाद की कोई उपयोगिता न समझकर सयुक्तिक खण्डन किया तथा शेष काल, स्वभाव, नियति, इन तीन वादों की समीक्षा करके यथोचित रूप से समन्वय किया।

कर्मवाद की जड़ काटने वाले कुछ वाद

अक्रियावाद—बौद्धपिटक में तथागत बुद्ध के युग में हुए ६ दार्शनिकों का तथा उनके मत का वर्णन किया गया है। उनमें अक्रियावाद भी एक है।

त्रिपिटक में अक्रियावादी 'पूरण काश्यप' के मत का संक्षेप में वर्णन किया गया है—"किसी ने कुछ भी किया हो, अथवा कराया हो, काटा हो, अथवा कटवाया हो, त्रास दिया हो, अथवा दिलवाया हो,......प्राणी का वध किया हो, चोरी की हो, घर में सेंध लगाई हो, डाका डाला हो, व्यभिचार किया हो, झूठ बोला हो, तो भी उसे पाप नहीं लगता। यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण धार वाले चक्र से पृथ्वी पर मांस का ढेर लगा दे, तो भी इसमें लेशमात्र पाप नहीं है। गंगानदी के दक्षिण तट पर जाकर कोई मार-पीट करे, कत्ल करे या कराए, त्रास दे या दिलाए, तो भी रत्तीभर पाप नहीं है। गंगानदी के उत्तर तट पर जाकर कोई दान करे, या कराए, यज्ञ करे या कराए, तो इसमें कुछ भी पुण्य नहीं है। दान, धर्म, संयम, सत्यभाषण इन सबसे कुछ भी पुण्य नहीं होता। इसमें तनिक भी पुण्य नहीं है"।[1] सूत्रकृतांग में भी अक्रियावाद[2] का ऐसा ही वर्णन है।

यह मत कर्मवाद के बिलकुल विपरीत है, पुण्य-पाप का समूल उच्छेद करने वाला सिद्धान्त है। इस मत पर चलकर मनुष्य न तो आध्यात्मिक विकास कर सकता है और न ही नैतिकता का आचरण कर सकता है। इस सिद्धान्त पर चलने से कर्ममुक्ति की कोई प्रेरणा नहीं मिलती। अतः अक्रियावाद निरर्थक है।

अज्ञानवाद—अज्ञानवादियों का कहना है कि ज्ञान का बोझ मस्तक पर लदा रहता है। ज्ञानवादी उलटी-सीधी तर्कें करने लगता है। उसमें ज्ञान का अहंकार हो जाता है। ज्ञान के कारण व्यक्ति में हर समय अपनी बौद्धिक शक्ति से दूसरों को दबाने, सताने, हैरान करने, पराजित करने, गुलाम बनाने, शोषण करने की रट रहेगी। बहुत-से लोग इस प्रकार अपने पक्ष, दल या मत का अति आग्रह करके सत्य का अपलाप करते हैं। ज्ञान होने से मनुष्य एक पर राग करेगा, एक पर द्वेष, एक के पक्ष में बोलेगा, एक के विपक्ष में। इस प्रकार की झंझटों से बचने का सूत्र है—**'तस्मादज्ञानमेव श्रेयः'** इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।[3] परन्तु भला अज्ञान से कभी कर्मों से मुक्ति हो सकती है। अज्ञानी व्यक्ति बड़े-बड़े पापकर्म करते हुए नहीं हिचकिचाता। अज्ञानवाद कर्मवाद की जड़ों पर सीधा प्रहार करता है।

बौद्धपिटक में 'संजयवेलट्ठिपुत्त' के मत को अज्ञानवाद या संशयवाद कहा गया है। जैनागमों में अज्ञानवादियों के सम्बन्ध में कहा गया है कि ये

---

१. बुद्धचरित पृ. १७० दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त

२. सूत्रकृतांग सूत्र १/१/१/१३

३. वही, १/१/१/१३

अज्ञानवादी तर्ककुशल होते हैं, परन्तु असम्बद्ध प्रलाप करते हैं। अज्ञानवाद का प्रतिपादन करते समय प्रयुक्त किये जाने वाले तर्क, युक्ति या अनुमानादि प्रमाण ये सभी ज्ञान से ही किये जाते हैं। इसलिए यह तो **'वदतो व्याघात'** जैसा हो गया। उनके ऊटपटांग तर्कों से उनका अपना ही संशय नहीं मिटता। वे स्वयं अज्ञानी हैं और अज्ञजनों में मिथ्या प्रचार करते हैं। संजय वेलट्ठिपुत्त से परलोक, देव, नारक, कर्म, निर्वाण आदि के अस्तित्व के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उसने इन अदृश्य पदार्थों के विषय में स्पष्ट रूप से घोषणा की—"इनके सम्बन्ध में विधिरूप, निषेधरूप, उभयरूप या अनुभयरूप, कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता।[1]

उस युग में ऐसे अदृश्य पदार्थों के विषय में अनेक कल्पनाओं का सहारा लिया जा रहा था। एक ओर चार्वाक जैसे नास्तिक लोग उनका सर्वथा निषेध कर रहे थे, जबकि दूसरी ओर कुछ विचारक लोग इन दोनों पक्षों के बलाबल पर विचार करने में तत्पर हो रहे थे। इस प्रकार पक्ष और विपक्ष के द्वारा अपने-अपने पक्ष में प्रतिपादन हो रहा था। वहाँ कतिपय वादी किसी निश्चित रूप से किसी बात को मानने या प्ररूपण करने मे समर्थ नहीं हो रहे थे, ऐसी स्थिति में कुछ वादी तो प्रत्येक विषय मे संशयवादी बनकर संशय करने लग गये अथवा सभी पदार्थों का ज्ञान सम्भव ही नहीं है, यह कहकर वह अज्ञानवाद की ओर झुक गए थे।

अनिश्चयवाद या संशयवाद—इसी प्रकार 'ऋग्वेद' के 'नासदीयसूक्त' मे भी सृष्टि-वैचित्र्य के निर्माण के विषय में ऋषियों का अनिश्चय रहा। उन्होंने कहा—"साक्षात् कौन जानता है? यहाँ कौन कहेगा कि कहाँ से यह (सृष्टि) पैदा हुई? कहाँ से यह सृजन हुआ? इसके सृजन के पश्चात् देव हुए। अतः कौन जानता है कि किसमें से (यह सब) हुआ?"

---

१. (क) बुद्ध चरित पृ. १७८
(ख) न्यायावतार वार्तिक वृत्ति की प्रस्तावना देखें, पृ. ३९ से आगे
(ग) इस मत के विरुद्ध भगवान् महावीर ने सूत्रकृतांग आगम मे अनेकान्तवाद (सापेक्षवाद) की दृष्टि से वस्तु का अनेकरूपेण वर्णन किया।
(घ) सूत्रकृतांग १/१२/२
(ङ) महावीर स्वामीनो संयम धर्म पृ. १३५
(च) सूत्रकृतांगचूर्णि पृ. २५५
(छ) Creative Period में विशेष विवरण देखें, पृ. ४४४

"जिसमें से यह विसृष्टि हुई, उसने उसका निर्माण किया या नहीं? जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में है, वही जानता है, अथवा वह भी न जानता हो?"[१]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय इस मंत्र के ऋषिगण सृष्टि-वैचित्र्य एवं सृजन के विषय में शंकाशील थे, अनिश्चय में ही पड़े रहे। कई ऋषिगण दृश्य जगत् (जगत् के दृश्यमान पदार्थों) को असत् मानते थे, फिर वे असत् से सत् (अस्ति रूप) की उत्पत्ति मानने लगे। फिर किसी ऋषि ने शंका की असत् से सत् (दृश्य जगत्) कैसे पैदा हो सकता है? तब यह विचार स्थिर किया कि पहले सत् ही एकमात्र था, उसी से सत् (दृश्य जगत्) उत्पन्न हुआ। अतः दृश्यमान् विश्व का मूल कारण सत् माना गया।[२] जैनदर्शन भी मूल तत्त्वों का अस्तिकाय के रूप में वर्णन करता है, तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त को उसने 'सत्' माना।

प्रच्छन्न नियतिवाद—बौद्धपिटक में 'पकुध कात्यायन' के वाद का वर्णन है, जिसे पढ़ने से प्रच्छन्न नियतिवाद की ही प्रतीति होती है। उसके मत का वर्णन वहाँ इस प्रकार है—"सात पदार्थ ऐसे हैं, जो किसी ने बनाए नहीं, बनवाए नहीं। उनका न तो निर्माण किया गया और न कराया गया। वे वन्ध्य हैं, कूटस्थ हैं और स्तम्भ के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, और एक दूसरे के लिए त्रासदायक नहीं। वे एक दूसरे के दुःख को, सुख को या दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकते। वे सात तत्त्व ये हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, सुख, दुःख और जीव। इनका नाश करने वाला, इनको सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला अथवा इनका वर्णन करने वाला कोई भी नहीं है।" यदि कोई व्यक्ति तीक्ष्ण शस्त्र द्वारा किसी के मस्तक का छेदन करता है, तो वह उसके जीवन का हरण नहीं करता। इससे केवल यही समझना चाहिए कि इन सात पदार्थों के

---

१. को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्? कुत आ जाता? कुत इयं विसृष्टि? अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव? इयं विसृष्टिर्यत आबभूव? यदि वा दधे, यदि वा न? यो अस्याऽध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अंग वेद यदि वा न वेद॥

—ऋग्वेद नासदीय सूक्त १०, १२९

२. (क) असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजयत। —तैत्तिरीयोपनिषद् २/७

(ख) असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत् तत् समभवत तदाऽण्ड निरवर्तत।

—छान्दोग्योपनिषद् ३/१९/१

(ग) तद्धेक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तस्मादसतः सज्जायेत। कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वैव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्। —वही, ६/२

अन्तःस्थित स्थल में शस्त्रों का प्रवेश हुआ।"[1] पकुध का यह वाद कर्मवाद का कट्टर विरोधी है। इससे कर्मवाद की धज्जियाँ ही उड़ जाती हैं।[2]

विनयवाद—संसार के प्रत्येक पदार्थ का विनय करना, हाथ जोड़ना, उसके आगे नम्रता दिखाना, उसकी भक्ति करना एवं उसकी सत्य के विरुद्ध बात को भी हाँ जी हाँ कहकर मान लेना, विरोध न करना, यहाँ तक कि स्वयं को हीन और दूसरे को उत्कृष्ट मान लेना यह एकान्त विनयवाद का स्वरूप है। यह प्राचीनकाल में प्रचलित था। सूत्रकृतांगसूत्र में[3] इसका वर्णन मिलता है। विनयवादी मनुष्य ही नहीं, कुत्ते, कौए, बिल्ली आदि सबका विनय करने में ही पुण्य, धर्म और स्वर्ग समझते थे। यह एकान्त विनयवाद भी विवेकविकल, अनेकान्त दृष्टि से विरुद्ध और कर्मवाद सिद्धान्त के प्रतिकूल होने से अनुपादेय माना गया।

क्रियावाद—यद्यपि क्रियावाद कर्मवाद का समर्थक है, किन्तु वहाँ क्रियावाद का अर्थ सत्क्रियावाद है। '**ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः**' इस सूत्र के अनुसार वहाँ क्रियावाद सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप के आचरण में रूढ़ है। उस व्यवहार चारित्र से तथा बाह्याभ्यन्तर तपश्चरण से निश्चयचारित्र (स्वरूपरमणरूप चारित्र तथा तप) को प्राप्त किये बिना साधक मोक्षगामी नहीं हो सकता[4] सर्वकर्मों से मुक्त, सिद्ध-बुद्ध नहीं हो पाता है। अतः सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रियावाद कर्ममुक्ति का पोषक होने से कर्मवाद के अनुकूल है।[5] परन्तु यहाँ क्रियावाद अज्ञानपूर्वक क्रिया तथा अन्धविश्वासपूर्वक प्रवृत्ति या अज्ञानपूर्वक तप करने के अर्थ में है। वर्तमान भौतिक विज्ञानवादी भी इस अन्तिम लक्ष्यविहीन क्रियावाद के अन्तर्गत आ जाते हैं। और वे लोग भी आ जाते हैं, जो एकान्त रूप से अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष, अभिनिवेश, मिथ्याग्रह आदि से युक्त होकर अहर्निश श्रम करने की प्रेरणा देते हैं। सूत्रकृतांग में ऐसे एकान्त क्रियावादियों को[6] मिथ्यात्वी माना है।

एकान्त-ज्ञानवाद—एकान्त ज्ञानवादी केवल तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में "एकान्त ज्ञान बघारने वाले चारित्र से

---

१. (क) सामञ्ञफल सुत्त, दीघ निकाय २,
   (ख) बुद्धचरित पृ. १७३
२. गणधरवाद प्रस्तावना पृ. १२६
३. देखिये— सूत्रकृतांग—१/१/२/२ में विनयवाद का वर्णन।
४. अगुणिस्स णत्थि मोक्खो।—उत्तरा २८/३० गा.
५. जे आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई। —आचारांग श्रु. १ अ. १
६. सूत्रकृतांग सूत्र १/१/२/२ में एकान्त क्रियावाद का वर्णन देखें।

विमुख साधकों को अविद्याग्रस्त कहा गया है। सांख्यदर्शन में केवल तत्वज्ञान से ही मोक्ष माना गया है।"[1] जिस प्रकार तैरने के ज्ञानमात्र से तैरना नहीं आ जाता, उस ज्ञान को क्रियान्वित करने अर्थात् तालाब आदि में कूदकर अभ्यास करने से ही वह तैरने की कला सीख पाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति अनेक भाषाओं, दर्शनों, तत्त्वों या बातों का ज्ञान करले, किन्तु आत्मविकास के अनुरूप, ज्ञान के अनुरूप उसका आचरण न करे, तो उसका ज्ञान निष्फल है। वन्ध्य है। निरर्थक है। इसलिए जैन-दर्शन ने ज्ञान के साथ चारित्र को आवश्यक बताया है। भगवान् महावीर ने कर्मों से सर्वथा मुक्ति के लिये सम्यग्दर्शन और ज्ञान के साथ चारित्र का गुण होना अनिवार्य बताया है। चारित्र के बिना एकान्त ज्ञान से कर्ममुक्ति नहीं हो सकती।

प्रकृतिवाद—सांख्यदर्शन का यह मत था कि सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुणात्मक प्रकृति से ही समग्र जगत् का विकास-ह्रास होता है। समस्त प्राणियों के, विशेषतः मानवीय सुख, दुःख, सम्पन्नता, विपन्नता, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग, अनिष्टवियोग-इष्टसंयोग आदि का तथा बन्धन आदि का कारण भी वह प्रकृति को ही मानता है। यह कर्मवाद के सिद्धान्त के प्रतिकूल है, क्योंकि प्रकृति अपने आप में जड़ है, वह अपने हिताहित को नहीं समझती। यह चेतन आत्मा के ही अधीन है कि वह अच्छा या बुरा कार्य या आचरण करे। बन्ध प्रकृति के न होकर परुष (आत्मा) के ही होता है, वही बन्ध का क्षय करके मुक्त हो सकता है।

अव्याकृतवाद—आत्मा आदि के सम्बन्ध में मौलुक्यपुत्त द्वारा पूछे जाने पर तथागत बुद्ध ने कहा—आत्मा न तो शाश्वत है और न ही उच्छिन्न। इसके अतिरिक्त 'लोक सान्त है अथवा अनन्त, शाश्वत है या अशश्वत? जीव और शरीर भिन्न हैं या अभिन्न? एवं 'मरने के बाद तथागत होते हैं या नहीं?' ये और इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर न देकर 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया। उन्होंने अव्याकृत इसलिए कहा कि 'उनके बारे में कहना सार्थक नहीं है, न भिक्षुचर्या और ब्रह्मचर्य के लिए उपयोगी हैं। और न ही यह निर्वाण, निर्वेद, शान्ति एवं परमज्ञान के लिए आवश्यक हैं।"[2]

---

१. (क) भणंता अकरंता य बन्ध-मोक्ख-पइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं॥ —उत्तरा. अ. ६/१०

(ख) पंचविंशति तत्त्वज्ञो यत्रकुत्राश्रमे रतः,
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नाऽत्र संशयः। —सांख्यतत्वकौमुदी

(ग) ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन! —भगवद्गीता

२. (क) बौद्धपिटक मौलुक्यपुत्त संवाद
(ख) जैनदर्शन (डॉ महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. १०८

तथागत बुद्ध की यह अव्याकृतता जनता को भ्रम में डालने वाली है। कभी-कभी मनुष्य इन सबके विषय में निषेधात्मक उत्तर सुनकर अनैतिक या विपरीत मार्ग पर चल पड़ता है। फिर उसे वापस मोड़ना बहुत ही दुष्कर हो जाता है। अव्याकृतवाद कर्मवाद के सिद्धान्त में बाधक है। मनुष्य को यह निश्चय हो जाने पर कि उसे जिन कर्मों से मुक्ति पानी है, वे कौन-कौन-से हैं ? कैसे फल देते हैं ? इत्यादि तथ्यों को तो वह भलीभाँति हृदयंगम कर ही सकता है। फिर उन्हें अव्याकृत कहकर संशय में डालने या अनिश्चयात्मक स्थिति में रखने से क्या लाभ ?

इस प्रकार जगत् के प्राणियों में नानारूपता और विचित्रता के कारण के रूप में जब से भूत, पुरुष, प्रकृति इत्यादि वादों को मानने की विचार-धाराएँ चलीं तब से, मानव-विचारक, ऊहापोह, संशय, भ्रम और संदेह के झूले में झूलते रहे हैं। तथागत बुद्ध और महावीर के युग तक में भी कई कर्मवाद-बाधक वाद प्रचलित हुए और वे कालान्तर में विलीन हो गए। जनता के अन्तःकरण में वे रम नहीं सके। जैन कर्मवाद ही जनता के मन में भलीभाँति हृदयंगम हो सका, क्योंकि इसे बाद के आचार्यों ने युक्ति, तर्क एवं अनुभव के आधार पर पल्लवित एवं विकसित किया।

■

(१०)

कर्मवाद के सन्दर्भ में—

पंच-कारणवादों की समीक्षा और समन्वय

अनेकान्तवादी जैनदर्शन का मन्तव्य

जैनधर्म और उसका दर्शन अनेकान्तवादी है। अनेकान्तवाद के छन्ने से पहले वह प्रत्येक तत्त्व को छानता है। अगर वह तत्त्व किसी अपेक्षा से आत्मा के लिये हितकर है, आत्मा की स्वतंत्रता को छीनता नहीं है, आत्मा से परमात्मा बनने के चरम लक्ष्य को प्राप्त कराने में उपयोगी है; तो वह उस तत्त्व को उस अपेक्षा से अपनाने और कर्मवाद के साथ सामंजस्य बिठाने में जरा भी नहीं हिचकिचाता।

जैनदर्शन एक ऐसा वफादार माली है, जो आत्मारूपी उद्यान में उगे हुए निरर्थक कंटीले झाड़-झंखाड़ों और निरुपयोगी पेड़-पौधों की कांट-छांट करता है, अनेकान्तवाद—सापेक्षवाद की बड़ी कैंची लेकर चलाता है और जो आत्मा के लिए जितने अंश में अहितकर, अकिंचित्कर एवं आत्म-स्वातंत्र्य या आत्मा के सम्यक् पुरुषार्थ में बाधक हो, उस दर्शन, वाद या मत या मान्यता का उतने अंशों में निराकरण करके शेष सत्यांश को अपना लेता है। जो दर्शन, वाद या मत सर्वथा अहितकर, आत्मविकास के लिए घातक एवं आत्म-स्वातंत्र्य में सर्वथा बाधक हो, उसे हेय समझता है।

विश्व-वैचित्र्य के पांच कारण

इस दृष्टि से जैनदर्शन जब सृष्टि की विविधता, विसदृशता एवं विचित्रता के कारणों की मीमांसा करता है, तब उसके गहन सुदृष्टिपथ में विश्ववैचित्र्य के पांच महत्त्वपूर्ण कारण आते हैं। उनके नाम से पांच वाद प्रचलित थे—(१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) नियतिवाद (४) कर्मवाद और (५) पुरुषार्थवाद।[१]

छह कारणवादों में कर्म और पुरुषार्थ का उल्लेख क्यों नहीं ?

श्वेताश्वतर उपनिषद् में जिन ६ कारणवादों का उल्लेख हैं, उनमें कर्मवाद तथा पुरुषार्थवाद को बिलकुल स्थान नहीं दिया गया है, उसका

१. सन्मतितर्क प्रकरण ३/५३

कारण यह है कि उपनिषद्काल से पूर्व तक वैदिक परम्परा के मनीषी विश्व वैविध्य एवं वैचित्र्य का कारण अन्तरात्मा में ढूंढने की अपेक्षा बाह्य पदार्थों में ही मानकर सन्तुष्ट हो गए थे। यही कारण है कि उपनिषद्काल में सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद् में विश्ववैचित्र्य के छह निमित्त कारणों[1] का उल्लेख मिलता है। संभव है, इसमें कर्मवाद एवं पुरुषार्थवाद का आत्मा से सीधा सम्बन्ध होने से उनकी दृष्टि में ये दोनों वाद न आए हों। इससे यह भी सूचित होता है कि तब तक औपनिषदिक मनीषी ऋषिगण कर्मवाद और पुरुषार्थवाद से भलीभांति परिचित नहीं हुए होंगे। जो भी हो, पश्चाद्वर्ती वैदिक मनीषियों एवं दार्शनिकों ने अवश्य ही इन दोनों को किसी न किसी रूप में अपनाया है।

प्रत्येक कार्य में पांच कारणों का समवाय और समन्वय मानना उचित

जिस प्रकार वैदिक मनीषियों ने वैदिक परम्परा-सम्मत यज्ञकर्म और देवाधिदेव (ब्रह्मा या प्रजापति) के साथ अपनी दृष्टि से 'कर्म' का समन्वय किया, उसी प्रकार जैन-मनीषियों ने दार्शनिक युग में कालादि कारणों की गहराई से समीक्षा करके पूर्वोक्त पांच कारणवादों को सृष्टि-वैचित्र्य के कारणों में उपयुक्त समझा और उनमें से यथोचित अंशों को अपनाकर कर्म के साथ उनका समन्वय किया।

पश्चाद्वर्ती जैन दार्शनिक आचार्यों ने इस सिद्धान्त का निरूपण किया कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर निर्भर नहीं है, अपितु वह आश्रित है—पांचों कारणों के समवाय (कारण-साकल्य) पर। काल, स्वभाव, नियति, कर्म (स्वयं द्वारा पूर्वकृत कर्म) और पुरुषार्थ, ये पांच कारण हैं। इन्हीं पाँचों को जैन दार्शनिकों ने 'पंचकारण-समवाय' कहा है। ये पांचों सापेक्ष हैं। इनमें से किसी भी एक को कारण मान लेने से कार्य-निष्पत्ति नहीं हो सकती। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि "काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ, इन पांच कारणों में से किसी एक को ही कारण माना जाए और शेष कारणों की उपेक्षा की जाए, यह मिथ्या धारणा है। सम्यक् धारणा यह है कि कार्य के निष्पन्न होने में काल आदि सभी कारणों का समन्वय किया जाए।"[2] आचार्य हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्तासमुच्चय[3] में इन एकान्तकारण-वादों की समीक्षा करते हुए कहा

१. श्वेताश्वतर-उपनिषद् १/२

२. कालोसहावणियई पुव्वकम्म पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं तं चेव उ, समासओ हुंति सम्मत्तं ॥ —सन्मति तर्क प्रकरण ३/५३

३. अतः कालादयः सर्वे समुदायेन कारणम्।
गर्भादेः कार्यजातस्य विज्ञेया न्यायवादिभिः ॥
न चैकैकतः एवेह क्वचित् किञ्चिदपीक्ष्यते।
तस्मात् सर्वस्य कार्यस्य सामग्री जनिका मता ॥ —शास्त्रवार्तासमुच्चय २/७९-८०

है कि "न्यायवादियों को यह समझ लेना चाहिए कि जिस प्रकार गर्भाधानादि कार्यों के लिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पांचों का समुदाय होना आवश्यक है, वैसे ही जगत् के समस्त कार्यों के लिए काल आदि पांचों समुदायरूप से कारण हैं। इन पांचों कारणों में से किसी एक को ही कारण मानना कथमपि अभीष्ट एवं अपेक्षित नहीं है। इसलिए समस्त कार्यों की निष्पत्ति के लिए पंच-कारण-सामग्री ही अभीष्ट मानी गई है।"

संसार का प्रत्येक कार्य : पांच कारणों के मेल से

सृष्टि में दो प्रकार के पदार्थ हैं—जड़ और चेतन। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में वैरूप्य, वैविध्य एवं वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तक जड़ पदार्थ सम्बन्धी विचित्रताओं एवं विविधताओं तथा आंशिक रूप से सचेतन पदार्थों की विविधताओं का सवाल है, जैन दार्शनिकों का यह मन्तव्य है कि उनमें काल आदि पंचवादों का समन्वय कारण है। संसार में जो भी कार्य होता है, वह इन पांचों के मेल से—समवाय से ही होता है। ऐसा कदापि नहीं होता कि कोई एक ही वाद अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। यह तो संभव है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान कारण हो, दूसरे गौण। परन्तु एक ही स्वतंत्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे, ऐसा सम्भव नहीं है।

कालादि तीनों वाद : कब आंशिक सत्य, कब सम्पूर्ण सत्य ?

'कर्मवाद के अस्तित्व-विरोधीवाद ? -' में हमने कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद के स्वरूप का विवेचन किया है। प्रत्येक वाद अपने-अपने दृष्टिबिन्दु से आंशिकरूप से तो सत्य है, किन्तु वह पूर्णसत्य (प्रमाणसत्य) नहीं है। सम्पूर्ण सत्य तो अनेकान्तवाद में है, दोनों नेत्र खुले रखकर नय और प्रमाण दोनों दृष्टियों से विचार करने में है।

एकान्तकालवाद की समीक्षा

अगर कालवादी यह कहने लग जाए कि संसार के समस्त कार्यों का एकमात्र काल ही आधार है, तो उसका यह कथन निरपेक्ष होने से सत्य नहीं होगा। कालरूपी समर्थ कारण के सदैव रहते हुए भी अमुक कार्य कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं भी होता। अतः यह नियत व्यवस्था अकेले काल से सम्भव नहीं है। फिर काल अचेतन है, उसमें स्वयं नियामकता नहीं हो सकती। स्वतः परिवर्तित होने वाले सांसारिक पदार्थों में काल कदाचित् उदासीन निमित्त बन जाए, किन्तु वह अकेला प्रेरक निमित्त या एकमात्र असाधारण निमित्त नहीं हो सकता। यह नियत कार्य-कारणभाव के सर्वथा विपरीत है। काल समानरूप से हेतु होने पर भी

कपड़ा तन्तु से तथा घड़ा मिट्टी से ही उत्पन्न हो, यह प्रतिनियत लोक-व्यवस्था काल के द्वारा घटित नहीं हो सकती। प्रतिनियत कार्य के लिए प्रतिनियत उपादान कारण का स्वीकार करना ही अभीष्ट है।[1]

एकान्तस्वभाववाद की समीक्षा

स्वभाववादी यदि यह कहे कि जगत् के समस्त कार्य को निष्पन्न करने में स्वभाव ही एकमात्र कारण है, तो यह कथन एकान्त होने से मिथ्या होगा।

प्रत्येक पदार्थ का अपने द्वारा सम्भावित कार्य करने का स्वभाव होने पर भी उस कार्य की निष्पत्ति या विकासशीलता केवल स्वभाव से नहीं हो सकती, उसके लिए अन्य कारण सामग्री भी अपेक्षित होती है। मिट्टी के पिण्ड में घड़े को उत्पन्न करने का स्वभाव होने पर भी उसकी उत्पत्ति कुम्भकार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि पूर्ण सामग्री के होने पर ही हो सकती है। उस घड़े को पकाने, ऊपर से रंगने, आदि विकास का कार्य भी कुम्भकार आदि के पुरुषार्थ से होता है, स्वभाव से नहीं। यदि किसान खेत जोतने, बीज बोने आदि का पुरुषार्थ (पूर्वप्रयत्न) न करता तो बीज का अन्न उत्पन्न होने का वह स्वभाव बोरे में पड़ा-पड़ा सड़ जाता। अतः अकेले स्वभाव से ही अभीष्ट कार्य निष्पन्न नहीं होता। स्वभाववाद को अहेतुकवाद मानना भी प्रत्यक्ष और अनुमान से बाधित है, क्योंकि जगत् में प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण-सामग्री से निष्पन्न होता देखा गया है। इसी प्रकार स्वभाववाद को लेकर निराशा का अवलम्बन लेना भी उचित नहीं है कि इस पदार्थ का स्वभाव अमुक पदार्थ बनने का है ही नहीं; तब फिर पुरुषार्थ करने से अथवा काल की प्रतीक्षा करने, या भाग्य को कोसने से क्या होगा ? रेतीली जमीन मे कपास, गन्ना, गेहूँ आदि पैदा होने का स्वभाव नहीं है, किन्तु आज के वैज्ञानिकों ने रेगिस्तान की रेतीली भूमि को भी अपने पुरुषार्थ से रासायनिक मिश्रणों द्वारा उपजाऊ बना दिया है। आज वहाँ कपास, गन्ना, गेहूँ आदि भी होने लगे हैं। अतः स्वभाववाद का आश्रय लेकर निराशावाद को स्थान देना उचित नहीं। स्वभावनियतता होने पर भी अन्य कारण सामग्री से आँखें मूंद लेना ठीक नहीं।[2]

एकान्तनियतिवाद की समीक्षा

एकान्त नियतिवाद को मानकर यह समझ बैठे कि जो होना होगा, वही होगा, हमारे करने से क्या होगा ? अथवा सर्वज्ञ प्रभु ने जैसा देखा

१. विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये—जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य) पृ. ८०-८१

२. स्वभाववाद के विशेष स्पष्टीकरण के लिये देखें—जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य)

होगा, वही होगा, या विधाता ने भाग्य में जो कुछ भी लिखा होगा, वही होगा; इसको लेकर अपने पुरुषार्थ को, अपने कर्त्तव्य को तिलांजलि देकर हाथ पर हाथ धरकर बैठ जाना उचित नहीं। यह नियतिवाद की ओट में स्व-पुरुषार्थहीनता को आश्रय देना है, अपने आलस्य एवं अकर्मण्यता का पोषण करना है।[१]

गोशालक का नियतिवाद एकान्त है, वह अकारणवाद तथा अकर्मण्यता का आश्रय लेने तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य एवं पुरुषार्थ को ठुकराकर एकान्तरूप से नियति के अधीन होने की प्रेरणा देता है। अगर सम्यक् नियतिवाद का आश्रय लिया जाए तो वहाँ कभी ऐसा विचार नहीं होता कि सब कुछ नियत है, फिर मुझे कुछ पुरुषार्थ करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि उसका पुरुषार्थ भी तो नियत होता है, कार्य का काल भी नियत होगा, उसका वैसा स्वभाव भी अवश्य निश्चित होगा और वैसा शुभ कर्म का उदय अथवा अशुभ कर्म का नाश भी नियत होगा, तब फिर स्वकर्तृत्वरूप पुरुषार्थ में नियतिवाद कहाँ बाधक है ? यह ठीक है कि परोक्षज्ञानी को यह नहीं ज्ञात होता कि क्या नियत है, क्या भवितव्य है, और क्या होने वाला है ? अतः उसे मोक्षमार्ग में सम्यक् पुरुषार्थ करने में पीछे नहीं हटना चाहिए।

अनन्तकाल तक का क्रमबद्ध पर्याय-परिवर्तन होना नियत है, इस प्रकार का नियतिवाद आध्यात्मिक जगत् में माना गया है, ऐसा माने बिना सर्वज्ञ केवली भगवान् अपने ज्ञान में तीन काल, तीन लोक के घटनाक्रम को युगपत् कैसे जान पाएँगे ? यही कारण है कि भगवान् महावीर केवलज्ञान होने के पश्चात् भी इसी नियतिवाद को कालादि का सहकारी कारण मानकर सम्यक् पुरुषार्थ करते रहे।

अल्पज्ञानियों के लिए भी अन्य कारणों के रहते हुए कार्य न होने या उद्देश्य के विपरीत होने पर नियतिवाद बहुत बड़ा आश्वासनदायक सम्बल बनता है कि ऐसा ही होना था, इससे घबराकर मुझे बैठना नहीं चाहिए, किन्तु कमर कसकर आगे के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

यह तो नियतिवाद का दुरुपयोग है, या उसके स्वरूप को भलीभांति न समझना है कि चोर ने चोरी की, उसमें उसका क्या दोष ? वैसा ही होना था। जिसकी चोरी हुई, उसका भी वैसा होना निश्चित था, अतः चोर को सजा नहीं मिलनी चाहिए इत्यादि। किन्तु चोर की गिरफ्तारी,

---

१. नियतिवाद की स्पष्ट समीक्षा के लिए देखिये—जैनदर्शन (डॉ. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य)

बेइज्जती, सजा आदि भी तो नियत थी, जिसके यहाँ चोरी हुई उसे तलाश आदि का पुरुषार्थ करने से चुराया हुआ अपना माल वापिस मिलना भी तो नियत हो सकता है। एकान्तनियतिवाद का आश्रय लेने से मनुष्य इस प्रकार का ऊटपटांग कथन करने लगता है। इसलिए अनेकान्तदृष्टि से कार्य में सम्यक् नियति को भी यथायोग्य अपेक्षा से कारणरूप में स्वीकार करना चाहिए।

कर्मवाद-मीमांसा

कर्मवाद का मन्तव्य यह है कि जगत् में जो भी घटना होती है, जो कुछ कार्य, व्यवहार या आचरण होता है, अथवा प्राणियों का जहाँ भी जिस गति, योनि या लोक में जन्म होता है, तथा उसे शरीर से सम्बन्धित जो भी अच्छी-बुरी, अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री मिलती है, अथवा प्राणियों को जो भी सुख-दुःख, हानि-लाभ, इष्ट-अनिष्ट, हित-अहित, संघर्ष-मेल, आदि का वेदन होता है, उसके पीछे कर्म ही एकमात्र कारण है। उसमें काल या स्वभाव का कुछ भी वश नहीं चलता। चाहे जितना पुरुषार्थ किया जाए, पूर्वकृत कर्म शुभ नहीं है तो प्राणी को उसका अनुकूल फल नहीं मिलता। जिस समय किसी वस्तु के मिलने का अवसर आता है, उसके लिए पूरा उद्यम भी किया जाता है, परन्तु अशुभ कर्मोदयवशात् ऐन वक्त पर मनुष्य मरण-शरण हो जाता है। अथवा किसी वस्तु की उपलब्धि में अन्तराय आ जाता है, मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, वह विपरीत मार्ग पर चढ़कर उस उपलब्धि के अवसर को खो बैठता है, यह सब पूर्वकृत कर्मों के फल का ही खेल है। इसके सिवाय उसके यथार्थ समाधान का कोई उपाय नहीं है।

दशरथपुत्र युगपुरुष रामचन्द्रजी को प्रातःकाल राजगद्दी मिलने वाली थी। अयोध्या में सर्वत्र राज्याभिषेक का महोत्सव हो रहा था। सर्वत्र खुशियाँ छा रही थीं। वशिष्ठऋषि ने श्रीराम के राज्याभिषेक का प्रातःकाल मुहूर्त्त निश्चित किया था। किन्तु कर्मलीला बड़ी विचित्र है कि राज्याभिषेक के बदले रामचन्द्रजी को वनगमन करना पड़ा। उनको १४ वर्ष का वनवास स्वीकारना पड़ा। सीता जैसी पवित्र महासती को भी गर्भावस्था में श्रीराम जैसे महान् आत्मा द्वारा वनवास दिया जाना भी कर्म-शक्ति को प्रत्यक्ष घोषित कर रहा है। इस युग के आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को मुनि-दीक्षा लेने के पश्चात् बारह महीनों तक यथाकल्प आहार न मिलना भी उनके पूर्वकृत कर्म-फल का ही द्योतक है। भ. ऋषभदेव को आहार-प्राप्ति में काल और स्वभाव तो अनुकूल ही थे, पुरुषार्थ भी उन्होंने भरसक किया था। फिर भी आहार-प्राप्ति न हुई, इसके पीछे पूर्वकृत कर्म के सिवाय और क्या कारण हो सकता है ? श्री सनत्कुमार जैसे सौन्दर्यमूर्ति चक्रवर्ती

सम्राट को अकस्मात् रोग उत्पन्न हो जाना, सती दमयन्ती और सती अंजना को दीर्घकाल तक पतिवियोग हो जाना, त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण जैसे प्रचण्ड पराक्रमी पुरुष की जराकुमार के बाण से मृत्यु होना, सत्यमूर्ति हरिश्चन्द्र जैसे प्रतापी राजा को चाण्डाल के यहाँ नौकर रहकर श्मशान-घाट का प्रहरी बनना पड़े, राजकुमारी 'चन्दनबाला' जैसी पवित्र कन्या को दासी बनकर बिकना पड़े और उसकी मालकिन के द्वारा दी गई विविध यातनाएँ सहनी पड़ीं, सुभद्रा जैसी पवित्र सती पर मिथ्या कलंक चढ़ाया जाए, सती मदनरेखा को पतिवियोग, वन में भ्रमण इत्यादि अनेक कष्ट सहने पड़े, ये और इस प्रकार की अतर्कित एवं अप्रत्याशित घटनाएँ कर्म की महिमा को उजागर कर रही हैं। व्यक्ति चाहे जितना उपाय कर ले, अमुक कार्य के लिए पुरुषार्थ भी पूरा-पूरा कर ले, उसका वैसा अभ्यास और स्वभाव भी हो, समय भी उस कार्य की सफलता के लिए अनुकूल हो, फिर भी पूर्वकृत कर्म का उदय हो तो उसके आगे किसी की नहीं चलती।

एक भौंरा कमल के कोश में बंद हो गया है। उसका स्वभाव लकड़ी को भी काट सकने का है, फिर भी उस समय वह अपने स्वभाव को भूलकर कोमल कमल को नहीं काट पाता। वह सोचता है—रात बीत जाएगी, प्रभातकाल हो जाएगा, सूर्योदय होते ही कमलकोश खिल उठेगा। इस कमल का मुख खुलते ही मैं सही-सलामत बाहर निकल जाऊँगा। इसमें स्वभाव, काल और नियति तीनों के होने पर भी पूर्वकृत क्रूर कर्मों का पंजा ऐसा पड़ता है कि बेचारा भौंरा सोचता ही रह जाता है और कमल सहित उस भौंरे को एक हाथी आकर पैरों तले रौंद डालता है। भौंरा समाप्त हो जाता है। इस घटना में भी कर्म की बलवत्ता सिद्ध होती है।[1]

एक चूहे ने सांप के एक पिटारे में घुसने के लिये आधा घंटा परिश्रम करके एक छिद्र कर डाला। फिर स्वयं उसमें घुसा। घुसते ही पिटारे में बन्द सर्प के मुँह में जा पड़ा। सर्प को बिना मेहनत के भोजन मिल गया। वह खा-पीकर चूहे के द्वारा बनाये छेद से पिटारे के बाहर निकला। मदारी की कैद से भी उसे छुटकारा मिल गया। यह कर्म का ही प्रभाव था कि पुरुषार्थ करने वाले चूहे को मृत्यु मिली और पिटारे की कैद में बन्द सर्प को भोजन और छुटकारा मिला।

इस विश्व में जो कुछ भी विचित्रता, विविधता, अभिनवता या विरूपता दृष्टिगोचर हो रही है, उसका मूल कारण एकमात्र कर्म ही है।

---

१. देखिये इस घटना को अभिव्यक्त करने वाला श्लोक—

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं, भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार ॥"

कर्म के कारण तीर्थंकर महावीर जैसे महापुरुष के कानों में कीले ठोके गये और शालिभद्र जैसे व्यक्ति के लिए बिना मेहनत के दिव्यलोक से रत्नों की पेटियाँ उतर कर आती थीं। कर्म के प्रभाव से एक समय का करोड़पति दूसरे दिन ही रोड़पति हो जाता है। कर्मप्रभाव से धनिक एवं सुख-सामग्री से सम्पन्न होने पर भी रोग, शोक, चिन्ता, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि दुःखों से मनुष्य पीड़ित रहता है। कर्म के कारण ही एक व्यक्ति की जिंदगी रोने-धोने, पीड़ा सहने और अभावग्रस्त रहने में ही व्यतीत हो जाती है, जबकि दूसरे व्यक्ति को पानी मांगने पर और बिना माँगे भी दूध मिलता है, बिना मेहनत किये ही सुखसामग्री मिलती है। कर्म के प्रभाव से ही प्राणी को विविध गतियाँ, योनियाँ, शरीर आदि प्राप्त होते हैं।

अतः संसार में समस्त क्रियाओं, अन्तरों, वैर-विरोधों, अन्तरायों, राग-द्वेष आदि विकारों तथा समस्त व्यवहारों, विचारों और आचरणों के पीछे कर्म का ही एक मात्र हाथ है।

काल और स्वभाव तो निमित्तमात्र हैं, भवितव्यता (नियति) भी अकस्मात् मात्र है। कोई दूसरा कारण नहीं मिलता तब मन को समझाने के लिए कहा जाता है कि ऐसा ही होना था, होनहार को कौन टाल सकता है? कर्म अनुकूल हो तो काल भी वैसा ही आ जाता है, स्वभाव भी वैसा ही बन जाता है और भवितव्यता भी वैसी हो जाती है; पुरुषार्थ करने की बुद्धि भी शुभकर्म हों, तभी होती है, अन्यथा आलस्य, गपशप, निद्रा, लापरवाही आदि में ही मनुष्य का समय चला जाता है। कई बार उद्यम करने पर भी शुभ कर्मोदय न हो तो अभीष्ट वस्तु नहीं मिलती, अथवा मिल जाने पर भी हाथ से चली जाती है, या नष्ट हो जाती है।[१]

अतः कर्म की शक्ति अचिन्त्य, अगाध, गहन एवं अपरम्पार है। विश्व के प्रत्येक कार्य में कर्म कारण है। प्राणी की प्रत्येक क्रिया कर्माधीन होती है। जिसने जैसा कर्म बाँधा है, उसके विपाक के अनुसार उसकी वैसी-वैसी बुद्धि और परिणति स्वतः होती चली जाती है। पुराने कर्म का परिपाक होता है, उसी के अनुसार संसारी छद्मस्थ प्राणी नये कर्म बाँधता जाता है। सृष्टिकर्तृत्ववादियों के मतानुसार उनका तथाकथित ईश्वर भी कर्मानुसार फल देता है।

इस प्रकार जगत् की विचित्रता का समाधान कर्म को माने बिना हो नहीं सकता। अतः कर्मवाद का मूल उद्देश्य विश्व की दृश्यमान विषमता की गुत्थी को सुलझाना है।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये 'जैनदृष्टिए कर्म' पृ. २१

कर्मवाद की समीक्षा

कुछ लोगों में यह भ्रान्ति फैली हुई है कि कर्म सर्वशक्ति-सम्पन्न है। उसी की संसार में सार्वभौमसत्ता है। परन्तु यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। इसे तोड़ना ही चाहिए। कर्म ही सब कुछ नहीं। कुछ ऐसी भी स्थितियाँ हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं होतीं। आत्मा में ऐसी एक शक्ति है, जो कर्म से पूर्णरूपेण कदापि आवृत नहीं होती। यदि आत्मा पर कर्म पूर्णरूप से हावी हो जाता तो वह उसे कदापि तोड़ नहीं पाता। यदि कर्म ही सब कुछ होता तो मनुष्य समस्त बन्धनों को तोड़कर कभी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं हो पाता। कर्म ही सार्वभौम सत्ता-सम्पन्न होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहारराशि से निकलकर व्यवहारराशि में नहीं आ सकता था। अर्थात्—अविकसित जीवों की श्रेणी से वह विकसित जीवों की श्रेणी में कभी नहीं आ पाता। अव्यवहारराशि वनस्पतिजगत् के अनन्तकायिक सूक्ष्म जीवों का वह कोष है, जो कभी समाप्त नहीं होता। उसमें एक साथ अनन्त जीव रहते हैं। उनमें से दृश्यमान स्थूल जगत् में जितने भी जीव आते हैं, वे सब अव्यवहार-राशि से आते हैं। अव्यवहारराशि में पड़ा हुआ जीव कदापि मुक्त नहीं हो सकता, जो भी मुक्त होता है, वह व्यवहारराशि से होता है। चैतन्य का विकास भी व्यवहारराशि में ही होता है।

प्रश्न होता है, अव्यवहारराशि वाले जीव व्यवहारराशि में आए, वे क्या कर्म के बल से आए ? नही। यदि कर्म ही सब कुछ होता तो वे वहीं पड़े रहते, किन्तु काल की ऐसी शक्ति है, जो कर्म से अप्रभावित रहती है। अव्यवहारराशि में पड़े हुए जीव के लिए एक काल, एक अवसर, एक चांस ऐसा आता है, कि काललब्धि के प्रभाव से उसकी आत्मा अपने अस्तित्व के विषय मे जागृत हो जाती है। मिथ्यात्व-मोह कर्म की जड़ें हिल उठती हैं, उस आत्मा को अध्यात्म की किरणें प्राप्त हो जाती हैं। वह अविकसित चेतना की भूमिका से विकसित चेतना की भूमिका को प्राप्त कर लेता है।

यदि कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य होता तो अनादिकाल से मिथ्यात्व-ग्रस्त व्यक्ति मिथ्यात्व के उस गाढ़ अन्धकार का भेदन नहीं कर पाता। किन्तु आत्मा में ऐसी शक्ति है कि जैसे सूर्य के उदय होते ही चिरकाल का गाढ़ अन्धकार एकदम विलुप्त हो जाता है, वैसे ही जब आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जाग्रत हो जाती है, तब वह कर्मचक्र को तोड़ने में समर्थ हो जाती है। यदि कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य होता तो आत्मा की शक्ति कभी उसे चुनौती नहीं दे पाती।

कर्म पर सर्वाधिक नियंत्रण है—आत्मा के चैतन्य स्वभाव के स्वतंत्र अस्तित्व का। यदि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का सर्वदा स्वतंत्र अस्तित्व न

होता तो कर्म ही सब कुछ हो जाता। परन्तु आत्मा का चैतन्य स्वभाव, कभी अपने आपको नष्ट होने या बदलने नहीं देता। इसलिए कर्म आत्मा पर कितना ही प्रभाव डाले, वह एकाधिकार नहीं जमा सकता। कर्म तभी तक टिकता है, जब तक चेतना नहीं जागती। चेतना के जागृत होते ही कर्म स्वतः नष्ट होने लग जाता है।

सिद्धान्त यह है कि कर्म का पूर्ण साम्राज्य या आधिपत्य आत्मा पर हो जाए तो भी वह उसे पूर्णतया प्रभावित नहीं कर सकता। मोहकर्म का आधिपत्य तभी तक आत्मा पर रहता है जब तक आत्मा अपने स्वरूप तथा अपनी शक्ति के प्रति जागरूक न हो जाए। जब आत्मा का चैतन्य स्वभाव जागृत हो जाता है तब कर्म की सत्ता डगमगाने लगती है।

दूसरी बात—विश्व की प्रत्येक घटना का कारण अकेला कर्म ही नहीं है। यदि प्रत्येक घटना के पीछे कर्म का ही हाथ है, और हर घटना कर्म से प्रभावित होकर घटित होती है, तब फिर इस अनादिकालीन कर्मचक्र को कैसे तोड़ा जा सकता है ? जीवन में अनेक घटनाएं ऐसी भी होती हैं, जो कर्म से प्रभावित नहीं भी होती।

सत्य तो यह है कि जो घटनाएँ कर्म की सीमा में आती हैं, कर्म के योग्य होती हैं, वे ही कर्म के प्रभाव से घटित होती हैं। सब घटनाएँ कर्म के प्रभाव से घटित नहीं होती।

आज प्रायः आम आदमी की धारणा ऐसी बन गई है कि वह सहसा कह बैठता है—"क्या करें, ऐसे ही कर्म किये थे, इसलिए ऐसा हो गया। कर्मों का ऐसा ही भोग था। हमारे बस की बात नहीं रही।"

व्यावहारिक क्षेत्र मे कर्मवाद से अनभिज्ञ व्यक्ति यह कह बैठते हैं— "हमसे यह साधना नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मों का ऐसा ही योग है।" इसका मतलब यह है कि ऐसे व्यक्तियों के मन में यह पक्की धारणा बैठ गई है कि 'हम सब कर्माधीन हैं। कर्म जैसे नचाएगा, वैसे नाचेंगे। हम तो कर्म के हाथ की कठपुतली हैं।' इस कारण प्रत्येक घटित घटना, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, ऐसे व्यक्ति उसे कर्म के साथ जोड़ देते हैं, और यही विश्लेषण करने लगते हैं—'यह कर्म का ही प्रभाव है। कर्म के कारण ही ऐसी घटना हुई है। अन्यथा, ऐसा नहीं होता।' परन्तु यह कर्मवाद के रहस्य की नासमझी है, बहुत बड़ी भ्रान्ति है।

यह तो वैसा ही हुआ—जिस प्रकार ईश्वरकर्तृत्ववादी सारा उत्तरदायित्व ईश्वर पर डालकर स्वयं निर्दोष हो जाते हैं। कहते हैं—'हम अत्यन्त अनजान और अशक्तिमान हैं। अपने सुख-दुःख के विषय में क्या

जानें, ईश्वर ही जानता है, उसी की प्रेरणा से जीव नरक या स्वर्ग में जाते हैं। सारा उत्तरदायित्व ईश्वर का ही है।' इसी प्रकार कर्मवादी भी कर्म पर सारा उत्तरदायित्व डालकर स्वयं निर्दोष और अलग हो जाते हैं। बेचारा कर्म फंस जाता है, आदमी स्वयं बच जाता है। अच्छा-बुरा जो कुछ भी परिणाम होता है, सबका उत्तरदायित्व कर्म पर डालकर स्वयं अलग छिटक जाते हैं। उनके मुंह से प्रायः ये ही उद्‌गार निकलते हैं—"मैं क्या करता ! ऐसा ही कर्म था, इसलिए उसने ऐसा कराया !"

इसका मतलब यह हुआ कि उन्होंने ईश्वर को सर्वशक्तिसम्पन्न मानने की तरह कर्म को ही सर्वशक्तिसम्पन्न मान लिया। फिर तो वे ईश्वर को मानें या कर्म को, कोई अन्तर नहीं पड़ता। केवल नाम का ही अन्तर रहा। सर्वशक्तिसम्पन्न सत्ता में परिवर्तन कोई नहीं हुआ। परन्तु उन्हें इस मिथ्या धारणा को मस्तिष्क से निकाल देना चाहिए कि कर्म या अन्य काल आदि कोई भी सर्वशक्तिमान् सत्ता है। सभी की शक्तियाँ सीमित है। सर्वेसर्वा कर्म, काल आदि कोई भी शक्ति नहीं है। प्रकृति के विशाल साम्राज्य में किसी को अधिनायकत्व या एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियाँ काल में निहित हैं, कुछ स्व-पुरुषार्थ में, कुछ परिस्थिति में और कुछ स्वभाव में निहित हैं, तो कुछ शक्तियाँ कर्म में भी रही हुई हैं। चैतन्य की वास्तविक शक्ति पुरुषार्थ में निहित है, जिसके जरिये वह कर्म को भी बदल सकता है। हमारी चैतन्यशक्ति का प्रतीक अथवा हमारी क्षमता का अभिव्यक्त रूप पुरुषार्थ है।

यद्यपि काल, स्वभाव, नियति और कर्म, इन सभी तत्त्वों से मनुष्य बंधा हुआ है। और जब तक बन्धन है, तब तक वह पूर्णतया स्वतंत्र नहीं है। ये सारे तत्त्व मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रतिबन्धक हैं। वे उसकी परतंत्रता को बढ़ाते हैं; तथापि यह निश्चय समझ लीजिए कि कोई भी प्राणी पूर्णरूप से परतंत्र नहीं है। अगर वह पूर्णरूप से परतंत्र होता तो उसकी चेतना का अस्तित्व या उसका व्यक्तित्व ही समाप्त हो जाता। अतः काल, कर्म आदि जितने भी तत्त्व हैं, वे शक्तिमान होते हुए भी सर्वशक्तिसम्पन्न नहीं हैं। इन सबकी शक्ति मर्यादित है। कर्म की भी अपनी एक सीमा है। वह आत्मा पर प्रभाव डालता है, परन्तु डालता है उसी आत्मा पर जिसमें राग-द्वेष हों, कषाय हों; रागद्वेषरहित या कषायरहित आत्मा पर कर्म का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता, उसका वश वहाँ नहीं चलता।

अगर कर्म की सार्वभौम सत्ता और शक्तिसम्पन्नता होती तो मनुष्य की साधना का कोई अर्थ नहीं रहता। यदि मनुष्य भ्रान्तिवश ऐसा ही मानता चला जाए कि कर्म में जो भी जैसा भी लिखा है, वैसा ही होगा; तब तो

कर्ममुक्ति की कुछ भी साधना करने की जरूरत ही नहीं है, न ही उस विषय में चिन्तन-मनन, श्रवण करने की आवश्यकता है, फिर तो कर्म के भरोसे बैठे रहना होगा—कर्म में साधना करना लिखा होगा, अमुक बोलना, सुनना या करना लिखा होगा, वैसा ही हो जाएगा। परन्तु यह मिथ्या धारणा है। इसी मिथ्या धारणा के सहारे अनेक लोगों ने अपनी गरीबी, बीमारी, दुरवस्था, विपत्ति, अज्ञान आदि में वृद्धि की है। कर्मवाद की इस गलत धारणा ने भाग्यवाद को प्रश्रय दिया।

मनुष्य भाग्य के भरोसे बैठा रहकर अपने कर्मों को कोसता रहता है। वह नहीं समझता कि सद्भाग्य या दुर्भाग्य भी तो पूर्वकृत शुभ या अशुभ पुरुषार्थ का फल है। परन्तु कर्मवाद के रहस्य से अनभिज्ञ लोग अपने पुरुषार्थ को भूलकर मानव जैसा कर्म किया है, या करता है, वैसा ही फल भोगना पड़ेगा, इस एकान्त धारणा को मन में बिठा लेते हैं। कर्मवाद को एकान्ततः उत्तरदायी मानकर अज्ञ लोग अपने पुरुषार्थ का दीप स्वयं बुझा देते हैं। और जाने-अनजाने इस प्रकार के गहन अन्धकार में भटक जाते हैं कि "मेरा जैसा कर्म है, तदनुसार ही फल प्राप्त होगा। मैं तो असहाय हूँ, कर्मपरवश हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता।"

इसलिए जैनदर्शन साधना का मूलसूत्र यही बताता है कि जो कर्म किया है, अथवा कर रहे हो, उसका फल भी कर्मानुसार और शीघ्र ही प्रायः नहीं मिलता। मनुष्य साधना में पुरुषार्थ करने में स्वतंत्र है। अगर उसकी चेतना जाग जाए, अपने स्वरूप और शक्ति को भलीभांति समझने लग जाए, तथा उसे कर्ममुक्ति का शुद्ध मार्ग मिल जाए तो कोई भी शक्ति उसे आगे बढ़ने से रोक नहीं सकती। वह आत्मा को कर्मों से पूर्ण अनावृत करने में सक्षम हो सकता है। फिर आत्मा की शक्ति कर्म के सभी बन्धनों को तोड़कर मुक्ति की ओर अग्रसर हो सकती है, परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सकती है।

अतः कर्मवाद के साथ लगी हुई इस भ्रान्त धारणा को मन से निकाल फैंकिये कि कर्म ही सब कुछ है। कर्म भी एक माध्यम है, जो अपनी सीमा में प्रत्येक अजागृत प्रमत्त प्राणी को प्रभावित करता है। अगर कर्म ही सब कुछ होता तो भोगों में आकण्ठ डूबे हुए धन्ना एवं शालिभद्र जैसे लौकिक ऋद्धिसम्पन्न व्यक्ति कभी उनका त्याग नहीं कर सकते थे, न ही कर्ममुक्ति के लिए इतनी कठोर तप-संयम की साधना स्वीकार कर सकते थे। क्योंकि कर्म स्वयं अचेतन है, वह स्वयं किसी को त्याग, तप, संयम, प्रत्याख्यान, संवर आदि नहीं करा सकता। जितने भी कर्म हैं, उनका प्रयोजन आत्मा को संसारदशा में बांधे रखना है। त्याग कराना कर्म का प्रयोजन नहीं है। फिर

भी सांसारिक जड़-चेतन पदार्थों में अत्यन्त आसक्त अथवा भोगों में आकण्ठ डूबे हुए या कषायादि विकारों से अत्यन्त ग्रस्त व्यक्तियों को सहसा इन्हें त्याग करने की प्रबल भावना क्यों जाग जाती है ? इसका कारण कर्म नहीं है, किन्तु व्यक्ति की अन्तश्चेतना है, जो प्रबल शक्तिमान है, वही विजातीय तत्त्वों से न्यूनाधिकरूप में सतत संघर्षरत है। आत्मा को अपने सहज सच्चिदानन्दस्वरूप अवस्था की ओर जाने की प्रेरणा उसी से मिलती है। अगर व्यक्ति जागरूक होता है तो किये हुए घोर कर्मों को भी क्षणभर में काट सकता है। कर्म से मिलने वाले संभावित फल में भी वह अपने शुद्ध परिणामों की धारा से प्रचुर परिवर्तन कर सकता है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के कायोत्सर्गमुद्रा में स्थित रहते ही मन से घोर पापकर्म बंध गए थे, किन्तु कुछ ही समय बाद उनकी चेतना जागृत हुई, उन्होंने अपने स्वरूप को संभाला और उत्कृष्ट शुद्ध परिणाम-धारा में बहकर पश्चात्ताप की अग्नि में समस्त कर्मों को भस्म कर डाला। वे समस्त कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त, सिद्ध परमात्मा बन गए।

अतः कर्म की शक्ति और उसकी सीमा को समझने से ही कर्मवाद का रहस्य हृदयंगम हो सकेगा। यद्यपि कालवाद, स्वभाववाद और नियतिवाद, इन सबसे कर्मवाद व्यापक है। ईश्वरकर्तृत्ववादी भी कर्मवाद को मानते हैं और आत्मकर्तृत्ववादी भी कर्मवाद को स्वीकारते हैं। फिर भी एकान्त कर्मवाद को ही सब घटनाओं का कारण मान लेना मिथ्या धारणा है।

पुरुषार्थवाद की मीमांसा

पांच कारणों में अन्तिम कारण पुरुषार्थ है। वैसे देखा जाए तो पूर्वकृत पुरुषार्थ 'कर्म' कहलाता है और वर्तमान में किया जाने वाला कर्म 'पुरुषार्थ' कहलाता है। ये दोनों कर्म के ही दो रूप हैं। पुरुषार्थ कर्म को काटने या बदलने के लिए वर्तमानकालीन उद्यम है—ज्ञानादि रत्नत्रय-साधना में। इसे पुरुषार्थ, प्रयत्न, उद्यम आदि भी कहा जाता है। पुरुषार्थवाद का अपना दर्शन है। उसका कथन है कि संसार में सभी पदार्थों या धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष आदि पदार्थों की सिद्धि—प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ ही एकमात्र समर्थ है। बिना पुरुषार्थ के कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। संसार में प्रत्येक कार्य के लिए नीतिकार भी उद्यम (पुरुषार्थ) का ही समर्थन करते हैं। संसार में जो कुछ उन्नति, प्रगति, अभ्युदय या प्रेय-श्रेय की प्राप्ति होती है या हुई है, वह सब पुरुषार्थ का ही परिणाम है। संसार के वैचित्र्य, वैषम्य एवं वैसादृश्य का कारण भी प्राणी का अपना-अपना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करने से मनुष्य अपने अभीष्ट मनोरथ को सिद्ध कर सकता है, चाहे जिस वस्तु की उपलब्धि कर सकता है। बड़ी-बड़ी शक्तियाँ, लब्धियाँ, उपलब्धियाँ और

सिद्धियाँ भी साधना में पुरुषार्थ के द्वारा मनुष्य प्राप्त कर लेता है। पुरुषार्थ से व्यक्ति बड़े से बड़े संकट को पार कर लेता है। वनवासी एवं साधनहीन श्रीराम ने पुरुषार्थ किया तो रावण जैसे महायोद्धा को पराजित करके लंका पर विजय प्राप्त की और रावण द्वारा अपहृत महासती सीता को उसके चंगुल से मुक्त करके अयोध्या ले आए।

नीतिकार भी कहते हैं—"उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं, केवल मनसूबे बांधने से नहीं। सोये हुए सिंह के मुंह में मृग प्रविष्ट नहीं हो जाता।" जो व्यक्ति हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहता है, उसके घर के आंगन में लक्ष्मी आकर नहीं बसती। उद्योगी पुरुषसिंह के पास ही लक्ष्मी आती है। जो कायर और आलसी होते हैं—वे ही कहा करते हैं कि दैव (भाग्य) स्वयं देगा। अतः दैव को छोड़कर अपनी शक्तिभर पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ करने पर भी कार्य सिद्ध नहीं होता है तो इसमें कौन-सा दोष है?[१] व्यावहारिक दृष्टि से सोचें तो भी उद्यम किये बिना कोई भी वस्तु तैयार नहीं होती। तपेली में पानी गर्म करके उसमें दाल डाले बिना दाल नहीं पकती, उसमें चावल डाले बिना भात भी नही पकता।

उद्यम से बड़े-बड़े अभेद्य दुर्ग मनुष्य ने बनाए, अणुबम, उद्‌जनबम आदि भी बनाए, जिनसे सारे विश्व को कम्पित किया जा सकता है। उद्यम द्वारा मानव ने जल, स्थल और आकाश पर विजय प्राप्त की। वह उन पर विविध यानों द्वारा द्रुतगमन करने लगा। बड़े-बड़े बाँध और सरोवर उद्यम के ही प्रतिफल हैं। उद्यम द्वारा मनुष्य ने बड़े-बड़े उत्तुंग प्रासाद (बिल्डिंग) बनाए।

कर्म भी उद्यम (पुरुषार्थ) के बिना नहीं होते। इसलिए कर्म का जनक कर्त्ता या पिता तो उद्यम ही है। अतः कर्म तो उद्यम का पुत्र है। कर्म (पूर्वकृत कर्मबन्ध) का मूल कारण भी तो उद्यम है।

मोक्षमार्ग की साधना मे पुरुषार्थ करके मानव कर्मों की जंजीरों को तोड़कर मुक्त हो जाता है। भरत और बाहुबली, जो एक दिन परस्पर युद्धरत थे, संघर्षमग्न थे, अपने सम्यक् पुरुषार्थ से कर्मों को खदेड़कर उसी

---

१. (क) उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः।
नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ —हितोपदेश

(ख) उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः ॥ —हितोपदेश

भव (जन्म) में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। अर्जुनमाली जैसा क्रूर हत्यारा बना हुआ मानव तप-संयम एवं क्षमा, समता आदि धर्मों की साधना में पुरुषार्थ करके दीक्षा लेने के छह महीने बाद ही समस्त कर्मों को क्षय करके सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। ऐसे लोकोत्तर सम्यक् पुरुषार्थ के एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं।

पुरुषार्थ से प्राणी कर्मों पर विजय प्राप्त करके अनन्त आत्मिक सुख को प्राप्त कर लेता है। और तो और सम्यक् पुरुषार्थ से कर्म और कर्मफल में भी परिवर्तन किया जा सकता है। कर्मों में परस्पर संक्रमण, उद्वर्त्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशमना आदि करण पुरुषार्थ पर ही आधारित हैं। जो कार्य सहज रूप से नहीं हो सकता, उसे पुरुषार्थ के बल पर किया जा सकता है। कभी-कभी काल और स्वभाव पर भी पुरुषार्थ विजय पा लेता है। पुरुषार्थ से अकाल (असमय) में आम पैदा किया और पकाया जा सकता है। स्वभाव भी पुरुषार्थ से पलटा जा सकता है। उद्यम से अभ्यास होता है, अभ्यास से कार्यकुशलता और विशेषज्ञता आती है, और इनसे आदत या टेव (Habit) बन जाती है। आदत से प्रत्येक सत्कार्य करने में आसानी हो जाती है।

पुरुषार्थ की यह विशेषता है कि अगर एक बार में काम नहीं बनता है तो दूसरी बार प्रयत्न किया जा सकता है। दृढ़संकल्प, लगन और उत्साह के साथ पुरुषार्थ करने से कठिनतम कार्य भी सिद्ध होते हैं। दृढ़संकल्प और पुरुषार्थ के बल पर ही तेनसिह और हिलेरी ने हिमालय की २९२०२ फीट ऊँची सर्वोच्च चोटी भी सर कर ली थी। प्रबल पुरुषार्थी के लिए प्रकृति भी सहायक हो जाती है, वह भी मार्ग दे देती है।

अतः पाचों कारणों में पुरुषार्थवाद ही विश्ववैचित्र्य का प्रबल कारण है। इसीलिए एक महान् आचार्य ने कहा है—"**कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः।**" मोक्ष के परम आनन्द को पाने के लिए पुरुषार्थ करो—पुरुषार्थ करो।

पुरुषार्थवाद-समीक्षा

यह ठीक है कि प्रत्येक कार्य की सिद्धि में पुरुषार्थ भी एक कारण है, परन्तु यदि काल अनुकूल न हो, उस वस्तु का वैसा बनने या करने का स्वभाव न हो, वह विश्व के अटल नैसर्गिक नियम के विरुद्ध हो, तथा पुरुषार्थ करने वाले के पूर्वकृत कर्म अनुकूल न हों तो चाहे जितना पुरुषार्थ करने पर भी वह कार्य सिद्ध नहीं हो पाता।

गौतम गणधर तप संयम के धनी थे, प्रबल पुरुषार्थी थे, भगवान् महावीर के प्रमुख अन्तेवासी पट्टशिष्य थे, कर्मों को जीतने का वे सतत पुरुषार्थ करते रहे, परन्तु जब तक काल नहीं पक गया, तब तक उनके मन

से भगवान् महावीर के प्रति जो प्रशस्त राग (शुभ मोह) था, वह क्षीण न हो सका। उनका पुरुषार्थ तभी कृतकार्य हुआ, जब उन्होंने अपने स्वभाव से उस प्रशस्त राग को भी दूर कर दिया, फलतः घाती कर्म भी नष्ट हुए और काललब्धि की अनुकूलता हुई। इसीलिए एकान्त पुरुषार्थवाद को मानना श्रेयस्कर नहीं है।

आचार्य समन्तभद्र का कथन है कि दैव, कर्म, भाग्य और पुरुषार्थ के विषय में एकान्तदृष्टि को छोड़कर सापेक्षदृष्टि—अनेकान्तवादी दृष्टि रखनी चाहिए। जहाँ मनुष्य के द्वारा बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ (कर्म) न करने पर भी उसे इष्ट या अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो, वहाँ दैव को मुख्य मानना चाहिए, क्योंकि उसमें पुरुषप्रयत्न गौण है, दैव प्रधान है और जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्न से इष्टानिष्ट की प्राप्ति हो, वहाँ स्व-पुरुषार्थ को मुख्य मानना चाहिए, दैव और कर्म को गौण। इस प्रकार कहीं दैव प्रधान होता है, कहीं पुरुषार्थ। दोनों एक दूसरे के पूरक-सहायक बनकर ही कार्य को पूर्ण करते हैं। निष्कर्ष यह है कि दैव और पुरुषार्थ के सम्यक् समन्वय से ही कार्यसिद्धि होती है।[१]

पांच कारणवादों का समन्वय

भगवान् महावीर का यह सिद्धान्त है कि ये पांचों कारण समन्वित होने पर ही कर्मवाद के पूरक एवं सहयोगी बनते हैं। ये पांचों सापेक्ष हैं और अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। **काल** प्रकृति की वस्तु के व्यवस्थित-रूप से परिणमन होने में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। प्रत्येक पदार्थ का **स्वभाव** भी उसके द्वारा कार्य होने में सहायक तत्त्व है। **नियति** सार्वभौम जागतिक नियम (यूनिवर्सल लॉ Universal law) है, जो प्रत्येक कार्य के साथ समानरूप से लागू होता है। व्यक्ति ने मन-वचन-काया से, जाने-अनजाने, पूर्वकाल में स्थूल-सूक्ष्मरूप से जो कुछ किया-कराया या अनुमोदित किया होता है, उस क्रिया का अंकन कर्मबन्ध के रूप में होता है। और फिर समय आने पर उस क्रिया (कर्मरूप से बद्ध क्रिया) की प्रतिक्रिया होती है। यही **पुराकृत कर्म** है, जो प्रत्येक अच्छी-बुरी घटना के साथ होता है। वर्तमान में जो क्रिया की जाती है, जिससे कर्मों का आस्रव या बन्ध तथा संवर, निर्जरा या मोक्ष होता है, वह **पुरुषार्थ** है। वैसे देखा जाए तो कर्म और पुरुषार्थ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कर्म पहले किया हुआ (अतीत का) पुरुषार्थ है और पुरुषार्थ वर्तमान का पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करने का प्रथम क्षण 'पुरुषार्थ' कहलाता है और उसके व्यतीत हो जाने पर वही पुरुषार्थ अतीत हो जाने से 'कर्म' कहलाने लगता है।[२]

---

१. आप्तमीमांसा कारिका ८८-९१।

२. कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से साभार उद्धृत पृ. १३०

सर्वत्र पंचकारण-समवाय से कार्यसिद्धि

संसार में देखा जाता है, पांचों कारण मिलने पर यानी पांचों कारणों के समवाय-मेल या समन्वय से कार्य होता है। पांचों में से एक भी कारण न हो तो कार्य निष्पन्न नहीं हो सकता। पांचों अंगुलियाँ इकट्ठी होती हैं, तभी 'हाथ' बनता है। हथेली के लिए पांचों अंगुलियाँ एक दूसरे से संलग्न होती हैं। इनमें छोटी-बड़ी अंगुली अवश्य होती हैं, मगर पांचों के मिलने पर ही 'पहोंचा' होता है।

वस्त्रनिर्माण कार्य में पंचकारणसमवाय

कपड़ा बनाने के लिए भी पांचों कारणों का मेल होना आवश्यक है। रुई के स्वभाव से वह काती जाती है, कालक्रम से वह सूत बुना जाता है, और उसकी भवितव्यता (नियति) हो, तभी वस्त्र तैयार होता है। अन्यथा उसमे अनेक विघ्न आते हैं, बुनकर बीमार पड़ जाता है, अथवा किसी कारणवश अनुपस्थित रहता है, आदि आदि। बुनकर पुरुषार्थ करता है, तभी वस्त्र बनना शुरू हो जाता है, साथ ही पहनने वाले के शुभकर्मोदय हो तभी वस्त्र पूर्णरूप से तैयार होता है। निष्कर्ष यह है कि वस्त्रनिर्माण में काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ ये पांचों उपस्थित हों तभी कार्य सम्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। इन पांचों में से एक भी न हो तो कार्य सम्पन्न नहीं होता, यह अनुभवसिद्ध है।

आम्रफलप्राप्ति में पंचकारण-समवाय

मान लीजिए, एक बागवान है, वह अपने बाग में आम का वृक्ष लगाकर उसके फल पाना चाहता है। वह पहले यह देखेगा कि आम की गुठली में ही आम होने का स्वभाव है, और आम से आम होना प्रकृति का अटल नियम (नियति) भी है। किन्तु भूमि ठीक करके आम की गुठली बोने का पुरुषार्थ न करेगा तो आम नहीं होगा। अतः बोने का पुरुषार्थ करता है। साथ ही निश्चित काल का परिपाक हुआ या नहीं ? यह भी बागवान देखेगा। क्योंकि काल की अवधि पूरी हुए बिना आम के पेड़ पर उसका फल नहीं लगेगा। काल की मर्यादा पूर्ण होने पर भी यदि कर्म अनुकूल नहीं हो तो भी आम लगना कठिन है। इतना सब होने पर भी कभी-कभी भवितव्यता न हो तो समय पर लगने वाला आम्र-फल भी नहीं लगता। होनी को कौन टाल सकता है ? अतः पांचों कारणों में से एक या दो हों और बाकी के न हों तो भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती।

विद्याध्ययनकार्य में पंचकारण-समवाय

विद्याध्ययन करके विद्वान् बनना चाहने वाले विद्यार्थी को भी इन पांचों कारणों का विचार करना आवश्यक है। अध्ययन करने में चित्त की

एकाग्रतारूप स्वभाव, तत्पश्चात् पढ़ने में समय का योगदान, फिर अध्ययन करने का पुरुषार्थ ये तीनों तो आवश्यक हैं ही। साथ ही पढ़ने वाले के ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय-क्षयोपशम का तथा शुभकर्म का उदय हो एवं प्रकृति के नियम की अनुकूलता (नियति) का भवितव्यता का भी ध्यान रखा जाए तो अध्ययन करने वाला विद्यार्थी विद्वान् बन सकता है।

मोक्षप्राप्तिरूप कार्य में पंचकारण समवाय

मोक्षप्राप्ति जैसे कार्य के लिए भी पांचों कारणों का समवाय आवश्यक है। काल भी मोक्षप्राप्ति में अनिवार्य है। काल के बिना सम्पूर्ण कर्म-मोक्षरूप कार्य की सिद्धि असम्भव है। यदि काल को ही कारण मान लिया जाए, तब तो अभव्य जीव भी मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, परन्तु उनका स्वभाव मोक्ष प्राप्त करना नहीं है। भव्यों का ही मोक्ष प्राप्ति का स्वभाव होने से वे ही मोक्ष प्राप्त कर सकेंगे। यदि काल और स्वभाव दोनों को ही मोक्षरूप कार्य के कारण मान लिये जाएँ तो सभी भव्य एक साथ मोक्ष में चले जाएँगे, ऐसा असम्भव है। किन्तु इन दोनों के साथ नियति का योग जिन्हें मिलेगा, वे ही भव्य जीव समय पर मोक्ष में जाएँगे। यदि काल, स्वभाव और नियति, ये तीनों ही मोक्षप्राप्ति के कारण मान लिये जाते तो मगधराज श्रेणिक कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते, किन्तु वे अपने जीवन में मोक्ष के अनुरूप सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय करने का पुरुषार्थ नहीं कर सके, इसलिए पूर्वोक्त कारणत्रय का योग होने पर भी वे मोक्ष न पा सके। इसलिए मोक्ष-प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त तीन कारणों के साथ ही पूर्वकृत कर्मक्षय और रत्नत्रयसाधना में पुरुषार्थ ये दोनों कारण होने भी अनिवार्य हैं। शालिभद्रमुनि पूर्वकृत कर्मों का सम्पूर्ण क्षय न होने के कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर सके। मरुदेवी माता ने भी स्वभावरमणरूप भावों के पुरुषार्थ तथा क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर शुक्लध्यानरूपपुरुषार्थ के कारण मोक्ष प्राप्त किया था। अतः पांच कारणों का सापेक्ष समन्वय ही कार्यसिद्धि के लिए आवश्यक है।

कार्य में इन पाचों की गौणता-मुख्यता सम्भव

यह ठीक है कि किसी कार्य मे कोई एक मुख्य हो, दूसरे सब गौण हों। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है कि अकेला कोई एक ही तत्त्व स्वतंत्ररूप से कार्य सिद्ध कर दे। इसलिए यह तो माना जा सकता है कि किसी समय काल की, किसी समय स्वभाव की, और किसी समय नियति की मुख्यता प्रतीत होती है। किसी समय भोक्ता का भाग्य मुख्यरूप से सामने आता है, तथा किसी समय अप्रत्याशित रूप से किसी अनिर्धारित प्रसंग में होनहार (भवितव्यता) आगे आ जाती है। परन्तु पांचों में से एक भी अनुपस्थित हो तो कार्य नहीं बन सकता। मुख्यता-गौणता तो उथली दृष्टि से देखने पर मालूम होती है,

वस्तुतः गहराई में उतरकर बारीकी से देखने पर पांचों ही कारण दृष्टिगोचर होते हैं।

जगत्वैचित्र्य का प्रधान कारण : कर्म

वास्तव में जगत्-वैचित्र्य एवं वैविध्य का प्रधान कारण कर्म है। पुरुषार्थ उसका सहचर है। वह कर्म के अन्तर्गत ही आ जाता है। इसलिए कर्म पांचों कारणों में सबसे व्यापक है। बाकी के कालादि तीन कारण कर्म के सहकारी कारण हैं। कर्म को प्रधानता देने से पुरुषार्थ को पोषण और समर्थन मिलता है, जो कि प्रत्येक कार्य के बाह्य या अन्तरंगरूप में अनिवार्य है। पुरुषार्थ से प्राणियों में आत्मबल एवं आत्मविश्वास पैदा होता है।

चैतन्य का स्वपुरुषार्थ ही उत्तरदायी

इसके अतिरिक्त इन पांचों कारणों में उत्तरदायी भी आत्मा का अपना पुरुषार्थ है। व्यक्ति का अपना कर्तृत्व-पुरुषार्थ इसलिए उत्तरदायी है कि काल, स्वभाव, नियति और कर्म में चारों तो अचेतन (जड़) हैं, परिस्थिति और वातावरण, भवितव्यता और शरीर के अवयव आदि भी अचेतन हैं। अचेतन कदापि उत्तरदायित्व का वहन नहीं कर सकते। उत्तरदायित्व का वहन चेतन ही कर सकता है। पुरुषार्थ का सम्बन्ध चेतन से है। जिसमें चैतन्य, ज्ञान, विवेक या बोध हो, उसी में दायित्व निभाने की क्षमता होती है। व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ चेतना के साथ सम्बद्ध है। वह दायित्वबोध, उसका स्वीकार और निर्वाह करने से बच नहीं सकता। इसलिए कहना होगा कि काल, स्वभाव, नियति और कर्म, ये चारों उत्तरदायी नहीं हैं, उत्तरदायी है चैतन्यशील ज्ञानमय मानवात्मा का अपना पुरुषार्थ। वह अपने किसी भी आचरण, व्यवहार या कर्तृत्व की जिम्मेवारी से छूट नहीं सकता। वह इससे कथमपि टालमटूल नहीं कर सकता कि-"मैं क्या जानू—कर्म ने मुझसे ऐसा कराया, या स्वभाव के कारण ऐसा हुआ अथवा होनहार ही ऐसा था, जमाना ही पंचमकाल या कलियुग का है, उसमें मैं क्या करता ?" काल आदि सब सहकारी कारण एवं दायित्वनिर्वाह में परोक्ष एवं तटस्थ निमित्त व सहायक हो सकते हैं, किन्तु व्यवहार, आचरण या कार्य के मोर्चे पर तो व्यक्ति के अपने पुरुषार्थ को ही दायित्व की बागडोर संभालनी होगी।

इस प्रकार कर्मवाद के ऐतिहासिक पर्यालोचन के सन्दर्भ में हमने कर्मवाद की जड़ों को सींचने एवं उखाड़ने में साधक-बाधक कारण वादों की समीक्षा की है। इन पर मनोयोगपूर्वक चिन्तन करने से कर्मविज्ञान का सारा रहस्य समझ में आ जाएगा। ■

कर्म-विज्ञान

(तृतीय खण्ड)

कर्म का विराट् स्वरूप

१

कर्म-शब्द के विभिन्न अर्थ और रूप

कर्म का सार्वभौम साम्राज्य और विश्वास

भारतीय जन-जीवन में कर्म-शब्द बालक, युवक और वृद्ध सभी की जबान पर चढ़ा हुआ है। यही नहीं, विश्व के समस्त श्रेणी के विचारक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, तत्त्वचिन्तक, साहित्यकार, पत्रकार, कवि, लेखक तथा स्वर्णकार, लोहकार, दर्जी, नाई आदि शिल्पी एवं कृषक, श्रमजीवी, गृहोद्योगी तथा सभी प्रकार के व्यवसायी, कारखानेदार, नौकरी पेशे वाले एवं राजनैतिक एक या दूसरे प्रकार से कर्म से सम्बन्धित एवं प्रभावित हैं। भारतीय धर्म, राजनीति, समाजतंत्र, अर्थतंत्र, साहित्य, संस्कृति, विज्ञान, दर्शन, कला, परिवार, ज्ञाति, नीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में कर्म का सार्वभौम साम्राज्य है। कर्म और उससे मिलने वाले फल पर विश्वास रखकर इन सभी क्षेत्रों के मानव कार्य करते हैं, और धैर्यपूर्वक उसके परिणाम (फल) की प्रतीक्षा करते हैं। कृषक, श्रमजीवी, पहलवान, विद्यार्थी, व्यवसायी आदि जो भी कर्म करते हैं, क्या उसका फल उन्हें तुरन्त मिल जाता है ? फिर भी वे श्रद्धा और निष्ठापूर्वक सत्कर्म करते हैं और उसका फल भी पाते हैं।

कर्मशब्द का प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न अर्थों में

इस प्रकार कर्मशब्द सभी आस्तिक धर्मग्रन्थों, दर्शन, उपनिषदों तथा धर्मशास्त्रों, शब्दशास्त्रों, विधि (कानून) शास्त्रों, समाजविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, नातिशास्त्र, कामशास्त्र आदि लोकोत्तर एवं लौकिक शास्त्रों तथा जगत् के प्रत्येक व्यवहार, प्रवृत्ति अथवा कार्य में प्रयुक्त होता है। यही कारण है कि विभिन्न व्यवहारों में 'कर्म' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। इस दृष्टि से खाना-पीना, चलना-फिरना, उठाना-रखना, नहाना-धोना, सोना-जगना, बोलना-मौन रहना, देखना-सुनना, सूंघना-स्पर्श करना, श्वासोच्छ्‌वास लेना-छोड़ना, सोचना-विचारना, चिन्तन करना, जीना-मरना इत्यादि समस्त शारीरिक-

मानसिक-वाचिक क्रियाओं को कर्म कहा जाता है। इसी को कार्य, काम, व्यापार या प्रवृत्ति भी कहते हैं। इतना ही नहीं, जीवन के किसी भी स्पन्दन, हलचल या क्रिया के लिए 'कर्म' शब्द का व्यवहार किया जाता है; फिर वह क्रिया चाहे जड़शक्ति की हो या चैतन्यशक्ति की। शिल्पी, कर्मकर तथा आजीविकापरायण लोगों के आचार्योपदेशज शिल्प या अनाचार्योपदेशज कृषि, गोपालन, वाणिज्यादि कार्यों या लुहार, सुथार, सुनार आदि के कार्यों को अर्थात्—सभी काम-धन्धों और व्यवसायों को भी 'कर्म' कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि के अन्तर्गत विविध कर्म यौगलिकों को सिखाये थे।[१]

कर्मशब्द : क्रियापरक अर्थ में, विभिन्न परम्पराओं में

इसी अपेक्षा से न्याय और वैशेषिक दर्शनो ने चलनात्मक अर्थ में—आत्मा के संयोग और प्रयत्न के द्वारा हाथ आदि से होने वाली क्रिया को कर्म कहा है। वहाँ कर्म का लक्षण किया गया है—"जो एक द्रव्य हो—द्रव्यमात्र मे आश्रित हो, जिसमे कोई गुण न रहे तथा जो संयोग और विभाग मे कारणान्तर की अपेक्षा न करे, वह कर्म है।" वहाँ कर्म के उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण और गमन, ये पाँच भेद बतलाये गए हैं।[२]

---

१. (क) 'क्रियते निवर्त्यते यत् तत्कर्म घट-प्रभृति लक्षणे कार्ये।' —विशेषावश्यकभाष्य
(ख) यत् क्रियते तत्कर्म —षट्खण्डागम भा. ६, पृ. १८
(ग) 'योगो व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम्।' —विशेषावश्यक
(घ) भ्रमणादि क्रियायाम्
(ङ) कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) पृ. ३ में 'कर्म एटले शु ?.
(च) कर्म-मीमांसा पृ. २
(छ) 'जीवनवृत्तौ, —उपासकदशाग अ. १
(ज) 'जीविकार्थे आरम्भे;'—पंचाशक, विवरण १
(झ) 'कम्माणि तणहारगादीणि' —आचा. चू. १ अ.
(ञ) कम्मं जमणायरिओवदेसजं सिप्पमन्नहाऽभिहिय।
किसि-वाणिज्जाईयं, घड-लोहाइ-भेयं वा॥
—आ. म. द्वि. अभिधानराजेन्द्रकोष में 'कम्म' शब्द पृ. २४४
(ट) "अनाचार्यकं कर्म, साचार्यकं शिल्पमथवाऽकादाचित्कं शिल्पं कादाचित्कं तु कर्म, शिल्पं तु नित्य व्यापारः।" —भगवती सूत्र श. १२, उ. ५ वृत्ति

२. (क) "आत्म-सयोग-प्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।" —वैशेषिक दर्शन ५/१/१/१५०
(ख) एक द्रव्यगुणं संयोग-विभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्म-लक्षणम्।
—वही १/११७
(ग) उत्क्षेपणं ततोऽवक्षेपणमाकुञ्चनं तथा।
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पंच च॥' —न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली ६

वैयाकरणों ने कर्म-कारक के अर्थ में कर्म शब्द का प्रयोग किया है और कर्म की परिभाषा की है—कर्ता के लिए जो अत्यन्त इष्ट हो, अर्थात्—कर्ता अपनी क्रिया के द्वारा जिसे प्राप्त करना चाहता है, वह कर्म है।[१] दूसरे शब्दों मे—जिस पर कर्ता के व्यापार का फल गिरता है, वह कर्म है।

वैदिक परम्परा में वेदों से लेकर ब्राह्मण (ग्रन्थ) काल तक यज्ञ-याग आदि नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को 'कर्म' कहा गया है। अर्थात्—'वैदिक काल के प्रसिद्ध अश्वमेध, नरमेध, गोमेध आदि; पुत्रकाम, स्वर्गकाम, कारीरी आदि वेद-विहित यज्ञों के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं, तथा उनके सम्पादन के लिये जो भी विधि-विधान निश्चित किये गये हैं, वे सब 'कर्म' माने गए हैं। वैदिक युग में यह माना जाता था कि इन यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान देवों को प्रसन्न करने के लिए करना चाहिए ताकि देव प्रसन्न होकर उसके कर्ता की मनोकामना पूर्ण कर सकें।[२]

स्मार्त-विद्वानो ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चार आश्रमों के लिए नियत या विहित कर्त्तव्यों एवं मर्यादाओं के पालन करने को 'कर्म' कहा है।[३] पौराणिकों के मत में व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाएँ 'कर्म' कहलाती हैं।[४]

भगवद्गीता में कर्मवाद केवल मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-याग आदि क्रियाकाण्डो के अर्थ मे अथवा वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार किये जाने वाले स्मार्त-कार्यों के ही संकुचित अर्थ के प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु फलाकांक्षारहित होकर अनासक्तभाव से या समर्पणभाव से कृत कर्म तथा सहजकर्म, ज्ञानयुक्तकर्म, कर्मकौशल आदि सभी प्रकार के क्रिया-व्यापारों के व्यापक अर्थ में 'कर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[५]

बौद्ध दार्शनिकों ने भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक, इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया है। तथापि वहाँ केवल 'चेतना' को इन क्रियाओं में प्रमुखता दी गई है। चेतना को 'कर्म'

---

१. 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' —पाणिनिकृत अष्टाध्यायी १/४/४९

२. (क) आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया)
   (ख) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी)

३. मनुस्मृति आदि

४. धर्मनिर्णयसिन्धु आदि

५. (क) गीता रहस्य पृ. ५५-५६
   (ख) भगवद्गीता अ. ५ श्लो. ८-११

कहते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है—"भिक्षुओ! चेतना ही कर्म है, ऐसा मैं कहता हूँ। चेतना के द्वारा ही (जीव) कर्म को वाणी से, काया से या मन से करता है।" इसका आशय इतना ही है कि चेतना के होने पर ही ये सभी कर्म (क्रियाएँ) सम्भव हैं।[१]

आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से त्रिविध कर्म

बौद्ध दृष्टि से इसका स्पष्टीकरण करते हुए डॉ. सागरमल जैन ने लिखा है—"...उसमें सभी कर्मों का सापेक्ष महत्त्व स्वीकार किया गया है। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान की दृष्टि से तीनों प्रकार के कर्मों का अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। आश्रय की दृष्टि के कायकर्म ही प्रधान है; क्योंकि मनःकर्म और वाचाकर्म भी काया पर ही आश्रित हैं। स्वभाव की दृष्टि से वाक्कर्म ही प्रधान हैं, क्योंकि काय और मन स्वभावतः कर्म नहीं हैं। कर्म उनका स्व-स्वभाव नहीं है। यदि समुत्थान (आरम्भ) की दृष्टि से विचार करें तो मनःकर्म ही प्रधान है; कयोंकि सभी कर्मों का आरम्भ मन से है।"

समुत्थान के आधार पर कर्मों का द्विविध वर्गीकरण

बौद्धदर्शन में समुत्थान कारण को प्रमुखता देकर ही यह कहा गया है कि चेतना ही कर्म है। साथ ही इसी आधार पर कर्मों का एक द्विविध वर्गीकरण भी किया गया है—"चेतना कर्म और चेतयित्वा कर्म। चेतना मानस कर्म है और चेतना से उत्पन्न होने के कारण शेष दोनो वाचिक और कायिक कर्म चेतयित्वा कर्म कहे गए हैं।"[२]

कर्म के अर्थ में क्रिया से लेकर फलविपाक तक समाविष्ट

आचार्य नरेन्द्रदेव के निम्नोक्त उद्‌गारो से यह स्पष्ट है कि 'केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नही हैं। (उनमें) कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा।' तात्पर्य यही है कि बौद्धदर्शन मे 'कर्म' शब्द का अर्थ 'क्रिया' तक ही सीमित नहीं है, अपितु कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ विशुद्ध चेतना द्वारा होने से, उस पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। तथा उसके फलस्वरूप भावी क्रियाओं का निश्चय और उन भावी क्रियाओं से समुत्पन्न अनुभव आदि भी क्रिया मे परिगणित हो जाते हैं। इसलिए यहाँ भी 'कर्म' शब्द के अर्थ में क्रिया, क्रिया का उद्देश्य, उसके

---

१. बौद्ध धर्मदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन में उद्धृत अगुत्तरनिकाय के श्लोक से

२. (क) जैन कर्मसिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन)

(ख) बौद्धधर्मदर्शन पृ. २४९ (आचार्य नरेन्द्रदेव)

करने की इच्छा और उसके प्रभाव एवं फलविपाक तक के समस्त तथ्यों का समावेश हो जाता है।[1]

जैनदृष्टि से कर्म के अर्थ में क्रिया और उसके हेतुओं का समावेश

जैनदर्शन में सामान्यरूप से कर्म का अर्थ क्रियापरक ही किया गया है, किन्तु यह उसकी एक आंशिक व्याख्या है। कर्मग्रन्थ में कर्म की स्पष्ट परिभाषा इस प्रकार की गई है—"जीव (आत्मा) के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग आदि हेतुओं (कारणों) से जो किया जाता है, वही 'कर्म' कहलाता है।"[2] जैनदर्शन के अनुसार कर्म के अन्तर्गत कर्म के हेतु और तदनुरूप क्रिया, ये दोनों तत्त्व सन्निहित हैं।

कर्मशब्द समग्र कार्य-अर्थ में व्यापक

यदि व्यापक दृष्टि (निश्चय और व्यवहार उभय दृष्टि) से देखा जाए तो कर्म-शब्द समग्र कार्यों के अर्थ में घटित हो जाता है। फिर वह कार्य द्रव्यात्मक हो या भावात्मक, परिस्पन्दनरूप हो या परिणमनरूप, क्रियारूप हो या पर्यायरूप। क्योंकि 'कार्य' उसे ही कहा जाता है—जो किसी एक समयविशेष मे प्रारम्भ होकर किसी दूसरे समयविशेष मे समाप्त हो जाए। इस दृष्टि से 'कर्म' या 'कार्य' नित्य न होकर उत्पन्न-ध्वंसी होते हैं। यही 'पर्याय' का लक्षण है।[3]

कर्मशब्द में क्रिया से लेकर फल तक के सारे अर्थ समाविष्ट

अतः जैनदर्शन के अनुसार कर्मशब्द केवल क्रिया, कार्य या संस्कार के अर्थ में ही परिसीमित नहीं है, अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आत्मा से सम्बद्ध ऐसा अर्थ लिया गया है, जिसमे जीव के द्वारा होने वाली प्रत्येक क्रिया से लेकर फल तक के सारे अर्थ समाविष्ट हो जाते हैं।

कर्म : स्पन्दनक्रियारूप त्रिविध योग

यह तो प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है कि जीव का स्पन्दन तीन प्रकार का होता है—कायिक, वाचिक और मानसिक। प्रत्येक जीव शरीर से कुछ न कुछ क्रिया करता है। जिन (द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के) प्राणियों के रसनेन्द्रिय (जिह्वा) है, वे वचन से कुछ न कुछ बोलते हैं तथा जिन असज्ञी जीवो के द्रव्यमन नहीं है, उनके सिवाय शेष समस्त संज्ञी (समनस्क) जीव मन से कुछ न कुछ सोचते-विचारते हैं। ये तीन क्रियाएँ हैं, जो प्रत्येक के अनुभवगोचर होती हैं। ये क्रियाएँ तो बाह्य हैं। इनके सिवाय तीन

---

१. बौद्ध धर्म दर्शन पृ. २५५ (आचार्य नरेन्द्रदेव)

२. "कीरइ जिएण हेउहिं जेण तो भण्णए कम्मं।" —कर्मग्रन्थ प्रथम, गा. १

३. कर्म सिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. ४२

आभ्यन्तर क्रियाएँ भी हैं, जो विशेष स्पन्दन रूप होती हैं। इन्हें योग कहते हैं। जैसे कि तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है—"काय, वचन और मन का व्यापार, योग है।"[1]

योग एक विशिष्ट प्रकार की स्पन्दन क्रिया है, जो काय, वचन और मन के निमित्त से होती है। इसी को षट्खण्डागम में त्रिविध 'प्रयोग कर्म' कहा गया है। यथा—"वह तीन प्रकार का है—मनःप्रयोग-कर्म, वचन-प्रयोगकर्म और काय-प्रयोगकर्म। वह संसार—अवस्था में स्थित जीवों के और सयोगिकेवलियों के होता है।"[2]

इन तीनो योगो या प्रयोगो मे काय, वचन और मन आलम्बन है और जीव की स्पन्दनक्रिया कर्म है। अतः काय के निमित्त से जीव की स्पन्दन-क्रिया को काययोग, वचन के निमित्त से उसकी स्पन्दनक्रिया को वचनयोग और मन के निमित्त से होने वाली उसकी स्पन्दनक्रिया को मनोयोग कहते हैं।

स्पन्दनक्रियाजन्य संस्कार भी कर्मशब्द के अर्थ में सन्निहित

जीव की कर्मरूपी यह स्पन्दनक्रिया यही समाप्त नही हो जाती, अपितु जिन-जिन भावों से यह स्पन्दनक्रिया होती है, उसके संस्कार अपने पीछे छोड़ जाती है। इसी तथ्य को 'कर्मवाद और जन्मान्तर' मे व्यक्त किया गया है—"ये (कर्मजन्य) सस्कार चिरकाल तक स्थायी रहते हैं। इसका दृष्टान्त हमारे लिये अपरिचित नहीं है। हम जिसे स्मृति कहते हैं, जिसके फलस्वरूप पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण होता है, वह सस्कार के सिवा और है ही क्या? स्मृति की यह करामात हम प्रतिदिन देखते हैं। प्राकृतिक जगत् में भी संस्कार के कुछ कम दृष्टान्त नही हैं। फोनोग्राफ (या टेपरिकार्डर) यंत्र के समीप कोई गीत गाया जाए तो वह गीत संस्कार के रूप में उस यंत्र मे सुरक्षित रहता है। पीछे युक्ति से उसका उद्बोधन करने पर वही गीत पुनः श्रुतिगोचर होने लगता है।" (टेलिविजन, वीडियो कैसेट आदि यंत्रों में शब्दों के अतिरिक्त वह दृश्य भी अकित होकर सस्काररूप में सुरक्षित हो जाता है, जिसे पुनः-पुनः देखा-सुना जा सकता है।)

"किन्तु इन (प्रकृतिजन्य) संस्कारों का आधार जीव को नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीव का संस्कार पुद्गल के आलम्बन से होता है। अतः

१. "काय-वाङ्-मनःकर्म योगः।" —तत्त्वार्थसूत्र अ. ६, सू. १

२. ते तिविहं — मणप्पओअकम्मं वचिपओअकम्मं कायपओअकम्मं ॥१६॥
त ससारावत्थाणं वा जीवाण सजोगि-केवलीण वा॥१७॥
—षट्खण्डागम १३/५, ४ सू. १६-१७

जिन भावों से स्पन्दनक्रिया होती है, उनके संस्कार क्षण-क्षण में जीव द्वारा गृहीत पुद्गलों में ही संचित होते रहते हैं।"[1]

पुद्गलों का योग और कषाय के कारण कर्मरूप में परिणमन

इसी तथ्य का समर्थन तत्त्वार्थ राजवार्तिक में किया गया है—जिस प्रकार पात्र-विशेष में डाले गये अनेक रस वाले बीज, पुष्प और फलों का मद्यरूप मे परिणमन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा में स्थित पुद्गलों का भी योग और कषाय के कारण कर्मरूप से परिणमन हो जाता है।[2]

कार्मणपुद्गलों का ही कर्मरूप से परिणमन

यद्यपि पुद्गलों की मुख्य जातियाँ अनेक (तेईस) हैं,[3] परन्तु वे सब पुद्गल इस काम नहीं आते। मात्र कार्मणवर्गणा नामक पुद्गल ही इस काम में आते हैं। ये अतिसूक्ष्म और समस्त लोक में व्याप्त हैं। जीव (मन-वचन-काय की) स्पन्दन-क्रिया द्वारा इन्हें प्रतिसमय ग्रहण करता है और अपने भावों के अनुसार इन्हें संस्काररूप में संचित करके कर्मरूप से परिणत कर लेता है।

इस प्रकार कर्मशब्द जैनदर्शन के अनुसार तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है—

(१) जीव की स्पन्दन-क्रिया, (२) जिन भावों से स्पन्दन-क्रिया होती

---

१. (क) महाबन्धो पुस्तक २ मे कर्ममीमासा (प. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. १६-१७

(ख) 'कर्मवाद और जन्मान्तर' से

२. यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्ताना विविध रस-बीज-पुष्प-फलाना मदिराभावेन परिणामः, तथा पुद्गलानामपि आत्मनि स्थितानां योग-कषायवशात् कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः। —तत्त्वार्थ राजवार्तिक (अकलकदेव) पृ. २९४

३. (क) पुद्गलों की मुख्य २३ जातियाँ (वर्गणाएँ) हैं—(१) अणुवर्गणा, (२) संख्याताणुवर्गणा, (३) असंख्याताणुवर्गणा, (४) अनन्ताणुवर्गणा, (५) आहारवर्गणा, (६) अग्राह्यवर्गणा, (७) तैजसवर्गणा, (८) अग्राह्यवर्गणा, (९) भाषावर्गणा, (१०) अग्राह्यवर्गणा, (११) मनोवर्गणा, (१२) अग्राह्यवर्गणा, (१३) कार्मणवर्गणा, (१४) ध्रुववर्गणा, (१५) सान्तर-निरन्तरवर्गणा, (१६) शून्यवर्गणा, (१७) प्रत्येकशरीरवर्गणा, (१८) ध्रुवशून्यवर्गणा, (१९) बादर-निगोदवर्गणा, (२०) शून्यवर्गणा, (२१) सूक्ष्म-निगोदवर्गणा, (२२) शून्यवर्गणा और (२३) महास्कन्धवर्गणा। —गोम्मटसार (जीवकाण्ड), षट्खण्डागम पु. १४ ख. ५ आ. ६

(ख) 'परमाणूहिं अणन्ताहिं वग्गण-सण्णा दु होदि एक्का हु।'

—गोम्मटसार जीवकाण्ड गा. २४४

(एक वर्गणा अनन्तानन्त परमाणुओं के प्रचयरूप होती है।)

है, उनके संस्कार से युक्त कार्मण-पुद्‌गल और (३) वे भाव (रागद्वेषादि), जो कार्मण पुद्‌गलों मे संस्कार के कारण होते हैं।[१]

संस्कारयुक्त कार्मणपुद्‌गल : चिरकाल तक जीव से सम्बद्ध

जीव की स्पन्दनक्रिया और भाव उसी समय निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु संस्कारयुक्त कार्मण-पुद्‌गल जीव के साथ चिरकाल तक सम्बद्ध रहते हैं। ये यथासमय यथायोग्यरूप से अपना काम करके ही निवृत्त होते हैं। ये कालान्तर मे फल देने में सहायता करते हैं, इसलिए इनकी **'द्रव्यकर्म'** में परिगणना की जाती है।[२]

त्रिविध द्रव्यकर्म : विभिन्न अपेक्षाओं से

आशय यह है कि संसारी जीव के रागादि परिणाम और स्पन्दनक्रिया होती है, इसलिये ये दोनों तो उसके कर्म हैं ही, किन्तु इनके निमित्त से कार्मण नामक पुद्‌गल कर्मभाव (जीव की आगामीपर्याय के निमित्त भाव) को प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से इन्हें भी कर्म कहते है। ये त्रिविध **द्रव्यकर्म** हैं।

कार्मण पुद्‌गल 'कर्म' क्यों और कैसे कहे जाते हैं ?

पंचाध्यायी में बताया गया है कि "जीव तथा पुद्‌गल मे भाववती तथा क्रियावती शक्ति पाई जाती है। शेष चार द्रव्यो (धर्म, अधर्म, आकाश और काल) में तथा पूर्वोक्त दो सहित छहों द्रव्यो मे भाववती शक्ति उपलब्ध होती है। प्रदेशो के सचलनरूप परिस्पन्दन को क्रिया कहते है और एक वस्तु मे ही जो धारावाही परिणमन होता है, वह भाव है।" इससे स्पष्ट है कि जीव और पुद्‌गल मे हलन-चलन पाये जाने से जीव और पुद्‌गलविशेष का बन्ध होता है, क्योकि जीव मे वैभाविक शक्ति का सद्‌भाव है। इसलिए रागादि भावो के कारण वैभाविकशक्तिविशिष्ट जीव कार्मणवर्गणा को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस कारण जीव का कर्मों के साथ सम्बन्ध (सश्लेष) होता है। इससे कार्मण पुद्‌गल भी कर्मभाव को प्राप्त होने से वे भी कर्म कहलाते हैं।[३]

---

१. महाबन्धो पु. २ की 'कर्ममीमासा प्रस्तावना' से पृ. १७

२. (क) वही, पृ. १७

(ख) तद्‌व्यतिरिक्त द्रव्यकर्म-निक्षेप

३. (क) भाववन्तौ क्रियावन्तौ द्वावेतौ जीव-पुद्‌गलौ।
तौ च शेष-चतुष्क च षडेते भाव-संस्कृताः॥
तत्र क्रिया-प्रदेशानां परिस्पन्द-संचलनात्मकः।
भावस्तत्परिणामोऽस्ति धारावाह्येकवस्तुनि॥ —पचाध्यायी अ. २/२५-२६

(ख) अयस्कान्तोपलाकृष्ट-सूचीवत् तद-द्वयोः पृथक्।
अस्ति शक्तिः विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी॥ —पंचाध्यायी अ. २/४२

द्रव्यकर्म की व्याख्या

डॉ. सागरमल जैन के अनुसार "कर्म-पुद्गल से तात्पर्य उन जड़-परमाणुओं (शरीर-रासायनिक तत्त्वों) से है, जो प्राणी की किसी क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करके कर्म-शरीर की रचना करते हैं और समय-विशेष के पकने पर अपने फल (विपाक) के रूप में विशेष प्रकार की अनुभूतियाँ उत्पन्न कर अलग हो जाते हैं। इन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं।"[१]

कर्मशब्द का अभिधेयार्थ और व्यञ्जनार्थ

अभिप्राय यह है कि 'कर्म' शब्द का सामान्य अभिधेयार्थ क्रिया है, किन्तु जब उसके व्यंजनार्थ को ग्रहण किया जाता है, तब जीव के द्वारा होने वाली क्रिया से आत्मशक्तियों को आवृत करने वाले कार्मण वर्गणा के तथा अन्य पौद्गलिक परमाणुओं के संयोग को, तथा उस संयोग के कारण आत्मा मे समुत्पन्न विषय-कषायो के संस्कारो के कर्मरूप से परिणमन को भी कर्म कहा जाता है।

कर्म के समानार्थक शब्द : विभिन्न परम्पराओं में

इन्ही सस्कारो को लेकर परलोकवादी जितने भी दर्शन हैं, उनका मन्तव्य है कि प्रत्येक शुभ या अशुभ कार्य अपने पीछे सस्कार छोड़ जाते हैं। इन्ही सस्कारो का 'कर्म' के समानार्थक शब्द के रूप मे उन्होंने प्रयोग किया है।

जैन दार्शनिको ने जिसे 'कर्म' कहा है, उसके भी पर्यायवाची विभिन्न शब्दो का प्रयोग आगमो और ग्रन्थो में यत्र-तत्र मिलते हैं। जैन आदि पुराण मे 'कर्म' शब्द केवल क्रियारूप मे ही परिलक्षित नहीं होता, अपितु कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्दो के रूप में विभिन्न अर्थों को अभिव्यक्त किया गया है—"विधि (कानून या प्रकृति के अटल नियम), स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत और ईश्वर, ये कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची शब्द हैं।"[२] अन्य दर्शनों ने भी कर्मशब्द के समानार्थक माया, अविद्या, अपूर्व, वासना, अविज्ञप्ति, आशय, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, दैव, धर्माधर्म आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं।

आशय यह है कि सभी आस्तिक धर्मों और दर्शनों ने एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है, जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों को, तथा आत्मा की

---

१. जैनकर्म-सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. १२

२. विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः॥ —आदिपुराण (महापुराण) ४/३७

शुद्धता को प्रभावित, आवृत एवं कुण्ठित कर देती है। उसके नाम, कर्म के बदले, उन-उन दर्शनों और धर्मों ने भले ही भिन्न-भिन्न दिये हों। जैसे कि— बौद्ध दर्शन मे उसे वासना और अविज्ञप्ति कहा गया है।[१] वेदान्तदर्शन में उसी को माया और अविद्या कहा है।[२] सांख्य-दर्शन में उसको प्रकृति या संस्कार कहा गया है।[३] योगदर्शन में उसके लिए क्लेश, कर्म, आशय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[४] न्यायदर्शन में प्रयुक्त अदृष्ट और संस्कार शब्द भी इसी अर्थ के द्योतक हैं।[५] वैशेषिक दर्शन में 'धर्माधर्म' शब्द भी जैनदर्शन प्रयुक्त कर्म शब्द का समानार्थक है।[६] शैवदर्शन का 'पाश' शब्द भी जैनदर्शन में प्रयुक्त कर्म शब्द का पर्यायवाचक है। मीमांसा दर्शन मे अपूर्व शब्द भी कर्म के अर्थ में प्रयुक्त है।[७] दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक शब्द ऐसे हैं, जिनका प्रयोग सामान्यता सभी दर्शनो में हुआ है। जैनागमों मे 'कर्म' के बदले कहीं कर्मरज, कर्ममल आदि शब्द भी मिलते हैं।[८]

भारतीय दर्शनो में चार्वाकदर्शन (लोकायतिक) ही ऐसा दर्शन है, जिसका कर्मवाद में विश्वास नही है; क्योंकि वह आत्मा की स्वतत्र सत्ता ही नहीं मानता। इसलिए वह कर्म और उसके द्वारा होने वाले स्वर्ग-नरक, तिर्यञ्चलोक एव मनुष्यलोक आदि परलोक और पुनर्जन्म को नहीं मानता।

---

१. अभिधर्म कोष, परिच्छेद ४

२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २/१/१४

३. (क) साख्यकारिका
   (ख) साख्य तत्त्व-कौमुदी

४. (क) योगदर्शन (व्यासभाष्य) १-५; २-३; २-१२; २-१३
   (ख) योगदर्शन भास्वती तथा तत्त्ववैशारदी

५. (क) न्यायभाष्य १/१/२
   (ख) न्यायसूत्र १/१/१७, ४/१/३-९
   (ग) न्यायमजरी पृ. ४७१

६. एव च क्षणभगित्वात्, सस्कारद्वारिकः स्थितः।
   स कर्मजन्य-सस्कारो, धर्माधर्मगिरोच्यते॥ —न्यायमजरी पृ. ४७२

७. (क) मीमासा सूत्र, शाबरभाष्य २/१/५
   (ख) तन्त्रवार्तिक २/१/५
   (ग) शास्त्रदीपिका २/१/५ पृ. ८०

८. (क) अदृष्टं कर्म-सस्काराः पुण्यापुण्ये शुभाशुभौ।
   धर्माधमौ तथा पाशः पर्यायास्तस्य कीर्तिताः॥ —शास्त्रवार्ता-समुच्चय १०७
   (ख) उम्मुं च पास इह मच्चिएहिं —आचारांग १/३/२
   (ग) तया धुणइ कम्मरय। —दशवै. ४/२०
   (घ) स निद्धुणे धुत्तमल पुरे कडं। —दशवै. अ. ७ गा. ५७

ईसा, मोहम्मद और मूसा ने 'कर्म' शब्द के अर्थ के द्योतक 'शैतान' शब्द का प्रयोग किया है।[१]

कर्मशब्द के ही ये पर्यायवाची शब्द हैं, जिन्हें विभिन्न दर्शनों और धर्मपरम्पराओं ने अपने-अपने ग्रन्थों में अंकित किया है।

छह द्रव्यों में कथंचित् द्रव्यकर्मत्व

क्रिया शब्द कर्म का पर्यायवाचक है। इस अपेक्षा से 'धवला' में कहा गया है—"धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय ये छहों द्रव्य स्वभाव से परिणमनशील हैं। अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप उनमें प्रति समय परिणमन क्रिया होती रहती है। इसी कारण छहों द्रव्यों का 'द्रव्यकर्म' से भी ग्रहण किया गया है। वहाँ कहा गया है—"जो द्रव्य सद्भावक्रियानिष्पन्न हैं, वे सब द्रव्यकर्म हैं। जीव द्रव्य का ज्ञान-दर्शनादिरूप से होने वाला परिणाम उसकी सद्भाव-क्रिया है। पुद्गल द्रव्य का वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शविशेषरूप से होने वाला परिणाम उसकी सद्भाव क्रिया है। इसी प्रकार धर्म-अधर्म द्रव्य का जीव एव पुद्गलो को गति-स्थिति मे हेतुरूप होना, तथा काल और आकाश द्रव्य का सभी द्रव्यो के परिणमन एव अवगाह मे निमित्त रूप होने वाला परिणमन उन-उन द्रव्यो की सद्भावक्रिया है। इत्यादि क्रियाओ द्वारा वे द्रव्य सद्भाव से ही निष्पन्न हैं, इसलिए सब द्रव्यकर्म हैं।[२] द्रव्यकर्म होने से ये कर्म भावकर्मता की कोटि मे तब तक नहीं आते, जब तक वे जीव के रागद्वेषादि परिणामो से आकृष्ट होकर सम्बद्ध न हो जाएँ। वास्तव मे वही क्रियाएँ बन्धककर्मरूप होती हैं, जो आत्मा के द्वारा प्राप्त हों, यानी जो रागद्वेषयुक्त चेतनकृत हो। फिर जीव के कषायादियुक्त परिणाम (भावकर्म) के निमित्त से परिणमन को प्राप्त हुआ पुद्गल भी कर्म (द्रव्यकर्म=बधकारक कर्म) कहलाते हैं।

जैनदृष्टि से कर्म सामान्य का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

कर्म शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य और भाव-वाच्य, तीनो प्रकार के विग्रहो (व्युत्पत्तियों) से निष्पन्न होता है। राजवार्तिक

---

१. (क) बाइबिल

(ख) कुरानशरीफ

२. "जीवदव्वस्स णाणदसणेहिं परिणामो सब्भाव-किरिया, पोग्गलदव्वस्स वण्ण-गंध-रस-फास-विसेसेहिं परिणामो सब्भाव-किरिया।......

एवमादीहि किरिया हि जाणि (दव्वाणि सब्भाव किरिया) णिप्फणाणि सहावदो चेव दव्वाणि, तं सव्वं दव्वकम्मं णाम॥"

—धवला खण्ड १३/५, ४ सूत्र १४/४३/७

में बताया गया है कि कर्मशब्द कर्ता, कर्म और भाव तीनों साधनों में विवक्षानुसार (कर्मास्रव के प्रकरण मे) परिगृहीत है। आशय यह है कि कारणभूत परिणामों की प्रशंसा की विवक्षा में कर्तृधर्म का आरोप करने पर वही परिणाम स्वयं द्रव्य-भावरूप कुशल-अकुशल कर्मों को करता है, अतः वही कर्म है। आत्मा की प्रधानता मे वही कर्ता होता है, और परिणाम होता है—करण। तब यह व्युत्पत्ति (विग्रह) होती है—'जिनके द्वारा किये जाएँ, वह कर्म है।' साध्य-साधन-भाव की विवक्षा न होने पर स्वरूप मात्र का कथन करने से कृति (क्रिया) को भी कर्म कहते हैं। इसी तरह अन्य कारको की भी उपपत्ति की जा सकती है।

जैनदर्शन की दृष्टि से कर्मसामान्य के ये व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी हो सकते हैं।[१]

---

१. "कर्मशब्दस्य कर्त्रादिषु साधनेषु सभवत्सु इच्छातो विशेषोऽध्यवसेयः।..... करणप्रशसाविवक्षाया कर्तृधर्माध्यारोपे सति यः परिणामः कुशलमकुशल वा द्रव्यभावरूप करोतीति कर्म। आत्मनः प्राधान्यविवक्षायां कर्तृत्वे सति परिणामस्य करणत्वोपपत्तेः, बहुलापेक्षया क्रियतेऽनेन कर्मेत्यपि भवति। साध्य-साधन-भावानभिधित्साया स्वरूपावस्थित-तत्त्वकथनात् कृतिः कर्मेत्यपि भवति। एवं शेषकारकोपपत्तिश्च योज्या।"

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/१/७/५०४/२६

२

कर्म के दो रूप : भावकर्म और द्रव्यकर्म

कर्म का द्रव्यात्मक एवं भावात्मक रूप

जैनदर्शनसम्मत कर्म के स्वरूप को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए कर्म के भावात्मक और द्रव्यात्मक दोनो पक्षो पर विचार करना आवश्यक है। आत्मा के मानसिक विचार और उन विचारो (मनोभावो) के प्रेरक या निमित्त; ये दोनों ही तत्त्व 'कर्म' मे ताने-बाने की तरह मिले हुए हैं। कर्मविज्ञान की समुचित व्याख्या के लिए कर्म के आकार (Form) और उसकी विषयवस्तु (Matter) दोनो पर ध्यान देना आवश्यक है। आत्मा के मनोभाव उसके आकार हैं, और जड़-कर्म-परमाणु उसकी विषयवस्तु है।[१]

'गोम्मटसार' में कर्म के इन चेतन और अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए कहा गया है—कर्मसामान्य भावरूप कर्मत्व की दृष्टि से एक ही प्रकार का है, किन्तु वही कर्म द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। ज्ञानावरणीयादि पुद्गलद्रव्य का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति, अथवा उस पिण्ड में फल देने की शक्ति भावकर्म है।[२]

कर्म का निर्माण : जड़ और चेतन दोनों के मिश्रण से

परन्तु जैनदर्शनसम्मत कर्म-विज्ञान का अध्ययन-मनन करते समय इस तथ्य को अवश्य याद रखना चाहिए कि कर्म का निर्माण जड़ और चेतन दोनों के सम्मिश्रण से ही होता है। जड़ और चेतन दोनों के सम्मिश्रण हुए बिना कर्म की रचना हो नही सकती। द्रव्यकर्म हो या भावकर्म, दोनो मे जड़ और चेतन दोनों प्रकार के तत्त्व मिले रहते हैं। यद्यपि द्रव्यकर्म मे पुद्गल की मुख्यता और आत्मिक तत्त्व की गौणता होती है, जबकि भावकर्म में

१. देखें—जैन कर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. १३

२. (क) "पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ति भावकम्मं तु।"

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड ६ (आचार्य नेमिचन्द्र)

(ख) कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु। —वही, (कर्मकाण्ड) ६/६

आत्मिक तत्त्व की मुख्यता और पौद्गलिक तत्त्व की गौणता होती है। यद्यपि भावकर्म और द्रव्यकर्म में आत्मा और पुद्गल की प्रधानता-अप्रधानता होते हुए भी दोनों में एक-दूसरे का सद्भाव्-असद्भाव नहीं होता।[१] आशय यह है कि आत्मा, आत्मा रहती है और पुद्गल, पुद्गल। समयसार (तात्पर्य वृत्ति) मे कहा गया है कि सुनार आदि शिल्पी आभूषण आदि के निर्माण का कार्य करता है, किन्तु वह आभूषण-स्वरूप नही होता। उसी प्रकार जीव (द्रव्य-भाव) कर्म (बन्ध) करता हुआ भी कर्मस्वरूप नहीं होता।

इसी कारण भावकर्म को दो प्रकार का कहा गया है—जीवगत और पुद्गलगत। क्रोधादिभाव की व्यक्तिरूप भावकर्म जीवगत है और पुद्गल-पिण्ड की शक्ति पुद्गलद्रव्यगत भावकर्म है। जैसे—मीठे-खट्टे द्रव्य को खाते समय मीठे-खट्टे स्वाद की व्यक्ति का विकल्प पैदा होता है, वह जीवगत भाव है, तथा उस व्यक्ति के कारणभूत मीठे-खट्टे द्रव्य की जो शक्ति है, वह पुद्गलद्रव्यगत भाव है।[२]

कर्मबद्ध संसारी जीव में ही जड़-चेतन-मिश्रण से कर्मद्वय रूप

यदि भावकर्म को आत्मा का शुद्ध परिणाम (वृत्ति) और द्रव्यकर्म को पुद्गल-परमाणुओं का शुद्धपिण्ड माना जाएगा तो फिर शुद्ध आत्मा और कर्म में तथा कर्म और पुद्गल मे कोई अन्तर ही नही रह जाएगा। तात्पर्य यह है कि व्यवहारनय से कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सम्बन्ध ससारी (कर्म-सम्बद्ध) आत्मा से है, मुक्त आत्मा से नही। मुक्त आत्मा तो कर्मों से सर्वथा रहित शुद्ध-बुद्ध-मुक्त विशुद्ध-चैतन्यरूप ही होता है। ससारी आत्मा कर्मों से बद्ध होता है। उसमे जड और चैतन्य का मिश्रण होता है। बद्ध आत्मा की कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के कारण जो पुद्गल-परमाणु आकृष्ट होकर परस्पर मिल जाते हैं, नीर-क्षीरवत् या अग्नि से तप्तलोहगोलकवत् एकमेक-से हो जाते है, वे कर्म कहलाते हैं। इस तरह कर्म मे जड़ और चेतन का मिश्रण गौण-मुख्यरूप से रहने के कारण कर्म के मुख्यतः दो रूप बतलाए हैं।[३]

१. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषाक मे उपा. देवेन्द्रमुनि) के लेख से पृ. २६

२. (क) जह सिप्पिओ उ कम्म कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ।
तह जीवो वि य कम्म कुव्वदि ण तम्मओ होदि॥ —समयसार गा. ३४९

(ख) समयसार तात्पर्यवृत्ति गा. १९०-१९२ : भावकर्म द्विविध भवति—जीवगत पुद्गलकर्म-गत च। तथाहि—भावक्रोधादि-व्यक्तिरूप जीवभावगतं भण्यते। पुद्गलपिण्ड-शक्तिरूप पुद्गलद्रव्यगत।

३. उपाचार्य देवेन्द्र मुनि : कर्मवाद:एक विश्लेषणात्मक अध्ययन पृ. २६ (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषाक)

कर्म के दो रूप : अजीवकर्म और जीवकर्म

इसी तथ्य का विश्लेषण करते हुए 'समयसार' में कहा गया है—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव है, वह तो पुद्गल कर्म है और जो मिथ्यात्व, अविरति और अज्ञान जीव (सम्बद्ध) है, वह उपयोग रूप रागद्वेषादिक जीव कर्म है।[१] इन्हीं दोनों को क्रमशः द्रव्यकर्म और भावकर्म कहते हैं। द्रव्यकर्म द्रव्यरूप और भावकर्म भावरूप होते हैं।

संसारी आत्मा और कर्म में अन्तर क्या ?

प्रश्न होता है—संसारी आत्मा भी जड़ और चेतन का मिश्रण है और कर्म में भी वही बात है, तब दोनों मे अन्तर क्या है ? इसका समाधान यह है कि संसारी आत्मा का चेतन अंश जीव कहलाता है, और जड़ अंश कर्म। किन्तु वे चेतन और जड़ अंश इस प्रकार के नही हैं जिनका संसार-अवस्था में अलग-अलग रूप से अनुभव किया जा सके। इनका पृथक्करण मुक्तावस्था में ही होता है। संसारी आत्मा सदैव कर्म से युक्त होती है। जब वह कर्म से मुक्त हो जाती है, तब संसारी आत्मा नहीं, मुक्तात्मा कहलाती है। कर्म जब आत्मा से पृथक् हो जाता है, तब वह कर्म नहीं, शुद्ध पुद्गल कहलाता है।[२]

द्रव्यकर्म और भावकर्म : दोनों आत्मा से सम्बद्ध

यही कारण है कि आत्मा से सम्बद्ध पुद्गल को द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से युक्त आत्मा की प्रवृत्ति को भावकर्म कहा जाता है। पं. सुखलालजी ने भी द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों को जीव से सम्बद्ध बताते हुए कहा है—भावकर्म आत्मा का वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादानरूप कर्त्ता जीव ही है और द्रव्यकर्म, जो कि कार्मणजाति के पुद्गलों का विकार है; उसका भी कर्त्ता निमित्तरूप से जीव ही है।[३]

'आप्तपरीक्षा' मे भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है—जीव के जो द्रव्यकर्म हैं, वे पौद्गलिक है और उनके अनेक भेद है तथा जो भावकर्म हैं, वे आत्मा के चैतन्य-परिणामात्मक हैं, क्योंकि वे आत्मा से कथंचित् अभिन्नरूप से स्व-वेद्य प्रतीत होते है और वे क्रोधादिकषाय रूप हैं।[४]

---

१. "पुग्गल कम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमजीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु॥" —समयसार गा. ८८

२. कर्मग्रन्थ प्रथम भाग प्रस्तावना (पं. सुखलालजी) पृ. २१

३. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित उपाचार्य देवेन्द्र मुनि के लेख) से, पृ. २६

४. "द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा॥"
भावकर्माणि चैतन्य-विवर्त्तात्मनि भान्ति नु।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिदभेदतः॥" —आप्तपरीक्षा श्लो. ११३, ११४

'तत्त्वार्थसार' में भी इसी लक्षण का समर्थन करते हुए कहा गया है—जीव के रागद्वेषादि विकार भावकर्म कहलाते हैं और रागद्वेषादि भावकर्मों के निमित्त से आत्मा के साथ बंधने वाले अचेतन (कार्मण) पुद्गल परमाणु द्रव्यकर्म कहलाते हैं।[१]

पं. ज्ञानमुनिजी के अनुसार—"जीव के मानस में जो विचारधारा चलती है, संकल्प-विकल्प होते हैं, क्रोधादि कषाय आदि मनोभाव उत्पन्न होते हैं; किसी को लाभ-हानि पहुँचाने का मानसिक आयोजन चलता है, फलाकांक्षा होती है, ये सब मानसिक विकार 'भावकर्म' में परिगणित होते हैं। उन मानसिक विकारो के आधार पर जीव के जो पार्श्ववर्ती परमाणु आत्मा के साथ जुड़ते हैं, आत्म-प्रदेशों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हें 'द्रव्यकर्म' के अन्तर्गत माना जाता है।[२]

जीवों के सुख-दुःखादि अनुभवों अथवा शुभाशुभ कर्म-संकल्पों के लिए कर्म-परमाणु भौतिक कारण हैं और उनके मनोभाव चैतसिक कारण हैं।[३] जैनकर्मविज्ञान के अनुसार कर्म-परमाणुओं की प्रकृति का निर्धारण मनोविकारों के आधार पर और मनोविकारों की प्रकृति का निर्धारण कर्म-परमाणुओं के आधार पर होता है।

जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में—"कर्म दो प्रकार का होता है—द्रव्यरूप और भावरूप। गमनागमन (सकोच-विकासादि) रूप क्रिया द्रव्यकर्म है और परिणमन रूप पर्याय भावकर्म है।........प्रयोजनवशात् पुद्गल को द्रव्यात्मक पदार्थ और जीव को भावात्मक पदार्थ माना गया है। इसलिए पुद्गल की पर्याय द्रव्यकर्म और जीव की पर्याय भावकर्म है। जैनशास्त्रों में बताया गया है—पुद्गल की पर्याय क्रियाप्रधान है और जीव की भावप्रधान।" दोनों क्रमशः योग और उपयोग से सम्बद्ध होने के कारण दोनों कर्मों का सम्बन्ध जीव के साथ है।[४]

कर्म और प्रवृत्ति में कार्य-कारण भाव को लेकर द्रव्य-भाव कर्म

अनादिकालीन कर्ममलो से युक्त सांसारिक जीव रागादि कषायों से संतप्त होकर अपने मन, वचन और काया की प्रवृत्तियों या क्रियाओ से कर्मवर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं को आकर्षित कर लेता है। मन, वचन, काया की प्रवृत्ति तभी होती है, जब जीव के साथ कर्म सम्बद्ध हो, इसी

१. तत्वार्थसार ५/२४/९
२. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी) से पृ. १०
३. जैन कर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से पृ. १३
४. कर्म-सिद्धान्त (जिनेन्द्रवर्णी) पृ. ४३

प्रकार जीव के साथ कर्म तभी सम्बद्ध होता है, जब मन-वचन-काया की क्रिया या प्रवृत्ति हो। इस तरह प्रवृत्ति से कर्म और कर्म से प्रवृत्ति की परम्परा अनादि काल से चल रही है। कर्म और प्रवृत्ति में कार्य-कारणभाव को लक्ष्य में रखते हुए कार्मणजाति के पुद्गल-परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म को द्रव्यकर्म और तज्जनित राग-द्वेषादि परिणामों से हुई प्रवृत्तियों को भावकर्म कहा गया है।[1]

द्रव्यकर्म और भावकर्म की उत्पत्ति की प्रक्रिया

आशय यह है कि यद्यपि कर्म शब्द का अर्थ क्रिया या प्रवृत्ति है, किन्तु जैनदर्शन केवल यही अर्थ स्वीकार नहीं करता। संसारी जीव की प्रत्येक मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति या क्रिया तो कर्म है ही, परन्तु वह बन्धकारक तभी बनता है जब जीव के परिणाम राग, द्वेष, मोह, कषाय आदि से युक्त हों। वही रागद्वेषात्मक परिणाम भावकर्म कहलाता है।[2]

जैनदर्शन का मन्तव्य है कि इस समग्र लोक में डिबिया में भरे हुए काजल की तरह सूक्ष्म और बादर कर्म-पुद्गल-परमाणु ठसाठस भरे हुए हैं। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कर्म-पुद्गल-परमाणु न हों। लेकिन ये समस्त कर्म-पुद्गल-परमाणु कर्म नहीं कहलाते। इनकी विशेषता यही है कि इनमें 'कर्म' बनने की योग्यता है। किन्तु पहले मानस में किसी भी तरह का कम्पन-स्पन्दन होता है, अर्थात्—मन में प्रशस्त, अप्रशस्त, पुण्यरूप, पापरूप संकल्प-विकल्प पैदा होता है। कर्मयोग्य पुद्गल सर्व लोकव्यापी होने से, जहाँ आत्मा है वहाँ पहले से विद्यमान रहते हैं। जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्मयोग्य पुद्गल कर्मयुक्त जीव के राग-द्वेषादिरूप परिणामों से आत्मप्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं। अर्थात्—पूर्वोक्त शुभाशुभ अध्यवसायों से बाहर के अनन्तानन्त कर्म-पुद्गल परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होकर आत्मा से चिपक (सम्बद्ध हो) जाते हैं। आत्मप्रदेशों से सम्बद्ध या संयुक्त ये कर्म-परमाणु ही जैनदृष्टि से द्रव्यकर्म कहलाते हैं।[3]

उपादान, निमित्त और नैमित्तिक कारण के सिद्धान्तानुसार द्रव्य-भावकर्म

यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि किसी भी कार्य के लिए निमित्त और

---

१. कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक) से पृ. २५

२. आत्ममीमांसा से (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. ९५

३. (क) पंचास्तिकाय गा. ६४ (आचार्य कुन्दकुन्द)

(ख) पंचास्तिकाय टीका (आचार्य अमृतचन्द्र) से

(ग) जैनदर्शन और आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. १८४

उपादान दोनों ही कारण अनिवार्य हैं। कार्य सदैव कारण-सापेक्ष होता है। उपादान और निमित्त दोनों ही प्रकार के कारण प्रत्येक कार्य में होते हैं।

विशिष्ट-संयोग को प्राप्त होने वाले दो या अनेक पदार्थों में से वह पदार्थ जिसमें कि कार्य प्रकट होता है, उपादान कहलाता है, जबकि शेष एक या अनेक पदार्थ, जिनकी सहायता की अपेक्षा के बिना वह कार्य होना असम्भव होता है, वह निमित्त है और वह कार्य उसका नैमित्तिक है। दूसरे शब्दों में निमित्त नाम 'कारण' का है और नैमित्तिक उस कार्य का है, जो किसी विवक्षित पदार्थ में उस निमित्त की सहायता से उत्पन्न हुआ है। 'उपादान' नाम उस विवक्षित पदार्थ का है, जो स्वयं उस कार्य या पर्याय के रूप में परिणत हुआ है। जैसे—घट की उत्पत्ति में कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारण हैं, घट नैमित्तिक है और मिट्टी उपादान है।[१] जैन कर्मविज्ञान के अनुसार आत्मा (जीव) के प्रत्येक कर्म-संकल्प के लिए उपादान रूप में भावकर्म (मनोविकार) और निमित्तरूप में 'द्रव्यकर्म' (कर्म-परमाणु) का होना अनिवार्य है। भावकर्म आत्मा के वैभाविक परिणाम (मिथ्यात्व-कषायादि रूप आत्मा के भाव) हैं इसलिए स्वय आत्मा ही उसका उपादान है, क्योंकि घट के आन्तरिक (उपादान) कारण मिट्टी की तरह भावकर्म का आन्तरिक (उपादान) कारण आत्मा है। द्रव्यकर्म सूक्ष्म कार्मण जाति के परमाणुओं का विकार है। जैसे कुम्भकार घड़े का निमित्त कारण है, वैसे ही आत्मा उसका निमित्त कारण है[२]।

भावकर्म और द्रव्यकर्म की परस्पर निमित्त नैमित्तिक श्रृंखला

जीव के योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति अर्थात्—प्रदेश परिस्पन्द) का निमित्त पाकर कर्मवर्गणाएँ उसके प्रति स्वतः आकर्षित हो जाती हैं और इधर-उधर से गतिमान होती हुई उस जीव के प्रदेशो मे प्रवेश करके द्रव्यकर्म के रूप मे परिणत हो जाती हैं। फिर जीव के उपयोग का अर्थात्—राग-द्वेष-मोहात्मक 'भावकर्म' का निमित्त पाकर के 'द्रव्यकर्म' अनुभाग तथा स्थिति (बन्ध) को धारण करके कुछ काल पर्यन्त उसी अव्यक्त अवस्था मे जीव के साथ बँधे रहते हैं। यह स्थिति पूर्ण होने पर द्रव्यकर्म परिपाकदशा को प्राप्त होकर उदय मे आता है, यानी फलोन्मुख होता है। जिसका निमित्त पाकर जीव मे योग और उपयोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की यह अटूट निमित्त-नैमित्तिक श्रृखला प्रवाहरूप से अनादिकाल से चली आ रही है।[३]

१. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. ४८-४९
२. (क) वही, पृ. ४९
   (ख) जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. १३
३. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. १५९

दोनों कारणों का स्वरूप और परस्पर एक दूसरे के निमित्त

इससे स्पष्ट है कि जीव की शुभाशुभ प्रवृत्ति का मूल कारण भावकर्म (मानसिक) है, लेकिन उस मानसिक वृत्तियों के लिए जिस बाह्य कारण की अपेक्षा है, वही द्रव्यकर्म है। आशय यह है कि मनोविकारों, कषायों या वैभाविक भावों की उत्पत्ति स्वतः नहीं हो सकती, उसके लिए भी कारण अपेक्षित है। सभी भाव जिस निमित्त की अपेक्षा रखते हैं, वही 'द्रव्यकर्म' है। इसी प्रकार जब तक आत्मा मे राग-द्वेष-कषायात्मक भावकर्म की उपस्थिति न हो, तब तक कर्म-पुद्गल-परमाणु जीव के लिए कर्म (कर्मबन्धन) के रूप में परिणत नहीं हो सकते। अतः श्री अमरमुनि जी के अनुसार भावकर्म के होने मे पूर्वबद्ध द्रव्यकर्म निमित्त है और वर्तमान में बध्यमान द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है।[1]

भावकर्म द्वारा द्रव्यकर्म की उत्पत्ति

तात्पर्य यह है कि भावकर्म द्वारा यानी जीव की उक्त क्रिया द्वारा कार्मणजाति के अजीव-कर्म-पुद्गल आत्मा के ससर्ग मे आकर उससे चिपक जाते हैं। आत्मा को वे बन्धन में डाल देते हैं, आत्मा की स्वाभाविक शक्तियों को कुण्ठित कर देते हैं, इस कारण वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं।

भावकर्म क्रिया है, द्रव्यकर्म है-फल

यद्यपि द्रव्यकर्म पुद्गल हैं, किन्तु वे जीव के द्वारा कषायादिवश आकृष्ट किये जाते हैं, इसलिए उन्हें औपचारिक रूप से कर्म कहा गया है। वस्तुतः आत्मा की क्रिया या उसके कर्म से उत्पन्न होने के कारण यहाँ कारण मे कार्य का उपचार किया गया है। भावकर्म कारण है, और द्रव्यकर्म कार्य। जीव की प्रवृत्ति या क्रिया भावकर्म है, और उसका फल है—द्रव्यकर्म। इन दोनों में कार्य-कारण भाव है।[2]

द्रव्य-भावकर्मों में द्विमुखी कार्यकारणभाव

अर्थात्—राग-द्वेषादिमय वैभाविक परिणाम भावकर्म हैं और उस वैभाविक परिणामों से आत्मा में जो कार्मण वर्गणा के पुद्गल सर्वात्मना चिपकते हैं, वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। इस अपेक्षा से द्रव्यकर्म और भावकर्म मे निमित्त-नैमित्तिक रूप द्विमुख कार्य-कारणभाव सम्बन्ध है। अर्थात्—भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त।[3]

---

१. (क) जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से पृ. १४
(ख) श्री अमरभारती नव. १९६५ पृ. ९

२. आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) से पृ. ९६

३. धर्म और दर्शन (उपा. देवेन्द्रमुनि) से पृ. ४५

यह कार्य-कारणभाव मुर्गी और अण्डे के परस्पर कार्यकारणभाव के समान है। मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होता है, इसलिए मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य; किन्तु यह भी तथ्य है कि जिस प्रकार अण्डा मुर्गी से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मुर्गी भी तो अण्डे से ही उत्पन्न हुई है। अतः दोनों में कार्य-कारणभाव तो है, किन्तु दोनों में पहले कौन, पीछे कौन? यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्यकारण भाव अनादि है।[1]

इसी प्रकार भावकर्म से द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है, इस नाते भावकर्म को कारण और द्रव्यकर्म को कार्य माना जाता है, किन्तु भावकर्म की उत्पत्ति भी द्रव्यकर्म के अभाव में नहीं हो सकती। इस कारण द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण और भावकर्म उसका कार्य होता है। इस प्रकार मुर्गी और अण्डे के समान भावकर्म और द्रव्यकर्म में भी संतति की अपेक्षा पारस्परिक अनादि कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है।[2]

दोनों में बीजांकुरवत् कार्य-कारणभाव

कतिपय कर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों के इन दोनों का बीजांकुर की तरह परस्पर कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध माना है। अर्थात्—जैनदर्शन-सम्मत द्रव्यकर्म (अचेतनप्रधान) और भावकर्म (चेतन-प्रधान) दोनों में बीजांकुरवत् कार्य-कारणभाव है। जैसे—बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है, उसमें किसी को भी पहले या पीछे नहीं कहा जा सकता, वैसे ही द्रव्यकर्म और भावकर्म में भी किसी के पहले या पीछे होने का निर्णय नहीं किया जा सकता। इनमें संतति की अपेक्षा से पारस्परिक अनादि कार्यकारण भाव है।[3]

संतति की अपेक्षा से द्रव्य-भावकर्म का परस्पर अनादि कार्यकारणभाव

यद्यपि संतति की अपेक्षा से भावकर्म और द्रव्यकर्म का पारस्परिक कार्य-कारणभाव अनादि है, तथापि व्यक्तिशः विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रत्येक भावकर्म के लिए उसका द्रव्यकर्म पूर्व होगा और प्रत्येक द्रव्यकर्म के लिए उसका भावकर्म भी पूर्व होगा। अर्थात्—किसी एक द्रव्यकर्म का कारण कोई एक भावकर्म ही होता होगा, और किसी एक भावकर्म का भी कारण कोई एक द्रव्यकर्म होता होगा। अतः इनमें पूर्वापरता का निश्चय किया जा सकता है। कारण यह है कि किसी एक

१. आत्म-मीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) से पृ. ९६
२. आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) से पृ. ९६
३. जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से पृ. १३

भावकर्म से कोई विशिष्ट द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है, तब वह (भावकर्म) उस द्रव्यकर्म का कारण है, और द्रव्यकर्म उसका कार्य है। इस प्रकार व्यक्तिशः पूर्वापरभाव का निश्चय संभव होने पर भी समस्त संसारी जीवजाति की अपेक्षा से दोनों में पूर्वापरभाव का निश्चय असम्भव होने के कारण द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनों का पारस्परिक कार्यकारणभाव अनादि है, इनमें पूर्वापरता नहीं होती।[1]

भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कारण क्यों मानें ?

यदि यह शंका की जाए कि भावकर्म से द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है, यह तो ठीक है; क्योंकि जीव अपने राग-द्वेष-मोहात्मक परिणामों के कारण ही द्रव्यकर्म के बन्धन में बद्ध होता है, और जन्म-मरणादिरूप संसार में परिभ्रमण करता है; किन्तु भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म को कारण मानना कहाँ तक ठीक है ?

इसका समाधान यह है कि यदि द्रव्यकर्म के अभाव में भी भावकर्म की उत्पत्ति संभव मानी जाएगी तो मुक्तजीवों में भी भावकर्म प्रादुर्भूत होने लगेगा, और उन्हें भी भावकर्मवश संसार में पुनः जन्म-मरणादि के चक्र में पड़ना पड़ेगा। फिर तो संसार और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं रहेगा। संसारी जीवों की तरह मुक्त जीवों में भी कर्म-बन्धन-योग्यता माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में कोई भी व्यक्ति कर्म-मुक्त होने की साधना में पुरुषार्थ क्यों करेगा ? फिर तो कोई भी व्यक्ति अपने पूर्वकृत कर्मों का क्षय करने तथा नये आने वाले कर्मों का निरोध (संवर) करने के लिए उत्साहित नहीं होगा। अतः जैनकर्म-विज्ञान का सुस्पष्ट मत है कि मुक्त जीवों में द्रव्यकर्म का अभाव होने से भावकर्म भी नही होता। संसारी जीवों में पूर्वकृत द्रव्यकर्म के होने से भावकर्म की और भावकर्म से फिर द्रव्यकर्म की उत्पत्ति होती है। इसी कारण बद्ध आत्मा के लिए संसार अनादि है।[2]

दोनों में पारस्परिक कार्य-कारणभाव का स्पष्टीकरण

द्रव्यकर्म और भावकर्म में पारस्परिक कार्य-कारणभाव का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जैसे मिट्टी का पिण्ड घटरूप में परिणत होता है, इसलिए मिट्टी को घट का उपादान कारण माना जाता है। किन्तु मिट्टी में घड़ा बनने की योग्यता होने पर भी अगर कुम्भकार न हो तो घड़ा नहीं बन सकता। इसलिए कुम्भकार घटरूप कार्य का निमित्त कारण है। इसी प्रकार

---

१. आत्म मीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. ९६-९७ से

२. (क) कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (देवेन्द्रमुनि) पृ. २६

(ख) आत्ममीमांसा पृ. ९७

पुद्गल में कर्मरूप में परिणत होने की योग्यता है इसलिए कर्म-पुद्गल को द्रव्यकर्म का उपादान कारण माना जाता है, किन्तु जब तक जीव[1] में भावकर्म विद्यमान न हो, तब तक पुद्गल द्रव्य का कर्मरूप में परिणत होना असम्भव है। इस अपेक्षा से भावकर्म द्रव्यकर्म का निमित्त कारण है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म भी भावकर्म का निमित्त कारण है। निष्कर्ष यह है कि द्रव्यकर्म और भावकर्म का जो कार्य-कारणभाव-सम्बन्ध है, वह निमित्त-नैमित्तिक रूप है, उपादान-उपादेयरूप नहीं।[2]

भावकर्म की उत्पत्ति कैसे : एक विश्लेषण

यद्यपि संसारी आत्मा की प्रवृत्ति या क्रिया को भावकर्म कहा गया है। परन्तु जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने राग और द्वेष इन दोनों को ही मूल में (भाव-) कर्म का बीज कहा है। साथ ही कर्म (भावकर्म) की उत्पत्ति मोह (मोहनीय कर्म) से मानी है। अतः जैसे राग-द्वेष के साथ (भाव) कर्म का कार्य-कारण भाव माना जाता है, वैसे ही तृष्णा और मोह का भी परस्पर कार्यकारण-भाव बताया गया है। जैसे—तृष्णा से मोह और मोह से तृष्णा पैदा होती है, वैसे ही राग-द्वेष से कर्म और कर्म से राग-द्वेष उत्पन्न होता है। आत्मा के क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों रूपी आभ्यन्तर परिणामों को भी भावकर्म कहा गया है। इन चार कषायों का अन्तर्भाव भी राग-द्वेष में हो जाता है। इन चारों में से माया (कपट) और लोभ को राग का तथा क्रोध और मान को द्वेष का बोधक समझना चाहिए। मोह (मोहनीय कर्म) में राग, द्वेष, मोह (आसक्ति) तथा क्रोधादि चारों कषाय समाविष्ट हो जाते हैं। मिथ्यात्व (अज्ञान), अविरति (असयम), प्रमाद एवं कषाय ये चारों मोहकर्म के ही अन्तर्गत हैं, तथा आत्मा के वैभाविक आन्तरिक परिणाम हैं, इसलिए ये भी भावकर्म हैं।[3]

योग और कषाय : दोनों ही आत्मा की प्रवृत्ति के दो रूप

ससारी आत्मा सदैव सशरीर होती हैं, इसलिए उसकी प्रवृत्ति मन, वचन, काया के अवलम्बन बिना नहीं हो सकती। मन-वचन-काया से होने

---

१. आत्म मीमासा (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. ९७

२. आत्म मीमांसा (प. दलसुख मालवणिया) से पृ. ९८

३. (क) 'रागो य दोसो वि य कम्मबीयं।'—उत्तराध्ययन अ. ३२ गा. ७

(ख) कम्मं च मोहप्पभवं वयन्ति।— वही, गा. ७

(ग) 'एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयंति।'

—वही, अ. ३२, गा. ६

(घ) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनि जी) से पृ. २०

वाली प्रवृत्ति को जैन-परिभाषा में 'योग' कहा जाता है। संसारी जीवों के कषायरूप या राग-द्वेषादिरूप आन्तरिक परिणामों का प्रादुर्भाव भी योगों (मन-वचन-काया की प्रवृत्तियों) से होता है। स्पष्ट शब्दों में कहें तो—सांसारिक आत्मा की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति जब राग-द्वेष-मोह या कषाय से रंजित होती है, तभी भावकर्म कहलाती है और इन से द्रव्यकर्म को ग्रहण करके जीव बंधनबद्ध होता है। इस दृष्टि से आत्मा की प्रवृत्ति एक होते हुए भी अपेक्षा से उसके पृथक्-पृथक् दो नाम—योग रूप और कषायरूप रखे गए हैं।[1]

दोनों कर्म साथ-साथ आत्मा से सम्बद्ध

आशय यह है कि भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों ही साथ-साथ आत्मा से सम्बद्ध होते हैं। क्रोधादि चार कषायों या राग-द्वेषादि परिणामो के कारण आत्मप्रदेशों में एक प्रकार की हलचल-सी पैदा होती है। फलतः आत्मप्रदेशों के पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त कर्म-पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होकर उससे सम्बद्ध हो जाते हैं। वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं, इनके साथ ही भावकर्म लगे हुए होते हैं। यद्यपि कर्म के बन्ध में योग और कषाय दोनो को ही साधारणतया निमित्त कारण माना गया है, तथापि कषाय को भावकर्म मानने का कारण यह है कि योग-व्यापार की अपेक्षा रंग से रंजित करने वाला कषाय का महत्व अधिक है।[2]

जितना कषाय तीव्र-मन्द उतना ही कर्म का बन्ध तीव्र-मन्द

जैनकर्मविज्ञान-मर्मज्ञों का कथन है कि जिस प्रकार रंग से रहित कपड़ा एकरूप ही होता है, उस प्रकार कषाय के रंग से अरंजित (रहित) मन-वचन-काया का योग (व्यापार) एकरूप होता है। जिस प्रकार रंगे हुए कपड़े का रंग कभी हलका और कभी गहरा होता है, इसी प्रकार योग-व्यापार के साथ कषाय का रंग भी कभी तीव्र होता है, कभी मन्द। कषाय के रंग की तीव्रता-मन्दता के अनुसार ही योग-प्रवृत्ति तीव्र-मन्द होगी। इसका फलितार्थ यह निकला कि भावकर्म की जितनी-जितनी तीव्रता-मन्दता होगी द्रव्यकर्म का बन्ध भी उतना-उतना तीव्र-मन्द होगा। स्पष्ट शब्दों में कहें तो आत्मा के राग-द्वेष आदि भाव (भावकर्म) जितने-जितने तीव्र होंगे, पुद्गल कर्म—द्रव्यकर्म भी आत्मा के साथ उतने-उतने तीव्र-रूप में बंधेंगे। इसके विपरीत, यदि आत्मा में राग-द्वेष आदि भाव (भावकर्म)

---

१. 'आत्म मीमांसा' से पृ. ९८

२. वही, पृ. ९९

मन्दरूप में होंगे तो द्रव्य कर्म भी आत्मा के साथ उतने ही मन्दरूप में—शिथिलरूप में बंधेंगे।[1]

द्रव्य-भावकर्म की तीव्रता-मन्दता क्या है, क्या नहीं ?

द्रव्यकर्म की तीव्रता का अर्थ है—कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणुओ का संख्या में अधिक होना, उनमें शुभ-अशुभ रस भी उत्कट मात्रा में होना तथा उनकी स्थिति भी लम्बी होना। इसके विपरीत द्रव्यकर्म की मन्दता का अर्थ है—कार्मण-वर्गणा के पुद्गल-परमाणुओं का आत्मा के साथ कम संख्या में चिपटना, उनमें शुभाशुभ रस भी मन्दरूप में होना और उनकी स्थिति—कालावधि भी अल्प होनी।[2]

इसे एक उदाहरण से स्पष्टतः समझलें—दो घड़े हैं, एक घड़ा तेल का है, और दूसरा बालू से भरा हुआ सूखा घड़ा है। रज जड़ है, अज्ञानी है, उसे स्व-पर का कोई ज्ञान नहीं है। फिर भी वह तेल वाले घड़े पर ही अधिक मात्रा में चिपकेगी और अधिक देर तक लगी रहेगी, क्योंकि तेल में स्निग्धता, चिकनाई तथा चिपकने की शक्ति अधिक है। बालू वाले घड़े पर रज कम आएगी। आएगी तो भी थोड़ी देर टिककर हवा में उड़ जाएगी।

जितना भावकर्म तीव्र-मन्द, उतना ही सूक्ष्मकर्म तीव्र-मन्द

इसी प्रकार सूक्ष्मकर्म-रज समग्र लोक में व्याप्त है। आत्मा में भावकर्म की अर्थात् राग-द्वेषादि परिणामों की जितनी अधिक स्निग्धता, तीव्रता या तीव्र अध्यवसाय होंगे, द्रव्यकर्म भी उतने ही अधिक तीव्ररूप से आत्मा पर चिपकेंगे। इसके विपरीत रागादि परिणामरूप भावकर्म की स्निग्धता-तीव्रता जितनी कम होगी, द्रव्यकर्म भी उतने ही कम और शिथिलरूप में आत्मा के साथ लगेंगे।[3]

वस्तुतः द्रव्यकर्म और भावकर्म एक ही आत्मारूपी सिक्के के दो पहलू हैं। जैनकर्म-विज्ञान-वेत्ताओं ने द्रव्यकर्म की अपेक्षा भावकर्म को अधिक गम्भीर और उत्कट मानकर इससे बचने का एवं शुभध्यान, अनुप्रेक्षा, समभाव, क्षमा, तितिक्षा आदि द्वारा भावों को शुद्ध बनाकर कर्मों की तीव्रता को कम करने, प्रभाव को क्षीण करने का निर्देश दिया है।

अन्य दर्शनों ने कर्म के दो रूप—भावकर्म और द्रव्यकर्म को पृथक्-पृथक् नामों से स्वीकार किया है।

---

१. (क) आत्म मीमांसा से पृ. ९८-९९

(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन (पं. सुरेशमुनि) से पृ ३४-३५

२. वही, पृ. ३४-३५

३. वही पृ. ३५

वेदान्त दर्शन में आवरण और विक्षेप के रूप में द्रव्य-भावकर्म

जैनदर्शन के प्रखर पुरस्कर्त्ता आचार्य विद्यानन्दी ने 'अष्टसहस्री' में द्रव्यकर्म को 'आवरण' और भावकर्म को 'दोष' के रूप में प्रतिपादित किया है। द्रव्यकर्म को 'आवरण' इसलिए कहा गया है कि वह आत्मशक्तियों के प्रकटीकरण को रोकता है, इसी प्रकार भावकर्म तो स्वयं आत्मा की विभावदशा है इसलिए वह अपने आप में 'दोष' है। जिस प्रकार जैनदर्शन में कर्म के आवरण और दोष, ये दो कार्य बताए गए हैं, उसी प्रकार वेदान्त दर्शन में भी आवरण और विक्षेप इन दोनों को 'माया' के दो कार्य माने गए हैं। अतः ये ही दो कार्य प्रकारान्तर से द्रव्यकर्म और भावकर्म के नाम से कर्म के दो रूप हैं।[१]

नैयायिक-वैशेषिकों की दृष्टि में द्रव्यकर्म और भावकर्म

वैसे तो नैयायिक-वैशेषिकों के ग्रन्थों में द्रव्यकर्म और भावकर्म के नाम से स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता; किन्तु उनके दर्शन का अनुशीलन करने से यह स्पष्टतः प्रतीत हो जाता है कि दोनों ही दर्शन प्रकारान्तर से कर्म के इन दोनों रूपों से सहमत हैं। जैनकर्म-विज्ञान में द्रव्यकर्म या पौद्गलिक-कर्म का जो स्थान है, उसी का नैयायिकों ने प्रवृत्तिजन्य धर्माधर्म 'संस्कार' और वैशेषिकों ने 'अदृष्ट' के नाम से उल्लेख किया है। इसी प्रकार नैयायिकों ने जिन राग, द्वेष और मोह, इन तीन दोषों का उल्लेख किया है, जैनदर्शन ने उन्हीं तीन दोषों को कर्म के बीज मानकर 'भावकर्म' के नाम से अभिहित किया है। नैयायिकसम्मत 'संस्कार' और जैनदर्शन-सम्मत 'पुद्गल' में विशेष अन्तर नहीं है। न्यायदर्शन के मतानुसार गुण और गुणी में भेद होने से वे आत्मा को ही चेतन मानते हैं, संस्कार को नहीं, क्योंकि संस्कार आत्मारूपी गुणी का एक गुण होने से वह अचेतन है। चैतन्य का सस्कार के साथ समवाय सम्बन्ध नहीं है। जैन-सम्मत पुद्गलकर्म—द्रव्यकर्म भी अचेतन है। इसलिए संस्कार कहें या द्रव्यकर्म दोनों एक-से प्रतीत होते हैं। इतना अवश्य है कि नैयायिक संस्कार को गुण कहते हैं, जबकि जैन द्रव्यकर्म को पुद्गल द्रव्य कहते हैं। गहराई से सोचें तो यह अन्तर भी तुच्छ मालूम होगा। जैनदर्शन द्रव्यकर्म की उत्पत्ति भावकर्म से और भावकर्म की उत्पत्ति (विशेष परिणति) द्रव्यकर्म से मानता है। नैयायिक-वैशेषिक दर्शन भी संस्कार की उत्पत्ति मानते हैं। और जैनों द्वारा मान्य भावकर्म और द्रव्यकर्म की पूर्व-पृष्ठों में वर्णित अनादि परम्परा के

१. (क) अष्टसहस्री पृ. ५१, उद्धृत स्टडीज इन जैन फिलोसाफी पृ. २२७

(ख) जैन कर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. १३

समान नैयायिक और वैशेषिक भी रागादि दोषों से संस्कार की तथा संस्कार से जन्म, जन्म से दोष और फिर दोष से संस्कार की उत्पत्ति परम्परा बीजांकुरवत् अनादि मानते हैं। भावकर्म ने द्रव्यकर्म को उत्पन्न किया, इसका अर्थ यह नहीं है कि भावकर्म ने पुद्गल द्रव्य को उत्पन्न किया, किन्तु उसका भावार्थ जैनकर्म-विज्ञान-मर्मज्ञों के अनुसार यही है कि भावकर्म के निमित्त से कर्मयोग्य पुद्गल में ऐसा संस्कार निर्मित हुआ, जिसके फलस्वरूप वह पुद्गल कर्मरूप में परिणत हुआ। अतः नैयायिकों के संस्कार एवं वैशेषिको के अदृष्ट में तथा जैनसम्मत द्रव्यकर्म में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता।[१]

योग और साख्यदर्शन में द्रव्यकर्म-भावकर्म के साथ सामंजस्य

योगदर्शन की कर्म-विषयक मान्यता भी लगभग जैनदर्शन जैसी ही है। योगदर्शन के अनुसार अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पाँच क्लेश हैं। इन पाँच क्लेशों से क्लिष्ट चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, फिर उससे धर्म-अधर्म-रूप संस्कार उत्पन्न होते हैं। योगदर्शन-सम्मत क्लेशों को जैनदर्शनसम्मत मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषायरूप भावकर्म, चित्तवृत्ति-प्रवृत्ति को मानसिक-वाचिक-कायिक प्रवृत्ति (योग) एवं सस्कार को द्रव्यकर्म माना जा सकता है। योग-दर्शन मे सस्कार को वासना, कर्माशय और अपूर्व भी कहा गया है।

किन्तु जैनदर्शन और योगदर्शन की प्रक्रिया में मतभेद है। योग-दर्शन में क्लेश, क्लिष्ट वृत्ति और संस्कार इन सबका सम्बन्ध आत्मा के साथ न मान कर चित्त अथवा अन्तःकरण के साथ माना गया है। और अन्तःकरण 'प्रकृति' का विकार (परिणाम) है, साख्यदर्शन की कर्म-विषयक मान्यता भी योगदर्शन के समान है। सांख्यदर्शन ने पुरुष (आत्मा) को कूटस्थ और अपरिणामी मानकर परिणाम जड़ प्रकृति मे ही माना। जबकि जैनदर्शन ने आत्मा को परिणामी-नित्य मानकर अज्ञान, मोह, कषाय आदि आत्मा में ही माने, प्रकृति के धर्म नहीं। इस कारण सांख्य को यह मानना पड़ा कि बन्ध और मोक्ष पुरुष (आत्मा) का नहीं, प्रकृति का होता है। इस मतभेद को

---

१. (क) आत्ममीमांसा से भावार्थ पृ. ९९-१००-१०१
(ख) न्यायभाष्य १/१/२
(ग) न्यायसूत्र ४/१/३-४, १/१/१७
(घ) न्यायमजरी पृ. ४७१, ४७२
(ङ) प्रशस्तपाद भाष्य ४७, ६३७, ६४३
(च) न्यायमंजरी पृ. ५१३

नजरअंदाज करके संसार और मोक्ष की कर्म सम्बन्धी प्रक्रिया पर विचार किया जाए तो दोनों में अतीव समानता प्रतीत होती है।

जैनदर्शन में जैसे राग-द्वेष-मोहादि भाव जनित भावकर्म के कारण आत्मा के साथ अनादि काल से पौद्गलिक कार्मण शरीर-द्रव्यकर्म का सम्बन्ध बीजांकुरवत् तथा एक की उत्पत्ति में दूसरा कारणरूपेण विद्यमान होते हुए, दोनों का संसर्ग आत्मा के साथ अनादि माना गया है, इसी प्रकार सांख्यदर्शन भी लिंग शरीर को अनादिकाल से पुरुष के संसर्ग में मानता है। तथा लिंग शरीर की उत्पत्ति भी जैनसम्मत कार्मण शरीरवत् राग-द्वेष-मोह जैसे भावों से मानता है। इस प्रकार रागादि भाव (भावकर्म) और लिंग शरीर में भी बीजांकुरवत् कार्य-कारण भाव माना है। साथ ही, जैसे जैनदर्शन कार्मण (सूक्ष्म) शरीर को स्थूल (औदारिक) शरीर से पृथक् मानता है, वैसे सांख्य भी लिंग (सूक्ष्म) शरीर को स्थूल शरीर से भिन्न मानते हैं। जैनमतानुसार स्थूल और सूक्ष्म दोनो शरीर पौद्गलिक हैं, सांख्यमतानुसार उक्त दोनों शरीर प्रकृतिजन्य हैं। पौद्गलिक मानकर जैनदर्शन ने दोनों की वर्गणाएँ पृथक्-पृथक् मानी हैं, जबकि सांख्य भी एक को तान्मात्रिक तथा दूसरे को मातृ-पितृजन्य मानता है। जैनमतानुसार मृतक का मृत्यु के समय औदारिक शरीर यहीं छूट जाता है और अगले जन्म के समय नवीन शरीर उत्पन्न होता है। कार्मणशरीर मृत्यु के बाद परलोक में साथ जाता है, और उस जीव के साथ-साथ रहता है। साख्यमतानुसार मातृ-पितृजन्यस्थूल शरीर परलोक जाते समय साथ नहीं रहता, दूसरे जन्म में नया शरीर धारण करता है। किन्तु लिंग शरीर कायम रहता है, जहाँ भी आत्मा जाती है, वहाँ साथ मे रहता है।[१]

सांख्यमत में द्रव्यभावकर्म की तुलना जैन दर्शन से

जैनमतानुसार अनादिकाल से सम्बद्ध कार्मण शरीर मोक्ष के समय निवृत्त हो जाता है, इसी प्रकार साख्यमत मे भी मोक्ष के समय लिंग शरीर

१. (क) आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. १०१ से १०३ तक
(ख) योगदर्शनभाष्य १/५, २/३, २/१२-१३ तथा उसकी तत्त्ववैशारदी, भास्वती आदि टीकाएँ
(ग) सांख्यकारिका ५२ की माठरवृत्ति,
(घ) सांख्यतत्त्वकौमुदी का. १७, १९, २०, ४०
(ङ) सांख्यकारिका का.३९
(च) योगदर्शन (माठर) ४४-४०
(छ) सांख्यकारिका ४१, ४०, ४६
(ज) सांख्यतत्त्वकौमुदी ४०, ५२

निवृत्त हो जाता है। जैन दर्शन में माना गया है कि कार्मण शरीर और राग-द्वेषादिभाव अनादि काल से साथ-साथ हैं, एक के बिना दूसरा नहीं रहता, इसी प्रकार सांख्य भी मानता है कि लिंग शरीर भाव के बिना और भाव लिंग शरीर के बिना नहीं होते। जैनमतानुसार कार्मण शरीर प्रतिघात रहित तथा उपभोगशक्तिरहित है, वैसे ही सांख्यमत में लिंग शरीर अव्याहत गति तथा उपभोगरहित है। यद्यपि सांख्यमत में रागादिभाव, लिंग शरीर अन्य भौतिक पदार्थ प्रकृति के विकार हैं; तथापि इन विकारों के जातिगत भेद को सांख्य स्वीकार करते हैं। वे तीन प्रकार के सर्ग मानते हैं—प्रत्ययसर्ग, तान्मात्रिक सर्ग और भौतिक सर्ग। राग-द्वेषादि भाव प्रत्यय-सर्ग में, तथा लिंग शरीर तान्मात्रिक सर्ग में समाविष्ट हैं। यद्यपि जैनदर्शन में रागादिभाव एवं कार्मण शरीर को पुद्गलकृत माना गया है, तथा भावों का उपादान कारण आत्मा को और निमित्त पुद्गल को, तथा कार्मण शरीर का उपादान पुद्गल को और निमित्त आत्मा को माना है, परन्तु सांख्यमत में प्रकृति अचेतन होते हुए भी पुरुष-संसर्ग के कारण चेतनवत् व्यवहार करती है। जैनों ने स्वीकार किया है कि पुद्गल द्रव्य अचेतन होते हुए भी आत्म-संसर्ग से कर्मरूप में परिणत होता है, तब चेतन-सदृश व्यवहार करता है। जिस प्रकार जैनदर्शन संसारी आत्मा और शरीर आदि अजीव पदार्थों का ऐक्य क्षीर-नीरवत् मानता है, तथैव सांख्यदर्शन भी पुरुष और शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि जड़ पदार्थों का ऐक्य क्षीरनीरवत् मानता है।[१]

निष्कर्ष यह है कि जैनसम्मत भावकर्म की तुलना सांख्य-सम्मत भावों से, 'त्रिविध योग' की तुलना वृत्ति से और द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर की तुलना लिंग शरीर से की जा सकती है। जैनदर्शन एवं सांख्यदर्शन दोनों ही कर्मफल अथवा कर्म-निष्पत्ति मे ईश्वर जैसे किसी कारण को नहीं मानते।[२]

---

१. (क) आत्ममीमांसा से पृ. १०४-१०५
   (ख) सांख्यकारिका ४१
   (ग) सांख्यतत्त्वकौमुदी ४०
   (घ) सांख्यकारिका ४६
   (ङ) सांख्यतत्त्वकौमुदी ५२
   (च) माठरवृत्ति पृ. ९, २९

२. (क) आत्ममीमांसा पृ. १०५
   (ख) सांख्यकारिका २८, २९, ३०, ४०

बौद्धदर्शन में भावकर्म और द्रव्यकर्म प्रकारान्तर से मान्य

जैनदर्शन के समान बौद्धदर्शन में भी लोभ (राग), द्वेष और मोह को कर्म (भावकर्म) की उत्पत्ति का कारण माना है। किन्तु अमूर्त चैतसिक (नामरूप) तत्त्व के आधार पर जड़-चेतनमय अथवा बौद्ध परिभाषा में नाम-रूपमय जगत् की व्याख्या करना सम्भव नहीं है। क्योंकि बौद्धदर्शन मानता है कि अमूर्त चैतसिक तत्त्व ही अमूर्त चेतना को प्रभावित करते हैं। इसीलिए 'विसुद्धिमग्ग' में तथा सौत्रान्तिक मत में कर्म को जब अरूपी कहा गया तो 'अभिधर्म कोष' में कर्म को अविज्ञप्ति[१] और अविज्ञप्ति को 'रूप' मानकर समाधान किया है कि चैतसिक तत्त्वों (लोभ, द्वेष-मोह या वासना) और भौतिक तत्त्वों (मन वचन काया की प्रवृत्ति-रूपात्मक) के मध्य कारण-कार्यभाव सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' में तो स्पष्टतः विज्ञान (चेतना) और नाम-रूप के मध्य कार्य-कारण-सम्बन्ध माना गया है। संयुत्तनिकाय में मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को कर्म कह उसे विज्ञप्तिरूप (प्रत्यक्ष) मानी है।[२] अंगुत्तरनिकाय में स्पष्ट किया गया है कि राग-द्वेष-मोहयुक्त होकर प्राणी (सत्त्व) मन-वचन-काय की प्रत्यक्ष प्रवृत्तियाँ करता है, उन प्रवृत्तियों से फिर राग-द्वेष-मोह को उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह संसार चक्र अनादि काल तक चलता रहता है, इसका कोई आदिकाल नहीं है।[३] मिलिंद प्रश्न में तो स्पष्टरूप से प्रतिपादित है कि नाम (चेतन-पक्ष) और रूप (भौतिक पक्ष) दोनों अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं।[४] इसलिए गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि बौद्धदर्शन भी नाम और रूप दोनों के अन्योन्याश्रय से कर्म की निष्पत्ति मानता है। तुलनात्मक दृष्टि से यों कहा जा सकता है कि बौद्ध-सम्मत राग-द्वेष-मोह या वासना जैनसम्मत भावकर्म है, और मन-वचन-काय की प्रत्यक्ष (विज्ञप्तिरूप) प्रवृत्ति जैनदर्शन-मान्य 'योग' है और इस प्रत्यक्ष कर्म से उत्पन्न वासना और अविज्ञप्ति द्रव्यकर्म है। क्योंकि अभिधर्म कोष में

---

१. (क) विसुद्धिमग्ग १७/११०
   (ख) अभिधर्म कोष १/९

२. (क) प्रतीत्यसमुत्पाद
   (ख) संयुत्तनिकाय

३. (क) अंगुत्तरनिकाय तिकनिपात सूत्र ३३/१, पृ. १३४
   (ख) संयुत्तनिकाय १५/५/६ (भाग-२ पृ. १८१-१८२)

४. मिलिन्द प्रश्न, लक्षण प्रश्न द्वितीय

'मानसिक क्रियाजन्य संस्कार—कर्म को वासना और वाचिक—कायिक क्रिया-जन्य संस्कार-कर्म को अविज्ञप्ति कहा गया है।[१]

मीमांसादर्शन में भावकर्म और द्रव्यकर्म की संगति

'मीमांसादर्शन' यज्ञ-यागादि कामनाजन्य कर्म को 'कर्म' मानकर उसके फलप्रदान के लिए 'अपूर्व' नामक पदार्थ को स्वीकार करता है। कुमारिल भट्ट ने 'अपूर्व' की व्याख्या करते हुए कहा है कि अपूर्व का फलितार्थ है—योग्यता। जब तक यज्ञादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया जाता तब तक यज्ञादि कर्म और पुरुष दोनो ही फल—स्वर्गरूपफल उत्पन्न करने में अयोग्य-असमर्थ होते हैं। अनुष्ठान के पश्चात् ऐसी योग्यता उत्पन्न होती है, जिससे कर्त्ता को स्वर्गरूप फल मिलता है। अपूर्व से संस्कार या शक्ति प्रादुर्भूत होती हैं, वह वेद-विहित कर्म से ही होती है, अन्य कर्मजन्य संस्कार से नही।[२] मीमांसको का कथन है अपूर्व एक शक्ति या योग्यता है, जिसका आश्रय आत्मा है । अतः आत्मा के समान 'अपूर्व' भी अमूर्त है ।[३] यद्यपि द्रव्यकर्म अमूर्त्त नही, तथापि वह अपूर्व के सदृश अतीन्द्रिय तो है ही, इसलिए अपूर्व को जैनसम्मत द्रव्यकर्म के स्थान में माना जा सकता है। मीमांसकों को निम्नोक्त क्रम मान्य है— कामनाजन्य कर्म, यागादि प्रवृत्ति और यागादि-प्रवृत्तिजन्य अपूर्व । जैन दृष्टि से मीमांसासम्मत कामना या तृष्णा को भावकर्म, यागादि प्रवृत्ति को योग व्यापार, तथा अपूर्व को द्रव्यकर्म कहा जा सकता है।[४]

भगवद्गीता में प्रकारान्तर से द्रव्यकर्म-भावकर्म

यद्यपि भगवद्गीता सांख्यदर्शन के मन्तव्य से प्रभावित है । वह बन्धन को सांख्योक्त 'प्रकृति' (त्रिगुणात्मक जड़ प्रकृति) से सम्बद्ध और आत्मा को 'अकर्त्ता' मानती है । परन्तु गीता मे बताया गया है कि जब तक आत्मा (पुरुष) अहंकार से युक्त नहीं होता, तब तक बन्धन नहीं होता । अतः सिद्ध है कि आत्मा का अहंभाव जो चेतनात्मक (भावात्मक) है और बन्धन का उपादान कारण है, और जड़-प्रकृति उस अहंभाव का निमित्त कारण है । अर्थात् अहंकार के लिए निमित्त के रूप में प्रकृति, और उपादान

१. (क) आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. १०७

(ख) अभिधर्म कोष, चतुर्थ परिच्छेद

(ग) Keith: Buddhist Philosophy, p. 203.

२. तंत्रवार्तिक २/१/१५, तथा पृ. ३९५-३९६

३. तंत्रवार्तिक पृ. ३९८

४. आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. १०९

के रूप में चैतन्ययुक्त पुरुष (आत्मा) दोनों ही जैनदर्शनसम्मत क्रमशः द्रव्यकर्म और भावकर्म के समान हैं । दोनों में परस्पर कार्य-कारणभाव या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।[१] इन दोनों की उपस्थिति में ही कर्म द्रव्य-भाव रूप में बँधता है । इस प्रकार गीता में प्रच्छन्नरूप से द्रव्यकर्म और भावकर्म का संकेत मिलता है।

निष्कर्ष

कर्म के इन दोनों रूपो पर विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यों का विस्तृतरूप से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भावकर्म के विषय मे किसी दार्शनिक को कोई आपत्ति नही है । सभी दार्शनिकों के मतानुसार राग, (लोभ) द्वेष, और मोह-भाव कर्म अथवा कर्म के कारणरूप हैं । जैनदर्शन में जिसे द्रव्यकर्म कहा गया है, उसी को अन्य दार्शनिक कर्म कहते हैं, इसी को ही वे सस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, माया, अदृष्ट या अपूर्व नाम से पुकारते हैं । वस्तुतत्त्व वही है । अतः जैनकर्म-विज्ञानशास्त्रियो द्वारा कर्म को भावकर्म और द्रव्यकर्म, इन दो रूपो मे प्रस्तुत करना युक्तियुक्त है । कर्म के द्रव्यात्मक और भावात्मक दोनो पक्षो को स्वीकार करने पर ही कर्म की सर्वांगीण व्याख्या हो सकती है ।

■

१. जैन कर्म-सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जी जैन) से सार-संक्षेप पृ. १७

३

कर्म : संस्कार रूप भी, पुद्गल रूप भी

कर्म : कार्य-कारण का एक नियम

कर्म सांसारिक प्राणियों के जीवन से बँधा हुआ एक नियम है। यह प्रत्येक क्रिया के साथ सन्निहित होने वाला सिद्धान्त है। जिन प्रत्यक्षदर्शी सर्वज्ञ आप्त पुरुषों ने कर्म की खोज और अनुभूति की। उन्होंने कर्म के नियम को भी खोजा और उसका अनुभव भी किया। जैसे वैज्ञानिक प्रकृति के नियम की खोज करता है, वैसे ही कर्म-विज्ञान के ज्ञाता-द्रष्टा महापुरुषों ने बुद्धि के स्तर पर ही नहीं, अनुभूति के स्तर पर भी कर्म के नियम की शोध की। वह नियम है—कार्य-कारण का या क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम। अर्थात्—कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता। आत्मा का बन्धन भी बिना कारण के नहीं होता।

नियम एक प्रकार की शाश्वत एव अटल व्यवस्था है। वह स्वाभाविक होता है, बनाया नहीं जाता। भगवान् महावीर ने कहा— "जो नियम है, धर्म है; वह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, जिनोपदिष्ट है।" वह नियम इस प्रकार है— जहाँ स्वाभाविक क्रिया नहीं है, वैभाविक क्रिया है, वहाँ आत्मा कर्म से बद्ध होती है।

आत्मा की वैभाविक क्रियाएँ कर्म हैं

'मैं जानता-देखता हूँ' यह आत्मा का अपना स्वभाव है, किन्तु 'मैं कहता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ,' इत्यादि क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक नहीं हैं, सांयोगिक हैं, वैभाविक हैं। आत्मा और शरीर का यह संयोग प्राण-शक्ति को उत्पन्न करने का निमित्त बनता है। प्राण-शक्ति अर्थात्—शरीरस्थ तैजस् शक्ति—ऊर्जा शक्ति। उसी ऊर्जा शक्ति के संचालन से कहने, सुनने, सोचने, खाने-पीने और श्वास लेने-छोड़ने आदि की क्रियाएँ होती हैं, जो आत्मा की न होने से अस्वाभाविक हैं, वैभाविक हैं। वे समस्त क्रियाएँ मानसिक, वाचिक या कायिक हैं, वे संयोगज हैं। 'मैं अमुक कार्य करता हूँ,' इसमें "मैं" अलग हो गया, 'कार्य' अलग हो गया। इसमें

कर्ता (मैं) और कार्य (बोलना, सुनना, सोचना आदि) स्पष्टतः अलग-अलग प्रतीत होते हैं। अतः यह स्वाभाविक क्रिया नहीं है। परन्तु जहाँ आत्मा के द्वारा जानने-देखने की क्रिया होती है, वह स्वाभाविक है, क्योंकि जानना देखना आत्मा का अपना स्वभाव है, अपनी क्रिया है।[1]

इसलिए नियम यह हुआ कि जहाँ आत्मा जानने-देखने की अपनी स्वाभाविक क्रिया से हटकर मन, वचन या काय से संयुक्त होकर कोई भी क्रिया करती है, वहाँ आत्मा के लिए बन्धन होता है; वही बंधन मनरूप, वचनरूप और कायरूप कर्म बनता है।

क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम भी कर्मसंस्काररूप

निष्कर्ष यह है कि सांसारिक जीवों की प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति के साथ प्रतिक्रिया-स्वरूप राग, द्वेष, कषायादि आते हैं और वे एक संस्कार छोड़ जाते हैं। वे ही कर्म के कारण हैं। उसी संस्कार को विभिन्न आस्तिक दार्शनिकों ने कर्म के अर्थ में प्रतिपादित किया है।

उनका आशय यह है कि प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति या कार्य (संयोगज होने पर) आत्मा के लिए कर्म-बन्ध का कारण होता है। इसे स्पष्टतः समझने के लिए क्रिया-प्रतिक्रिया के सिद्धान्त को समझना आवश्यक है। क्रिया-प्रतिक्रिया का नियम भी कर्म का नियम है।

क्रिया की पुनः पुनः प्रतिक्रिया

प्राणी जो कुछ भी क्रिया या प्रवृत्ति करता है, उसकी प्रतिक्रिया होती है। जो कुछ भी किया जाता है, बोला जाता है या सोचा जाता है, वह एक क्रिया या प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, परन्तु उसकी प्रतिक्रिया समाप्त नहीं होती। घंटे पर एक बार किसी ने डंडा मार कर ध्वनि की। वह ध्वनि समाप्त हो गई; परन्तु उसकी प्रतिध्वनि समाप्त नहीं हुई। प्रतिध्वनि रह गई। बहुत गहरे कूप में किसी ने झांक कर कुछ भी बोला, उसकी ध्वनि हुई, किन्तु ध्वनि समाप्त होने के साथ ही प्रतिध्वनि प्रारम्भ हो गई। वह लम्बे समय तक चली। ध्वनि छोटी होती है, प्रतिध्वनि लम्बी। इसी प्रकार क्रिया छोटी है, प्रतिक्रिया बड़ी। क्योंकि क्रिया की प्रतिक्रिया, अथवा प्रवृत्ति की प्रतिप्रवृत्ति या ध्वनि की प्रतिध्वनि की तरह पुनः पुनः आवर्तन होता रहा है।

एक ही क्रिया की अनेक बार प्रतिक्रिया

अधिकांश मनुष्य एक बार जब देखने आदि की क्रिया करते हैं और समझ लेते हैं कि वह समाप्त हो गई, किन्तु सच्चे माने में वह समाप्त नहीं

---

१. जैनयोग से सारांश पृ. ३७, ३९

हुई। देखना तो बंद हो गया, किन्तु देखने की वह स्मृति मस्तिष्क के स्मृति-कोष्ठों में उसी प्रकार अंकित हो गई, जैसे फोनोग्राफ की चूड़ी पर या टेपरिकार्डर के केसेट पर आवाज अंकित हो जाती है। जो अंकित हो गया, वह समाप्त न होकर अपना संस्कार छोड़ गया। उस क्रिया की एक वृत्ति बन गई और एक प्रतिक्रिया अवशिष्ट रह गई। बाद में जैसे ही कोई निमित्त मिलता है, उस संस्कार की स्मृति उभर आती है, वह वृत्ति उत्तेजित हो जाती है। उस वस्तु या क्रिया की स्मृति आते ही उसे फिर देखने की ललक उठती है। जैसे खीर आदि मीठी चीज खाने के बाद उसकी मीठी डकार आती है, अथवा खट्टी चीज खाने पर जिस समय उस खट्टी चीज की स्मृति होती है, उस समय मुह में पानी आने लगता है। इससे यह तथ्य फलित होता है कि क्रिया समाप्त हो जाती है, परन्तु प्रतिक्रिया समाप्त नहीं होती। वह चलती रहती है। उसकी श्रृंखला दीर्घकाल तक चलती रहती है। एक बार की क्रिया सहस्राधिक बार दोहराई जाती है। आशय यह है कि एक बार जब प्रवृत्ति की जाती है तो दूसरी-तीसरी बार भी उस प्रवृत्ति को करने की भावना जागती है। फिर उसका स्मरण होता है और पुनः उसे करने की ललक होती है। यह बार-बार उसी क्रिया—प्रवृत्ति को करने का तथ्य ही 'कर्म' का सिद्धान्त है।[1]

एक बार भी प्रवृत्ति करना—कर्मबन्धन मे स्वयं को डालना है। यह ऐसा बन्धन है कि फिर उस प्रवृत्ति की पकड़ से छूटना उसके वश की बात नही रहती। एक बार भी यदि मन से, वचन से या शरीर से कुछ किया तो फिर न करना आसान नहीं रहता। फिर तो ऐसा ही हो जाता है; जैसे—एक बार जो मार्ग बन गया, उसे मिटा पाना आसान नही होता। फिर तो आदमी जाने-अनजाने उसी मार्ग से जाने का अभ्यस्त हो जाता है।

प्रमाद ही संस्काररूप कर्म (आस्रव) का कारण

इसीलिए भगवान महावीर ने कहा— "(प्रवृत्ति में) प्रमाद को कर्म (कर्म का हेतु=आस्रव) और अप्रमाद को अकर्म (सवर) कहा है।" इसलिए 'समय मात्र भी प्रमाद मत करो'; क्योंकि एक समय की या एक बार की भूल (प्रमाद) की हजार बार आवृत्ति हो सकती है।[2]

संस्कार का निर्माण : कब और कब नहीं ?

अभिप्राय यह है कि अगर व्यक्ति जागरूक और अप्रमत्त रहकर मन, वचन, काया से किसी प्रवृत्ति या क्रिया को नही करता है तो उसकी

---

१. जैनयोग से साराश उद्धृत पृ. ४०

२. (क) 'पमायं' कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं।' — सूत्रकृताग १/१४।१

(ख) 'समय गोयम ! मा पमायए।' —उत्तराध्ययन अ.१० गा. १ से ३६ तक

प्रतिक्रिया भी नहीं होती, न ही उसका संस्कार बनता है। फिर उसी प्रवृत्ति को करने की ललक नहीं उठती। इसके विपरीत, यदि मनुष्य ने प्रमत्त या असावधान होकर किसी क्रिया या प्रवृत्ति को कर लिया तो उसके मस्तिष्क में उसका अपना एक ऐसा कंपन अंकित हो जाता है कि वह अंकन बार-बार उसी क्रिया या प्रवृत्ति को करने के लिए बाध्य करता रहेगा। जब तक वह जड़-मूल से नष्ट न कर दिया जाए, या नष्ट न हो जाए अथवा किसी प्रवृत्ति के करने की प्रेरणा होने के साथ ही उसे मनोबलपूर्वक रोक न दिया जाए।

कर्म का अर्थ : चित्तवृत्ति या संस्कार-निर्माण

इस दृष्टि से कर्म का एक अर्थ हुआ—प्रमादवश की हुई क्रिया की प्रतिक्रिया के कारण एक संस्कार का या चित्तवृत्ति का निर्माण। इसका स्पष्टार्थ यह है कि चेतना की वह अवस्था, जिसका निर्माण मनुष्य प्रमादवश किसी प्रवृत्ति या क्रिया के द्वारा करता है, वह चित्तवृत्ति या संस्कार कर्म है। इस प्रकार कर्म को विभिन्न आस्तिक दर्शनों ने चित्त-संस्कार के रूप मे माना है। उनका कहना है कि प्रत्येक शुभ या अशुभ प्रवृत्ति अथवा क्रिया अपना संस्कार छोड़ जाती है।[१]

कर्म-प्रवृत्ति के संस्कारों का संचय ही कर्मास्रव

समस्त सांसारिक जीव मन-वचन-काया के द्वारा सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते हर समय कुछ न कुछ प्रवृत्ति करते रहते हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण कर्मों का आस्रव और आगे चलकर बन्ध होता है। इस आस्रव को ही कर्मप्रवृत्ति के संस्कारों का सग्रह कहा जा सकता है।[२]

कर्म प्रवृत्ति के संस्कारों को सचित करने के लिए प्रकृति की ओर से यदि कोई साधन न जुटाया जाता तो प्राणी के द्वारा कृत कार्य का क्षण बीतने के साथ ही कर्म भी सर्वथा समाप्त हो जाता और उस प्राणी को किसी प्रकार से बन्धन में पड़ने का भय भी नहीं रहता। कदाचित् ऐसा सम्भव हो जाता तो जगत् का प्रत्येक प्राणी निर्भय, निर्द्वन्द्व, निरर्गल और स्वच्छन्द होकर मनमानी प्रवृत्ति करता। न्याय-नीति या मर्यादा नाम की कोई भी वस्तु शेष न रहती। एक शक्तिशाली व्यक्ति सारे जगत् को निगलने के लिए तैयार हो जाता। इसलिए प्रकृति का अनुग्रह मानना चाहिए कि उसने इच्छापूर्वक कृतकर्मों के समस्त संस्कारों को संचित करने के लिए

१. जैनयोग से साभार सारांश उद्धृत पृ. ४१

२. कर्मरहस्य से पृ. १२४

प्रत्येक प्राणी के न चाहते हुए भी उसके साथ 'कार्मण शरीर' नामक एक ऐसा साधन प्रदान कर रखा है, जिसके द्वारा उस-उस प्राणी के द्वारा किये गये अच्छे या बुरे समस्त कर्मों के संस्कार बिना किसी प्रयत्न के स्वतः उस पर अंकित होते रहते हैं।[1]

बाहर का यह स्थूल औदारिक शरीर रहे या न रहे, कार्मण शरीर तो मरते-जीते, परलोक जाते तथा विविध गतियों और योनियों में रहते हुए हर समय प्राणी के साथ रहता है और उसकी समग्र कार्यवाही का सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण करता रहता है। यह जड़ (पुद्गल) होते हुए भी चेतनवत् है अथवा चिदाभासी है।[2]

कार्मण शरीर : कार्य भी है, कारण भी

चेतना की तमाम प्रवृत्तियों के प्रति यह कार्य भी है और कारण भी है। यह (कार्मण शरीर) कर्म के संस्कारों को ग्रहण करके स्थित रहता है। इस कारण यह उसका कार्य भी है और यथासमय फलोन्मुख होकर जीव को पुनः उसी प्रकार के कर्म करने के लिए उकसाता है। चाहते या न चाहते हुए भी प्राणी को उसकी प्रेरणा से कर्म करना पड़ता है। इस कारण यह उसकी समस्त प्रवृत्तियों का कारण भी है।[3]

कार्मण शरीर भी उपचार से द्रव्यकर्म

यद्यपि चेतन-प्रवृत्ति को 'कर्म' कहा जाता है, तथापि उसका कार्य तथा कारण होने से कार्मण शरीर को भी उपचार से 'कर्म' कहा जाता है। सर्वार्थसिद्धि में आचार्य पूज्यपाद ने 'समस्त शरीरों की उत्पत्ति के मूल कारण होने से कार्मणशरीर को कर्म (द्रव्यकर्म) कहा है।[4] विशेषता इतनी है कि चेतन प्रवृत्ति की भाति यह सीधा भावात्मक न होकर परमाणुओं से निर्मित होने के कारण द्रव्यात्मक है, इसलिए इसका द्रव्यकर्म नाम सार्थक है।[5]

प्रवृत्ति और संस्कारों का चक्र, कार्मण शरीर द्वारा

श्री जिनेन्द्रवर्णी के शब्दों में—चेतन की कर्मप्रवृत्ति से कार्मण शरीर पर संस्कार अंकित होते हैं और कुछ काल के बाद उस पर अंकित संस्कार जागृत होते हैं। उन जागृत संस्कारों की प्रेरणा से जीव पुनः कर्मों में प्रवृत्त

---

१. कर्मरहस्य पृ. १२४

२. कर्म रहस्य से पृ. १२५

३. वही, पृ. १२५

४. 'सर्व-शरीर-प्ररोहण-बीजभूतं कार्मण शरीरं कर्मेत्युच्यते।'

—सर्वार्थसिद्धि २/५/१८२/८

५. कर्मरहस्य से सारांश पृ. १२६

होता है, उस प्रवृत्ति से पुनः कार्मण शरीर पर संस्कार अंकित होते हैं। कुछ काल पश्चात् अंकित हुए वे संस्कार पुनः जागृत होते हैं और उन जागृत संस्कारों की प्रेरणा से जीव पुनः कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और संस्कारों का यह चक्र प्रवाहरूप से अनादिकाल से चलता आ रहा है और तब तक चलता रहेगा, जब तक जीव कर्मों की कार्य-कारण परम्परा से सर्वथा विरत नहीं हो जाता।[१]

प्रवृत्ति के साथ ही चित्तभूमि पर पदचिह्न अंकन

कोई भी जीव अपने बाह्य जगत् या आभ्यन्तर जगत् में जो कुछ भी प्रवृत्ति, कार्य या कर्म करता है, वह कार्य, प्रवृत्ति या कर्म तो उसी समय समाप्त हो जाता है किन्तु जाते-जाते उस जीव की चित्तभूमि पर अपना पदचिह्न उसी प्रकार अंकित कर जाता है, जिस प्रकार कच्चे रास्ते पर चलते हुए व्यक्ति के पैर उस पर अपने चिह्न अंकित कर जाते हैं। यह तो प्रत्येक व्यक्ति की अनुभव-गोचर वस्तु है। जिस प्रकार महिलाएँ घर के द्वार पर हाथ के थापे लगाती हैं, उनके हाथों की वह छाप (अंकन) लगाना समाप्त हो जाने के पश्चात् भी वहाँ छाप स्थित रहती है। इसी प्रकार प्राणी के द्वारा किया गया कार्य या कर्म समाप्त होने से पूर्व ही चित्तभूमि पर—कार्मण शरीर पर—अपना चिह्न अंकित कर देता है। यद्यपि यह अंकन (चिह्न) धुंधला अथवा अस्पष्ट होने से पहले-पहल हमारे दृष्टिपथ में नहीं आता, तथापि कालान्तर में कुछ गहरा हो जाने पर वह प्रत्यक्ष रूप से सामने आकर किसी न किसी रूप में खड़ा हो जाता है। यद्यपि अपनी पूर्वावस्था में यह अत्यन्त बारीक होता है।[२] कच्ची मिट्टी पर पड़े पदचिह्न की भाति शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तथापि कालान्तर में परिपक्व हो जाने पर यह पाषाण पर उत्कीर्ण रेखा की तरह मिटाने से भी नहीं मिटता।[३]

संस्कार, धारणा, आदत, वृत्ति, स्मृति आदि समानार्थक हैं : क्यों और कैसे ?

कार्य या कर्म के पदचिह्न का अर्थ यहाँ मिट्टी पर पड़े हुए पदचिह्न जैसा कुछ नहीं है। न ही चित्तभूमि या कार्मण शरीर मिट्टी के जैसा है, जिस पर चिह्न अंकित हुआ दिखाई दे सके। यह तो समझाने के लिए उपमा दी गई है। वस्तुतः चित्तभूमि या कार्मण शरीर दोनों ही ज्ञानात्मक या भावात्मक हैं। इसलिए उस पर पड़ा हुआ चिह्न भी ज्ञानात्मक या भावात्मक जैसा ही कुछ है। उसे शास्त्रीय भाषा में वृत्ति, धारणा या संस्कार कहते हैं। एक

---

१. कर्मरहस्य, (भावार्थ) पृ. १२५

२. वही, (सारांश) पृ. १५९

३. कर्मरहस्य से पृ. १५९

प्रकार से स्मृति का च्युत न होना ही धारणा है।[1] कोई भी कार्य, क्रिया या प्रवृत्ति क्यों न हो, उसे निरन्तर करते रहने पर उसकी आदत या टेव पड़ जाती है, उसका अभ्यास हो जाता है। जैसे टाईप की मशीन पर टिप-टिप करते रहने से कुछ ही दिनों में टाईप करने की आदत पड़ जाती है। बैठे-बैठे पैर हिलाते रहने से या सदैव गर्दन लटकाकर चलने से अथवा कुछ अर्से तक किसी एक भाषा को बार-बार बोलते रहने से क्रमशः पैर हिलाने, गर्दन लटकाकर चलने तथा उस भाषा के बोलने की आदत पड़ जाती है। अतः कार्य जानने का हो, बोलने का हो, या कुछ भी, करने का हो, सतत होते रहने पर उसकी टेव या आदत पड़ जाती है। वह आदत, टेव या वृत्ति ही संस्कार शब्द की वाचक है। इसे ही जानने के क्षेत्र में धारणा या स्मृति कहते हैं। बोलने या करने के क्षेत्र में या भोगने के क्षेत्र में इसे सस्कार या वृत्ति भी कहते हैं।

किसी भी पाठ या मंत्र को बार-बार रटने या दोहराने से वह स्मृति का विषय होकर ज्ञानगत धारणामय संस्कार बन जाता है।

मद्यपान या धूम्रपान करते रहने से उसकी कुटेव पड़ जाती है। ये सब कर्मगत सस्कार कहलाते हैं। बुरे व्यक्तियो की बार-बार संगति से बुरे तथा अच्छे व्यक्तियो, सज्जनों या साधुजनो की बार-बार संगति करने से अच्छे सस्कार पड़ जाते हैं। नशीली चीज का सेवन करने वाले व्यक्तियों के मन पर प्रारम्भ में उसका थोड़ा सा प्रभाव पड़ता है, परन्तु बार-बार उसका सेवन करने से वह उसके रोम-रोम में संस्कारगत वस्तु बन जाती है।[2]

चित्त पर पड़ा प्रभाव ही संस्काररूप बन जाता है

निष्कर्ष यह है कि अच्छा या बुरा कोई भी कार्य करने पर, उसका प्रभाव चित्त पर अवश्य पड़ता है। कार्य समाप्त होने पर भी चित्त पर पड़ा प्रभाव समाप्त नहीं होता। भले ही पहली बार में उस कार्य की आदत नही पड़ती, परन्तु बार-बार करते रहने पर वह आदत पक्की हो जाती है, वही सस्कार रूप बन जाती है।[3]

प्रारम्भिक कार्य बार-बार करने पर सुदृढ़ कर्म-संस्कार

किसी ने देगची में चावल डालकर पकने के लिए आग पर रख दिये। प्रथम, द्वितीय आदि क्षणों में चावल सर्वथा नहीं पके, किन्तु आध घंटे के

१. 'अविच्चुई धारणा होई।' —विशेषावश्यकभाष्य

२. कर्मरहस्य पृ. १६०

३. वही, पृ. १६१

पश्चात् वे चावल सर्वथा पक गये। इसी प्रकार किसी चेतना द्वारा किसी कार्य को प्रारम्भ करने पर प्रथम आदि क्षण में ही उसके संस्कार आदत के रूप में नहीं पड़े, किन्तु बार-बार करने पर वही आदत सुदृढ़ होकर संस्कार का रूप धारण कर लेती है। इस पर से यह सिद्धान्त निर्धारित हुआ कि चित्त पर पड़ा आद्य प्रभाव धीमा ही क्यों न हो, होता अवश्य है। कार्मण शरीर उसे कर्म-संस्कार के रूप में ग्रहण कर लेता है और दीर्घ काल के पश्चात् पृथक-पृथक प्रभावों के समूह के रूप में वह संचित संस्कार या आदत घनीभूत हो जाती है। आशय यह है कि कर्मगत अत्यन्त क्षीण प्रभाव प्रत्येक बार में उत्तरोत्तर गहरा होकर दृढ़ संस्कार के रूप में रूपान्तरित हो जाता है।

जैनशास्त्रीय भाषा में प्रत्येक समय में प्राप्त कर्म के सूक्ष्म प्रभाव को हम आस्रव तथा संस्कार या आदत के रूप में उन्हीं अनेक प्रभावों के घनीभूत हो जाने को बन्ध तत्त्व कह सकते हैं।[1]

अविद्याग्रस्त जीवों की प्रत्येक प्रवृत्ति बन्धकारक

इस पर से यह स्पष्ट है कि जन्म-जरा-मरणरूप संसार-चक्र में परिभ्रमण करते हुए प्राणी अविद्या, अज्ञान या मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं। वे जो भी क्रिया या प्रवृत्ति करते हैं, वह अज्ञानमूलक होती है। रागद्वेषादिवश उनकी प्रवृत्ति होती है, जो अपने पीछे संस्कार को छोड़ देती है। इस कारण उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया आत्मा के लिए बन्धनकारक हो जाती है।[2]

योगदर्शन में संस्काररूप में कर्म

योगदर्शन मे वृत्ति-प्रवृत्ति और संस्कार के चक्र को समझाने के लिए कहा है— (प्रवृत्तियो की कारणभूत) वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं, जो क्लिष्ट भी होती हैं, अक्लिष्ट भी। जिन वृत्तियों का कारण क्लेश होता है और जो कर्माशय के लिए आधारभूत होती हैं, वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती हैं। आशय यह है कि ज्ञाता जब अर्थ (पदार्थ) को जान कर उसके प्रति राग या द्वेष करता है, तब ऐसा करके वह 'कर्माशय' को संचित करता है। इस प्रकार धर्म और अधर्म (पुण्य-पाप) को उत्पन्न करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट कहलाती हैं। तथा क्लिष्टजातीय या अक्लिष्टजातीय संस्कार वृत्तियों के

१. कर्मरहस्य से सारांश रूप में उद्धृत पृ. १६१-१६२

२. कर्म का स्वरूप (प. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख) से पृ. ६१

द्वारा ही होते हैं और वृत्तियाँ संस्कार से प्रादुर्भूत होती हैं। इस प्रकार वृत्ति और संस्कार का चक्र सर्वदा चलता रहता है।[1]

प्रवृत्ति के साथ ही कर्म-संस्कार और अनुभव-संस्कार

योगसूत्र की टीका में बताया गया है कि अनुभवजन्य संस्कार वासना है और प्रवृत्तिजन्य संस्कार कर्म है। वासना स्मृति को उत्पन्न करती है और कर्म (क्लेशयुक्त हो तो) जाति, आयु और भोगरूप विपाक को उत्पन्न करता है। आशय यह है कि जब-जब प्राणी प्रवृत्ति करता है, तब-तब कर्म-संस्कार चित्त में पड़ते हैं और प्रवृत्ति काल में हुए अनुभव के संस्कार भी उसी समय चित्त में पड़ते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति कर्म-संस्कार और अनुभव-संस्कारों को एक साथ ही चित्त में डालती है।[2]

क्लेशपूर्वक प्रवृत्ति ही चित्त में कर्मसंस्कार की कारण

योगदर्शन व्यासभाष्य में कहा गया है कि जीव जो प्रवृत्ति करता है, उसके संस्कार चित्त में पड़ते हैं। इसे ही कर्मसंस्कार, कर्माशय या केवल कर्म कहा जाता है।..... क्लेशपूर्वक प्रवृत्ति की जाती है। तभी कर्म-संस्कार चित्त में पड़ते हैं। यदि प्रवृत्ति क्लेशरहित हो तो कर्मसंस्कार चित्त में नहीं पड़ते। इस दृष्टि से 'क्लेश' ही कर्मवन्ध का कारण होता है। कर्म-संस्कार क्लेशमूलक ही होते हैं। पुण्यरूप और पापरूप, दोनों ही प्रकार के कर्म क्लेशमूलक होते हैं, इसलिए कर्म-संस्कार अर्थात् कर्म भी पुण्यरूप और पापरूप, यों दो प्रकार के होते हैं। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति स्वर्गादि के प्रति राग से प्रेरित होकर धर्मरूप प्रवृत्ति करता है, वह परिणामस्वरूप पुण्यरूप कर्म बांधता है तथा धनादि के प्रति राग से प्रेरित होकर कोई चोरी आदि दुष्कृत्य करता है, वह परिणामस्वरूप पापरूप कर्म बांधता है।[3]

---

१. (क) 'वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च।' —योगदर्शन १/५

(ख) 'क्लेश हेतुकाः कर्माशय-प्रचय-क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः।' —योगदर्शन व्यासभाष्य

(ग) "प्रतिपत्ता अर्थमवसाय तत्र सक्तो द्विष्टो वा कर्माशयमाचिनोतीति भवन्ति धर्माधर्मप्रसवभूमयो वृत्तयः क्लिष्टाः इति।" —तत्त्व वैशारदी

(घ) "तथाजातीयका क्लिष्टजातीया अक्लिष्टजातीया वा संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते। वृत्तिभिः संस्काराः संस्कारेभ्यश्च वृत्तय इत्येवं वृत्ति-संस्कारचक्रं निरंतरमावर्तते।" —भास्वती टीका

२. योगसूत्र ४/८ की व्याख्या

३. (क) योगदर्शन, व्यासभाष्य ४/७

(ख) वही, २/१२

बौद्ध परम्परा में प्रवृत्ति और लोभादि त्रिपुटीवश संसार-चक्र

बौद्ध परम्परा ने कर्म की अदृष्ट शक्ति पर गहन चिन्तन किया है। उसका मन्तव्य है कि लोभ (राग), द्वेष और मोह से कर्मों की उत्पत्ति होती है। तथा लोभ (राग), द्वेष और मोह से ही प्राणी मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ करता है और प्रवृत्तियों से वह पुनः राग, द्वेष और मोह उत्पन्न करता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और लोभादि त्रिपुटीवश संसारचक्र सतत चलता रहता है। इस चक्र का न आदि है, न अन्त है, वह अनादि है।[1]

बौद्ध परम्परा में कर्म के संस्काररूप में स्थानापन्न शब्द

बौद्धों ने कर्म को सूक्ष्म और मन-वचन-काय प्रवृत्ति से जनित माना है। प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप जो संस्कार (वासना) चित्त में पड़ते हैं, वे भी कर्म कहलाते हैं। अतः बौद्ध दृष्टि से कर्म से तात्पर्य प्रत्यक्ष प्रवृत्ति ही नहीं; किन्तु प्रत्यक्ष कर्मजन्य संस्कार भी है। बौद्ध परिभाषा में इसे वासना और अविज्ञप्ति कहा गया है। मानसिक क्रियाजन्य संस्काररूप कर्म को वहाँ वासना और वाचिक एवं कायिक क्रियाजन्य संस्काररूप कर्म को अविज्ञप्ति कहा है। 'अभिधम्मकोष' में इसे अविज्ञप्तिरूप और विसुद्धिमग्ग में इसे 'अरूपी' कहा है। सौत्रान्तिक मतानुसार कर्म का समावेश अरूप में है। वे अविज्ञप्ति को नहीं मानते। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक 'कर्म' के लिए 'वासना' शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रज्ञाकर का मत है कि जितने भी कार्य हैं, वे सभी वासनाजन्य हैं। शून्यवादी बौद्ध[2] अनादि अविद्या का अपरनाम ही 'वासना' बताते हैं।

कर्म के सन्दर्भ में; अविद्या-परम्परा से संसारचक्र की परम्परा

'मिलिन्दप्रश्न' में इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है........अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम और रूप, नाम और रूप के होने से षडायतन और षडायतनों के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से वेदना, वेदना के होने से तृष्णा, तृष्णा के

---

१. (क) प्रमाण वार्तिकालंकार पृ. ७५
   (ख) कर्मवाद : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (जिनवाणी विशेषांक) पृ.२१
२. (क) जिनवाणी कर्मसिद्धांत विशेषांक से पृ. २१-२२
   (ख) प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. ७५
   (ग) वही, पृ. ७५
   (घ) जैन दर्शन : स्वरूप और विश्लेषण, पृ. ४२४
   (ङ) विसुद्धिमग्गो १७/११०
   (च) अभिधम्म कोष १/९

होने से उपादान, उपादान के होने से भव, भव के होने से जन्म और जन्म के होने से जरा, मरण, रोग, शोक, रोना-पीटना, दुःख और बेचैनी-परेशानी होती है। इस प्रकार इन दुःखों के सिलसिले का प्रारम्भ कहाँ से हुआ? इसका कुछ पता नहीं।[1]

इस प्रकार वासनावश प्रवृत्ति-प्रतिप्रवृत्ति या क्रिया-प्रतिक्रिया के नियमानुसार कर्म संस्कारचक्र के रूप में उत्तरोत्तर अनवरत चलते रहते हैं।

क्लेशरूप कर्मसंस्कार संसार में पुर्नजन्म का कारण

इसी ग्रन्थ में जन्म-मरणादिरूप संसार परिभ्रमण का कारण क्लेश को बताते हुए एक स्थान पर संवाद है—

मिलिन्दनृप—"(मरने के बाद) कौन जन्म ग्रहण करते हैं, कौन नहीं?"

स्थविर— "जिनमें क्लेश (चित्त का मैल) लगा है, वे जन्म ग्रहण करते हैं और जो क्लेशरहित हो गए हैं, वे जन्म ग्रहण नहीं करते।"

नृप— "भंते! आप जन्म ग्रहण करेंगे या नहीं?"

स्थविर—"महाराज! यदि संसार के प्रति आसक्ति लगी रहेगी तो जन्म ग्रहण करूंगा और यदि आसक्ति छूट जाएगी तो नहीं करूंगा।"

इस संवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है, क्लेश शब्द ही यहाँ संस्काररूप 'कर्म' का स्थानापन्न है।[2]

मीमांसादर्शन में अपूर्व नामक वेदविहित कर्मजन्य संस्कार

मीमांसक चार प्रकार के कर्म मानते हैं— (१) काम्य (२) प्रतिषिद्ध, (३) नित्य और (४) नैमित्तिक। **काम्य कर्म**—कामना विशेष की सिद्धि के लिए है। **प्रतिषिद्धि कर्म**—अनर्थोत्पादक होने से निषिद्ध है। **नित्यकर्म**—फलाकांक्षा के बिना करणीय कर्म है, जैसे—संध्यावन्दनादि। और अवसर विशेष पर किया जाने वाला श्राद्ध आदि **नैमित्तिक कर्म** है।

मीमांसादर्शन में निष्काम भाव से किये जाने वाले वेद-विहित नित्य और नैमित्तिक कर्म दुःख और कर्मबन्ध के कारण नहीं माने जाते, दुःख और बन्धन से मुक्त होने के लिए काम्यकर्म और निषिद्धकर्म त्याज्य माने जाते है।[3]

---

१. मिलिन्दप्रश्न पृ. ६२

२. मिलिन्दप्रश्न, पृ. ३९

३. (क) जैनदृष्टिए कर्म की प्रस्तावना (नगीनदास जीवणलाल शाह) से पृ. २८
   (ख) आत्ममीमांसा (पं. दलसुख मालवणिया) पृ. १०८
   (ग) शाबरभाष्य २/१/५
   (घ) तत्रवार्तिक २/१/५, पृष्ठ ३९५
   (ङ) शास्त्रदीपिका पृ. ८०

यज्ञादि कर्म (अनुष्ठान) करते ही तुरंत फल की निष्पत्ति नहीं होती, कालान्तर में होती में है; क्योंकि वह अनुष्ठान (कर्म) क्रियारूप होने से क्षणिक होता है। ऐसी स्थिति में कर्म के अभाव में वह (कर्म) फलोत्पादक कैसे हो सकता है ?

इसके उत्तर में मीमांसकों ने कहा— "अपूर्व द्वारा कर्मफल निष्पन्न होता है। प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) को उत्पन्न करने की शक्ति या योग्यता होती है। कर्म से अपूर्व और अपूर्व से फल उत्पन्न होता है। अपूर्व ही एक प्रकार से कर्म-संस्कार है; जो कर्म और कर्मफल को जोड़ने वाला है। अपूर्व वेद द्वारा विहित कर्म से उत्पन्न होने वाली योग्यता या शक्ति है।

अन्य दार्शनिक जिसे संस्कार, योग्यता, सामर्थ्य या शक्ति कहते हैं, उसी को मीमांसक 'अपूर्व' कहते हैं। परन्तु वे यह अवश्य मानते हैं कि वेद-विहित कर्म से जिस शक्ति या संस्कार का प्रादुर्भाव होता है, उसी को अपूर्व कहना चाहिए, अन्य कर्मजन्य संस्कार को नहीं।

मीमांसकों का मन्तव्य है कि यज्ञादि कर्म और पुरुष, दोनों अपने आप में स्वर्गरूप फल देने में असमर्थ या अयोग्य होते हैं, किन्तु यज्ञादि कर्म के अनुष्ठान के पश्चात् एक ऐसी योग्यता पैदा हो जाती है, जिससे कर्त्ता को स्वर्गरूप फल मिलता है।[1]

सांख्यदर्शन में संस्कार के अर्थ में कर्म का ग्रहण

सांख्यदर्शन में कर्म के रूप मे संस्कार चक्र का सातत्य बताते हुए कहा गया है—धर्माधर्म संस्कार हैं। उसी संस्कारवश, अर्थात्—कर्मवश शरीरोत्पत्ति होती है।

सांख्यकारिका में कहा है—सम्यग्ज्ञान (तत्त्वज्ञान . विवेकख्याति) की प्राप्ति हो जाने पर संचित धर्म-अधर्म इत्यादि कर्मों का बीज भाव तो नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के अवशिष्ट संस्कारों (कर्मों) के सामर्थ्य से साधक वैसे ही शरीर धारण किये रहता है, जैसे दण्ड से चलाए गये चाक (चक्र) का सम्बन्ध कुम्हार से हट जाने पर (दण्डचालन बंद हो जाने पर) भी पूर्व-उत्पन्न वेग नामक संस्कारवश घूमता रहता है। अर्थात्—पुरुष

---

१. (क) कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते॥
—तंत्रवार्तिक २/१/१५ (कुमारिल भट्ट)

(ख) वही, पृ. ३९५, ३९६, ३९९

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी कर्म-संस्कारवश संसारचक्र में स्थित रहता है। क्योंकि फल दिये बिना संस्कार का क्षय नहीं होता।[1]

क्लेशरूपी जल ही कर्म-बीजांकुरोत्पत्ति का कारण

वाचस्पति मिश्र का कथन है— "क्लेशरूपी जल से सिंचित बुद्धिरूपी भूमि में कर्मरूपी बीज अंकुरों को उत्पन्न करते हैं। जिसका समस्त कर्मरूपी जल तत्त्वज्ञानरूपी ग्रीष्मकाल से सूख चुका है, उस शुष्क-ऊषर भूमि में कर्म-बीजों का अंकुर कैसे उत्पन्न हो सकता है?[2]

वैशेषिकदर्शन में कर्माशय (संस्कार) वश पुनः पुनः संसारबन्ध

प्रशस्तपादभाष्य में अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि को धर्म के और हिंसा, असत्य और स्तेय (चोरी) आदि को अधर्म के साधन बतलाते हुए कहा गया है— "अज्ञानी जीव को राग-द्वेषयुक्त वृत्ति से कुछ अधर्मसहित, किन्तु प्रकृष्टधर्ममूलक प्रवृत्ति करने से ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक में अपने-अपने आशय (कर्माशयसंस्कार) के अनुरूप इष्ट शरीर, मनोज्ञ इन्द्रियविषय और सुखादि का संयोग प्राप्त होता है। इसके विपरीत कुछ धर्मयुक्त, किन्तु प्रकृष्टअधर्ममूलक प्रवृत्तियों के करने से प्रेतयोनि, तिर्यग्योनि आदि स्थानों मे अनिष्ट शरीर, अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषय एवं दुःखादि का योग प्राप्त होता है। इसी प्रकार अधर्मसहित, किन्तु प्रवृत्तिमूलक धर्म से देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकों में (जन्म लेकर) बार-बार संसार-बन्ध को करता है।[3]

आचार्य प्रशस्तपाद ने चौबीस गुणों के अन्तर्गत माने गए 'अदृष्ट' गुण को संस्कार से पृथक् मानकर दो भागों में विभाजित किया है— धर्म और

---

१. (क) "सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकरण प्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवत् धृतशरीरः ॥" —सांख्यकारिका ६७

(ख) "संस्कारो नाम धर्माधर्मौ निमित्तं कृत्वा शरीरोत्पत्तिर्भवति।......... संस्कारवशात् कर्मवशादित्यर्थः।" —माठर वृत्ति

२. "क्लेशसलिलावसिक्तायां हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यंकुरं प्रसवते। तत्त्वज्ञान-निदाघ-निपीत-सकलक्लेशसलिलायामूषरायं कुतः कर्मबीजानामंकुर-प्रसवः ?
—सांख्यतत्त्व कौमुदी पृ. ३१५

३. "अविदुषो रागद्वेषवतः प्रवर्तकाद् धर्मात् प्रकृष्टात् स्वल्पाऽधर्मसहितात् ब्रह्मेन्द्र-प्रजापति-पितृ-मनुष्य-लोकेषु आशयानुरूपैरिष्ट-शरीरेन्द्रिय-विषयसुखादि-भिर्योगो भवति। तथा प्रकृष्टादधर्मात् स्वल्पधर्मसहितात् प्रेत-तिर्यग्योनि-स्थानेषु अनिष्ट-शरीरेन्द्रिय-विषय-दुःखादिभिर्योगो भवति। एवं प्रवृत्तिलक्षणाद् धर्माद् अधर्मसहिताद् देव-मनुष्य-तिर्यङ्-नारकेषु पुनः पुनः संसार-बन्धो भवति।"
—वैशेषिक दर्शन, प्रशस्तपादभाष्य पृ. २८०-२८१

अधर्म। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन ने धर्माधर्म का समावेश न्यायदर्शन की तरह 'संस्कार' में न करके 'अदृष्ट' में किया है; किन्तु है वह कर्माशय के अनुरूप ही।[1]

धर्म-अधर्म का स्वरूप और अदृष्ट का कार्य

इच्छा-द्वेष-पूर्वक की जाने वाली अच्छी (शुभ) क्रिया (प्रवृत्ति) धर्म कहलाती है और बुरी (अशुभ) क्रिया अधर्म कहलाती है। इसी प्रकार शुभ-अशुभ प्रवृत्तिजन्य अदृष्ट को भी क्रमशः धर्म-अधर्म कहा जाता है। धर्मरूप अदृष्ट आत्मा में सुख पैदा करता है, जबकि अधर्मरूप अदृष्ट दुःख; क्योंकि शुभक्रिया का फल सुख होता है और अशुभक्रिया का फल दुःख।[2]

वैशेषिकदर्शनमान्य अदृष्ट भी कर्मजन्य संस्काररूप है

चूकि क्रिया तो क्षणिक है, इसलिए वह कालान्तर में या जन्मान्तर में फल कैसे दे सकती है? इसी समस्या के हल के लिए वैशेषिकों ने "अदृष्ट" की कल्पना की, जो कि क्रिया और उसके फल के बीच में कड़ी के समान है। क्रिया को लेकर आत्मा मे अदृष्ट पैदा होता है, जो अपना सुखरूप या दुखरूप फल आत्मा में उत्पन्न करके पूर्णतया भोग लिये जाने के पश्चात् ही निवृत्त होता है।

आत्मा में अदृष्ट और उसके फल उत्पन्न होने में कारण

वस्तुतः क्रिया (प्रवृत्ति) नहीं इच्छा-द्वेष ही धर्माधर्मरूप अदृष्ट कारण माने गये हैं। प्रश्न होता है—क्रिया तो शरीर या मन करता है, ऐसी स्थिति में अदृष्ट और उसका फल आत्मा में कैसे उत्पन्न हो सकता है।

वैशेषिकों का उत्तर है कि धर्माधर्मरूप अदृष्ट की उत्पत्ति में हमने क्रिया को कारण न मानकर इच्छा-द्वेष को ही कारण माना है। अर्थात् जिस आत्मा में इच्छा-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उसी आत्मा में तज्जन्य अदृष्ट उत्पन्न होता है, और उसी आत्मा में वह अदृष्टजन्य सुख या दुःख उत्पन्न होता है।[3] इच्छा-द्वेषनिरपेक्ष क्रिया अदृष्टोत्पादक नहीं है।

संसकार और अदृष्ट में केवल नाम का अन्तर

नैयायिक और वैशेषिकों की मान्यता प्रायः समान है। अन्तर केवल यह है कि नैयायिक जहाँ धर्माधर्म का उल्लेख संस्कार शब्द से करते हैं, वहाँ

---

१. प्रशस्तपादभाष्य

२. (क) जैनदृष्टिए कर्म (प्रस्तावना) पृ. २४-२५

(ख) प्रशस्तपाद भाष्य, गुणसाधर्म्य-प्रकरण

३. देखें— प्रशस्तपादभाष्य गुण-साधर्म्य प्रकरण

वैशेषिक उसका उल्लेख अदृष्ट शब्द से करते हैं। यह केवल नाम भेद समझना चाहिए।[1] वैसे दोनों ही दर्शन दोष से संस्कार, संस्कार से जन्म, जन्म से दोष और फिर दोष से संस्कार एवं जन्म; यह परम्परा बीज और अंकुर के समान अनादि मानते हैं।[2]

न्यायदर्शन द्वारा मान्य धर्माधर्मरूप संस्कार का स्वरूप

न्यायसूत्र एवं उसके वात्स्यायनभाष्य में नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह इन तीनों को 'दोष' माना है। इन तीन दोषों से प्रेरणा प्राप्त कर जीवों की मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति होती है। इन प्रवृत्तियों से धर्म-अधर्म की उत्पत्ति होती है। धर्माधर्म का ही दूसरा नाम संस्कार है। न्यायमंजरी में स्पष्ट कहा है कि उस कर्मजन्य संस्कार को ही नैयायिक धर्माधर्म शब्दों से पुकारते हैं।[3]

धर्माधर्मरूप आत्म-संस्कार : कर्मफलभोग-पर्यन्त स्थायी

इसके अतिरिक्त न्यायमंजरीकार ने यह भी स्वीकार किया है कि "देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्चों में जो शरीरोत्पत्ति देखी जाती है, प्रत्येक पदार्थ को जानने के लिए जो बुद्धि उत्पन्न होती है और आत्मा के साथ मन का जो संसर्ग होता है, वह सब प्रवृत्ति के परिणाम का वैभव है। सभी प्रवृत्तियाँ क्रियात्मक है, अतः क्षणिक है, फिर भी उनसे उत्पन्न होने वाला धर्माधर्म-पदवाच्य आत्म-संस्कार कर्मफल के भोगने तक स्थिर रहता है।[4]

विभिन्न दर्शनों में कर्म संस्काररूप सिद्ध होता है

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्यों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि 'कर्म' नाम क्रिया या प्रवृत्ति का है तथा उस प्रवृत्ति के मूल में राग-द्वेष रहते हैं। यद्यपि वह क्रिया, कर्म या प्रवृत्ति क्षणिक एवं नाशवान होती है, फिर भी उसका संस्कार फलभोग-पर्यन्त स्थायी रहता है। संस्कार से प्रवृत्ति

---

१. आत्ममीमांसा पृ. १०१

२. प्रशस्तपादभाष्य पृ. ४७, ६३७, ६४३

३. (क) न्यायभाष्य १/१/२

(ख) न्यायसूत्र १/१/१७, ४/१/३-९

(ग) एवं च क्षणभंगित्वात् संस्कारद्वारिकः स्थितः।
स कर्मजन्य संस्कारो धर्माधर्मगिरोच्यते॥" —न्यायमंजरी पृ. ४७२

४. "यो ह्ययं देव-मनुष्य-तिर्यग्भूमिषु शरीरसर्गः, यश्च प्रतिविषयं बुद्धि सर्गः, यश्चात्मना सह मनसा संसर्गः; स सर्वः प्रवृत्तेरेव परिणाम-विभवः। प्रवृत्तेश्च सर्वस्याः क्रियात्वात् क्षणिकत्वेऽपि तदुपहितो धर्माधर्म-शब्द-वाच्य आत्म-संस्कारः कर्म-फलोपभोग-पर्यन्तस्थितिरस्त्येव। — न्यायमंजरी पृ. ७०

और प्रवृत्ति से संस्कार की परम्परा नियमबद्धरूप से या क्रिया-प्रतिक्रिया रूप में, अनादि काल से चली आ रही है। यही जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधिरूप संसार है। इस दृष्टि से कर्म संस्काररूप सिद्ध होता है। किन्तु जैनदर्शन में कर्म का स्वरूप संस्काररूप से अतिरिक्त भी है।[1]

जैनदर्शन के अनुसार कर्म : संस्काररूप भी और पुद्गलरूप भी

जैनदर्शन 'कर्म' को संस्काररूप भी मानता है। इसका विवेचन हम 'कर्मशब्द के विभिन्न अर्थ और रूप' नामक प्रकरण में भी कर आए हैं। उसका निष्कर्ष यही है कि जैनदर्शन में कर्म केवल संस्कार मात्र ही नहीं है, अपितु पुद्गलरूप भी है। यहाँ कर्म को एक वस्तुभूत पदार्थ भी माना है।

वैशेषिक आदि दर्शनों और जैनदर्शन में कर्म के लक्षण में अन्तर

वैशेषिक आदि दर्शनों और जैनदर्शन में कर्म-सामान्य के लक्षण में अन्तर इतना ही है कि वे परिणमनरूप भावात्मक पर्याय को कर्म न कहकर केवल परिस्पन्दनरूप क्रियात्मक पर्याय को ही कर्म कहते हैं, जबकि जैनदर्शन दोनों प्रकार की पर्यायों को 'कर्म' कहता है।[2]

उभयविध कर्म की व्याख्या

जैनदर्शन का मन्तव्य यह है कि जैसे—कर्मकारक या उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि में कर्मशब्द रागादि परिणामयुक्त परिस्पन्दनरूप क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है, वैसे ही जीव के रागादि परिणामों के कारण कार्मण-पुद्गल कर्मत्व को प्राप्त होते हैं। इसलिए परिणमनरूप भावात्मक क्रिया को भी कर्म कहना चाहिए। इसका कुछ स्पष्टीकरण हम 'कर्मशब्द के विभिन्न अर्थ और रूप' नामक प्रकरण में कर आए हैं।

प्रवचनसार टीका में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं—"आत्मा के द्वारा प्राप्य होने के क्रिया को कर्म कहते हैं और उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त 'पुद्गल' (कार्मण-पुद्गल) भी 'कर्म' कहलाता है"।[3]

इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा में कम्पनरूप क्रिया होती है, इस क्रिया के निमित्त से पुद्गल के विशिष्ट परमाणुओं में जो परिणमन होता है उसे भी कर्म कहते हैं।

---

१. देखें, जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का 'कर्म का स्वरूप' लेख पृ. ६१

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. २, पृ. २६

३. "क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात् कर्म, तन्निमित्त-प्राप्त-परिणामः पुद्गलोऽपि कर्म।"
—प्रवचनसार टीका (अमृतचन्द्र सूरि)

पुद्गल का कर्मरूप में परिणमन : कैसे ?

जीव के रागादि-परिणामों के निमित्त से पुद्गल का कर्मरूप में परिणमन कैसे हो जाता है ? इसे समझाने के लिए केशवसिंह ने क्रियाकोष में कहा है—कोई व्यक्ति सूर्य के सम्मुख दर्पण रखकर उस दर्पण के आगे रूई रख देता है तो सूर्य और दर्पण का तेज मिलकर अग्नि प्रकट हो जाती है, वह रूई उससे जल जाती है। न तो अकेली रूई में ही अग्नि है, न ही दर्पण में कहीं अग्नि है। सूर्य और दर्पण के साथ रूई का संयोग मिलने से निःसन्देह अग्नि पैदा हो जाती है। इसी प्रकार जीव के साथ उसके रागादि परिणामों के संयोग से आत्मा में स्थित पुद्गलों का कर्मरूप में परिणमन हो जाता है।[१]

कर्म केवल संस्काररूप ही नहीं, पुद्गलरूप भी है

इसलिए कर्म केवल संस्काररूप ही न होकर, पुद्गलरूप भी है; एक वस्तुभूत पदार्थ है; राग-द्वेष परिणामयुक्त जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ उसी तरह घुलमिल जाता है, जैसे दूध में पानी। वह पदार्थ है तो भौतिक—पौद्गलिक, किन्तु उसका कर्म नाम[२] इसलिए रूढ़ हो गया है कि जीव के कर्म अर्थात्—क्रिया के कारण से आकृष्ट होकर जीव के साथ बंध जाता है, चिपक जाता है। आशय यह है कि जहाँ अन्यदर्शन राग-द्वेष-मोहादि से आविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया को कर्म कहते हैं और उस कर्म के क्षणिक होने पर भी अदृष्ट, धर्माधर्म, अपूर्व, कर्माशय, क्लेश आदि से माध्यम से जनित संस्कार को स्थायी मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन का मन्तव्य है कि कर्म का इस संस्काररूप के सिवाय भी एक और रूप है—पुद्गलरूप। रागद्वेषाविष्ट जीव की प्रत्येक क्रिया के साथ आत्मा में एक प्रकार का द्रव्य—पुद्गल आता है, जो उसके राग-द्वेष परिणामों का निमित्त पाकर आत्मा के साथ बध जाता है। कालान्तर में यही (कर्म) पुद्गल-द्रव्य जीव को शुभाशुभ फल देता है।[३]

---

१. सूरज-सम्मुख दर्पण धरै, रूई ताके आगे करै।
रवि-दर्पण को तेज मिलाय, अगन उपज रूई बलि जाय॥५४॥
नहिं अगनी इकली रूई माहि, दर्पणमध्य कहूँ है नाहि।
दुहुयनि को सयोग मिलाय, उपजै अगनि न संशै थाय॥५५॥
—क्रियाकोष (केशवसिह)

२. "क्रिया नाम आत्मना प्राप्यत्वात् कर्म, तन्निमित्त-प्राप्त-परिणामपुद्गलोऽपि कर्म।"
—प्रवचनसार टीका गा. २५

३. देखें—जिनवाणी कर्म-विशेषांक में पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री का 'कर्म का स्वरूप' लेख पृ. ६४

जीव के रागादि परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त मात्र

इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय' में कहा गया है; जैसे—मेघ के अवलम्बन से सूर्य की किरणों का इन्द्र-धनुषादिरूप परिणमन हो जाता है, इसी प्रकार स्वयं अपने चैतन्यमय (वैभाविक) भावों से परिणमनशील जीव के रागादिरूप परिणमन में पौद्गलिक कर्म निमित्त मात्र हो जाता है। वस्तुतः जीव के रागादि-परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गलों का कर्मरूप में परिणमन स्वतः हो जाता है।[1]

जीव और पुद्गल के परिणमन में दोनों एक-दूसरे के लिए निमित्त

इसी तथ्य का तात्त्विक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए समयसार में कहा गया है— "तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाए तो जीव न तो कर्म में गुण उत्पन्न करता है और न कर्म ही जीव में कोई गुण उत्पन्न करता है, किन्तु जीव और पुद्गल का एक-दूसरे के निमित्त से विशिष्ट परिणमन हुआ करता है।"

अतः जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल (कर्मगर्वणा के पुद्गल) का कर्मरूप में परिणमन होता है। इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से जीव का भी परिणमन होता है।[2]

पुद्गलों का कर्मभाव में परिणमन स्वतः

'प्रवचनसार' में भी इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है— "जीव की रागादिरूप परिणति-विशेष को प्राप्त कर कर्मरूप परिणमन शक्ति के योग्य पुद्गलस्कन्ध स्वयमेव कर्मभाव से परिणत होते हैं। उनका कर्मत्व-परिणमन जीव के द्वारा नहीं किया गया है।

चूंकि कर्म के कारण मलिनता को प्राप्त आत्मा कर्म-संयुक्त परिणाम को

---

१. (क) परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः, स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्त भावं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥
—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय १३ (टीका)

(ख) जीवकृतं परिणामं निमित्त मात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन॥ — पुरुषार्थ सिद्धयुपाय १२

२. (क) ण वि कुव्वई कम्मगुणो जीवो, कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्ण णिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि॥ —समयसार ८१

(ख) जीवपरिणाम-हेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गल-कम्म-णिमित्तं तहेव जीवोवि परिणई॥ —समयसार ८०

प्राप्त करता है। इससे फिर कर्म श्लिष्ट हो (चिपक) जाते हैं। अतः परिणाम को भी कर्म कहते हैं।[1]

कर्म-पुद्गलों के कर्मरूप में परिणमन की प्रक्रिया

कर्म-पुद्गलों के कर्मरूप में परिणमन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में जैनदर्शन का कथन है कि जैनदर्शन में लोक में ६ द्रव्य माने गये हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल। हम अपने चारों ओर चर्म नेत्रों से जो कुछ देखते हैं; वह सब पुद्गल-द्रव्य है। यह पुद्गल द्रव्य २३ प्रकार की वर्गणाओं में विभक्त है। उन वर्गणाओं में एक कार्मण-वर्गणा भी है, जो समस्त लोक में व्याप्त है। यह कार्मण-वर्गणा ही रागादि-ग्रस्त जीवों के कर्मों का निमित्त पाकर कर्मरूप में परिणत हो जाती है।[2] प्रवचन सार में इसी तथ्य को उजागर किया गया है—"जब राग-द्वेष से युक्त आत्मा शुभ-अशुभ कार्यों में प्रवृत्त—परिणत होती है, तब उसमें ज्ञानावरणीयादि-रूप से कर्म-रज प्रविष्ट होती हैं।[3]

परिणामों से कर्म और कर्म से परिणाम का चक्र

निष्कर्ष यह है कि जो कर्म-बद्ध जीव जन्म-मरणादिरूप संसारचक्र मे पड़ा है, उसके रागद्वेषादिरूप परिणाम अवश्य होते हैं। परिणामों से नये कर्म बंधते है। कर्मों से गतियों मे जन्म, जन्म से शरीर और इन्द्रिय-प्राप्ति, इन्द्रियों से विषयग्रहण तथा विषयग्रहण से राग-द्वेषरूप परिणाम होते हैं। इस प्रकार संसारचक्र में पड़े हुए जीव के परिणामों से कर्म और कर्म से परिणाम होते रहते है।[4]

जीव-पुद्गल कर्मचक्र

पहले क्रिया-प्रतिक्रिया के नियमानुसार कर्मबद्ध जीव (आत्मा) के रागादि-परिणामजन्य संस्कार के रूप में कर्म रहते हैं, फिर आत्मा में स्थित प्राचीन कर्मों के साथ ही नये कर्म बन्धन को प्राप्त होते रहते है। इस प्रकार

---

१. (क) कम्मत्तण-पाओग्गा खंधा, जीवस्स परिणई पप्पा।
गच्छंति कम्मभाव, ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥ —प्रवचनसार २/७७
(ख) आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
ततो सिलसादिकम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥ — प्रवचनसार २/२९

२. पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री) से पृ. ९

३. परिणमदि जदा अप्पा, सुहम्मि असुहम्मि राग-दोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं, णाणावरणादि भावेहिं ॥ —प्रवचनसार गा. ९४

४. पंचास्तिकाय गा. १२८, १२९, १३० का भावार्थरूप सारांश

परम्परा से कदाचित् कर्मबद्ध मूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिक कर्म-द्रव्य का सम्बन्ध है। संसारी जीव और कर्म के इस अनादि-सम्बन्ध को **'जीव-पुद्गल-कर्मचक्र'** के नाम से अभिहित किया गया है।

पुद्गलद्रव्य तथा तन्निमित्तक भाव भी कर्मरूप

अभिप्राय यह है कि अन्य दर्शन जहाँ जीव की प्रवृत्ति (क्रिया) और तज्जन्य संस्कार को ही कर्म कहकर रुक गये, वहाँ जैनदर्शन कर्मबद्ध संसारी जीव (आत्मा) को कथंचित् मूर्त मानकर पुद्गल द्रव्य को और उसके निमित्त से होने वाले राग-द्वेषरूप भावों को भी कर्म कहता है।[१]

पुद्गलरूप कर्म का निरूपण जैनदर्शन में ही

इतने विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्म कारक जगत् प्रसिद्ध है। तथा जीव मन-वचन-काय द्वारा कुछ न कुछ करता है, यह सभी उसकी क्रिया या कर्म है, इसे जीवकर्म या भावकर्म कहते हैं। ये दो प्रकार के कर्म तो सबको स्वीकार हैं। परन्तु इस प्रकार के भावकर्म से प्रभावित (आकृष्ट) होकर कुछ सूक्ष्म जड़ (कर्म) पुद्गल-स्कन्ध जीव के अनेक प्रदेशों में प्रविष्ट हो जाते हैं, उसके साथ बँध जाते हैं। यह बात केवल जैनदर्शन ही बताता है। ये सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध अजीवकर्म या द्रव्यकर्म कहलाते हैं। ये रूप-रसादिधारक मूर्तिक होते हैं। जीव जैसे-जैसे कर्म करता है, उसके स्वभाव को लेकर ये द्रव्यकर्म उसके साथ बधते हैं। अतः सिद्ध है कि कर्म पुद्गलरूप भी हैं, जिनके प्रभाव से जीव के ज्ञानादि गुण तिरोहित हो जाते हैं। सूक्ष्म होने के कारण ये चर्मचक्षुओं से दृष्ट नहीं हैं।[२]

■

१. पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना पृ. ११ से सार-संक्षेप

२. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भा. २ पृ. २५

४

कर्म का परतंत्रीकारक स्वरूप

कर्म-पुद्गल ही जीव को बन्धन में जकड़ कर परतंत्र बनाते हैं

जैनदर्शन में जीवन और जगत् के संचालन से सम्बद्ध छह द्रव्य माने जाते हैं। वे इस प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। इन सभी द्रव्यों का अपना-अपना पृथक्-पृथक् स्वभाव है। इनका अपना स्वभाव कभी निर्मूल नहीं होता। विभाव (स्व-भाव से विपरीत भाव) स्वभाव को विकृत कर सकता है, आवृत कर सकता हैं, उसके स्वभाव के प्रकटीकरण में बाधक बन सकता है तथा स्वभाव को दबा सकता है, किन्तु वह किसी द्रव्य के स्वभाव को निरस्त नहीं कर सकता, न ही सर्वथा लुप्त या विनष्ट (शून्य) कर सकता है।

पूर्वोक्त छह द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये चार द्रव्य तो आत्मा (जीव) से स्वभावतः अलिप्त और तटस्थ हैं। ये जीव की गति, स्थिति, अवकाश और समयादि व्यवहार में सहायक या तटस्थ निमित्त बन सकते हैं, किन्तु जीव (आत्मा) को अपनी गिरफ्त में लेने, जकड़ने, बाधने और परतंत्र बनाने का इनका स्वभाव या सामर्थ्य नहीं है।

बंधते हैं तो दो ही द्रव्य, परस्पर श्लिष्ट होते हैं, दोनों अपने-अपने स्वभाव का प्रभाव एक दूसरे पर डालते हैं। दोनो द्रव्य (जीव और पुद्गल) एक दूसरे पर हावी होने का प्रयत्न करते हैं। इनमें से जो प्रबल होता है, वह अपने स्वभाव से दूसरे को विकृत कर देता है, अथवा दूसरे को दबा देता है, अधीन बना लेता है।

इसके विपरीत यो भी कहा जा सकता है कि जीव और पुद्गल दोनों में चैतन्यशील-ज्ञानवान् तो जीव ही है, पुद्गल तो जड़ और ज्ञानशून्य है। इसलिए जीव (आत्मा) जव अपने स्वभाव को भूलकर पर-भाव या विभाव में रमण करने लग जाता है, पर-भाव तथा विभाव को ही अपना तथा अपना स्वभाव समझने लगता है; पर-भाव या विभाव में ही मन-वचन-

काया से प्रवृत्त होने लगता है, तब वे पर-द्रव्य यानी पुद्गल विशेषतः कर्म-पुद्गल उस पर हावी हो जाते हैं, उसे जकड़ लेते हैं, बांध लेते हैं, या उसके साथ चिपक जाते हैं, उसको (जीव को) परतंत्र और निजाधीन बना लेते हैं, उसे विकृत कर देते हैं।

कर्म : जीव को परतंत्र बनाने वाला अहितकर शत्रु

जो किसी को परतंत्र बनाता है, अपने शिकंजे में कसकर उसे मनचाहा नचाता है, परवश कर देता है, वह व्यावहारिक जगत् में एक प्रकार से शत्रु या विरोधी कहलाता है। विरोधी या शत्रु सदैव अपने प्रतिपक्षी का अहित करता है। यही कारण है कि 'पद्मनन्दि-पंचविंशतिका' में कहा गया है—"धर्म, अधर्म, आकाश और काल, ये चार द्रव्य मेरा अहित नहीं करते। ये चारों गमनादि कार्यों में मेरी सहायता करते हैं। एक पुद्गल द्रव्य ही कर्म और नोकर्मरूप होकर मेरे समीप रहता है, यह बंधन (बन्ध) में जकड़ने और परतन्त्र बनाने वाला मेरा शत्रु है। अतः मैं अब उस कर्मरूपी शत्रु को भेदविज्ञानरूपी तलवार से विनष्ट करता हूँ।"[१] समयसार (आत्मख्याति) में कहा गया है—जीव के लिए कर्मसंयोग ऐसा ही है, जैसा स्फटिक के लिए तमालपत्र।[२]

अरिहन्त तीर्थंकर : कर्मरूपी शत्रुओं के हारक

अरिहन्तों=तीर्थंकरों के लिए आगमों तथा उनकी व्याख्याओं एवं ग्रन्थो में यत्र-तत्र कर्मरूपी अरि=शत्रुओ को चूर-चूर करने वाले, कर्मशत्रु का ध्वस करने वाले कहा गया है।[३]

वस्तुतः कर्मों को 'वधविहाणे' (वंधविधान) मे आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द एव शक्तिरूपी धन को लूटने वाले लुटेरे कहा गया है।[४]

---

१. "धर्माधर्म-नभांसि काल इति मे नैवाहित कुर्वते,
चत्वारोऽपि सहायतामुपगतास्तिष्ठन्ति गत्यादिषु।
एकः पुद्गल एव सन्निधिगतो, नोकर्म-कर्माकृतिः,
वैरी बन्धकृदेष सम्प्रति मया भेदासिना खण्डितः॥"

—पद्मनन्दि पंचविंशतिका २५, आलोचनाधिकार

२. समयसार (आत्मख्याति) ८९

३. (क) कर्मारीन्=रिपून् हन्ति —नश्यतीति अरिहन्।
(ख) भेत्तारं कर्मभूभृताम् —सर्वार्थसिद्धि टीका

४. "इह कर्मन्नुण्टाकर्लुण्टितज्ञानाद्यात्मधना ....कर्म प्रकृतीना गति-मनवगाहमानाः..................."

—बधविहाणे उत्तरपयडिबधो (पूर्वांश) टीका पृ. ९ (सशोधक-श्री विजयप्रेमसूरिजी)

कर्मबन्ध का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ : परतंत्रता में डालने वाला

इसी प्रकार कर्मबन्ध का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ करते हुए 'बंध विहाण' में कहा गया है-"जो बांध देता है, अर्थात्—परतंत्रता-अस्वतंत्रता में डाल देता है वह (कर्म—) बंध है।[१]

ज्ञानीजन कर्मविपाक की परतंत्रता को भली-भांति जानते हैं

कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने कर्माधीनता अथवा कर्म-विपाक-परवशता को भली-भांति जान लिया। इसीलिए वे कहते हैं—"दुःख तो तीर्थंकरों, ज्ञानीपुरुषों और निर्ग्रन्थ मुनियों पर भी आते हैं; परन्तु वे यह जानकर कि सारा संसार कर्म-विपाक के अधीन है; न तो दुःख पाकर दीन बनते हैं, और न ही सुख को पाकर विस्मित होते हैं।"[२]

कर्म का लक्षण : जो जीव को परतंत्र करता है

जब मनुष्य अपने और संसार के अन्यान्य जीवों के जीवन के सभी पक्षों, मोड़ों, या पहलुओं पर दृष्टिपात करता है और जब उसे जिस भाषा और उदाहरणों, कथानकों या ग्रन्थों के द्वारा समझाया कि उसका व्यक्तित्व तथा पूरा वर्तमान अतीत कृतकर्मों से बंधा हुआ है तब यह धारणा सहज ही बन जाती है कि कर्म प्राणियों को बंधन में डालता है, परतंत्र बना देता है। इसीलिए कर्म का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ 'आप्तपरीक्षा' में इसी प्रकार किया गया है—"जो जीव को परतंत्र करते हैं, अथवा जीव जिनके द्वारा परतंत्र किये जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं।"[३]

संसारी जीव : हीनस्थान को अपनाने के कारण कर्म-परतंत्र

'आप्त परीक्षा' मे कहा गया है कि संसारी जीव कर्मों से बँधा-जकड़ा हुआ है, इसलिए पराधीन है; परतंत्र है। जैसे—हस्तिशाला में स्तम्भ से बंधा हुआ हाथी परतंत्र रहता है, इसी प्रकार संसारी जीव भी कर्म से बँधा हुआ होने के कारण परतंत्र है। संसारी जीव की कर्म-परतंत्रता सिद्ध करने हेतु आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं—"यह संसारी जीव पराधीन (कर्म-परतंत्र) है, क्योंकि इसने हीनस्थान को ग्रहण किया है; जैसे—वेश्या का घर हीन (निन्द्य) स्थान है। यदि कामवासनावश श्रोत्रिय उच्च ब्राह्मण वेश्या के घर

---

१. बध्यते = अस्वातंत्र्यमापादयति येनाऽऽत्मा स बन्धः।

—बंधविहाणे मूल पयडिबंधो पृ. १२

२. "दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य च विस्मितः।
मुनिः कर्मविपाकस्य जानन् परवशं जगत् ॥"

३. जीवं परतंत्रीकुर्वन्ति, स परतंत्रीक्रियते वा यस्तानि कर्माणि।

—आप्तपरीक्षा टी. ११३/२९६

को अंगीकार करता है, तो समझा जाता है कि वह कामोद्रेकवश हीनस्थान अंगीकार करके अत्यन्त पराधीन हो चुका है, इसी प्रकार संसारी जीव भी काम-क्रोधादि कषायवश हीनस्थान को अंगीकार करके कर्म-परतंत्र (पराधीन) हो जाता है।"

संसारी जीव का शरीर ही हीनस्थान

हीनस्थान क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि "संसारी जीव का शरीर ही हीनस्थान है, क्योंकि यह शरीर ही दुःख का (कर्मोत्पत्ति का) कारण है। जैसे—कारागर दुःखप्रद होने के कारण हीनस्थान माना जाता है, उसी प्रकार कर्मों के कारण प्राप्त यह शरीर भी हीनस्थान है।"[1]

आत्मा शरीर से सम्बद्ध होने से पुनः पुनः कर्माधीन

आत्मा यदि स्वतंत्र होता, कर्माधीन न होता तो वह मूत्र-पुरीष-भण्डाररूप इस अतीव घृणित अपावन शरीर को अपना आवास-स्थल न बनाता। जब तक आत्मा कर्माधीन होता है तब तक उसे कर्म-परतंत्र (कर्म के वशीभूत) होकर शरीर में रहना पड़ता है। वह फिर मोहकर्मवश इस पर आसक्त होता है, शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव 'पर'-पदार्थों के प्रति राग-द्वेषाविष्ट या कषायाविष्ट होता है, अतः पुनः पुनः कर्मबन्धन से बद्ध होकर परतंत्र बनता जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मों के द्वारा जीव बार-बार परतंत्र और विवश कर दिया जाता है।[2] तत्त्वार्थ राजवार्तिक में बताया गया है, कि वह (कर्म) आत्मा को परतन्त्र करने में मूल कारण है।[3] आप्त परीक्षा में भी कहा गया है—'कर्म जीव को परतंत्र करने वाले हैं।'[4]

शरीर को लेकर ही आत्मा कर्म-परतन्त्र होती है : क्यों और कैसे?

निष्कर्ष यह है कि जीव की कर्म-परतंत्रता का आदि-बिन्दु शरीर है। आत्मा के साथ शरीर का संयोग होने से ही कर्म आत्मा को प्रभावित कर लेते हैं। जहाँ शरीर है, वहाँ वीतराग न होने तक राग-द्वेष का परिणाम आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। राग-द्वेष की धारा सतत प्रवाहित होती रहने से आत्मा में कर्मयोग्य पुद्‌गल आकर्षित होते हैं, कर्म-परमाणु जुड़ते

---

१. (क) आप्त परीक्षा-पृ. १
   (ख) महाबन्धो भा. १ की प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर शास्त्री) पृ. ५४-५५
२. महाबन्धो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) पृ. ५५
३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५/२४/९/४८८/२१ "तदात्मनोऽस्वतंत्रीकरणे मूल कारणम्।"
४. आप्त परीक्षा ११४-११५/२४६-२४७

है। आत्मा के साथ शरीर है, वहाँ तक मानव एक या दूसरे प्रकार से प्रभावित और परतन्त्र रहता है। यह पौद्गलिक शरीर ही संसारस्थ प्राणी की परतंत्रता का द्योतक है। इस परतंत्रता का मूल कारण कर्म है।

अतः जब तक शरीर है, तब तक आत्मा स्वतंत्र नही। कर्म-परतंत्र रहता है। इसी कारण कर्म का स्वभाव जीव (आत्मा) को परतंत्र करने का बताया गया है। शरीर को आहार की आवश्यकता होती है, आत्मा को आहार की कदापि आवश्यकता नहीं होती। वह अपने आप में अनाहारी है। उसे कभी क्षुधा नहीं लगती। भूख-प्यास लगती है शरीर को—पुद्गल को। आत्मा शरीर से बंधी हुई होने से उसे शरीर की भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, हानि-वृद्धि आदि की चिन्ता करनी पड़ती है। साथ ही शरीर का अंग मन प्रिय-अप्रिय, अच्छा-बुरा, लाभ-अलाभ, यश-अपयश, सम्मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा आदि द्वन्दो में राग-द्वेष, मोह आदि कषायाविष्ट होकर भावकर्म के अधीन हो जाता है। शरीर की सुरक्षा तथा जीवनयात्रा के लिए उसे कुछ न कुछ आजीविका करनी पड़ती है। रोटी-रोजी के लिए, पेट की आग बुझाने के लिए मनुष्य सब कुछ करता है। शरीर है, इसीलिए तो यह सारा चक्र चलता है, साथ में राग-द्वेष का भी चक्र चलता है। अतः आहार की वृत्ति, कामवासना की वृत्ति, सुरक्षा की वृत्ति, सम्मानादि की वृत्ति आदि सब शरीर को लेकर है। मनुष्य शरीर की कामवृत्ति को लेकर सन्तानोत्पत्ति, पालन-पोषण, परिवार आदि के प्रति ममत्व तथा धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद आदि अर्जित करके अहंता-ममतापूर्वक उनकी सुरक्षा के लिए प्रयत्न करता है। ये सब परतंत्रताएँ शरीर को लेकर ही तो हैं। इन समस्त, परतत्रताओ के कारण रागद्वेषादि परिणामरूप भावकर्म और भावकर्म के कारण द्रव्यकर्म का चक्र चलता रहता है। इस अपेक्षा से आत्मा को कर्म का पारतत्र्य स्वीकारना पड़ता है।[१]

जीव की कब स्वतंत्रता और कब कर्म-परतंत्रता ?

वस्तुतः देखा जाए तो शुद्ध चैतन्य के कारण जीव में स्वतत्रता की धारा सदैव प्रवाहित रहती है, किन्तु जब वह चैतन्य राग-द्वेषादियुक्त होता है तो परतंत्रता की धारा भी साथ-साथ प्रवाहित होती रहती है। इसीलिए छद्मस्थ जीव (आत्मा) मे इन दोनो ही पक्षों—स्वतंत्रता और परतंत्रता का संगम बना रहता है। उसे किसी एक पक्ष मे बांटा नहीं जा सकता। शरीर, कर्म और रागद्वेष से बधा होने के कारण जीव स्वतंत्रता की अपेक्षा परतंत्रता

१. कर्मवाद से साराश पृ. ८८-८९

का अधिक अनुभव करता है। इस प्रकार कर्म-परतंत्रता के कारण उसकी निखालिस स्वतंत्रता टिक नहीं पाती। स्वतंत्रता चलती है, पर परतंत्रता आवृत कर देती है, परन्तु पूर्णतया नहीं।[१]

कर्म जीव को क्यों परतंत्र बना डालते हैं ?

कर्म जीव (आत्मा) को परतंत्र क्यों बना डालते हैं? इस विषय में गहराई से विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि आत्मा का स्व-भाव, स्व-गुण या स्व-रूप है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख (आनन्द) और शक्ति (वीर्य)। आत्मा (जीव) जब ज्ञानादि स्व-भाव या स्वरूप को छोड़कर, विस्मृत करके राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, माया-कपट, विषयासक्ति आदि पर-भावों या विभावों में रमण करने लगता है; तब उन वैभाविक परिणामों से कर्म-पुद्गल आकृष्ट होकर बँध जाते हैं। जैनाचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में—"जब आत्मा अपने स्व-भाव को छोड़कर रागद्वेषादि परिणामों (विभावों) से युक्त होकर शुभ या अशुभ कार्यों (योगों) में प्रवृत्त होती है तब कर्मरूपी रज ज्ञानावरणीयादिरूप से उसमें प्रविष्ट हो जाती है"। ऐसी स्थिति में आत्मा निजस्वरूप-स्वभाव को भूल जाती है, विभावों के कारण विमूढ़ होकर कर्माधीन बन जाती है। संक्षेप में कहें तो—आत्मविस्मृति से या स्वभाव की विस्मृति से कर्म आत्मा को परतंत्र बना देता है। यह परतंत्रता तब अधिकाधिक जटिल होती है, जब उसे स्व-रूप या स्वभाव का भान या दृढ़निश्चय नहीं होता; तथा वह कर्म के पाश में जकड़ने वाले मिथ्यात्वादि मूल कारणों को छोड़ने का पराक्रम नहीं करता।

कर्मचक्र आत्मा को कैसे पराधीन बनाते हैं ?

आत्मा जब तक जन्म-मरणादि चक्ररूप संसार में स्थित है, और जब तक वह आत्मा और आत्म-स्वभाव को भूला हुआ है, उसके ज्ञान, दर्शन, आनन्द (सुख) और शक्ति रूप निजगुणों पर कर्मों का आवरण आया हुआ रहता है। ऐसे संसारी आत्मा की कर्माधीनता अर्थात्—कर्म-परतंत्र अवस्था उपन्यास के कथानक की घटना के तुल्य है। एक घटना अपनी पूर्व घटना के परिणामस्वरूप घटित होती है और परिणामस्वरूप घटित यह घटना भी आगामी घटना के लिए आधार बनती है। कर्मचक्र भी इसी प्रकार गतिशील रहकर आत्मा को अपने अधीन (परतंत्र) बनाये रखता है। बीज से वृक्ष और वृक्ष से परिणामस्वरूप पुनः बीज की उत्पत्ति की तरह रागद्वेषादि वैभाविक परिणामों से नये कर्म बंधते हैं।[२] कर्मों से विविध गतियो में जन्म,

---

१. कर्मवाद से पृ. ८९

२. कर्म और कर्मफल (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख) से पृ. १४८

जन्म से शरीर-मन-इन्द्रियाँ आदि की प्राप्ति, उनकी प्राप्ति से विषयों का रागद्वेषपूर्वक ग्रहण, फिर कर्मबन्ध और गति, शरीरादि की प्राप्ति आदि। इस प्रकार कर्मों के उदय में आने पर फलभोग और फलभोग के समय समभाव न रहने से रागद्वेषादि से आत्मा द्वारा कुछ कर्म और अर्जित हो जाते हैं। जिनके फल फिर कालान्तर में या अगले जन्म या जन्मों में भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार आत्मा सर्वथा कर्माधीन प्रतीत होती है। कर्म आत्मा को अपने स्वभाव के अनुसार परतंत्र बना देते हैं। जब तक आत्मा संवर और निर्जरा द्वारा आने वाले कर्मों को स्थगित और पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण नहीं कर देती, तब तक उसकी (आत्मा की) कर्म-परतंत्रता मिट नहीं सकती।

अष्टविध कर्मों द्वारा जीवों का परतंत्रीकरण कैसे-कैसे ?

आत्मा का मूल लक्षण उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं—साकार और अनाकार। साकार उपयोग को ज्ञान और अनाकार उपयोग को दर्शन कहा गया है। यहाँ पर साकार का अर्थ सविकल्प है और अनाकार का अर्थ निर्विकल्प है। जो उपयोग वस्तु के विशेष अंश को ग्रहण करता है वह सविकल्प है और जो उपयोग सामान्य अंश को ग्रहण करता है वह निर्विकल्प है। इस प्रकार आत्मा की ज्ञान शक्ति और दर्शन शक्ति दोनों असीम-अनन्त हैं।

वर्तमान में संसारी छद्मस्थ आत्मा की ज्ञानशक्ति और दर्शनशक्ति दोनों ही आवरण से मुक्त नहीं हैं। एक पर ज्ञानावरणीय कर्म छाया हुआ है, दूसरी पर दर्शनावरणीय कर्म। आत्मा की अनन्त (असीम) ज्ञानशक्ति किस प्रकार आवृत है ? इस सम्बन्ध में गोम्मटसार में एक उपमा द्वारा समझाया गया है कि जिस प्रकार किसी के नेत्र पर कपड़े की पट्टी बांध देने से उसे किसी वस्तु का विशेष ज्ञान नहीं हो पाता, इसी प्रकार आत्मा के असीम ज्ञान पर ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण लगा हुआ है। अथवा दर्पण खुला हो (आवरणरहित हो या धुंधला, अथवा अन्धा न हो) तो उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब हूबहू देख सकता है, परन्तु उस पर पर्दा पड़ा हो, अथवा वह धुंधला या अंधा हो तो उसमें प्रतिबिम्ब यथार्थरूप से नहीं दिखाई दे सकता। इसी प्रकार आत्मारूपी दर्पण पर ज्ञानावरणीय कर्मरूपी पर्दा पड़ा होने से आत्मा का असीम ज्ञान (चैतन्य) प्रगट नहीं हो पाता। सम्यग्ज्ञान का अधिकांश भाग आवृत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि संसारी छद्मस्थ आत्मा (जीव) का ज्ञानस्वभाव ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत है, उसका ज्ञान कर्म-परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं है।

इसी प्रकार संसारस्थ आत्मा की दर्शनशक्ति भी स्वतंत्र नहीं है, वह भी दर्शनावरणीय कर्म से आवृत है। आत्मा की दर्शनशक्ति किस प्रकार आवृत है? इसे भी गोम्मटसार में एक रूपक द्वारा समझाया गया है—'एक व्यक्ति राजा से साक्षात्कार करना चाहता था। राजसभा के द्वार पर आकर जब वह राजा से मिलने के लिए सीधा प्रवेश करने लगा तभी द्वारपाल ने उसे रोक लिया। इसी प्रकार संसारी छद्मस्थ आत्मा के दर्शन स्वभाव को दर्शनावरणीय कर्मरूपी द्वारपाल रोके हुए है। अतः दर्शन आवृत होने के कारण वह भी परतंत्र है-कर्माधीन है।'[१]

संसारी छद्मस्थ आत्मा की सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र तथा इन दोनों की शक्ति भी अवरुद्ध है, कुण्ठित है। मोहनीय कर्म इस आत्मा के साथ ऐसा लगा हुआ है कि उसने मनुष्य की सम्यग्दृष्टि और सम्यक्चारित्र दोनों को विपर्यस्त एवं विकृत कर दिया है।

आत्मा को परतंत्र बनाकर दुःखी करने में सबसे प्रमुख स्थान मोहनीय कर्म का है। मोहनीय कर्म के कारण जीव का ज्ञान अज्ञानरूप बन जाता है, जीव अपने स्वरूप में स्थित न होकर क्रोधादि विकृत अवस्था को प्राप्त करता है। दर्शनमोहनीय के कारण देव, गुरु, धर्म, शास्त्र तथा तत्त्वों के विषय में सम्यक् श्रद्धा से वंचित रहता है।

मोहनीय कर्म ने घातिकर्मबद्ध संसारी जीव को इतना परतंत्र बना दिया कि इसे अपने स्वरूप का तथा स्वरूप की प्राप्ति का निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से यथार्थ भान नहीं हो पाता। इस कर्म के कारण न तो जीव आत्मदर्शन कर पाता है और न ही कल्याण-मार्ग में लगता है। कषायाविष्ट तथा रागद्वेषाविष्ट होकर वह बार-बार मोह-मूर्च्छित होकर या दृष्टिविपर्यास के कारण आत्मा से सम्बन्धित प्रत्येक गुण एवं स्वभाव को विपरीतरूप में जानता-मानता है, अथवा दृष्टि सम्यक् हो तो भी राग-द्वेष-कषायादि के आवेग के कारण उसकी चारित्र-पालन की शक्ति अवरुद्ध, कुण्ठित या विकृत हो जाती है। यह मोहनीय कर्म है, जो आत्मा को दीर्घकाल तक परतंत्र बनाये रखता है।

'गोम्मटसार' में इसे मद्य-पान की उपमा देकर समझाया गया है कि जिस प्रकार मदिरा पिया हुआ मनुष्य अपना भान भूल जाता है। वह मद्य

---

१. (क) देखिये गोम्मटसार की यह गाथा और उसकी व्याख्या—

"पड-पडिहारसि-मज्जाहलि-चित्त-कुलाल-भंडयारीणं।"

जह एदेसिं भावा, तह वि य कम्मा मुणेयव्वा ॥२१॥

— गोम्मटसार कर्मकाण्ड पृ. ९ (परमश्रुत प्रभावकमंडल द्वारा प्रकाशित)

(ख) देखें—कर्मवाद पृ. १२२

के नशे में चूर होकर न तो किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निश्चय कर सकता है, न ही उसकी चेष्टा या व्यवहार सही होता है। इस प्रकार उसकी दृष्टि, समझ, आचरण या व्यवहार सबके सब विपरीत हो जाते हैं। इसी प्रकार मोहनीयकर्मरूपी मद्य में मोह-मूढ होकर व्यक्ति न तो अपनी आत्मा के स्वभाव को यथार्थरूप से समझता-मानता है, और न ही तदनुरूप, स्वरूपरमणरूप, निश्चय तथा सम्यक्चारित्ररूप व्यवहार चारित्र का पालन कर पाता है। प्रायः छद्मस्थ जीव मोहमद्य से मूर्च्छित है। उसकी चेतना प्रमत्त है, मोहकर्म-परतंत्र है। मोहनीय कर्म उसे ऐसा परतंत्र बना डालता है कि वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र इन दोनों के या दोनो मे से सम्यक्चारित्र के आचरण में मूढ, परतंत्र एवं विस्मृत हो जाता है।

आत्मा की सबसे बड़ी विशेषता है—अनन्तशक्ति सम्पन्नता। वह शक्ति क्रमशः पाँच भागो में विभक्त है—दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (पराक्रम)। संसारी छद्मस्थ जीव की इस विशिष्ट असीम आत्मशक्ति को अन्तरायकर्म स्फुरित एवं प्रस्फुटित-प्रकटित नहीं होने देता। यह कर्म प्रत्येक कार्य में विघ्न उपस्थित करता है। प्राणिवध, ज्ञान का निषेध करना, धर्म-कार्यों में तप, सेवा तथा देव, गुरु, धर्म आदि की भक्ति में बाधा उपस्थित करना अन्तरायकर्म का कार्य है।

आत्मा की इस असीम शक्ति में अन्तरायकर्म ऐसा बाधक बन जाता है कि वह इसे दानादि कार्यों में व्यापृत नहीं होने देता। वह मानसिक बाधा उपस्थित करता है। इसके कारण जीव शक्तिहीन एवं पराधीन बन जाता है। अन्तरायकर्म इतना प्रबल आत्मगुणघातक है कि वह चिरकाल तक आध्यात्मिक दानादि कार्यों को करने में शक्ति लगने ही नहीं देता। इसीलिए कर्मशास्त्रियों ने अन्तरायकर्म की तुलना राजा के भण्डारी से की है। राजा द्वारा प्रसन्न होकर एक लाख रुपये देने के आदेश का रुक्का लिख देने पर और भण्डारी (कोषाध्यक्ष) को रुक्का दिखाने पर भी उसे रुपये देने में आनाकानी करता है, टरकाता रहता है। इसी प्रकार आत्मारूपी या परमात्मारूपी राजा का अमुक आध्यात्मिक आदेश-निर्देश होने पर भी अन्तरायकर्म रूपी भण्डारी उस शक्ति के प्रकटीकरण में बाधा उपस्थित करता है। इस प्रकार अन्तरायकर्म आत्मा की शक्ति को कुण्ठित करके परतंत्र बना देता है। यह दिनों, महीनों या वर्षों तक कार्य में व्यवधान उत्पन्न कर देता है।[१]

---

१. (क) वही, गो. कर्मकाण्ड गा. २१ की व्याख्या
(ख) देखें— कर्मवाद पृ. १२३

ये ज्ञानावरणीयादि चारों घाती कर्म हैं, जो आत्मा के स्वभाव की—आत्मगुणों की घात करते हैं।

जीव के सुख-दुःख, जन्म-मरण, शरीरादि तथा यश-अपयश कर्माधीन हैं

सांसारिक प्राणी के जीवन के दो अभिन्न साथी हैं—सुख और दुःख। ये दोनों शरीर के सर्वथा अन्त होने या जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त होने तक जीव के साथ-साथ रहते हैं, अलग नहीं होते। ऐसा नहीं होता कि सदा सुख ही सुख रहे या सदैव दुःख ही दुःख रहे। सुख और दुःख का सम्बन्ध वेदन से है। जीव अगर किसी सजीव या निर्जीव पदार्थ को लेकर सुख का अनुभव (वेदन) करता है तो सुख है, दुःख का वेदन करता है तो दुःख है। ये सुख और दुःख के वेदन भी कर्माधीन हैं। वेदनीय कर्म से ये दोनों इस प्रकार जुड़े हुए हैं कि वह वास्तविक आत्मिक सुख (आनन्द) का भान नहीं होने देता। इसके प्रभाव से जीव सांसारिक सुख-दुःख को सुख-दुःख अथवा वस्तुनिष्ठ दुःख-सुख को दुःख-सुख समझने या महसूस करने लगता है।

वेदनीय कर्म की तुलना कर्मग्रन्थ में मधुलिप्त तलवार से की गई है। एक तीखी धार वाली तलवार पर शहद का लेप लगा हुआ है। उस मधु के स्वाद के लोभ में आकर एक व्यक्ति उस तलवार पर जीभ लगा कर शहद चाटता है। परन्तु उस प्रक्रिया से उसकी जीभ कटे बिना नहीं रह सकती। क्योंकि तलवार इतनी तीखी है कि जीभ से उस पर लगा हुआ मधु चाटते ही तलवार उसके टुकड़े-टुकड़े कर देगी। मधु की मधुरता का स्वाद और जीभ का कटना, दोनों एक साथ सम्भव हैं।

हितैषी पुरुष उसे इस मधु का लोभ छोड़ने को कहते हैं, किन्तु वह कहता है—एक बूंद मधु और चाट लूँ। एक-एक बूंद मधु के लिए वह तरस रहा है। दुःख और विपत्ति की संभावना होते हुए भी वह इसे छोड़ना नहीं चाहता।

इसी प्रकार का वेदनीय कर्म है जो सुख और दुःख दोनों का घटक है। मनुष्य क्षणिक सुख के लोभ में दुःखबीज सुख को अपनाता है। जानता है कि इस विषयसुख या वस्तुनिष्ठ, क्षणिक सुख के पीछे जन्म-मरणादि के अगणित दुःखों का अम्बार लगा हुआ है, फिर भी वह मोहान्ध होकर छोड़ता नहीं।

अध्यात्मवेत्ता आचार्य कहते हैं कि जो सुख भोगा जा रहा है, वह दुःख का बीज है। दुःखद वेदनीय कर्म का बीजारोपण सुख नहीं, दुःख को ही लाने वाला है। इसलिए यह सुखासक्ति घोर दुःखजनक असातावेदनीय कर्मों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार वेदनीय कर्म जीव को पराधीन

बनाकर सांसारिक क्षणिक सुख-दुःख के झूले में झुलाता रहता है। दुःखबीज सुख के मोह में मनुष्य ज्ञानी महापुरुषों की बात को नहीं मानता। राजवार्तिक में कहा गया है—सुख-दुःख की उत्पत्ति में कर्म बलाधान हेतु है।[१]

संसारी जीवों का जन्म और मरण भी आयुष्यकर्म के अधीन है। उसके जन्म-मरण की डोरी आयुष्यकर्म से बंधी हुई है। वह अपने ही कर्मानुसार जन्म लेता है, स्वकर्मानुसार ही मरता है। आयुष्यकर्म जब तक पूर्ण नहीं होता, तब तक न तो उसकी मृत्यु हो सकती है, न ही उसका नया जन्म। दोनों ही कर्म के परवश हैं। आयुष्यकर्म की तुलना कर्ममर्मज्ञों ने एक बंदी से की है, जिसके पैरों में बेड़ियाँ पड़ी हैं। पहले ही सांसारिक जीव कर्मों की गिरफ्त में कैद तो है ही। फिर उसके पैरों में आयुष्यकर्म बेड़ी डालकर उसे सर्वथा परतंत्र बना देता है।

जीव का शरीर भी आत्माधीन नहीं है, वह आत्मा की अपनी रचना नहीं है। आत्मा अपना मनचाहा शरीर नहीं बना सकती। शरीर का सृजन तथा शरीर से सम्बन्धित इन्द्रियाँ, अंगोपांग, मन तथा उसकी आकृति, संस्थान, मजबूती तथा शरीर से संलग्न इन्द्रिय-विषय तथा मन से सम्बद्ध यश-अपयश, सौभाग्य-दुर्भाग्य आदि सब की रचना नामकर्म के अधीन है।

नामकर्म को एक चित्रकार की उपमा दी गई है। चित्रकार नाना चित्र बनाता है,[२] उसी प्रकार नामकर्म संसार में स्थित ८४ लाख प्रकार के जीव-योनिगत जीवों के विविध चित्र-विचित्र शरीरों और उनसे सम्बद्ध अंगोपांगों की रचना करता है। वही मस्तिष्क, मन, बुद्धि, चित्त तथा हाथ, पैर, पेट, जीभ, कान, नाक आदि अंगोपांगो का निर्माण उस-उस जीव के कर्मानुसार करता है।

धवला में कहा गया है—नामकर्मोदय की वशवर्तिता से इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। तथा कर्मों की विचित्रता से ही जीव (आत्म) प्रदेशों के संघटन का विच्छेद व बन्धन होता है। द्रव्यसंग्रह (टीका) में कहा गया है—जीवप्रदेशों का विस्तार कर्माधीन है, स्वाभाविक नहीं। तत्त्वार्थसार में बताया गया है कि ऊर्ध्वगमन के अतिरिक्त अन्यत्र गमनरूप क्रिया कर्म के प्रतिघात से तथा निज प्रयोग से समझनी चाहिए। स्याद्वादमंजरी में भी

---

१. राजवार्तिक ५/२४/९/४८८/२१

२. (क) देखें, गो. कर्मकाण्ड; तथा कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ)
(ख) कर्मग्रन्थ प्रथम भाग (विवेचक—पं. सुखलाल जी)

इसी तथ्य का समर्थन है—स्व-ज्ञानावरण के क्षयोपशम-विशेष के वश ज्ञान की निश्चित पदार्थों में प्रवृत्ति होती है।[1]

नामकर्म इतना शक्तिशाली है कि कोई भी जीव उसकी रचना का प्रतिवाद नहीं कर सकता। उसके निर्माण के अधीन परतंत्र होकर उसे शरीररूपी कारागार में रहना पड़ता है। अतः जीवों के शरीर और उससे सम्बद्ध सारी रचना नामकर्म के अधीन है। कोई भी जीव इस विषय में स्वतंत्र नहीं है।

एक और कर्म है—गोत्रकर्म। उसके साथ मनुष्य की सम्माननीयता-असम्माननीयता जुड़ी हुई है। गोत्रकर्म दो प्रकार का है—उच्चगोत्र और नीचगोत्र। गोत्र का अर्थ किसी वर्ण, कौम या जाति-ज्ञाति आदि से नहीं है; उसका अर्थ है—लोकदृष्टि में जीव के अच्छे-बुरे व्यवहार, आचरण और कार्य के अनुसार उच्च और नीच—श्रेष्ठ और निकृष्ट शब्दों से पुकारा जाना। जो जीव अच्छे कार्य, व्यवहार या आचरण करता है, वह अभिजात कहलाता है और निन्द्य, घृणित और नीच कार्य करता है, वह अनभिजात कहलाता है, यही उच्च-नीच गोत्रकर्म का आशय है। गोत्रकर्म को कुम्भकार से उपमित किया गया है। कुम्भकार बुहमूल्य घट आदि का भी निर्माण करता है, जिसे सभी खरीदना चाहते हैं और ऐसा रद्दी घड़ा आदि भी बनाता है जिसे कोई लेना पसंद नहीं करता है। इसी प्रकार गोत्रकर्म के अधीन होकर मनुष्य की उच्चता-नीचता, श्रेष्ठता-निकृष्टता द्योतित होती है। यो जीव (आत्मा) गोत्रकर्म के अधीन रहकर अपनी स्वतंत्रता को खो देता है।[2]

कर्म जीव की स्वाभाविक शक्तियों को कुण्ठित एवं विकृत बनाते हैं।

इस प्रकार आठो ही कर्म आत्मा के साथ बँधकर उसकी स्वाभाविक ज्ञानादि शक्तियो को आवृत, कुण्ठित एवं विकृत कर डालते हैं। ये जीव को उसी प्रकार मोह से उन्मत्त करके परतत्र कर देते हैं, जिस प्रकार मद्य मदोन्मत्त करके पीने वाले को पराधीन बना देता है। 'समयसार' में कहा गया है—"जिस प्रकार मैल श्वेत वस्त्र को मलिन बना देता है, उसी प्रकार

१. (क) धवला १/१/१/३३/२४२-८, तथा २३४-३
   (ख) द्रव्यसग्रह टीका १४/४४/१०
   (ग) तत्त्वार्थसार ८/३३
   (घ) स्याद्वादमजरी १७/२३८/६
२. (क) कर्मवाद पृ. १२३
   (ख) गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा. २१ की व्याख्या

मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय-परिणामरूप कर्ममल ज्ञान-दर्शन-चारित्र-स्वरूप शुद्ध स्वच्छ आत्मा को मलिन कर देते हैं।" परमात्म-प्रकाश में भी कहा गया है कि "कर्म आत्मा को परतंत्र करके तीनों लोकों में परिभ्रमण कराता है।"

धवला में भी कहा गया है कि "कर्म आत्मा की ज्ञानादि स्वाभाविक शक्तियों का घात करके इस प्रकार परतंत्र कर देते हैं कि आत्मा विभावरूप से परिणमन करने लगती है।"[1]

वस्तुतः जीवन के सभी महत्त्वपूर्ण अंग कर्म के साथ सम्बद्ध और श्लिष्ट हैं। देखा जाए तो मनुष्य का वर्तमान अतीत से बँधा हुआ है। न वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने में स्वतंत्र है, न सम्यक्दृष्टि उपलब्ध करने में स्वतंत्र है। और तो और चारित्र का विकास एवं अपनी आत्मशक्तियों का उपयोग करने में भी वह स्वतंत्र नहीं है। न ही वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित विभिन्न स्थितियों को स्वेच्छानुसार मोड़ने या बनाने में स्वतंत्र है। वह कर्म की बेड़ियों में जकड़ा हुआ, पकड़ा हुआ बंदी है! कर्मों के हाथ की वह कठपुतली है। वही मदारी बनकर बंदर की तरह जीव को मनचाहा नचाता है। कर्माधीन बना हुआ संसारी छद्मस्थ जीव अपने आप को भूल जाता है। वह स्वयं को कर्मोपाधिक मानकर संसार की भूलभुलैया में फंस जाता है।

आत्मा अपने स्वभाव-स्वगुणों का विकास करने में स्वतंत्र है

मूल में आत्मा (जीव) का स्वभाव है—चैतन्य, ज्ञानघन, आनन्द, नित्य, दर्शनरूप, शक्तिमय। आत्मा सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है, अनन्त-ज्ञान-दर्शन-आनन्द-शक्तिमय है। आत्मा अपने चैतन्य का, अपने ज्ञान-दर्शन का, अपने आनन्द का और अपनी आत्मशक्ति का विकास करने में स्वतंत्र है। आध्यात्मिक दिशा में जितना भी विकास होता है या हुआ है; उसमें जीव (आत्मा) का स्वतंत्र विकास स्पष्टतया परिलक्षित होता है। आत्मा अपने निजी गुणों का, अपने स्वभाव का विकास करने में पूर्ण स्वतंत्र है। बल्कि यों कहना चाहिए कि आत्मा (जीव) के चैतन्य, ज्ञान-दर्शन,

---

१. (क) समयसार गा. १६०-१६३
(ख) परमात्म प्रकाश गा. १/६६
(ग) तत्त्वार्थ वार्तिक ५/२४/९ पृ. ४८८
(घ) धवला पु. १५ सू. ३४
(ङ) तत्त्वार्थ वार्तिक १/४/१७ पृ. २६
(च) भगवती आराधना विजयोदया टीका गा.३८

आनन्द एवं शक्ति का विकास इसीलिए होता है कि वह इस विषय में स्वतंत्र है। यदि आत्मा इस विषय में स्वतंत्र नहीं होता तो उसके चैतन्य एवं ज्ञानादि का विकास कभी नहीं हो सकता था। आत्मा के स्वतंत्र होने का अथवा आत्मा के स्वभाव के अविच्छिन्न रहने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसका विकास होता है, और ज्ञानादि का विकास इसलिए होता है कि आत्मा इस विषय में स्वतंत्र है।[१]

आत्मा का स्वभाव : विकास करना, कर्म का स्वभाव : अवरोध करना

कर्म का स्वभाव ज्ञानादि आध्यात्मिक शक्तियों के विकास करने का नहीं है। उसका स्वभाव जीव के ज्ञानादि स्वभाव के विकास में अवरोध उत्पन्न करना, जीव के मूल स्वभाव को विकृत करना तथा ज्ञानादि गुणों को आवृत करना और जीव के ज्ञानादि आत्मगुणों के विकास को बाधित करके उसे परतंत्र बनाना है। कर्म जीव के चैतन्य, ज्ञान-दर्शन, आनन्द और आत्मशक्ति के विकासों को रोकता है, उनमें बाधा डालता है, उनमें अवरोध पैदा करता है। कोई भी पुद्गल, विशेषतः कर्म-पुद्गल भी आत्मिक विकास—आत्मगुणों के विकास का मूल कारण नहीं बनता। कर्म जीव के निजी गुणों का विकास करने में बाधक बनता है, इसलिए आध्यात्मिक विकास के कर्त्तृत्व में वह जीव की स्वतंत्रता पर हावी हो जाता है। उसका स्वभाव ही जीव की स्वतंत्रता में बाधा डालना है, जीव को परतंत्र करना है, अथवा ऐसी स्थिति पैदा कर देना है, जिससे जीव उसके (कर्म के) अधीन (परतंत्र) हो जाए।[२]

ज्ञानादि स्वभाव आत्मा का उपादान होने से वह विकास कर पाता है

कर्मों के उदय से बाधाएँ उपस्थित होती हैं, विकास करने की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, फिर भी विकास इसलिए होता है कि जीव (आत्मा) की स्वतंत्र चैतन्यरूप सत्ता है, ज्ञानादि स्वभाव उसका उपादान है, वह कर्म से पृथक् है।

ज्ञानादि पर्यायों की उत्पत्ति और विकास आत्मा ही कर सकती है, कर्म नहीं

उपादान वह होता है, जो उस द्रव्य का घटक हो। जैसे—मिट्टी घड़े का उपादान है। उसमें घड़ा बनने की योग्यता है। कुम्भकार आदि दूसरे साधन सहायक या निमित्त बन सकते हैं, उपादान नहीं। घड़े के रूप में परिवर्तित होने वाली मिट्टी ही घड़े का उपादान हो सकती है, अन्य साधन नहीं। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञानादि पर्यायों के विकास के लिए आत्मा ही

१. देखें—कर्मवाद में इस सम्बन्ध में विवेचन पृ. ८७-८८
२. वही, पृ. ८७-८८

घटक है। चैतन्य, ज्ञान-दर्शन, आनन्द और शक्ति, ये आत्मस्वभाव ही उसके (आत्मा के) उपादान हैं। आत्मा में ही वह शक्ति है, उसी का यह स्वभाव है कि वह ज्ञानादि पर्यायों को उत्पन्न कर सकती है, अथवा उनका विकास कर सकती है। कर्म में यह शक्ति नहीं है कि वह आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति के तथा चैतन्य के पर्यायों को उत्पन्न कर सके; अथवा ज्ञानादि का विकास कर सके। क्योंकि ये सब कर्म के स्वभाव नहीं हैं, आत्मा के ही स्वभाव हैं। इस दृष्टि से आत्मा में ही अपने ज्ञानादि स्वभाव के पर्यायो को उत्पन्न करने तथा विकसित करने का स्वतंत्र-अबाधित कर्तृत्व है।

शरीरादि-सम्बद्ध विकास आत्मिक विकास नहीं है

जैन कर्म-विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति कदाचित् यह कहे कि कर्मों के कारण शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित अंगोपांग आदि अच्छे मिलते हैं। यश मिलता है, मनोज्ञ पदार्थ मिलते हैं, इष्ट वस्तुओं का संयोग प्राप्त होता है। क्या यह आत्मा के विकास का परिणाम नहीं है? इसका समाधान यह है कि यह सब आत्मा का विकास नही है। ये सब कर्मोपाधिक वस्तुएँ हैं। पौद्गलिक विकास है, जो शुभ-नामकर्म के द्वारा घटित होता है। नामकर्म या कोई भी कर्म आत्मा के ज्ञानादि स्वभाव के विकास में सहायक नहीं, अवरोधक है, रोड़ा अटकाने वाला है, बाधक है, क्योंकि ज्ञानादि गुण आत्मा के स्वभाव है, कर्मों के स्वभाव नही है। आत्मा ही अपने ज्ञानादि स्वभाव का विकास करता है। कर्म तो ज्ञानादि के विकास में बाधा डालते हैं, अवरोध पैदा करते हैं।[१]

कर्म का स्वभाव : तप-त्यागादि की ओर प्रेरित करना नहीं

दूसरी दृष्टि से देखे तो प्रतीत होगा कि कर्म सांसारिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ ऐसा माध्यम है, जो प्रत्येक जीव को प्रभावित करता है, परन्तु वही सब कुछ नही है। यदि कर्म ही सब कुछ होता, वही सर्वशक्तिमान् होता तो व्यक्ति कर्म को काटने के लिए तप, संयम एवं त्याग की साधना-आराधना क्यो करता? कोई भी कर्म अपने आप मे ऐसा नहीं है, जो तप, सयम एव त्याग की प्रेरणा देता हो। कर्म का ऐसा स्वभाव ही नही है कि वह प्राणी को तप, सयम एव त्याग की ओर ले जा सके। कर्म का स्वभाव है—व्यक्ति को असयम, प्रमाद एव भोग की ओर ले जाना। चार प्रकार के अघाती कर्म माने जाते है—वेदनीयकर्म, आयुष्यकर्म, नामकर्म और गोत्रकर्म। ये चारों ही आत्मा (जीव) का पौद्गलिक विकास कराने

१. देखे—कर्मवाद पृ. ८८

वाले, उसे असंयम, प्रमाद, मिथ्यात्व, कषाय एवं भोग की ओर ले जाने वाले हैं। आत्मिक विकास इनसे नहीं हो सकता।[1] आत्मिक विकास होता है—तप, त्याग, संयम और अप्रमाद से।

घाती कर्म भी आत्मा को तप-त्यागादि की ओर प्रेरित नहीं कर सकते

शेष चार घाती कर्म हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तरायकर्म। इनमें से भी कोई कर्म ऐसा नहीं है, जो आत्मा को तप, त्याग एवं संयम की ओर ले जा सके; प्रत्युत, ये कर्म आत्मा को असंयम, भोग, प्रमाद, कषाय एवं मिथ्यात्व में फंसाकर उसके ज्ञानादि स्वभाव को बाधित, आवृत एवं कुण्ठित करते हैं। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकर्म आत्मा की ज्ञान और दर्शन की शक्ति को आवृत करते हैं, मोहनीयकर्म आत्मा की दृष्टि और चारित्र की शक्ति को मूर्च्छित, बाधित एवं कुण्ठित करता है और अन्तरायकर्म आत्मा की दानादि शक्तियों को अवरुद्ध करता है।

मिथ्यात्वादि में डूबे हुए भी आत्मा में तप-त्यागादि की साधना-भावना क्यों?

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि आठ प्रकार के कर्मों मे से कोई भी कर्म आत्मा को तप, त्याग एवं संयम की ओर ले जाने मे समर्थ नही है तथापि कर्मों के कारण मिथ्यात्व, असंयम (अत्याग—भोग), प्रमाद एवं कषाय मे आकण्ठ डूबा हुआ जीव तप, त्याग, संयम-नियम की साधना के लिए क्यों प्रेरित होता है? उसके अन्तःकरण में तप, त्याग एवं सयम की भावना क्यों जागती है? इसका कारण कर्म नहीं, आत्मा ही है; आत्मा का स्वभाव ही स्वयमेव कारण है। आत्मा में विशुद्ध चैतन्य शक्ति ऐसी है, जो इन विजातीय तत्त्वों—आत्मबाह्य पदार्थों से सतत सघर्ष करती है। वही चैतन्यशक्ति जीव को परमविशुद्ध परमात्मअवस्था तक ले जाना चाहती है। वह आत्मा के सहज सच्चिदानन्द स्वरूप की अवस्था है। प्रत्येक आत्मा में वह चैतन्य की अन्तर्ज्योति सतत जलती रहती है, वह कभी बुझती नहीं। उसी का प्रकाश जीव को तप, त्याग एव संयम आदि की ओर ले जाता है। त्याग, तप, संवर, संयम आदि किसी कर्म (अचेतन) की प्रेरणा से नहीं होते, ये होते हैं—सचेतन आत्मा की प्रेरणा से।[2]

अचेतन की प्रेरणा अपने स्वभाव की ओर ले जाती है। कर्म अचेतन है और उससे प्रेरित व्यक्ति असंयम, भोग आदि में आसक्त हो जाता है। कर्म-प्रेरणा से जीव असंयम-भोग-परतंत्र ही होता है। इसके बावजूद भी आत्मा में अन्तर्निहित शुद्ध चैतन्य की ज्योति त्याग, परमार्थ एवं संयम की

१. देखें—कर्मवाद में इसका विवेचन पृ. १३८

२. देखें—कर्मवाद पृ. १३८-१३९

और ले जाती है। इसका कारण कर्म नहीं, आत्मा है। आत्मा में स्वबोध की, सहज स्वरूपचेतना की, स्वकीय आनन्द और आत्मशक्ति की सहज प्रेरणा होती है; वही उसे तप, त्याग, परमार्थ एवं संयम की ओर ले जाती है। यदि जीव में यह सहज प्रेरणा न होती तो वह त्याग, संयम एवं परमार्थ की बात कभी नहीं सोच पाता, न ही उस मार्ग की ओर कदम रखता। अनादि-कालीन संस्कारों के कारण जीव को इन्द्रियविषयभोग, असंयम, स्वार्थ एवं सुखशीलता प्रिय होती है, फिर भी इन्हें त्यागने, संयम एवं संवर करने की भावना जागती है, इसका कारण आत्मा का वह सहज ज्ञानादि स्वभाव है। तप, त्याग आदि की प्रेरणाओं के साथ कर्म का कोई वास्ता नहीं है। इस प्रेरणा का मूल स्रोत आत्मा है। उसमें चैतन्य की एक शुद्ध धारा सतत बहती रहती है, वह एक क्षण भी रुकती नहीं, सर्वथा लुप्त भी नहीं होती। चैतन्य धारा सर्वथा लुप्त या अवरुद्ध हो जाए तो आत्मा चेतन से अचेतन बन जाएगी। परन्तु ऐसा होना असम्भव है।[1]

जीव चेतना के साथ स्वतंत्र, कर्म के साथ परतंत्र

इस दृष्टि से जीव स्वतंत्र भी है, और परतंत्र भी। जहाँ चेतना का प्रश्न है, वहाँ वह स्वतंत्र है और जहाँ कर्म का प्रश्न है, वहाँ परतंत्र है। जहाँ जीव चेतना के साथ—यानी आत्मा के चैतन्य ज्ञानादि स्वभाव के साथ होता है, वहाँ पूर्ण स्वतत्र होता है, किन्तु जहाँ परभाव—कर्म विभाव—कषायादि के साथ होता है, वहाँ परतंत्र होता है। वहाँ उसकी स्वतंत्रता छिन जाती है, आवृत हो जाती है।[2]

प्रत्येक आत्मा प्रभु (स्वयम्भू) है, प्रभुत्व शक्तिसम्पन्न है

पंचास्तिकाय मे आत्मा की स्वतंत्रता और परतंत्रता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि समस्त आत्माएँ प्रभु और स्वयम्भू हैं। वे किसी के वशीभूत (परतत्र) नही हैं। प्रत्येक आत्मा अपने शरीर का स्वयं स्वामी है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे इसकी (आत्मा के प्रभुत्व गुण की) व्याख्या कर्मवियुक्त होने की अपेक्षा से इस प्रकार की गई है—"वीतरागदेव द्वारा बतलाये गए मार्ग पर चलकर जीव समस्त कर्मों को उपशान्त तथा क्षीण करके विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न होकर ज्ञानमार्ग में विचरण करता हुआ आत्मा के परम-विशुद्ध स्वरूप-मोक्षमार्ग को प्राप्त कर लेता है।"[3]

---

१. देखें—कर्मवाद मे इसका निरूपण पृ. १३८-१३९

२. देखें—कर्मवाद में इसका निरूपण, पृ. १३९

३. (क) पंचास्तिकाय गा. २७

(ख) पंचास्तिकाय, तात्पर्यवृत्ति टीका गा. ७०

आत्मा शुभाशुभ कर्मों को करने, भोगने तथा क्षय करने में समर्थ—स्वतंत्र

तात्पर्य यह है कि प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न आत्मा (सभी जीव) अपने अच्छे-बुरे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। जीव शुभकर्मपूर्वक अपना पूर्ण विकास करके अनन्त-चतुष्टय को प्राप्त कर सकता है, और इसके विपरीत दुष्कर्म करके अभव्य ही बना रह सकता है। प्रभु-प्रवृत्ति के द्वारा ऐश्वर्यशाली बनना, शुभपदार्थों का उपभोग करना, अनन्त सुख (असीम आनन्द) का अनुभव करना भी आत्मा के हाथ में है, और दुष्प्रवृत्ति करते हुए दीन-हीन-पराधीन बनकर असीम-अगणित दुःखों को भोगने तथा जन्म-मरण के चक्र में घूमते रहने का सामर्थ्य भी आत्मा में है। पंचास्तिकाय की तत्त्वदीपिका व्याख्या में इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा है—"आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से भावकर्मों को और व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्यकर्म तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष को प्राप्त करने में स्वयं (आत्मा) ही ईश (समर्थ) होने से 'प्रभु' है।

आत्मा के प्रभुत्वगुण के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा स्वयं प्रभु—समर्थ है, वह अपने शुभाशुभ कर्म करने, तथा उन कर्मों का निरोध एवं क्षय करने के लिए स्वयमेव स्वतंत्र है, समर्थ है। बन्धन में भी वह स्वयं बँधता है और मुक्त होने में भी स्वयं समर्थ=स्वतंत्र है।[1]

आत्मा के 'प्रभु' विशेषण की व्याख्या से इस वैदिक विचारधारा का भी खण्डन हो जाता है कि "अज्ञ जीव अपने सुख-दुःख को पाने और भोगने में समर्थ नहीं है, ईश्वर की प्रेरणा से ही वह (अज्ञजीव) शुभ-अशुभ कर्म करता है और ईश्वर ही उसे बंधन में बांधता और मुक्त करता है। वही उसे स्वर्ग या नरक में भेजता है। इसका फलितार्थ यह हुआ संसारी जीव कर्माधीन नहीं, ईश्वराधीन हैं।"[2]

उत्तराध्ययन सूत्र की यह गाथा भी पूर्वोक्त तथ्य का समर्थन करती है कि आत्मा ही अपने सुखों और दुःखों का स्वयं कर्त्ता है और स्वयं ही विकर्त्ता—क्षयकर्त्ता या भोक्ता है। सत्-प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है। इस पर से भी यह सिद्ध होता है कि आत्मा सुखजनक और दुःखजनक दोनों ही प्रकार के कर्मों को करने और उनका फल भोगकर क्षय करने में स्वतंत्र है। अपने आपको शत्रु या मित्र बनाना भी आत्मा के अपने हाथ में है।[3]

---

१. पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिका गा. २७

२. ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुख-दुःखयोः ॥ —स्याद्वाद मंजरी कारिका ६

३. "अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय-सुप्पट्ठिओ॥" —उत्तराध्ययन २०/३७

आत्मा का उद्धार और पतन तथा स्वतंत्रता-परतन्त्रता अपने हाथ में

इस सम्बन्ध में गीतादर्शन और जैनदर्शन एक हो जाते हैं। गीता में भी आत्मस्वातंत्र्य का उपदेश देते हुए कहा गया है—"मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी आत्मा का उद्धार अपने आप ही करे। निराश होकर अपने द्वारा अपनी आत्मा का पतन या अवनति न करे। क्योंकि प्रत्येक जीव का आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है।"[1]

महाभारत (शान्तिपर्व) में भी कहा गया है कि "यह आत्मा स्वतंत्र-प्रेरणा से शुद्ध आत्मा (परमात्मा) के निकट पहुँचने पर शुद्धात्मा बन जाता है। यह जीवात्मा जो मूल में स्वतंत्र है, वह भी स्व-भाव या स्व-स्वरूप के अधीन (स्व-तंत्र) होकर चले तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध (सिद्ध) स्वतंत्र परमात्मा में मिल जाता है, परमात्मभाव को प्राप्त हो जाता है।" इसके विपरीत जब जीवात्मा स्व-तंत्र को छोड़कर शरीर, इन्द्रिय, मन तथा दुराचरणों के चक्कर में (पर-भावों के तंत्र मे) पड़ जाता है, तब कर्माधीनता की प्रबलता हो जाती है, और तभी उसका अधःपतन प्रारम्भ हो जाता है।[2]

सच्चा स्वातंत्र्ययुक्त आत्मा कब कर्म-परतंत्र, कब स्वतंत्र ?

पाश्चात्य विद्वानों का 'इच्छा-स्वातंत्र्य' शब्द भी भारतीय आस्तिक दर्शनों की दृष्टि से ठीक नहीं है; क्योंकि इच्छा-स्वातंत्र्य का स्पष्टार्थ हो जाता है—मनमाना आचरण-स्वेच्छाचार। इच्छा मन का धर्म है। बुद्धि, चित्त, मन आदि सभी कर्मात्मक जड़ प्रकृति के विकार माने जाते हैं। इसलिए सच्चा स्वातंत्र्य न तो बुद्धि का है और न मन आदि कर्मोपाधिक पदार्थों का है, वह केवल आत्मा का है। यह स्वातंत्र्य न तो कोई आत्मा को देता है और न ही कोई उससे छीन सकता है। स्वतंत्र परमात्मा के समान स्वतत्र जीवात्मा जब अपने स्व-भाव—स्वरूप को भूलकर पर-भावों तथा कषायादि विभावों मे रमण करने लग जाता है, तब वह कर्म-परतंत्र बन जाता है। कर्मोपाधिक बन्धन मे पड़ता है। इसके बावजूद भी मूल में स्वतंत्र आत्मा यदि कर्मक्षय करने का स्वतः पराक्रम करे तो वह कर्म-परतंत्रता की बेड़ियों को तोड़कर पुनः स्वतंत्र-कर्ममुक्त हो सकता है।[3]

---

१. उद्धरेदात्मनाऽऽत्मान, नाऽऽत्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ —भगवद्गीता ६/५

२. विशुद्धधर्मा शुद्धेन, बुद्धेन च स बुद्धिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलाऽऽत्मना।
स्वतंत्रश्च स्वतत्रेण स्वतत्रत्वमश्नुते ॥ —महाभारत शान्तिपर्व ३०८/२७-३०

३. कर्मविपाक और आत्मस्वातंत्र्य (लोकमान्य तिलक) (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषाक) से पृ. २६३

निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा को इस प्रभुत्व—सामर्थ्य के लिए अर्थात्—कर्म की पराधीनता से छुटकारा पाने के लिए स्वयं प्रयत्न करना चाहिये। जीवात्मा द्वारा ऐसा आत्म-प्रयत्न ही, अध्यात्मशास्त्र में पर्याय से आत्मस्वातन्त्र्य माना गया है।

आत्मा की इच्छा के बिना कर्म आदि उसे परवश नहीं कर सकते

इसका फलितार्थ यह है कि आत्मा की इच्छा (संकल्प) के बिना कर्म आदि कोई भी सत्ता उसे न तो अपने अधीन कर सकती है, न ही उसके स्वभावों पर हावी होकर आत्मगुणों को आच्छादित, विकृत या कुण्ठित कर सकती है। जीव अपनी इच्छा से ही शुभाशुभ कर्म करता है, नया जन्म पाता है, और तदनुसार वैसे ही सजीव-निर्जीव पदार्थों का संयोग मिलता है। इसीलिए मुनि से अप्रमत्त रहने का कहा गया है। सारा जगत् कर्मविपाक के अधीन है, यह जानकर मुनि दुःख को पाकर दीन न हो, और सुख को पाकर विस्मित न हो। दोनों ही स्थितियों में समभावपूर्वक रहे। इस प्रकार समग्र जगत् के जीवों की कर्म-परतंत्रता जानकर भी आत्मा चाहे तो अप्रमत्त एवं समभावस्थ रहकर स्वतंत्र रह सकती है।[१] यह सत्य है कि आत्मा उन इच्छाओं या वासनाओं-कामनाओ को समझपूर्वक, सम्यग्दृष्टि-पूर्वक नहीं करती। आत्मा की स्वाभाविक गति-मति अग्निशिखा की भांति ऊर्ध्वगामिनी है, परन्तु स्व-भाव के विरुद्ध इच्छाएँ-वासनाएँ या विकल्प उठते हैं, तब उसकी गति-मति अधोगामिनी हो जाती है, कर्मपुद्गल उसे जकड़ लेते हैं। उसकी स्वतंत्र अध्यात्म विकास की ऊर्ध्वगति को रोक देते हैं। आत्म-विस्मृति या जैनपारिभाषिक शब्दानुसार प्रमाद के कारण जब आत्मा अपनी मौलिक मर्यादाओं से बाहर भटक जाती है, तब वह भावकर्म-द्रव्यकर्म के वशीभूत हो जाती है। कर्मों पर शासन करने के बदले, कर्म उस पर शासन करने लग जाते हैं। समयसार कलश में कहा गया है—जहाँ तक जीव की निर्बलता है, वहाँ तक कर्म का जोर चलता है।[२]

जीव स्वतंत्र है या परतंत्र ? सापेक्ष समाधान

जीव स्वतंत्र है या परतंत्र? यह प्रश्न जब कर्मविज्ञान-मर्मज्ञो से पूछा गया तो उन्होंने अनेकान्त (सापेक्षवाद) की शैली में उत्तर दिया—जीव स्वतंत्र भी है, परतंत्र भी। यह सापेक्ष कथन है। जीव चैतन्यवान् है। जीव

---

१. दुःखं प्राप्य न दीनः स्यात्, सुखं प्राप्य न विस्मितः।
मुनिः कर्मविपाकस्य जानन् परवश जगत् ॥'

—जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख से पृ. १२२

२ समयसार ३१७; कलश १९८ (पं. जयचन्दजी)

(आत्मा) का मूल स्वभाव चेतना है, यह सभी द्रव्यों से विलक्षण है। जीव के सिवाय किसी भी द्रव्य में चेतना नहीं पाई जाती। जीव का चैतन्य स्वभाव होने से वह स्वतंत्र है। लेकिन जब-जब जीव अपने चैतन्य-स्वभाव को भूल जाता है, चेतना की अग्नि विस्मृति की राख से ढक जाती है तब-तब वह कर्म-परतंत्र या पुद्गल-परतंत्र हो जाता है।

आत्मा कर्म (क्रिया) करने में स्वतंत्र, फल भोगने में परतंत्र

इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो एक तथ्य सामने उभर कर आता है। जीव कोई भी क्रिया, प्रवृत्ति अथवा कार्य करने में स्वतंत्र है, परन्तु उस क्रिया की प्रतिक्रियास्वरूप जो फल प्राप्त होता है, उसे भोगने में स्वतंत्र नहीं। विशेषावश्यकभाष्य में इस तथ्य को सापेक्षदृष्टि से उदाहरण देकर समझाया गया है कि कर्म की मुख्यतया दो अवस्थाएँ हैं—बंध (ग्रहण) और उदय (फल)। जीव कर्मों को करने (बाँधने) में स्वतंत्र है, किन्तु उन कर्मों के उदय में आने पर फल भोगने में वह परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं है, फल कर्माधीन मिलता है। जैसे कोई व्यक्ति नारियल या ताड़ के पेड़ पर चढ़ता है। वह चढ़ने में स्वतंत्र है। अपनी इच्छानुसार वह चढ़ सकता है। किन्तु असावधानीवश गिर जाए या गफलत से गिरने लगे, तब वह स्वतंत्र नहीं है; अथवा उक्त वृक्ष से झटपट उतरने में भी स्वतंत्र नहीं है, क्योंकि चढ़ गया तो उसे उतरना तो पड़ेगा ही। चढ़ना तो उसकी इच्छा से हुआ। लेकिन उतरना इच्छा से नहीं, विवशता से है। इसलिए चढ़ने में वह स्वतंत्र है, किन्तु उतरने में परतंत्र है।[1] चढ़ने का परिणाम उतरना है।

वहाँ आगे कहा गया है—"प्रायः संसारी जीव अधिकतर कर्म-परवश ही हैं। किन्तु कहीं-कहीं प्रबल धृति-बलादि के सद्भाव से कर्म भी जीववश हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—कहीं किसी शहर आदि में धनिक (साहूकार—ऋणदाता) बलवान् होता है; जबकि यदि कर्जदार (ऋणी) कहीं किसी छोटे से गाँव में जाकर बस जाता है तो वहाँ वह निर्धन कर्जदार (ऋणी) भी बलवान् हो जाता है; क्योंकि वहाँ उस (नगरवासी) साहूकार (ऋणदाता) की नहीं चलती। प्रस्तुत प्रसंग में कर्म धनिक (ऋणदाता) सदृश है और कर्जदार (ऋणी) कर्मयुक्त जीव है। जिस प्रकार नगर आदि में साहूकार (धनी) बलवान् होता है। वह सरकार द्वारा उसे गिरफ्तार करवा

१. (क) 'अन्तर्मन की ग्रंथियाँ खोलें' (आचार्य नानेश के जिनवाणी क.सि. में प्रकाशित प्रवचन) से पृ. १२७

(ख) 'स्वतंत्र या परतंत्र? (कर्मवाद में युवाचार्य महाप्रज्ञ के प्रकाशित लेख से भावांश) पृ. ८६-८७

कर कर्ज वसूल कर लेता है, उसी प्रकार जीव (सकर्मक आत्मा) में यदि धृति, उत्साह, पराक्रम आदि बल न हो तो कर्म उसे अपने अधीन कर लेता है। किन्तु जैसे ग्राम आदि में कर्जदार बलवान् होता है, उसी प्रकार जहाँ जीव धृति, बल, शरीर संहनन में सुदृढ, उत्साही और पराक्रमी हो, वहाँ वह बलवान् होता है और कर्म को अपने अधीन कर लेता है।[1]

कर्म का स्वभाव : परतंत्र बनाना, आत्मा का स्वभाव : स्वतंत्र होना

जो क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया निश्चित ही होती है। अतः क्रिया करने में मनुष्य स्वतंत्र है, किन्तु प्रतिक्रिया में वह परतंत्र है। एक जैनाचार्य ने कहा है—**'कडेण मूढो पुणो त करेइ'**—एक बार जो कार्य किया जाता है, उससे साधारण अज्ञ, मानव को मोह उत्पन्न हो जाता है और मोहमूढ व्यक्ति पुनः पुनः उसी कार्य को करता है। पुनः पुनः उसी कार्य को दोहराने से एक संस्कार बन जाता है। फिर मनुष्य के मन में उक्त संस्कार के कारण उस क्रिया को बार-बार करने की ललक उठती है। व्यक्ति विवेकमूढ बनकर पुनः पुनः उस क्रिया को करता जाता है। इससे एक संस्कार बन जाता है जो कर्मरूप में उसके साथ बद्ध होकर कर्मानुसार मनचाहा नाच नचाता है। कर्म का स्वभाव है कि जो जीव उसकी गिरफ्त में आएगा, उसे वह अपने अधीन—परतंत्र बना लेता है।

यह तो हुई आत्मा की कर्म-परतंत्रता की बात। यदि आत्मा अपने मूलस्वरूप को अप्रमत्त होकर जान ले, मान ले तो उसकी चेतना-शक्ति अतीव प्रबल हो जाती है। अतः यदि वह प्रबलरूप से जागृत हो जाए और दृढसंकल्पपूर्वक प्रतिज्ञाबद्ध हो जाए कि मुझे यह कार्य कतई नहीं करना है, तो फिर संस्कार या कर्म कितने ही प्रबल क्यों न हों, एक झटके में वह उन्हें तोड़ सकता है।

कर्म करने में जीव स्वतंत्र, फल भोगने में परतंत्र

इसलिए स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों सापेक्ष हैं, सर्वथा निरपेक्ष नहीं। जैसे—एक व्यक्ति भांग पी लेता है। वह भांग पीने में तो स्वतंत्र है। इच्छा हो तो पीए, इच्छा न हो तो न पीए। किन्तु उसके परिणामस्वरूप

---

१. (क) कम्मं चिणंति सवसा तस्सुदयम्मि उ परवसा होंति।
रुक्खं दुरूहइ सवसो, विगलइ य परवसो तत्तो ॥
घणिय-सरिसं तु कम्मं, धारणिग-समा उ कम्मिणा होंति।
संतासंत घणा जह धारणिग धिइबलं तणु ॥
कम्मवसा खलु जीवा, वसाइं कहिं वि कम्माइं।
कत्थइ घणिओ बलव, धारणओ कत्थइ बलवं ॥

(ख) देखिये 'कर्मवाद' में इसका निरूपण पृ. ८७

नशा चढ़ा। उसका फल तो उसे भोगना ही पड़ेगा। उसकी इच्छा न होते हुए भी भांग अपना चमत्कार दिखाएगी ही। अतः भांग पीने में व्यक्ति स्वतंत्र है, परन्तु उसका परिणाम भोगने में परतंत्र है।

भगवद्गीता में इसी सिद्धान्त की प्ररूपणा की गई है। वहाँ कहा गया है—तेरा कर्म क़रने में अधिकार है। अर्थात्—कार्य (कर्म) करने में तू स्वतंत्र है, किन्तु उसके फल में तेरा अधिकार कदापि नहीं है। अर्थात्—उसका फल भोगने में तू परतंत्र है।[1]

अतः सिद्धान्त यह हुआ है कि जीव अपने कर्तृत्व में स्वतंत्र है, किन्तु फल भोगने में परतंत्र है। अर्थात्—कर्तृत्व काल में वह स्वतंत्र है, किन्तु परिणामकाल में परतंत्र है।

प्रत्येक कर्म करने में जीव स्वतंत्र, किन्तु परिणाम अवश्य स्वीकारना होगा

मोहम्मद साहब के अली नामक एक अनुयायी ने एक बार उनसे पूछा—"कर्म करने में मैं स्वतंत्र हूँ या परतंत्र ?"

मोहम्मद साहब ने कहा—"एक पैर ऊँचा रखकर दूसरे पैर से खड़े रहो।"

अली ने अपना दाहिना पैर ऊँचा किया और बाँये पैर से खड़ा हो गया।

फिर मोहम्मद साहब ने कहा—"अच्छा, अब बांया पैर ऊँचा उठाओ।"

अली ने कहा—"पैगम्बर! आप भी मेरा मजाक करते हैं। दाहिना पैर ऊँचा उठाने के बाद, बाँया पैर कैसे ऊँचा उठा सकता हूँ? ऐसा करने पर तो मैं नीचे गिर पड़ूंगा। मै तो दाँया पैर ऊँचा उठाकर बध गया, अब बाँया पैर नही उठाया जा सकता।"

इस पर मोहम्मद साहब ने पूछा—"परन्तु यदि तुमने पहले से ही बाँया पैर ऊँचा उठाया होता तो उठा सकते थे या नहीं ?"

वह बोला—"अवश्य उठा सकता था। पहले से मैंने बाँया पैर उठाया होता तो मैं वैसा करने में स्वतंत्र था, वहाँ तक मैं बँधा नहीं था। वहाँ तक मैंने दोनों में से कोई भी पैर उठाने की क्रिया नहीं की थी। मगर बाँया पैर पहले उठाया होता तो भी मैं बंध जाता, फिर मैं दाँया पैर नहीं उठा पाता।"

---

१. (क) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ५०
(ख) "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" —गीता अ. २, श्लो. ४७

मोहम्मद साहब ने कहा—"बस, इसी प्रकार तुम प्रत्येक कर्म करने में तो स्वतंत्र हो, परन्तु कर्म करने के साथ ही वह तुम्हें बंधन में जकड़ देगा।"[१]

कर्म करने की स्वतंत्रता का फलितार्थ

निष्कर्ष यह है कि एक बार कर्म करने के पश्चात् जो भी परिणाम—बंधन आ पड़े, वह व्यक्ति को स्वीकारना ही पड़ता है। कर्म करने में मनुष्य स्वतंत्र है, इसका अभिप्राय यह है कि कर्म करना, न करना, कैसा करना, कैसा कर्म न करना? इत्यादि विचारपूर्वक शुद्धबुद्धि का उपयोग करके कर्म में प्रवृत्त होने में मनुष्य स्वतंत्र है, परन्तु उसका फल भोगने में वह परतंत्र है। उसकी इच्छा फल भोगने की न हो तो भी उसे वह फल बरबस भोगना ही पड़ेगा। उसमें टालमटूल, आनाकानी या किनाराकसी नहीं चलेगी।[२]

दृष्टान्त द्वारा कर्म करने में स्वतंत्रता, फलभोग में परतंत्रता का स्पष्टीकरण

एक व्यक्ति किसी के यहाँ मेहमान बना। यजमान ने उसके लिए खीर, पूड़ी, दो साग, पकौड़े, चौला, चबैना, अचार आदि अनेक खाद्य पदार्थ बनवाकर उसकी थाली में परोस दिये। अब वह मेहमान क्या खाने, क्या न खाने और कौन सी चीज कम या अधिक खाने में स्वतंत्र है। जो चीज मेहमान अधिक खाना चाहता है, उसे यजमान प्रेम से अधिक से अधिक परोसता जाता है। कौन-सी वस्तु मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल है? इसका ध्यान मेहमान को रखना चाहिए। मेहमान यह जानते हुए भी कुपथ्यकारक चीज अधिक खाता है, इसे खाने में वह स्वतंत्र है। परन्तु इसके परिणामस्वरूप मेहमान को टट्टियाँ लगने लगीं। अब दिनभर शौच जाने के लिए वह परतंत्र हो गया। अर्थात्—कुपथ्यकारक चीज खाने में मेहमान स्वतंत्र था, लेकिन उसके फल भोगने में वह परतंत्र है, वह फल भोगने से बच भी नहीं सकता।[३]

कर्म : परतंत्रता कब होते हैं, कब नहीं ?

इसका फलितार्थ यों तो राग-द्वेष-कषाय-युक्त परिणामों से किये गए समस्त कर्म बन्धनकारक परतंत्रकर्ता है, परन्तु वे तभी परतंत्रता में डालने वाले होते हैं, जब वे कर्ता द्वारा कर लिये जाते हैं। बद्ध होने से पहले तक मनुष्य कर्म करने में पूर्ण स्वतंत्र है। मनुष्य सज्जन या दुर्जन बनने, दान

१. (क) कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ७६
(ख) कर्मवाद से पृ. ८७

२. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ७५-७६

३. वही, पृ. २६ से सारांश

करने या न करने, सत्य बोलने या असत्य बोलने, यहाँ तक कि आत्महत्या करने, न करने में भी वह पूर्ण स्वतंत्र है।

कर्म करने की जितनी स्वतंत्रता : उतनी ही जिम्मेवारी में परतंत्रता

कर्म-स्वातंत्र्य का फलितार्थ यह है कि कर्मकर्ता दुर्जनता या सज्जनता के चाहे जैसे कर्म करने में स्वतंत्र है, परन्तु उसका फल भोगने में वह उतना ही परतंत्र है। उसे कर्म करने के बाद उसका मनचाहा फल भोगने या न भोगने की स्वतंत्रता नहीं है। मनुष्य कर्म करने में तो स्वतंत्र हो, किन्तु उसका परिणाम भोगने की जिम्मेवारी से मुक्त हो जाए, ऐसी द्विमुखी स्वतंत्रता नहीं है। इसलिए कर्मकर्ता की जितनी स्वतंत्रता कर्म करने की है, उतनी ही जिम्मेवारी उस कर्म के परिणाम भोगने की उसकी होगी। कहावत है—

Freedom implies responsibility.

जितनी स्वतंत्रता, उतनी ही जिम्मेवारी; इसका यथार्थ भान कर्मकर्ता को रखना आवश्यक है। कुछ भी करने के बाद फिर मनुष्य चाहे कि उसका फल न भोगना पड़े, यह असम्भव है।

यह पूर्ण स्वतंत्रता नहीं, उसका मजाक है

पूर्ण-स्वतंत्रता का इतना ही या ऐसा अर्थ नहीं है कि अच्छे कर्म करने की स्वतंत्रता तो हो, बुरे कर्म करने की नहीं। ऐसी स्वतंत्रता पूर्ण नहीं कहलाती। यह तो वैसी ही स्वतंत्रता हुई, जैसे—कोई अपनी पत्नी को घर की पूर्ण स्वतंत्रता देकर कहे कि "मैने उसे सारी तिजोरी सौंप दी है, परन्तु उसकी चाबियाँ अपने पास रखी हैं।" ऐसी स्वतत्रता पूर्ण स्वतंत्रता नहीं कहलाकर स्वतंत्रता की मजाक कहलाती है।[१]

अमेरिका में 'हेनरी फोर्ड' ने जब सर्वप्रथम मोटरें बनाई तो उसने सभी मोटरें केवल एक ही रंग—काले रंग की बनाईं और उन्हें सेल-डिपो में कतारबंध खड़ी करके ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए सेल-डिपो पर एक बोर्ड लगाया—

'You can choose any colour you like, provided it is black.'

"तुम चाहे जो रंग (रंग की मोटर) पसद कर सकते हो, बशर्ते कि वह काला हो।"

इसमें स्वतंत्रता तो पूरी दी गई, परन्तु उसके साथ काला रंग होने की शर्त लगा दी; यह स्वतंत्रता नहीं, निज-तंत्रता (अपनी इच्छा के अधीन करने की चातुरी) थी।[२]

---

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ७४-७५

२. वही, पृ. ७५

कर्म करने के निर्णय में मनुष्य स्वतंत्र : परन्तु बाद में कर्म-परतंत्र

निष्कर्ष यह है कि रागादि परिणामयुक्त कर्ममात्र परतंत्रताकारक—बन्धनकारक है। इसलिए कर्म करने से पहले मनुष्य यह निर्णय करने में स्वतंत्र है कि मुझे शुभ कर्म करना चाहिए या अशुभ? अथवा मुझे अबन्धक शुद्ध कर्म करना चाहिए? शुभ परिणाम हों या अशुभ परिणाम, दोनों से किये जाने वाले कर्म करने में मनुष्य स्वतंत्र है, परन्तु इन दोनों प्रकार के बन्धनकारक साम्परायिक कर्मों का स्वभाव जीव को परतंत्र बनाने का है, यह समझ लेना चाहिए। ऐर्यापथिक कर्म, रागादि परिणामों से रहित शुद्ध निष्काम कर्म, बन्धरहित होने से वे मनुष्य को परतंत्र नहीं बना सकते। कर्म के परतंत्रीकरण स्वरूप का यही फलितार्थ है।

■

५

क्या कर्म महाशक्तिरूप है ?

कर्मराज का सर्वत्र सार्वभौम राज्य

कर्म संसारस्थ प्रत्येक प्राणी के साथ लगा हुआ है । जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, सुख, शरीर, मन, बुद्धि, शक्ति, प्राण, अंगोपांग, यश-अपयश, मान-सम्मान आदि सब कर्म की शक्ति के नीचे दबे हुए हैं। संसारस्थ जीव का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जिस पर कर्म छाया हुआ न हो। कर्म ही उसे सांसारिक सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, भौतिक उन्नति-अवनति, निन्दा-प्रशंसा, सम्मान-अपमान आदि द्वन्द्वों के हिंडोले मे लगातार ऊपर-नीचे झुलाता रहता है। संसार की कोई भी गति, योनि, जन्म-स्थान, वातावरण, परिस्थिति, कक्षा, श्रेणी, भूमिका आदि ऐसी नहीं बची है, जहाँ कर्म का सार्वभौम राज्य न हो। संसार मे सर्वत्र अबाधगति से इसका प्रवेश और प्रभाव है। पंचतंत्र में भी कहा गया है—"मनुष्यो का पूर्वकृत कर्म आत्मा के साथ-साथ रहता है। वह सोते हुए के साथ सोया रहता है, चलते हुए के पीछे-पीछे चलता है।" उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है—"कर्म कर्त्ता के साथ-साथ अनुगमन करता (पीछे चलता) है।"[१]

कर्म ही विधाता, शास्ता, ब्रह्मा, धर्मराज आदि है

वैदिक मनीषियों ने जिसे वरुणदेव, यमराज, चित्रगुप्त या धर्मराज के रूप मे चित्रित किया है, जिसे वैदिक पौराणिकों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में उत्पत्ति, स्थिति और संहार का प्रतीक बताया है, वह जगद्-व्यापी महाशक्ति वस्तुतः 'कर्म' ही है। वही जगत् की विविध-वैचित्र्य-परिपूर्ण व्यवस्था का विधाता, शास्ता और कर्त्ता-धर्त्ता है।[२] यही कारण है कि जैन आदिपुराण (महापुराण) मे कर्म को ब्रह्मा का

---

१. (क) शेते सह शयानेन, गच्छन्तमनुगच्छति।
नराणां प्राक्तन कर्म, तिष्ठत्यथ सहात्मनः॥ —पंचतत्र २/१३०
(ख) "कत्तारमेव अणुजाइ कम्म।" —उत्तराध्ययन १३/२३

२. 'कर्म रहस्य' (ब्र. जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १२५

पर्यायवाची बताते हुए कहा गया है—"विधि, स्रष्टा, विधाता, दैव, पुराकृत कर्म, और ईश्वर, इन सब शब्दों को कर्मरूपी ब्रह्मा के पर्यायवाची समझने चाहिए।"[१]

कर्मरूपी विधाता का विधान अटल है

विश्व के इस विधाता का विधान अटल है। मानव, दानव, देव, देवेन्द्र, नरेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरपाल, आदि यहाँ तक कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीर्थंकर, पैगम्बर, ऋषि-महर्षि, अवतार आदि कोई भी इसके दण्ड से बच नहीं सका है, और न ही बच सकता है। सभी एक या दूसरे रूप में इसके पाश में जकड़े हुए हैं, और जकड़े गये हैं। कर्मरूपी महाशक्ति को नमस्कार करते हुए भर्तृहरि को कहना पड़ा—

"जिस कर्म ने (वैदिक पुराणों के अनुसार) ब्रह्मा को कुम्भकार की तरह ब्रह्माण्ड रूपी भाण्ड (बर्तन) बनाने में नियंत्रित (नियोजित) कर रखा है; जिसने विष्णु को दस अवतार ग्रहण करने तथा सृष्टि का पालन करने का गहन कार्य देकर घोर संकट में डाल दिया। जिस कर्म ने रुद्र (महादेव) को खप्पर हाथ मे लेकर भिक्षाटन करने का कार्य सौंप दिया। जिस कर्म के प्रभाव से तेजस्वी अंशुमाली सूर्य को नित्य ही गगन-मण्डल में भ्रमण करना पड़ता है। उस कर्म को नमस्कार है।"[२]

निष्कर्ष यह है कि राजा हो या रंक, धनिक हो या निर्धन, सम्राट हो चाहे परिव्राट्, सेवक या दास हो चाहे स्वामी, श्रमिक हो या अश्रमिक, निरक्षर हो चाहे साक्षर, बुद्धिमान् हो चाहे मूर्ख, युवक हो या बालक, युवती हो चाहे वृद्धा, प्रौढ़ हो चाहे वृद्ध, सभी कर्मशक्ति के आगे नत-मस्तक हैं।

कर्म : शक्तिशाली शास्ता एवं अनुशास्ता

कर्म एक ऐसा प्रचण्ड शक्तिशाली शास्ता अथवा अनुशास्ता है, जो अपने कानून कायदों को भंग करने, या मर्यादाओ को तोड़ने वालों को दण्ड देता है और शुभ कर्म एवं परोपकारमूलक सुकृत्य करने वालों को पुरस्कार

---

१. विधिः स्रष्टा विधाता च दैवं कर्म पुराकृतम्।
ईश्वरश्चेति पर्याया विज्ञेयाः कर्मवेधसः ॥
—आदिपुराण (महापुराण) ४/३७

२. "ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरे;
विष्णुर्येन दशावतार-गहने क्षिप्तो महासंकटे॥
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥"
—भर्तृहरि : नीतिशतक, श्लो. ९२

भी देता है। उसे प्रत्येक प्राणी के द्वारा किये जाने वाले क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्मों का लेखा-जोखा रखने की जरूरत नहीं पड़ती। उसने प्रत्येक प्राणी के कृत, भुक्त और क्षीण कर्मों के संस्कारों का संचय करने के लिये प्रत्येक प्राणी को अपनी ओर से 'कार्मण शरीर' नामक ऐसा साधन प्रदान कर रखा है, जो उसके द्वारा किये गए, भोगे गए या क्षय किये गए समस्त अच्छे-बुरे कृतक कर्मों के संस्कारों को टेलीपैथी की तरह उस पर अनायास ही अंकित करता रहता है। वे ही कर्म-संस्कार यथासमय उदित होकर उसे दण्ड या पुरस्कार देते रहते हैं। बाहर का दिखाई देने वाला यह स्थूल शरीर (औदारिक या वैक्रिय शरीर) रहे या न रहे परन्तु यह कार्मण शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) मरते या जीते रहते हर समय प्रतिक्षण संसारी जीव के साथ रहता है और उसकी समस्त कार्यवाही का सूक्ष्म-निरीक्षण-परीक्षण करता रहता है। शास्ता और अनुशास्ता के रूप में समय-समय पर प्रत्येक प्राणी को उसके कर्म का फल देता रहता है।[१] हिन्दू धर्म के पुरस्कर्ता गोस्वामी तुलसीदास जी भी कहते हैं—

"कर्म-प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा।।"[२]

इसलिए किसी को उसके शुभाशुभ कर्मानुसार यथोचित दण्ड-पुरस्कार, या अपमान-सम्मान दिलाना, स्वर्ग-नरक में या मनुष्य-तिर्यञ्च में भेजना, अल्पायु या दीर्घायु, सुखी-दुःखी, धनी-निर्धन, विपन्न-सम्पन्न अथवा स्वस्थ-अस्वस्थ बनाना उसके बांये हाथ का खेल है। कर्म का शासन कहें या अनुशासन विश्व मे सर्वत्र सभी बद्ध जीवों पर चलता है।

मुक्ति न होने तक कर्म छाया की तरह पिछलग्गू

तथागत बुद्ध जैसे महान् व्यक्तियों को भी कर्म की महाशक्ति का लोहा मानकर कहना पड़ा—"भिक्षुओ! इस जन्म से इकानवे जन्म पूर्व मेरी शक्ति ('भाला' नामक शस्त्र विशेष) से एक पुरुष की हत्या हुई थी; उसी कर्म के फल (विपाक) स्वरूप मेरा पैर आज कांटे से विंध गया है।"[३]

कर्मों से जीव सर्वथा मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वे छाया की तरह प्रतिपल पीछे लगे रहते हैं। वेदपंथी कवि सिह्लन मिश्र भी यही कहते

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से सारांश
२. रामचरितमानस (गोस्वामी तुलसीदास)
३. इत एकनवतितमे कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः।।
—षड्दर्शन समुच्चय टीका में उद्धृत

हैं—"आप आकाश में उड़ जायँ, दिशाओं के परले पार चले जायँ, अगाध महासागर के तल में जाकर बैठ जायँ, कहीं भी जाकर छिप जायँ, जहाँ चाहे, वहाँ पहुँच जाएँ, लेकिन आपने जन्म-जन्मान्तर में जो भी शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके फल तो आपकी छाया की तरह आपके साथ ही रहेंगे। वे आपको फल दिये बिना कदापि नहीं छोड़ेंगे।"[१]

फल भोगने तक कर्मशक्ति पीछा नहीं छोड़ती

भगवान् महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा कि "कृतकर्मों (निकाचित रूप से बाँधे हुए कर्मों) का फल भोगे बिना आत्मा का छुटकारा नहीं हो सकता।"[२] कई व्यक्ति यह सोचते हैं कि परलोक में किये हुए कर्म तो वहाँ के शरीर छूटने के साथ ही छूट गए, अब तो इस लोक में हम जो अच्छे कर्म करते हैं, उन्हीं का फल भोगना रहा, किन्तु भगवान् महावीर ने अपनी अनुभव सिद्ध वाणी में कहा—"जीव ने जो कर्म परलोक में किये हैं, उनका फल भोगना यदि बाकी रह गया है तो उनके फल इस लोक में भोगे जाते हैं, तथा कई कर्म ऐसे भी होते हैं, जो इस लोक में किये गए हैं, उनके फल इस लोक में भी भोगे जाते हैं।"[३]

कर्मों की सर्वत्र अप्रतिहत गति

तात्पर्य यह है कि कर्मों की सर्वत्र अबाध गति है। किसी महान् से महान् कहलाने वाले व्यक्ति द्वारा या कहीं भी छिपकर, एकान्त में, अंधेरे में किये गये कर्म के फल को भी भुगताये बिना कर्म नहीं छोड़ता। तथागत बुद्ध भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं—"चाहे अन्तरिक्ष में चले जाओ, चाहे समुद्र में घुस जाओ, एवं चाहे पर्वत की गुफा में छिपकर बैठ जाओ, किन्तु जगत् में ऐसा कोई भी प्रदेश (स्थान) नहीं है, जहाँ स्थित होने पर पाप कर्मों (के फल) से छुटकारा मिल जाए।"[४] जीव द्वारा विभाव में रमण करने में कर्म की सामर्थ्य ही कारण है। कर्म की शक्ति अचिन्त्य है।

---

१. आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्तमम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जित-शुभाशुभ-कृन्नराणां, छायेव न त्यजति कर्मफलानुबन्धि॥
—शान्तिशतकम् ८२

२. "कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।" —उत्तराध्ययन सूत्र ४/३

३. "परलोगकडा कम्मा इहलोए वेइज्जन्ति।
इहलोगकडा कम्मा इहलोए वेइज्जंति॥" —भगवती सूत्र

४. (क) न अंतलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पव्वतानं विवरं पविस्स।
न विज्जति सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पावकम्मा॥"
—धम्मपद ९/१२

(ख) पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध १०५/९२५

कर्म के नियम अटल हैं

विश्व में प्रत्येक राज्य के हर डिपार्टमेंट को व्यवस्थित रूप से चलाने और नियंत्रण में रखने के लिए कानून-कायदे बने होते हैं। समाज के सुचारु रूप से संचालन और नियमन करने हेतु नियमोपनियम बने होते हैं। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी धर्मसंघों को सुव्यवस्थापूर्वक चलाने, धर्म तथा धार्मिकों के प्रति आस्था, श्रद्धा और भक्ति को सुदृढ़-सुस्थिर रखने एवं धर्मानुसार जीवन-व्यवहार चलाने के लिये आचार-संहिता तथा समाचारी बनी होती है। पुलिस विभाग के लिये पुलिस मेन्युअल तथा पी. डब्ल्यु. डी. विभाग के लिये उसका मेन्युअल होता है। इसी प्रकार विश्व के प्रत्येक प्राणी के अपने-अपने अच्छे-बुरे, कटु-मृदु, क्रूर-करुण, तथा अहंत्व-निरहंत्व, लोभ-निर्लोभ, स्वार्थ-परमार्थ आदि से युक्त विचारों, वचनों एवं कार्यों का उसे यथोचित सुफल-दुष्फल मिल सके, इसके लिए कर्म का सार्वभौम तथा अटल नियम (कानून) है। सारा विश्व कर्म के अटल नियम (कानून) के अनुसार चलता है, इसमें रत्तीभर भी गड़बड़ी नहीं होती।[१]

कर्म के नियमों में कोई अपवाद नहीं

कर्म के कानून की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमे किसी के लिये कोई भी रू-रियायत या मुलाहिजा नहीं होता। विश्व के समस्त कानून-कायदों मे कोई न कोई अपवाद (Exception to the rule Proviso) आदि होते हैं; धार्मिक नियमो और आचार-सहिताओं में भी उत्सर्ग और अपवाद होता है, मगर कर्म के कानून मे प्रायः अपवाद नही होता।[२]

जड़ कर्म पुद्गलों में भी असीम शक्ति

साधारण व्यक्ति यह समझते हैं कि कर्म तो पुद्गल हैं, जड़ हैं, उनमे क्या शक्ति होगी? परन्तु यह उनका भ्रम है। जड़ पदार्थों में भी असीम शक्ति होती है। अणुबम, परमाणु बम बहुत छोटा होता है, क्रिकेट की गेंद के आकार का-सा, उस छोटे-से बम का चमत्कार तो हम सुन चुके हैं—हीरोशिमा और नागासाकी जैसे दो विशाल और सुन्दर शहरों को बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। जड़ बम का धमाका लाखो मनुष्यों के लिए विनाशलीला का सृजन कर सकता है, यह वस्तु आज के मानव से छिपी नहीं है। अणुबम (Atom bomb) आकार मे बहुत ही छोटा होता है, किन्तु शक्ति की अपेक्षा वह सहस्रों विशाल बमों से अधिक कार्य करता है। अब तो

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से साराश पृ. २
२. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) पृ. २ से

उससे भी पांच-सौ गुनी शक्ति वाला हाइड्रोजन बम निकला है। भौतिक विज्ञानवेत्ताओं का प्रयत्न राई के दाने से भी छोटा बम बनाने का हो रहा है। वह एक ही बम सारे विश्व का सर्वनाश कर सकता है।

इसीलिए पंचाध्यामी (उ.) में कहा गया है—"कर्म की शक्ति आत्मा की शक्ति में बाधक है।"[१]

तात्पर्य यह है कि जड़ पुद्‌गल में भी अनन्त शक्ति होती है। इस कारण वह आत्मा की प्रचण्ड शक्ति को तथा आत्मा के अनन्त निजीगुणों को भी दबा सकने में समर्थ होता है। कर्म शक्ति यद्यपि जड़ है, तथापि चेतना शक्ति को आबद्ध करने के इसके प्राबल्य तथा परिणाम में इसका ताण्डव अत्यधिक शोचनीय एवं कल्पनातीत देखा जाता है। समयसार में कहा गया है—कर्म की बलवत्ता से जीव के रागादि परिणाम अबुद्धिपूर्वक भी होते हैं।[२]

सूक्ष्म कर्म-परमाणुपुंज में अनन्त प्रकार की परिणाम-प्रदर्शन शक्ति

यद्यपि आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है, फिर भी उसे बाँधने वाली कर्म-वर्गणाओं (कार्मणवर्गणाओं) का पुंज अत्यन्त सूक्ष्म है। उस सूक्ष्म कर्मपुंज में अनन्त प्रकार के परिणमन-प्रदर्शन की शक्ति है। बद्ध-आत्मा के साथ मिली हुई कार्मणवर्गणाओं में अनन्तानन्त प्रदेश कहे गए हैं, जो अभव्य जीवों से भी अनन्त गुणे हैं। तथा सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रियगोचर नहीं हैं। उनमें विद्यमान कर्म-शक्ति (Karmicenergy) अद्‌भुत चमत्कार दिखाती है।[३] यह दुष्ट कर्मशक्ति ही है, जो ग्यारहवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए श्रुतकेवली जैसे महापुरुष को भी अनन्तकाल तक संसार में परिभ्रमण कराती है। समयसार में यहाँ तक कहा गया है कि कर्म मोक्ष के हेतु (ज्ञानादि) का तिरोधान करने वाला है। कर्मशक्ति के प्रभाव से चतुर्दश पूर्वज्ञानधारक महापुरुष भी प्रमादवश अनन्तकाल तक भवभ्रमण करते हैं।[४] कर्मशक्ति आत्मा की अनन्त ज्ञानशक्ति को ढककर अक्षर के अनन्तवें भाग-परिमित बना देती है। यह (आयु) कर्म की ही प्रचण्ड शक्ति है, जो अपने प्रभाव से किसी जीव को अपर्याप्तक निगोद पर्याय वाला जीव

---

१. पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ३२८
२. समयसार १७२/क. ११६ (पं. जयचंद जी)
३. आत्मतत्त्व विचार (विजयलक्ष्मण सूरी जी) से पृ. २८०
४. (क) महाबंधो भा. १ (प्रस्तावना) (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) से पृ. ७४-७५
   (ख) आरूढाः प्रशमश्रेणिं श्रुतकेवलिनोऽपि च।
   भ्राम्यन्तेऽनन्तसंसारमहो! दुष्टेन कर्मणा॥"
   —जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में उद्धृत पृ. १२३
   (ग) समयसार १५७-१५९

बनाकर एक श्वास में १८ बार शरीर के निर्माण और ध्वंस द्वारा जीवन-मरण को प्रदर्शित करती है। 'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में कहा गया है—"(कर्मरूप) पुद्गल द्रव्य की कोई ऐसी अपूर्वशक्ति दिखाई देती है, जिसके कारण जीव का केवलज्ञान-स्वभाव भी विनष्ट हो जाता है।"[1]

कर्मशक्ति : धनादि सभी शक्तियों से बढ़कर

संसार में धनबल, पशुबल, जनबल, भुजबल आदि अनेकविध शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, परन्तु कर्म की शक्ति इन सबसे प्रबल एवं प्रचण्ड मानी गई है। इसी दृष्टि से भगवती आराधना में कर्म की बलवत्ता बताते हुए कहा गया है—"जगत् के सभी बलवानों से कर्म बलवान् है। कर्म से बढ़कर संसार में कोई बलवान् नहीं है। जैसे—हाथी नलिनीवन को नष्ट कर देता है, वैसे ही 'कर्मबल'[2] समस्त बलों का मर्दन कर देता है। परमात्म—प्रकाश में भी स्पष्ट कहा गया है—कर्म ही इस पंगु आत्मा को तीनों लोकों में परिभ्रमण कराता है। कर्म बलवान् है। वे बहुत हैं। उन्हें विनष्ट करना अशक्य हो जाता है। वे चिकने, भारी और वज्र के समान दुर्भेद्य होते हैं।[3]

कर्मशक्ति के सम्मुख मनुष्य की बौद्धिक और शारीरिक शक्ति अथवा जितनी भी अन्य भौतिक शक्तियाँ हैं, वे सबकी सब धरी रह जाती हैं। अन्य सब भौतिक शक्तियों को कर्मशक्ति के आगे नतमस्तक होना पड़ता है। क्या जैनागम, क्या महाभारत और क्या अन्य धर्मग्रन्थ सभी इस तथ्य के साक्षी हैं कि कर्मरूपी महाशक्ति के सम्मुख मनुष्य की सारी शक्तियाँ नगण्य हैं, तुच्छ हैं।

मनुष्य बहुत-सी लम्बी-चौड़ी योजनाएँ तैयार करता है, आकाश-पाताल एक कर देता है। मृत्यु से बचने के लिए, जीवन में आने वाले संकटों से सुरक्षा के लिए, तथा अपने धन, जन आदि की रक्षा एवं वृद्धि के लिए अनेक उपाय सोचता है और अजमाता है, किन्तु जब उसे कर्म का प्रचण्ड शक्तिशाली दैत्य आ घेरता है, तब उसके सारे मनसूबे, एवं समस्त उपाय धूल में मिला देता है। इतिहास इस तथ्य-सत्य का पूर्णरूप से

---

१. का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गल-दव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाण-सहावो विणासिदो जाइ जीवस्स॥ —कार्तिकियानुप्रेक्षा २११

२. "कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्माद णत्थि कोइ जगे।
सव्व बलाइं कम्मं मलेदि, हत्थीव णलिणिवनं ॥"
—भगवती आराधना गा. १६२१

३. परमात्म-प्रकाश (मूल)

समर्थन कर रहा है। संसार में दैनन्दिन घटित होने वाली घटनाएँ पूर्णरूप से इस अनुभवसिद्ध तथ्य की साक्षी हैं।[1]

प्रचण्ड कर्मशक्ति के आगे बड़े-बड़े महारथी परास्त

महाभारत के प्रसिद्ध नायक पाण्डवों की शक्ति को कौन नहीं जानता ? परन्तु कर्मों की प्रचण्ड शक्ति के आगे उनकी कोई भी शक्ति काम न आ सकी। पाण्डुपुत्र अर्जुन महाभारत के संग्राम में अपने सैन्यदल के सेनापति थे। वे इतने अधिक बलिष्ठ थे कि अकेले ही हजारों व्यक्तियों को पीछे धकेल देते थे, किन्तु कर्मशक्ति के आगे वे भी परास्त हो गए।

महाभारत कहता है कि पूर्वकृत कर्मोदयवश पाण्डवों को बारह वर्ष तक वनवास के उपरान्त एक वर्ष का अज्ञातवास भी राजा विराट की नगरी में व्यतीत करना पड़ा। अज्ञातवास की शर्त बड़ी कठोर थी। दुर्योधन आदि कौरवों को पता न चल सके, इस प्रकार से गुप्त वेष में छिपकर समय-यापन करना था। जिनके यहाँ सैकड़ों दास-दासियाँ सेवा में तैनात रहती थीं, उसी पाण्डव-परिवार को कर्मराज के प्रकोप के कारण स्वयं दास बनकर रहना पड़ा । महाबली अर्जुन बृहन्नला के नाम से नपुंसक के रूप में रहकर राजकुमारियों को नृत्य एवं गायनकला सिखाया करते थे। प्रबल शक्तिमान् भीम ने विराटराज का रसोइया बनकर समय बिताया। जिसकी सेवा में सैकड़ों दासियाँ रहती थीं, उस महारानी द्रौपदी ने सैरिन्ध्री के नाम से दासी बनकर कालयापन किया।

एक पाण्डव परिवार क्या, हजारों-लाखों उन जैसे शक्तिशाली परिवार संसार में हुए हैं, जिनकी शक्तियों से, जिनकी धाक से एक दिन संसार कांपता था, लेकिन कर्मों की प्रचण्ड शक्ति ने उन्हें भी पछाड़ दिया। कर्मों के दरबार में लाखों शक्तिशाली योद्धाओं, चक्रवर्तियो, नरेन्द्रों और देवेन्द्रों तक को झुकना पड़ा। कर्मों की प्रचण्ड आंधी ने उनकी जड़ें उखाड़ दीं।[2]

कर्मरूपी महाशक्ति के प्रकोप की भयंकरता

कर्म एक महाशक्ति है, इसके आगे किसी का वश नहीं चलता। जिसके जीवन पर कर्मशक्ति का प्रकोप हो जाता है, उसे अतीव भयावह एवं लोमहर्षक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। जन-साधारण की बात तो जाने दीजिए। कर्मशक्ति के प्रकोप की भयंकरता ने अनन्तबली

---

१. ज्ञान का अमृत (श्री ज्ञान मुनि जी म.) पृ. १२, ८१ से सारांश

२. वही (पं. ज्ञानमुनि जी म.) पृ. ८१

तीर्थंकर, षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती, तीन खण्ड के अधिपति वासुदेव, महान् ऐश्वर्य के स्वामी बलदेव आदि महान् श्लाघ्य पुरुषों को भी ऐसे भीषण दुःख दिये हैं, जिन्हें पढ़-सुनकर तथा जिनका स्मरण करके रौंगटे खड़े हो जाते हैं।

जैन इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को बारह महीने तक अपने कल्प-नियमानुसार अन्न का एक कण भी प्राप्त नहीं हुआ। पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप उन्हें इतने लम्बे काल तक निराहार ही रहना पड़ा। श्रीकृष्णजी के लघुभ्राता महारानी देवकी के लाल गजसुकुमाल मुनि को ९९ लाख वर्षों पूर्व के कृत-कर्म उदय आने पर सोमिल विप्र द्वारा उनके मस्तक पर खैर के धधकते अंगारे रखे गए। अयोध्यानरेश सत्यवादी हरिश्चन्द्र को अपनी रानी तारा के सहित काशी के बाजार में पशुओं की भांति बिकना पड़ा। पूर्वकृतकर्मोदयवश धर्मवीर सेठ सुदर्शन को शूली पर लटक जाना पड़ा। कर्मों के प्रकोप के कारण मुनिराज स्कन्दककुमार को अपने पांच-सौ शिष्यों के साथ सरसों के दानों की भांति कोल्हू में पिलना पड़ा।[1] कर्म-महाशक्ति के प्रकोप के विषय में एक आचार्य कहते हैं—

"नीचैर्गोत्रावतारश्चरम-जिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलात्व-
मन्ध्यं श्री ब्रह्मदत्ते भरत-नृप-जयः सर्वनाशश्च कृष्णे।
निर्वाणं नारदेऽपि प्रशम-परिणतिः स्याच्चिलातीसूते वा,
त्रैलोक्याश्चर्यहेतुर्जयति विजयिनी कर्म-निर्माण-शक्तिः।"[2]

इसका भावार्थ यह है कि संसार का सर्वश्रेष्ठ पद तीर्थंकर होता है। वे उच्चक्षत्रियकुल में जन्म ग्रहण करते हैं, फिर भी इस युग के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी दशवें प्राणत स्वर्ग से च्यवकर ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में अवतरित होते हैं। तीर्थंकर होते हुए भी क्षत्रियेतर कुल में अवतीर्ण होना कर्म-परवशता का परिचायक है। इसी प्रकार तीर्थंकर का उत्तम पुरुष के रूप में अवतरण होता है, लेकिन उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ ने अबला (महिला) के रूप में अवतार पाया, यह भी कर्म की शक्तिमत्ता का सूचक है। चक्रवर्तियों का शरीर उत्तम लक्षणों से युक्त सर्वांग सुन्दर एवं पूर्ण स्वस्थ होता है, किन्तु ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को

---

१. (क) ज्ञान का अमृत पृ. ११५ (पं. ज्ञानमुनि जी) से
(ख) अन्तकृद्दशा सूत्र (गजसुकुमार प्रकरण) से

२. आत्मतत्त्व विचार (प्रवक्ता—विजयलक्ष्मण सूरी जी) में उद्धृत श्लोक पृ. २८१

सोलह वर्ष तक अन्धत्व भोगना पड़ा। यह कर्मशक्ति-जनित आश्चर्य नहीं तो क्या है? महाबलिष्ठ षट्खण्डाधीश भरत चक्रवर्ती अपने लघुभ्राता बाहुबली से द्वन्द्वयुद्ध में पराजित हो गए। यह भी कर्मशक्ति का प्रभाव था। त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण वासुदेव विलक्षण शक्तिशाली एवं अपूर्व ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी थे, किन्तु प्रचण्ड कर्मबल के आगे उनकी भी एक न चली। जीवन के अन्तिम दिनों में उनका लगभग सारा परिवार, परिजन, सगे-सम्बन्धी आदि द्वारिका के दहन की भेंट चढ़ गए। माता-पिता को उन्होंने बचाने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु द्वारिका के मुख्य द्वार की शिला के गिरने से वे भी मरण-शरण हो गए। वे और उनके बड़े भाई बलभद्र बचे थे। वन में श्रीकृष्ण की पिपासा शान्त करने हेतु बलभद्र जल लेने गए और उधर जराकुमार के बाण से श्री कृष्ण जी का देहावसान हो गया। इस सर्वनाश का कारण कर्मगति नहीं तो क्या है? दुर्दान्त दस्यु हत्यारा चिलातीपुत्र जो एक दिन घोर पापकर्मों से आक्रान्त था, शुभकर्मों के उदय से वह शान्ति और समता का धनी बन गया। नारद के जीवन में निर्वाण की परिणति भी कर्मसत्ता की परिचायिका है। इस प्रकार तीनों लोकों में कर्म की आश्चर्योत्पादिका निर्माण शक्ति सर्वोपरि विजयिनी है।"[1]

कर्मशक्ति से प्रभावित जीवन

कर्मशक्ति की प्रतिकूलता या प्रकुपित वक्रदृष्टि के कारण ही चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष अनेकानेक असह्य एवं भीषण उपसर्गों और कष्टों का सामना करना पड़ा। मनुष्यों, तिर्यञ्चों और देवों ने उनके जीवन में यातनाओं का एक जाल-सा बिछा दिया था। यद्यपि वे चतुर्विधश्रमण संघ के अधिनायक, एवं सर्वेसर्वा थे, किन्तु छद्मस्थ अवस्था के दौरान संगम देव द्वारा घोर कष्ट दिया गया। एक ग्वाले ने उनके कानों मे कीले ठोक दिये। कहीं गुप्तचर समझकर वे गिरफ्तार किये गए। कहीं उन पर भयंकर प्रहार भी हुए। जब वे अनार्यदेश में पधारे, तब तो अनार्यों ने उन्हें कष्ट देने में कोई कसर नहीं रखी। उन पर शिकारी कुत्ते छोड़े गए; जिन्होंने उनके शरीर से मांस नोच-नोच कर खाया। लाठी, डंडों, ढेलों आदि से उन पर निर्दयतापूर्वक प्रहार किया। उन्हें तरह-तरह से अपमानित किया। केवलज्ञानी तीर्थंकर बनने पर भी उनके भूतपूर्व शिष्य गोशालक द्वारा उन पर तेजोलेश्या छोड़ी गई। यद्यपि वह तेजोलेश्या उनका प्राणान्त नहीं कर सकी, फिर भी उनके शरीर में कई दिनों तक

---

१. आत्मतत्त्व विचार (प्रवक्ता—विजयलक्ष्मण सूरी जी) से सार-संक्षिप्त पृ. २८५-२८७

रक्तातिसारव्याधि पीड़ा पहुँचाती रही। यह सब पूर्वकृत निकाचित कर्मों की अवश्यमेव फलदायिनी शक्ति का प्रभाव था। भगवान् महावीर का जीवन एक तरह से प्रचण्ड कर्मशक्ति से प्रभावित जीवन था।[1]

कर्म की गति अत्यन्त गहन

कर्म की दशा और गति अत्यन्त गहन है। श्री कृष्ण जी के बाल्यकाल के मित्र सुदामा कर्म की गहनता को अभिव्यक्त करते हुए करते हैं—"हम दोनों एक ही गुरु के शिष्य, सहपाठी थे, किन्तु हम दोनों में से एक (कृष्ण) पृथ्वीपति हो गया, और मै दाने-दाने का मोहताज बन गया। इसलिए कर्म की गति अत्यन्त गहन दिखाई देती है।"[2]

कर्म की गति को बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, महात्मा और अवतारी पुरुष भी भलीभांति जान नहीं सके। संसार में जितने भी दुःख, क्लेश एवं कष्ट दिखाई देते हैं, जो भी अशान्त एवं विक्षुब्ध वातावरण दिखाई देता है, उन सभी के पीछे कर्म की गहन शक्ति और गति काम कर रही है। संक्षेप में कहें तो, संसार मे सभी छोटे-बड़े जीव कर्म के प्रकोप से त्रस्त हैं, दुःखित हैं।

कर्मशक्ति की विलक्षणता

कर्मशक्ति की विलक्षणता व्यक्त करते हुए एक हिन्दी के कवि कहते हैं—

"सीता को हरण भयो, लंका को जरण भयो;
रावण-मरण भयो, सती के सराप ते।
पाण्डव-अरण्य भयो, द्रुपद-सुता को साथ;
भामा (सत्यभामा) को डरत भयो, नारद-मिलाप ते।।
राम-वनवास गयो, सीता-अविसास भयो;
द्वारिका-विनाश भयो, योगी के दुराप ते।।

---

१. (क) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनि जी म.) पृ. ११५ से सारांश
(ख) देखिये कल्पसूत्र मे महावीर जीवन
(ग) भगवान् महावीर : एक अनुशीलनः (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि)
(घ) भगवतीसूत्र श. १५
(ङ) 'महावीरचरियं' से

२. (क) 'गहना कर्मणो गतिः' —भगवद्गीता
(ख) गहन दीसे छे कर्मनी गति, एक गुरुना विद्यार्थी।
ते थई बैठो पृथ्वीपति, मारा घरमां रज नथी।।"
—सुदामा कथन (कर्मनो सिद्धान्त) पृ. १

बड़े-बड़े राजा केते, संकट सहे अनेक
'सोहन' बखाना एक कर्म के प्रताप ते ॥"

एक वाक्य में कहें तो—'यह सब कर्मशक्ति के प्रकोप का परिणाम है। वस्तुतः कर्मशक्ति का प्रकोप बड़ा ही भयंकर होता है। उसके सामने किसी का वश नहीं चलता। संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति को भी उसके आगे नतमस्तक होना पड़ता है।[१]

कर्मशक्ति का प्रकोप कितना भयंकर ?

यह कर्मों की शक्ति का ही प्रकोप था कि सगर चक्रवर्ती को एक साथ अपने ६0 हजार पुत्रों के मरणजन्य वियोग का कष्ट भोगना पड़ा। छह खण्ड के अधिपति सनत्कुमार चक्रवर्ती को १६ महा भयंकर रोगों का शिकार होना पड़ा। जिस राजाधिराज के समक्ष ३२000 मुकुटबद्ध राजा मस्तक झुकाया करते थे, हजारों देव जिनकी सेवा किया करते थे; उनकी कंचन-सी काया को कोढ़ सरीखे दुःखद रोगों ने धर दबोचा। मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम को राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास मिला। वे १४ वर्ष तक वन-वन की खाक छानते रहे।[२]

पूर्वकृत घोर कर्म के फलस्वरूप दशरथ का देहान्त

तुलसी रामायण के अनुसार राजा दशरथ मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के पिता थे। परन्तु तालाब से पानी भरते हुए श्रवण कुमार को वन्यपशु समझकर अनजाने में तीर छोड़ा, जिससे श्रवण कुमार की जीवनलीला समाप्त हो गई। श्रवण कुमार के माता-पिता को जब अपने पुत्र के मरणजन्य वियोग का पता चला तो उनकी अन्तरात्मा अत्यन्त दुःखित हुई। अनजाने में हुए उस घोर कर्म के फलस्वरूप राजा दशरथ की मृत्यु अपने ज्येष्ठ-पुत्र श्री राम के विरह में हुई।[३]

श्री कृष्ण पर जन्म से लेकर मृत्यु तक कर्मों की काली छाया

त्रिखण्डाधिपति कर्मयोगी श्रीकृष्ण वासुदेव भौतिक दृष्टि से सब प्रकार से समृद्ध थे। परन्तु उन्हें भी पूर्वकृत कर्म के फलस्वरूप बचपन में घोर कष्ट सहने पड़े थे। कंस के कारागार में प्रहरियों के कठोर पहरों में उनका जन्म हुआ। जन्म से पहले ही मौत मंडरा रही थी। फिर माता-पिता से दूर रहकर गोकुल में गोपालनायक नन्द और यशोदा के यहाँ बड़े हुए।

---

१. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनि जी) से उद्धृत पृ. ११६-११७
२. वही, पृ. ११५ से संक्षिप्त
३. रामचरित मानस से

इस बीच भी मौत की काली छाया उन पर मंडराती रही। कंस और जरासंध आदि के द्वारा उनको मारने के कई षड्यंत्र रचे गए। परन्तु प्रबल पुण्य कर्मवश वे हर बार बचे रहे। किन्तु कंस और जरासन्ध के घोर अत्याचार के कारण उन्हें यादवगण को लेकर ब्रजभूमि से कूच करके सुदूर द्वारिका नगरी बसा कर रहना पड़ा।

इस पर भी उनके साथ लगे हुए कर्मों ने उनका पिण्ड नहीं छोड़ा। उन्हें अपनी आँखों के सामने ही द्वारिका नगरी एवं स्वजन-परिजनों का विनाश देखना पड़ा। कर्मशक्ति के प्रकोप से बड़े-बड़े तेजस्वी महारथियों के जीवन निस्तेज और खेदखिन्न हो जाते हैं।[1]

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पर कर्मशक्ति का प्रकोप

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती असाधारण शक्ति सम्पन्न एवं अपार ऋद्धि तथा ऐश्वर्य का स्वामी था, किन्तु कर्मों की शक्ति के प्रकोप के आगे उसका कुछ भी वश नहीं चला। अपने उपकारी एक ब्रह्मण को अपने राज्य में प्रत्येक घर से प्रतिदिन सपरिवार भोजन करने की स्वीकृति दे दी थी। एक दिन जब चक्रवर्ती के यहाँ भोजन करने की बारी आई तो चक्रवर्ती ने उससे सविनय कहा—"विप्रवर! मेरे यहाँ का भोजन आपको पच नहीं सकेगा, वह मुझे ही पच सकता है, इसलिए इस आग्रह को छोड़ दें। मैं आपके भोजन की अन्यत्र अच्छी व्यवस्था कर देता हूँ।" लेकिन उक्त ब्राह्मण अपने आग्रह पर अड़ा रहा कि आज तो मैं आपके यहाँ ही सपरिवार भोजन करूँगा। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने उसका अत्याग्रह देखकर उसकी बात मान ली। चक्रवर्ती के राजमहल में वह ठीक समय पर सकुटुम्ब भोजन के लिए पहुँच गया। सबकी थाली में तीव्र मादक वस्तुओं से बनाया हुआ भोजन परोसा गया। उस भोजन ने ब्राह्मण-परिवार की मनोवृत्ति बदल दी। उनके होश गुम हो गए। वे भान भूलकर कामोत्तेजनावश अयोग्य चेष्टाएँ करने लगे। सुबह जब नशा उतरा तो अपने अयोग्य व्यवहार के लिए अत्यन्त लज्जित हुए। ब्राह्मण के मन में यह शंका पक्की हो गई कि "ब्रह्मदत्त ने मुझे जान-बूझ कर कुछ खिला दिया, जिससे मेरी हालत ऐसी बिगड़ गई। इसका बदला लिये बिना नहीं छोड़ूँगा।"

ऐसा दृढ़ निश्चय करके वह इसी अवसर की फिराक में था। एक दिन वह एक जंगल में होकर जा रहा था कि एक निशानेबाज ग्वाला मिल गया जो गुलेल से पीपल के पत्तों में छेद कर रहा था। ब्राह्मण ने उसके पास

१. (क) महाभारत से
(ख) श्रीमद्भागवत से
(ग) ज्ञान का अमृत पृ. १७.

मौहरों की थैली रख दी। ग्वाला बोला—"मेरे योग्य कोई सेवा हो तो बतलाइए।" ब्राह्मण ने उसे कहा—"मैं तुम्हें जो आदमी बताऊँ, उसकी दोनों आँखें गुलेल से फोड़ दो।" ब्राह्मण के बताये अनुसार ग्वाले ने ब्रह्मदत्त की दोनों आँखें फोड़ दीं। ग्वाला गिरफ्तार कर लिया गया। उसने सारे षड्यंत्र का भंडाफोड़ कर दिया।

फलतः ब्रह्मदत्त के आदेश से प्रतिदिन थाल भर कर ब्राह्मणों की आँखें निकाल कर उसके समक्ष प्रस्तुत की जातीं और वह (ब्रह्मदत्त) उन्हें अपने हाथों से स्पर्श करके मसल कर आनन्द का अनुभव करता था। १६ वर्ष वह जीवित रहा, तब तक यह नित्य क्रम चलता रहा। इस घोर क्रूरतम कर्म के फलस्वरूप अन्धा बना हुआ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती मरकर सातवें नरक का अतिथि बना।[1]

यह था कर्मशक्ति का अद्भुत खेल, जिसने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती जैसे को पूर्वकृत दुष्कर्मों के फलस्वरूप अन्धा बनाया, और अन्धत्व-प्राप्ति के पश्चात् किये हुए घोरतम क्रूरकर्मों के फलस्वरूप सप्तम नरक की यातना भोगने के लिए बाध्य कर दिया।

कर्मशक्ति के कारण ही विभिन्न गतियों-योनियों में परिभ्रमण

जिस प्रकार फुटबाल के मैदान में फुटबाल (दड़ा) कभी इधर कभी उधर ठोकरें खाता फिरता है, वैसे ही यह जीव भी कर्मों से बँधा हुआ संसार की क्रीड़ाभूमि में अनादिकाल से ठोकरें खाता चला आ रहा है। कर्मों के कारण कभी तिर्यंचगति में जाकर शेर, बाघ, सांप, बिच्छू आदि पशु की, और कभी पक्षी की, और कीड़े-मकौड़े आदि कीट-पतगों की विविध अवस्थाएँ प्राप्त करता है।[2] कभी मनुष्यगति में और कभी देव गति में भी कृतकर्मों के अनुसार जीव जाता है। और कभी नरक के भीषण दुःखों की ज्वालाओं में जलता रहता है।

आशय यह है कि कर्मरूपी महाबली जीव को अपने-अपने कर्मानुसार संसार के स्वर्ग, नरक, मनुष्य और तिर्यंच सभी स्थानों की सैर कराता है। इस दृष्टि से यह कहना अधिक संगत है कि जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष का परिणाम पुनः बीज रूप में प्रकट होता है, इसी प्रकार कर्म

---

१. आत्म-तत्त्व विचार (विजयलक्ष्मणसूरी जी म.) से सारांश पृ. २८३-२८४

२. देखिये उत्तराध्ययन में—एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया।

एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिं गच्छई॥
एगया खत्तिओ होइ, तओ चांडाल वुक्कसो।
तओ कीडपयंगो य तओ कुंथु-पिवीलिया॥

—उत्तराध्ययन अ. ३/३-४

करने और उनका सुख-दुःख रूप फल भोगने में संसारी जीव लगा रहता है। कर्मों को भोगते-भोगते आत्मा काम, क्रोध, मद-मोहादि मलों से लिप्त होकर फल भोगते समय और नये-नये कर्म अर्जित कर लेती है। इस प्रकार कर्म का परिणाम फल और फल का परिणाम कर्म रूप में उदित होकर अजस्र गति से कर्मचक्र चलता रहता है। और एक के बाद एक जन्म ग्रहण करता चला जाता है। इस कर्मचक्र का कभी अन्त आता दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में प्रायः सामान्य जीव को कर्म की सबलता प्रतीत होती है, कर्मशक्ति ही आत्मा पर हावी होती जाती है।[1]

राजवार्तिक में कर्मशक्ति का परिचय देते हुए कहा गया है—"सुख-दुःख की उत्पत्ति में कर्म बलाधान हेतु है। चक्षुर्दर्शनावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग नाम-कर्म के अवष्टम्भ (बल) से चक्षुदर्शन की शक्ति उत्पन्न होती है।" भगवती आराधना में बताया गया है—असातावेदनीय का उदय हो तो औषधियाँ भी सामर्थ्यहीन हो जाती हैं। सर्वार्थसिद्धि भी इसी का समर्थन करती है—प्रबल श्रुतावरण के उदय से श्रुतज्ञान का अभाव हो जाता है। समयसार भी इसी तथ्य का समर्थक हैं—"सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के प्रतिबन्धक क्रमशः मिथ्यात्व, अज्ञान एवं कषाय नामक कर्म हैं।[2]

कर्मरूपी सूत्रधार की विलक्षण शक्ति

इस कर्मशक्ति के कारण ही जीव को ऊँट, हाथी, बैल, मक्खी, मच्छर आदि का नाना आकार-प्रकार, डील-डौल, सौन्दर्य-असौन्दर्य, आदेयता-अनादेयता, अच्छी-बुरी प्रकृति आदि प्राप्त होती है। संसार में ऐसा कौन-सा कार्य है, जो कर्मशक्ति की परिधि के बाहर हो। नाटक मे अभिनय कराने वाले सूत्रधार के संकेत के अनुसार कार्य होता है, उसी प्रकार संसाररूपी नाटक का अभिनय कराने वाला कर्मरूपी महाबली सूत्रधार है, जो जीवों को अपने-अपने कर्मानुसार हीनता-उच्चता, वक्रता-सरलता, समलता-विमलता आदि विभिन्न भावों का अभिनय कराता है। अतः कर्मरूपी सूत्रधार की विलक्षण शक्ति ही संसार का विचित्र नाटक कराने में समर्थ है।[3]

---

१. जिनवाणी (कर्म सिद्धान्त विशेषांक) में प्रकाशित लेख से पृ. १४९
२. (क) राजवार्तिक ५/२४/९/४८८/२१, तथा १/१५/१३/६१/१५
 (ख) भगवती आराधना मूल १६१०
 (ग) सर्वार्थ सिद्धि १/२०/१०१/२
 (घ) समयसार मूल १६१-१६३
३. महाबंधो भा. १ प्रस्तावना (पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर) से सारांश पृ. ७५

कर्म और आत्मा दोनों में प्रबल शक्तिमान् कौन ?

प्रश्न होता है—कर्म में जिस प्रकार अनन्त शक्ति है, उसी प्रकार आत्मा में भी तो अनन्त शक्ति है। दोनों समान शक्ति वाले हैं, फिर क्या कारण है कि कर्म आत्मा की शक्ति को दबा देता है, आत्मा के स्वभाव और गुणों पर हावी हो जाता है ? क्या आत्मशक्ति कर्मशक्ति से टक्कर नहीं ले सकती ?[१]

इसका समाधान यह है कि निश्चयदृष्टि से आत्मा में अनन्त शक्ति है; वे शक्तियाँ दो प्रकार की हैं—(१) लब्धिवीर्य (योग्यतात्मक शक्ति) और (२) करणवीर्य (क्रियात्मक शक्ति)। वर्तमान में संसारी आत्मा में योग्यतात्मक शक्ति तो है लेकिन क्रियात्मक शक्ति उतनी प्रकट नहीं हो सकी। इसीलिए व्यवहारनय से देखें तो वर्तमान में आत्मा की अनन्त शक्ति बाधित है, अवरुद्ध है, आवृत है, दबी हुई है, वह पूर्णरूप से विकसित नहीं है। आत्मा की शक्ति पूर्णरूप से विकसित होने पर ही अनन्त होती है।

इस कारण आत्मा प्रारम्भ में अल्पशक्तिमान् होता है, किन्तु धीरे-धीरे मनुष्यजन्म पाकर जब अपनी उन सुषुप्त, बाधित या आवृत शक्तियों को जगाता और विकसित करता है, और एक दिन उन शक्तियों की परिपूर्णता तक पहुँच जाता है, तब वह कर्मशक्ति को, चाहे वह कितनी ही प्रबल हो, पछाड़ देता है। परन्तु जब तक अपनी अनन्त शक्ति को परिपूर्ण विकसित नहीं कर लेता, तब तक वह अल्पशक्तिमान् होता है, उस दौरान कर्मशक्ति उसे बार-बार दबा सकती है, उसे बधित और पराजित कर सकती है।

समयसार में कहा गया है—जहाँ तक जीव की निर्बलता है, वहाँ तक कर्म का जोर चलता है। कर्म जीव को पराभूत कर देते हैं। यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि आत्मा की परिपूर्ण विकसित अनन्त शक्ति कर्म की अनन्त शक्ति से कही अधिक प्रबल होती है।[२]

जैसे—दो मनुष्यों, दो घोड़ों, दो हाथियों की बलवत्ता में अन्तर या तारतम्य होता है, उसी प्रकार कर्म और आत्मा इन दोनों की अनन्तता में अन्तर या तारतम्य होता है। अर्थात्—एक अनन्त महाबली और दूसरा अल्पबली या दुर्बल हो सकता है। जब आत्मा बलवान् होता है, तो उसके सामने कर्म की शक्ति नगण्य हो जाती है और जब कर्म प्रबल होता है, उसके आगे आत्मा को झुकना-दबना पड़ता है।

---

१. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) से सारांश पृ. ४६

२. (क) आत्म-तत्त्व विचार (श्री विजयलक्ष्मण सूरी जी) से सारांश पृ. २८०
(ख) समयसार ३१७/क-१९८ (पं. जयचंद)

इस तथ्य को भलीभांति समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए—जब जीवकृत कोई कर्म तप, जप, त्याग, संयम, ध्यान, चारित्र साधना आदि आध्यात्मिक साधनों से, सत्पुरुषार्थ से नष्ट कर दिया जाता है, तब आत्मा बलवान् दिखाई देती है, किन्तु जब कर्म तप, त्याग, संयम आदि से क्षीण नहीं किया जाता, या वह निकाचित रूप से बँध जाता है, तब जीवात्मा के छक्के छुड़ा देता है। तब शक्तिशाली कर्म उसे नरकादि दुर्गतियों में ले जाकर यातनाओं के महासागर में पटक देता है।[१]

इसी दृष्टि से 'विशेषावश्यक भाष्य-गणधरवाद' में कहा गया है—"कभी कर्म बलवान् होते हैं और कभी (आत्मा) जीव बलवत्तर हो जाता है। (आत्मा) जीव और कर्म में इस प्रकार पूर्वापरविरुद्ध टक्कर होती रहती है।" आशय यह है कि कभी जीव, काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होने पर कर्मों को पछाड़ देता है और कभी कर्मों की बहुलता होने पर जीव उनसे दब जाता है।[२]

द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ, तब ब्रिटेन और फ्रांस के सैनिक बुरी तरह हार रहे थे, चारों ओर हिटलर का जय-जयकार हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था कि हिटलर की सेना शीघ्र ही समस्त देशों को जीत लेगी और हिटलर विश्वविजेता के रूप में प्रकट हो जाएगा। किन्तु दीर्घकाल तक युद्ध चला। इसी बीच परिस्थितियाँ इस हद तक बदलीं कि हिटलर हार गया और उसे आत्महत्या करनी पड़ी। आत्मा और कर्म के युद्ध मे भी ठीक ऐसी ही स्थिति दिखलाई पड़ती है।[३]

वस्तुतः आत्मा की शक्ति ही प्रबल

वाह्य दृष्टि से देखने पर कर्म की शक्ति ही प्रबल दिखाई देती है; परन्तु वास्तव में आत्मा की शक्ति ही प्रबल है। स्थूल दृष्टि वाले लोग व्यवहार के या साधना के क्षेत्र मे भ्रमवश यह कह बैठते हैं कि कर्म का कुछ ऐसा ही योग है कि मै यह त्याग, तप, सयम या साधना नहीं कर सकूँगा। माना कि कर्म बलवान् है, परन्तु आत्मा की चेतनाशक्ति उससे भी प्रबल है। अतः कर्म ही सब कुछ है अथवा कर्म सर्वशक्ति सम्पन्न है, उसी की सार्वभौम सत्ता है, ऐसा मानना बहुत बड़ी भ्रान्ति होगा। कर्म भी एक नियंत्रित तत्त्व है। उस पर भी अकुश है। वह ऐसा निरंकुश नहीं है कि

---

१. (क) आत्म-तत्त्व विचार (श्री विजयलक्ष्मणसूरी जी) से साराश पृ. २८०
(ख) ज्ञान का अमृत से साराश पृ. ११५

२. कत्थ वि बलिओ जीवो, कत्थ वि कम्माइं हुंति बलियाइं।
जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्व विरुद्धाई वेराई॥
—विशेषावश्यकभाष्य गणधरवाद २/२५

३. आत्मतत्त्व विचार (श्री विजयलक्ष्मणसूरी जी) पृ. २८१ से

चाहे जो कुछ कर दे।[1]

कर्मशक्ति प्रबल होती है चेतन का संयोग पाकर

कर्म में स्वयं में बिना कारण किसी को सुख-दुःख आदि प्रदान करने की शक्ति नहीं है। कर्म में वह शक्ति चेतना द्वारा प्रदत्त होती है। राग-द्वेषादि या कषाययुक्त चेतन का संयोग पाकर आत्म-प्रदेशों में कम्पन होता है। फलतः जैसे केमरा आकृति को, रेडियो ध्वनि को और चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है वैसे ही कषायादि युक्त आत्मा कर्मवर्गणा के पुद्गलों को खींच लेता है। कर्मपुद्गल आकृष्ट होकर चिपक जाते हैं। इस प्रकार कर्म की शक्ति बलवत्तर हो जाती है।

आत्मा के चैतन्य-स्वभाव का स्वतंत्र और पृथक् अस्तित्व ही कर्म पर सर्वप्रथम अंकुश है। आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है, वह चेतनाशील तत्त्व कभी अपने स्वभाव को तोड़ने या नष्ट होने नहीं देता। यही कारण है, कर्म की शक्ति आत्मा पर चाहे जितना प्रभाव डाले, किन्तु वह उस पर एकछत्र शासन नहीं कर सकती। जब आत्मा सभान होकर अपने सोये हुए शुद्ध चैतन्य स्वभाव को जगा लेता है, तब कर्म की सत्ता ही डगमगा जाती है। कितना ही घना अन्धकार हो, प्रकाश के आते ही वह भाग जाता है। ज्यों ही आत्म-चेतना जाग जाती है, कर्म स्वतः समाप्त होने लग जाते हैं। कर्म तभी तक टिकता है, जब तक आत्मा के अपने स्वरूप और स्वभाव का जागरण नहीं होता।[2]

कर्मविज्ञान मर्मज्ञों के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने युक्ति-तर्क-पुरस्सर उत्तर दिया—यथार्थ में आत्मा की शक्ति के आगे कर्म की शक्ति कुछ नही है। यदि आत्मा को तेजोमय, ओजपूर्ण और सभान बना लिया जाए तथा आत्मा को अपनी शक्ति का पूर्णतः ज्ञान-भान हो जाए, अपनी शक्ति पर उसे दृढ़ श्रद्धा एवं सच्ची निष्ठा हो, तो आत्मा में बाह्य कर्मों पर नियंत्रण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। आत्मा में अन्तर्विवेक का यह प्रकाश जगमगा उठे कि "मैंने ही मकड़ी की तरह कर्मों का जाल बिछाया है। मेरी ही अज्ञानजनित भूलों, त्रुटियो और मोहमूलक भ्रान्तियों के कारण यह कर्म का पसारा है।" यदि आत्मा आत्मजागृति की गहरी अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हो एव अपनी विरोधी कषायादि शक्तियों और कर्मों से लड़ने के लिए उद्यत हो जाए तो कर्मजाल के छिन्न-भिन्न होते देर न

---

१. (क) कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेश मुनि) से पृ. १८
(ख) कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से सार संक्षिप्त पृ. १०२

२. कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से साराश पृ. १०२

लगे।[1]

कर्मशक्ति को परास्त किया जा सकता है

कर्मचक्र की अनवरत गति से यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक आत्मा के लिए यह क्रम शाश्वत ही रहेगा। तप, त्याग, संयम और समत्व की साधना के द्वारा उत्कृष्ट पात्रता पाकर आत्मा कर्मचक्र की इस गति को समाप्त कर सकती है। आत्मा कर्मचक्र में ग्रस्त तभी होती है, जब वह राग, द्वेष, मोह, क्रोधादि कषायों के आवेग के कारण कर्मबन्धनों से बद्ध हो जाती है। व्यक्ति चाहे तो स्वयं को इन विकारों से बचाकर बन्धनमुक्त रख सकता है।

भगवान् महावीर का यह सन्देश उन कर्म-मुक्ति-गवेषकों के लिए परम प्रेरक हो सकता है—"आत्महितैषी व्यक्ति पाप-कर्मवर्द्धक क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों का त्याग कर दे।"

क्रोधादि कषाय ही कर्मों के मूल स्रोत हैं। जब ये नष्ट कर दिये जाते हैं तो इनकी नींव पर स्थित कर्मरूपी प्रासाद स्वतः ही धराशायी हो जाता है। आत्मा में स्वतः ऐसी शक्ति है कि वह चाहे तो कर्मचक्र को स्थगित कर सकती है, स्वयं बन्धन को काट सकती है। कर्म चाहे जितने ही शक्तिशाली हों, आत्मा उससे भी अधिक शक्तिसम्पन्न है।[2]

जैसे अग्नि के बढ़ते हुए कणों को रोका जा सकता है, वैसे ही आत्मा में प्रविष्ट एवं वृद्धि पाते हुए विजातीय कर्मपरमाणुओं को भी रोका जा सकता है।

आत्मा की शक्ति कर्म की शक्ति से अधिक क्यों ?

स्थूल दृष्टि से देखें तो पानी मुलायम और पत्थर कठोर मालूम होता है, किन्तु पहाड़ पर से धारा-प्रवाह बहने वाला मुलायम पानी बड़ी-बड़ी कठोर चट्टानों में भी छेद डालकर उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। लोहा पानी से कठोर प्रतीत होता है, किन्तु उसी लोहे को पानी के सम्पर्क में रखने पर वह उसे जंग लगाकर काट डालता है। इसी प्रकार स्थूल दृष्टि से कठोर प्रतीत होने वाले कर्मों को आत्मा के तप, त्याग, संयम आदि शस्त्रों से तोड़ा जा सकता है। कर्म स्थूलदृष्टि से बलवान् प्रतीत होता है, किन्तु

---

१. (क) जिनवाणी कर्म सिद्धान्त में प्रकाशित लेख से पृ. १४९
(ख) कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेशमुनि) से सारांश पृ. १९
(ग) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) पृ. ४७ से

२. (क) जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित लेख से पृ. १४९
(ख) कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो॥ —दशवैकालिक ८/३७

बलवान् है वस्तुतः आत्मा ही। आत्मा की शक्ति कर्म से अधिक है।[1]

अपनी शक्तियों का भान होते ही आत्मा, कर्मशक्ति को पछाड़ सकता है

वास्तव मे आत्मा को जब तक अपने स्वरूप और शक्तियों का ज्ञान-भान नहीं होता, तब तक वह कर्मों को अपने से अधिक शक्तिशाली समझकर उनसे दबा रहता है। ऐसी स्थिति में जब आत्मा अपनी शक्ति के स्रोत को विस्मृत हो जाता है, तब कर्म उस पर हावी हो जाते हैं, परन्तु जब आत्मा को अपनी शक्तियों का भान हो जाता है, वह भेदविज्ञान का महान् अस्त्र हाथ में ले लेता है तब आत्मा ऊपर और कर्म नीचे होता है।

वीर हनुमान् को जब तक अपने स्व-रूप का, स्व-शक्ति का परिज्ञान नहीं हुआ था, तब तक वह नागपाश मे बँधा रहा, रावण की ठोकरें खाता रहा और अपमान के कटु घूंट पीता रहा; किन्तु ज्यों ही उसे स्वरूप का भान हुआ, त्यों ही वह नागपाश तोड़कर बन्धनमुक्त हो गया।[2]

एक बार सन्ध्या के झुटपुटे मे एक सिंहशिशु अपनी माँ से बिछुड़कर एक झाड़ी में छिप गया था। एक गड़रिया भी भेड़ों के झुण्ड से पृथक् हुए बच्चे को ढूँढ रहा था। झाड़ी में दुबके हुए सिहशिशु को देखकर उसने उस पर दो चार लाठियाँ जमा दी। और उसे भेड़ों के टोले मे ले आया। अब वह सिंहशिशु अपने स्वरूप और शक्ति को भूल कर स्वयं को भेड़ समझने लगा। एक दिन नदी मे पानी पीते समय उसने अपनी चेहरा देखा तो भेड़ों से पृथक् मालूम हुआ। संयोगवश नदी के उस पार एक बब्बरशेर आ गया। उसकी गर्जना और आकृति देखी तो उसे अपने स्वरूप का भान हुआ। उस सिंहशिशु ने ज्यो ही अपनी पूरी शक्ति लगा कर गर्जना की; त्यो ही सब भेड़े भाग खड़ी हुई। इसी प्रकार आत्मा भी अनादिकाल से कषाय और राग-द्वेष-मोह से ग्रस्त होकर स्व-स्वरूप को भूला हुआ है, जब इसे अपने असली स्वरूप का भान हो जाता है और अपना पराक्रम कषायादि विकारो को जीतने और कर्मों को तोड़ने में करता है, तब कर्मशक्ति आत्मशक्ति के सामने नगण्य हो जाती है।[3] उपाध्याय श्री देवेन्द्र जी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं—

"अजकुलगत केसरी लहै रे, निजपद सिह निहाल।
तिम प्रभु भक्ते भवी लहै रे, आतम शक्ति संभाल।।"[4]

---

१. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ४७
२. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ४७
३. अध्यात्म दर्शन (आनन्दघन चौबीसी पद्मगन भाष्य) ऋषभजिन स्तवन से साराश।
४. देवचन्द्र चौबीसी (अजित जिन स्तवन) से

कर्मशक्ति पर आत्मशक्ति विजयी न हो तो साधना निरर्थक

'कर्मशक्ति पर आत्मा की शक्ति की विजय अवश्य हो सकती है', अगर इस मान्यता को ठुकरा दें तो कठोर तपश्चरण, उत्कृष्ट त्याग-वैराग्य, संयम, परीषहजय, चारित्रपालन, रत्नत्रय-साधना आदि सब में पुरुषार्थ करना निरर्थक हो जाएगा। उस पुरुषार्थ का तथा साधुधर्म और श्रावकधर्म के पालन का क्या अर्थ रह जाएगा? जब साधक को सदैव पराजित खिलाड़ी या हारे हुए पहलवान ही रहना है, यदि उसके भाग्य में सदा हार ही लिखी है, तब फिर कर्मों के साथ संघर्ष करने, कषायादि विकारों के साथ युद्ध करने और धर्मसाधना में पुरुषार्थ करने का क्या प्रयोजन रह जाएगा?[१]

कर्मविजेता तीर्थंकरों ने कर्मशक्ति पर विजय का सन्देश दिया

किन्तु जैनधर्म के समस्त तीर्थंकरों ने अनेक जन्मो में मनुष्य जन्म पाकर पूर्वकृतकर्मों की निर्जरा करने और नये कर्मों को आने से रोकने (संवर करने) का अनवरत पुरुषार्थ किया है और सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय करके मोक्ष प्राप्त करने की साधना की है। और उन्होंने मोक्ष का लक्षण भी समस्त कर्मों का क्षय हो जाना बताया है। उसकी प्रक्रिया भी पूर्वकर्म-क्षय और नूतन कर्मनिरोध की बताई है। जैनागमो में यत्र-तत्र कहा गया है कि तपश्चरण से पुरातन पापों का ध्वंस तथा कोटिजन्मों के सचित कर्मों का क्षय होता है। उन्होने स्पष्ट उद्घोषणा की है कि बाह्याभ्यन्तर तपश्चर्या के अमोघ शस्त्र से कर्मजाल को छिन्न-भिन्न करके आत्मा सदा-सर्वदा के लिए वीतराग, कर्मविजेता और कर्ममुक्त बन सकता है।[२]

कहा भी है—जैसे स्वर्ण में रहे हुए मल को अग्नि का ताप, तथा दूध और पानी को हंस की चोंच पृथक् कर देती है, वैसे ही प्राणी के कर्ममल को तपस्या पृथक् कर देती है।[३]

अनन्त-अनन्त तीर्थंकर और वीतराग-पथानुगामी असख्य साधु, साध्वियों की आत्मा ने कर्मशक्ति पर विजय प्राप्त की है। उन्होने सच्चे

---

१. कर्मवाद : एक अध्ययन (सुरेशमुनि) से साराश

२. (क) कृत्स्न कर्म क्षयो मोक्ष—तत्त्वार्थसूत्र १०/३

(ख) 'तवसा धुणइ पुराणपावगं।'

(ग) 'तवेण वोदाण जणयइ।' —उत्तरा. २९/२७

(घ) भवकोडी-सचियं कम्म तवसा निज्जरिज्जइ। —उत्तरा. ३०/६

(ङ) 'एवं भावुवहाणेणं सुज्झए कम्ममट्ठविहं।' —आचारागनिर्युक्ति २८२

३. मल स्वर्णगतं वह्निः, हंसः क्षीरगत जलम्।
यथा पृथक् करोत्येव जन्तोः कर्ममल तपः॥

कर्मविजेता बनकर निराश-हताश, कर्म-पराजित, कर्मफल से उद्विग्न जन-मानस को यह आश्वासनपूर्ण सन्देश दिया कि "महर्षिगण तप और संयम के द्वारा अपने पूर्वकृत कर्मों को क्षीण कर—उन्हें परास्त करके समस्त दुःखों को नष्ट करने का पराक्रम करते हैं।"[१]

आत्मविरोधी कर्म-महाशक्ति पर विजयी ही सच्चा विजेता

उन्होंने कहा कि "दुर्जय संग्राम में लाखों (सुभटों) को जीतने वाला सच्चा विजेता नहीं, प्रत्युत अपने आप को अर्थात्-आत्मा के विरोधी कर्मों तथा कषायादि विकारों को जीतने वाला ही सच्चा विजेता है। पाँचों इन्द्रियों (विषयों के प्रति राग-द्वेष) को तथा क्रोधादि चार कषायों को, यानी इनके कारण अशुद्ध बने हुए दुर्जय आत्मा और उसके दुर्जय कर्मों को जिसने जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया।"[२]

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि कर्म महाशक्तिरूप है, किन्तु जब आत्मा को अपनी अनन्त शक्तियों का भान हो जाता है और वह भेदविज्ञान का महान् अस्त्र हाथ में उठा लेता है और तप-संयम में पुरुषार्थ करता है, तो कर्म उसका कुछ भी बाल बांका नहीं कर सकते। वस्तुतः विजयी होने का श्रेय अन्ततः आत्मा को ही मिलता है।

■

---

१. खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सव्व-दुक्ख-पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो॥

—उत्तराध्ययन २८/३६

२. जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एवं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥
पंचिंदियाणि कोहं माणं मायं तहेव लोहं च।
दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥

—उत्तराध्ययनसूत्र ९/३४, ३६

६

कर्म : मूर्तरूप या अमूर्त्त आत्म-गुणरूप ?

कर्मशब्द का रूप और स्वरूप : दुर्गम्य एवं गहन

कर्म शब्द इतना गहन और जटिल है कि उसका यथार्थ रूप और स्वरूप सहसा हृदयंगम नहीं हो सकता। यों तो भारतीय जन-जन के मन, वचन और तन पर कर्म शब्द चढ़ा हुआ है। झौंपड़ी से लेकर महलों तक कर्म की चर्चा आबालवृद्ध की जिह्वा पर एक या दूसरे प्रकार से होती रही है, होती रहती है। परन्तु कर्म के यथार्थ रूप को जानने-समझने का उपक्रम कोई विरला व्यक्ति ही करता है। या तो वह जिस धर्म-सम्प्रदाय-परम्परा का है, उसके द्वारा मान्य शास्त्रों-धर्मग्रन्थों अथवा गुरुओं से जैसा भी सुनता-समझता है, उसे ही आँखें मूँदकर अन्धविश्वास-पूर्वक मान लेता है, अथवा अपने पूर्वजों, बुजुर्गों अथवा कौटुम्बिक परम्परा के संस्कारवश 'कर्म' का रूप और स्वरूप जान लेता है। भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने कर्म शब्द पर अपने-अपने ढंग से विचार प्रस्तुत किया है। परन्तु पूर्ण तटस्थता एवं निष्पक्षता के साथ कहा जा सकता है कि 'कर्म' के रूप और स्वरूप पर जितनी गहराई और वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषण जैनदर्शन ने किया है, उतना अन्य दर्शनों में नहीं मिलता।

कर्म को मूर्तरूप न मानने का क्या कारण ?

कुछ भौतिकवादी तथा चार्वाक आदि प्रत्यक्षवादी दर्शन अपनी अदूरदर्शिता अथवा केवल बाह्यदर्शिता-प्रत्यक्षदर्शिता को लेकर कर्म के रूप और स्वरूप को मानना तो दूर रहा, 'कर्म' के अस्तित्व तक को मानने से इन्कार करते हैं। वे महज इसलिए इन्कार करते हैं कि 'कर्म' इन चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता; कर्म का कोई रूप या चिन्ह उन्हें इन स्थूल आँखों से दृष्टगोचर नहीं होता। किन्तु वे अमुक शब्द, या मंत्र अदृश्य होने पर भी उसके प्रभाव या कार्य को जानकर उसे तो प्रत्यक्षवत् मान लेते हैं। विद्युत्-तरंगें स्थूल आँखों से न दिखाई देने पर भी भौतिक विज्ञानी उसके अस्तित्व और स्वरूप को मानते हैं। वर्तमान में तो वायरलेस, टेलिविजन,

टेलीप्रिंटर, टेलीफोन आदि समस्त दूर-संचार प्रणालियाँ अदृश्य एवं अव्यक्त होते हुए उनके द्वारा होने वाले कार्यों को देखकर उनके अस्तित्व और स्वरूप को मानते हैं। फिर सारा प्राणिजगत् कर्म के द्वारा संचालित, रचित और व्यवस्थित होने पर भी एवं कर्म के द्वारा होने वाले कार्य प्रत्यक्ष दृश्यमान होने पर भी कर्म को मूर्त—पुद्गलरूप, भौतिकरूप, प्रत्यक्षवत् न मानने का क्या कारण है ?

गणधरवाद में कर्म के मूर्त-अमूर्त होने की चर्चा

'गणधरवाद' में भावी गणधर अग्निभूति ने भगवान् महावीर के समक्ष यह चर्चा उठाई है।[1] उसका सार यह है कि "कर्म अदृष्ट है, अर्थात्—चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता, ऐसे अदृष्टफल वाले कर्म को क्यों माना जाए ? अदृष्ट (कर्म) फल-प्राप्ति के लिए दानादि क्रिया करने को शायद ही कोई व्यक्ति तैयार हो। इसलिए जीव की सभी क्रियाओं का फल दृष्ट ही मानना चाहिए। अधिकांश व्यक्ति यश आदि दृष्ट फल की प्राप्ति के लिए दानादि क्रिया करते हैं।"

इसका निराकरण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—कृषि, व्यापार आदि क्रियाओं का फल अदृष्ट है, फिर भी लोग करते हैं, और उन्हें उनका फल अवश्य मिलता है। जो लोग अधर्म को अदृष्ट मानकर अशुभ क्रियाएँ करते हैं, उन्हें उनका फल (वे चाहें या न चाहें) मिले बिना नहीं रहता।

अतः शुभ या अशुभ क्रियाओं का फल कर्म के अदृष्ट होने पर भी मिलता ही है। अन्यथा, इस संसार में अनन्त संसारी जीवों की सत्ता ही सम्भव नहीं है; क्योंकि अदृष्ट कर्म के अभाव में सभी पापी अनायास ही मुक्त हो जाएँगे और जो लोग अदृष्ट शुभकर्म को मानकर दानादि क्रियाएँ करते होंगे, उनके लिए यह क्लेशबहुल संसार रह जाएगा। इससे सारे संसार में अराजकता एवं अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी।

यद्यपि अदृष्ट (कर्म) के अनिष्टरूप फल की प्राप्ति के लिए इच्छा-पूर्वक कोई भी जीव क्रिया नही करना चाहता, फिर भी इस संसार मे हिंसादि अशुभ क्रिया करने वाले अत्यधिक लोग अनिष्टफल भोगते नजर आते हैं। अतः मानना चाहिए कि प्रत्येक क्रिया का अदृष्ट (कर्म) फल होता ही है। इस प्रकार अदृष्ट (कर्म) के शुभाशुभ फल-रूप कार्य को देखकर उसके कारण को अवश्य मानना चाहिए।[2]

---

१. देखिये—विशेषावश्यकभाष्य के अन्तर्गत गणधरवाद (अनुवादक सम्पादक—पं. दलसुखभाई मालवणिया) से पृ. ३७-३८ गा. १६१९,१६२०

२. वही, पृ. ३८ गा. १६२१

सुख-दुःखादि अमूर्त्त का समवायिकारण : आत्मा, निमित्तकारण : कर्म

अग्निभूति गणधर ने पुनः शंका उठाई कि शरीर आदि कार्य मूर्त होने से उसका कारण रूप 'कर्म' भी मूर्त होना चाहिए। भगवान् ने कहा—मैंने कब कहा कि कर्म अमूर्त्त है? मैं तो कर्म को मूर्त्त ही मानता हूँ, क्योंकि उसका कार्य मूर्त्त है। जैसे—परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ आँखों से प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देते, फिर भी परमाणु का कार्य घट मूर्त्त होने से परमाणु भी मूर्त्त है, वैसे कर्म भी मूर्त्त ही है। जो कार्य अमूर्त्त होता है, उसका उपादान कारण भी अमूर्त्त होता है। जैसे ज्ञान अमूर्त्त है तो उसका समवायि (उपादान) कारण आत्मा भी अमूर्त्त है।

फिर शंका उठाई गई कि सुख-दुःख अमूर्त्त हैं, वे कर्म के कार्य हैं, कर्म उनका कारण है, इसलिए उसे अमूर्त्त मानना चाहिए। भगवान् ने समाधान किया—यह नियमविरुद्ध है। जो मूर्त्त है, वह कदापि अमूर्त्त नहीं होता और जो अमूर्त्त है, वह कदापि मूर्त्त नहीं होता। मूर्त्त कार्य का कारण मूर्त्त होता है, अमूर्त्त कार्य का अमूर्त्त, यह सिद्धान्त है। इस दृष्टि से सुख-दुःख आदि अमूर्त्त का समवायि कारण अथवा उपादान कारण आत्मा है और वह अमूर्त्त है। कर्म तो सुख-दुःखादि का अन्नादि के समान निमित्त कारण है।[1]

मूर्त्त का लक्षण और उपादान

जैनदर्शन में कर्म को पौद्गलिक, भौतिक अथवा मूर्त्त बतलाया गया है। मूर्त्त का अर्थ ही है—रूपी या पौद्गलिक। पुद्गल या मूर्त्त का लक्षण है—जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हों। ये ही चार पुद्गल के उपादान हैं। अमूर्त्त का अर्थ है—जिसमें वर्णादि न हो। आत्मा अमूर्त्त है। उसके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, आकार-प्रकार, शरीरादि नहीं होते। आत्मा का मौलिक स्वरूप एवं उपादान है—ज्ञान, दर्शन, आनन्द (आत्मिक सुख) एवं शक्ति। पुद्गल पुद्गल ही रहते हैं, और चेतना चेतना ही रहती है। दोनों अपना मौलिक स्वभाव और स्वरूप नहीं छोड़ते।[2]

षट्द्रव्यों में पुद्गलास्तिकाय ही मूर्त्त है

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय; इन छह प्रकार के द्रव्यों में एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही

१. गणधरवाद (दलसुखभाई मालवणिया) पृ. ३९ गा. १६२५-२६-२७

२. (क) रूपिणः पुद्गलाः। पुद्गल रूपी (मूर्त्त) है।— (विवेचक पं. सुखलालजी) तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५/४ पृ. ११७

(ख) स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वन्तः पुद्गलाः।— तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५/२३

(ग) धवला पु. १३ खं. ५ भा. सू. २४

वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-विशिष्ट होने से मूर्तिक है। अतः कर्म मूर्त्त सिद्ध होने पर उनकी पौद्‌गलिकता (भौतिकता) तो स्वयं सिद्ध हो जाती है।

कर्म अमूर्त्त आत्मा का गुण नहीं है

नैयायिक और वैशेषिक दर्शन कर्म को अदृष्ट मानकर उसे आत्मा का गुण मानते हैं। किन्तु जैनदर्शन कर्म को आत्मा का गुण न मानकर कर्म और आत्मा (जीव) दोनों को भिन्न-भिन्न द्रव्य मानता है। अगर कर्म को आत्मा का गुण माना जाता, तो आत्मा की तरह कर्म भी अमूर्त्त होता। ऐसी स्थिति में (कर्म) अमूर्त्तिक (आत्मा) का बन्ध नहीं हो पाता। यह परखा हुआ सिद्धान्त है कि जिस पदार्थ का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नहीं होता। फिर तो अमूर्त्तिक कर्म, अमूर्त्तिक आत्मा का अनुग्रह और निग्रह, उपकार और अपकार करने में समर्थ नहीं होता। अतः कर्म आत्मा का गुण होता तो वह उसके लिए आवरण, पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु नहीं हो पाता; क्योंकि कर्म आत्मा के गुणों का घातक, बाधक, आवरण है तथा उसके पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु है। कर्म आत्मा का गुण होने पर अपने आधारभूत गुणी (आत्मा) को बन्धन में नहीं डाल पाता। संसारी आत्मा को भी (कर्म) बन्धन-बद्ध न होने के कारण सदा-सर्वदा के लिए स्वतन्त्र, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त मानना पड़ेगा। किन्तु ऐसा मानना युक्तिसंगत एवं सिद्धान्तसम्मत नहीं होगा।

दूसरी बात यह है कि कर्म को आत्मा का गुण मानने पर कोई भी आत्मा कर्म-बद्ध न होने से संसारी नहीं रह पाएगा, संसार का सर्वथा अभाव हो जाएगा, सभी आत्मा मुक्त हो जाएँगे। और फिर मुक्ति के लिए किये जाने वाला तप, संयम, व्रत-नियम आदि सद्धर्माचरण-पुरुषार्थ भी व्यर्थ हो जाएगा। अतः कर्म को आत्मा का गुण मानना युक्तियुक्त नहीं है।[1]

यदि कर्म को आत्मा का गुण मानकर भी उसे आत्मा के बन्ध का कारण माना जाएगा तो आत्मा कभी मुक्त न हो सकेगी,[2] क्योंकि गुण के नष्ट हो जाने से गुणी भी नष्ट हो जाएगा। कर्म को आत्मा का गुण मानने से एक दोष यह भी आएगा कि गुण गुणी से कदापि पृथक नहीं हो पाएगा। फलतः जैसे संसारी आत्माओं के साथ कर्म रहता है, उसी प्रकार मुक्त

१. (क) कर्म : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (उपाचार्य देवेन्द्र मुनि) से पृ. २४
(ख) न कर्माऽत्मगुणो अमूर्तस्तस्य बन्धाप्रसिद्धितः।
अनुग्रहोपघातौ हि नामूर्तेः कर्तुमर्हति ॥ —तत्त्वार्थसार ५/१४
(ग) तत्त्वार्थ-सर्वार्थसिद्धि (आ. पूज्यपाद) ८/२ पृ. ३७७

२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक ८/२/१० पृ. ५६६

आत्माओं के साथ भी सदैव कर्म संलग्न रहेगा। ऐसी स्थिति में संसारी और मुक्त, दोनों प्रकार की आत्माओं में कोई भी अन्तर नहीं रह जाएगा।[1]

अतः कर्म आत्मा का गुण नही है। वह मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है, इसलिए दोनों विजातीय द्रव्य हैं।

कर्म सूक्ष्म होते हुए भी मूर्त्त है

यद्यपि कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल होने से सूक्ष्म है, इसलिए वह स्थूल नेत्रों से दृष्टिगोचर नहीं होता, तथापि वह मूर्तिक (मूर्त्त) है, पौद्गलिक है; क्योंकि उसका कार्य जो औदारिक आदि शरीर है, वह मूर्तिक है। मूर्तिक की रचना मूर्त्त से ही हो सकती है। इसलिए दृश्यमान मूर्त्त औदारिकादि शरीरों (कार्य) से अदृश्यमान कर्म (कारण) में मूर्त्तत्व सिद्ध होता है। पौद्गलिक (मूर्त्तिक) कार्य का समवायी-कारण भी पौद्गलिक या मूर्त्तिक होता है। जैसे—मिट्टी आदि पौद्गलिक (मूर्त्तिक) है तो उससे निर्मित होने वाले घटादि पदार्थ भी पौद्गलिक (मूर्त्तिक) ही होंगे।[2]

गणधरवाद में कर्म की मूर्त्तत्व-सिद्धि

'गणधरवाद' में कर्म का मूर्त्तत्व सिद्ध करने के लिए कहा गया है—कर्म मूर्त्त हैं, क्योंकि आत्मा के साथ उनका सम्बन्ध होने से सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है। जैसे—"मूर्त्त अनुकूल आहार आदि से सुखानुभूति और मूर्त्त शस्त्रादि के प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार और शस्त्र दोनों ही मूर्त्त हैं, इसी प्रकार सुखः-दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म भी मूर्त्त हैं। जो अमूर्त्त पदार्थ होता है, उससे सम्बन्ध होने पर सुखादि का अनुभव नहीं होता। जैसे—आकाश। कर्म से सम्वन्ध होने पर आत्मा सुख-दुःखादि का अनुभव करती है। अतः कर्म मूर्त्त हैं।"

"जिससे सम्बन्ध होने पर वेदना का अनुभव हो, वह मूर्त्त होता है। जैसे—मूर्त्त अग्नि से सम्बन्ध होने पर वेदना की अनुभूति होती है, उसी प्रकार कर्म के साथ सम्बन्ध से प्राणियों को वेदना की अनुभूति होती है, जो उसे मूर्त्त सिद्ध करती है। अगर कर्म अमूर्त्त होता तो उससे सम्बन्ध होने पर वेदना का अनुभव नहीं होता, लेकिन कर्म के सम्वन्ध से वेदना का अनुभव होता है, इसलिए कर्म मूर्त्त है, अमूर्त्त नहीं।"

कर्म मूर्त्त है, क्योंकि आत्मा और उसके ज्ञानादि भिन्न बाह्य पदार्थ से

---

१. (क) तत्त्वार्थ वार्तिक ८/२/१० पृ. ५६६/८

२. (क) कर्म विचार (डॉ. आदित्य प्रचण्डिया—जिनवाणी में प्रकाशित लेख) पृ. ७२

(ख) औदारिकादि कार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
न ह्यमूर्त्तेन मूर्त्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते॥

—तत्त्वार्थसार अ. ५ श्लोक १५

उसमें बलाधान होता है, अर्थात् स्निग्धता आती है; जैसे घड़े आदि पर तेल आदि बाह्य वस्तु का विलेपन करने से उसमें बलाधान हो जाता है, वैसे ही वनिता, चन्दन, माला आदि बाह्य वस्तुओं के संसर्ग से कर्म में भी बलाधान होता है। इसलिए घट के समान कर्म भी मूर्त्त है।

आत्मा आदि (अमूर्त्त) से भिन्न होने से कर्म दूध की तरह परिणामी है, इसलिए मूर्त्त है। जो परिणामी होता है, वह मूर्त्त होता है। जैसे—दूध आत्मा[1] से भिन्न और परिणामी है, इस कारण मूर्त्त है, वैसे ही कर्म भी मूर्त्त है। कर्म परिणामी है, क्योंकि उसका कार्य शरीरादि परिणामी है। जिसका कार्य परिणामी होता है, वह स्वयं भी परिणामी होता है। जैसे—दूध का कार्य दही परिणामी है, क्योंकि दही छाछ आदि में परिणत हो जाता है। अतः दही के परिणामी होने से उसका कारणरूप दूध भी परिणामी है, वैसे कर्म के कार्य शरीर आदि के परिणामी (परिवर्तनशील—विकारी) होने से उनके कारणरूप कर्म भी परिणामी हैं। परिणामी होने से कर्म मूर्त्त रूप हैं।

कर्म को मूर्त्त सिद्ध करने के लिए एक युक्ति यह भी है—कर्म का परिणाम अमूर्त्त आत्मा के परिणाम से भिन्न होता है। अतः परिणाम की भिन्नता से आत्मा और कर्म (पुद्गल) इन दोनों द्रव्यों में विपरीतता एवं विभिन्नता सिद्ध होती है। अर्थात्—कर्म अमूर्त्त आत्मा से विपरीत मूर्तस्वभाव वाले हैं।[2]

अन्य जैनदार्शनिक ग्रन्थों में कर्म की मूर्त्तत्व सिद्धि

'पंचास्तिकाय' में कर्मों को मूर्त्त (पौद्गलिक) सिद्ध करते हुए लिखा है—"जीव कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख के हेतुरूप इन्द्रिय-विषयों का मूर्त्त इन्द्रियों के द्वारा उपभोग करता है; इस कारण कर्म मूर्त्त हैं।" आप्त परीक्षा में भी इसी का समर्थन किया है।

स्पष्ट शब्दों मे कहें तो—'इन्द्रियों के विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द, ये मूर्त्त हैं, और उनका उपभोग करने वाली इन्द्रियाँ भी मूर्त्त हैं। उनसे प्राप्त होने वाला सुख-दुःख भी मूर्त्त है। अतः उनके कारणभूत कर्म भी मूर्त्त हैं।'[3]

---

१. विशेषावश्यकभाष्य के अन्तर्गत गणधरवाद (सं. पं. दलसुख मालवणिया) गा. १६२६-२७

२. (क) वही (सं. पं. दलसुख मालवणिया) गा. १६२७-२८
   (ख) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से, पृ. १९३

३. (क) जम्हा कम्मस्स फलं विसयं, फासेहिं भुंजदे नियदं।
   जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि॥ —पंचास्तिकाय गा. १३३
   (ख) आप्त परीक्षा श्लो. ११५
   (ग) कर्म : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (उपा. देवेन्द्रमुनि) से पृ. २५

'जयधवला' टीका में कहा गया है—कर्म मूर्त है, यह कैसे जाना? इसका समाधान यह है कि यदि कर्म को मूर्त नहीं माना जाए तो मूर्त औषधि के सम्बन्ध से परिणामान्तर उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात्—रुग्णावस्था में औषधि ग्रहण करने से रोग के कारणभूत कर्मों की उपशान्ति देखी जाती है। अन्यथा, वह नहीं हो सकती। औषधि के द्वारा परिणामान्तर की प्राप्ति असिद्ध नहीं है; क्योंकि परिणामान्तर न होता तो ज्वर, कुष्ट तथा क्षय आदि रोग नष्ट नहीं हो सकते थे। अतः कर्म में परिणामान्तर-प्राप्ति सिद्ध होने से वह मूर्त सिद्ध होता है।[1]

आचार्य गुणधर ने "कसायपाहुड" में कहा है—कृत्रिम होते हुए भी कर्म मूर्त है; क्योंकि मूर्त दवा के सेवन से परिणामान्तर होता है, अर्थात्—रुग्णावस्था स्वस्थ अवस्था में परिवर्तित हो जाती है। यदि कर्म मूर्त न होता तो मूर्त औषधि से कर्मजन्य शरीर में परिवर्तन न होता।[2]

'अनगार धर्मामृत' में कर्म को मूर्त सिद्ध करते हुए कहा गया है—कर्म मूर्त है, क्योंकि उसका फल मूर्तिक द्रव्य के सम्बन्ध से अनुभवगोचर होता है। जैसे—चूहे के काटने से उत्पन्न हुआ विष। आशय यह है कि जैसे—चूहे के काटने से उत्पन्न शोथ आदि विकार इन्द्रियगोचर होने से वह मूर्त है, उससे उसका मूल कारण विष भी मूर्त होना चाहिए, इसी प्रकार यह जीव मणि-पुष्प-वनितादि के निमित्त से सुख तथा सर्प-सिंहादि के निमित्त से दुःखरूप कर्म के विपाक का अनुभव करता है। अतः इस सुख-दुःख के कारणभूत कर्म को भी मूर्त मानना उचित है।[3]

कर्म के मूर्त कार्यों को देखकर मूर्तत्त्व-सिद्धि

सौ बात की एक बात है—कर्म के कार्यों को देखकर भी उसका मूर्तिक होना स्वतः सिद्ध होता है। तत्त्वार्थसार में यही कहा है—जिस प्रकार मिट्टी के परमाणुओं से निर्मित घट कार्य को देखकर उसके परमाणुओं

---

१. (क) तं पि मुत्तं चेव। तं कथं णव्वदे? मुत्तोसहसम्बन्धेण परिणामान्तर-गमण-जहाणुववत्तीदो। ण च परिणामांतरगमणमसिद्धं, तस्स तेण विणा जर-कुट्ठ-क्खयादीणं विणासाणववत्तीए परिणामन्तरगमण-सिद्धिदो।

—जयधवला टीका १/५७

२. कसायपाहुड (आचार्य गुणधर) १/१/१ पृ. ५७

३. (क) यदाखु-विषवन्मूर्त-सम्बन्धेनानुभूयते।
यथास्वं कर्मणः पुंसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत्॥ —अनगार धर्मामृत २/३०

(ख) मूर्तं कर्म मूर्त-सम्बन्धेनानुभूयमान-मूर्तफलत्वादाखुविषवत्।

—पंचास्तिकाय टीका (अमृतचन्द्र सूरि)

को मूर्त माना जाता है, उसी प्रकार कर्म के कार्य औदारिक आदि शरीरों को मूर्तिक देखकर उनका कारणभूत कर्म भी मूर्तिक सिद्ध हो जाता है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो अमूर्त पदार्थों से मूर्त पदार्थों की उत्पत्ति माननी होगी, जो सिद्धान्तविरुद्ध है, क्योंकि अमूर्त कारणों से मूर्त कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती।[१]

बौद्धदर्शन ने कर्म को वासना नाम से स्वीकार किया है, परन्तु वासना अमूर्त होने से वह अमूर्त आकाश की तरह जीवों पर अनुग्रह या उपघात नहीं कर सकती । अतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। इसी प्रकार वेदान्त-दर्शन ने अविद्या नाम से कर्म को स्वीकार किया है, वह भी उचित नहीं; क्योंकि उनके सिद्धान्तानुसार अविद्या असत् है, वह आकाशकुसुमवत् जीव का कुछ भी बनाने-बिगाड़ने में समर्थ नहीं हो सकती ।[२]

तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि में कहा गया है कि "कार्मण शरीर पौद्गलिक है, क्योंकि वह मूर्तिमान् पदार्थों के सम्बन्ध से फल देता है। जिस प्रकार जलादि पदार्थों के संसर्ग से पकने वाले धान्य पौद्गलिक (मूर्त) होते हैं। उसी प्रकार कार्मण शरीररूप कर्म भी गुड़, कांटा आदि इष्ट-अनिष्ट मूर्त पदार्थों के सम्पर्क से फल प्रदान करता है। इससे भी कर्म पौद्गलिक—मूर्त सिद्ध होता है। तत्त्वार्थ वार्तिक में भी इसी तथ्य का समर्थन किया गया है।[३]

आप्तवचन से कर्म मूर्तरूप सिद्ध होता है

आगमों और कर्मग्रन्थों आदि से भी कर्म मूर्त सिद्ध होता है। समयसार में कहा गया है—"आठों प्रकार के कर्म पुद्गलस्वरूप हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।" नियमसार में भी कहा गया है—"आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता भोक्ता है, यह सिर्फ व्यवहार-दृष्टि है।" पुद्गल मूर्तिक है, इसलिए कर्म भी मूर्तिक सिद्ध होते हैं।[४]

---

१. (क) विशेषावश्यकभाष्य गणधरवाद गा. १६२५
   (ख) औदारिकादिकार्याणां कारणं कर्म मूर्तिमत्।
   न ह्यमूर्तेन मूर्तानामारम्भः क्वापि दृश्यते॥ —तत्त्वार्थसार ५/१५
२. देखें—बंधविहाणे मूलपयडिबंधो ग्रंथ ९ (प्रेम प्रभा टीका) पृ. १६
३. (क) तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि ५/१९ पृ. २८५
   (ख) तत्त्वार्थ वार्तिक ५/१९/१९
४. (क) समयसार गा. ४५
   (ख) कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गल-कम्मस्स होदि ववहारो। —नियमसार १८

इस समग्र विवेचन से स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि जैनदर्शन में कर्म न तो अमूर्त आत्मगुण-रूप है, और न ही आत्मा के समान अमूर्त है, अपितु वह मूर्त्तरूप है, पौद्गलिक है, भौतिक है।

अपेक्षा से कर्म जड़-चेतन-उभय परिणामरूप भी है

परन्तु जैनदर्शन अनेकान्तवादी है, सापेक्षवादी है, वह प्रत्येक तत्त्व की समीक्षा अनेकान्तात्मक चिन्तन शैली से करता है। इसलिए जहाँ परमाणुवादी वैशेषिक आदि ने कर्म को एकान्त चेतननिष्ठ मानकर उसे चेतनधर्मा कहा, इसी प्रकार प्रधानवादी सांख्ययोगदर्शन ने उसे अन्तःकरण (मन) निष्ठ मानकर जड़धर्मा बताया; वहाँ आत्मा और परमाणु को परिणामी मानने वाले जैनदर्शन ने अपनी अनेकान्तविशिष्ट चिन्तन शैली के अनुसार कर्म को चेतन और जड़ उभयपरिणाम (भावकर्म और द्रव्यकर्म) की अपेक्षा एवं विवक्षा से उभयरूप भी माना है। किन्तु उभयपरिणामी होते हुए भी कर्म आत्मगुणरूप नहीं है और न ही आत्मा के समान अमूर्त्त है।[१]

■

१. पंच संग्रह भा. १ प्राक्कथन (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) से पृ. १०

७

कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप

कर्म द्वारा आत्मा को मलिन करने की प्रक्रिया जानना आवश्यक

अनन्त आकाश अपने आप में अत्यन्त स्वच्छ, निर्मल, निर्लेप है; परन्तु उस पर जब बादल छा जाते हैं, बिजली चमचमाने लगती है, आँधी और तूफान आने लगते हैं, वर्षा की झड़ी लग जाती है; तब वही आकाश स्वच्छता, निर्मलता, निर्लेपता और निरावरणता से रहित दिखाई देता है। आकाश की इस अस्वच्छ, समल, सावरण और लेपयुक्त होने की प्रक्रिया से प्रत्येक व्यक्ति जान लेता है कि इस समय आकाश स्वच्छ, निर्मल तथा आवरण और लेप से रहित नहीं है। इसी प्रकार आत्मा भी अपने-आप में निश्चयदृष्टि से शुद्ध, स्वच्छ, कर्ममल से रहित एवं कर्मों से निर्लेप है, परन्तु जब उस पर कर्मों के बादल छा जाते हैं, उसकी शक्ति, गति, मति को आवृत कर देते हैं, कषायों और विषयो के आंधी तूफान चलने लगते हैं, हिंसा आदि के क्रूरभावो की अथवा आर्त्त-रौद्र ध्यान की वर्षा होने लगती है, सांसारिक सुख-दुःखों तथा क्षणिक सम्पन्नता-विपन्नता की बिजली मानसिक गगन पर आँख-मिचौनी करने लगती है, तब स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि आत्मा कर्ममेघो से आच्छन्न है, वह कर्मों से ग्रस्त है। कर्मों ने अपना जाल स्वच्छ, शुद्ध, स्वतत्र आत्मा पर फैला कर उसे जकड़ रखा है, उसकी शक्तियों को कुण्ठित कर रखा है।

परन्तु जैसे आकाश में प्रकृति के इस परिवर्तन की प्रक्रिया को अथवा उसकी प्रकृति और विकृति को नहीं जानने वाला उसके मूल स्वरूप और रहस्य को हृदयगम नहीं कर पाता। इसी प्रकार आत्मा पर कर्मों की प्रक्रिया को तथा आत्मा की प्रकृति और विकृति के रहस्य को व्यक्ति जब तक नहीं जान लेता; तब तक वह कर्मों से मुक्त, स्वच्छ, शुद्ध, निर्लेप एवं निर्मुक्त होने का उपक्रम एवं पुरुषार्थ नहीं कर सकता। इसलिए कर्म के प्रक्रियात्मक स्वरूप को जानना बहुत ही आवश्यक है।

ज्ञपरिज्ञा से कर्म को भलीभांति जानकर ही कर्म काटने का पुरुषार्थ करना हितावह

आगमों में बताया गया है कि किसी भी हेय (त्याज्य) पदार्थ को पहले ज्ञ-परिज्ञा से पूरी तरह जानने पर ही प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका त्याग भलीभाँति द्रव्य और भाव से साधक कर सकता है। इसी प्रकार कर्म की सर्वांगीण प्रक्रिया को जाने बिना कर्मों से मुक्त होने का अर्थात्—पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय करने एव नवीन आते हुए कर्मों को रोकने का तथा समभाव में स्थित रहने का उपक्रम भलीभांति नही कर सकता।[1]

मशीन-मैन को मशीन की प्रक्रिया के ज्ञान की तरह साधक को कर्म-प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक

एक बड़ी भारी मशीन है, उससे वस्त्र-उत्पादन होता है। उसमें अनेक छोटे-बड़े कल-पुर्जे लगे हुए होते हैं। यदि मशीन-मैन उस मशीन की पूरी प्रक्रिया और गतिविधि को तथा जिन कल-पुर्जों के सहारे से वह मशीन चलती है, उनकी कार्यप्रणाली और क्षमता को नही जानता-समझता तो वह मशीन जब चलती-चलती सहसा ठप्प हो जाएगी, या पुर्जों मे कही कोई बिगाड़ आ जाएगा, तब वह उस मशीन को ठीक नही कर सकेगा, न ही उसको सचालित कर सकेगा। इसी प्रकार कर्मरूपी यत्र विविध इन्द्रिय, मन, वाणी, शरीर, बुद्धि आदि उपकरणो (कल-पुर्जों) से जीव को कैसे गतिमान करता है, उसकी प्रक्रिया (Process) क्या है? इस समग्र प्रक्रिया और कार्यप्रणाली को जब तक जीव नही समझ लेगा, तब तक कर्म के शुभ, अशुभ एव शुद्ध रूप का विवेक नहीं कर सकेगा, न ही वह आत्मा को अशुभ या पाप कर्मों से बचाकर शुद्ध रख सकेगा।

भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया की तरह जैविक-रासायनिक प्रक्रिया के प्रति जागरूक होना जरूरी

जिस प्रकार गन्धक, शोरा, तेजाब आदि के मिलने पर भौतिक रासायनिक प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और उससे भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थों की उपलब्धि होती है; इसी प्रकार कर्मों का जीव के साथ सम्मिलन होने पर भी जैविक-रासायनिक प्रक्रिया (Chemicalaction) प्रारम्भ हो जाती हैं। उस प्रक्रिया के फलस्वरूप जीव के भावो के अनुसार अनन्त प्रकार की विचित्रताएँ व्यक्त होती दिखाई देती है। जीव के रागादि परिणामो मे वह बीज विद्यमान है कि वह प्रस्फुटित और विकसित होकर अनन्तविध विचित्रताओ को वट वृक्ष से समान दिखा देता है। अतः इस

१. "ज्ञपरिज्ञया जानाति, प्रत्याख्यान-परिज्ञया प्रत्याचक्षते=त्यजति।"

—स्थानाग, स्थान २

जैविक-रासायनिक प्रक्रिया को समझना अत्यन्त आवश्यक है। अगर हम उस रासायनिक प्रक्रिया के प्रति जागरूक नहीं हैं, असावधान या गाफिल हैं, तो आने-वाले उन पौद्‌लिक कर्मपरमाणुजन्य कर्मों को हम रोक नहीं सकेंगे। अगर वे आने वाले कर्म रोके नहीं जाएँगे तो वे अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहेंगे। वे द्रव्यकर्म भावकर्मों के निमित्त बनेंगे और फिर द्वेषादि परिणामों का चक्र चलना बन्द नहीं हो सकेगा।[1]

भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों की सन्धि तोड़ने के लिए प्रक्रियात्मक रूप जानना आवश्यक

वे द्रव्यकर्म ही हैं, जो भावकर्मों को जिलाते हैं और भावकर्म फिर द्रव्यकर्मों को जिलाते हैं। दोनों परस्पर एक-दूसरे को जीवनी-शक्ति प्रदान करते हैं। दोनो में परस्पर ऐसी सन्धि है कि ये दोनों एक-दूसरे को उकसाने और पल्लवित होने में सहायता करते हैं। दोनो की इस अव्यक्त और विचित्र सन्धि को तोड़ने के लिए इन दोनों की आत्मा को साथ संलग्न होने की रासायनिक प्रक्रिया को जानना जरूरी है। यदि साधक चाहता है कि भावकर्म और द्रव्यकर्म इन दोनों की सन्धि तोड़ दे, या दोनों में ऐसा विभेद उत्पन्न कर दे कि ये दोनों अलग-अलग हो जाएँ, मिल न सकें; अनादिकाल से चली आ रही दोनो की गुटबाजी समाप्त कर दे तो इसके लिए दोनों कर्मों के आने के स्रोत तथा भाध्यमों के रोकना होगा। उन स्रोतों एवं माध्यमों का मार्गान्तरीकरण करना होगा। परन्तु यह सब कर्मों के आगमन और आत्मा में प्रविष्ट होने के प्रक्रियात्मक रूप को जाने बिना नहीं हो सकेगा।[2]

अमूर्त्त के साथ मूर्त्तकर्म का संयोग सम्बन्ध कैसे ?

सर्वप्रथम तो यह प्रश्न होता है कि मूर्त्त कर्म का अमूर्त्त आत्मा में प्रवेश कैसे हो गया? कैसे इन दोनों विजातीय पदार्थों में मिलन या सम्बन्ध स्थापित हो गया? जैनकर्मविज्ञानशास्त्री यह समाधान देते हैं कि मूर्त्त और अमूर्त्त में कोई विरोध नहीं है कि दोनों का संयोग न हो सके। मूर्त्त का अमूर्त्त के साथ और अमूर्त्त का मूर्त्त के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। आकाश अमूर्त्त है, उसके साथ संसार के प्रत्येक पदार्थ का संयोग होता है। न्यायशास्त्र में घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में असीम एवं अमूर्त्त, अखण्ड आकाश के साथ घट, मठ आदि पदार्थों का योग बताया गया है। इस प्रकार एक अमूर्त्त आकाश अनेक रूपों में विभाजित हो गया।

---

१. (क) महाबंधो भा. १ की प्रस्तावना (प. सुमेरु चन्द्र दिवाकर) पृ.७४

(ख) कर्मवाद से भावांश उद्धृत पृ. २७

२. वही, भावांश पृ. २७

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश द्रव्यों को अरूपी (अमूर्त्त) कहा गया है, फिर भी ये मूर्त्त पदार्थों को अवगाह, गति, स्थिति आदि में सहायक बनते है। इसलिए उपकारी हैं। ये आकाशादि द्रव्य अचेतन होते हुए भी इन अमूर्त्त द्रव्यों का मूर्त के प्रति उपकार[१] है और मूर्त के द्वारा अमूर्त द्रव्यों का परिणमन. पर्याय-परिवर्तन भी होता है। इसी प्रकार अमूर्त्त आत्मा (जीव) का भी मूर्त्त कर्मपुद्गलों के प्रति उपकार है। दोनों एक-दूसरे से उपकृत होते हैं।

दोनों के उपादान पृथक्-पृथक्, दोनों में संयोग सम्बन्धकृत परिवर्तन

कर्मपुद्गलों की आत्मा के साथ तदात्मता—एकात्मता तो तीन काल में नहीं हो सकती। तादात्म्य होने पर कर्म और आत्मा दो नहीं रह सकते, एक हो जायेंगे। इसलिए सिद्धान्त यह है कि आत्मा के अपने स्वभाव, गुण और उपादान अलग हैं और कर्मपुद्गल के उपादान, स्वभाव और गुण अलग हैं। आत्मा के मुख्य चार उपादान हैं—ज्ञान, दर्शन आत्म-सुख (आनन्द) और शक्ति। ये आत्मा के मौलिक गुण एवं उपादान हैं। इनमे कभी परिवर्तन नहीं आता। कर्म-पौद्गलिक पदार्थ है। उसके मुख्य उपादान चार हैं—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण। उसके उपादान एवं गुण, स्वभाव में आत्मा कदापि परिवर्तन नही ला सकती और न ही आत्मा के गुण और उपादान मे 'कर्म' कोई परिवर्तन ला सकते हैं। दोनों का उपादान अपना-अपना होगा। ये एक-दूसरे के सहायक बन सकते हैं। अतः पुद्गलकर्म, पुद्गल ही रहते है। आत्मा, आत्मा ही। दोनों का संयोग सम्बन्ध हो सकता है। संयोग-सम्बन्धकृत परिवर्तन दोनों में हो सकता है। इन दोनों का उपादान अपना-अपना रहेगा, केवल निमित्त बदलेंगे। अर्थात्—आत्मा के उपादानों के किंचित् परिवर्तन में कर्म निमित्त बन सकते हैं और कर्मों के उपादानों के यत्किंचित् बदलने में आत्मा निमित्त बन सकती है। एक-दूसरे के उपादानों की ये दोनों जरा भी क्षति नहीं कर सकते।[२]

निमित्त की सीमा में दोनों एक-दूसरे से उपकृत एवं प्रभावित होते हैं

तत्पश्चात् हमें यह सोचना है कि आत्मा और कर्म एक-दूसरे पर क्या प्रभाव डालते हैं? ये एक-दूसरे पर क्या उपकार करते हैं? इसका समाधान यही है कि ये दोनों निमित्त की सीमा में जितना कुछ हो सकता है, करते हैं; किन्तु उपादानगत या अस्तित्वगत कुछ भी नहीं करते। अपने-अपने अस्तित्व की सीमा में आकाशादि द्रव्यों की तरह ये दोनों भी

---

१. कर्मवाद से भावाश पृ. २२

२. कर्मवाद से भावांश उद्धृत, पृ. २२-२३

रहते हैं। इनका अस्तित्व बिल्कुल नहीं बदलता; केवल परिधियाँ बदलती हैं; केन्द्र नहीं बदलता। परिधि में ही समस्त परिवर्तन होते हैं। कर्म का निमित्त मिलने पर अमूर्त आत्मा मूर्त-सम प्रयुक्त होने लगता है, चेतन आत्मा अचेतन रूप में—पौद्गलिक रूप में व्यवहृत होने लगती है।[१]

निश्चयदृष्टि से अमूर्त आत्मा, वर्तमान में मूर्त्तवत् बनी हुई है

यद्यपि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा अमूर्त है, चेतनामय है, परन्तु वर्तमान में तो संसारी आत्माएँ मूर्त हैं। अमूर्त बनने का लक्ष्य अवश्य है, परन्तु वह लक्ष्य तभी सिद्ध होगा, जब समस्त कर्मों का अन्त आ जाएगा, कर्मों के साथ जो सम्बन्ध है वह सर्वथा टूट जाएगा। भावकर्म के साथ-साथ द्रव्यकर्म भी समाप्त हो जाएँगे।[२] तब आत्मा समस्त आवरणों, कर्मों से सर्वथा मुक्त होगा। चैतन्य चन्द्र पूर्ण निष्कलंक और शुद्ध अखण्ड ज्योतिर्मय हो जाएगा। जिस दिन आत्मा पूर्ण अमूर्त हो जाएगा, मूर्त सर्वथा छूट जाएगा, अंश-मात्र भी नहीं रहेगा। केवल अमूर्त शेष रहेगा। तब आत्मा निरंजन, निर्लेप, निराकार, अनन्तचतुष्टय-सम्पन्न, शुद्ध निष्कलंक हो जाएगी।

वर्तमान में भावकर्म और द्रव्यकर्म दोनों आत्मा के साथ लिपटे हुए हैं

परन्तु वर्तमान में अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त भी जुड़ा हुआ है। आत्मा अखण्ड चेतनावान् है, किन्तु वर्तमान में उस पर अचेतन द्रव्य छाया हुआ है। आत्मा के साथ भावकर्म का इस समय संयोग है। भावकर्म आत्मा का रागादिमय परिणामरूप है। दूसरा द्रव्यकर्म है, जो भावकर्म का शारीरिक आकार धारण करने वाला—भावकर्म का संवादि कार्य करने वाला है। इसे पौद्गलिक कर्म भी कह सकते हैं। भावकर्म को भावचित्त और द्रव्यकर्म को पौद्गलिक चित्त भी समझा जा सकता है। द्रव्यकर्म में भावकर्म प्रतिबिम्बित होता है; यानी, जैसा भावकर्म निर्मित होता है, वैसा ही द्रव्यकर्म का—कर्मपुद्गलों का निर्माण होता जाता है। टेपरिकार्डर में भरी जाती हुई आवाज की तरह, भावकर्म के संस्कार द्रव्यकर्म में भर जाते हैं, अंकित हो जाते हैं। समझना यह है कि भावकर्म और द्रव्यकर्म के आत्मा में आने, प्रविष्ट होने अथवा आत्मा से सम्बद्ध होने की प्रक्रिया (Process) क्या है? इस प्रक्रिया को जान लेना ही कर्म के प्रक्रियात्मक रूप को जानना है।[३]

---

१. कर्मवाद से भावांश पृ. २३

२. वही, भावांश पृ. २३-२४

३. कर्मवाद से भावांश पृ. २४.

भावकर्म-द्रव्यकर्म की प्रक्रिया भी कर्म का प्रक्रियात्मक रूप

कर्म की एक प्रक्रिया यह है—भावकर्म आस्रवरूप है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाच आस्रव हैं। आत्मा में इन पांचों आस्रवों अर्थात्—भावकर्म के पाच स्रोतों से भावकर्म का तीव्र-मन्द-मध्यम रूप से सम्बन्ध होता है, तो वे भाव-कर्म अपने संवादि द्रव्यकर्मों को आकर्षित कर लेते हैं। यानी भावकर्म का ठीक संवादी द्रव्यकर्म होता है और द्रव्यकर्म शरीररूप होता है, जिसके संवादी होते हैं—औदारिक और तेजस शरीर। आशय यह है कि एक जैसा होगा, दूसरा भी वैसा ही होगा और दूसरा जैसा होगा, तीसरा भी वैसा ही होगा।[1]

जैविक और पौद्गलिक रासायनिक प्रक्रियाओं का योग ही कर्म का प्रक्रियात्मक रूप

यह निश्चित है—आत्मा भावकर्म के बिना द्रव्यकर्मों—कर्मपुद्गलों को आकर्षित नहीं कर सकती। भावकर्म से फिर द्रव्यकर्मों का आकर्षण होता है। वैज्ञानिक भाषा मे कहें तो भावकर्म जीव (आत्मा) मे होने वाली रासायनिक प्रक्रिया है, इसे हम जैविक-रासायनिक प्रक्रिया कह सकते हैं और द्रव्यकर्म सूक्ष्म (कार्मण) शरीर की रासायनिक प्रक्रिया है, इसे पौद्गलिक रासायनिक प्रक्रिया कह सकते हैं। इन दोनो—जैविक और पौद्गलिक रासायनिक प्रक्रियाओं मे परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है, ये दोनो एक-दूसरे को प्रभावित करती है। इन दोनों में सम्बन्ध तभी स्थापित होता है जब जैविक रासायनिक प्रक्रिया के साथ सूक्ष्म शरीर की (पौद्गलिक) रासायनिक प्रक्रिया का योग हो, साथ ही सूक्ष्म शरीर की रासायनिक प्रक्रिया के साथ जैविक रासायनिक प्रक्रिया का योग हो।[2]

आकाशीय ग्रह-नक्षादि का भूमण्डल आदि पर प्रभाव

वर्तमान वैज्ञानिको ने भी माना है कि चन्द्रमा, सूर्य तथा आकाशीय ग्रह-नक्षत्र इस पृथ्वी पर, पृथ्वी पर रहने वाले जीवों, विशेषतः मनुष्यो पर भी प्रभाव डालते हैं। ज्योतिष शास्त्र ने तो पहले से ही यह सिद्ध कर दिया है। समग्र ज्योतिषशास्त्र का गणित और फलित ग्रह-नक्षत्रो के प्रभाव पर आधारित है। ज्योतिषशास्त्र बता देता है कि अमुक ग्रह नक्षत्र का योग हो तो उसका प्रभाव अमुक प्रकार का पड़ता है।

कर्म की एक प्रक्रियात्मक प्रणाली

संसार का प्रत्येक जीव प्रभावयुक्त है। अप्रभावित कोई नहीं है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में संक्रमण एव प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। इसी

---

१. कर्मवाद से, (भावाश) पृ. २५

२. वही. पृ. २८ (भावांश)

प्रकार कर्मों से बंधी हुई प्रत्येक आत्मा प्रभावयुक्त है। प्रभाव का मूल स्रोत कर्म है। सर्वप्रथम कर्म से जीव प्रभावित होता है। जीव में ज्यों ही राग-द्वेषात्मक या कषायात्मक भाव आए कि भावकर्म से वह प्रभावित हो गया, भावकर्म के प्रभाव क्षेत्र में आ गया। भावकर्म से फिर संवादी द्रव्यकर्म प्रभावित हुए। दोनों आत्मा को प्रभावित करते हैं। दोनों का प्रभाव क्षेत्र बन गया। दोनों कर्मों की रासायनिक प्रक्रिया का सम्बन्ध हो जाने पर आत्मा और कर्म का बन्धयुक्त सम्बन्ध हो जाता है। फिर भावकर्म द्रव्यकर्म को और द्रव्यकर्म आत्मा को प्रभावित करते हैं, आत्मा भी द्रव्यकर्मों को प्रभावित करती है। यह है—कर्म की एक प्रक्रियात्मक प्रणाली।[1]

आगम में कर्म के प्रक्रियात्मक रूप का एक चित्र

एक विशिष्ट कर्म की प्रक्रिया का चित्र भगवती सूत्र में गणधर गौतम और भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में मिलता है। वह इस प्रकार है—

गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से पूछा—"भगवन्! जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस कारण से करता है?"

भगवान ने कहा— "प्रमाद से।"

गौतम— "भते! प्रमाद कैसे होता है?"

भगवान्— "योग (मन-वचन-काया की प्रवृत्ति) से।"

गौतम— "योग किससे होता है?"

भगवान्— "वीर्य (क्रियात्मक शक्ति) से।"

गौतम— "वीर्य किससे होता है?"

भगवान्— "शरीर (औदारिक या वैक्रिय शरीर) से।"

गौतम— "शरीर किससे होता है?"

भगवान्— "कर्म (कार्मण) शरीर से।"

गौतम— "कर्म शरीर किससे होता है?"

भगवान्— "जीव से।"

इसके विपरीत क्रम से चलने पर कार्मिक प्रक्रिया का स्थूल चित्र समझ में आ जाता है। जीव से कर्मशरीर, कर्मशरीर से स्थूल शरीर, फिर स्थूल शरीर से क्रियात्मक शक्ति, क्रियात्मक शक्ति (वीर्य) से योग, योग से प्रमाद और प्रमाद से कर्म (बन्ध)। यह कर्म का एक प्रक्रियात्मक रूप है।[2]

---

१. कर्मवाद से सारांश पृ. २८-२९

२. भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) सूत्र शतक १, उ. ३, सू. २७ से ३७ तक

इस प्रक्रिया में गर्भित एक और प्रक्रिया

इस प्रकिया की भी एक प्रक्रिया और समझने योग्य है। यह कर्म किस प्रकार से और कहाँ से आता और आकर किस प्रकार आत्मा से सम्बद्ध हो जाता है ?

कर्मविज्ञानमर्मज्ञ इसका वैज्ञानिक दृष्टि से समाधान करते हैं—जिस प्रकार भाषा वर्गणा के परमाणु—पुद्गल समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, वे ज्यों-ज्यों बोले जाते हैं, उन्हें आज के वैज्ञानिक रेडियो, ट्रांजिस्टर, वायरलेस, टेलीविजन आदि यंत्रों से आकर्षित कर लेते हैं। उसी प्रकार समग्र आकाश-मण्डल में कर्मवर्गणा के परमाणु व्याप्त हैं। वे सारे आकाश में ठसाठस भरे हैं। एक सूत भर जगह भी रिक्त नहीं हैं। जब तक किसी जीव के द्वारा वे परमाणु स्वीकृत या गृहीत नहीं होते, तब तक वे आकाश मण्डल में अव्यवस्थितरूप से फैले हुए परमाणु मात्र होते हैं, कर्म नहीं होते। अलबत्ता, उनमें कर्म बनने की योग्यता होती है, वे कर्म-प्रायोग्य अवश्य कहलाते हैं। किन्तु जब जीव के मन में राग-द्वेषात्मक या कषायात्मक भावकर्म (भावचित्त) निर्मित हो जाता है। जीव के जिस प्रकार का रागात्मक भाव होता है, यानी भावकर्म का निर्माण वह करता है, तदनुरूप कर्म-पुद्गल-परमाणुओ को वह वहाँ बैठे-बैठे ही पार्श्ववर्ती आकाशमण्डल से खींच लेता है—ग्रहण कर लेता है। खींच लेने के बाद वे कर्म-पुद्गल परमाणु जीव को अपने प्रभाव क्षेत्र मे ले लेते हैं यानी बंधन मे बद्ध कर लेते हैं, एक क्षण पहले जो कर्मपरमाणु आकाश में फैले हुए थे, दूसरे क्षण वे ही कर्म-परमाणु आत्मा से सम्बद्ध हो गए।

आशय यह है कि जीव अपने स्थान मे था और कर्म-परमाणु अपने स्थान मे, किन्तु ज्यो ही जीव मे राग-द्वेषात्मक भावकर्म उदित हुआ कि वे आस-पास के आकाशमण्डल-व्याप्त कर्मपुद्गल आकर्षित होकर जीव के साथ सम्बन्ध स्थापित कर चुके। यानी वे कर्मपुद्गल जीव के भावकर्म कहें, या आस्रव कहें या भावचित्त कहें, उसके द्वारा वे द्रव्यकर्म दान लिये जाते है, तब वे जीव को बन्धन बद्ध कर लेते हैं।[१]

यह ध्यान रहे कि जीव के द्वारा ग्रहण या स्वीकार किये जाने से पूर्व वे कर्म-प्रायोग्य परमाणु व्यवस्थित नही होते, अस्त-व्यस्त होते हैं; जीव जब

---

१. (क) पंचास्तिकाय गा. ६४

(ख) तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/२/५१

(ग) कर्मवाद से भावांश पृ. ३१

उन कर्मपरमाणुओं के ग्रहण करता है और अपने साथ सम्बद्ध कर लेता है, तब वे व्यवस्थित हो जाते हैं।

आकाश मण्डल में अनेक प्रकार के परमाणु हैं। हाईड्रोजन, ऑक्सीजन, अथवा गैस एवं भाषा आदि के पचासों प्रकार के परमाणुओं के समूह (वर्गणा) हैं, वे सब परमाणु कर्म नहीं बनते। विभिन्न परमाणुओं की अपनी-अपनी योग्यता और क्षमता होती है। जिन परमाणुओं में कर्म बनने की योग्यता या क्षमता होती है, वे ही कर्म बनते हैं। उन्हें आगम की भाषा में कर्मवर्गणा के पुद्गल कहा जाता है। शास्त्र में २३ प्रकार की द्रव्यवर्गणाएँ बताई गई हैं, उनमें से जो वर्गणा कर्म के रूप में परिणत हो सकती है, वही कर्मवर्गणा कहलाती है। वह कर्मवर्गणा जीव के मन-वचन-काय की क्रिया या प्रवृत्ति अथवा चंचलता के द्वारा आकृष्ट होती है। कर्मवर्गणा के परमाणु ज्यों ही आकर्षित होकर आते हैं, त्यों ही उनकी व्यवस्था, छंटनी (Sorting) या विभाजनक्रिया स्वतः प्रारम्भ हो जाती है।[1]

कर्म-परमाणुओं की स्वतः संचित क्रिया-प्रक्रिया चार विभागों में विभाजित

पहले हम बता चुके हैं कि 'कर्म' स्वय नियन्ता, अनुशास्ता, या शास्ता है। उसकी शासन व्यवस्था वह स्वयं करता है। कर्म-परमाणुओं की स्वतः संचालित क्रिया-प्रक्रिया होती है। जो कर्म-परमाणु आकर्षित होकर आते है, उनकी पृथक-पृथक चार विभागो मे विभाजन-वर्गीकरण की व्यवस्था स्वतः होती है। सर्वप्रथम जो कर्म-परमाणु जिस स्वभाव के हैं, उनकी प्रकृति के अनुरूप स्वभाव-निर्माण व्यवस्था होती है, अर्थात्—वे परमाणु क्या कार्य करेंगे? किस स्वभाव में काम करेंगे? इस प्रकार की प्रकृति व्यवस्था होती है। फिर होती है—प्रदेश व्यवस्था। अर्थात्—वे कर्मपरमाणु कितनी मात्रा मे है, कितने जत्थे मे हैं? इसकी व्यवस्था। तत्पश्चात् उनके अनुभाव यानी रस के परिपाक की तीव्र-मन्द मात्रा के अनुसार फल देने की शक्ति के अनुरूप छंटनी होती है, इसे रस-व्यवस्था या अनुभाव-व्यवस्था कहते हैं। ये रसाणु किस प्रकार के रस का कितनी मात्रा मे संवेदन करायेंगे? इसकी व्यवस्था होती है। और अन्त में उस कर्मपुद्गल की कालावधि (स्थिति) निश्चित हो जाती है। बन्ध की यह चतुष्प्रकारी योजना व्यवस्था तथा कर्मों के फलप्रदान की शक्ति के विषय में विस्तृत रूप से हम आगे चर्चा करेंगे।[2]

---

१. (क) कर्मवाद से भावाश उद्धृत पृ. ३१-३२,

(ख) धवला १४/५-६, ७१/५२/५

२. (क) इसकी विस्तृत प्रक्रिया के लिए 'बन्ध' के प्रकरण देखिये।

(ख) कर्मवाद से भावाश उद्धृत पृ. ३२

यहाँ तो इतना ही कहना है कर्म की यह स्वतः संचालित प्रक्रिया ही कर्म का प्रक्रियात्मक रूप है।

कर्मों की स्वतः संचालित प्रक्रिया व्यवस्था कैसे और किस रूप में?

इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में एक प्रश्न और है, कि चारों भागों में विभाजित होने की कर्मों की यह स्वतः संचालित प्रक्रिया कैसे सम्पन्न हो जाती है? इसका संतोषजनक समाधान कर्मवाद ग्रन्थ मे इस प्रकार दिया है—

"............हमारे शरीर में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएँ हैं। शरीर के कुछ हिस्से ऐसे हैं जो नाड़ी-संस्थान द्वारा सचालित हैं। हमारी बहुत सारी क्रियाएँ उन्हीं से संचालित हैं। मै हाथ हिला रहा हूँ, यह स्वाभाविक..... स्वतः संचालित क्रिया नहीं है, किन्तु नाड़ियो की उत्तेजना से होने वाली क्रिया है। मै श्वास ले रहा हूँ, यह किसी के द्वारा नियन्त्रित क्रिया नहीं है, यह स्वतः संचालित क्रिया है। हमारी अनेक क्रियाएँ स्वतः संचालित होती हैं और अनेक क्रियाएँ प्रेरणा-जनित होती हैं। ये दोनो प्रकार की क्रियाएँ हमारे शरीर में हो रही हैं।"

"हम भोजन करते हैं। भोजन करने के बाद हम उस क्रिया से निवृत्त हो जाते हैं। आगे की सारी क्रियाएँ अपने आप....... स्वतः सचालित होती हैं। हमने खाया, (यानी भोजन का कौर कर पेट मे डाला)। खाने के साथ पचाने वाला रस स्वतः उसके साथ मिल जाता है। चबाया फिर वह (खाया हुआ आहार) नीचे उतरा। पाचन हुआ। छना। रस की क्रिया बनी। रस बना। सारे शरीर में फैला (यथायोग्य मात्रा मे पहुँचा)। जो सार-सार था वह फैला। (रस से) रक्त (आदि सप्त साधु) के रूप मे बना। क्रियाएँ (विभिन्न विभाग की स्वतः) सचालित हुई। जो असार था, वह बडी आत मे गया। (मल, मूत्र, स्वेद आदि के रूप में) उत्सर्ग की क्रिया सम्पन्न हुई। ये सारी क्रियाएँ अपने आप होती चली गई। आपको पता ही नही चला। न आपने उसके लिए कोई प्रयत्न किया। फिर भी वे क्रियाएँ सम्पन्न हो गई।"

"क्या आप कभी इस बात पर ध्यान देते हैं कि अब भोजन को पचाना है, रस बनाना है, रक्त बनाना है, मास बनाना है? नहीं सोचते, कोई प्रयत्न नही करते; फिर भी ये सारे कार्य सम्पन्न होते हैं। जहाँ जो होना होता है, वह स्वतः होता चला जाता है। जो शक्ति मिलनी है, वह मिल जाती है। जो ऊर्जा में बदलना है, वह ऊर्जा में बदल जाता है।" [१]

---

१. कर्मवाद से साभार उद्धृत पृ. ३४-३५

"इसी प्रकार हम रागद्वेषादिरूप भावकर्म के द्वारा कर्म-पुद्गलरूप द्रव्यकर्म को अपनी ओर आकर्षित करते हैं, हम उनका ग्रहण-आहरण करते हैं।" "…. वे पुद्गल आकर हमारे (जीव के) साथ मिल जाते हैं, (आत्मा के साथ) चिपक जाते हैं। चिपकने के बाद उनमें जो व्यवस्था होती है, (वह खाये हुए भोजनोपरान्त होने वाली पूर्वोक्त प्रक्रिया की तरह) स्वतः संचालित व्यवस्था होती है। वह अपने आप होने वाली व्यवस्था है। (अर्थात्—) उन गृहीत (कर्म) पुद्गलों का वर्गीकरण भी…विभाजन हो जाता है। और जैसे भोजन में खाये बहुत प्रकार के पदार्थों के स्वभाव का निर्णय होता है, (उसी प्रकार उन गृहीत कर्मपुद्गलों) के स्वभाव का निर्णय भी हो जाता है।"

"(जैसे—) शरीर को प्रोटीन की आवश्यकता है तो (खाये गए) भोजन मे जो प्रोटीन का भाग है, वह प्रोटीन की पूर्ति कर देता है। चिकनाई की जरूरत होती है, वह (खाये हुए) स्निग्ध पदार्थों से पूरी हो जाती है। श्वेतसार की जरूरत होती है, वह (भुक्त) खाद्यों से पूरी हो जाती है। जिन तत्त्वो या विटामिनो की जरूरत होती है, वे विटामिन (भुक्त) भोजन के माध्यम से (यथायोग्य अवयवो—स्थानो) मे पहुँच जाते हैं और अपना काम प्रारम्भ कर देते हैं।"

"जैसे शरीर के किसी भी हिस्से (सिर, पेट, पीठ आदि) मे दर्द हो और आप पेट मे दवा डालते है कि वह रुग्ण हिस्सा स्वस्थ हो जाता है। अर्थात्—जहाँ दर्द होगा, वही उस दवा की स्वतः क्रिया-प्रक्रिया होगी और वह रुग्ण अवयव स्वस्थ हो जाएगा। ऐसा क्यों होता है?" "इसका समाधान है—शरीर मे ऐसी स्वाभाविक व्यवस्था है। जिस अवयव मे जिस तत्त्व की कमी होगी, वह तत्त्व उसी दिशा मे स्वतः आकृष्ट हो जाएगा, वही जायेगा और उस कमी को पहले पूरी करेगा। शरीर के जिन सेल्स या अवयवो में प्रोटीन की कमी होगी, प्रोटीन का भोजन (पेट मे) लेते ही वह प्रोटीन उन्ही सेल्स—अवयवो की ओर आकर्षित होगा, क्योकि शरीर मे आकर्षण की ऐसी एक व्यवस्था है। वह अपने-अपने अनुकूल तत्त्वों को अथवा सजातियो को सजातीय मान लेता है।"

हमारे कर्म-परमाणुओ की भी यही व्यवस्था है। (जीव द्वारा अपने रागादिरूप भावकर्म से) जो (कर्म) परमाणु गृहीत होते हैं, वे अपने-अपने सजातीय कर्म-परमाणुओ द्वारा खीच लिये जाते हैं और उसी दिशा मे वे सक्रिय हो जाते है। वे अपना काम करने लग जाते हैं। उनमे फल देने की शक्ति (स्वतः) हो जाती है।[1]

---

१. कर्मवाद से साभार उद्धृत पृ. ३६

जैसे—डॉक्टर ने चर्मरोग निवारण के लिये रोगी को 'विटामिन डी' की कैप्सूल लिख दी। रोगी ने वह दवा सेवन कर ली। उसके पश्चात् उस दवा का मनचाहा परिणाम लाना न तो डॉक्टर के वश की बात है, न ही रोगी के वश की। (किन्तु प्रायः अनुकूल) परिणाम स्वतः उद्‌भूत होता है।

जिस प्रकार विश्व के प्रत्येक पदार्थ में तथा परमाणुओं में अपने-अपने प्रकार की एक विशिष्ट क्षमता, शक्ति या योग्यता होती है, अथवा स्वतः निर्मित हो जाती है। जो कर्म-परमाणु जीव के द्वारा आकृष्ट होते हैं, उनमें तत्काल एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति या क्षमता निर्मित हो जाती है। उस क्षमता को शास्त्रीय परिभाषा में अनुभाव (अनुभाग) बन्ध कहते हैं। अनुभाव या रसानुभाव बन्ध से बद्धकर्मों में फल-प्रदान की शक्तिक्षमता स्वतः निर्मित हो जाती है। कर्मों मे फलदान की शक्ति एक-सी नहीं होती, वह राग-द्वेष की तीव्रता-मन्दता के आधार पर निर्मित होती है।[१]

इस विवेचन से कर्म में पूर्वोक्त प्रकृति निर्माणादि चतुष्प्रकारी व्यवस्था स्वतः सचालित क्यों और कैसे है? इसे भलीभांति समझ गए होंगे। साथ ही आकृष्ट कर्मपरमाणुओं के स्वतः वर्गीकरण एव विभाजन स्वतः होने वाली सूक्ष्म प्रक्रिया भी ज्ञात हो जाती है।

कृतक कर्मों की प्रक्रिया का स्वरूप और उसकी व्यवस्था

इसके पश्चात् एक और प्रक्रिया जाननी जरूरी है। शास्त्र में कर्म का त्याग करने की बात कही गई है। यदि प्रत्येक क्रिया कर्म है, तब श्वास या भोजन-पाचन आदि जैसी स्वतः सचालित क्रियाएँ भी त्याज्य हो जाएँगी, उनका त्याग शरीरधारी के लिए असभव है। इसका समाधान करते हुए श्री जिनेन्द्रवर्णी ने कहा—"कर्म वास्तव मे दो प्रकार का है—कृतक और अकृतक। 'मै यह करूँ।' इत्याकारक सकल्पपूर्वक किया गया कर्म कृतक कहलाता है और इस प्रकार के सकल्प से निरपेक्ष जो स्वतः होता है, वह अकृतक कहा जाता है। लोक में जितने कुछ भी कार्य या कर्म हमें दिखाई देते हैं, वे सब प्रायः सकल्पपूर्वक किये गए होने से कृतक हैं। इन्हीं के त्याग का उपदेश शास्त्रों मे दिया गया है, सहजरूप से होने वाले अकृतक कर्म के त्याग का नही।" भगवद्‌गीता भी सहज कर्म को त्याज्य नही बताती। अतः इस कृतक कर्म की प्रक्रिया जाननी आवश्यक है।[२]

इसकी प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार है— (१) त्रिविध कृतक कर्म, (२) इनके करने के त्रिविध करण (कारण या साधन), (३) चेतनाशक्ति का योग

---

१. कर्मवाद पृ. ३६-३७ से भावाश उद्धृत

२. (क) कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से साभार पृ. ९१

(ख) "सहज कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्।" —गीता १८/४८

और उपयोग में नियोजन, (४) त्रिविध योग का विश्लेषण, (५) त्रिविध शरीर, (६) शरीर निर्माण के कारणभूत कर्म-परमाणु और उनकी वर्गणा।

त्रिविध कृतककर्मों का रूप और उनका कार्य

पूर्वोक्त कृतक कर्म तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञातृत्वरूप, कर्तृत्वरूप और भोक्तृत्वरूप। सामान्यतया 'मैं इसे जानूँ,' इस प्रकार के संकल्प से किया हुआ कार्य ज्ञातृत्वरूप है। 'मैं यह कार्य करूँ,' इस प्रकार के संकल्प से किया गया कार्य कर्तृत्वरूप कर्म है और 'मैं इसका उपभोग करूँ,' इस प्रकार के संकल्प से किया गया कार्य भोक्तृत्वरूप कर्म है। इन्द्रिय, मन, शरीर आदि करणों के माध्यम से ये तीनों कर्म होते हैं।

इस दृष्टि से पूर्वोक्त तीनो प्रकार के कृतक कर्मों के अनेक अवान्तर भेद हो सकते हैं। जैसे—इन्द्रियों के द्वारा देख-सुनकर जानना, सूंघकर, चखकर या स्पर्श करके जानना, तथा मन, बुद्धि आदि के द्वारा चिन्तन-मनन करके जानना, अथवा समझना और निर्णय करना, ये और इस प्रकार के सब कार्य ज्ञातृत्व कोटि के कृतक कर्म हैं। हाथ-पैर आदि उठाना-रखना, चलना-फिरना, बैठना-लेटना, सोना आदि क्रियाएँ अथवा वाणी के द्वारा बोलना, पढ़ना, भाषण देना, वार्तालाप करना, समझाना आदि सब कार्य कर्तृत्व कोटि के कृतक कर्म हैं।

ज्ञातृत्व कर्मो से केवल जानना होता है; चलना-फिरना, भागना-दौड़ना आदि नही। ये कर्तृत्वकोटि कर्म हैं।

अब तीसरे हैं—भोक्तृत्व कोटि के कर्म। जाने गये या किये गये किसी विषय के साथ तन्मय होकर उसमे दिलचस्पी लेना, रुचिपूर्वक उसे अपनाना, उसके साथ सुख-दुःख महसूस करना, अथवा प्रियता-अप्रियता का अनुभव करना या जानते तथा करते समय हर्ष-विषाद या प्रीति-अप्रीति, रुचि- अरुचि अथवा मोह-द्रोह, ललक-घृणा आदि का अनुभव करना भोक्तृत्व कर्म हैं। इसी प्रकार टकटकी लगाकर किसी रूप को निहारना, स्त्री आदि का काम-वासना की दृष्टि से स्पर्श करना, पूर्वोपभुक्त विषयों का रसपूर्वक स्मरण करना, चिन्तन करना, स्वादिष्ट पदार्थों का तन्मय होकर स्मरण, चिन्तन या उपभोग करना तथा मनोज्ञ, अभीष्ट एवं अनुकूल पदार्थों या विषयों व संयोगों के प्रति हर्ष और सुख की एव अमनोज्ञ, अनिष्ट एवं प्रतिकूल पदार्थों, विषयो या सयोगों के प्रति घृणा, विषाद या दुःख की अनुभूति या प्रतीति करना भोक्तृत्व कोटि के कर्म के अन्तर्गत है।

इसी प्रकार अपने द्वारा बनाये-बनवाये, खरीदे या अधिकृत किये हुए घर, फर्नीचर, बर्तन, आभूषण, वस्त्र, उपकरण या सुख-सुविधा के साधनो

आदि पर ममत्व या स्वामित्व करना या व्यक्त करना आदि भी भोक्तृत्व कर्म में गर्भित है। अपनी लिखी हुई पुस्तक, रचना या अपने द्वारा किये हुए कार्य, भाषण, गायन आदि की प्रशंसा करना और दूसरे के द्वारा लिखी हुई पुस्तक आदि तथा किये हुए भाषण, गायन आदि कार्य की निन्दा-आलोचना करना, यहाँ तक कि अपने से सम्बन्धित समस्त कार्यों में गर्व, मद, अहंकार की अनुभूति एवं अभिव्यक्तिकरण करना भी भोक्तृत्वकर्म कहलाता है।

इसी प्रकार भूतकाल में उपभोग किये हुए का स्मरण करके तथा वर्तमान मे प्राप्त इष्टानिष्ट विषयों का सेवन करते समय सुख-दुख या हर्ष-विषाद की प्रतीति होना एव आगामीकाल में प्राप्त होने की सम्भावना से सम्भावित इष्टानिष्ट विषयो के लिए सुख-दुःख की कल्पना एवं प्रतीति करना भी भोक्तृत्वकोटि के कर्म[1] कहलाते है।

इन और ऐसे ही संकल्प या इच्छापूर्वक किये गए ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व कर्म कृतक कहलाते हैं। कृतक कोटि के कर्म ही आस्रव और बन्ध के हेतु होते हैं।

विविध कृतक कर्मों के चौदह करण और उनका प्रकार

किन्तु तीनों प्रकार के कृतक कर्मो मे से किसी भी कोटि का कर्म हो, बिना कारण या 'करण' (साधन) के होना असम्भव है। कारण या करण के बिना कोई भी कार्य सम्भव नही, यह न्यायशास्त्र का मुख्य सिद्धान्त है।

जिसके द्वारा या जिसकी सहायता से कोई कार्य या कर्म किया जाए, उसे करण या कारण कहते हैं। कारण, करण, हेतु और साधन ये चारों शब्द एकार्थक हैं।

पूर्वोक्त त्रिविध कृतक कर्म के होने मे प्रमुख साधकतम करण दो प्रकार का है—अन्तःकरण और बहिःकरण। आँख, कान, हाथ, पैर आदि बहिःकरण हैं और मन आदि अन्तःकरण है। बहिःकरण के दो विभाग हैं—ज्ञानसाधक करण और कर्मसाधक करण। ज्ञातृत्व कर्म के साधन को ज्ञान-करण और कर्तृत्व कर्म के साधन को कर्म-करण कहा जाता है। भोक्तृत्व कर्म का साधन अन्तःकरण है।

पाच ज्ञानकरण प्रसिद्ध हैं—श्रोत्र (कर्ण), नेत्र, घ्राण, जिह्वा (रसना) और त्वक्। इनसे क्रमशः सुनकर, देखकर, सूघकर, चखकर और छूकर अपने-अपने प्रतिनियत विषय को जाना जाता है। चूकि ये जानने के काम मे ही साधक होते हैं, हलन-चलन रूप से कुछ क्रिया करने के काम मे नहीं इसलिए इन्हें ज्ञानकरण कहते हैं।

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. ९२-९३

ज्ञानकरण की भांति कर्मकरण भी पांच हैं—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (गुह्येन्द्रिय)। वाणी से बोलने का, हाथ से लेने-देने का या उठाने-रखने का, पैर से चलने-फिरने का, उछलने-कूदने तथा दौड़ने-भागने का, गुदा से मल त्याग का तथा उपस्थ यानी मूत्रेन्द्रिय या जननेन्द्रिय से मूत्रविसर्जन का और कामक्रीड़ा का काम किया जाता है, इसलिए इन्हें कर्म-करण कहा जाता है। चूंकि इन पाँचो से किसी न किसी रूप में हलन-चलन रूप क्रिया की सिद्धि होती है, कुछ जानने की नही। इसलिए इन्हें कर्म-करण कहते हैं।[१]

वैदिक ग्रन्थों में ज्ञानकरण को ज्ञानेन्द्रिय और कर्म-करण को कर्मेन्द्रिय कहा गया है। शरीर के अंग होने के कारण जैन शास्त्रों मे कर्मेन्द्रियों का पृथक् उल्लेख नहीं है। फिर भी कर्म-प्रक्रिया को भलीभाति समझने के लिए इनका पृथक् उल्लेख करना न्यायसगत है।

ये दसो ही इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिनियत विषयों को जानने तथा करने के साथ-साथ उन-उन विषयो के प्रति तन्मय होकर विषय रसास्वादन भी करती हैं, रुचि-अरुचि या प्रीति-अप्रीति का अनुभव करती हैं। जैसे—आँखें अपने समक्ष उपस्थित हुए रूप (दृश्य) को जानने के साथ-साथ मनोज्ञता-अमनोज्ञता की अनुभूति अन्तःकरण की सहायता से करती है। इसी कारण कभी-कभी तन्मय होकर उक्त रूप को निहारती प्रतीत होती हैं। हाथ किसी पदार्थ को ग्रहण करने के साथ-साथ उसकी कोमलता-कठोरता आदि का स्पर्श भी करते है और अन्तःकरण की सहायता से मनोज्ञता-अमनोज्ञता की रसानुभूति भी करते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इनके भोक्तृत्व (भोगने) का काम अन्तःकरण का है, बहिःकरण रूप १० इन्द्रियों का नहीं।

यद्यपि ज्ञानेन्द्रियों में रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियो में उपस्थ ये चार इन्द्रियाँ व्यावहारिक दृष्टि से भोगेन्द्रियाँ मानी जाती हैं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ये चारो तथा इनके साथ शेष छह इन्द्रियाँ भी वस्तुतः सीधी तौर पर (Directly) ज्ञातृत्व और कर्तृत्व की ही करण (साधन) हैं, भोक्तृत्व की नहीं। परम्परा से भोग की साधन होने पर भी अन्तःकरण ही इनकी सहायता से वास्तविक भोक्ता होता है।

अन्तःकरण के चार विभाग हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। शास्त्रों में 'मन' शब्द का ही प्रयोग अधिकाश रूप से किया गया है। अन्य तीन शब्दों का प्रयोग वहाँ अत्यन्त अल्प है। वहाँ 'मन' शब्द के कहने से

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. ९५-९६

ही चारों का समवेतरूप से ग्रहण किया जाता है। किन्तु कर्म के प्रक्रियात्मक स्वरूप के सन्दर्भ में सर्वसाधारण को इन चारों का स्पष्ट अन्तर बताना अभीष्ट होने से इन चारों की पृथक्-पृथक् कार्य-प्रणाली बताना आवश्यक है।[१]

मन का कार्य मनन करना है, बुद्धि का कार्य है—सत्य-असत्य का विवेक करना, चित्त का काम भूत-भविष्य का चिन्तन करना है और अहंकार का कार्य—अपने इष्ट विषय का उपभोग करना है, अथवा मैं-मेरा, तू-तेरा इत्यादि की मुहर—छाप लगा-लगाकर उन विषयों पर अपना स्वामित्व स्थापित करना या अमनोज्ञ-अनिष्ट विषयों के प्रति अपनी अरुचि दिखलाना है।

नेत्र आदि इन्द्रियों की भांति स्थूल दृष्टि में प्रत्यक्ष न होने के कारण अन्तःकरण (मन) को शास्त्रों में अनिन्द्रिय अथवा नो-इन्द्रिय (ईषत्-इन्द्रिय) कहा गया है। किन्तु वास्तव में देखा जाए तो बहिःकरणरूप पूर्वोक्त दसों इन्द्रियों का शास्ता होने के कारण यही प्रधान इन्द्रिय है। ज्ञानकरण के द्वारा जाना गया या ग्रहण किया गया प्रत्येक विषय और कर्म-करण के द्वारा किया गया प्रत्येक कार्य उपभोग करने के लिए अन्तःकरण को ही प्राप्त होता है। अन्तःकरण की प्रेरणा से ही दोनों प्रकार के बहिःकरण अपने-अपने कार्य मे नियुक्त होते हैं, संलग्न होते हैं। अन्तःकरण के सक्रिय होने पर ही ये सब बहिःकरण सक्रिय हो उठते हैं और अन्तःकरण के निष्क्रिय या शान्त हो जाने पर ये भी निष्क्रिय या शान्त हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो अन्तःकरण इनका स्वामी हैं, ये उसके सेवक (सेविकाएँ) हैं। अन्तःकरण के संकेत या प्रेरणा से ही ये बहिःकरण प्रायः सक्रिय-निष्क्रिय या कार्य-नियुक्त-अनियुक्त होते है।[२]

अन्तःकरण का कार्य विभाजन एवं प्रक्रिया

जिनेन्द्रवर्णी जी ने इनके कार्य एव प्रक्रिया का विश्लेषण इस प्रकार किया है—"अन्तःकरण (शासक) की शासन व्यवस्था अत्यन्त वैज्ञानिक तथा परिपूर्ण है।...... (इन बहिःकरण रूप) दसों इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन की स्वामिनी बुद्धि है। बुद्धि का स्वामी चित्त है और चित्त का स्वामी अहंकार। दूसरे प्रकार से कहें तो अहंकार राजा है, चित्त उसका (मंत्री) मित्र है और बुद्धि प्रधानमंत्री। मन इन दोनों मंत्रियों का सेक्रेटरी (सचिव) है। इन्द्रियाँ उनके अधीन विभिन्न विभागों की अधिकारिणी हैं।"

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. ९७

२. वही, पृ. ९८

इनकी प्रक्रिया का क्रम बतलाते हुए वे लिखते है— "स्वामिभक्त सेविकाओं की भाँति ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिनियत विषय को ग्रहण करके उसे अपने स्वामी मन के प्रति हस्तान्तरित कर देती हैं। उस विषय के प्राप्त हो जाने पर क्या, क्यों, कैसे आदि के अनेकों विकल्प उठाकर वह (मन) उसका सब ओर से निरीक्षण-परीक्षण करता है। यही उसका मनन कहलाता है। मनन कर चुकने पर वह उसे चित्त की प्रयोगशाला में भेज देता है। वह भूत की स्मृतियों के साथ, तथा भावी की सम्भावनाओं के साथ मिलान करने के लिए चिन्तन की कसौटी पर कसता है। आगे जाने पर यह कदाचित् मेरे अहंकार को हानि तो नहीं पहुँचायेगा अथवा जितना लाभ उसे पहुँचाना चाहिए, उससे कुछ कम तो नहीं करेगा?........ इत्यादि (विश्लेषणपूर्वक) अपना काम कर चुकने पर चित्त उसे अपने मित्र अहंकार के पास उसकी भोगशाला मे भेज देता है। वह मैं-मेरा, तू-तेरा, इष्ट-अनिष्ट इत्यादि रूप द्वन्द्वों की मुद्रा से अंकित करके उसे अन्तिम निर्णय के लिए अपने मंत्री बुद्धि की न्यायशाला में भेज देता है। मन तथा चित्त के द्वारा किये गए परीक्षण का और अहंकार के द्वारा अंकित की गई (द्वन्द्वात्मक) मुद्राओं का पुनरपि सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण करके वह (बुद्धि)— "यह विषय ग्राह्य है, अथवा त्याज्य है; कर्तव्य है, अथवा अकर्त्तव्य ऐसा निर्णय सुना देती है।"

"बुद्धि के इस निर्णय को सुनकर अहंकार यदि उसे अनुकूल पाता है तो हर्षित हो जाता है, और प्रतिकूल पाता है तो उदास......। हर्षित अवस्था में उत्साह के साथ और उदास अवस्था में कुछ अनमने भाव से वह बुद्धि की उस आज्ञा को चित्त के प्रति प्रदान करता है। जिसे प्राप्त करके वह भी अहंकार की भांति हर्षित तथा उदास होकर आगा-पीछा देखने लगता है और उसे समुचित कार्यवाही के लिये मन के पास भेज देता है।"

"तदनुसार मन कर्मेन्द्रियों (तथा बहिःकरणरूप ज्ञानेन्द्रियों) को आज्ञा करता है कि तुरन्त इस विषय को बंदी बनाकर मेरे दरबार में उपस्थित करो, अथवा इसे यहाँ से हटाकर सागर में डुबा आओ, अथवा इसमें कुछ इस प्रकार का परिवर्तन करो, इत्यादि। अपने स्वामी की आज्ञा पाकर हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ (तथा नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ) निर्विलम्ब अपने-अपने काम में जुट जाती हैं, और उस समय तक अथक परिश्रम करती रहती हैं, जब तक कि अपने स्वामी मन को सन्तुष्ट न कर लें"। "ये अधिकाधिक उत्साह के साथ उस (मन) की सेवा में इस प्रकार जुटी रहती हैं कि उन्हें यह सोचने का भी अवकाश नहीं मिलता कि हम क्या कर रही हैं और क्यों कर रहीं हैं?"

अन्तःकरण जब तक बहिर्मुखी रहता है, तब तक ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व सभी कर्म बन्धनकारक होते हैं। त्रिविध करण के पांच ज्ञानकरण, पाँच कर्मकरण और चार अन्तःकरण, यों १४ भागो में विभक्त करणों की पृष्ठभूमि में, चेतना (आत्मा) नाम की प्रसिद्ध शक्ति है, जो अपने संकल्प द्वारा इन सबको अपने-अपने कार्यो मे नियुक्त करती हैं। वह चौदह प्रकार की न होकर एक ही है। जिस करण के प्रति यह शक्ति (आत्मा) उपयोगयुक्त होती है, वह करण ही काम करता है, शेष सब करण उस समय निश्चेष्ट रहते हैं।[1]

चेतनाशक्ति का करणों के प्रति उपयुक्तिकरण

आकाशीय विद्युत के समान शीघ्रता के साथ चौदह करणों में उपयोगयुक्त रहने के कारण यह एक ही शक्ति चौदह रूप मे हुई प्रतीत होती है। परन्तु वस्तुतः एक समय मे वह एक ही करण के प्रति उपयुक्त होती है। उस समय एक ही करण कार्य करता है, शेष नही। जैसे—टॉर्च के प्रकाश को किसी एक ही वस्तु पर फोकस (केन्द्रित) कर देने पर केवल वही वस्तु दिखाई देती है, इसी प्रकार इस चेतना शक्ति (आत्मा) को भी एक विषय के प्रति (एक करण को) उपयुक्त (केन्द्रित) कर देने पर वही एक विषय जाना या किया जाता है, अन्य नही।

एक ही चेतनाशक्ति का उपयुक्तिकरण दो प्रकार का

करणो के प्रति चेतना शक्ति (आत्मा) का यह उपयुक्तिकरण दो प्रकार का जैनागमो में माना गया है— (१) कर्तृत्व पक्ष मे योग (त्रिविध) के रूप मे और ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्वपक्ष मे उपयोग के रूप मे। ज्ञातृत्व पक्ष मे विषय की प्रतीति प्रधान है, तथा भोक्तृत्व पक्ष मे किसी विषय को आत्मसात् करके तज्जनित हर्ष-विषाद की या सुख-दुःख की प्रतीति ही प्रधान होती है; कर्तृत्व नहीं। इसी प्रकार कर्तृत्व पक्ष मे हलन-चलन रूप क्रिया प्रधान होती है। किन्तु ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व पक्ष मे विषयो की तथा तज्जनित हर्ष-विषाद की प्रतीति करने वाली चेतना तो कोई अन्य हो और करने-धरने वाली चेतना कोई अन्य हो, ऐसा नही होता। एक ही चेतना दो कार्य करती है। जानने तथा भोगने के समय वह विषय की एवं हर्ष-विषाद की प्रतीति करती है और करने के समय वह हलन-चलन रूप कार्य में प्रवृत्त होती है। प्रतीति करते समय उसकी 'उपयोग' एव कार्य करते समय 'योग' नामक शास्त्रीय संज्ञा है। चेतना में दोनो प्रकार की शक्तियाँ हैं—ज्ञानशक्ति

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. ९८-९९-१००

और क्रिया-शक्ति। ज्ञान के प्रति उपयुक्त होने पर उपयोग तथा क्रिया के प्रति उपयुक्त होने पर 'योग' कहलाती है।[1]

यहाँ कर्म के प्रसंग में क्रियारूप योग ही प्रधान है

यद्यपि प्रसंगवशात् यहाँ 'उपयोग' (ज्ञान-दर्शन उपयोग) का कथन कर दिया है, तथापि 'कर्म' के पक्ष मे क्रियारूप या प्रवृत्तिरूप 'योग' ही प्रधान है, उपयोग नहीं। यद्यपि समग्र को युगपत् जानना तथा आत्मानुभव करना वास्तविक ज्ञातृत्व-भोक्तृत्व है, तथापि कर्म की प्रक्रिया के रूप में जिस ज्ञातृत्व तथा भोक्तृत्व का ग्रहण किया जाता है, वह सब क्रियारूप या प्रवृत्तिरूप है। अर्थात्—ज्ञातृत्व एव भोक्तृत्व का ग्रहण भी यहाँ कर्म के रूप मे किया जाता है। चूकि समग्र को जानना ज्ञातृत्व मात्र न होकर ज्ञातृत्व क्रिया है, क्योंकि इसमें भी पूर्व-पूर्व विषय को छोड़कर उत्तर-उत्तर विषयो के प्रति नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ दौड़ती रहती है, इसलिए ज्ञातृत्व भी क्रियारूप है। तथा इष्ट विषय को ग्रहण करके अनिष्ट विषय का त्याग करना भोक्तृत्व पक्ष की क्रिया है, जो अन्तःकरण की भाग-दौड़ है और कर्मेन्द्रियो द्वारा तो प्रत्यक्ष क्रिया दृष्टिगोचर होती है। ये तीनो प्रकार के करण क्रियारत—प्रवृत्तिरूप होते हैं। इसलिए कर्म के प्रसंग में इन तीनों की क्रिया को 'योग' कहा गया है।[2]

योग शब्द का शास्त्रीय अर्थ

योग शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—दो पदार्थों का पारस्परिक जुड़ना। पूर्वोक्त तीनो प्रकार की क्रियाओ-प्रवृत्तियों मे चेतना का जुड़ान (योग) करणो के साथ होता है, इसलिए शास्त्र मे इन तीनो (मन, वचन, काय) की प्रवृत्ति को 'योग' कहा गया है।

योग : करणो के माध्यम से चेतनाशक्ति का चचल होना

वस्तुतः करणो के माध्यम से चेतनाशक्ति का क्षुब्ध, चचल, स्पन्दित अथवा क्रियाशील हो उठना उसका 'योग' कहलाता है। योग का लक्षण चचलता या परिस्पन्दन होने से वह एक ही प्रकार का प्रतीत होता है, किन्तु क्रिया या कर्म की दृष्टि से देखने पर वह ज्ञातृत्व, कर्तृत्व एव भोक्तृत्व रूप से तीन प्रकार का है, तथैव करणो की अपेक्षा भी तीन प्रकार का है। योग तीन प्रकार के है— मन, वचन और काय। मन कहने से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारो (अन्तःकरण) का ग्रहण हो जाता है। वचन

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. १०१-१०२

२. वही, पृ. १०५-१०६

कहने से वाणीक्रिया करने वाली वागिन्द्रिय का एवं काय कहने से इसके अतिरिक्त शेष चार इन्द्रिय का ग्रहण हो जाता है।[१]

कर्म-प्रक्रिया का प्रारम्भ भावकरणरूप योग से

'कर्म' की प्रक्रिया जब प्रारम्भ होती है, तब सीधा सम्बन्ध इन मन-वचन-काया के स्थूल रूप द्रव्यकरणरूप से नहीं होता, अपितु इनके भाव-करणरूप सूक्ष्म रूप से होता है। इसीलिए शास्त्र मे मन-वचन-कायरूप (अथवा पूर्वोक्त तीनो करण रूप) योग दो-दो रूप में बताए गए हैं—द्रव्यरूप में और भावरूप मे। अर्थात् ये दोनों ही मन-वचन-काय के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैः—द्रव्यमन-भावमन, द्रव्यवचन-भाववचन, द्रव्यकाय-भावकाय।

द्रव्यरूप और भावरूप मन-वचन-काया का स्वरूप और कार्य

श्री जिनेन्द्रवर्णी ने इनका विश्लेषण इस प्रकार किया है—मन कहने से ज्ञानेन्द्रियो सहित पूरे अन्तःकरण का ग्रहण होता है। इसलिए मन से पहले ज्ञानेन्द्रियो का विचार करते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ दो प्रकार की मानी गई है—द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ। परमाणुओ से निर्मित नेत्रगोलक आदि की रचना और पृथक्-पृथक् आकृति रूप उपकरण द्रव्येन्द्रियाँ है और इनकी पृष्ठभूमि मे अवस्थित देखने-सुनने आदि की चेतना शक्ति (अर्थात्—देखने-सुनने आदि की लब्धि, क्षमता एव योग्यता तथा देखने सुनने आदि का उपयोग) भावेन्द्रियाँ है।"

मन भी दो प्रकार का है—द्रव्यमन और भावमन । इस शरीर के भीतर हृदय-स्थान पर सूक्ष्म प्राणवाहिनी नाड़ियो की एक अष्टदल-कमल के आकार वाली ग्रन्थि है। योगदर्शन के आचार्य इसे अनाहत चक्र कहते है। यही जैनाचार्यो का अभिप्रेत द्रव्यमन है।[२] ....परमाणुओ से निर्मित होने के कारण अष्टदल कमल वाला उक्त चक्र द्रव्यमन है, और भावेन्द्रिय की भांति इसकी पृष्ठभूमि में स्थित सकल्प-विकल्प करने की, तथा चेतना का उपयोग होने के कारण मनन करने की वह चेतनाशक्ति भावमन है। अन्तःकरण के शेष तीन अंग भी द्रव्य और भाव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। दोनो भृकुटियो के मध्य मे स्थित द्विदलीय कमल के आकार का आज्ञाचक्र द्रव्यबुद्धि है और उसकी पृष्ठभूमि में स्थित निर्णय करने की (चेतना—)शक्ति भावबुद्धि है। कण्ठस्थान में स्थित द्वादश दल-कमल के

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. १०९-१११

२. दिगम्बर परम्परा मे द्रव्यमन का स्थान हृदय माना है पर श्वेताम्बर ग्रन्थो मे द्रव्यमन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। देखे— दर्शन और चिन्तन—भाग १, पृ. १४०

आकार वाला विशुद्धि चक्र द्रव्यचित्त है और उसकी पृष्ठभूमि में स्थित चिन्तन करने की (चेतना--) शक्ति भावचित्त है। नाभिस्थान पर स्थित चतुर्दल कमल के आकार वाले मणिपूर चक्र को हम द्रव्य-अहकार समझ सकते हैं। इसकी पृष्ठभूमि मे स्थित मैं-मेरा, तू-तेरा रूप द्वन्द्व करने वाली (चेतना--) शक्ति भाव-अहंकार है।"

वचन भी दो प्रकार का है-- द्रव्यवचन और भाववचन। कण्ठ, तालु और जिह्वा के स्पन्दन से जिसकी अभिव्यक्ति होती है और कानो के द्वारा जो सुना जाता है, शब्दवर्गणा (भाषा वर्षणा) नामक किन्हीं विशेष जाति के परमाणुओ से निर्मित होने के कारण, वह द्रव्यात्मक वचन द्रव्यवचन है। इन (परमाणुओं) के स्पन्दन से सुना जाने योग्य जो शब्द होता है, वह भी वास्तव मे द्रव्यात्मक है। द्रव्यवचन भी दो प्रकार का है--अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प।

भाववचन, मन का वह विकल्प है, जिसकी प्रेरणा से कण्ठ, तालु आदि क्रिया करते हैं। मन के इस विकल्प को बाहर मे प्रकट करना ही द्रव्यवचन का उद्देश्य है। जैसा भी वह विकल्प होता है, वैसा ही वचन निकलता है, विकल्प सत्य हो तो सत्य वचन, असत्य हो तो असत्यवचन, मिश्र हो तो मिश्रवचन और विकल्प अनुभय रूप (व्यवहार भाषागत) हो तो अनुभयरूप व्यवहार वचन निकलता है।

काय के प्रकरण मे कर्मेन्द्रियो का अन्तर्भाव होता है। ज्ञानेन्द्रियो की भांति कर्मेन्द्रियाँ भी दो प्रकार की होती है--द्रव्यरूप और भावरूप। परमाणुओ से निर्मित होने के कारण हाथ-पैर आदि द्रव्यात्मक है और उनकी पृष्ठभूमि मे स्थित चेतना की वह योगशक्ति भावात्मक है, जिसके द्वारा ये चेष्टा करते हैं।

कर्मेन्द्रियो की भाँति द्रव्यात्मक ज्ञानेन्द्रियाँ और द्रव्यात्मक अन्तःकरण भी (शरीर के अग होने से) द्रव्यकाय मे गर्भित है। विशेषता इतनी है कि उपयोगात्मक होने के कारण उनके भावात्मक पक्ष का काय मे ग्रहण होना सम्भव नही है। इस प्रकार परमाणुओ से निर्मित कर्मेन्द्रियाँ, परमाणुओ से निर्मित ज्ञानेन्द्रियाँ तथा परमाणुओ से निर्मित अन्तःकरण, ये सब काय के अन्तर्गत हैं। तात्पर्य यह है कि परमाणुओ से निर्मित शरीर तथा उसके सकल अगोपाग द्रव्यकाय है, और इनकी पृष्ठभूमि मे स्थित चेतना की वह योगशक्ति भावकाय है, तथैव शरीर और उसके अंगोपांगो की (सकल्पपूर्वक होने वाली) चेष्टा या हलन-चलन रूप क्रिया भी भावकाय है।[1]

१. वही, (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. १११-११२

कर्म की त्रिविध योगात्मक—चतुर्दशविध करणात्मक प्रक्रिया

"द्रव्यमन, द्रव्यवचन तथा द्रव्यकाय, ये तीनों ही परमाणुओं की रचनाएँ हैं, क्रिया नहीं; इसलिए कर्मों के आस्रवकारक या बन्धकारक योग के प्रकरण में इनका ग्रहण नहीं होता। ये योग के कारण हैं, किन्तु स्वयं योग नहीं। जिस प्रकार नेत्र रूप ग्रहण करने वाले ज्ञानोपयोग का करण है, परन्तु स्वयं उपयोग नहीं है। चेष्टारूप (प्रवृत्तिमय) होने के कारण भावमन (भावान्तःकरण सहित), भाववचन और भावकाय ही त्रिविध योग है। इन्ही भावमन—वचन—काया के कहने से कर्मविधान के पूर्वोक्त १४ करणो का ग्रहण हो जाता है। सकल्पपूर्वक प्रवृत्तिरूप कृतककर्म भावना का कार्य है, किन्तु इन तीनो भावयोगो के पीछे चेतनाशक्ति का सीधा सम्बन्ध होने से कर्म की प्रक्रिया पूर्वोक्त १४ भावकरणो के माध्यम से निष्पन्न होती हैं। यह भी कर्म का भाव-प्रक्रियात्मक रूप है।

कर्म के पूर्वोक्त सभी प्रक्रियात्मक रूपो को समझ लेने पर कर्मों का निरोध और क्षय करने मे साधक सावधान रह सकता है।

■

८

कर्म और नोकर्म : लक्षण, कार्य और अन्तर

कर्म : शब्द एक : अर्थ और आशय अनेक

कर्म-शब्द ऐसा विलक्षण है कि वह अपने में अनेक अर्थो को समेटे हुए है। शब्द की एक सीमा होती है, शब्द में अनेक अर्थ और नाना आशय सन्निहित होते हैं, उसके अनेक अर्थो और आशयो को सन्दर्भ से ही जाना जा सकता है। सन्दर्भ का पता भी उस शब्द के व्यवहार या प्रयोग से लगता है। कर्मशब्द जब-जब प्रयुक्त होता है, तब-तब वह अपने व्यक्तित्व एव व्यापकत्व की छटा दिखलाता है। कर्मशब्द का सामान्यतया अर्थ होता है—कार्य, क्रिया, कर्तव्य या परिणति। कार्य या कर्तव्य की अपनी कोई आकृति नही है, किन्तु जब वह अध्यात्म के क्षेत्र मे, देह मे विदेह को प्राप्त करने के आशय से प्रयुक्त होता है, तो उसकी एक ठोस आकृति होती है। जैनकर्म-विज्ञान-मर्मज्ञो ने उसे लक्षण के साचे में इस तरह व्यवस्थित रूप से ढाला है कि कर्म-विज्ञान का विद्यार्थी या जिज्ञासु साधक उसे शीघ्र ही पहचान जाएगा कि यह कर्म है, विकर्म है, अकर्म है, अथवा नोकर्म है; क्योंकि जैन दर्शन मे कर्मशब्द गणितीय है। मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान एव योग-दर्शन आदि सभी दृष्टियो से वह नपा-तुला व्यवस्थित और तर्कसगत है। राजहस जैसे अपनी चोच से दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है, उसी प्रकार कर्म-वैज्ञानिको ने अपनी विशिष्ट ज्ञानचंचु से कर्म और नोकर्म का पृथक्करण कर दिया है।

कर्म एव द्विविध द्रव्यवर्गणा : कर्म-वर्गणा और नोकर्मवर्गणा

"समान गुणयुक्त सूक्ष्म अविच्छेद अविभागी समूह को वर्गणा कहते है।" गोम्मटसार, षट्खण्डागम आदि ग्रन्थो मे ऐसी कुल २३ वर्गणाएँ मानी गई है।[१] इन तेईस वर्गणाओ मे कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा

---

१ अणु, सख्यताणु, असख्यताणु, अनन्ताणु, आहार, अग्राह्य, तैजस, अग्राह्य, भाषा, अग्राह्य, मनो, अग्राह्य, कार्मण, ध्रुव, सान्तर-निरन्तर, शून्य, प्रत्येक शरीर, ध्रुवशून्य, बादरनिगोद, शून्य, सूक्ष्मनिगोद नभो और महास्कन्ध—ये पुद्गल वर्गणा के २३ भेद है।

—धवला पु. १४ ख. ५ भा. ६ सू. ७१ पृ. ५२

—गोम्मटसार जीवकाण्ड ५९४-५९५

और तैजसवर्गणा, ये चार प्रकार की कर्म-वर्गणाएँ हैं। शेष १९ वर्गणाएँ नोकर्मवर्गणाएँ हैं।

इस प्रकार द्रव्यवर्गणा दो प्रकार की है—कर्मवर्गणा और नोकर्मवर्गणा। कार्मण वर्गणा कर्म बनने योग्य पुद्गल परमाणु को कहते हैं।[१] अनादिकालीन कर्ममलो से युक्त जीव जब रागादि कषायों से संतप्त होकर कोई मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया या प्रवृत्ति करता है, तब कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर आकृष्ट होता है। ये ही कार्मणवर्गणा के पुद्गल-परमाणु आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का घात करके उसकी स्वतत्रता को रोक देते हैं, इसलिए ये पुद्गल-परमाणु 'कर्म' कहलाते हैं। षट्खण्डागम की टीका मे पूर्वोक्त २३ द्रव्यवर्गणाओं मे से चार कार्मणवर्गणा (कार्मण, भाषा, मन और तैजस) को कर्म और शेष १९ वर्गणाओ को 'नोकर्म' कहा है।[२]

कार्मणशरीर कर्मरूप और औदारिकादि शरीर नोकर्मरूप

शरीर पाँच प्रकार के हैं—(१) औदारिक, (२) वैक्रिय, (३) आहारक, (४) तैजस और (५) कार्मण। इनमे से कार्मणशरीर कर्मरूप है, और शेष औदारिक आदि चार प्रकार के शरीर नोकर्मरूप हैं।[३]

कार्मणशरीर को उपचार से कर्म कहा गया

यद्यपि कर्म वास्तव मे चेतन-प्रवृत्ति का नाम है, जिसके विषय मे पिछले प्रकरणो मे विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है, तथापि उसका कार्य तथा कारण होने से कार्मणशरीर को भी उपचार से कर्म कहा जाता है। विशेषता इतनी है कि चेतन की रागादि प्रवृत्ति की भाति यह भावात्मक न होकर कर्मवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित होने के कारण द्रव्यात्मक है—द्रव्यकर्म है।[४]

---

१ (क) दव्ववग्गणा दुविहा—कम्मवग्गणा, नोकम्मवग्गणा चेति
तत्थ कम्मवग्गणा णाम अट्ठकम्मक्खन्ध-निप्फण ॥
(ख) सेस एक्कोणवीसवग्गणाओ णोकम्मवग्गणाओ
—धवला १४/५/६/७१/५२/५-६

२ (क) तत्त्वार्थवार्तिक ६/२/५१
(ख) जैनदर्शन मे आत्मविचार (डॉ. लालचन्द जैन) से पृ. १८३

३ "ओरालिय-वेउव्विय-आहारय-तेज-णामकम्मुदये।
चउ णोकम्मसरीरा, कम्मेव य होदि कम्मइय ॥
—गोम्मटसार (जी.) मू. २४४/५०७

४ कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १२६

कर्म से पृथक नोकर्म-संज्ञा क्यों ?

जिस प्रकार कारण में कार्य का उपचार करके कार्मणशरीर को 'द्रव्यकर्म' कहा गया है, उसी प्रकार औदारिक आदि शरीरों को द्रव्यकर्म कहा जा सकता है। परन्तु कार्मणशरीररूप द्रव्यकर्म जिस प्रकार आत्मा की शक्ति का घात करता है, उस प्रकार ये (द्रव्य) कर्म आत्मा की शक्ति का घात नही करते। यही कारण है कि इन्हें 'कर्म' न कहकर आचार्यों ने 'नोकर्म' की सज्ञा दी है।[1]

'नोकर्म' शब्द की व्याख्या

गोम्मटसार में इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'नो' शब्द दो अर्थों मे प्रयुक्त होता है—विपर्यय अर्थ में और ईषत् या किञ्चित् अर्थ में। चूँकि कार्मणशरीर की भाति ये चार शरीर (औदारिकादि) आत्मा के गुणों का घात नहीं करते, अथवा गति आदि में परिभ्रमणरूप से पराधीन नहीं कर सकते, इसलिये 'कर्म' से इसका (नोकर्म का) लक्षण विपरीत होने से इन्हें नोकर्म कहा गया है; अर्थात्—इनमे कर्म का निषेध या कर्म से विपर्यय होने से इन्हें अकर्मशरीर कहा गया है। अथवा कर्मशरीर के ये सहकारी हैं, इसलिए इन्हें नोकर्म अर्थात्—ईषत् कर्म—शरीर कहा है। अतः समस्त शरीरो की उत्पत्ति के मूल कारणभूत कार्मणशरीर को कर्म (द्रव्यकर्म) और शेष शरीरो को 'नोकर्म' कहा है। क्योंकि औदारिकादि चारों शरीर कर्मशरीर के सहकारी होते हैं।[2] तात्पर्य यह है कि 'नोकर्म' कर्म तो नही है, किन्तु कर्म का सहायक है। 'नोकर्म' कर्म के फल-प्रदान में अथवा कर्म के उदय मे सहायक तत्त्व है।[3]

क्या कर्म की तरह नोकर्म भी बन्धनकारक है ?

कई जैनकर्मविज्ञान से अनभिज्ञ लोग कर्म और नोकर्म को एक समझ लेते हैं और जिस प्रकार कर्म को बन्धनकारक, आत्म-गुण-घातक,

---

१ (क) कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १२६

(ख) जैनदर्शन मे आत्मविचार (डॉ. लालचन्द जैन) से पृ. १९७

२ (क) "नोशब्दस्य विपर्यये ईषदर्थे च वृत्तेः। तेषां शरीराणां कर्मवदात्म-गुण-घातित्व-गत्यादि पारतन्त्र्य-हेतुत्वाभावेन कर्म-विपर्ययत्वात् कर्मसहकारित्वेन ईषत्कर्मत्वाच्च नोकर्म शरीरत्व-सम्भवात् नो-इन्द्रियवत्॥"

—गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवतत्त्वप्रबोधिनी) गा. २४४/५०८/२

(ख) सर्व शरीर-प्ररोहण-बीजभूत कार्मणशरीरं कर्मेत्युच्यते ।

—तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि २/२५/१८२/८

३ (क) कर्मवाद से पृ. ९३

(ख) कर्म-मीमांसा (स्व. युवाचार्य मधुकर मुनि) से पृ. ३०

आत्मशक्ति प्रतिबन्धक एवं आवरक समझते हैं, इसी प्रकार शरीर और शरीर से सम्बद्ध माता-पिता, परिवार, पत्नी, पुत्रादि सजीव तथा धन, मकान, जमीन-जायदाद आदि निर्जीव पदार्थों के विषय में भी कह देते हैं कि ये भी बन्धनकारक हैं।

प्रश्न यह है कि क्या जैनदर्शन इन सब पदार्थों को बन्धनकारक, आत्मगुणघातक या आत्मशक्ति-प्रतिबन्धक मानता है? क्या आत्मा इनके बन्धन में बंध जाती है?

नोकर्म के दो प्रकार : बद्धनोकर्म, अबद्धनोकर्म

जैनकर्मविज्ञानमर्मज्ञों ने इसका समाधान इस प्रकार किया है—शरीर और शरीर से सम्बद्ध परिवार, धन-सम्पत्ति, साधन, इन्द्रियाँ, अगोपाग आदि सबको नोकर्म कहा गया है।

नोकर्म भी दो प्रकार के हैं—बद्धनोकर्म और अबद्धनोकर्म। ससारी दशा में जहाँ शरीर है, वहाँ आत्मा है, दोनों एक दूसरे के साथ बंधे हुए तथा दूध-पानी की तरह परस्पर मिले हुए हैं। शरीर (चारो शरीर) आत्मा से बधे हुए होने के कारण बद्ध-नोकर्म हैं। इसके विपरीत जो शरीर की तरह आत्मा के साथ सम्पृक्त-सयुक्त नही रहते, न ही वे सब आत्मा के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक होकर रहते है, और न शरीर की तरह सदैव और सर्वत्र साथ रहते हैं, अर्थात् ये निश्चितरूप से हर समय, हर क्षेत्र मे साथ नही रहते; इसलिए ये अबद्धनोकर्म कहलाते हैं। धन-सम्पत्ति, परिवार, मकान आदि अबद्धनोकर्म हैं।[1]

दोनों प्रकार के नोकर्मों में आत्मा को बाँधने की शक्ति नहीं

बद्ध हो या अबद्ध, दोनों ही प्रकार के नोकर्मों मे आत्मा को स्वय बाधित करने, बाँधने तथा आत्मशक्तियो या आत्मगुणो का घात करने की शक्ति नहीं है। इनकी क्या ताकत है कि ये अनन्त शक्तिशाली आत्मा को बाँध ले? यदि इनमे आत्मा को बाँधने की शक्ति होती तो ये भगवान् महावीर आदि तीर्थकरो, केवलज्ञानी महापुरुषों या महामुनियो या भरतचक्रवर्ती जैसे ऋद्धि-वैभवसम्पन्न व्यक्तियो को भी बाध लेते, मुक्त न होने देते। भगवान् महावीर के पास कर्मफलभोगरूप मे शरीर, इन्द्रियाँ, भूमि, आकाश आदि कई नोकर्मरूप पदार्थ थे और रहे, फिर भी वे उन्हे नही बाँध सके। अतः बन्धन न शरीरादि में है, न इन्द्रिय-अंगोपांग आदि नोकर्मों मे है। समयसार[2] के अनुसार वस्तुओ से कर्मबन्ध नहीं होता, बन्ध होता है—रागद्वेषयुक्त अध्यवसाय-सकल्प से।

---

१ कर्ममीमांसा (स्व. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि) से पृ. ३०

२ ण य वत्थुदो दु बंधो, अज्झवसाणेण बंधोऽत्थि। —समयसार २६५

अतः नोकर्म वास्तव में कर्म नहीं है; मगर वह लगता है, कर्म जैसा ही। नो का अर्थ ईषत् होने से वह ईषत् अर्थात्—छोटा या किञ्चित् कर्म है।[१]

स्थूल-सूक्ष्म सभी पंचभौतिक पदार्थ शरीर में अन्तर्भूत होने से नोकर्म हैं

श्री जिनेन्द्रवर्णी के अनुसार "यद्यपि औदारिक आदि शरीर (अंगोपांग, इन्द्रिय आदि) कहने से चेतन की समस्त प्रवृत्तियों के प्रधान कारणभूत इस स्थूल शरीर का ग्रहण होता है, तथापि तात्त्विक दृष्टि से देखने पर जगत् मे स्थूल या सूक्ष्म, जो भी, जितने भी दृष्ट पदार्थ हैं, वे सब इसी मे गर्भित हैं, (इसी से सम्बद्ध हैं); क्योंकि जितने भी दृष्ट पदार्थ हैं, वे सब या तो आज किसी के शरीर हैं या पहले किसी के शरीर रह चुके हैं। जीवात्मा के द्वारा त्यक्त हो जाने से भले ही आज वे सब भौतिक (पौद्गलिक) या जड़ पदार्थों के रूप मे ग्रहण किये जाते हो, परन्तु उनका पूर्व-इतिहास खोजने पर पता चलता है कि ये सब पहले किसी न किसी जीव के शरीर (कलेवर) रह चुके हैं जैसे कि काष्ठ, कड़ी, फर्नीचर आदि सब वनस्पतिकाय के मृतक शरीर है, और महल, मकान, मशीने, धन, आभूषण, सोना-चादी आदि धातु, बर्तन, पेट्रोल आदि सब पृथ्वीकाय के मृत शरीर (कलेवर) हैं।

'इस प्रकार पच-भौतिक नाम से प्रसिद्ध जितने कुछ भी पदार्थ हमारे व्यवहारपथ मे आ रहे हैं। वे सब इस जीवित शरीर की भाति ही शरीर है।"[२]

साक्षात् कर्म न कहकर नोकर्म क्यों कहा गया ?

ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा होने पर ही उनके सयोग तथा वियोग के लिये हमारी सकल प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ होती है। अतः ये हमारी प्रवृत्तियों के कारण अवश्य हैं, इसलिए (द्रव्य) कर्म हैं, परन्तु कर्म होते हुए भी कार्मणशरीर की भांति ये कर्मों के सस्कारो को ग्रहण करने मे समर्थ नही हैं। इसलिए इन्हें साक्षात् कर्म न कहकर, नोकर्म अथवा किञ्चित् (ईषत्) कर्म कहा गया है।"[३]

इसी कारण एक आचार्य ने नोकर्म का लक्षण किया है—"औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर तथा आहारादि छह पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने को 'नोकर्म' कहते है।"[४]

---

१ कर्ममीमांसा (स्व. युवाचार्य श्री मधुकरमुनि) पृ. ३०-३१

२ कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. १२६-१२७

३ वही, पृ. १२७

४ जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द जैन) मे उद्धृत पृ. १९७

कर्म और नोकर्म में अन्तर का स्पष्टीकरण

तत्त्वार्थ राजवार्तिक मे कर्म और नोकर्म के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—"आत्मा के योग (मन-वचन-कायाजन्य प्रवृत्तियों) परिणामों के द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं, यह (कर्म) आत्मा को परतंत्र बनाने का मूल कारण है। कर्म के उदय से प्राप्त औदारिक शरीर आदि रूप पुद्गल-परिणाम, जो आत्मा के सुख-दुःख-बलाधान में सहायक कारण होता है, वह 'नोकर्म' कहलाता है। स्थिति के भेद से भी कर्म और नोकर्म मे अन्तर है।"[1]

नोकर्म का लक्षण

'अध्यात्मरहस्य' मे नोकर्म का लक्षण भी इसी से मिलता-जुलता किया गया है—"ससारी जीवो के कर्मों के उदय से उनके अगादि (शरीर और पर्याप्तियो) की वृद्धि-हानि के रूप मे जो पुद्गल परमाणुओं का समूह परिणत होता है, वह नोकर्म कहलाता है।[2]

नोकर्म : कर्मविपाक में सहायक सामग्री

"प्रज्ञापना सूत्र" की वृत्ति मे नोकर्म को कर्मविपाक की सहायक सामग्री बताते हुए कहा गया है—

"कई बाह्य द्रव्य भी कर्मों के उदय और क्षयोपशम आदि मे सहायक कारण देखे जाते है। जैसे—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम मे बाह्य ओषधि (ब्राह्मी, बादाम, सरस्वतीचूर्ण आदि) सहायक निमित्त होती है, इसी प्रकार मदिरापान ज्ञानावरणीयकर्म के उदय मे सहायक निमित्त बनता है। ऐसा न हो तो, औषधि से युक्तायुक्तविवेक और सुरापान से विवेकविकलता क्यो होती है?"[3]

---

१. "अत्राह—कर्म-नोकर्मणः कः प्रतिविशेष ? उच्यते—आत्मभावेन योग-भाव-लक्षणेन क्रियते इति कर्म। तदात्मनोऽस्वतत्रीकरणे मूलकारणम्। तदुदयापादित-पुद्गल-परिणाम आत्मनः सुख-दुःख-बलाधान हेतु औदारिकशरीरादिः ईषत्कर्म नोकर्मेत्युच्यते। किं च स्थितिभेदादभेदः।"

—तत्त्वार्थ राजवार्तिक ५/२४/४८८/२०

२. अध्यात्म-रहस्य गा. ६३

३. (क) कर्ममीमासा (स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि) से पृ. ३०

(ख) "बाह्यान्यपि द्रव्याणि कर्मणामुदय-क्षयोपशमादि-हेतव उपलभ्यन्ते। यथा—ब्राह्म्योषधिर्ज्ञानावरण-क्षयोपशमस्य सुरापान ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेक-विकलतोपजायते॥" —प्रज्ञापना पद १७ वृत्ति

भ्रान्त मान्यता

जैन-कर्मविज्ञान से अनभिज्ञ कई लोग भ्रान्तिवश यह कह बैठते हैं कि जीव के विविध प्रकार के रागादि परिणाम होने में केवल कर्म ही निमित्त नहीं है अपितु बाह्य पदार्थों के रूप में 'नोकर्म' भी उन परिणामों के होने में निमित्त होते हैं। उनका कहना है कि जिस समय भाव की उत्तेजक बाह्य सामग्री उपस्थित होती है, उस समय संसारी जीव के तदनुकूल रागादि परिणाम हो जाते हैं। जैसे—"सुन्दर सुरूप ललना के मिलने या देखने पर राग होता है। जुगुप्सा (घृणा) की सामग्री मिलने पर ग्लानि या घृणा पैदा हो जाती है। विष आदि के भक्षण करने पर मरण हो जाता है। धन-सम्पत्ति को देखकर लोभ के परिणाम हो जाते हैं और लोभवश उस धन को अर्जन करने, हड़पने, छीनने या चुरा लेने का भाव हो जाता है। ठोकर लगने पर दुःख और सुगन्धित पदार्थ या माला आदि के मिलने पर सुख होता है।"[1]

कर्म और नोकर्म के कार्यों में अन्तर

दीर्घदृष्टि से विचार करने पर नोकर्म के कार्य के सम्बन्ध मे यह मत युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। एक ऐसा निर्ग्रन्थ मुनि है, जिसका चित्त समभाव से ओत-प्रोत है, स्फटिक सम निर्मल है, वीतरागता की दिशा में उसकी साधना एवं निष्ठा चल रही है, यदि उसके समक्ष कोमल गुदगुदी लचीली शय्या उपस्थित की जाएगी, या चित्त को मोहित करने वाली श्रृंगार-सुसज्जित महिला अथवा पंचेन्द्रियविषयो को उत्तेजित करने वाली कोई सामग्री प्रस्तुत की जाएगी और उसे उपभोग करने, अपनाने या ग्रहण करने का कहा जाएगा, फिर भी उसके मन में राग, मोह या लोभ के परिणाम नहीं होंगे। अथवा उसे कोई वस्तु अनिष्टकर प्रतीत होती है, अथवा अप्रीतिकर मालूम होती है, भले ही दूसरे लोगों को वह प्रीतिकर या इष्ट-प्रिय लगती हो, फिर भी ऐसा साधक उक्त वस्तु को देखकर अप्रसन्नता व्यक्त करेगा। इससे अन्तरंग में योग्यता के अभाव मे बाह्य-सामग्री अपने आप में कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। ये कर्म ही हैं, जो आत्मा मे जिस समय रागादि जिस प्रकार के भाव रहते हैं, उस समय उन भावो के संस्कारो से युक्त कर्मरज आत्मा से सम्बद्ध हो जाती है, फिर कालान्तर मे वे ही कर्म उदय मे आकर आत्मा को सुख-दुःख का वेदन कराते हैं। किन्तु बाह्य-सामग्री (नोकर्म) की यह स्थिति नही है। कर्म और नोकर्म (बाह्य सामग्री) के कार्यों मे मौलिक अन्तर है।[2]

१. महाबन्धो पुस्तक २ (प्रस्तावना) (प. फूलचद जी सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. २१

२. महाबंधो पु.२ प्रस्तावना (पं. फूलचदजी सिद्धान्तशास्त्री) से भावाश उद्धृत, पृ. २२

कर्म और नोकर्म का पारस्परिक सम्बन्ध

तात्पर्य यह है कि कर्म के उदय से जीव के राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुख-दुःख, मोह, मिथ्यात्व, अज्ञान, अदर्शन, काम, (वेदत्रय) हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा आदि परिणाम होते अवश्य हैं, पर इन भावों के निमित्तभूत कर्म के उदय में प्रायः वस्त्र, गन्ध, अलंकारादि बाह्य पदार्थों (नोकर्म) की सहायता से ही वे परिणाम होते हैं। नोकर्म (बाह्य पदार्थ) अपने आप में परिणाम उत्पन्न नहीं करते। वे कर्म के उदय होने पर अनुकूल या प्रतिकूल सवेदन में सहायक हो जाते हैं। इसलिए इन्हें 'कर्म' न कहकर 'नोकर्म' कहा है।[1]

नोकर्म : कर्म के उदय में सहायक निमित्त

जैसे—किसी के असातावेदनीय कर्म का बन्ध हुआ, उसका परिणाम है—प्रतिकूल संवेदन कराना। उसके विपाक (उदय मे आने पर फल-भोग) में प्रतिकूल संवेदन हो भी सकता है, नही भी। यदि साधक की समता की साधना परिपक्व है तो नहीं भी हो सकता है। अपरिपक्व साधक को प्रतिकूल संवेदन होता है। परन्तु प्रतिकूल संवेदन किस प्रकार का या किस रूप में होगा ? तथा उसके विपाक मे कौन-सा काल, क्षेत्र या पुद्‌गलद्रव्य निमित्त होगा ? यह सब गौण निमित्तभूत नोकर्म पर निर्भर है।

नोकर्मरूप बाह्य सामग्री विविध द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से ५ प्रकार की है, वह कर्मों के विपाक, क्षय और क्षयोपशम में सहायक निमित्त होती है। 'कषायप्राभृत' में आचार्य गुणधर ने कर्म-विपाक के उदय और क्षय में पुद्‌गल—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव (स्थिति) रूपी नोकर्म को सहायक बताये हैं। विविध प्रकार के पुद्‌गलद्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव अपने-अपने योग्य कर्म के उदय मे सहकारी बनते हैं।[2] आशय है कि कर्म का उदय होने पर द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि नोकर्मभूत पदार्थ जीव को इष्ट-अनिष्ट (शुभ-अशुभ) फल भुगवाने या फल प्रदान करने मे सहायक निमित्त हो जाते हैं।

द्रव्यनिमित्तक नोकर्म का उदाहरण

उदाहरणार्थ—एक मनुष्य क्षुधा से व्याकुल हो रहा है। उसके सातावेदनीय कर्म उदय मे आता है। ऐसी स्थिति मे वहाँ एक अन्य व्यक्ति

१. महाबन्धो पु. २, प्रस्तावना से भावाश उद्धृत पृ. २२
२. (क) कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावाश उद्धृत पृ. ९२
(ख) 'खेत्त-भव-काल-पोग्गल-ठिदि-विवोगोदय-खयो दु। —कषायप्राभृत
(ग) महाबंधो पु. २, प्रस्तावना (प. फूलचद जी सिद्धान्तशास्त्री) से

आता है, और उसकी क्षुधाजन्य पीड़ा को देखकर उसे सुस्वादु भोजन कराता है। इससे क्षुधाजन्य वेदना दूर होने से उसे परम सुख का संवेदन (अनुभव) हुआ। यहाँ परम सुख का अनुभव कराने में सातावेदनीय कर्म का उदय मुख्य कारण (निमित्त) है, और साता के उदय में अन्य मनुष्य द्वारा दिया गया सुन्दर सुस्वादु भोजन कारण (गौण निमित्त) है। यह द्रव्य (पुद्गल) रूप नोकर्म का उदाहरण है।[1]

क्षेत्र-काल निमित्तक नोकर्म का उदाहरण

इसी प्रकार क्षेत्ररूप नोकर्म का उदाहरण लीजिए—मान लीजिए, किसी व्यक्ति को राजस्थान जैसा उष्णता प्रधान क्षेत्र मिला। राजस्थान में लू बहुत चलती है। उस व्यक्ति को लू लग गई। लू लगना या न लगना असातावेदनीय कर्म के अधीन नहीं। लू लगना ही यदि असातावेदनीय कर्म के कारण ही हो तो राजस्थान वाले को ही क्यों लगे, दक्षिण भारत के भी उष्णता प्रधान क्षेत्र के लोगों को क्यो नहीं लगती? कर्म ऐसा पक्षपात तो नहीं करता! फिर तो जैसे कई ईश्वरकर्तृत्ववादी लोग ईश्वर पर पक्षपात का आरोप लगाते हैं, वैसे ही कर्म पर भी पक्षपात का आरोप लगाने लगेगे। किन्तु यह पक्षपात नही है। लू आदि लगना असातावेदनीय कर्म का कार्य नहीं। राजस्थान के भी सभी लोगो को लू नहीं लगती। जिस व्यक्ति में गर्मी सहन करने की शक्ति होती है, तथा जो सावधानी रखता है, उसको सहसा लू नही लगती। जिसके द्वारा असातावेदनीय कर्म बांधा हुआ है, उसको लू लगने पर उसके कारण असातावेदनीय कर्म का उदय हो जाता है, और लू उसे क्षेत्रीय नोकर्म के रूप मे प्रतिकूल संवेदन मे गौणनिमित्त या सहायक बन जाती है।

जिसके असातावेदनीय कर्म बाँधा हुआ होता है, उसे सर्दी के मौसम मे फ्लू, नजला, जुकाम आदि रोग हो जाते हैं, उस समय कालगत नोकर्म प्रतिकूल वेदन कराने मे सहायक बन जाता है, असातावेदनीय का उदय हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य का द्रव्यगत, क्षेत्रगत, कालगत और भावगत नोकर्म पृथक् पृथक् होता है।

भौगोलिकता, वातावरण, पर्यावरण, परिस्थितियाँ, आदि सब भी नोकर्म हैं। भौगोलिकता एव प्रादेशिकता (क्षेत्रीय) नोकर्म के निमित्त से कही का मनुष्य काला, कही गोरा, कही पीला और कहीं गेहूँवर्णा होता है, उनके होने पर जैसा-जैसा शुभाशुभ सवेदन होता है, तदनुकूल असाता या सातावेदनीय कर्म का उदय होता है।

---

१. महाबन्धो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. २२

दक्षिण भारत के मनुष्यों के हाथीपगा (पैर का शोथ) रोग अधिकांश-रूप में पाया जाता है, परन्तु यह रोग उन्हीं के होता है, जिनके असातावेदनीय का बन्ध होता है, तथा उस कर्म विपाक से प्रतिकूल संवेदन होता है—क्षेत्रीयनोकर्मवश, उसके असातावेदनीय कर्म का उदय होता है। जिनके असातावेदनीय कर्म नहीं बंधा हुआ है, उसको यह भयंकर रोग नहीं होता, न ही असातावेदनीय कर्म का नया बन्ध होता है।[१]

कर्म : मुख्य निमित्तकारण, नोकर्म : गौण निमित्तकारण

निष्कर्ष यह है कि कर्ममर्मज्ञ मनीषियो ने दो प्रकार के निमित्तकारण माने हैं—कर्म और नोकर्म। इन दोनों के स्वभाव और कार्य में अन्तर स्पष्ट है। यही कारण है कि इनमे कर्म मुख्य निमित्तकारण है, और नोकर्म गौण निमित्तकारण। दोनों एक दूसरे को दबाते नही, किन्तु नोकर्म कर्मोदय मे सहायक बन जाते हैं।

किस-किस कर्म के कौन-कौन से नोकर्म हैं ?

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने नोकर्म की मीमासा करते हुए कहा—"वस्त्र ज्ञानावरणीय कर्म का, प्रतीहार दर्शनावरणीय कर्म का, शहद लपेटी तलवार वेदनीयकर्म का, मद्य मोहनीय कर्म का, आहार आयुकर्म का, शरीर नामकर्म का, उच्च-नीच कुल गोत्रकर्म का, तथा भण्डारी अन्तरायकर्म का नोकर्म है।"

इसी तथ्य को विशेष स्पष्ट करने की दृष्टि से वे आगे कहते हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का व्याघात करने वाले वस्त्रादि पदार्थ मतिज्ञानावरणीय और श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के नोकर्म हैं। अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान का व्याघात करने वाले सक्लेशकर पदार्थ अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्यायज्ञानावरणीय कर्म के नोकर्म है। भैस का दही आदि पदार्थ निद्रादि पचरूप दर्शनावरणीय कर्मों के नोकर्म (ईषत्-कर्म) हैं। इष्ट-अनिष्ट अन्न-पानादि सातावेदनीय तथा असातावेदनीय कर्मों के नोकर्म हैं, षडायतन सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन का, अनायतन मिथ्यात्व का, बैडौल पुत्र हास्य का, सुपुत्र रति का, इष्ट-वियोग तथा अनिष्टसयोग अरति का और मृतपुत्रादि शोक का नोकर्म है।"[२]

कर्म और नोकर्म के कार्यों का विश्लेषण

इसका निष्कर्ष यह है कि कर्म का कार्य है—उस-उस कर्म के उदय से जीव के विभिन्न प्रकार के अज्ञान, अदर्शन, सुख-दुःख, मिथ्यात्व तथा

१. कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावाश उद्धृत पृ. ९२

२. (क) महाबधो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. २२

(ख) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) (आ. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती)

क्रोधादि चार कषाय आदि के परिणाम होना। किन्तु नोकर्म का कार्य इससे भिन्न है। इन परिणामों के निमित्तभूत कर्म के उदय में प्रायः वे वस्त्रादि बाह्य पदार्थरूप नोकर्म सहायक होते हैं। उन्हीं बाह्य पदार्थों की सहायता से वे परिणाम होते हैं।

इस प्रकार कर्म और नोकर्म के कार्य में अन्तर है।[1]

ज्ञानावरणादि कर्मोदय के साथ अज्ञानादि भावों की समव्याप्ति है, नोकर्म के साथ नहीं।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार विवक्षित कर्म का विवक्षित परिणाम (भाव) के साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है, उस प्रकार नोकर्म के साथ इन परिणामों का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ—जीव का अज्ञानभाव ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से होता है, अन्य प्रकार से नहीं। यह सर्वथा असम्भव हैं कि ज्ञानवरणीय कर्म का उदय रहे, किन्तु अज्ञान-भाव न हो। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म नष्ट होने पर भी अज्ञानभाव बना रहे, यह भी सम्भव नही है। जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का उदय होता है, उसके अज्ञानभाव अवश्यमेव होता है। इसी प्रकार जिसके अज्ञानभाव होता है, उसके ज्ञानावरणीय कर्म का उदय अवश्य ही होता है। इन दोनों की समव्याप्ति है। किन्तु नोकर्म के साथ जीव के अज्ञान आदि भावो की समव्याप्ति नही है।[2]

जैसे वस्त्र आदि पदार्थ अज्ञान के कारण माने जाते हैं, उनके रहने पर भी किसी के अज्ञान होता है, और किसी के नही भी होता। इसी अभिप्राय को ध्यान मे रखकर बाह्य पदार्थों को नोकर्म की संज्ञा दी है। कर्म वैसी योग्यता का सूचक है, परन्तु बाह्यसामग्री (नोकर्म) का वैसी योग्यता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। कभी वैसी योग्यता के सद्भाव में भी बाह्यसामग्री नही मिलती; इसके विपरीत कभी उसके अभाव मे भी बाह्य सामग्री का संयोग देखा जाता है। किन्तु कर्म के सम्बन्ध में यह बात नही है। उसका सम्बन्ध आत्मा से तभी तक रहता है, जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता उपलब्ध होती है। इन दोनो तत्त्वों को कर्म और नोकर्म संज्ञा देने का यही कारण है।[3]

कर्म का मुख्य कार्य : संसारी अवस्थाओं में मुख्य निमित्त बनना

कर्मविज्ञानमर्मज्ञ पं. फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री के अनुसार—कर्म का मुख्य कार्य है जीव को ससार-अवस्था में आबद्ध रखना। जीव के परावर्तन

१. महाबन्धो पु. २ (प्रस्तावना) (पं. फूलचद जी सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. २२

२. वही, पृ. २२

३. महाबंधो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचद जी सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. २२-२३

को 'संसार' कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार के परावर्तनों में जीव कर्म के निमित्त से परिभ्रमण करता रहता है। चार गतियो और चौरासी लाख योनियों के प्राप्त होने और उनमें परिभ्रमण करने में ससारी जीव की जो विविध अवस्थाएँ होती हैं। उनमें भी मुख्य निमित्त कर्म है।

ससारी अवस्थाओं का मुख्य और गौण निमित्त : कर्म और नोकर्म

ससार परिभ्रमण करते हुए जीव की मुख्य अवस्थाएँ इस प्रकार होती हैं—कभी वह एकेन्द्रिय होता है, कभी द्वीन्द्रिय, कभी त्रीन्द्रिय होता है, कभी चतुरिन्द्रिय और कभी पंचेन्द्रिय होकर भी कभी नारक होता है, कभी तिर्यञ्च, कभी मनुष्य होता है तो कभी देव। कभी वह बहुत कामी होता है, कभी क्रोधी होता है, कभी मानी होता है, कभी मायी। कभी विद्वान् और कभी मूर्ख होता है। एक ही जीव बहुत प्रकार के आकार और शीलस्वभावो को धारण करता है।[१] आप्तमीमांसा मे इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा गया है—"जीव के कामादि भावो की उत्पत्ति अपने-अपने कर्मों के बन्ध के अनुरूप चित्र-विचित्र प्रकार से होती रहती है।"[२]

इन मुख्य अवस्थाओं का मुख्य निमित्त कारण कर्म है, अर्थात्—ये मुख्य अवस्थाएँ कर्म के कार्य हैं। इन मुख्य अवस्थाओ के रहते जीव की प्रत्येक समय की परिणति भिन्न-भिन्न होती रहती है। इन भिन्न-भिन्न परिणतियो के होने मे निमित्त कारण कर्म के सहायक ईषत् कर्म रूप द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप नोकर्म माने गए हैं। अर्थात्—पूर्वोक्त मुख्य अवस्थाओं (संसारी अशुद्ध अवस्थाओं) मे जीव की प्रतिसमय की परिणति द्रव्य-क्षेत्रादि नोकर्मरूप निमित्त-सापेक्ष होने से बदलती रहती है। नोकर्मरूप ये निमित्त सस्काररूप मे आत्मा से सम्बद्ध होते रहते है। कालान्तर मे तदनुकूल परिणति पैदा करने मे सहायता प्रदान करते हैं। जीव की शुद्धता और अशुद्धता इन निमित्तो के सद्भाव-असद्भाव पर निर्भर है। यह नोकर्म का कार्य है। जब तक जीव इन निमित्तो के सचित होने मे स्वय सहायक होता है और वे निमित्त उसकी प्रतिसमय की अवस्था के होने मे सहायक होते हैं, तब तक जीव की अशुद्धता बनी रहती है। जैनदर्शन मे जीव की अशुद्धता के कारणभूत इन निमित्तों को 'नोकर्म' कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि कर्म संसारी जीव की पूर्वोक्त विभिन्न अवस्थाओ मे मुख्य निमित्त अर्थात्-नैमित्तिक है, और नोकर्म इन मुख्य अवस्थाओं के रहते

---

१. महाबधो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री) से साभार भावांश उद्धृत पृ. २१

२. "कामादिप्रभवश्चित्र कर्मबन्धानुरूपतः।" —आप्तमीमांसा (आचार्य समन्तभद्र)

प्रतिसमय बदलती रहने वाली परिणतियों की उत्पत्ति में सहायक होने से गौण निमित्त है। कर्म और नोकर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है और इस निमित्त-नैमित्तिक परम्परा का अन्त होने पर जीव पर-निरपेक्ष शुद्धदशा (स्वाभाविक दशा) को प्राप्त हो जाता है। यही मुक्त अवस्था है। इस प्रकार कर्म और नोकर्म के कार्य में अन्तर है। ये दोनों ही संसार-अवस्था में निमित्त हैं।[१]

जीव की संसारी अवस्था किन-किन कर्मों के कारण होती है ?

इसलिए कर्म का मुख्य कार्य जीव को संसारी बनाना है। संसार की विभिन्न अवस्थाओं में जीव को रखने का कार्य कर्म कैसे करता है? इसे विशदरूप से समझने के लिए कर्मों का मुख्य आठ प्रकारों में वर्गीकरण किया गया है—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें से चार घाती और चार अघाती कर्म हैं। प्रकारान्तर से ये आठों कर्म जीव-विपाकी, पुद्गलविपाकी, भव-विपाकी और क्षेत्रविपाकी इन चार भागों में बटे हुए हैं। जीवविपाकी कर्म वे हैं, जिनका विपाक जीव में होता है। जिनके विपाकस्वरूप शरीर, वचन और मन की प्राप्ति होती है, वे हैं—पुद्गलविपाकी कर्म। भव के निमित्त से जिनका फल मिलता है, वे भवविपाकी कर्म कहलाते हैं और क्षेत्रविशेष में जो अपना कार्य करते हैं, वे क्षेत्रविपाकी कर्म है।

इनमें कर्मों के मुख्य भेद तो दो ही हैं—जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी। भवविपाकी और क्षेत्रविपाकी कर्म जीवविपाकी कर्म के ही अवान्तर भेद हैं। केवल कार्य-विशेष का बोध कराने की दृष्टि से इनका पृथक् निर्देश किया है। जीव की नर-नारकादि विविध अवस्थाएँ, सुख-दुःख, अज्ञान आदि भाव जीवविपाकी कर्मों के और विविध प्रकार के शरीर, वचन और मन पुद्गलविपाकी कर्मों के कार्य हैं।[२]

चूंकि जीव का संसार जीव और पुद्गल इन दोनों के संयोग का फल है। न तो अकेला जीव संसारी हो सकता है और न अकेला कर्म ही कुछ कर सकता है। इन दो तत्त्वों के मिलन से जीव की संसारी अवस्था होती है।[३]

बाह्य सामग्री का संयोग-वियोग कराना कर्म का कार्य नहीं

कर्म के दो भेद (जीवविपाकी और पुद्गलविपाकी) जीव की विविध अवस्थाओं और परिणामों के होने में (मुख्य) निमित्त होते हैं। इन दोनों

१. महाबंधो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री) से भावांश उद्धृत पृ. २१
२. महाबंधो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचन्द जी सिद्धान्त शास्त्री) से साभार उद्धृत पृ. २३
३. वही, पु. २ से पृ. २३

प्रकार के कर्मों में ऐसा एक भी कर्म नहीं बतलाया है, जिसका काम बाह्य सामग्री का प्राप्त कराना हो। सातावेदनीय और असातावेदनीय, ये स्वयं जीवविपाकी हैं। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' मे इनके कार्य का निर्देश करते हुए कहा गया है—जिस कर्म के उदय से देवादि गतियो मे शारीरिक-मानसिक सुख प्राप्ति (सुखानुभव) हो, वह सातावेदनीय है, जिसका फल अनेकविध दुःख है, वह असातावेदनीय है।

इसकी व्याख्या करते हुए वहाँ स्पष्ट किया गया है—"अनेक प्रकार की देवादि गतियो मे जीवो को प्राप्त हुए द्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा शारीरिक और मानसिक नाना प्रकार का सुखरूप परिणाम होता है, वह सातावेदनीय है; तथा नाना प्रकार की नरकादि गतियो मे जिस कर्म के फलस्वरूप जन्म, जरा, मरण, इष्टवियोग-अनिष्टसयोग, व्याधि, वध और बन्धनादि से उत्पन्न हुआ विविध प्रकार का मानसिक और कायिक दुःखरूप परिणाम होता है, वह असातावेदनीय है।"

तत्त्वार्थ सर्वार्थसिद्धि मे भी सातावेदनीय और असातावेदनीय के स्वरूप के सम्बन्ध मे इसी कथन की पुष्टि की है। कर्मग्रन्थ आदि मे भी इन द्विविध कर्मों का यही अर्थ किया गया है।[1]

ऐसी स्थिति मे इन कर्मों को अनुकूल तथा प्रतिकूल नोकर्म रूप बाह्यसामग्री के सयोग-वियोग मे निमित्त मानना उचित नही है। वस्तुतः बाह्यसामग्री की प्राप्ति अपने-अपने (पूर्वोक्त निमित्तों—नोकर्मों) कारणों से होती है। इनकी प्राप्ति का कारण कोई भी कर्म नहीं है।

बाह्यसामग्री कर्म का कार्य नहीं, क्यों और कैसे ?

तत्त्वतः बाह्यसामग्री न तो सातावेदनीय या असातावेदनीय का ही फल है और न ही लाभान्तराय आदि कर्म के क्षय-क्षयोपशम का ही फल है। इन दोनो मतो को थोड़ा-बहुत प्रश्रय दिया जा सकता है, तो उपचार से ही दिया जा सकता है। स्वर्ग, भोगभूमि और नरक मे सुख-दुःख की आधारभूत सामग्री के साथ वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवो के साता और असाता के उदय का सम्बन्ध देखकर उपचार से बाह्यसामग्री को साता-असाता फल बतलाया है। इसी प्रकार बाह्यसामग्री से लाभ आदि रूप परिणाम लाभान्तराय आदि के क्षयोपशम का फल जानकर उपचार से कहा

१. (क) कर्म और कार्यमर्यादा (जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषाक मे प्रकाशित प. फूलचद जी के लेख) से पृ. २४४

(ख) "यस्योदयाद् देवादिगतिषु शारीर-मानस-सुख-प्राप्तिस्तत् सद्वेद्यम्, यत्फल दुःखमनेकविध तदसदवेद्यम्।' —तत्त्वार्थ राजवार्तिक ६/१२-१३ पृ. ३०४

गया है कि लाभान्तराय आदि के क्षय या क्षयोपशम से बाह्यसामग्री की प्राप्ति होती है।

बाह्यसामग्री अपने-अपने कारणों से प्राप्त होती है

वस्तुतः बाह्यसामग्री इन (कर्मफलरूप) कारणों से प्राप्त न होकर अपने-अपने कारणों से ही प्राप्त होती है। जैसे—उद्योग, व्यवसाय या मजदूरी करना, धन को विविध व्यवसायों में लगाना, खेती-बाड़ी आदि धंधे करना, चोरी, ठगी, बेइमानी, भ्रष्टाचार, द्यूत आदि अनैतिक उपायों को करना; इत्यादि इन और ऐसे कारणों से बाह्यसामग्री की प्राप्ति होती है।

अगर बाह्यसामग्री की प्राप्ति किसी कर्म के कारण हो तो, वह चेतन की तरह जड़ तिजोरी आदि को भी प्राप्त होती, मगर जड़ के रागादि भाव नहीं होता, चेतन के होता है। इसलिए अपने कारणो से बाह्यसामग्री प्राप्त होने पर उनमे रागादि भावों का सवेदन होना कर्म का कार्य है। चेतन ही धनादि बाह्यसामग्री मे अहंकार-ममकार करता है।

हाँ, बाह्यसामग्री कर्म के उदय में सहायक बन सकती है, इस कारण उसे 'नोकर्म' कहा गया है। अतः कर्म बाह्यसामग्री के सयोग-वियोग का कारण नही है। उसकी कार्य मर्यादा जीव मे विभिन्न भाव उत्पन्न कर देने की है। जीव के विविध भाव कर्म के निमित्त से होते है। इसलिए कहीं-कही ये (कर्म) बाह्यसामग्री के अर्जन आदि मे निमित्त कारण बन जाते है। यही कर्म की कार्य मर्यादा है।[1]

कर्म और नोकर्म की कार्यमर्यादा का संक्षिप्त विश्लेषण

पूर्वोक्त विश्लेषण से हम कर्म और नोकर्म के कार्य को भलीभांति हृदयगम कर सकते है। जीव की विविध प्रकार की अवस्था और भाव होना कर्म का कार्य है, और उनके कारण जीव मे वैसी योग्यता होना संभावित है, जिससे वह योगत्रय द्वारा यथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलो का ग्रहण करके उन्हे शरीरादिरूप में परिणमाता है।[2]

अतः धन, सम्पत्ति, महल, बगीचा, राज्य, पुत्र, स्त्री आदि सुखकर वस्तुएँ तथा रोग, शोक, दारिद्र्य, निर्धनता, पीड़ा, ग्लानि, भय आदि दुःखकर वस्तुएँ कर्म के कार्य नहीं हैं। अर्थात्—न तो धनादि प्राप्त होना सातावेदनीय का परिणाम है और न ही रोगादि असातावेदनीय के

---

१. कर्म और कार्य मर्यादा (प. फूलचद जी सिद्धान्त शास्त्री के जिनवाणी मे प्रकाशित लेख) से भावांश उद्धृत पृ. २४५-२४६

२. महाबधो पु. २ प्रस्तावना (प. फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री) से भावांश उद्धृत पृ. २२-२३

परिणाम। किन्तु सत्पुरुषार्थ, न्याय-नीतिपूर्वक कार्य, व्यावहारिक कौशल, अहिंसादि धर्माचरण में अनुराग, सौम्य व्यवहार आदि से धनादि प्राप्त होते हैं। किन्तु धनादि प्राप्त होने की घटना के कारण सातावेदनीय कर्म उदय में आ गया; वह विपाकोन्मुख हो गया। इसी प्रकार रोगादि की उत्पत्ति भी अहितकर भोजन, व्यावहारिक अकुशलता, सत्कार्य में पुरुषार्थहीनता, धर्माचरण में आलस्य, अरुचि, समभाव का अनभ्यास आदि से होती है। रोगादि की घटना के कारण असातावेदनीय कर्म उदय में आ गया।

अभिप्राय यह है कि सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्म के उदय में आने पर नोकर्म सहायता कर देता है। यही नोकर्म का कार्य है।[१]

■

---

१. कर्मवाद (युवाचार्य महाप्रज्ञ) से भावांश उद्धृत पृ. ९१

१

कर्मों के रूप : कर्म, विकर्म और अकर्म

सभी सांसारिक प्राणी कर्म के चंगुल में

विश्व में जितने भी सांसारिक प्राणी हैं, वे सब एक या दूसरे प्रकार से 'कर्म' के चंगुल में फंसे हुए हैं, कर्म की डोरी से वे सब बंधे हुए हैं। जब से प्राणी इस संसार में आया है, तभी से कर्म उसके साथ किसी न किसी रूप में लगा हुआ है। वह कितना ही बचकर चले, फिर भी कर्म उसे किसी न किसी रूप में करना ही पड़ता है। वैदिक धर्म-परम्परा के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्‌गीता में इसी दृष्टि से कहा गया है—

"कर्मों का सर्वथा त्याग नहीं हो सकता, क्योंकि कोई भी जीव किसी काल में क्षणभर भी कर्म को किये बिना रह नहीं सकता, न ही रहता है। निःसंदेह सभी पुरुष (संसारी आत्मा) प्रकृति (कर्मप्रकृति) से उत्पन्न हुए (उदय मे आए हुए) गुणों के द्वारा परवश होकर कर्म करते हैं।"[१] अतः कोई भी पुरुष (जीवात्मा) कर्मों के न करने मात्र से 'निष्कर्मता' को प्राप्त नहीं हो जाता। और न ही (बिना शुभ उद्देश्य के) कर्मों को त्यागने मात्र से सिद्धि (मुक्ति या परमात्मत्वप्राप्ति) को प्राप्त होता है।"[२]

इन्द्रियाँ निश्चेष्ट : मनकामनावश : मिथ्याचार है

भगवद्‌गीता के अनुसार "कोई व्यक्ति कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से उन-उन कर्मों (क्रियाओं) का चिन्तन-मनन-स्मरण करता रहता है, अथवा इन्द्रियों के विभिन्न विषयों को प्राप्त करने, भोगने और सुख पाने की मन ही मन कामना करता रहता है, वह मिथ्याचारी (दम्भी) है।" इन्द्रियों को निश्चेष्ट कर देने मात्र से किसी सांसारिक प्राणी का कर्म करना बंद नहीं हो

---

१. नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यतेह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः॥ —गीता ३/५

२. न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ —वही, ३/४

जाता।[1] ऐसी निश्चेष्टता की स्थिति में भी वह मन से तो विचार करता रहता है, वह भी एक प्रकार का कर्म है। अतः कोई भी प्राणी बाहर से भले ही कर्म करता न दिखाई दे, परन्तु चेतनाशील होने के कारण अन्तर से तो कर्म करता ही रहता है। स्थूलरूप से कर्म न करने मात्र से कोई भी प्राणी 'अकर्म' या 'निष्कर्म' नहीं हो जाता।

कार्य न करने मात्र से निष्कर्ष या निर्लिप्त नहीं

जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान् पं. सुखलालजी प्रथम कर्मग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं—"साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम नहीं करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप नहीं लगेगा। इससे वे काम को छोड़ देते हैं; पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नहीं छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप (बन्ध) से अपने को मुक्त नहीं कर सकते।"[2]

सासारिक जीव अविरत कर्म सलग्न

अतः सांसारिक प्राणियों के साथ कर्म अविरत सलग्न होने से वही उन्हें विविध योनियों और गतियो मे परिभ्रमण कराता है। जब तक प्राणी संसार में स्थित है, तब तक पुराने कर्म आंशिकरूप से क्षीण होते जाते हैं, और नये कर्म बंधते जाते हैं। इस तरह प्रवाहरूप से कर्मों का सिलसिला जारी रहता है।

शरीर-प्राप्ति के साथ ही कर्म का सिलसिला प्रारम्भ

जबसे प्राणी को शरीर मिलता है, तभी से कर्म का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है। मन, वचन, काया, ये तीनो शरीर के ही महत्वपूर्ण अग हैं। फिर शरीर के साथ विविध इन्द्रियाँ, वाणी तथा अगोपांग आदि मिलते हैं। ऐसी स्थिति में प्राणी इस शरीर के निर्वाह के लिए नानाविध क्रियाएँ मन, वचन, शरीर, इन्द्रियो आदि से करता ही रहता है। शरीर की सुरक्षा, स्वस्थता, सुख-शान्ति और निश्चिन्तता के लिए कोई न कोई कार्य किए विना वह रह ही नहीं सकता। शरीर और शरीर से सम्बद्ध सजीव-निर्जीव पदार्थों के रहने-रखने के लिए वह मकान बनाता है, शरीर को स्वस्थ रखने के लिए चिकित्सा कराता है, शरीर की सुरक्षा के लिए वह कई प्रकार की व्यवस्था करता है। शरीर को भोजन चाहिए, वह तरह-तरह के भोज्य-पेय पदार्थ जुटाता है। शरीर को सर्दी-गर्मी से बचाने तथा लज्जानिवारण के

---

१. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते। —गीता, ३/६

२. कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग की भूमिका पृ. २५-२६

लिए वस्त्र चाहिये, वह नाना आकार-प्रकार के वस्त्रों का संग्रह करता है। और भी शारीरिक, मानसिक एवं सांस्कृतिक प्रयोजनों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अनेक प्रकार के सुख के साधन जुटाता है।

संक्षेप में प्रत्येक प्राणी शरीर-निर्वाह के लिये एक या दूसरे प्रकार से कुछ न कुछ कर्म करता है। इतना ही नहीं, अपनी इच्छा के अनुकूल, मनोज्ञ एवं अभीष्ट पदार्थ या संयोग मिलने पर वह हर्षित होता है, राग, मोह या आसक्ति करता है, तथा अपनी इच्छा के प्रतिकूल (सजीव या निर्जीव) पदार्थ या संयोग मिलने पर वह घबराता है, बेचैन एवं चिन्तातुर हो जाता है, उस पदार्थ से उसे घृणा, द्वेष, द्रोह-मोह या भीति-प्रीति (आसक्ति) होने लगती है। इष्टवियोग और अनिष्ट के संयोग से दुःखी और अनिष्ट-वियोग एव इष्टसयोग से सुखी होता है। इस प्रकार की मानसिक और कभी-कभी वाचिक क्रियाएँ भी सासारिक अज्ञ प्राणी के जीवन मे सतत चलती रहती है। वह उन क्रियाकलापो से विरत नहीं हो पाता। इसीलिए भगवद्गीताकार कहते है—

"कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा (शरीर-निर्वाह की क्रिया) सिद्ध नहीं हो सकती है। इसलिए तेरे लिए (उच्चभूमिका पर न पहुँचे तब तक) कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेयस्कर है। अच्छा तो यह है कि (अपनी भूमिका के अनुसार) नियत किये हुए कर्म (कर्त्तव्य) को करो।"[१]

देहधारी प्राणी तब तक कर्ममुक्त या अकर्म नहीं हो पाता..........

निष्कर्ष यह है कि देहधारी प्राणी जब तक आठो ही कर्मों स सर्वथा मुक्त, सिद्ध-बुद्ध नही हो जाता तब तक वह सर्वथा कर्ममुक्त नही हो पाता। और अकर्म भी तब तक नहीं हो पाता, जब तक वह राग-द्वेष रहित या कपायो मे विरत होकर कर्म नही करता। अभिप्राय यह है कि जब तक जीव आत्मशुद्धि क उद्देश्य से एक मात्र कर्मक्षय करने की दृष्टि से सहज-भाव से कर्म नही करता, तब तक एक या दूसरे प्रकार से शुभ या अशुभ रूप मे विविध कर्मो से प्रभावित होता रहेगा, वह बाहर से कर्म न करता हुआ भी मानसिक रूप से कर्म करता रहेगा।

बाहर से निश्चेष्ट, मन से हिंसा कर्म करने में सचेष्ट : कालसौकरिक

राजगृह-निवासी कालसौकरिक को मगधसम्राट् श्रेणिक ने कारागार मे बद करके उलटा लटकवा दिया था, ताकि वह किसी भी प्राणी, यहाँ तक कि भैसे का वध न कर सके। किन्तु परम्परागत संस्कारवश कालसौकरिक

---

१. "नियत कुरु कर्मत्त्व, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्राऽपि च ते, न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥" —भगवद्गीता ३/८

अपनी पशुवध की वृत्ति को न रोक सका। वह हाथ की अंगुलियों से पानी पर लकीर करके भैंसे की प्रतिकृतिस्वरूप आकृति बनाने लगा फिर मनःकल्पित शस्त्र बनाकर उससे मन ही मन भैंसे का वध करने का उपक्रम करता।[१]

तन्दुलमच्छ की केवल मानसिक क्रिया से सप्तम नरकयात्रा

इसी प्रकार चावल के दाने जितना छोटा-सा तन्दुलमच्छ समुद्र में रहने वाले विशालकाय मगरमच्छ की भौंह पर बैठता है। वह बैठा-बैठा कायिक या वाचिक कोई भी क्रिया नहीं करता है। सिर्फ मन से ही सोचता है—"यह मगरमच्छ कितना आलसी है ? अगर मैं इसकी जगह होता तो एक भी प्राणी को नहीं छोड़ता, सबको निगल जाता।" यद्यपि इस तन्दुलमच्छ ने रक्त की एक बूंद भी नहीं बहाई, फिर भी इस प्रकार के क्रूरभावरूप कर्म के कारण मरकर सातवीं नरकभूमि में जन्म लेता है।[२]

इसी प्रकार कोई व्यक्ति स्थूल रूप से वाचिक और कायिक कर्म न करता हुआ, मन से राग-द्वेष, काम-क्रोधादि कषायाविष्ट होकर कर्म करता है तो वह उक्त अनिष्टरूप पाप (अशुभ) कर्म के बंध से बच नहीं सकता।

ध्यानस्थ प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने मन से ही शुभ अशुभकर्म बांधे, और तोड़े

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि वन में ध्यानस्थ खड़े थे। वहाँ के निकटवर्ती मार्ग से मगधनरेश श्रेणिक के दो सेवक जा रहे थे। उनमे से एक ने उन्हें देखकर कहा—"अहा ! कितने शान्त, दान्त, तपोमूर्ति मुनि हैं ये !" इस पर दूसरे ने कहा—"कौन कहता है, ये मुनि हैं। ये ढोंगी हैं, दम्भी हैं और पलायनवादी हैं। बेचारे अल्पवयस्क पुत्र पर राजकार्य की जिम्मेवारी डालकर स्वयं साधु बन बैठे हैं। इन्हें पता नहीं है, जिन सामन्तों के हाथों में उस राजपुत्र को सौंपा है, वे उसे मारकर स्वयं राज्य हथिया लेंगे। और ये यहाँ कायर एवं भगोड़े साधु बनकर ध्यान में खड़े हैं।"

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के मन पर पूर्व के प्रशंसात्मक वचनों को सुनकर अपने प्रति रागभाव पैदा हुआ, और बाद के निन्दात्मक वचनों को सुनकर द्वेषभाव की उत्तेजना पैदा हुई। फलतः वे मन ही मन सोचने लगे—"क्या मेरे रहते, मेरे सामन्त मेरे पुत्र से राज्य हथिया लेंगे। मैं अभी उन्हें मार भगाता हूँ।" यों सोचकर मन ही मन उन्होंने युद्ध का उपक्रम कर लिया। शस्त्ररचना कर डाली और घमासान युद्ध छेड़ दिया।

१. आवश्यक कथा से
२. तन्दुलवेयालिय प्रकीर्णक (पइन्ना) से

कुछ ही देर बाद उसी मार्ग से श्रेणिक राजा की सवारी निकली। वे प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यानस्थ देख अत्यन्त प्रभावित हुए और भगवान् महावीर की सेवा में पहुँच कर सबसे पहला प्रश्न किया—"भगवन् ! मुझे तो आपके साधुओं में प्रसन्नचन्द्र राजर्षि उत्तम साधु लगते हैं। अगर वे इस समय कालधर्म को प्राप्त हों तो कहाँ जा सकते हैं, कहाँ उत्पन्न हो सकते हैं?"

परम सर्वज्ञ वीतराग प्रभु ने कहा—"राजन् ! इस समय अगर उनका देहान्त हो तो वे सप्तम नरक में जा सकते हैं।"

आश्चर्यचकित श्रेणिकराज ने पूछा—"भगवन् ! इतने उत्कृष्ट साधु और सप्तम नरक में? कुछ समझ में नहीं आती यह बात!"

भगवान् ने रहस्योद्घाटन करते हुए कहा—"राजन्! तुम उनकी बाह्य मुद्रा और शरीर की निश्चेष्टता को देखकर ही ऐसा सोच रहे हो, किन्तु उनके मन में तो घमासान युद्ध मचा हुआ है। ऐसी स्थिति में मन से भी पंचेन्द्रिय वध का विचार करने से वह सप्तम नरक का अतिथि बन गया है।

इधर प्रसन्नचन्द्र राजर्षि मन ही मन अपने सामन्तों पर स्वमनः-कल्पित शस्त्रों से प्रहार करते-करते खाली हाथ हो गए तो उन्होंने अपना मुकुट फैंकने के लिए हाथ मस्तक पर घुमाया तो एकदम चौंके—"अरे! मैं तो मुण्डित मस्तक साधु हूँ। तीन-करण तीन योग से हिंसा का सर्वथा त्यागी, और यह क्या घोर पापकर्म कर बैठा! कहाँ मैं वीतरागता का पथिक, और कहाँ आज राग-द्वेष के भयंकर जाल में आ फंसा! धिक्कार है मुझे!" इस प्रकार पश्चात्ताप और क्षमायाचना करते-करते शुभ परिणामों की श्रेणी पर पहुँच गए।

उधर श्रेणिकराज ने पुनः प्रश्न किया—"भगवन्! यदि इस समय प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का देहान्त हो तो वे कहाँ जा सकते हैं?"

भगवान् ने कर्मों की गुरुग्रन्थी का विश्लेषण करते हुए कहा—इस समय वे कालधर्म को प्राप्त हों तो सर्वार्थसिद्ध नामक सर्वोच्च देवलोक में जा सकते हैं।

तब तक राजर्षि की पश्चात्ताप धारा इतने तीव्र वेग से प्रवाहित हुई कि जितने भी पापकर्मों का जाल गुंथा था, वे सब छिन्न-भिन्न होकर पुण्यराशि में परिवर्तित हो गए थे। और एक ही झटके के साथ उक्त पुण्यकर्मों को भी काट कर वे शुक्लध्यान की निर्विचार निर्विकल्प क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए। उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। आकाश में देवदुन्दुभियाँ बजने लगीं।

भगवान् से पूछने पर श्रेणिकराज को पता लगा कि प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है। और कुछ ही देर में तो वे देहमुक्त होकर सर्वकर्ममुक्त सिद्ध-बुद्ध परमात्मा बन गए।[१]

यह है, बाहर से वचन और काया से निश्चेष्ट रहकर मन से घोर कर्म करने का, तथा मन से ही उन घोर कर्मों को नष्ट करने का ज्वलन्त उदाहरण!

क्या सभी क्रियाएँ कर्म हैं?

ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न होता है कि जब कोई प्राणी निश्चेष्ट नहीं रह सकता, जो भी देहधारी है, उसे मन से, वचन से और काया से कोई न कोई क्रिया करनी ही पड़ती है, शरीर की आन्तरिक क्रियाएँ, जो स्वाभाविक होती रहती हैं, वे भी शरीरधारी से सम्बन्धित हैं, तथैव शरीरधारी के द्वारा खाना-पीना, चलना-फिरना, श्वास लेना-निकालना, सोना-जागना, उठना-बैठना आदि प्राणधारणार्थ जो आवश्यक क्रियाएँ हैं, वे भी करनी पड़ती हैं, तो क्या सभी क्रियाएँ 'कर्म' कहलाती हैं? यदि सभी क्रियाएँ कर्म कहलाती हैं, तब तो कोई भी मनुष्य यहाँ तक कि तीर्थंकर भी, सर्वज्ञ केवली भी, कर्मबन्ध से बच नहीं सकते, और न ही कर्म-परम्परा से मुक्त हो सकते है? फिर कर्म से रहित अवस्था तो एकमात्र सिद्ध-मुक्त परमात्मा की ही माननी पड़ेगी। संसारस्थ आत्मा, चाहे उच्चकोटि का अप्रमत्त साधक हो, या वीतराग अर्हत्-परमात्मा हो, सभी शरीरगत अनिवार्य क्रियाओं से नहीं बच सकने के कारण किसी न किसी रूप मे कर्म के लपेटे मे आते रहेंगे।

भगवद्गीता मे इसका एक समाधान इस प्रकार किया गया है—"चूंकि देहधारी प्राणी के द्वारा समग्ररूप से समस्त कर्मों का त्याग करना शक्य नहीं है। अतः जो कर्मफल का व फलाकांक्षा का भी त्यागी है, वही वस्तुतः कर्मत्यागी कहा जाता है।"[२]

पच्चीस क्रियाएँ : स्वरूप और विशेषता

इसका दूसरा समाधान यह है कि जैनदर्शन मे मुख्यतया पच्चीस क्रियाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें से २४ क्रियाएँ साम्परायिक हैं और पच्चीसवीं क्रिया ऐर्यापथिक है।

---

१. आवश्यक कथा से

२. नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥ —भगवद्गीता १८/११

चौबीस क्रियाएँ इस प्रकार हैं—(१) कायिकी, (२) आधिकरणिकी, (३) प्राद्वेषिकी, (४) पारितापनिकी, (५) प्राणातिपातिकी, (६) आरम्भक्रिया, (७) पारिग्रहिकी, (८) मायाक्रिया, (९) रागक्रिया, (१०) द्वेषक्रिया, (११) अप्रत्याख्यानक्रिया, (१२) मिथ्यादर्शनक्रिया, (१३) दृष्टिजाक्रिया, (१४) स्पर्शक्रिया, (१५) प्रातीत्यिकी क्रिया, (१६) सामन्तोपनिपातिका, (१७) स्वहस्तिकी, (१८) नैसृष्टिकी, (१९) आज्ञापनिका, (२०) वैदारिणी क्रिया, (२१) अनाभोगक्रिया, (२२) अनाकांक्षा क्रिया, (२३) प्रायोगिकी क्रिया, (२४) सामुदायिकी क्रिया। ये सभी क्रियाएँ रागद्वेषादि युक्त होने से साम्परायिकी कहलाती है।[१]

पच्चीसवीं ऐर्यापथिकी क्रिया है, जो विवेक (यत्नाचारपरायण) एवं अप्रमत्त संयमी व्यक्ति की गमनागमन तथा आहार-विहारादि-चर्यारूप होती है।

साम्परायिक क्रियाएँ ही बन्धनकारक, ऐर्यापथिक नहीं

जैनदर्शन प्रत्येक क्रिया को बन्धनकारक नहीं मानता, जो क्रिया या प्रवृत्ति (मन-वचन-काया का व्यापार) राग-द्वेष-मोह से युक्त होती है, वही बन्धन में डालती है। इसके विपरीत जो क्रिया कषाय एवं आसक्ति (रागादि) से रहित होकर की जाती है, वह वन्धनकारक नहीं होती। अतः बन्धन की अपेक्षा से क्रियाओं को दो भागों में वांटा गया है—साम्परायिक क्रियाएँ और ईर्यापथिक क्रियाएँ।

क्रिया से कर्म का आगमन अवश्य, पर सभी कर्म बन्धनकारक नहीं

इसलिए जब तक शरीर है, और शरीर से सम्बद्ध वचन और मन है; तथा इन्द्रियाँ और अंगोपांग हैं, तब तक कोई न कोई क्रिया या प्रवृत्ति होना अनिवार्य है। और यह भी सत्य है कि क्रियाओ से कर्म आते हैं। परन्तु वे सभी कर्म बन्धन में डालते हैं, ऐसा नहीं होता।[२] इस सम्बन्ध में सम्यक् विवेक करने हेतु जैन-जगत् में एक सूत्र प्रचलित है—

'क्रियाए कर्म, उपयोगे धर्म, परिणामे बंध'

इसका भावार्थ है—"क्रिया से कर्म आते हैं, उपयोग (शुद्धोपयोग) से धर्म होता है, और कर्मबन्ध परिणामों (रागादि शुभाशुभ भावों) पर आधारित है।"

गीता के दृष्टिकोण के अनुसार जैनदर्शन भी यह स्वीकार करता है, जब तक जीवन है, तब तक शरीर से सर्वथा निष्क्रिय (योगजनित व्यापार से

१. व्याख्या-प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र श.३ उ.३ सू.१५० से १५३

२. जैनकर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश उद्धृत पृ.

रहित) नहीं रहा जा सकता। सर्वथा अक्रिय अवस्था चौदहवें गुणस्थान में होती है, उससे पहले तक, यहाँ तक कि तेरहवें गुणस्थान तक कोई न कोई क्रिया अवश्य रहती है। मानसिक वृत्ति के साथ ही शारीरिक एवं वाचिक क्रियाएँ भी चलती रहती हैं, और क्रिया के फलस्वरूप कर्मों का आगमन (आस्रव) भी होता है। किन्तु रागादियुक्त या कषाययुक्त प्राणियों की क्रियाओं के द्वारा होने वाले कर्मास्रव और कषायवृत्तिरहित वीतराग दृष्टिसम्पन्न व्यक्तियों की क्रियाओं के द्वारा होने वाले कर्मास्रव में बहुत ही अन्तर है। कषाययुक्त प्राणियों की प्रत्येक क्रिया साम्परायिकी होती है, जबकि कषायरहित व्यक्तियों की प्रत्येक क्रिया होती है, ऐर्यापथिकी।[1]

इसी तथ्य को व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में व्यक्त किया गया है— "साम्परायिकी क्रिया सकषायी और उत्सूत्री (सूत्र—सिद्धान्तविरुद्ध प्ररूपण, आचरण) करने वाले को लगती है जबकि इर्यापथिकी क्रिया अकषायी एवं ससूत्री (सूत्रानुसार प्ररूपण आचरण करने वाले) साधकों को लगती है"।[2] वहाँ यह भी बताया गया है कि महाव्रती श्रमण निर्ग्रन्थ भी यदि ज्ञान-दर्शनादि साधना या महाव्रतादि आचरण की क्रिया में प्रमाद करते हैं या कषाययुक्त प्रवृत्ति करते हैं तो उक्त योग एवं प्रमाद से उनके भी साम्परायिक क्रियाएँ लगती हैं[3]।

कर्म और अकर्म की फलित परिभाषा

पूर्वोक्त दोनों क्रियाओं के फल में अन्तर यह है कि—दोनों क्रियाओं से कर्मों का आस्रव होते हुए भी साम्परायिक क्रिया से होने वाला कर्मास्रव बन्धनकारक होता है। कषायसहित क्रियाओं से होने वाला साम्परायिक कर्म कहलाता है, जो आत्मा के स्वभाव को आवृत करके उसमें विभाव उत्पन्न करता है। किन्तु जो क्रिया कषायवृत्ति से ऊपर उठे हुए वीतरागदृष्टिसम्पन्न व्यक्तियों द्वारा होती है, उससे होने वाला कर्म ईर्यापथिक कहलाता है, वह कर्म बन्धनकारक नहीं होता है। जिस प्रकार मार्ग की धूल के सूखे कण पहले समय में सूखे वस्त्र पर लगते हैं और दूसरे ही क्षण (समय) में गति के साथ ही वे वस्त्र से अलग होकर झड़ जाते हैं; उसी प्रकार उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार, "ज्यों ही चार घातिकर्म क्षय करके साधक सयोगी केवली होता है, त्यों ही प्रथम समय में कर्मबद्ध होता

१. 'सकषायाऽकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः।' —तत्त्वार्थसूत्र अ. ६, सू. ५

२. (क) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र श. ८ उ. ८ सू. ३४१-३४२

(ख) वही, श. ७ उ. १, सू. २६७

३. व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र (मण्डितपुत्र-प्रश्न का उत्तर) श. १ उ. ३.

है, द्वितीय समय में उसका वेदन होता है और तृतीय समय में वह निर्जीर्ण होकर झड़ जाता है। और तत्काल वह अकर्मा हो जाता है। कर्म का सुखस्पर्श केवल दो समय तक रहता है।"[1]

वस्तुतः उक्त दोनों प्रकार की क्रियाओं में जो आस्रव के साथ बन्ध का कारण है, उससे होने वाला कर्म स्थिति और अनुभाव बन्ध पूर्वक उदय में आने पर शुभाशुभ फल प्रदान करने वाला होता है, जबकि जो क्रिया अकषायी वृत्ति द्वारा होती है, उससे होने वाला कर्म प्रकृति और प्रदेशोदयरूप होता है। बन्धकारक न होने से ऐसी (ऐर्यापथिकी) क्रिया संवर (कर्म-निरोध) एवं निर्जरा (कर्म के आंशिकक्षय) का कारण बनती है। रागद्वेषादियुक्त न होने से ऐसा कर्म कर्त्ता के चिपकता नहीं, वह नाममात्र का कर्म है। ऐसे कर्म को '**अकर्म**' की कोटि में परिगणित किया गया है। निष्कर्ष यह है कि बन्धक कर्मों को 'कर्म' और अबन्धक कर्मों का 'कर्म' होते हुए भी "**अकर्म**" कहा गया।

बन्धक-अबन्धक कर्म का आधार बाह्य क्रियाएँ नहीं

बन्धक कर्म और अबन्धक कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है, अपितु वह कर्त्ता के परिणाम, मनोभाव अथवा विवेक-अविवेक पर निर्भर है। यदि कर्ता के परिणाम रागादियुक्त नहीं हैं, शारीरिक क्रियाएँ भी अनिवार्य तथा संयमी जीवन यात्रार्थ अप्रमत्त होकर यत्नाचारपूर्वक की जा रही हैं, अथवा शारीरिक क्रियाओं से अतिरिक्त निरपेक्ष भाव से स्व-पर-कल्याणार्थ प्रवृत्तियाँ की जा रही हैं, या कर्मक्षय (निर्जरा) के हेतु ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप की अप्रमत्तभाव से साधना की जाती है, तो उससे होने वाले कर्म राग-द्वेष से रहित होने से बन्धनकारक नहीं होते, इसलिए अकर्म हैं। इसी दृष्टि से सूत्रकृतांगसूत्र में "प्रमाद को 'कर्म' और अप्रमाद को 'अकर्म' कहा गया है।" प्रमाद में कषाय, विषयासक्ति, विकथा, असावधानी, अयत्ना, मद आदि सभी का समावेश हो जाता है। तीर्थंकरों तथा वीतराग पुरुषों की संघ प्रवर्तन आदि लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ भी

---

१. "जाव सजोगी (केवली) भवइ, ताव ईरियावहियं कम्मं निबंधइ, सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं, बिइय समए वेइयं, तइय समए निज्जिण्णं। तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मया च भवइ।"

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९/७१ वाँ बोल

अकर्म की कोटि में आती हैं। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में "ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सम्यक् आचरण— अप्रमत्ततापूर्वक रागादिरहित आचरण को मोक्ष (कर्मों से मुक्त होने का) मार्ग कहा गया है।"[१]

संक्षेप में वे सभी क्रियाएँ, जो आस्रव एवं बन्ध की कारण हैं, कर्म हैं, और वे समस्त क्रियाएँ जो बहुधा संवर और निर्जरा की कारण हैं, वे अकर्म हैं।

अबन्धकारक क्रियाएँ भी रागादि पूर्वक कषाययुक्त होने से बन्धक हो जाती हैं

'कर्मणा बध्यते-जन्तुः' (कर्म प्राणी को बांधता है) महाभारत (शान्तिपर्व २४०) की यह उक्ति अक्षरशः सत्य नहीं है। उसका कारण यह है कि सभी कर्म या क्रिया एक-सी नहीं होती। बन्धन की अपेक्षा से उनमें अन्तर होता है। क्रिया एक सरीखी होते हुए भी कोई कर्मबन्धकारक नहीं होती, कोई कर्मबन्धकारक होती है। इसलिए कौन-सा कर्म बन्धन-कारक है, कौन-सा नहीं ?; इसका निर्णय केवल क्रिया के आधार पर से नहीं होता।

जैनदर्शन इसका निर्णय कर्ता के भावों, परिणामो, तथा उस क्रिया के प्रयोजन—उद्देश्य के आधार पर करता है। मान लीजिए, एक साधक अहिंसा-सत्यादि महाव्रतों का पालन कर रहा है, अथवा बाह्य तथा आभ्यन्तर द्विविध तपस्या कर रहा है, सेवा (वैयावृत्य) कर रहा है, पांच समिति, तीन गुप्ति का पालन भी कर रहा है, धार्मिक क्रियाएँ भी कर रहा है, परन्तु इन सबके पीछे उसकी दृष्टि एवं वृत्ति सम्यक् नही है, या कषायरहित नहीं है, अथवा उसका उद्देश्य उत्कृष्टाचारी, क्रियापात्र, या इसी प्रकार की किसी प्रतिष्ठा-अर्जन करने का है, अथवा अपने अनुयायियों या भक्तों की संख्या बढ़ाकर उनसे उत्तमोत्तम वस्त्र, पात्र, उपकरण अथवा सरस स्वादिष्ट आहार आदि वस्तुएँ प्राप्त करने की आन्तरिक इच्छा है, अथवा उत्कृष्टाचार-विचार बताकर या उत्कृष्ट तपश्चरण या उत्कृष्ट क्रियाओं का प्रदर्शन करके अपने तथाकथित सम्प्रदाय या मत-पथ-मार्ग का वर्चस्व एव यशोवर्धन करने की ललक है, अथवा सम्पन्न भक्तों को प्रभावित एवं आकृष्ट करके अपने शिष्य-शिष्याओं की शिक्षा-दीक्षा में तथा अन्य उत्सव-समारोहादि आडम्बरो में उनसे अर्थ-व्यय कराने की अव्यक्त इच्छा

१. (क) जैनकर्म सिद्धान्त : एक तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश उद्धृत पृ. ५४

(ख) "पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहाऽवरं।" —सूत्रकृतांग १/८/३

(ग) नाणं च दसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गेत्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र २८/२

है, तो पूर्वोक्त कर्म-अबन्धक कहलाने वाली साधनात्मक क्रियाएँ भी 'अकर्म' के बदले 'कर्म' में ही परिगणित होंगीं।

साधनात्मक क्रियाएँ भी 'अकर्म' के बदले 'कर्म' रूप बन जाती हैं, कब और क्यों?

अगर ऐसी साधनात्मक क्रियाएँ भी इहलौकिक पद, प्रतिष्ठा, कीर्ति, सम्पत्ति, सरस आहार आदि किसी भी वस्तु की प्राप्ति की कामना से प्रेरित होकर की जा रही हैं, अथवा महाव्रतादि या रत्न-त्रय की साधना भी प्रशस्त रागवश की जा रही है, तो भी कर्मक्षय करने वाली ये क्रियाएँ कर्मबन्धक हो जाएँगी। अर्थात्—वे 'अकर्म' न कहला कर 'कर्म' कहलाएँगी। भले ही वे क्रियाएँ शुभ होने से शुभकर्म (पुण्य) बन्धक हों। दशवैकालिक सूत्र में कर्मक्षय (निर्जरा) कारक अकर्मरूप तपश्चरण तथा कर्ममुक्ति के लिए साधक सम्यग्ज्ञान आदि पंचविध आचार[1] अथवा रत्नत्रयरूप धर्माचरण के लिए स्पष्ट कहा गया है कि इहलौकिक या पारलौकिक कामनापूर्ति के लिए तथा कीर्ति, वाहवाही, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, प्रशस्ति, प्रसिद्धि आदि की दृष्टि से कोई भी तपश्चरण, पंचविध सम्यक् आचार का अनुष्ठान या सद्धर्माचरण मत करो; उसे एकमात्र निर्जरा (आत्मशुद्धिकर्मक्षय) के लिए अथवा वीतरागता के हेतु से करो। अन्यथा ऐसा तपश्चरण या धर्माचरण कर्मक्षयकारक होने की अपेक्षा कर्मबन्धकारक हो जाएगा।[2] सूत्रकृतांगसूत्र मे भी बताया गया है कि "योग्यरीति से किया हुआ कर्मक्षय का कारणभूत तप भी यदि यश-कीर्ति की इच्छा से किया जाता है तो वह शुद्ध कर्म (अकर्म) की कोटि में नहीं होगा।"[3]

अकर्म भी कर्म और कर्म भी अकर्म हो जाता है, कब और कैसे?

चूंकि ये और इस प्रकार के शुद्ध कहलाने वाले कर्म भी प्रशस्त रागयुक्त होने से शुद्धोपयोगयुक्त नहीं होते। यही कारण है कि कर्मक्षयकारक कहलाने वाले शुद्ध कर्म (अकर्म) समानरूप से किये जाने पर भी वे सम्यग्दृष्टि के "शुद्धपयोगमूलक और मिथ्यादृष्टि के लिए निदान-रूप फलाकांक्षा मूलक होने से पृथक्-पृथक् कोटि के हो जाते हैं।"

---

१. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार।

२. (क) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्न-सद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा ॥

(ख) नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नो कित्तिवन्न-सद्दसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेउहिं आयारमहिट्ठिज्जा ॥

—दश वै. ९/४/४-५

३. सूत्रकृतांग श्रु. १ अ. ८ गा. २२-२४

इसलिए जो कर्म, क्रिया, प्रवृत्ति या आचरण शुद्ध तथा अबन्धकारक माने जाते हैं, वे एक समान किये जाने पर भी कर्ता के मनोभावों की अपेक्षा से बन्धक-अबन्धक रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। सूत्रकृतांग-सूत्र में स्पष्टरूप से बताया गया है कि जो ज्ञानी (प्रबुद्ध या अप्रमत्त—जागृत) महाभाग हैं, वीर हैं, सम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका वह पराक्रम—पुरुषार्थ या आचरण शुद्ध है, क्योंकि वह सर्वथा फलाकांक्षा रहित है। किन्तु इसके विपरीत जो अबुद्ध (अजागृत, प्रमत्त या अज्ञ) हैं, महान् भाग्यवान् (पुण्यशाली) हैं, वीर भी हैं, किन्तु असम्यक्दर्शी हैं, उनका वह पराक्रम आचरण या पुरुषार्थ अशुद्ध है, क्योंकि वह सर्वतः फलाकांक्षायुक्त है।

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कर्मवीरता दिखाते हुए चाहे समानरूप से कर्म (आचरण) करते हुए दिखाई देते हों, परन्तु उनके पीछे दृष्टि में सम्यक्त्व-असम्यक्त्व का अन्तर होने से एक का वह पुरुषार्थ शुद्ध (कर्म-अबन्धक) होता है और दूसरे का होता है—अशुद्ध (कर्म बन्धक)।

आशय यह है कि ज्ञान और बोध से युक्त व्यक्ति अप्रमत्त होकर कषायरहित वृत्ति से एकमात्र निर्जरा (कर्मक्षय) या संवर (कर्मनिरोध) की दृष्टि से पराक्रम करता है तो उसका वह पराक्रम अशुद्ध तथा कर्मबन्ध-कारक नहीं होता, उसे उसका कुछ भी फल भोगना नही पड़ता, जबकि अज्ञानी और सम्यक्बोध से रहित वृत्ति का पराक्रम सकाम—कामनायुक्त होने से निर्जरा एवं संवर से रहित होता है, इस कारण वह पराक्रम अशुद्ध और कर्मबन्धकारक होता है, उसका फल उसे सर्वथा भोगना पड़ता है।[१]

इसलिए बन्धन-अबन्धन की दृष्टि से कर्म-अकर्म का विचार उसके बाह्य रूप के आधार पर नही किया जा सकता, उसके पीछे कर्ता की दृष्टि, प्रयोजन, परिणाम (भाव), देश-कालगत परिस्थितियाँ एवं विवेक को भी देखा जाता है। इसी कारण भगवद्गीता मे कहा गया है—"कौन-सा कर्म (बन्धक कर्म) है और कौन-सा अकर्म (अबन्धक कर्म) है? इस विषय में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।"[२] अतः किसी कर्म, आचरण, प्रवृत्ति या पुरुषार्थ को ऊपर-ऊपर से देखकर यथार्थ निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वह कर्म बन्धनकारक है या अबन्धक?

---

१. जे य बुद्धा महाभागा वीरा सम्मत्तदंसिणो,
सुद्धं तेसिं परक्कन्तं अफलं होइ सव्वसो।
जेयाऽबुद्धा महाभागा वीराऽसमत्तदंसिणो,
'अशुद्ध' तेसिं परक्कतं सफलं होइ सव्वसो॥ —सूत्रकृतांग श्रु. १, अ. ८/२३-२४

२. (क) 'किं कर्म, किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।' —भगवद्गीता ४/१६
(ख) जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) के भावांश उद्धृत।

इस सम्बन्ध में गीता और जैनदर्शन दोनों एकमत हो जाते हैं। आचारांग और सूत्रकृतांग में भी कर्म और अकर्म की, अर्थात्—बन्धक और अबन्धक कर्म की भिन्नता स्पष्ट रूप से बताई गई है।

आस्रव संवररूप और संवर आस्रवरूप हो जाते हैं : क्यों और कैसे ?

आचारांग सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि जो आस्रव (कर्मों के आगमन और बन्ध के कारण) हैं, वे परिस्रव (संवर-कर्मों के निरोध एवं निर्जरा के कारण) हो जाते हैं, इसके विपरीत जो परिस्रव (संवर) हैं, वे आस्रव भी हो जाते हैं।"[१]

इन दोनों सूत्रों का आशय यह है कि जो आस्रव एवं बंध के स्थान या निमित्त हैं, वे व्यक्ति की आत्मजागृति, संवर एवं निर्जरा (कर्म के अंशतः क्षय) के भावो को लेकर संवर एवं निर्जरा के कारण या निमित्त बन जाते हैं, इसके विपरीत जो संवर और निर्जरा के स्थान, कारण या निमित्त हैं, वे भी व्यक्ति (कर्त्ता) के कषायादि या रागादि भावो को लेकर आस्रव एवं बन्ध के कारण, निमित्त या स्थान बन जाते हैं।

उदाहरणार्थ—दो मित्र एक अपरिचित नगर में पहुँचते हैं। उनमें से एक ने सुना कि इस नगर में जैन-धर्मस्थानक है, वहाँ साधु-मुनिराज विराजमान हैं। उसने अपने मित्र से कहा—"मैं मुनिवर का प्रवचन सुनने स्थानक में जाऊँगा। उनके सरस सुन्दर प्रवचन सुनूँगा।" दूसरे ने कहा—"मैं मुनिराज का नीरस प्रवचन सुनने नहीं जाऊँगा। मैं तो वेश्या की महफिल मे जाऊँगा, वहाँ सरस रोचक गीत सुनूगाँ, नृत्य देखूगां।"

दोनों मित्र अपने-अपने मनोनीत स्थल पर पहुँच जाते हैं। परन्तु मुनिराज का प्रवचन सुनने वाला व्यक्ति थोड़ी ही देर में ऊब गया और सोचने लगा—"मैं कहाँ आ फंसा? यहाँ रूखा-सूखा नीरस विषय है! मेरा मित्र वेश्या के सरस नृत्य-गीत का दर्शन-श्रवण कर रहा होगा। मैं भी वहाँ जाता तो अच्छा रहता।"

किन्तु वेश्या की महफिल में पहुँचने वाला मित्र वेश्या के नृत्य-गीतो को देख-सुनकर झुँझला उठता है। सोचता है—"मैं कहाँ इस कुटिल और धनलोलुप कामिनी के यहाँ आ फंसा। यह विषय सरस होते हुए भी मनुष्य को विषयासक्ति के अशुभ भावों में उत्तेजित करके पाप की खाई में पटकने वाला है। मेरा मित्र मुनिराज के सरस व्याख्यान सुनकर शुद्ध भावों में डूब रहा होगा। मैं आज संवर और निर्जरा के शुद्ध भावो से वंचित रहा।"

---

१. "जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा।"

—आचारागसूत्र श्रु. १, अ. ४ उ. २

इस दृष्टान्त में एक मित्र संवर निर्जरा के स्थान में जाकर भी आस्रव एवं बन्ध के उत्पादक कर्म बांध लेता है, जबकि दूसरा मित्र आस्रव और बन्ध के स्थान में जाकर भी संवर और निर्जरा का उपार्जन कर लेता है। दोनों के समक्ष मनोनीत (संवर एवं आस्रव के अनुकूल) निमित्त को पाकर भी विपरीत भावों को लेकर कर्मबन्ध और कर्मक्षय कर लेते हैं।

स्थूलिभद्र मुनि अपनी पूर्वपरिचित कोशा वेश्या के (पापरूप) आस्रव एवं बन्ध के निमित्त-भूत स्थान में चातुर्मास व्यतीत करके भी संवर और निर्जरा का उपार्जन कर लेते हैं।

इसीलिए कहा गया है कि कर्म भी अकर्म हो जाता है, और अकर्म भी कर्मरूप हो जाता है। वस्तुतः किसी भी क्रिया, प्रवृत्ति या आचरण का बन्धकत्व मात्र क्रिया के घटित होने में नहीं, वरन् उसके पीछे रहे हुए मन्द-तीव्र कषायभावो तथा राग-द्वेषादि मन्दता-तीव्रता पर निर्भर है। तथैव अबन्धकत्व निर्भर है—कषाय एवं आसक्ति से रहित या वीतरागता की दृष्टि से युक्त होकर किये गए कर्म या क्रिया (प्रवृत्ति) पर।[1]

कर्म का अर्थ केवल सक्रियता और अकर्म का केवल निष्क्रियता नहीं

जैनदृष्टि एवं गीता की दृष्टि मे कर्म का अर्थ केवल सक्रियता या प्रवृत्तिमात्र नहीं है, और न ही अकर्म का अर्थ—निष्क्रियता या एकान्त निवृत्ति। सूत्रकृतांगसूत्र मे इस एकान्तवाद का निराकरण करते हुए कहा गया है—"कुछ लोगो का कथन है—कर्म (एकान्त प्रवृत्ति या सक्रियता) ही पुरुषार्थ (वीर्य) है, जबकि कुछ लोग कहते हैं—अकर्म (एकान्तनिवृत्ति-निष्क्रियता) ही पुरुषार्थ (वीर्य) है।" इसका तात्पर्य यह है कि अधिकांश विचारको की दृष्टि में सक्रियता या एकान्त प्रवृत्ति ही नैतिकता है, पुरुषार्थ है; जबकि कुछ लोगों की दृष्टि मे एकान्त निवृत्ति या निष्क्रियता ही नैतिकता या पुरुषार्थ है। किन्तु भगवान् महावीर की दृष्टि में ये दोनों ही एकान्तवाद हैं, मिथ्यादर्शन रूप हैं, अशुद्ध पुरुषार्थ (पराक्रम या वीर्य) है।[2]

कर्म का अर्थ केवल प्रवृत्ति नहीं, अकर्म का अर्थ निवृत्ति नहीं

इस सम्बन्ध मे गाधीवादी प्रसिद्ध विचारक स्व. किशोरलाल मश्रुवाला के विचार मननीय हैं—"......'शरीर, वाणी और मन की क्रियामात्र कर्म है';

---

१. (क) पूज्य आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. के व्याख्यान (जवाहर किरणावली) से भावार्थ उद्धृत।

(ख) जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश उद्धृत।

२. (क) वही (डॉ. सागरमल जैन) भावांश

(ख) सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १, अ. ८, गा. १-२

यदि कर्म का हम यह अर्थ लेते हैं तो जब तक देह है, तब तक कोई भी मनुष्य कर्म करना बिलकुल छोड़ नहीं सकता। कथाओं में आता है—उस तरह कोई मुनि चाहे तो वर्षभर तक निर्विकल्प समाधि में निश्चेष्ट होकर पड़ा रहे, परन्तु जिस क्षण वह उठेगा (समाधि खोलेगा) उस क्षण वह कुछ न कुछ कर्म अवश्य करेगा। इसके अलावा हमारी कल्पना ऐसी हो कि हमारा व्यक्तित्व देह से परे जन्म-जन्मान्तर पाने वाला जीवरूप है, तब तो देह के बिना भी वह क्रियावान रहेगा। यदि कर्म से निवृत्त हुए बिना कर्मक्षय (अकर्म) न हो सके तो उसका यह अर्थ हुआ कि कर्मक्षय होने की कभी भी सम्भावना नहीं है।"[1]

कर्म, विकर्म और अकर्म (शुद्ध कर्म) की अव्यक्त झाँकी

कर्म, विकर्म और अकर्म की अव्यक्तरूप से झाँकी देते हुए वे लिखते हैं—"इसलिए निवृत्ति अथवा निष्कर्मता (अकर्मता) का अर्थ स्थूल निष्क्रियता समझने में भूल होती है। निष्कर्मता (अकर्मता) सूक्ष्म वस्तु है। वह आध्यात्मिक अर्थात्—बौद्धिक-मानसिक-नैतिक-भावनाविषयक और इससे भी परे बोधात्मक (संवेदनात्मक—ज्ञाताद्रष्टाभावात्मक) है। क, ख, ग, घ नाम के चार व्यक्ति, प, फ, ब, भ, नाम के चार भूखे आदमियों को एक-सा अन्न देते है। चारों बाह्य कर्म करते हैं और चारों को समान स्थूल तृप्ति होती है। परन्तु सम्भव है—'क' लोभ से देता हो, 'ख' तिरस्कार से देता हो, 'ग' पुण्येच्छा से देता हो और 'घ' आत्मभाव से स्वभावतः देता हो। उसी तरह 'प' दुःख मानकर लेता हो, 'फ' मेहरबानी मानकर (हीन भावना से) लेता हो, 'ब' उपकारक भावना से लेता हो, 'भ' मित्रभाव से लेता हो। अन्नव्यय और क्षुधा तृप्ति रूपी बाह्य फल सबका समान होने पर भी इन भेदों के कारण कर्म के बन्धन और क्षय की दृष्टि से बहुत फर्क पड़ जाता है। लोभ या अहंकार या तिरस्कार से देने वाले और दुःख मानकर या स्वयं को हीन मानकर लेने वाले दाता और आदाता का अशुभ कर्म (विकर्म) का बन्ध, पुण्येच्छा से देने वाले तथा उपकारक भावना से लेने वाले दाता व आदाता को शुभकर्म (कर्म) का बन्ध, एवं आत्मभाव से स्वभावतः देने वाले दाता और मित्रभाव से लेने वाले आदाता का कर्मक्षय (अकर्म) है।

उसी तरह क ख ग घ से प फ ब भ अन्न मांगें और चारों व्यक्ति भोजन न करावें, तो इसमें कर्म से समान परावृत्ति है और चारों की स्थूल भूख पर इसका समान परिणाम होता है, फिर भी भोजन न कराने या न

---

१. जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में कि. घ. मश्रुवाला के प्रकाशित लेख से पृ. २५०

पाने के पीछे रही हुई बुद्धि, भावना, नीति, संवेदना इत्यादि भेद से इस कर्मपरावृत्ति से कर्म के बन्धन और क्षय एक-से नहीं होते।"[१]

".........परावृत्ति का अर्थ निवृत्ति नहीं, अपितु वर्तन का अभाव है। वृत्ति या वर्तन का अर्थ भी प्रवृत्ति नहीं, अपितु केवल बरतना है। प्रवृत्ति का अर्थ है—विशेष प्रकार के आध्यात्मिक भावों से बरतना, तथा निवृत्ति का अर्थ है—वृत्ति तथा परावृत्ति सम्बन्धी प्रवृत्ति से भिन्न प्रकार की विशिष्ट आध्यात्मिक संवेदना।"[२]

भ. महावीर की दृष्टि में : प्रमाद कर्म, अप्रमाद अकर्म

भगवान् महावीर की दृष्टि में, कर्म का अर्थ—शरीरादि चेष्टा मात्र या प्रवृत्ति मात्र नहीं है और न ही अकर्म का अर्थ—शरीरादि का अभाव या एकान्त निवृत्ति है। 'सूत्रकृतांगसूत्र' में भगवान् महावीर के कर्म और अकर्म के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है कि "प्रमाद को ही 'कर्म' (बन्धक कर्म) कहा गया है, तथा अप्रमाद को 'अकर्म' (अबन्धक कर्म) कहा है।"

इसका फलितार्थ यह है कि कर्म केवल सक्रियता या प्रवृत्तिमात्र नही है, किन्तु किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया के पीछे अजागृति, प्रमत्तदशा या आत्मस्वरूप के भान का अभाव होना कर्म है, इसी प्रकार अकर्म का अर्थ एकान्तनिवृत्ति या निष्क्रियता नही, अपितु प्रवृत्ति या निवृत्ति के साथ सतत जागृति, अप्रमत्तदशा, अथवा आत्म-स्वरूप का भान है।

आशय यह है कि अप्रमत्तदशा में या आत्मजागृति के साथ की हुई क्रिया या सक्रियता (प्रवृत्ति) भी अकर्म हो सकती है, जबकि प्रमत्तदशा या आत्मजागृति के अभाव में की हुई निवृत्ति या निष्क्रियता भी कर्म (कर्मबन्धक) हो सकती है।"

इसीलिए 'आचाराग सूत्र' मे कहा गया है—"प्रमत्त को (वीतराग परमात्मा की आज्ञा से—आत्मस्वरूप के भान से) बाहर देख (समझ)। अतः अप्रमत्त होकर सदा पराक्रम (पुरुषार्थ) कर; (यही अकर्म) है।"

एकान्त निष्क्रियता को अकर्म मानने में दोषापत्ति

अगर एकान्त निष्क्रियता को ही अकर्म कहा जाएगा तो मृत प्राणी या पृथ्वीकायादि पाच प्रकार के स्थावर जीव स्थूलदृष्टि से निष्क्रिय होने से उनकी निष्क्रियता या निवृत्ति को 'अकर्म' कहना पड़ेगा, जो कर्म-सिद्धान्त से सम्मत नही है। जैनसिद्धान्त यह है कि आत्मा निश्चयदृष्टि से अविनाशी और अविनश्वर है। इसलिए स्थूल शरीर चाहे छूट जाए, सूक्ष्म

१. जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में कि. घ. मश्रुवाला के प्रकाशित लेख से पृ. २५१
२. वही, पृ. २५१

एवं सूक्ष्मतर (तैजस और कार्मण) शरीर तो जीव (आत्मा) के साथ जन्म-जन्मान्तर तक और तब तक रहते हैं, जब तक वह कर्मों से मुक्त नहीं हो जाता।[1]

सकषायी जीव हिंसादि में अप्रवृत्त होने पर भी पापकर्मफलभागी

इसी दृष्टि से 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में कहा गया है कि कोई व्यक्ति निष्क्रिय अवस्था में है, कुछ भी चेष्टा नहीं कर रहा है, किन्तु रागादि के वश है, उसके जीवन में शुद्धोपयोग नहीं है, और न ही वह हिंसादि पापों से किंचिद् भी विरत (निवृत्त) या विरक्त है, ऐसा व्यक्ति बाह्यरूप से हिंसादि न करता हुआ भी हिंसादि पाप-कर्म के फल का भागी बन जाता है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति प्रवृत्ति करने से पहले कषाययुक्त होकर हिंसादि कर्म करने में प्रवृत्त होता है, इसके पश्चात् उस प्राणी की हिंसा हो या न हो, उसने अपनी आत्मा की तो भावहिंसा कर ली।

'भगवती सूत्र' मे वर्णन आता है कि एक शिकारी किसी मृग आदि पर बाण (शस्त्र) चलाता है, किन्तु दैवयोग से बाण उस पर नहीं लगता। ऐसी स्थिति मे वह प्राणी भले ही उसके बाण से न मरा हो, न ही घायल हुआ हो फिर भी उस शिकारी (व्यक्ति) के प्राणातिपातरूप साम्परायिकी क्रिया लग चुकी। फलतः बाहर से निष्क्रियता की स्थिति होने पर भी उसे प्राणातिपात (हिंसा) की क्रिया लग जाती है और पाप कर्म का बंध भी होता है।[2]

---

१. (क) "पमाय कम्ममाहंसु अप्पमाय तहावरं।" —सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १ अ. ८ गा. ३

(ख) "पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते तया परिक्कमिज्जासि।"

—आचारांग सूत्र श्रु. १ अ. ४ उ. १

(ग) जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावार्थ उद्धृत पृ. ४९

२. (क) व्युत्थानावस्थाया रागादीनां वशप्रवृत्तायां
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवे हिंसा॥४६॥
यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनाऽऽत्मानम्।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥५१॥
अविधायाऽपि हिंसां, हिंसाफल-भाजनं भवत्येकः।
कृत्वाऽप्यपरो हिंसा, हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥४५॥
युक्ताचरणस्य सतो, रागाद्यावेशमन्तरेणाऽपि।
न हि भवति जातु हिंसा, प्राण-व्यपरोपणादेः॥४५॥

—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४६, ४७, ५१, ४५

(ख) व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र श. १ उ. ८ सू. ६५ से ६९

सक्रियतामात्र कर्म नहीं, वह अकर्म भी : क्यों और कैसे ?

इसी प्रकार सक्रियता (प्रवृत्तिमात्र या यावत्कार्य) को भी कर्म मानना युक्ति और जैनकर्म-सिद्धान्त से विरुद्ध है। यदि इस प्रकार प्रवृत्तिमात्र, यावत् कार्य या क्रिया को कर्म-हेतुक या कर्मबन्धक माना जाएगा तो वीतरागकेवली भगवान् या तीर्थंकरों के भी कर्मबन्ध होने लगेंगे। फिर तो वीतरागदृष्टि से तथा अकषायवृत्ति से युक्त अप्रमत्त साधक या तीर्थंकर अथवा केवली भगवान् से होने वाली क्रिया या प्रवृत्ति को भी 'बन्धक कर्म' वाली कहनी पड़ेगी। जबकि सिद्धान्तानुसार वीतराग सयोगी केवली, तीर्थंकर आदि को सशरीरी (सदेह) होने के कारण साम्परायिकी क्रिया नहीं लगती, सिर्फ ईर्यापथिकी क्रिया लगती है। साम्परायिकी क्रिया तो उन्हें तब लगती, जब वे कषाययुक्त या रागादियुक्त होते। साम्परायिकी क्रिया ही कर्मबन्ध का कारण है, ईर्यापथिकी क्रिया नहीं। अतः सदेह वीतराग केवली तथा तीर्थंकर द्वारा सर्वथा कर्ममुक्त न होने तक आहार-विहार, उपदेश, वार्तालाप, दीक्षा-प्रदान, तपस्या, महाव्रत-पालन, तीर्थंकर स्थापित चतुर्विध संघ के श्रेय के लिए अनिवार्य कर्तव्य, तथा संयम आदि अनेक आवश्यक कार्य होते हैं; किन्तु वे ऐर्यापथिक क्रिया जनित शुभकर्मास्रव बन्धनकारक नहीं होते, क्योंकि केवल अप्रमत्त एवं कषायरहित योगो से होते हैं; प्रमाद तथा कषाययुक्त योगों से नहीं। अतः सक्रियता (प्रवृत्ति) होने पर भी वह कर्म बन्धकारक नहीं होती।

व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि ईर्या (दैनिक चर्या; ईर्यासमिति) शोध कर चलते हुए भावितात्मा साधु के पैर के नीचे आकर यदि कोई जीव मर जाता है, तो उक्त साधु को ईर्यापथिकी क्रिया लगती है, साम्परायिकी नहीं। अर्थात्—उसकी वह क्रिया प्रमाद एवं कषाययुक्त योग से नहीं होती। इसलिए कर्मबन्धक नही होती। कर्मबन्धक न होने के कारण, वह कर्म होने पर भी 'अकर्म' कहलाती हैं। बल्कि वीतराग-अवस्था में हुई समस्त क्रियाएँ संवर और निर्जरा की कारण होने से भी 'अकर्म' की कोटि मे आती हैं।[१]

इसीलिए सूत्रकृतांग सूत्र में कहा गया है—अज्ञानी पुरुष कर्म (विविध पुण्य कर्मों के अनुष्ठान के साथ रागादि या कषायादि का मैल मिल जाने) से कर्मक्षय नहीं कर पाते; जबकि ज्ञानी धीर पुरुष अकर्म (कर्मबन्धरहित संवर निर्जरा-रूप कार्यों) से कर्म का क्षय कर डालते है।[२]

---

१. व्याख्या-प्रज्ञप्तिसूत्र श. ७ उ. १, श. ८ उ. ८, तथा श. १७ उ. १, एवं १८/८

२. (क) वही, श. ६ उ. ९, सू. १५२ तथा १६/३/५७०

(ख) "न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।"

—सूत्रकृतांग सूत्र १/१२/१५

यावत्कर्म को कर्म मानना न्यायसंगत नहीं, अयुक्तिक भी

अतः नैयायिकों का यह कथन भी जैनकर्मसिद्धान्त-सम्मत नहीं है कि कार्य मात्र के प्रति कर्म साधारण कारण है। नैयायिक दर्शन जीवात्मा को व्यापक मानकर कर्म को जीव-निष्ठ मानता है। उसका कहना है—कर्म जीव का एक गुण है। गुण गुणी (आत्मा) से कभी पृथक् नहीं होता। इस दृष्टि से जीवात्मा के द्वारा जो भी कार्य होता है, उसके साथ कर्म बंध जाता है। इतना ही नहीं, जैसा कि पं. फूलचंद जी सिद्धान्तशास्त्री लिखते हैं—'जहाँ भी जीवात्मा के उपभोग के योग्य कार्य की सृष्टि होती है, वहाँ उसके कर्म का संयोग होकर ही वैसा होता है। अमेरिका में बनने वाली जिन मोटरों या अन्य वस्तुओं का भारतीयों द्वारा उपभोग होता है, वे (पदार्थ) उन उपभोक्ताओं के कर्मानुसार ही निर्मित होते हैं और इसी से वे कालान्तर मे अपने-अपने उपभोक्ताओ के पास पहुँच जाते हैं।............अर्थात्—उपभोग्य वस्तुओं के विभागीकरण का तुलादण्ड (भी) कर्म है।[1]

निष्कर्ष यह है कि राग-द्वेष और मोह से रहित होकर मात्र कर्तव्य एवं शरीर-निर्वाह के हेतु किया जाने वाला—कर्म—ऐर्यापथिक कर्म, शुद्ध (अवन्धक) कर्म अथवा अकर्म है। इसके विपरीत कर्म का अर्थ है—राग-द्वेष एव मोह से प्रेरित होकर किया जाने वाला साम्परायिक क्रिया जनित बन्धक कर्म।

विकर्म का स्वरूप और पहचान

यह तो हुआ जैनदृष्टि से कर्म और अकर्म का लेखा-जोखा। अब थोड़ा-सा विकर्म के विषय में विचार करले। जिस प्रकार कर्म से ही 'अकर्म' प्रादुर्भूत अथवा निर्मित होता है, उसी प्रकार 'विकर्म' भी कर्म में से प्रादुर्भूत या निर्मित होता है। कर्म के ही दो विभाग हो जाते हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ। तत्त्वार्थ सूत्र मे आस्रव और बन्ध के दो भेद[2] वताए गए हैं वहाँ शुभयोग को पुण्य आस्रव (शुभकर्मास्रव) और अशुभयोग को पापास्रव (अशुभकर्मास्रव) कहा है। साथ ही शुभयोग के साथ कषाय हो तो शुभबन्ध और अशुभयोग के साथ कषाय हो तो अशुभबन्ध भी घोषित किया गया है।[3]

---

१. (क) न्यायदर्शन सार

(ख) महाबंधो पु. २ प्रस्तावना (पं. फूलचद जी) से पृ. २४-२५

२. पुण्य, पाप एवं आस्रव तथा बंध की विस्तृत चर्चा अगले प्रकरणों में देखिये

—संपादक

३. (क) शुभः पुण्यस्य। अशुभः पापस्य। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ६, सू. ३-४

(ख) तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) (पं. सुखलाल जी) से पृ. १४९

कर्म और विकर्म में अन्तर

पहले यह बताया गया था कि साधक जब तक वीतराग-अवस्था (कषायमुक्त रागद्वेषरहित दशा) को प्राप्त नहीं हुआ है, तब तक उसकी प्रवृत्तियों में प्रमाद एवं कषायादियुक्त योग रहेगा, और उसकी सक्रियता कर्मबन्धकारक होगी ही। किन्तु ये दोनों कर्म साम्परायिक क्रिया से जनित होते हुए भी तीव्रकषाय एवं मन्दकषाय, अयतना और यतना, ज्ञात और अज्ञात, शुभभाव और अशुभ भाव, अशुभराग और शुभराग, तथा प्रमाद की तीव्रता-मन्दता की दृष्टि से उसी कर्मबन्ध के दो विभाग हो जाते हैं; एक शुभबन्ध[१] और दूसरा अशुभबन्ध।

जो मनुष्य अभी छद्मस्थ है, पूर्णतः कषायमुक्त नहीं है, जिसे वीतरागदशा प्राप्त नहीं हुई है उसके द्वारा शुभभावों से जो भी दान, शील, तप, भाव, परोपकार, व्रतनियम-पालन आदि की क्रियाएँ होती हैं, वे सब क्रियाएँ शुभ आस्रव एवं शुभबन्ध की कारण होने से उन्हें कर्म (पुण्यकर्म) कहा जाता है। इसी प्रकार जो क्रियाएँ अशुभ आस्रव एवं अशुभबन्ध की कारण हैं, उन्हें 'विकर्म' (पापकर्म) कहा जाता है।

यतनाशील साधक की क्रिया, पापकर्मबन्धक नहीं होती

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि "जो छद्मस्थ साधक अप्रमत्त होकर यतनापूर्वक सावधानी से चलना, उठना, बैठना, सोना, जागना, खाना-पीना, बोलना आदि कोई भी क्रिया करता है, तो उसकी वह क्रिया पापकर्मबन्धक नहीं होती।"[२] इसका फलितार्थ यह है कि साधनात्मक क्रियाएँ यतनापूर्वक करने से पापकर्म का बन्ध नहीं होता। या तो उन क्रियाओं से पुण्यकर्म का बन्ध होगा, या फिर उनसे कर्म का क्षय (निर्जरा) होगा।

इसी शास्त्र में आगे कहा गया है—"जो साधक सर्वभूतात्मभूत (समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य मानता) है, जो प्राणिमात्र को समदृष्टि से

---

१. (क) तीव्र-मन्द-ज्ञाता-ज्ञात-भाव-वीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।

—तत्त्वार्थसूत्र ६/७

(ख) तत्त्वार्थसूत्र (विवेचन) (पं. सुखलाल जी) में विशेष व्याख्या देखें, पृ. १५३

२. (क) जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो पावकम्मं न बंधइ॥

(ख) सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ।
पिहिआसवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक सूत्र अ. ४ गा. ८-९

देखता है, जिसने हिंसा आदि आस्रवों को रोक दिया है, जो शान्त-दान्त (उपशान्त कषाय) है वह भी पापकर्म का बन्ध नहीं करता।"

कर्म और अकर्म का विवेक करने के लिए आचारांगसूत्र में निर्देश किया गया है—"अग्रकर्म और मूलकर्म का सम्यक् परिप्रेक्षण (प्रतिलेखन) करके दोनों अन्तों—राग-द्वेष से बचकर कर्म कर।" यहाँ अग्रकर्म से तात्पर्य है—कर्म (शुभकर्म) का और मूलकर्म से तात्पर्य है—विकर्म (पापकर्म) का। इन दोनों से बचकर अबन्धक कर्म (शुद्ध कर्म—अकर्म) करने की यहाँ प्रेरणा है।[१]

कर्म के बन्ध और अबन्ध की मीमांसा

बन्ध और अबन्ध की मीमासा करते हुए पं. सुखलालजी लिखते हैं—"यदि कषाय (रागादि भाव) नहीं हैं तो ऊपर की कोई भी क्रिया आत्मा को बन्धन मे रखने में समर्थ नहीं है। इससे उल्टे, यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बन्धन से छुड़ा नहीं सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है; वह बन्धनकारक नहीं होता।"[२] अतः कषाय (रागादि भाव) से मुक्त साधक ऐसे कर्मों का कर्त्ता होने पर भी 'अकर्म' कहलाता है; वह कर्म से लिप्त (बद्ध) नहीं होता।

अकर्म में कुशल व्यक्ति की पहचान

अकर्म में कुशल स्थितप्रज्ञ अथवा वीतराग व्यक्ति की पहचान के लिए आचारांगसूत्र मे बताया गया है—"वह अलोभ वृत्ति (वीतरागवृत्ति) से (क्योंकि दसवें गुणस्थान तक संज्वलन का लोभ रहता है; अतः दसवें गुणस्थान से ऊपर उठकर) विरक्त होकर कामभोग प्राप्त होने पर उन्हें मन से भी ग्रहण (स्वीकार) नही करता, उनसे निरपेक्ष रहता है। इस प्रकार लोभ का सर्वथा परित्याग करके (यानी बारहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होकर) वह निष्क्रमण करता है (शुद्ध कर्म में प्रवृत्त होता है) यही अकर्म है। वह इसे भलीभांति जानता-देखता है।"

"ऐसा अकर्म-कुशल व्यक्ति (सदेह एवं रागादिरहित होने से) न तो कर्मों से बद्ध होता है और (शरीर रहने तक भवोपग्राही चार अघाती कर्मों के कारण) न सर्वथा मुक्त होता है।"

---

१. (क) कम्मं च पडिलेहाए अग्गं मूलं च विगिंच धीरे पलिछन्दिया णं निक्कम्मदंसी।

(ख) दोहिं अन्तेहिं अदिस्समाणे तं परिण्णाय मेहावी।

—आचारांग सूत्र अ. ३ उ. २/३७१, तथा अ. ३ उ. ३, सू. ३७८

२. कर्मग्रन्थ प्रथम भाग भूमिका (पं. सुखलाल जी) पृ. २६.

"ऐसे अकर्मशील व्यक्ति के जीवन से लौकिक व्यवहार अथवा प्रदर्शन, आडम्बर, प्रपंच, नाना उपाधियाँ आदि राग-द्वेषोत्पादक कार्य नहीं होते।"

वस्तुतः कर्म-विकर्म तथा अकर्म को पहचानने में क्रिया या व्यवहार प्रमुख तत्त्व नहीं है। प्रमुख तत्त्व है—कर्त्ता का चेतन-पक्ष। यदि कर्त्ता की चेतना प्रबुद्ध है, विशुद्ध है, जागृत है, कषायवृत्ति-रहित या रागादिशून्य है, तथा अप्रमत्त और सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न है, तो क्रिया या व्यवहार के बाह्य रूप का कोई महत्व नहीं होता।"[1]

इष्टोपदेश में इसी का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है—"जो आत्मस्वभाव में स्थिर है, वह बोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता, देखते हुए भी नहीं देखता है।"

उत्तराध्ययनसूत्र में भी स्पष्ट कहा गया है—"रागादि भावों से विरत व्यक्ति शोकरहित हो जाता है, वह संसार में रहते हुए भी कमल पत्रवत् अलिप्त रहता है।"

आचारांग के अनुसार "नाना उपाधियाँ तथा लौकिक व्यवहार का आधिक्य कर्म-विकर्म के कारण ही रहता है।"[2]

कर्म, विकर्म और अकर्म का स्पष्ट लक्षण

संक्षेप में, जो प्रवृत्तियाँ या कर्म रागादियुक्त होने से शुभबन्धन-कारक हैं, वे कर्म हैं जो अशुभबन्धनकारक हैं, वे विकर्म हैं, और जो प्रवृत्तियाँ या कर्म रागद्वेष रहित होने से बन्धनकारक नहीं हैं, वे अकर्म ही हैं।

'गीता' में भी अकर्मवान् का लक्षण यही किया है कि "जो आशा-आकांक्षा से रहित है, जिसका चित्त और आत्मा प्रयत है अर्थात्—यतनाशील है, जिसने समस्त परिग्रहवृत्ति का त्याग कर दिया है, वह साधक केवल शारीरिक अनिवार्य कर्म करता हुआ पाप को नही प्राप्त होता। स्वतः (अनायास) जो कुछ प्राप्त हो, उसी में सन्तुष्ट रहने वाला,

१. (क) लोभ अलोभेण दुगुंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ। विणइत्तु लोभ निक्खम्म एस अकम्मे जाणति पासति। —आचारांग श्रु. १ अ. २ उ. २
(ख) 'कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के।' —वही श्रु. १ अ. २ उ. ६
(ग) 'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ।' —वही १/३/१
(घ) जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश पृ. ५२

२. (क) इष्टोपदेश (आचार्य पूज्यपद) ४१
(ख) उत्तराध्ययन सूत्र ३२/९९
(ग) "कम्मुणा उवाही जायइ।"—आचारांग १/३/१

हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से अतीत, मात्सर्य (ईर्ष्या) से रहित तथा सिद्धि-असिद्धि (सफलता- असफलता) में समत्व रखने वाला साधक कर्म करता हुआ भी उससे नहीं बंधता।"

'गीतारहस्य' में भी यही दृष्टिकोण प्रकट किया गया है कि कर्म और अकर्म का विचार इसी दृष्टि से करना चाहिए कि मनुष्य को वह कर्म कहाँ तक बद्ध करेगा। करने पर भी जो कर्म हमें बद्ध नहीं करता, उसके विषय में कहना चाहिए कि उसका कर्मत्व अथवा बन्धकत्व नष्ट हो गया। यदि किसी भी कर्म का बन्धकत्व अर्थात् कर्मत्व इस प्रकार नष्ट हो जाए तो फिर वह कर्म अकर्म ही हुआ। कर्म के बन्धकत्व (पर) से यह निश्चय किया जाता है कि वह कर्म (विकर्म) है या अकर्म?[१]

भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म का स्वरूप

भगवद्गीता में कर्म, विकर्म और अकर्म के स्वरूप पर गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा गया है—"हे अर्जुन! कर्म की गति अतीव गहन है। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को कर्म और विकर्म (निषिद्ध कर्म) का स्वरूप जानना चाहिए, साथ ही अकर्म (शुद्ध कर्म) के स्वरूप का बोध भी करना चाहिए। इस प्रकार का विवेक करने वाला साधक कर्म में अकर्म को देख लेता है और अकर्म कहे जाने कार्य में 'कर्म' को भी पहचान जाता है। ऐसा व्यक्ति मनुष्यो में श्रेष्ठ और बुद्धिमान् होता है। वह सहज और अनिवार्य सभी शारीरिक कर्म करता है।"

गीता में यह भी बताया गया है कि "स्वभाव से नियत किये हुए कर्म को करता हुआ भी मनुष्य पाप को (पाप कर्मबन्ध) को प्राप्त नहीं होता।" "अतः दोषयुक्त होने पर भी सहज (स्वभावज) कर्म का त्याग नही करना चाहिए।"

गीता के अनुसार 'कर्म' वह है जो फल की इच्छा से किया जाता है, भले ही वह शुभ हो। यज्ञ, दान, तप, त्याग, व्रत, नियम, श्रद्धा-भक्ति आदि शुभकार्य भी यदि शुभ-रागाविष्ट होकर प्रसिद्धि, प्रशंसा या प्रतिस्पर्द्धावश

---

१. (क) निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्त-सर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।
यदृच्छालाभ-सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

—गीता ४/२१-२२

(ख) गीता रहस्य (लोकमान्य तिलक) से पृ. ६८४

किये जाते हैं तो, ये और इस प्रकार के अन्य कर्म भी गीता की दृष्टि में 'कर्म' हैं। इन्हें आगे चलकर गीता में राजस कर्म भी कहा गया है।[१]

गीता की दृष्टि में 'विकर्म' वे हिंसादि निषिद्ध अशुभ (पाप) कर्म हैं, जो दम्भ, दर्प, अभिमान, छल, ठगी उत्कट क्रोध, वासना, अशुभ फलेच्छा, निदान (नियाणा) आदि से प्रेरित होकर किये जाते हैं। ऐसे पापकर्म निष्प्रयोजन ही मन-वचन-काया से स्व-पर को केवल पीड़ित करने वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरों को मारना, लूटना, ठगना, दूसरे का धनादि हड़पना, परस्पर फूट डालना, हिंसा भड़काना, आग लगाना, हत्या, दंगा, शिकार करना आदि पापकर्म भी विकर्म हैं, जो स्वपर के लिए हानिकारक हैं। सामान्यतया हिंसा, असत्य, चोरी, ठगी, बलात्कार आदि निषिद्ध कर्म या पापकर्म मात्र ही 'विकर्म' समझे जाते हैं। जैनदृष्टि से रौद्रध्यान (हिंसानुबन्धी, मृषानुबन्धी, स्तेनानुबन्धी और सरक्षणानुबन्धी भयंकर ध्यान) से प्रेरित पापकर्म गीता में विकर्म कहे गए हैं।

इसके अतिरिक्त शुभ कर्म समझे जाने वाले यज्ञ, दान, तप, त्याग, व्रत, नियम, श्रद्धाभक्ति आदि कार्य भी परिणाम (नतीजा) हानि तथा हिंसादि का विचार किये बिना मूढ़तावश हठ-मोह-पूर्वक दूसरों का अनिष्ट करने तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की दृष्टि से किये जाते हैं, तो वे तामस कोटि के कर्म विकर्म हो जाते हैं।[२] परन्तु कभी-कभी बाह्य रूप से विकर्म प्रतीत होने वाले कर्म भी कर्त्ता की बुद्धि अगर .वार्थ, लोभ, आसक्ति आदि से लिप्त नहीं है, न ही अहंकार है तो शुद्ध भाव से अथवा किसी को

---

१. (क) कर्मणो ह्यपि बोधव्य, बोधव्य च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोधव्यं, गहना कर्मणोगतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्मयः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु, स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ —गीता अ. ४ श्लो. १७-१८

(ख) स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।
सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्॥ —वही, १८/४७-४८

(ग) यत्तु फलेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्। —वही १८/२४

(घ) भगवद्गीता अ. २ श्लो. ४१, ४२, ४३

२. (क) अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ —वही, १८/२५

(ख) रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्ष शोकान्वित कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः।

(ग) अयुक्त प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादीदीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥ —गीता १८/२७-२८

न्याय दिलाने, किसी महिला के शील की रक्षा करने, आदि कर्त्तव्यबुद्धि से किये जाने वाले पापकर्मफलोत्पादक कर्म भी शुभकर्म में अथवा अकर्म में भी परिणत हो जाते हैं।"[1] किन्तु 'निष्कामबुद्धि से प्रेरित होकर युद्ध तक लड़ा जा सकता है। 'तिलक' के इस मत से जैनदर्शन सम्मत नहीं है, क्योंकि अकर्मावस्था वीतरागावस्था है, वीतरागावस्था में सांसारिक प्रवृत्तिमय कर्म किया जाना सम्भव नहीं। हाँ, यह (शुभ) कर्म में परिगणित हो सकता है।

विकर्म प्रतीत होने वाला कर्म भी (शुभ या शुद्ध) कर्म : कब और कैसे ?

इसी प्रकार जिस व्यक्ति के मन में देहासक्ति या क्रियासक्ति नहीं है, जो अहंकार, प्रसिद्धि, प्रशंसा, लौकिक-पारलौकिक उपलब्धि आदि फलाकांक्षाओं से रहित होकर निष्काम-निःस्वार्थभाव से यतनापूर्वक शारीरिक क्रियाएँ करता है, उसके शरीर और इन्द्रियों से यदि किसी प्राणी की (सावधानी रखते हुए भी) हिंसा हो जाती है, तो वह हिंसा पापकर्मबन्धकारक नहीं होती। उसका विकर्म प्रतीत होनेवाला कर्त्तव्यबुद्धि से किया जाने वाला कर्म भी विकर्म नही होता; उससे हिंसाजन्य पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

यहाँ प्रवचनसार का निम्नोक्त कथन ही गीता में प्रतिध्वनित हुआ है—"बाहर में प्राणी मरे या जीए, जो अयताचारी-प्रमत्त है, उसके द्वारा हिंसा (जन्य कर्मबन्ध) निश्चित है, परन्तु जो यत्नचारशील है, समितियुक्त है, उसे बाहर से होने वाली (द्रव्य) हिंसामात्र से (पाप) कर्मबन्ध नहीं होता; क्योंकि वह अन्तर् में सर्वतोभावेन हिंसादि सावद्य व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप (निरवद्य) है। उससे होने वाली स्थूल हिंसा भावहिंसा नही है।[2]

गीता की भाषा में अकर्म भी कर्म, कर्म भी अकर्म : कब और कैसे ?

गीता की दृष्टि में मन, वाणी और शरीर की क्रिया के अभाव को अकर्म नही कहा गया, अपितु जैनदर्शन द्वारा मान्य ईर्यापथिक क्रियाएँ-अनिवार्य (रागादि रहित) शारीरिक क्रियाएँ जैसे अकर्म कहलाती हैं, वैसे ही गीता मे भी अनिवार्य शारीरिक क्रियाएँ, जो इन्द्रियो और मन पर संयम रखकर तथा आसक्ति एवं फलाकांक्षा रहित होकर की जाती हैं, उन्हें अकर्म कहा गया है।

---

१. (क) भगवद्गीता अ. १८, श्लो. १७
 (ख) गीतारहस्य ४/१६ टिप्पणी।

२. (क) भगवद्गीता १८/२३
 (ख) मरदु वा जियदु वा जीवो, अयदाचारस्स निच्छिदा हिंसा।
 पयदस्स णत्थि बंधो, हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ —प्रवचनसार ३/१७

तात्पर्य यह है कि अनासक्ति और कर्त्तव्यदृष्टि से जो कर्म किया जाता है, वह राग-द्वेष के अभाव में अकर्म है। किन्तु प्रकटरूप में कोई भी कर्म होता हुआ न दिखाई देने पर भी अगर कर्त्ता के मन में त्याग का अभिमान या आग्रह है, फलेच्छा है, तो वह अकर्म प्रतीत होने वाले को भी 'कर्म' बना देता है। इसी प्रकार कर्त्तव्य प्राप्त होने पर भय, स्वार्थ या हठाग्रहवश उस कर्त्तव्य कर्म से विमुख हो जाना, विहित कर्मों का त्याग कर देना आदि कर्मत्याग प्रतीत होने वाले कर्म अकर्म न कहलाकर भय या रागादि के कारण 'कर्म' ही कहलाते हैं।[१]

कर्म में अकर्म का दर्शन करने वाले महाभाग की पहचान

अकर्मशील व्यक्ति कर्म करता हुआ भी उस कर्म से लिप्त-बद्ध नहीं होता। गीता में उस महाभाग की पहचान बताते हुए कहा गया है—"जो व्यक्ति विशुद्धात्मा है, योगयुक्त त्रिविध योगों से होने वाली प्रवृत्ति में यतनाशील) है, आत्मविजेता है, जितेन्द्रिय है, तथा सर्वभूतात्मभूत (आत्मवत् सर्वभूतेषु की दृष्टि वाला) है, वह कर्म का कर्त्ता होते हुए भी उक्त कर्म से लिप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा तत्त्ववेत्ता सतत युक्त (शुद्धोपयोगयुक्त) व्यक्ति देखता, सुनता, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता-पीता, चलता, सोता, श्वास लेता, बोलता, तथा त्याग और ग्रहण करता हुआ एवं आँखें खोलता-मूँदता हुआ भी इस प्रकार मानता है कि मैं (संकल्प-पूर्वक) कुछ भी नहीं करता। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में सहजभाव से प्रवृत्त हो रही हैं। यह है कर्म में अकर्म का दर्शन। ऐसा महाभाग पुरुष कर्म का कर्त्ता होने पर भी अकर्म के समान रहता है, इसलिए अकर्म है। "ऐसा योगी पुरुष (सयोगी केवली) केवल मन-वचन-काया एव बुद्धि तथा इन्द्रियो से अहंत्व-ममत्व-रहित होकर तथा सब प्रकार की आसक्ति का त्याग करके मात्र आत्मशुद्धि (निर्जरा) के लिए कर्म करते हैं।"[२]

बौद्ध दर्शन में कर्म, विकर्म और अकर्म का विचार

बौद्धदर्शन में भी कर्म, विकर्म और अकर्म का विचार किया है। वहाँ इन्हें क्रमशः कुशल (शुक्ल) कर्म, अकुशल (कृष्ण) कर्म और अव्यक्त (अकृष्ण-अशुक्ल) कर्म कहा गया है। जैनदर्शन में जिन्हें पुण्य (शुभ) कर्म और पाप

---

१. (क) यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥ —गीता ३/७

(ख) नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागः तामसः परिकीर्तितः॥

(ग) दुःखमित्येवयत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं, नैव त्यागफलं लभेत्॥ —गीता १८/७-८

२. भगवद्गीता अ. ५/श्लो. ७-८-९-१०-११.

(अशुभ) कर्म कहा है, उन्हें बौद्धदर्शन में कुशल (शुक्ल) और अकुशल (कृष्ण) कर्म कहा है। बौद्धपरम्परा में प्रायः फल देने की योग्यता-अयोग्यता को लेकर 'कर्म' का विचार किया गया है। जिन्हें जैन परम्परा में क्रमशः (साम्परायिक) विपाकोदयी एवं (ईर्यापथिक) प्रदेशोदयी कर्म कहा है, उन्हें ही बौद्ध परम्परा में क्रमशः उपचित, अनुपचित कर्म कहा है।

कृत और उपचित को लेकर चतुर्विध भंग

'महाकर्म-विभंग' में कृत और उपचित को लेकर चार विकल्प (भंग) प्रस्तुत किये गये हैं—(१) अकृत, किन्तु उपचित कर्म, (२) कृत भी और उपचित भी, (३) कृत हैं, किन्तु उपचित नहीं, और (४) कृत भी नहीं और उपचित भी नहीं।

कृत का अर्थ है—सम्पादित और उपचित का अर्थ है—फल प्रदान करने वाला। प्रथम भंग में उन कर्मों का समावेश होता है, जो क्रोध, द्वेष, मोह आदि वासना के प्रति तीव्र रूप से वशीभूत होकर कर्म-संकल्प किये जाते हैं, वे कृत (कार्यरूप में परिणत) तो नहीं हुए, किन्तु उपचित (फल देने की योग्यता से युक्त) अवश्य होते हैं।

दूसरे भंग में वे कर्म आते हैं, जो कृत भी हैं, उपचित भी। अर्थात्—वे कर्म, जिन्हें संकल्पपूर्वक सम्पादित किया गया है, और ऐसे कर्म संचित होकर फल देने में सक्षम (उपचित) भी होते हैं। ध्यान रहे कि अकृत-उपचित और कृत-उपचित, ये दोनों प्रकार के कर्म शुभ और अशुभ दोनो कोटि के हो सकते हैं।

तीसरे भंग में वे कर्म आते हैं, जो कृत तो हैं, लेकिन उपचित नहीं हैं। अर्थात्—(१) जो कर्म सकल्पपूर्वक नहीं किये जाते, (२) अथवा संचिन्त्य होते हुए भी जो सहसाकृत (आकस्मिक) होते हैं, (३) अथवा भ्रान्तिवश किये गए हो, (४) अथवा कर्म करने के बाद उसका पश्चात्ताप, ग्लानि, या आलोचना (प्रकटीकरण) या प्रायश्चित्त किया गया हो, अथवा (५) शुभकर्म का अभ्यास करने से तथा बुद्ध आदि की शरण ग्रहण करने से भी पापकर्म उपचित नहीं होता। ये और इस प्रकार के कर्म कृत होते हुए भी उपचित (फलप्रदान के योग्य) नहीं होते।

चौथे भंग में वे कर्म आते हैं, जो कृत भी नहीं होते और उपचित भी नहीं होते। ऐसे कर्म प्रायः स्वप्नावस्था में किये गए होते हैं।

कौन-से कर्म बन्धनकारक, कौन-से अबन्धनकारक ?

बौद्धदर्शन का मन्तव्य है कि इनमें से प्रथम दो भंगों में प्रतिपादित कर्म प्राणी को बन्धन में डालते हैं, शेष दो भंगों में उक्त कर्म बन्धन में नहीं

डालते। बौद्ध-आचार-परम्परा में राग-द्वेष-मोह से युक्त होने पर ही कर्म को बन्धनकारक माना जाता है, राग-द्वेष-मोह-रहित होकर किये गए कर्म बन्धनकर्त्ता नहीं माने जाते। बौद्ध धर्म-परम्परा में राग-द्वेष-मोह से मुक्त अर्हत् (बुद्ध) के द्वारा किये गए अव्यक्त (अकृष्ण-अशुक्ल) कर्म बन्धनकारक नहीं माने जाते।[१]

तीनों धाराओं में कर्म, विकर्म, अकर्म के अर्थ में प्रायः समानता

इस प्रकार जैन, बौद्ध और वैदिक (गीता) तीनों धाराओं में कर्म को बन्धक और अबन्धक इन दो भागों में विभाजित किया गया है। अबन्धक कर्म (क्रिया-व्यापार) को जैनदर्शन में ईर्यापथिक कर्म या अकर्म, वैदिक (गीता) दर्शन में अकर्म और बौद्धदर्शन में अव्यक्त या अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहा गया है। तीनों धाराओं की दृष्टि मे अकर्म का तात्पर्य कर्म का अभाव, या मन-वचन-काय-कृत क्रिया का अभाव नही, अपितु कर्म के सम्पादन में वासना, इच्छा, रागादि प्रेरित कर्तृत्वभाव का अभाव ही अकर्म है, अबन्धक शुद्ध कर्म है। तथा वासनादि भाव से सम्पादित कर्म बन्धकारक हैं। बन्धककर्म के दो विभाग किये गए हैं—एक को कर्म (शुभबन्धक) कहा गया, दूसरे को विकर्म (अशुद्धबन्धक)। यही कर्म, विकर्म, अकर्म का निष्कर्ष है।

■

१. (क) बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन अ. १,
(ख) महाकर्म-विभंग,
(ग) जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश, पृ. ५०

१०

कर्म का शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप

कर्मजलपरिपूर्ण संसार-समुद्र में तीन प्रकार के नाविक और नौका

कर्मविज्ञान इतना गूढ़, दुरूह तथा अर्थों और रहस्यों से भरा है कि सहसा उसका आकलन और हृदयगम कर लेना आसान नहीं है। जिस प्रकार जल से परिपूर्ण महासमुद्र में ज्वार-भाटे आते रहते हैं। उत्ताल तरंगे कभी-कभी बासों तक उछलकर मानो आसमान को छूने लगती हैं। कभी वे अत्यन्त धीमी गति से उछलती हैं और कभी अतीव तीव्र गति से। कभी मध्यम गति से उछलती है और कभी-कभी एकदम शान्त और सुस्थिर हो जाती हैं, उसी प्रकार विविध कर्मरूपी जल से परिपूर्ण संसार-समुद्र में भी आस्रव, बन्ध और सवर-निर्जरा के ज्वार-भाटे आते रहते हैं। कर्म-जल की महातरगें भी प्रतिक्षण विविधरूप में तीव्र-मन्द-मध्यम गति से उछलती रहती है और कभी वे शान्त और सुस्थिर भी हो जाती है।

संसारस्थ जीव को सदैव इस महासमुद्र मे तब तक रहना है, जब तक वह इस ससार-सागर से पार न हो जाए। जिस प्रकार समुद्र पार करने के लिए नौका का आश्रय लिया जाता है। परन्तु वह नौका (जलयान) जर्जर एव छिद्रवाली हो, अथवा अच्छी हालत में न हो, नाविक चलाने मे कुशल न हो, उत्ताल तरंगे उछल रही हो, उस समय कुशलतापूर्वक नौका की सुरक्षा न कर पाता हो, वह नौका स्वय तो डूबती ही है, नाविक को भी ले डूबती है। इसी प्रकार नाविक यदि नौका में अर्धकुशल हो, वह समुद्री तूफानों और अन्धड़ो से तो नाव को बचा लेता है, किन्तु नौका अल्प छिद्रयुक्त हो तो अधबीच में ही उसके डूबने की आशंका बनी रहती है। परन्तु जो नाविक बाहोश और नौकाचालन मे पूर्ण कुशल हो, नौका भी उसकी छिद्ररहित एवं सुदृढ़ हो, वह समुद्र मे चाहे जितने ज्वार आएँ, तूफान और अधड़ आएँ, अपनी नौका को सकुशल समुद्र के पार तक ले जाता है। उत्तराध्ययन सूत्र मे इसी तथ्य को अनावृत करते हुए कहा गया है—

"जो नौका छिद्रयुक्त है वह संसार-समुद्र से पार नहीं जा सकती; किन्तु जो नौका छिद्ररहित है, वही पार जा सकती है। शरीर नौका है। जीव (आत्मा) नाविक है और (कर्मजल से परिपूर्ण) ससार समुद्र है, जिसे महर्षि पार कर जाते हैं।"[१]

समुद्र में नौका चलाने वाले नाविक तीन प्रकार के होते हैं—(१) अकुशल, (२) अर्धकुशल और (३) कुशल। यदि नाविक कुशल नहीं होता है, तो उसकी नौका समुद्र की उत्ताल तरंगो के थपेड़ों से आहत होकर जर्जर और सच्छिद्र हो जाती है। फिर वह थोड़े से ज्वार या तूफान से डावाडोल हो जाती है। जो नाविक कुछ कुशल होता है, उसकी नौका उत्ताल तरंगो के थपेड़ों के कुछ क्षतिग्रस्त एवं छिद्रयुक्त तो हो जाती है परन्तु बार-बार छिद्र बद करते रहने, आते हुए पानी को रोकते रहने तथा अदर जमा हुए पानी को समय-समय पर उलीचते रहने से उसकी नौका समुद्र मे आगे से आगे बढ़ती रहती है। इन दोनो के विपरीत जो नाविक अत्यधिक कुशल होते हैं, वे समुद्री तूफानो और ज्वार के समय पाल बाँध कर तथा सुरक्षित जलमार्ग से नौका को ले जाकर वे अपनी सुदृढ़ नौका को जर्जर और सच्छिद्र नहीं होने देते।

इसी प्रकार कर्मजल से परिपूर्ण ससाररूपी महासमुद्र मे भी तीन प्रकार के नाविक होते हैं। जो अकुशल नाविक होते हैं, उनकी नौका ससार-समुद्र में पापो का ज्वार आने से तथा अशुभ कर्मों की उत्ताल तरंगों की मार से जर्जर और सच्छिद्र हो जाती है और शीघ्र ही पापकर्म परिपूर्ण संसार-समुद्र मे डूब जाती है। दूसरे प्रकार के नाविक अर्धकुशल होते हैं। उनकी जीवन नौका सच्छिद्र होते हुए भी डूबती-उतराती रहती है। दान, व्रत, नियम आदि पुण्य से अपनी नैया की वे मरम्मत करते रहते हैं। तीसरे प्रकार के अतिकुशल नाविक वे हैं, जो शुभ-अशुभ कर्म-जल के ज्वार के समय डूबते-उतराते नही। कष्टो, परीषहो, विपत्तियो के अंधड़ों और तूफानों के समय समभावरूपी चप्पू से अपनी जीवन नैया को खेते हुए शुद्ध और प्रशान्त कर्मजल में आगे से आगे सवर-निर्जरा के जल-मार्ग से बढ़ते रहते हैं। ऐसे महाभाग महर्षि अतिकुशल नाविक होते हैं, जो एक दिन संसार-समुद्र को पार करके सर्वकर्म-जल से सर्वथा मुक्त हो जाते है।

---

१. जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥
सरीरमाहु नाव त्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥ —उत्तराध्ययन २३/७१,७३

कर्म के तीन रूप : शुभ, अशुभ और शुद्ध

संसाररूपी समुद्र में भी त्रिविध नाविकों के अनुरूप तीन प्रकार के कर्म हैं— (१) अशुभ, (२) शुभ और (३) शुद्ध। जब तक जीव ससार-समुद्र में है, तब तक उसे यह जानना और समझना आवश्यक है कि ये तीन प्रकार के कर्म कैसे-कैसे होते हैं ? इनका लक्षण और स्वरूप क्या-क्या है ?

यद्यपि पूर्वप्रकरण (कर्म, विकर्म और अकर्म) में हमने इन तीनों पर प्रकाश डाला है, फिर भी इन तीनों में से प्रथम दो को पहचानना और उनसे सावधान रहना बहुत आवश्यक है। क्योंकि तीसरा, जो कर्म का शुद्धरूप है, वह तो सर्वथा अबन्धकारक है, परन्तु ये दोनों बंधकारक हैं। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि ये कैसे-कैसे बँध जाते हैं, जीव की किस प्रकार की गति, मति, परिणति एव असावधानी से ये उसकी जीवन-नौका में प्रविष्ट हो जाते हैं, और ऐसे चिपक जाते हैं कि सहसा छूट नहीं पाते। इस दृष्टि से हम पहले कर्म के शुभ और अशुभ रूप का वर्णन करते हैं।

पूर्वप्रकरण मे शुभकर्म को 'कर्म' अशुभकर्म को 'विकर्म' और शुद्धकर्म को 'अकर्म' के रूप मे बताया गया था। इन तीनों को दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो क्रमशः पुण्य, पाप और धर्म शब्द से अभिहित कर सकते हैं। शास्त्र मे प्रथम दो को शुभास्रव और अशुभास्रवरूप तथा अन्तिम को संवर-निर्जरारूप बताया गया हैं। अन्तिम अकर्म या शुद्धकर्म को ईर्यापथिक कर्म भी कहा गया है।

पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से तीनों की जैन-बौद्ध-वैदिक दर्शन के साथ सगति

डॉ. सागरमल जैन ने कर्म के इन तीन रूपों का पाश्चात्य नैतिक दर्शन की दृष्टि से इस प्रकार सामंजस्य बिठाया है—"जैनदर्शन का ईर्यापथिक कर्म अतिनैतिक कर्म है, पुण्य (शुभ) कर्म नैतिक कर्म है और पाप (अशुभ) कर्म अनैतिक कर्म है।" इसी प्रकार गीता और बौद्धदर्शन के साथ भी इनकी सगति इस प्रकार बिठाई है—"गीता का अकर्म अतिनैतिक, शुभकर्म या कर्म नैतिक और विकर्म अनैतिक है। बौद्धदर्शन में अनैतिक, नैतिक और अतिनैतिक कर्म को क्रमशः अकुशल, कुशल और अव्यक्तकर्म अथवा (दूसरे शब्दों मे) कृष्ण, शुक्ल और अकृष्ण-अशुक्ल कर्म कहा गया है।"[१]

शुभ और अशुभ कर्म : बनाम पुण्य-पाप

वैसे तो हम पुण्य (शुभ कर्म) और पाप (अशुभ कर्म) के सम्बन्ध विस्तृत चर्चा आगे के प्रकरणों में करेंगे। यहाँ तो कर्म के इन दोनों शुभाशुभ

१. जैन कर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से साभार उद्धृत पृ. ३५

रूपो के सम्बन्ध मे संक्षिप्त झांकी ही दे रहे हैं। वस्तुतः देखा जाए तो शुभकर्म और अशुभकर्म कारण हैं, और पुण्य-पाप इनके फल हैं। कार्य (फल) में कारण का उपचार करके पुण्य-पाप को ही कर्म कहा जाने लगा।[१]

शुभकर्म : स्वरूप और विश्लेषण

जैनकर्मविज्ञान के अनुसार शुभ (पुण्य) कर्म, शुभ-पुद्गल परमाणु हैं, जो जीव के शुभ परिणामो एव तदनुसार शुभभावपूर्वक दान, परोपकार, सेवा, दया आदि की क्रियाओ के कारण आकर्षित होकर शुभ आस्रव के रूप में आते हैं[२] और फिर शुभ रागादिवश बध जाते हैं। तत्पश्चात् अपने विपाक (फल-भोग) के समय शुभ विचारो, शुभ परिणामों और शुभ कार्यो की ओर प्रेरित करते है। इसके अतिरिक्त वे आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक एव भौतिक विकास के अनुरूप संयोग भी उपस्थित करते हैं। शुभकर्म के प्रभाव से कभी-कभी आरोग्य, सुख-सुविधा, सुख-सामग्री, भौतिक सम्पदा तथा अनुरूप परिवार, मित्रजन, समाज भी उपलब्ध होते हैं, तथा सम्यग्ज्ञानादि धर्माचरण की भावना भी वे जागृत कर देते हैं।[३] व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र मे शुभकर्म (पुण्य) के उपार्जन मे दान, अनुकम्पा, सेवा, परोपकार आदि शुभ-प्रवृत्तियो को कारण बताये हैं।[४] स्थानागसूत्र मे पुण्योपार्जन के अन्नपुण्य आदि नौ प्रकार भी बताये है।[५]

अशुभ कर्म : स्वरूप और विश्लेषण

अशुभ कर्म (पाप) का स्वरूप जैनदृष्टि से इस प्रकार है—जिनसे आत्मा का पतन हो, जो आत्मा को बन्धन मे डाले, आत्मा के आनन्द का शोषण करे तथा आत्मशक्तियो का घात करे, वे पापकर्म अशुभकर्म हैं। वास्तव मे जिस विचार और आचरण से स्व-पर का पतन, अहित हो एवं अनिष्ट फल प्राप्त हो, वह अशुभ कर्म है, पाप है। **'पापाय परपीडनं'** इस उक्ति के अनुसार अशुभ (पाप) कर्म अपने और दूसरो के लिए पीड़ा, विपत्ति, दुःख और विनाश का कारण है। अशुभ कर्म के अन्तर्गत हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रहवृत्ति, सग्रहवृत्ति, वेईमानी, अनीति, अत्याचार आदि हैं। जो भी अनैतिक कर्म है, वे सब प्रायः अतिस्वार्थ, अतिलोभ, घृणा,

---

१. पुण्य-पाप के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी के लिए आस्रव खण्ड में देखिये।

२. शुभ : पुण्यस्य। —तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ पृ. ३

३. जैनकर्म-सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावाश पृ ३८

४. भगवती सूत्र श, ७ उ. १०

५. "अन्नपुण्णे, पानपुण्णे, लयणपुण्णे, सयणपुण्णे, वत्थपुण्णे, मणपुण्णे, वचनपुण्णे, कायपुण्णे, नमोक्कारपुण्णे।" —स्थानागसूत्र, स्थान ९

द्वेष, ईर्ष्या एवं अज्ञानता आदि के कारण किये जाते हैं। इसलिए ऐसी दुर्भावना, दुर्विचार एवं दुष्कर्म अशुभ कर्म हैं।[1]

शुभत्व और अशुभत्व के निर्णय के आधार

देखना यह है कि कर्म के शुभत्व और अशुभत्व के निर्णय का आधार क्या है? इस विषय में गहराई से सोचने पर इन दोनों के निर्णय के तीन आधार प्रतिफलित होते हैं—(१) कर्ता का आशय, (२) कर्म का अच्छा-बुरा बाह्य रूप तथा (३) उससे सामाजिक जीवन पर पड़ने वाला अच्छा-बुरा प्रभाव। भगवद्गीता एवं बौद्धदर्शन में कर्मों की शुभाशुभता का आधार कर्ता के आशय को माना गया है।[2]

शुभाशुभत्व का मुख्य आधार : गीता में

गीता मे बताया गया है कि त्याग, भक्ति, यज्ञ, दान, तप आदि सात्त्विक कर्म भी सात्त्विक ढंग से किये जाएँ तो सात्त्विक हैं, अन्यथा कर्ता के राजस और तामस आशय से किये जाने पर ये सभी कर्म राजस और तामस कहलाएँगे। गीता का आशय यही प्रतीत होता है कि शुद्ध कर्म तो सात्त्विक भाव से किये जाने वाले यज्ञ, दान, त्याग, तप आदि हैं, परन्तु राजस और तामस भाव से किये जाने पर ये क्रमशः शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) होने से शुभकर्मबन्धक और अशुभकर्मबन्धक हो सकते है।[3]

गीता मे स्पष्ट कहा गया है कि "यद्यपि यज्ञ, तप और दान में जो स्थिति है वह सत् कही जाती है, परन्तु परमात्मा के अर्थ (फलाकांक्षा तथा अहंकर्तृत्व आदि का त्याग करके) ये कर्म किये जाएँ तभी 'सत्' हो सकते है।" किन्तु "अश्रद्धा से किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, वे सब असत् कहलाते हैं, वे न तो इस लोक के लिए लाभदायक है और न परलोक के लिए।"

वहाँ बताया गया है, कि "जो कर्म फल की इच्छा से, अहंकार युक्त होकर बहुत ही परिश्रम से किया जाता है, वह राजस है," और "जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किये बिना केवल मोह या हठाग्रहवश किया जाता है वह तामस है।" "जो कर्ता आसक्ति (रागादि) से युक्त है, कर्मफल का इच्छुक है, लोभवृत्ति से प्रेरित है, दूसरों को कष्ट देने वाला तथा अशुद्धचारी एवं हर्ष-शोक से लिप्त है, वह राजस है।" इसी

१. जैन कर्म-सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश
२. देखिये—भगवद्गीता अ. १८ श्लो. १७ तथा धम्मपद गा. २४९ मे इसका प्रमाण।
३. देखिये—गीता के १७वे अध्याय मे वर्णित यज्ञ, दान, तप, श्रद्धा आदि के त्रिविध रूपो का वर्णन।

प्रकार "जो कर्ता विक्षिप्तचित्त, मूढ़, अहंकारी, धूर्त, आलसी तथा दूसरे की आजीविका का नाश करने वाला है, दीर्घसूत्री है एवं काम उलटा होने पर विषादमग्न हो जाता है, वह तामस है।" इस प्रकार दान, तप, बुद्धि, त्याग आदि के विषयों में राजस-तामस भाव का भी उल्लेख गीता में है।[1] इससे स्पष्ट है कि गीता कर्ता के अभिप्राय को ही मुख्यता देती है, परन्तु कहीं-कहीं तत्कालीन समाज में प्रचलित यज्ञ, दान और तपःकर्म पर तथा चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के नियत कर्मों पर विशेष जोर देकर करने की प्ररूपणा भी की है।[2]

जैनदर्शन में कर्म के शुभाशुभत्व का मुख्य आधार : कर्ता का अभिप्राय

जैनदर्शन कर्म के शुभत्व और अशुभत्व का मुख्य आधार शुभ-अशुभ मनोभाव को मानता है। एक हत्यारा भी मानव का पेट शस्त्र द्वारा चीर डालता है, और एक चिकित्सक भी रोगी के पेट का ऑपरेशन करते समय उसे शस्त्र द्वारा चीरता है, किन्तु दोनों की शस्त्र क्रिया एक-सी होने पर भी दोनों के मनोभावो मे अन्तर होने से उसी आधार पर कर्म के शुभत्व-अशुभत्व का निर्णय होता है। परन्तु वही डॉक्टर अगर रोगी के पेट पर शल्य क्रिया (ऑपरेशन) करते समय उसको मारने और उसका पर्याप्त धन हड़प जाने की नीयत रखता है, फिर भले ही रोगी मरे नहीं, परन्तु उस डॉक्टर के अशुभ कर्म (पाप) का बन्ध हो जाता है, ज्ञानियों की दृष्टि मे वह डाक्टर शुभ कर्म करने वाला नही कहलाता है।

इसी प्रकार एक दूसरा डॉक्टर एक रोगी के पेट का ऑपरेशन करता है, उसका हृदय करुणा से परिपूर्ण है, वह चाहता है, रोगी इस शस्त्रक्रिया द्वारा रोगमुक्त हो जाये; किन्तु उसका आयुष्य बल क्षीण हो जाने से डॉक्टर के द्वारा ऑपरेशन के दौरान ही उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी स्थिति मे भी डॉक्टर के अशुभ कर्म का बन्ध नही होता, उसके शुभकर्म का ही बन्ध होता है। भले ही स्थूल दृष्टि वाले लोग डॉक्टर को भला-बुरा कहें, उसे कोसें।[3]

---

१. गीता अ. १७/२७-२८ तथा १८/२४-२५,२७,२८

२. (क) अधिष्ठान तथा कर्ता करणं च पृथक्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैव चैवात्र पचमम्॥

(ख) ज्ञान ज्ञेय परिज्ञाता त्रिविधाकर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्म सग्रहः॥ —गीता १८/१४-१८

(ग) यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ —गीता १८/५

३. देखिये—'अहिंसादर्शन' (उपाध्याय अमरमुनि)। मे इसका स्पष्टीकरण

आचार्य हरिभद्रसूरि ने द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की चौभंगी का प्रतिपादन करते हुए भी इस तथ्य को स्पष्ट किया है—(१) एक घटना में द्रव्यहिंसा होती है, भावहिंसा नहीं, (२) दूसरी घटना में भावहिंसा होती है, द्रव्यहिंसा नहीं, (३) तीसरी घटना में द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों होती हैं और (४) चौथी घटना में न द्रव्यहिंसा होती है, न भावहिंसा।[1]

इस चौभंगी में चौथा भंग तो शून्य है। प्रथम भंग शुभकर्म का द्योतक है, द्वितीय और तृतीय भंग अशुभ कर्म का। मुख्यतया भावहिंसा कषायों के कारण होती है, वही कर्मबन्ध का मुख्य कारण है, द्रव्यहिंसा प्रमादयुक्त शरीर से होती है। वस्तुतः हिंसा की सदोषता हिंसाकर्ता की भावना पर अवलम्बित है। शास्त्रीय परिभाषा में ऐसी अप्रमत्त भाव से हुई हिंसा को द्रव्यहिंसा या व्यावहारिक हिंसा कही गई है। जहाँ भावना शुभ हो, वहाँ हिंसा पापरूप नहीं होती, जहाँ भावना अशुभ हो, प्रमत्त भाव हो, वहाँ हिंसा दोषरूप-पापरूप होती है, उस हिंसा को भावहिंसा कहते है, वह निश्चयहिंसा है।

ओघनिर्युक्ति मे इसी तथ्य को उजागर करते हुए कहा गया है—"ईर्यासमिति से युक्त चर्या करने वाले साधक के पैर के नीचे यदि कीट, पतग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाएँ और दबकर मर भी जाएँ, परन्तु उक्त हिंसा के निमित्त से उस साधु को सिद्धान्त में सूक्ष्म कर्मबन्ध भी नहीं बताया है। क्योकि अन्तर् मे सर्वतोभावेन उस हिसा व्यापार (प्रयोग) से निर्लिप्त होने के कारण वह अनवद्य-निष्पाप है।"[2]

बौद्धदर्शन में शुभाशुभत्व का आधार : एकमात्र कर्ता का आशय

बौद्धधर्म-दर्शन और धम्मपद में भी इन दोनों प्रकार के कर्मों के शुभाशुभत्व का आधार कर्ता के आशय को मानते हुए कहा है कि "कायिक या वाचिक कर्म कुशल (शुभ) है या अकुशल (अशुभ)? इसका निर्णय करने की कसौटी मानस कर्म (आशय) है।"

एक डॉक्टर तीखी धार वाले शस्त्र से रोगी का पेट चीर डालता है, जबकि एक हत्यारा भी अपने शत्रु के पेट में छुरा भोंक कर पेट चीर

---

१. (क) दशवैकालिक सूत्र, हरिभद्रीयवृत्ति
(ख) विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखें—तत्त्वार्थसूत्र विवेचन (नया संस्करण) (प. सुखलाल जी) पृ. १७२ से १७५

२. उच्चालियंमि पाए, ईरियासमियस्स संकमट्ठाए।
वावज्जेज्जकुलिंगी, मरिज्ज वा तं जोगमासज्ज।
न य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए।
अणवज्जो उ पओगेण सव्वभावेन सो जम्हा॥ —ओघनिर्युक्ति गा. ७४८-७४९

डालता है। बाह्यदृष्टि से दोनों कायिक कर्म एक समान होते हुए भी दोनों कर्मों के कारण– (उद्देश्य) रूप आशय (मानसकर्म) पृथक्-पृथक् हैं। डॉक्टर का मानसकर्म रोगी को रोगमुक्त करने की भावनारूप होने से उसका कायिककर्म कुशल है जबकि हत्यारे का मानसकर्म वैरभावरूप है, इसलिए उसका कायिक कर्म अकुशल है।"[१]

इसलिए बौद्धदर्शन में कर्ता के अभिप्राय को ही कर्म के कुशलत्व (शुभत्व) एवं अकुशलत्व (अशुभत्व) का आधार माना गया है। इसका ज्वलन्त प्रमाण है—'सूत्रकृतांग' मे उल्लिखित बौद्ध-आर्द्रक-सवाद । बौद्धों ने जब अपना मत प्रतिपादित किया कि—"कोई व्यक्ति खली के पिण्ड को पुरुष मानकर उसे शूल मे बेध कर पकाए और खाए, अथवा तुम्बे को बालक समझकर पकाए और खाए तो वह हिंसा के पाप का भागी होता है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति मनुष्य को खली समझकर अथवा बालक को तुम्बा समझकर पकाए और खाए तो वह प्राणिघात के पाप का भागी नही होता, वह पवित्र है, वह (आमिष) आहार, बुद्ध के पारणा योग्य है। इस प्रकार का (आमिष) भोजन पकाकर जो प्रतिदिन दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराता है, वह महान् पुण्य अर्जन करके महापराक्रमी आरोग्य नामक देव होता है।"

आर्द्रककुमार ने इसका प्रतिवाद करते हुए निर्ग्रन्थ मत का प्रतिपादन किया कि "प्राणियो का घात करके भी पाप का अभाव कहना और सुनना, अज्ञानवर्धक और बुरा है।.........जो व्यक्ति खली के पिण्ड में पुरुष बुद्धि अथवा पुरुष मे या बालक मे खली के पिण्ड या तुम्बे की बुद्धि करता है, वह अनार्य और मूर्ख है। ऐसा वचन कहना भी पापकारी है, मिथ्या है। दो हजार स्नातक भिक्षुओ को प्रतिदिन ऐसा (आमिष) आहार कराता है, वह असंयमी और रुधिर से लाल हाथ वाला पुरुष इस लोक में निन्दनीय बनता है। और जो मोटे भेड़े को मारकर उसे पकाकर बौद्ध-भिक्षुओ को भोजन कराते हैं, वे तो अनार्य हैं ही। जो बौद्ध-भिक्षु स्वादलोलुप होकर इस प्रकार का प्रचुर मास खाते हुए भी कहते हैं कि हम पाप से लिप्त नही होते, वे भी मिथ्यावादी हैं, अनार्य हैं, अनार्यकर्मा हैं।[२]

इस प्रकार के सवाद से स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन ने शुभाशुभकर्म के आधार के सम्बन्ध में एकान्त मनोभाव (कर्ता का आशय) ही माना है,

---

१. (क) बौद्धधर्म-दर्शन (आचार्य नरेन्द्रदेव) से पृ. २२४/२२५, २५६/२५७
   (ख) धम्मपद १/१

२. सूत्रकृतांग सूत्र श्रु. २, अ. ६, गा. २७ से ४५ तक

जबकि जैनदर्शन ने आशय (अभिप्राय) के साथ-साथ कर्म के बाह्यस्वरूप को भी माना है। बौद्धदर्शन के अनुसार कर्म के शुभाशुभत्व का आधार केवल अभिप्राय को मानने पर भी उसमें प्रकारान्तर से मायाचार गर्भित है; क्योकि जिसकी मांस खाने की आदत है, वह पुरुष को खली का पिण्ड या बालक को तुम्बा मानकर खाने का अथवा 'हमारे लिये यह मांस नहीं पकाया गया है," इस प्रकार का बहाना बनाकर पंचेन्द्रिय प्राणी के घात को अशुभकर्म (पाप) के बदले शुभ कर्म (पुण्य) कह दें तो कोई आश्चर्य नहीं है और वैसा ही विधान दो हजार स्नातक भिक्षुओं को प्रतिदिन ऐसा मांसाहार कराने वाले को पुण्य अर्जित करने वाला कहकर गुमराह भी किया गया है।

भगवान् महावीर की दृष्टि में किसी भी प्रकार से मांस भक्षण करने वाला पंचेन्द्रिय वध के पाप (अशुभकर्म) का बन्ध करता है और नरकगामी बनता है।[२]

शुभ आशय : किन्तु प्राणिहिंसा के कारण कर्म अशुभ

इसी प्रकार का सूत्रकृताग सूत्र मे तथाकथित हस्तितापसो का मत दिया गया है, वह भी स्थूल दृष्टि से शुभ आशयपूर्ण प्रतीत होने पर भी पचेन्द्रियवध का घोर पाप (अशुभ) कर्म का वधक है। हस्तितापसों का मत था कि "हम लोग शेष जीवो की दया के लिए वर्ष भर में बाण से एक महाकाय हाथी को मारकर उसके मास से साल भर निर्वाह कर लेते हैं।" परन्तु आर्द्रककुमार ने इसका भी भगवान् महावीर की व्यापक अहिंसक दृष्टि से प्रतिवाद करते हुए कहा—"ऐसा गृहस्थ भी दोषरहति (निष्पाप) नही माना जाता तो साधुव्रती होकर जो वर्षभर मे एक प्राणी को मारता है, वह तो सर्वथा पापी (अशुभकर्म करने वाला) एव अनार्य कहा जाता है।"[३]

धर्मग्रन्थविहित कर्म : किन्तु अमंगलकारी होने से अशुभ

आशय यह है कि एकान्त शुभ अभिप्राय भी कर्म के शुभत्व का परिचायक नहीं होता, उसके साथ उस कर्म का मंगल-अमंगलरूप भी देखा जाना आवश्यक है। उससे अहिंसादि किसी व्रत या सम्यक्त्व को आँच तो नही आती, यह भी देखना चाहिए। प्रत्येक लौकिक रीति-रिवाज या प्रथा

१. बर्मा आदि बौद्ध देशों में मास की दूकानो पर प्रायः इस प्रकार का साइनबोर्ड लगा रहता है—'तुम्हारे लिये यह बकरा नहीं काटा गया है,' या "यह मास तुम्हारे लिए नही पकाया गया है।"

२. "चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं..... महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, पचिंदियवहेण, कुणिमाहारेणं।" —स्थानांगसूत्र ४/४

३. सूत्रकृतागसूत्र श्रु. २, अ. ६, गा. ५२,५३,५४

के साथ इस तथ्य की कसौटी पर कसकर भी जैनाचार विधायकों ने शुभाशुभत्व का निर्णय दिया है।

कर्म के शुभत्व के लिए मनोवृत्ति और क्रिया दोनों का शुभ होना अनिवार्य

जैन-आचार-दर्शन में प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ मनोवृत्ति और क्रिया दोनों के शुभत्व पर बहुत जोर दिया है। यही कारण है कि आचार संबंधी जैनदृष्टि एकांगी और निरपेक्ष नही है। वह सर्वांगी एवं सापेक्षवादी है। एक ओर वह वृत्ति-सापेक्ष होकर मनोवृत्ति को कर्मों की शुभाशुभता की निर्णायिका मानती है, तो दूसरी ओर समाज सापेक्ष होकर कर्मों के बाह्यरूप पर से भी उनकी शुभाशुभता का निश्चय करती है। जैनदर्शन में द्रव्य और भाव यानी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों का मूल्यांकन किया गया है। जैन कर्मविज्ञान मे योग (क्रिया) और भाव (मनोवृत्ति) दोनों ही कर्मबन्ध के कारण माने गए हैं। यद्यपि भाव (अभिप्राय) को यहाँ प्रधान कारण माना गया है, फिर भी वृत्ति और क्रिया मे विभेद हो, ऐसा जैनदर्शन को स्वीकार्य नहीं है। मनोवृत्ति शुभ हो और क्रिया अशुभ हो, इसका मतलब है—मनोवृत्ति ही अशुभ है; क्योकि मन मे शुभभाव होने पर हिंसादि पापाचरण सम्भव ही नही है।[१]

कर्म के शुभत्व के सम्बन्ध में एकांगी मान्यता का खण्डन

इसीलिए सूत्रकृतागसूत्र में जैनदृष्टि का प्ररूपण करते हुए आर्द्रक-कुमार कहता है—"क्या दीक्षा धारण किया हुआ पुरुष ऐसी असगत बाते कर सकता है? मन में हिंसा को निन्दनीय एव दोषयुक्त समझते हुए भी आशय बदल कर कहना और बाहर से अशुभाचरण करना क्या आत्म-प्रवचना एव लोकछलना नही है?" बौद्धो की एकांगी धारणा का निराकरण करते हुए आर्द्रककुमार स्पष्ट कहता है—"जो मांस खाता हो, चाहे न जानते हुए ही खाता हो, तो भी वह निर्दोष नही है, पाप (अशुभ) कर्म का भागी है। 'हम जानकर नही खाते, इसलिए हमें दोष (पाप) नहीं लगता,' ऐसा कहना मिथ्या नही है तो क्या है?"[२]

एकान्तरूप से मनोभावों पर ही जोर देने वाली एकागी मान्यता का निराकरण करते हुए सूत्रकृतांग में कहा गया है—"अशुभ (पाप) कर्म के तीन स्थान हैं—स्वय करने से, दूसरे से कराने से और दूसरों के कार्य का

---

१. जैन कर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावांश उद्धृत पृ. ४०

२. (क) सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. २, अ. ६, गा. ३८-३९

(ख) जैनकर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावांश, पृ. ४०

अनुमोदन करने से। परन्तु यदि हृदय पापमुक्त हो तो इन तीनों के करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है।" इस वाद (मान्यता) को मानने वाले, किन्तु कर्मबन्धन का सम्यग्ज्ञान नहीं बताने वाले कतिपय व्यक्ति इस जन्म-मरणादिरूप संसार में फंसते और भटकते रहते हैं। क्योंकि यह वाद अज्ञानमूलक है। जो व्यक्ति मन से पाप को पाप समझता हुआ भी दोष करता है, उसे निर्दोष कैसे माना जा सकता है? वह तो संयम (वासना-निग्रह) में सरासर शिथिल है। परन्तु भोगासक्त लोग उनकी उक्त चिकनी-चुपड़ी बातें मानकर पाप में पड़े रहते हैं।"[१]

तांत्रिकों तथा सुखवादियों की वृत्ति और प्रवृत्ति दोनों ही अशुभ

तांत्रिकों ने काम, क्रोध आदि आन्तरिक पशुओं की बलि देने का विधान किया, परन्तु उनके आशय को न समझ कर निर्दोष पशुओं की बलि दी जाने लगी। बाद के वाममार्गी तान्त्रिको ने तो खुल्लमखुल्ला मद्य, मीन, मैथुन, मांस और मुद्रा, इन पंच मकारों को सुखप्राप्तिकारक कर्म बताकर बिल्कुल गुमराह कर दिया। 'नन्दीसूत्र' की मलयगिरिवृत्ति में **'घटचटकमोक्ष-वाद'** की चर्चा की है। वहाँ बताया गया है कि प्राचीन काल में एक ऐसा मत था जो दुःखी मनुष्यों को सुख पहुँचाने और परलोक में मोक्ष या स्वर्ग मिल जाने की बात बताकर सुख-प्राप्ति के इच्छुक को दम घोटकर मार डालते थे। जिस प्रकार एक घड़े मे चिड़िया को बंद करके उस घड़े का मुख चारों ओर से बिल्कुल बद कर दिया जाता है तो शीघ्र ही वह चिड़िया घड़े में ही दम घुटकर मर जाती है। इसी प्रकार जो दुःखी आदमी शीघ्र सुख पाना चाहता था, उसकी सारी सपत्ति लेकर उसे दम घोटकर शीघ्र परलोक पहुँचा दिया जाता था। क्या यह सुख पहुँचाने की मनोवृत्ति शुभ कही जा सकती है, जबकि मारने की क्रिया अशुभ है।[२]

बाह्यरूप से वृत्ति शुभ, कृति अशुभ

क्योंकि सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नहीं चाहता।[३] परन्तु स्वर्ग का सब्जबाग दिखाकर जैसे पोप लोग धनिकों से धन ऐंठकर स्वर्ग की हुंडी लिख देते थे, वैसे ही घटचटकमोक्षवादी भी सुख-प्राप्ति एवं स्वर्ग में निवास या मोक्ष-प्राप्ति का झांसा देकर दुखी व्यक्ति से धन ले लेते और उसे मार डालते थे।

---

१. सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १, अ. १, गा. २४ से २९

२. (क) तंत्रशास्त्र : एक अध्ययन
   (ख) देखें—नन्दीसूत्र मलयवृत्ति मे घटचटकमोक्ष प्रकरण।

३. (क) सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं। —दशवैकालिक ६
   (ख) सव्वेसिं जीवियं पियं। —आचारांग १/४/२

इसीलिए 'भगवद्गीता' के इस कथन के साथ भी जैनदर्शन सहमत नहीं है, जिसमें कहा गया है—'जिसके मन में अहंकर्तृत्व के भाव नहीं हैं, जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थों में लिप्त नहीं होती। वह इन सब लोगों को मारकर भी वस्तुतः न किसी को मारता है और न ही कोई मारा जाता है।'[१] अर्थात्—वह उक्त हिंसाकर्म से बन्धन में नहीं पड़ता। इसी प्रकार 'धम्मपद' में प्रतिपादित यह बुद्ध-वचन भी जैनकर्मविज्ञान से सम्मत नहीं है— "नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को तथा प्रजा सहित राष्ट्र को मार कर भी निष्पाप होकर जीता है।"[२]

यह शुद्ध कोटि का कर्म कदापि नहीं

जो इतनी उच्च कोटि पर पहुँचा हुआ है या उस पथ का पथिक है, उसे इतना तो अवश्य जानना चाहिए कि प्राणिवध, फिर वह चाहे किसी रूप में हो, जिसमें पंचेन्द्रिय प्राणी—मनुष्य का वध तो सर्वथा निन्दनीय, पापमय एवं घृणित अशुभ आचरण है। वह कैसे शुभ-अशुभ से पर शुद्ध कोटि का कर्म हो सकता है ?

कृति अशुभ है तो मांगलिक भी अमांगलिक—अशुभ

इसी प्रकार जैनगृहस्थों के समक्ष जब लौकिक रीति-रिवाजों, प्रथाओं या विधि-विधानों के पालन का प्रश्न आया तो उनके समक्ष जैनाचार्यों ने स्पष्ट निर्देश दिया—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिकी विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानि र्न, न स्याद् व्रतदूषणम्॥

"जैनों के लिए सभी लौकिक विधियाँ (रीति-रिवाज) प्रमाण हैं—मान्य हैं, बशर्ते कि उनके पालन करने में सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) की क्षति न हो, और न ही अहिंसा आदि व्रतों में कोई दोष लगे।"[३]

'गोभिल गृह्यसूत्र' में विधान है कि प्राचीन काल में विवाह-मण्डप में वर और वधू को जब विवाह-प्रसंग पर बिठाया जाता था, तो मांगलिक दृष्टि से उन्हें बैल को मार उसका रक्तलिप्त ताजा लाल चमड़ा ओढ़ाने का रिवाज था। किन्तु जैनों के समक्ष जब यह बात आई तो उन्होंने इस हिंसाजनित पापकर्मयुक्त रिवाज को बदलकर वर-वधू को लाल सालू का कपड़ा पहनाने का रिवाज चलाया। उस युग में नरमुण्ड को मांगलिक

---

१. यस्य नाऽहंकृतो भावो, बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्, नायं हन्ति, न निबध्यते। —गीता १८/१७

२. धम्मपद गा. २४९

३. नीतिवाक्यामृत (आ. सोमदेव)

समझकर विवाहादि मंगल-प्रसंगों पर मनुष्य की खोपड़ी लेकर शोभायात्रा में चला जाता था। परन्तु जैनों को यह रिवाज बिल्कुल अमांगलिक और भद्दा लगा, अतः उसके बदले नारियल (श्रीफल) को लेकर[1] चलने का रिवाज प्रचलित किया।

समाज-सापेक्ष इन दोनों अमंगल कृत्यो को मंगल (शुभ) कर्म के नाम पर चलाया जा रहा था, जिसको जैनों ने इन दोनो कुप्रथाओं के बदले सुप्रथा चलाकर वास्तविक मंगलकर्म सिद्ध किया। इसलिए जैनदर्शन ने किसी कर्म से समाज पर पड़ने वाले अच्छे-बुरे प्रभाव को लेकर भी शुभाशुभत्व का निर्णय किया है। पाश्चात्य सुखवादी विचारक कर्म की फलश्रुति के आधार पर प्राय शुभाशुभत्व का निर्णय करते हैं।[2]

परोपकार कर्म शुभ : परपीड़न कर्म अशुभ

कही-कहीं शुभाशुभता का आधार परिणाम (क्रिया के फल) को माना गया है। **'परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नं'** (परोपकार पुण्य के लिए और परपीड़न पाप के लिए है) इस भारतीय चिन्तन में कर्म के शुभाशुभत्व का निर्णय परोपकार और परपीड़न के आधार पर होता है। जैन विचारकों ने पुण्यबन्ध (शुभकर्मबन्ध) को भी अन्नपुण्णे आदि नवविध कारणाश्रित बताया है, और पापकर्म को भी प्राणातिपात आदि अष्टादशपापस्थान पर आधारित बताया है। वस्तुतः पुण्य-पाप (शुभाशुभ कर्म) के सम्बन्ध में जिन तथ्यों का आगमो मे प्रमुखरूप से उल्लेख किया गया है, उनका प्रमुख सम्बन्ध समाज-कल्याण तथा लोकमंगल तथा समाज का अकल्याण एव लोक-अमंगल से है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुभ-अशुभ (या पुण्य-पाप) के वर्गीकरण का मुख्य आधार समाज-सापेक्ष है। किन्तु कर्मबन्ध की दृष्टि से विचार करते समय कर्ता की भावना को प्रमुखता दी गई है।[3]

आत्मानुकूल शुभ, आत्म-प्रतिकूल अशुभ

कर्म के शुभत्व और अशुभत्व के पीछे एक और दृष्टिकोण है—दूसरे को अपने तुल्य मानकर व्यवहार करने का। इसलिए प्राणियों के प्रति या मानव-समाज के प्रति किये गए शुभाशुभ व्यवहार, दृष्टिकोण या आशय के अनुसार शुभाशुभत्व का निर्णय होता है।

कौन-सा व्यवहार शुभ, कौन-सा अशुभ : इसकी कसौटी आत्मतुल्यता

परन्तु दूसरे प्राणी या मानव के प्रति किसका कौन-सा व्यवहार या

---

१. देखें—गोभिल गृह्यसूत्र।

२. जैन-कर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) से भावाश, पृ. ४१

३. वही, भावाश उद्धत पृ. ४२

दृष्टिकोण शुभ होगा, और कौन-सा व्यवहार या दृष्टिकोण अशुभ? इसकी कसौटी भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने यही बताई है कि "जो तू अपने लिए चाहता है, वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति कर; जो तू अपने लिए नहीं चाहता, वैसा व्यवहार दूसरे के प्रति भी मत कर।"

इसका फलितार्थ यह है कि जैसा आचरण या व्यवहार व्यक्ति अपने लिए प्रतिकूल समझता है, वैसा आचरण और व्यवहार दूसरे के प्रति नहीं करना तथा जैसा व्यवहार और आचरण व्यक्ति अपने लिए अनुकूल समझता है, वैसा ही आचरण और व्यवहार दूसरे के प्रति करना, यह शुभ कर्म का आचरण है।

इसके विपरीत जैसा आचरण या व्यवहार अपने लिए प्रतिकूल है, वैसा आचरण या व्यवहार दूसरे के प्रति करना तथा जैसा व्यवहार या आचरण अपने लिए अनुकूल है, वैसा व्यवहार या आचरण दूसरे के प्रति न करना अशुभ कर्म का आचरण है।

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्' (अपने लिए प्रतिकूल आचरणो या व्यवहारो को दूसरो के प्रति भी मत करो) यही कर्म के शुभत्व का मूलाधार भारतीय ऋषियों ने बताया है।

सूत्रकृतागसूत्र मे शुभाशुभत्व (धर्म-अधर्म) के निर्णय मे अपने समान दूसरे को मानने का— आत्मौपम्य का दृष्टिकोण स्वीकृत किया गया है। अनुयोगद्वार सूत्र मे भी बताया गया है कि "जिस प्रकार मुझे दुःख प्रिय नही है, उसी प्रकार सभी जीवो को भी दुःख प्रिय नही है, ऐसा जानकर जो स्वय हिंसा नही करता, न ही करवाता है, वही समत्वयोगी सममना श्रमण है।"[1]

कर्म का शुभाशुभत्व : कहाँ व्यक्तिसापेक्ष, कहाँ समाजसापेक्ष

निष्कर्ष यह है कि जहाँ हम कर्ता के अभिप्राय की दृष्टि से विचार करते हैं, वहाँ कर्म का शुभत्व-अशुभत्व प्रायः व्यक्तिसापेक्ष होता है, और जहाँ पुण्य-पाप की दृष्टि से विचार करते हैं, वहाँ कर्म का शुभाशुभत्व प्रायः समाजसापेक्ष होता है।[2]

यही कारण है कि जैन विचारको ने कर्म के हेतु (उद्देश्य) और परिणाम के आधार पर भी उसके शुभाशुभत्व का विचार किया है, परन्तु मुख्यता कर्ता के अभिप्राय को ही दी है। एक व्यक्ति अंधे को अंधा, काने को

१. (क) देखे—हरिभद्रसूरिकृत सम्बोधसत्तरि ग्रन्थ।
(ख) प्राणा यथाऽत्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि ते तथा।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्॥ —महाभारत, शान्तिपर्व २५८/२१

२. जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावाश पृ. ४०

काना और चोर को चोर कहता है। स्थूलदृष्टि से यह सत्य होते हुए भी पारमार्थिकदृष्टि से असत्य माना गया है, क्योंकि ऐसा कहने (कथनक्रिया) के पीछे वक्ता का आशय उसके हृदय को चोट पहुँचाना है, उसे हेय या तिरस्कृत दृष्टि से देखकर उसकी आत्मा का अपमान करना है। इसलिए ऐसा वाचिककर्म बाहर से शुभ प्रतीत होने पर भी अन्तरंग से आध्यात्मिक एवं नैतिक दृष्टि से अशुभ है।[1]

यद्यपि बन्धक और अबन्धक की दृष्टि से विचार करने पर एक मात्र शुद्धकर्म ही अबन्धक है, शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म बन्धक हैं। शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकार के कर्मों में रागभाव तो होता ही है। राग के अभाव मे किया हुआ कर्म शुभाशुभत्व की भूमिका से ऊपर उठकर शुद्धत्व की भूमिका में पहुँच जाएगा। परन्तु यहाँ कर्म के शुभाशुभत्व का आधार राग की अनुपस्थिति-उपस्थिति नही, अपितु राग की प्रशस्तता-अप्रशस्तता है। प्रशस्तराग शुभकर्म के या पुण्य के बन्ध का और अप्रशस्त राग अशुभकर्म के या पाप के बन्ध का कारण माना गया है। जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी कम या मन्द होगी, वह राग उतना ही प्रशस्त होगा। इसके विपरीत जिस राग के साथ द्वेष की मात्रा जितनी अधिक या तीव्र होगी, वह उतना ही अप्रशस्त होगा।[2]

द्वेष की अत्यल्पता अथवा प्रशस्तरागता को ही 'प्रेम' कहते हैं। उस प्रशस्त प्रेम से परार्थ प्रवृत्ति या परोपकारवृत्ति का उदय होता है, वही शुभकर्म (पुण्य) की सृष्टि का कारण होता है। उसी से लोकमंगलकारी या समाज-कल्याणकारी शुभ प्रवृत्तियो के रूप में पुण्यकर्म का आचरण होता है। इसके विपरीत अप्रशस्त राग घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या, असूया, तुच्छ स्वार्थवृत्ति, अतिलोभ आदि वृत्तियों को जन्म देता है। उनसे पाप या अमगलकारी अशुभकर्म का सृजन होता है। संक्षेप में यो कहा जा सकता है, जिस कर्म के पीछे शुभभावना, शुभ हेतु और प्रशस्तराग (प्रेम) या परार्थ-परोपकारवृत्ति होती है, वह कर्म शुभ है, और जिसके पीछे घृणा, द्वेष, तुच्छ स्वार्थ, रौद्रध्यान, परपीड़न, अतिलोभ आदि की वृत्ति होती है, वह कर्म अशुभ है।[3]

---

१. "तहेव काण काणत्ति पंडग पंडगेत्ति वा।
वाहियं वावि रोगित्ति, तेण चोरेत्ति नो वए॥ —दशवैकालिक सूत्र अ. ७ गा. १२

२. जैनकर्म-सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावांश उद्धृत पृ.४१

३. वही, भावांश अवतरित, पृ. ४१

अतः मीमांसादर्शन के अनुसार 'कर्म का कारण कोई उद्देश्य—संतोष या सुख-प्राप्ति की इच्छा होती है। कर्म का उद्देश्य केवल जीवित प्राणियों के होता है। अकर्म (शुद्ध कर्म) में भी उद्देश्य होता है। अतः कर्म, उद्देश्य एवं परिणाम मे उसी प्रकार का सम्बन्ध है, जिस प्रकार का सम्बन्ध विभिन्न अंगो का शरीर के साथ होता है।' इस दृष्टि से शुभाशुभ कर्म का आधार भी पूर्वोक्त सिद्ध होता है।[1]

वैदिक धर्मग्रन्थों में शुभत्व का आधार : आत्मवत् दृष्टि

मनुस्मृति, गीता और महाभारत में कर्म के शुभत्व का प्रमाण व्यवहारदृष्टि से समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि ही है। यह आधार व्यक्तिसापेक्ष भी है, समाजसापेक्ष भी। भगवद्गीता में कहा गया है—जो व्यक्ति सुख और दुःख में समस्त प्राणियो के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखकर व्यवहार करता है, वही (गीता की भाषा मे) परम (कर्म) योगी और (जैन भाषा में) परम शुभकर्मा है। महाभारत मे भी कहा गया है—"जो जैसा अपने लिये चाहता है, वैसा ही व्यवहार दूसरे के प्रति भी करे।" इसी प्रकार आगे कहा गया है—"त्याग, दान, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय सभी में दूसरे को अपनी आत्मा के तुल्य मानकर व्यवहार करो।" "जो दूसरे प्राणियो के प्रति आत्मवत् व्यवहार करता है, वही स्वर्ग के दिव्य सुखो को प्राप्त करता है।" "जो व्यवहार स्वयं को प्रिय लगता है, वही व्यवहार दूसरो के प्रति किया जाए, यही धर्म (शुभ) और अधर्म (अशुभ) की पहचान है।"[2]

बौद्धधर्म में कर्म के शुभत्व का आधार : आत्मौपम्यदृष्टि

बौद्धधर्म-विचारणा मे भी कर्म के शुभत्व का आधार आत्मवत् सर्वभूतेषु को ही सर्वत्र माना गया है। धम्मपद में बुद्ध ने स्पष्ट कहा है—"सभी प्राणी दण्ड (मरणान्त कष्ट) से डरते हैं। मृत्यु से सभी लोग भयाविष्ट हो जाते हैं। सबको जीवन प्रिय है। अतः सभी प्राणियो को आत्मतुल्य समझकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करे। सुखाभिलाषी प्राणियो को

---

१. (क) जैमिनीसूत्र अ. १ पाद ३ सू. १९-२५

(ख) जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषाक मे प्रकाशित 'मीमांसादर्शन में कर्म का स्वरूप' लेख से पृ. २००

२. (क) आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुनः ।
सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥ —गीता ६/३२

(ख) महाभारत, शान्तिपर्व २५८/२१

(ग) वही, अनुशासनपर्व ११३/६-१०

(घ) वही, ११३/६-१०

जो अपने सुख की चाह को लेकर दुःख देता है, वह मरकर सुख प्राप्त नहीं करता। इसके विपरीत जो सुखाभिलाषी जीवों को अपने सुख की लिप्सा से कभी दुःख नहीं देता; वह मरकर सुख प्राप्त करता है।" तथागत बुद्ध 'सुत्तनिपात' में स्वयं कहते हैं—"जैसा मैं हूँ वैसे ही ये अन्य जीव भी हैं; जैसे ये अन्य जीव हैं, वैसा ही मैं हूँ इस प्रकार सभी को आत्मतुल्य समझकर किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।"[1] यही कर्म के एकान्त शुभत्व का मूलाधार है।

जैनदृष्टि से कर्म के एकान्त शुभत्व का आधार : आत्मतुल्यदृष्टि

जैनदर्शन के अनुसार भी कर्म के एकान्त शुभत्व का मूलाधार आत्मौपम्य दृष्टि है। अनुयोगद्वार सूत्र में बताया गया है—"जो त्रस और स्थावर सभी प्राणियों पर समत्वयुक्त (सम) रहता है, उसी की सच्ची सामायिक (समत्वयोग की) साधना होती है, ऐसा वीतराग केवली भगवान् का कथन है।" "संसार के (समस्त) षट्कायिक प्राणियों को आत्मतुल्य मानो। प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य व्यवहार करो"।[2] इत्यादि आगमवचन कर्म के एकान्त शुभत्व के सूचक हैं।

जब तक संसारी : तब तक शुभ-अशुभ दोनों कर्मों का उदय

परन्तु एक बात निश्चित है कि जब तक जीव संसारी है, तब तक एक मात्र शुभ कर्म का ही बन्ध हो, या एकान्त शुभ कर्म का ही उदय हो ऐसा सम्भव नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि जिनके चार घातिकर्म क्षीण हो चुके हैं, उनके शेष अघातिकर्मों का शुभ आस्रव कभी-कभी हो सकता है। परन्तु बंध तो नाममात्र का केवल दो समय का सुखस्पर्शिक होता है। प्रथम समय में बंध होता है, द्वितीय समय में वेदन और तृतीय समय में निर्जीर्ण (क्षीण) होकर चला जाता है। निकाचितरूप से पूर्वबद्ध कर्म भोगने शेष रहे हों तो वे कर्म उदय में आ सकते हैं और शुभाशुभरूप फल भुगवा सकते हैं।[3]

इसलिए यह कदापि नहीं हो सकता कि शुभाशुभ कर्म प्रवृत्तियों में एक मात्र शुभ कर्म-प्रवृत्ति ही उदय में रहे, दूसरी उसके साथ न आए।

---

१. (क) धम्मपद १२९, १३१, १३३
   (ख) सुत्तनिपात ३७/२७

२. (क) जो समो सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
   तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं॥ —अनुयोगद्वार सू. १२९
   (ख) अप्पसमं मन्निज्ज छप्पिकाए।
   (ग) आयतुले पयासु

३. उत्तराध्ययन सूत्र अ. २९/७१ का अन्तिम वचन।

ज्ञानी पुरुषों ने बताया है कि संसारी जीवों के प्रायः सात या आठ शुभाशुभ कर्मों का बन्ध और उदय चालू रहता है। इस कारण साता के साथ असाता का, सुख के साथ दुःख का चक्र चलता रहता है।

कल्पना कीजिए—जहाँ पर इस समय चिलचिलाती धूप दिखलाई दे रही है वहाँ पर कुछ समय के पश्चात धूप के दर्शन नहीं होंगे। वहाँ पर आपको छाया दिखलाई देगी। जहाँ पर आपको पहले छाया दिखलाई दे रही थी वहाँ पर कुछ समय के पश्चात तेजतर्रार धूप दिखलाई देती है। इस प्रकार धूप और छाया का क्रम चलता रहता है। यह क्रम परिवर्तन का प्रतीक है। हम चिलचिलाती धूप के स्थान पर छाया देखते हैं और छाया के स्थान पर धूप देखते हैं। वैसे ही शुभ और अशुभ कर्म के कारण साता के स्थान पर असाता और असाता के स्थान पर साता हो जाती है तो उसमें कोई अनोखी बात नहीं है।[1]

निष्कर्ष यह है कि सांसारिक और छद्मस्थ मनुष्य के जीवन में शुभाशुभ कर्मों की धूप-छांह चलती रहती है। परन्तु एक बात निश्चित है कि जो व्यक्ति सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टिकोण रखकर व्यवहार करता है, और प्रतिक्षण, प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति या चर्या करते समय अप्रमत्त, सावधान, यतनाशील रहता है, उसके उस समय अशुभ (पाप) कर्म का बन्ध नहीं होता, क्योंकि वह प्रतिपल सावधान होकर कर्मों के आगमन (आस्रव) के द्वारों को बन्द कर देता है और मन-इन्द्रिय-संयम रखकर चलता है। वह प्रत्येक क्रिया या प्रवृत्ति का ज्ञाता-द्रष्टा रहता है। उस प्रवृत्ति, उस मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषय या पदार्थ अथवा अनुकूल प्रतिकूल सयोग-वियोग के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, प्रियता-अप्रियता की बात नही सोचता। वह प्रत्येक परिस्थिति में, शुभाशुभ संयोग-वियोग में समभाव से भावित रहता है। उसमें सिर्फ ज्ञानचेतना रहती है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना को वह पास फटकने नही देता। ऐसा महाभाग अप्रमत्त साधक शुद्ध कर्म (जिसे अकर्म कहा जाता है) का प्रतीक है।[2]

निष्कर्ष यह है कि ऐसा सावधान छद्मस्थ साधक शुद्धोपयोग में रहने के लिए प्रयत्नशील रहता है, परन्तु प्रशस्त रागवश बीच-बीच मे अशुभयोग से विरत होने अथवा अशुभयोग का निरोध करने हेतु शुभयोग में प्रवृत्त रहता है। पूर्वबद्ध शुभ-अशुभ कर्म उदय में आने पर भी वह

१. जिनवाणी कर्म सिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्मों की धूप-छांह' लेख से पृ. ११-१२

२. (क) देखें— दशवैकालिक सूत्र की ये दो गाथाएँ:— अ. ४ गा. ८, ९

(ख) कर्मवाद में प्रकाशित लेख से भावांश उद्धृत पृ. २०८-२०९

सावधान होकर समभाव से उन्हें भोगता है, या संक्रमण करके अशुभ को शुभरूप में परिणत कर लेता है।

यह ध्यान रखना चाहिए कि अच्छा कार्य (कर्म) करने वाला यह जानता है कि अच्छे कर्म में भी कुछ न कुछ बुराई का अंश है, और बुराइयों (बुरे फल या संयोग) के मध्य जो देखता है कि कहीं न कहीं अच्छाई है, वही कर्म के शुभाशुभत्व के रहस्य को जानता है और कर्म के शुद्धत्व की ओर दौड़ लगाने के लिए उद्यत रहता है।[1]

शुद्ध कर्म की व्याख्या

जैनकर्मविज्ञान की दृष्टि से शुद्धकर्म से तात्पर्य उस जीवन-व्यवहार से है, जिसमे किसी भी क्रिया का प्रवृत्ति के पीछे राग-द्वेष नहीं होता, व्यक्ति केवल उस क्रिया या प्रवृत्ति का ज्ञाता-द्रष्टा होता है। ऐसा शुद्ध कर्म आत्मा को बन्धन में नही डालता। वह अबन्धक कर्म (अकर्म) है। जैनदर्शन ने साधक का लक्ष्य शुभ-अशुभ अथवा मंगल-अमंगल से ऊपर उठकर शुद्ध कर्म की ओर बढ़ना बताया है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए शुभ और अशुभ (पुण्य और पाप) दोनों को बन्धनकारक एव हेय बताया है। आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता शुभ-अशुभ से उपर उठकर शुद्धदशा में स्थित होने में है और ऐसा तभी हो सकता है, जब साधक अशुभ पर पूर्ण विजय के साथ ही शुभ (पुण्य) से भी ऊपर उठकर शुद्ध परिणति में स्थिर हो जाता है। जब तक शुभ-अशुभ का विकल्प मन मे बना रहेगा, तब तक पूर्णतः शुद्ध अवस्था मे स्थिति नहीं हो सकेगी।[2]

शुद्ध अवस्था में शुभ कर्म का होना भी अनावश्यक

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—"जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी भी लोहे की बेड़ी के समान बन्धन में रखती है, उसी प्रकार जीवकृत सभी शुभाशुभ कर्म भी बन्धन के कारण होते हैं।" जैन आचार्य दोनो को आत्मा की पूर्ण स्वतंत्रता में बाधक मानते हैं। उन्होंने बताया कि जिस प्रकार शुद्ध स्वच्छ वस्त्र के लिए साबुन का लगा होना अनावश्यक है, उसे भी निकालना होता है, उसी प्रकार निर्वाण, मोक्ष या शुद्धात्मदशा में शुभकर्म (पुण्य) का होना भी अनावश्यक है, उसे भी क्षय करके निकालना होता है।[3]

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक में प्रकाशित 'कर्म सिद्धान्त और आधुनिक विज्ञान' लेख से भावांश पृ. ३२१

२. जैनकर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन पृ. ४४

३. समयसार (आचार्य कुन्दकुन्द) १४५-१४६

शुभ-अशुभ दोनों को क्षय करने का क्रम

शुभ और अशुभ दोनों के क्षय करने का क्रम जैनाचार्यों ने इस प्रकार बताया है—जैसे एरण्ड के बीज या अन्य विरेचक औषधि मल के रहने तक रहती है, मल के निकल जाने पर वह भी साथ ही निकल जाती है, वैसे ही पाप-मल के निकल (समाप्त हो) जाने के बाद ही पुण्य भी अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं। वे किसी भी नई कर्म-संतति को उत्पन्न नही करते। वस्तुतः जैसे साबुन मैल को साफ करता है, मैल साफ होने पर वह स्वयं भी अलग हो जाता है वैसे ही पुण्य (शुभ कर्म) भी पाप (अशुभ कर्म) मल को अलग करने मे पहले सहायक होता है और उसके अलग हो जाने पर स्वयं भी अलग हो जाता है।[१]

अशुभ कर्म से बचने पर शेष शुभ कर्म भी प्रायः शुद्ध बन जाता है।

अतः पहले तो साधक को अशुभ कर्म से बचना चाहिए। अशुभ कर्म से सुरक्षित हो जाने पर शेष रहा शुभ कर्म भी बहुधा शुद्ध कर्म बन जाता है। वास्तव में, द्वेष पर पूर्ण विजय पा लेने पर राग भी नामशेष हो जाता है। फिर तो राग-द्वेष के अभाव में उससे जो भी कर्म होंगे, वे शुद्ध (ईर्यापथिक) कर्म होंगे।

तप, संवर आदि कार्य अनासक्तिपूर्वक करने से ही कर्मक्षय के कारण हैं

जैनाचारदर्शन मे बताया है कि तप, संयम एव संवर माना जाने वाला कार्य यदि अनासक्त भाव या राग-द्वेषरहित होकर किया जाता है तो वह कर्मक्षय का कारण है, और वही पूर्वोक्त कार्य आसक्तिपूर्वक या रागद्वेषयुक्त भाव से किया जाए तो वह बन्धन का कारण है। जैनदर्शन ने साधक का अन्तिम लक्ष्य अशुभ से शुभ कर्म की ओर बढ़ना और फिर शुभ से शुद्ध कर्म को प्राप्त करना बताया है।[२]

भगवद्गीता मे तो स्पष्ट कहा गया है कि शुभ और अशुभ कर्म दोनो ही बन्धनरूप हैं, मोक्ष के लिए उनसे ऊपर उठना आवश्यक है। "समत्व बुद्धियुक्त पुरुष शुभ (सुकृत) और अशुभ (दुष्कृत) दोनों कर्मों का त्याग कर देता है।" सच्चे भगवद्प्रिय भक्त का लक्षण बताते हुए वहाँ कहा गया है— "जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक (या चिन्ता) करता है, और न मनोज्ञपदार्थ या शुभफल की आकाक्षा करता है, जो शुभ और अशुभ दोनो कर्मों का परित्यागी है, वही भक्तिमान् साधक मुझे प्रिय है।"[३]

---

१. जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावाश पृ. ४५

२. वही, पृ. ४५-४६

३. (क) बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते। —गीता २/५०

(ख) यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति।

शुभाशुभ-परित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥ —गीता १२/१७

शुभाशुभ कर्मों के बन्धन से छूटने का उपाय बताते हुए गीताकार कहते हैं—"तू जो कुछ भी कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो हवन करता है, अथवा जो कुछ दान देता है, जो तप करता है, वह सब शुभाशुभकर्म मुझे (परमात्मा को) अर्पित कर दे। अर्थात्—उन सभी कर्मों के प्रति तू अहंकर्तृत्व, ममकार या फलासक्तिभाव मत रख। इस प्रकार के भगवदर्पण से तू संन्यासयोग-युक्त होकर तेरा मन शुभ-अशुभ फल देने वाले कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाएगा और तब तू विमुक्तात्मा होकर मुझे (परमात्मा को) प्राप्त कर लेगा।" इस प्रकार गीता का भी संकेत अध्यात्मपूर्ण जीवन के लिए अशुभकर्म से शुभकर्म की ओर तथा शुभ कर्म से शुद्ध कर्म की ओर बढ़ने का है। जैनदर्शन के समान गीतादर्शन भी यह बताता है कि "पुण्यकर्मों का सम्पादन करने वाले जिन व्यक्तियों के पाप (अशुभ) कर्मों का अन्त हो गया है, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप मोह (कर्म) मुक्त होकर वे दृढ़व्रती भक्त (साधक) एकाग्रतापूर्वक मेरी भक्ति करते है।[1]

बौद्धदर्शन का भी अन्तिम लक्ष्य शुभ (शुक्ल) और अशुभ (कृष्ण) कर्म से ऊपर उठकर शुद्ध (अशुक्ल-अकृष्ण) कर्म को प्राप्त करना है। 'सुत्तनिपात' में भगवान् बुद्ध का वचन है—"जो पुण्य-पाप को त्याग कर शान्त (निर्वृत) हो गया है; इस लोक और परलोक के यथार्थस्वरूप को ज्ञात करके कर्मरज से रहित हो चुका है, जो जन्म-मरण से पर हो चुका है, उस स्थिर श्रमण को स्थितात्मा कहा जाता है।" इसी प्रकार सुत्तनिपात में सभिय परिव्राजक द्वारा बुद्धवन्दना मे भी कहा गया है—जिस प्रकार मनोहर पुण्डरीक कमल जल मे लेपायमान नही होता, इसी प्रकार बुद्ध पुण्य-पाप दोनो मे लेपायमान नहीं होते।[2] वस्तुतः बौद्धदर्शन भी जैनदर्शन की तरह शुभाशुभ कर्म से ऊपर उठकर शुद्धकर्म मे—स्व-शुद्धस्वरूप में स्थिर होने की बात कहता है।

इसी प्रकार पाश्चात्य आचारदर्शन के अनेक पुरस्कर्ताओं ने भी आध्यात्मिक परिपूर्णता के क्षेत्र मे पहुँचने की बात को महत्त्व दिया है।

---

१. (क) यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ —गीता ९/२७

(ख) शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ —गीता. ९/२८

(ग) येषां त्वन्तगतं पाप, जनाना पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्व-मोह-निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥ —गीता ७/२८

२. (क) सुत्तनिपात ३२/११
(ख) वही, ३२/३८

'ब्रेडले' नामक दार्शनिक के अनुसार पूर्ण आत्मसाक्षात्कार के लिए नैतिकता (शुभाशुभ) के क्षेत्र से ऊपर उठना होगा; तभी ईश्वर से तादात्म्य स्थापित किया जा सकेगा। वहाँ शुभ और अशुभ का द्वन्द्व या विरोधाभास समाप्त हो जाएगा।[1]

निष्कर्ष यह है कि शुभाशुभ का क्षेत्र व्यावहारिक नैतिकता का है, जिसका आचरण समाजसापेक्ष है, जबकि पारमार्थिक नैतिकता (आध्यात्मिकता) का क्षेत्र शुद्ध चेतना का है, अनासक्त वीतराग दृष्टि का है, जो व्यक्तिसापेक्ष है। उसका अन्तिम लक्ष्य व्यक्ति को बन्धन से बचाकर मुक्ति (पूर्ण स्वतंत्रता) की ओर ले जाना है।

यही कर्म के शुभ, अशुभ और शुद्ध रूप का मूलाधार है।

■

---

१. (क) देखे—इथिकल स्टडीज पृ. ३१४,३४२

(ख) जैनकर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन (डॉ. सागरमल जैन) पृ. ४७

११

सकाम और निष्काम कर्म : एक विश्लेषण

कर्म शब्द के अर्थों में भ्रान्ति

अध्यात्म की तलहटी से चोटी तक पहुँचनें में कर्म साधक की गति-प्रगति में साधक भी बनता है, बाधक भी। वह कभी प्रच्छन्नरूप से और कभी प्रकटरूप से जीव के साथ-साथ चलता है। कभी वह मनुष्य को हँसाता है, कभी रुलाता है, कभी नचाता है, और कभी उदास और कभी मूक बना देता है। विज्ञ मनुष्य ही उसकी गति-प्रगति, सामर्थ्य और प्राबल्य, बाधकता और साधकता को तथा उस पर विजय पाने एवं उसका निरोध और क्षय करने के उपायों को जानता-मानता है। अनभिज्ञ और अज्ञ इसकी गति-प्रगति आदि को तथा इस पर विजय पाने एवं निरोध-क्षय आदि करने के उपाया को न तो जानता-मानता है और न ही प्रायः जानना-मानना चाहता है। वह प्रत्येक काम को ही कर्म समझता है और प्रायः भ्रान्तिवश यह भी मान लेता है कि काम या कार्य ही कर्म का पर्यायवाची शब्द है।

कर्म शब्द के अर्थ भी पूर्वाग्रहगृहीत हो चुके

यद्यपि कर्मशब्द अपने में ज्ञात-अज्ञात, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध सभी अर्थों को समेटे हुए है; तथापि साधारण मानव कभी कर्म शब्द पर गहराईसे सोचता समझता भी नहीं। वह प्रायः यही समझता-सोचता है कि काम, काम और बस काम ही जीवन-पर्यन्त करना है। उस 'कर्म' कोजिसमें शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे, उत्कृष्ट-निकृष्ट, द्रव्यरूप-भावरूप तथा सकाम-निष्काम, कुशल-अकुशल, बन्धक-अबन्धक आदि सभी प्रकार के कर्म छिपे हुए है, और समय आने पर उस कर्म की जड़ में से अंकुर की तरह नाना अर्थ फूटते प्रतीत भी होते हैं, परन्तु अनभिज्ञ और अज्ञ मानव कर्मशब्द के संवेदनशील रहस्य की तथा विभिन्न अर्थों की पर्तों को विवेक विचार के चिमटे से कभी उठाने और हटाने का प्रयत्न नहीं करते।

कभी-कभी परम्परा और पूर्वाग्रह के वश होकर मानव 'कर्म' शब्द को हठाग्रहपूर्वक विचित्र अर्थ में ग्रहण कर लेता है और कर्म के नाम पर

'जैसे को तैसा', 'शठे शाठ्यं समाचरेत्'[१]। 'जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ'[२] तथा अश्वमेध, गोमेध, नरमेध आदि यज्ञ कर्म एवं अजबलि, पशुबलि, महिषबलि, नरबलि आदि बलि कर्म और कुर्बानी इत्यादि हिंसाजनककर्म करके देवी-देवों को सन्तुष्ट करो, वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति[३]। इन और इस प्रकार की गलत मान्यताओं और धारणाओं के चक्कर में पड़कर अपने जीवन को अनन्त जन्म-मरण की घाटियों में भटकाने का प्रयत्न करता है। वह तथाकथित कर्म के फलितार्थ एवं हानि-लाभ पर जरा भी विचार किये बिना गतानुगतिक बनकर अपने जीवन-रथ को उसी पथ पर सरपट दौड़ाता रहता है। वह यह नहीं जानता-बूझता कि शब्दों के अमुक अर्थों की कुछ पुरानी परम्पराएँ मृत हो चुकी हैं और उनकी जगह नई परम्पराएँ आ बैठी हैं। भौतिकविज्ञान, मनोविज्ञान, शरीरविज्ञान, अध्यात्मदर्शन, जीवनविज्ञान, योग-दर्शन आदि सभी विज्ञान और दर्शन आज कर्म शब्द में सुषुप्त और गुप्त नये-नये अर्थों तथा उसके रहस्य की पर्तों को उठाने में लगे हुए हैं।

कर्म के सकाम और निष्काम, दोनों रूपों को जानना आवश्यक

अतः कर्म शब्द के सकाम और निष्काम, दोषपूर्ण और निर्दोष दोनों रूपों को जानना अत्यावश्यक है। जो कर्म मनुष्य-जीवन में एड़ी से लेकर चोटी तक व्याप्त है, उसे साफ-सुथरा, शुद्ध और निर्दोष कैसे बनाया जाए? इस यक्ष-प्रश्न पर विचार करना अनिवार्य है और यह तथ्य कर्म शब्द के सकाम और निष्काम दोनों रूपों को भलीभांति जाने-बूझे बिना नहीं हो सकता।[४]

सकाम और निष्काम शब्द के अर्थों में विपर्यास

यों तो सकाम और निष्काम, ये दोनों शब्द काम शब्द से निष्पन्न एवं

---

१ खून का बदला खून से लो, जैसे को तैसा 'tit for tat' इस प्रकार का कर्म सिद्धान्त 'मूसा' का था।

२ 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ।—यह क्रियात्मक रूप चार्वाक दर्शन का था।

३. (क) वेदों, ब्राह्मणों और पुराणों में इस प्रकार के क्रियाकर्मों तथा काम्यकर्मों का वर्णन मिलता है।
(ख) यज्ञों में पशुबलि का वर्णन मीमांसादर्शन द्वारा कर्म के रूप में प्रतिपादित है।
(ग) उसी का विकृत रूप शाक्त सम्प्रदाय के तंत्र ग्रन्थों में है।
(घ) इस्लाम धर्म में भी हिंसक कर्म प्रचलित है।

४. गीता के अ. २ श्लो. ४१-४२-४३ में सकामी पुरुषों की कर्मसम्बन्धी विविध भ्रान्तियों तथा कर्मफलाकांक्षा, फलासक्ति तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए अनेक क्रियाओं वाली सकाम एवं आकर्षक वाणी का वर्णन है।

व्युत्पन्न होते हैं, परन्तु दोनों शब्दों के अर्थ में रात और दिन का-सा अन्तर है। पहले का अर्थ होता है—काम-सहित और दूसरे का अर्थ होता है—निर्गत-काम यानी काम-रहित। ये दोनों कर्म के विशेषण हैं। इन दोनों में 'काम' शब्द निहित है; इसलिए सर्वप्रथम 'काम' शब्द के विभिन्न अर्थों और क्रमागत पर्यायों पर विचार करना आवश्यक है।

सकाम-अकाम निर्जरा से सकाम-निष्काम कर्म के अर्थ भिन्न हैं

जैनागमों में निर्जरा (अंशतः कर्मक्षय) के विशेषण के रूप में दो शब्द प्रयुक्त होते हैं—सकाम और अकाम। वहाँ 'काम' शब्द का अर्थ इससे सर्वथा भिन्न है। सकाम-निर्जरा और सकाम कर्म तथा अकाम-निर्जरा और निष्काम कर्म इन दोनों के भावार्थ में बहुत अन्दर है। जिस प्रकार सकाम कर्म उपादेय नहीं माना जाता, उसी प्रकार सकाम-निर्जरा त्याज्य नहीं, बल्कि उपादेय मानी जाती है। इसी प्रकार जैसे निष्काम कर्म कथंचित् उपादेय माना जाता है, उस प्रकार अकाम निर्जरा कथमपि उपादेय नहीं मानी जाती। वहाँ सकाम निर्जरा का अर्थ है—स्वेच्छा से, सुदृढ़ मनोबल से, शुद्ध उद्देश्य से की हुई कर्मों की निर्जरा; और अकाम निर्जरा का अर्थ है—बलात्, दबाव से तथा बिना इच्छा से, निरुद्देश्यपूर्वक हुई निर्जरा, जैसे—नरक के नारकीयो के द्वारा जो कष्ट, यातनाएँ भोगी जाती हैं, उनसे जो निर्जरा होती है, वह अकाम निर्जरा है।

कर्म के सन्दर्भ में काम शब्द में अनेक अर्थ गर्भित

परन्तु यहाँ सकाम और निष्काम कर्म के अर्थ ही दूसरे हैं; मुख्य अर्थ तो ऊपर दिये गये हैं। परन्तु 'काम' शब्द के गर्भ में और भी अर्थ छिपे हुए हैं, उन्हें जानने से उसके व्यापक अर्थों का पता लगेगा। सामान्यरूप से शास्त्रों मे दो प्रकार के काम बताए गए हैं—इच्छाकाम और मदनकाम। यद्यपि स्थूल दृष्टि से व्यावहारिक धरातल पर काम शब्द के एकार्थवाची ये सभी शब्द माने जाते हैं—वासना, राग, कामना, आकांक्षा, इच्छा, लालसा, आसक्ति, तृष्णा आदि; तथापि सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करें तो काम शब्द में निहित ये सब अर्थ विपरीत क्रम से उत्तरोत्तर सूक्ष्म होते हुए बाहर से भीतर की ओर चले जाते हैं। ऐसी स्थिति मे (विपरीत क्रम से) पूर्व-पूर्ववर्ती कार्य और उत्तर-उत्तरवर्ती कारण बनता चला जाता है। इन सबकी पृष्ठभूमि में एकमात्र कामसुखानुभव की स्मृति स्थित रहती है, जो कि अपने-अपने विषय के भोगाभ्यास द्वारा जनित संस्कार के रूप में चित्त के अन्तःवर्ती अक्षय कोष में पड़ी रहती है। वह संस्कार ही अन्तिम कारण है।[1]

---

१ कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से भावांश, पृ. १३४-१३५

काम शब्द में सुषुप्त अर्थों का क्रम

श्री जिनेन्द्रवर्णी काम शब्द में सुषुप्त क्रम के सम्बन्ध में लिखते हैं—

इस संस्कार के कारण चित्त पर जो स्मृति का रंग चढ़ गया है, वह **'वासना'** शब्द का वाच्य है। संस्कार के कोष में से निकलकर वह वासना जब 'इदं' का रूप धारण कर लेती है, और चित्त के समक्ष उपस्थित होती है, तब वह **'राग'** कहलाती है। यह राग जब बुद्धि में प्रवेश करके विषय-प्राप्ति के लिए उसके चुटकियाँ भरने (काटने) लगता है, तब **'कामना'** शब्द का वाच्य बन जाता है। यह कामना ही अहंकार की भूमि में आकर उसे उतावली करने के लिए प्रेरित करती है, तब **'आकांक्षा'** कहलाती है। यह आकांक्षा ही जब मन में प्रवेश पाकर उसे इतना बेचैन पर देती है कि वह बहिःकरण (बाह्य करण) को विषय-प्राप्ति के प्रति नियोजित करने में एक क्षण की प्रतीक्षा भी सहन नहीं कर सकती, तब **'इच्छा'** कही जाती है।

किसी स्वादिष्ट पदार्थ को देखकर जिस प्रकार स्वादलोलुप जीवों के मुख से लार टपकने लगती है, उसी प्रकार जब इन्द्रियाँ उस विषय के (उपभोग के) प्रति लालायित हो उठती हैं, तब इच्छा ही **'लालसा'** कहलाती है। विषय के प्राप्त हो जाने पर जब चित्त उसके साथ इस प्रकार तन्मय हो जाता है, (उस विषय को बार-बार भोगने की लालसा प्रबल हो जाती है) कि अहं का लोप होकर केवल 'इदं' शेष रह जाए, तब लालसा (लोलुपता) **'आसक्ति'** का रूप धारण कर लेती है। (वही आसक्ति उत्कटरूप धारण करके मूर्च्छा एवं गृद्धि बन जाती है) इस आसक्ति के फलस्वरूप जब मन में किसी एक ही विषय को निरन्तर पुनः पुनः प्राप्त करने की इच्छा प्रबल होने लगती है, तब वह **'तृष्णा'** कहलाती है।[1]

'वासना' की सूक्ष्म भूमि से 'कामना' तक आने में 'काम' मध्यवर्ती हो जाता है। उसके बाद उत्तरोत्तर स्थूल होता जाता है।

त्रिविधकृतक कर्म दो-दो प्रकार के हैं : सकाम और निष्काम

कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप नामक प्रकरण मे हमने कृतक कर्म तीन प्रकार के बताये थे—ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व, अर्थात्—जानना, करना और भोगना। उपर्युक्त तीनों ही कृतक कर्म सकाम और निष्काम के भेद से दो-दो प्रकार के हो जाते हैं।[2]

सकाम और निष्काम कर्म की व्याख्या

सामान्यतया सकाम और निष्काम कर्म का अर्थ है—फलभोग की आकांक्षा से युक्त कर्म सकाम है, और उससे निरपेक्ष है— निष्काम। स्पष्ट

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से साभार उद्धृत पृ. १३५

२. कृतक कर्मों की व्याख्या के लिए **'कर्म का प्रक्रियात्मक स्वरूप'** नामक प्रकरण देखिये।

शब्दों में कहें तो 'इस व्यापार के द्वारा अर्थ लाभ हो जाने पर मैं मनमाने भोग भोगूंगा,' इस प्रकार की आकांक्षा या वासना से लेकर तृष्णा तक के क्रम में से किसी भी प्रकार की स्थूल या सूक्ष्म इच्छा से युक्त होकर फल-भोगाकांक्षा करना सकाम कर्म है, जबकि पूर्वोक्त किसी भी प्रकार के स्वार्थ या काम से निरपेक्ष-निःस्पृह रहकर केवल लोक संग्रह के लिए या परोपकार के लिए किये गये समस्त कर्म निष्काम हैं।

दूसरे शब्दों में—फलाकांक्षायुक्त स्वार्थकृत कर्म 'सकाम' कहलाता है और उससे निरपेक्ष दूसरे की प्रसन्नता, परार्थ, परहितार्थ किया हुआ कर्म निष्काम कहलाता है। अन्य दर्शनकार फलाकांक्षा से अयुक्त और युक्त होने के कारण जिसे निष्काम और सकाम कर्म कहते हैं, उसे जैनदर्शन दशम गुणस्थानवर्ती संज्वलन कषाय (मद कषाय) से युक्त तथा तीव्र कषाय से युक्त को क्रमशः निष्काम और सकाम कहता है। दोनों का तात्पर्य एक है।

भगवद्गीता में सकाम और निष्काम कर्म की व्याख्या

भगवद्गीता में निष्काम कर्म पर बहुत जोर दिया गया है। वहाँ निष्काम कर्म को कर्मयोग का प्रारम्भ बताया गया है। गीता में निष्काम कर्म और अकर्म का अन्तर भी स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है। वहाँ योगआरुरुक्षु और योगारूढ़ दोनो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—समत्वबुद्धिरूप योग मे आरूढ़ होने के इच्छुक मननशील व्यक्ति के लिए योग की प्राप्ति में 'कर्म'—निष्कामभाव से कर्म करने को ही हेतु (कारण) कहा है। और योगारूढ हो जाने पर उस योगारूढ़ पुरुष के लिए समस्त कामनाओं, वासनाओं, संकल्प-विकल्पों का शमन ही कल्याण का हेतु कहा है। योगारूढ़ वह पुरुष है, जो न तो इन्द्रिय-भोगों में आसक्त होता है, न ही कर्मों में। तथा सर्व-संकल्पों (इच्छाओं) का त्यागी होता है। जैन परिभाषा में उसे वीतराग सयोगी केवली कह सकते हैं। वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होता है।[१]

निष्काम कर्म और अकर्म में अन्तर

निष्काम कर्म और अकर्म में यह अन्तर है कि निष्काम कर्म यद्यपि परोपकार की दृष्टि से किये जाते हैं, तथा व्रत, नियम, तप, त्याग आदि की

---

१. यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव !
न ह्यसंन्यस्त सकल्पो योगी भवति कश्चन॥ २॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ ३॥
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्म स्वनुषज्यते।
सर्व संकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥ —गीता अ. २ श्लो. २-३-४

प्रवृत्ति या साधना अथवा आचरण या धार्मिक पवित्र विधि-विधानों या क्रियाओं का पालन भी आत्मकल्याण या स्वपर-कल्याण की दृष्टि से किया जाता है, परन्तु उसके प्रारम्भ करने से सुख-शान्ति की प्राप्ति, स्वास्थ्यलाभ तथा हितकर होने की इच्छा या विकल्प रहता है। मन में सूक्ष्म अहंकर्तृत्व रहता है, वैसे पुण्यकर्म करने की प्रवृत्ति अधिक रहती है। यद्यपि निष्काम कर्म के फलाकांक्षा या फलभोग की आकांक्षा तथा उसके उत्कटरूप वाली तृष्णा, लालसा आदि नहीं होती, फिर भी किसी तथ्य या वस्तु को जानने और करने की इच्छा तो होती ही है। निष्काम कर्म वाले व्यक्ति की देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा रागयुक्त होती है, उसका संयम, गृहस्थ श्रावकवर्ग का संयमासंयम आदि भी रागयुक्त होता है।

यद्यपि वह राग प्रशस्त होता है, फिर भी शुभ कर्मबन्धकारक तो होता ही है। यद्यपि निष्काम कर्मयुक्त साधक में इहलौकिक या पारलौकिक आशंसा (फलाकांक्षा, निदानरूप फलभोगाकांक्षा) जीवन-मरण की आकाक्षा, फलासक्ति आदि भी नहीं होते और शका, काक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टिप्रशसा एवं मिथ्यादृष्टिसंस्तव आदि सम्यक्त्व के अतिचारों से भी वह प्रायः दूर ही रहता है। फिर भी जब तक वीतरागता की भूमिका पर नहीं पहुँच जाता, तब तक बिना इच्छा या कामना के कोई भी कर्म सम्भव नहीं। लौकिक कार्यों की बात तो दूर रही, लोकोत्तर कार्यों या मोक्षमार्गरूप सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप की प्रवृत्ति भी बिना इच्छा या मुमुक्षा के सम्भव नहीं।[1]

लोकसग्रह के लिए मगल पाठ श्रवण, प्रवचन, परोपकारार्थ कार्य करना आदि तथा प्रत्याख्यान, त्याग, नियम, व्रत आदि प्रदान करना, दीक्षा प्रदान करना, शास्त्राध्ययन करना-कराना आदि कार्यों में भी इच्छा अवश्य रहती है। अपने शिष्यो को अध्ययन कराने में भी गुरु की इच्छा अवश्य होती है कि यह शीघ्र ही विद्वान्, शास्त्रज्ञ एव तत्त्वज्ञ बने। रुग्ण साधु-साध्वी की वैयावृत्य (सेवा) करने मे भी यही इच्छा रहती है कि यह शीघ्र ही स्वास्थ्यलाभ करे। स्थविरकल्पी साधु वर्ग रुग्ण होने पर चिकित्सा कराने और शीघ्र नीरोग हो जाने की इच्छा करता है।

---

१. (क) सरागसंयम-संयमासंयमाऽकामनिर्जरा-बालतपांसि देवस्य॥
—तत्त्वार्थ सूत्र अ. ६ सू. २०

(ख) कर्मरहस्य (श्री जिनेन्द्र वर्णी) से भावाश उद्धृत पृ. १३८
—वही, ७।१८ तथा ७।३२

(ग) लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि। —गीता ३।२०

इस प्रकार लौकिक निःस्वार्थ एवं परार्थ कार्य हो, या लोकोत्तर कार्य, प्रवृत्ति या आचरण हो, प्रत्येक के पीछे कोई न कोई शुभ कामना, शुभेच्छा, प्रशस्तराग आदि रहते ही हैं। यद्यपि अकर्म से युक्त वीतरागी सयोगीकेवली साधक भी गमनागमन, विहार, आहार, नीहार, उपदेश आदि चर्या तो करते हैं, परन्तु उनकी क्रिया के पीछे कोई विकल्प, इच्छा, कामना, रागादिभाव या कषायभाव नहीं होता, इसलिए वह कर्म बन्धकारक नहीं होता। यही निष्काम कर्म और अकर्म में मूलभूत अन्तर है।

निष्काम और सकाम कर्म की विभाजक रेखा

अब रहा सवाल यह कि सकाम और निष्काम कर्म में क्या अन्तर है, जबकि निष्काम कर्म के पीछे भी कोई न कोई शुभ कामना, इच्छा रहती ही है। ऐसी स्थिति में किसी कर्म को निष्काम और किसी को सकाम कैसे कहा जा सकता है? सकाम और निष्काम कर्म की विभाजक रेखा क्या है?

भगवद्गीता में सकाम और निष्काम कर्म का सुन्दर विश्लेषण किया गया है। तीव्र कामनामूलक कर्मों को **'सकाम'** और कर्मफलभोग की या कर्मफल की आकांक्षा न करने को **'निष्काम'** कहा गया है।

निष्काम कर्म की व्याख्या

निष्काम कर्म को वहाँ कर्मयोग या कर्मकौशल बताकर कहा गया है कि "तेरा केवल कर्म करने का अधिकार है, फलप्राप्ति, फलाकांक्षा या फलभोग की इच्छा करने में नहीं।" साथ ही "कर्मफल का हेतु तू मत बन" अर्थात्– "मैंने किया, मै करता हूँ, मेरा किया हुआ है," 'मेरे निमित्त से यह हुआ'– इस प्रकार का अहंकर्तृत्व या ममकर्तृत्व कर्म के साथ मत जोड़। इसके अतिरिक्त एक शर्त और जोड़ दी है, निष्काम कर्म के साथ, वह यह कि कर्तव्य कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न हो, अर्थात्-कर्तव्य कर्म करते हुए निन्दा-प्रशंसा भी होती है, अथवा कार्य में बाधाएँ भी आती हैं। अतः उन्हें सोचकर तू अगर सत्कर्तव्य को, आवश्यक कर्तव्य को छोड़कर निश्चिन्त होकर बैठ जाएगा कि कर्म ही नहीं करूँगा तो कर्म का त्याग हो जाएगा; इस भ्रम में मत पड़। बाह्यरूप से कर्म का त्याग कर देने मात्र से कर्मत्यागी नहीं हो जाता; कर्मफल का त्याग ही, स्वेच्छा से कर्मफलाकांक्षा-त्याग ही कर्मत्याग है।[१]

---

१. (क) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूः, मा ते संगोऽस्त्व कर्मणि॥ —गीता २/४७

(ख) यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते। —गीता १८/११

(ग) जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥ —दशवेकालिक २/३

निष्काम कर्म में भी फल-प्राप्ति अपने अधीन नहीं

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सकाम कर्म हो या निष्काम, प्रत्येक कर्म का फल अवश्य होता है। ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि मनुष्य कर्म करता जाए और उसका फल न मिले। फल का यहाँ सीधा अर्थ है—सुख या दुःख की प्राप्ति।[1] सुख-दुःख के हेतु से कर्म का परम्परागत फल विषयप्राप्ति भी हो सकता है। किन्तु फलप्राप्ति कर्तृत्व के अधीन न होकर भोक्तृत्व के अधीन होती है। किसान बीज बोने और उसे लगातार सींचने आदि का कार्य कर सकता है, फसल पैदा कर देना उसका काम नही। धान्य-प्राप्ति रूप फल उसे यथासमय स्वतः मिलता है, अथवा नहीं भी मिलता। एक विद्यार्थी अपने पाठ को पढ़ने, उच्चारण करने और रटने का काम तो स्वयं कर सकता है, लेकिन पाठ का याद हो जाना उसके वश की बात नहीं। पाठ याद तो उसके क्षयोपशम के अनुसार स्वतः हो जाता है। जिसमें अधिक योग्यता है, उसे पाठ शीघ्र याद हो जाता है; कम योग्यता है, उसे पाठ देर से याद होता है। कर्म का फल यथेष्ट—मनचाहा मिले, यह भी कोई नियम नही है। मिल भी सकता है, नहीं भी। कभी-कभी मनुष्य सत्कार्य करता जाता है, परन्तु फल उसकी इच्छा के विपरीत होता है। रोग-शमन के लिये दी गई औषधि भी कभी-कभी रोगी को मृत्यु के मुख में पहुँचा देती है।[2]

कर्मफल त्याग के चार आधार

इतने विश्लेषण पर से कर्मफल के विषय में चार तथ्य फलित होते हैं—(१) कर्म वर्तमान में होता है, फल भविष्य मे, कभी-कभी सुदूर भविष्य मे, (२) कर्म करने की भांति फलप्राप्ति मे मनुष्य का अधिकार नहीं, वह होता है, किया नही जाता, (३) कर्म का फल अवश्य होता है, (४) परन्तु कर्मफल सर्वथा मनचाहा हो, मनुष्य की इच्छानुसार ही हो, ऐसा नियम नही है; वह कभी कम, कभी अधिक और कभी विपरीत भी हो जाता है।[3]

निष्कामकर्मी सत्कर्तव्य, परार्थ कर्म आदि अनासक्तिपूर्वक करता है

इस अपेक्षा से निष्काम कर्म करने वाला केवल सत्कर्म, सत्कर्तव्य, परार्थ कर्म, तदर्थ कर्म, यज्ञार्थ कर्म, अनासक्ति पूर्वक कर्म करता है। अतः निष्काम कर्म में इच्छा तो है, जानने और करने की, परन्तु उसकी इच्छा या कामना केवल वर्तमान के साथ सम्बद्ध है। किन्तु वहाँ कर्तव्यकर्म करना

१. कर्मरहस्य पृ. १४८ से भावांश।

२. कर्मरहस्य से भावांश पृ. १३६

३. वही, पृ. १३६-१३७ से भावांश

मात्र ही अधिकृत या अभीष्ट है। किन्तु सकाम कर्म की कामना वर्तमान की अपेक्षा सुदूर भविष्य के साथ अधिकाधिक सम्बद्ध होती है।

सकाम कर्म से युक्त मानव की बुद्धि व्यवसायात्मिका (दृढनिश्चयकारिणी) नहीं होती। वह नाना विकल्पों और विषयों में दौड़ लगाती रहती है। इसलिए अव्यवसायात्मिका होती है।[1] किसी भी कार्य को करने से पहले उसकी बुद्धि स्वार्थ की ओर लगी रहती है। वह अपने तुच्छ स्वार्थ की, अपने फायदे की, अपनी स्वार्थसिद्धि की बात सोचता है, परहित उसके समक्ष गौण एवं उपेक्षित होता है। वह काम करने से पहले सोचता है कि जिस काम को करने का मैंने सोचा है, संकल्प किया है, उससे मुझे अर्थलाभ, प्रतिष्ठालाभ, स्वार्थसिद्धिलाभ, यशकीर्तिलाभ, सांसारिक सुखसामग्री का लाभ या मनचाहा यथेष्ट लाभ होगा या नहीं। उसका दृष्टिकोण लौकिक फायदावादी होता है। अगर उस काम से उसे यथेष्ट फल की प्राप्ति होती दिखाई देती है तो वह काम करता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार फल की आकांक्षा को हृदय में संजोकर काम करना ही सकाम कर्म का लक्षण है।

सकामकर्मी की तीव्र कामना कार्य करने से पहले भविष्यत् की ओर दौड़ लगाती है। वह वहीं बैठकर पहले एक लम्बा चौड़ा प्लान बना लेता है, मन में फल प्राप्ति के विकल्पों का लम्बा खाका खींच लेता है।

उदाहरणार्थ—मेरा यह काम सफल हो गया तो मेरे पास एक महल होगा, मोटर गाड़ियाँ होंगीं, नौकर-चाकर होंगे, बाग-बगीचे होंगे, आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन हो जाएँगे, सारे समाज में मेरी प्रसिद्धि, प्रशंसा और प्रतिष्ठा होगी। तब मैं अपने स्वजनों और अभीष्ट जनों पर अनुग्रह करूँगा, और अपने द्वेषियों-विरोधियों को नीचा दिखाऊँगा, उनकी इज्जत धूल में मिला दूँगा। अगर यह कार्य सफल न हुआ तो इसमें लगाई गई सारी पूँजी बेकार हो जाएगी। मै वर्तमान हालत से भी गई-बीती हालत में पहुँच जाऊँगा। फिर तो मैं किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहूँगा। सम्भव है, मैं दर-दर का मोहताज हो जाऊँ; इत्यादि नाना विकल्पों में उसका मन घूमता रहता है। कार्य प्रारम्भ करने से पहले भी उसके मन में तुच्छ स्वार्थकामनाओं के ये विकल्प रहते हैं, और कार्य पूरा हो जाने के बाद भी वे समाप्त नहीं होते। सफल होने पर हर्ष और असफल होने पर विषाद के विकल्पों की उधेड़-बुन में वह लगा रहता है।

---

१. तुलना कीजिए—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ —भगवद्गीता अ. २ श्लो. ४१

इसीलिए आचारांग सूत्र में कहा गया है—"कामनाएँ (काम) दुरतिक्रम हैं, उनका पार पाना दुष्कर है। जीवन (आयुष्य) बढ़ाया नहीं जा सकता।" कामनाएँ सफल होने पर मोह, आसक्ति, रागभाव बढ़ता जाता है और असफल होने पर यह कामकामी (कामभोगों की कामना करने वाला) पुरुष निश्चय ही शोक करता है, विलाप करता है, मर्यादा से भ्रष्ट हो जाता है तथा दुःखी और संतप्त होता है।[1]

दोनों ही स्थितियों में विविध स्वार्थानुरंजित विकल्प उसका पिण्ड नहीं छोड़ते।[2]

गीता में सकामकर्मियों की पहचान

गीता में बताया गया है कि "जो सकामी पुरुष होते हैं, वे केवल फल-प्राप्ति में ही प्रीति रखते हैं, वे कामात्मा होते हैं, स्वर्ग को ही वे परमश्रेष्ठ मानते हैं। जिनसे जन्म-मरणादिरूप संसार ही फलित होता है, ऐसे भोग और ऐश्वर्यरूप फल-प्राप्ति की विविध क्रियाओं का प्ररूपण करते हैं, अर्थात्—स्वर्गादि विविध कामभोगों (कामनाओं और वासनाओं) में परायण रहते हैं और वेदवादरत वे अविवेकीजन उन्हीं का अपनी चित्ताकर्षक एवं मोहक वाणी में प्रतिपादन करते हैं।"[3]

सकाम कर्म में कामना से लेकर तृष्णा तक की दौड़

इसका फलितार्थ यह है कि व्यक्ति 'सकाम कर्म' में 'काम' वासना से लेकर तृष्णा कर दौड़ लगाता रहता है, कदाचित् बाहर से वह शारीरिक चेष्टाओं का त्याग करके बगुले की तरह ध्यान लगाकर बैठ जाए, फिर भी उसके अन्तःकरण-चतुष्टय में फल-सम्बन्धी विविध विकल्पों की उधेड़-बुन होती रहती है।

काम्यकर्मों का तथा कर्मफल का त्याग ही कर्मत्याग है

तात्पर्य यह है कि बाह्यरूप से कर्म (कार्य) का त्याग कर देने मात्र से कर्मत्याग या निष्काम कर्म नहीं हो जाता। गीता में स्पष्ट बताया गया है

१. "कामा दुरतिक्कम्मा। जीवियं दुप्पडिबूहगं।"
"कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ, तिप्पइ, पिट्टइ परितप्पइ।"
—आचारांग श्रु. १, अ.२, उ.५

२. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से साभार उद्धृत पृ. १३९-१४०

३. कामात्मानः स्वर्गपरा जन्म कर्म-फलप्रदाम्।
क्रिया-विशेषबहुला भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ! नान्यदस्तीति वादिनः॥ —गीता २/४३-४२

कि काम्य (कामनामूलक, तीव्रकषायमूलक) कर्मों का न्यास (त्याग) को ही विद्वानों ने संन्यास=कर्मत्याग कहा है। कई विचक्षण पुरुषों ने सर्व-कर्मफल-त्याग को ही वास्तविक कर्मत्याग या निष्काम कर्म कहा है।[1]

जैनदृष्टि से सर्वकाम-त्यागी ही वास्तविक त्यागी साधक

जैनशास्त्र दशवैकालिकसूत्र में भी कहा गया है कि "... जो कामों (विविध कामनाओं तथा वासनाओं=इच्छाकामों और मदनकामों) का त्याग (निवारण) नहीं कर सकता वह पद-पद पर संकल्प-विकल्पों के वशीभूत होकर विषाद पाता है।" जैसा कि पहले कहा गया था—'यह वस्तु मेरी हो जाए, मैं इसका उपभोग करूँ, मेरे पास यह वस्तु हर समय बनी रहे, अथवा मेरे पास सुन्दर-सुन्दर वस्त्र, आभूषण, सुगन्धित पदार्थ, उत्तमोत्तम शयनासन, मनोज्ञ सुन्दरियों का समागम आदि बना रहे, ये और इस प्रकार की कामनाएँ और वासनाएँ मन ही मन संजोता रहता है, मगर उन वस्तुओं की प्राप्ति, अथवा अपने तप, संयम और त्याग के फल के रूप में उनकी प्राप्ति अपने अधीन नहीं है, वह वस्तुतः (कर्म) त्यागी (या निष्कामकर्मी) नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी (कर्म-त्यागी या निष्काम कर्मी) उसी को कहा जाता है, जो उत्तमोत्तम वस्त्राभूषणादि तथा इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों या पदार्थों की प्राप्ति स्वाधीन होने पर भी उनका स्वेच्छा से—मन से त्याग कर देता है, अन्तःकरणचतुष्टय से उनकी प्राप्ति या स्वामित्व-प्राप्ति की कामना तक नहीं करता। इसलिए काम (विविध कामना) त्यागी को ही वहाँ त्यागी कहा गया है, न कि कर्म (कार्य) त्यागी को।[2]

निष्कामकर्मी साधक 'कर्म' को न पकड़कर कर्म के मूल 'काम' को पकड़ता है

कुत्ता बन्दूक से निकली हुई गोली या बन्दूक को पकड़ने के लिए लपकता है, जबकि सिंह बन्दूक या गोली को न पकड़कर बन्दूक या गोली चलाने वाले पर झपटता है। यही सिद्धान्त यहाँ लागू होता है। निष्काम कर्म-युक्त साधक कर्म (कार्य) को न पकड़कर उसके कारणभूत 'काम' (कामना-वासना) को पकड़ता है। जैसे—डाली काट डालने से वृक्ष नष्ट नहीं होता; वह नष्ट होता है, उसके मूल को उखाड़ने से। डाली काट देने

---

१. काम्यानां कर्मणां न्यासं, संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं, प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ —गीता १८/२

२. "..................... जे कामे न निवारए।
पए पए विसीयन्तो संकप्पस्स वसं गओ ॥
वत्थ-गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चइ॥

से उसी जगह दूसरी डाली उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार एक कार्य (कर्म) का त्याग कर देने से तुरन्त दूसरे कार्य (कर्म) में प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए निष्काम कर्म के लिए नियतकर्म का त्याग आवश्यक नहीं बताया, अपितु उन-उन कर्मों (कार्यों) पीछे रही हुई फलप्राप्ति की कामनाओं, वासनाओं या लालसाओं (कामों) का त्याग आवश्यक बताया है। कामत्याग के अन्तर्गत पूर्वोक्त कामना, वासना, संस्कार आदि से लेकर तृष्णा तक का त्याग समझ लेना चाहिए।[1]

निष्कामकर्म में कर्मफल की आकांक्षा तथा कर्मफल का त्याग

इस दृष्टि से निष्कामकर्म में दो बातें प्रतिफलित होती हैं—(१) नियतकर्म का त्याग नहीं, अपितु कर्मफल की आकांक्षा (कामना) का त्याग, एवं (२) कर्मफल का त्याग। इस परिभाषा में गीता और जैनागम दोनों एकमत हो जाते हैं।

मीमांसकों द्वारा प्रतिपादित त्रिविध कर्म सकाम हैं

निष्काम कर्म की इस कसौटी पर जब हम वेदवादरत मीमां-सकों द्वारा प्रतिपादित त्रिविध कर्मों (काम्यकर्म, निषिद्ध कर्म और नित्य-नैमित्तिक कर्म) को कसते हैं तो स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि इन तीनों ही प्रकार के कर्मों के पीछे कामना निहित है। **'स्वर्गकामो यजेत', 'पुत्रकामो यजेत'**, इत्यादि वाक्यों द्वारा निहित काम्यकर्मों के मूल में तो स्पष्टतः इहलौकिक-पारलौकिक कामनाएँ हैं। मांसभक्षण, सुरापान, ब्राह्मणहत्या आदि निषिद्ध कर्म त्याज्य होते हुए भी यदि इन निषिद्ध कर्मों के त्याग के पीछे लोभ, स्वार्थ, भय, वासना, कामना आदि हैं तो वे भी निष्काम न रहकर 'सकाम' हो जाएँगे। यद्यपि काम्यकर्म 'सकाम' होते हुए भी पर-अहितकर नहीं होते, परन्तु निषिद्ध कर्म तो स्व-पर-अहितकर होते हैं। तीसरे नित्य-नैमित्तिक कर्म भी प्रकारान्तर से सकाम हैं, विविध लौकिक सुफलाकांक्षाएँ, कामनाएँ उनके पीछे छिपी हैं। जैसे—सन्ध्यावन्दन, श्राद्धकर्म, षोड़श संस्कार, उपनयन आदि भी किसी न किसी लौकिक कामनावश किये जाते हैं, इसीलिए गीता में वेदवादरत पुरुषों द्वारा प्रतिपादित एवं आचरित (पूर्वोक्त त्रिविध)कर्मों को प्रायः कामनामूलक होने से 'सकामकर्म' की कोटि में परिगणित किया है।

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से भावांश उद्धृत पृ. १३८

गीता प्रतिपादित सकाम और निष्काम कर्म

गीता में भी सकाम और निष्काम कर्म का अन्तर समझाते हुए कहा गया है—यज्ञ, दान, तप या अन्य ऐसे ही कर्म सात्त्विक हों, फलाकांक्षारहित बुद्धि से किये गए हों तो वे निष्काम हैं, किन्तु वे राजस और तामस हों तो सकाम हैं।[१] सकाम में भी राजस कर्म है तो शुभ हो सकता है और तामस हो तो अशुभ है।

गीता में कहा गया है कि जो मनुष्य शास्त्रविधि से रहित तप (पंचाग्नि आदि) तपते हैं या करते हैं, वे दम्भ और अहंकार से युक्त हैं, और वे कामना, आसक्ति और बलाभिमान से युक्त हैं।[२]

तप और पंचाचार का अनुष्ठान सकाम न हो, निष्काम हो

दशवैकालिकसूत्र में भी इसी प्रकार के कामनायुक्त तप एवं धर्माचरण का निषेध; और केवल आत्मशुद्धि (निर्जरा) तथा आर्हत् (वीतरागत्व) प्राप्ति के हेतु करने का विधान किया गया है। इसका भी तात्पर्य यह है कि तप, संयम, महाव्रत, यम-नियम आदि किसी की साधना सकाम नहीं होनी चाहिए, वह निष्काम होनी चाहिए।[३]

निष्काम कर्म के लिए सम्यक्त्व सर्वप्रथम आवश्यक

यही कारण है कि जैनदर्शन ने प्रत्येक नियम, व्रत, धर्माचरण, महाव्रत आदि का आचरण करने से पहले सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) का होना अनिवार्य बताया है। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों से रहित होना आवश्यक है। शम (या सम), संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था सम्यग्दर्शन के चिह्न हैं। इन पाँच लक्षणों से युक्त होगा, वह सम्यग्दृष्टि पुरुष पूर्ण श्रद्धा-भक्ति -उत्साह से युक्त होकर तप, संयम, त्याग आदि का मुख्य उद्देश्य समझकर निष्काम बुद्धि से करेगा, तब तो उसका वह तपःकर्म, धर्माचरण, महाव्रतादि पालन देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा प्रशस्त रागयुक्त होते हुए भी निष्काम कहलाएगा, परन्तु इहलौकिक-पारलौकिक फलाकांक्षा, फलप्राप्ति, स्वार्थ, लोभ, भय आदि से प्रेरित होगा, वह चाहे दान हो, तप हो, शील हो, सामायिक हो, संयम हो, व्रत-नियम हो, त्याग हो, या ज्ञान-दर्शन-चारित्र हो वह सकाम होगा, निष्काम नहीं।[४]

---

१. एतान्यपि तु कर्माणि संगे त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्॥ —गीता १८/६

२. गीता १८/२३-२४-२५

३. दशवैकालिक अ. ९, उ. ४, सू. ४-५

४. सम्यक्त्वमूलान्यणुव्रतानि।

ये बालतप सकाम हैं, निष्काम नहीं

यही कारण है कि औपपातिकसूत्र में सम्यग्दर्शन से रहित तापसों के विविध प्रकार के तपःकर्म को बालतप एवं सकामतप कहा गया है। भगवतीसूत्र में तामली तापस आदि के तपश्चरण को भी कामनामूलक (सकाम) होने से बालतप कहा गया है।[१]

कर्म-त्याग का उपदेश परम्परा से निराकुल सुख के लिए है

निष्काम कर्म के सन्दर्भ में जिनेन्द्रवर्णी जी का स्पष्ट अभिमत है कि "कर्म-त्याग का उपदेश वास्तव में कर्म-त्याग न होकर कामना-त्याग के लिये है। वासना-त्याग का उपदेश संस्कारोच्छेद के लिये, संस्कारोच्छेद का उपदेश (अहंत्व-ममत्वादि के) बन्धन-छेद या पारतंत्र्योच्छेद के लिए तथा पारतंत्र्योच्छेद का उल्लेख तन्मूलक आभ्यन्तर दुःखोच्छेद के लिये और दुःखोच्छेद का उल्लेख निराकुल सुख की प्राप्ति के लिए है। जिस प्रकार अन्धकार का विनाश तथा प्रकाश की प्राप्ति दोनों एक ही बात है, उसी प्रकार आभ्यन्तर दुःख का उच्छेद और निराकुल सुख की प्राप्ति भी वास्तव में एक ही बात है।"[२]

सकाम निष्काम दोनों कर्मों में कामना होते हुए भी महान् अन्तर

पूर्वोक्त प्रकार से निष्काम और सकाम दोनों ही कर्मों में कामना विद्यमान होते हुए भी दोनों में महान् अन्तर है। सकामकर्म में वर्तमान के साथ भविष्य मे भी फलभोग की आकांक्षा उठती है, और उठती रहती है, जबकि निष्काम कर्म फलभोग की कामना से निरपेक्ष तथा केवल दूसरे के हित और कल्याण की भावना से प्रेरित होता है।

सकामकर्मी और निष्कामकर्मी के अन्तर को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा है—(युक्त) निष्कामकर्मयोगी कर्म के फल का त्याग कर परमात्म-प्राप्तिरूप नैष्ठिक शान्ति को प्राप्त करता है, जबकि सकामकर्मी पुरुष फल में आसक्त होकर विविध (वर्तमान और भविष्य) की कामनाओं द्वारा बंधन में पड़ जाता है। निष्कामकर्मयोगी इन्द्रियों, मन, बुद्धि और काया के द्वारा भी आसक्ति का त्याग करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिए कर्म करते हैं। ऐसे जो व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को प्रभु-समर्पण करके और फल के प्रति

---

१ (क) उववाईसूत्र में देखें—बालतप और बाल तपस्वियों का विवरण

(ख) देखिये— भगवतीसूत्र शतक ३, उ. २ में तामलि बाल तपस्वी का वर्णन

२ कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से साभार पृ. १३८

आसक्ति का त्याग करते हुए कर्म करते हैं, वे जल से कमलपत्र के सदृश पाप से लेपायमान नहीं होते।[1]

सकाम कर्म की प्रवृत्ति : निपटस्वार्थानुरंजित

इसके विपरीत, सकाम कर्म की प्रवृत्ति स्वार्थानुरंजित होने के कारण तीव्र कषायमूलक होती है। अतिस्वार्थ या तुच्छ स्वार्थ केवल अपने मतलब को येन-केन-प्रकारेण सिद्ध करना तथा अपने विषय को प्राप्त करना जानता है। वह न्याय-अन्याय की, हिताहित की, या स्वहित के साथ पर-हित की अथवा स्व-अहित पर-अहित की चिन्ता करना नहीं जानता। इसके लिए वह अनेक प्रकार के छल-प्रपंच, झूठ-फरेब, धोखाधड़ी, चोरी-ठगी या बेईमानी करता है। मेरी इस प्रवृत्ति से दूसरों का कितना अहित, नुकसान होगा या दूसरे को कितना कष्ट उठाना पड़ रहा है, इस चिन्तन-मनन के लिए उसके पास वैसा हृदय ही नहीं होता। जिस किसी तरीके से अधिकाधिक अर्थ और पदार्थों का ममत्वपूर्वक संचय और उपभोग करते रहना ही उसका लक्ष्य होता है।[2]

दूसरी बात यह है कि जहाँ उत्कट फलाकांक्षा होती है, वहाँ उसके साथ तीन बातें जुड़ी रहती हैं—स्वामित्व, अहंकर्तृत्व और अहंभोक्तृत्व। पहले किसी वस्तु पर कामना और ममता होती है, तब उसके साथ स्वामित्व जुड़ता है। पूर्वकृत पुण्योदय से कदाचित् मनश्चिंतित या मनोज्ञ वस्तु की न्यूनाधिक रूप में पूर्ति हो जाती है, तब उसे स्वार्थ की सगी बहनें अहंता, ममता होती हैं, फिर अहंकर्तृत्व, स्वामित्व और अहंभोक्तृत्व के रूप में स्वार्थ के सहोदर भाई आ मिलते हैं।[3]

आशय यह है कि किसी भी विषय पर स्वामित्व प्राप्त करने के लिए पहले कर्तृत्व आवश्यक है। मैं करता हूँ, मैंने किया, इस प्रकार का कर्तृत्व-अभिमान हो जाने पर प्राप्त विषय का उपभोग करने के प्रति रति, या आसक्ति हो जाती है। दूसरे की वस्तु को या मनोज्ञ पदार्थ को जाना जा सकता है परन्तु उसका उपभोग करने की इच्छा सहसा नहीं हो सकती। किन्तु फलाकांक्षा के गर्भ में अहंत्व, ममत्व, अहंकर्तृत्व, स्वामित्व एवं अहंभोक्तृत्व आदि तुच्छ-स्वार्थभाव रहते हैं।

---

१. (क) कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १३९
   (ख) गीता अ. ५/१२-११-१०

२. कर्मरहस्य (जिनेन्द्रवर्णी) से पृ. १४१

३. वही, पृ. १४०

कदाचित् किसी अशुभ कर्म के उदय से फलाकांक्षा पूर्ण न हो, उसमें कोई विघ्न-बाधा आ जाए तो उस समय एक ओर तो अपने पर, भगवान् पर, काल पर या विघ्नादि करने वाले निमित्तों पर क्रोध, द्वेष, रोष, घृणा, ईर्ष्या, वैरभाव, जुगुप्सा, झुंझलाहट, झल्लाहट आदि तथा दूसरी ओर निराशा, शोक, लोभ, क्षोभ, चिन्ता, व्यग्रता, उद्‌विग्नता और भीति, अरति आदि पैदा हो जाती है।

इस प्रकार सकाम कर्म के साथ फलाकांक्षा की भूमि पर तुच्छ स्वार्थ के रूप में जीवन को कलुषित एव पापकालिमा से तमसाच्छन्न करने वाले समस्त तीव्र कषाय तीव्र गति दौड़ लगाते रहते हैं। अतः लोभ और अहंकार के राज्य में होने के कारण सकाम कर्म में स्वामित्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनों भाव तुच्छ स्वार्थ से ओतप्रोत हैं।[१]

यद्यपि निष्कामकर्म में भी परार्थ तथा परमार्थ में भी शीघ्र सफल होने की इच्छा वाला स्वार्थ अवश्य होता है, परन्तु फलभोग की आकाक्षा, अहंकर्तृत्व, कर्मफलासक्ति आदि न होने के कारण वह स्वार्थ तुच्छ एवं निपट स्वार्थ नहीं कहलाता। निष्कामकर्म में परहितार्थ कर्म होने से वह निपटस्वार्थ से विपरीत है, इस कारण स्वामित्व, अहंकर्तृत्व एवं अहंभोक्तृत्व ये तीनों भाव उसमें सम्भव नहीं हैं। निपटस्वार्थ से अस्पृष्ट होने के कारण परार्थ एवं परमार्थ से ओतप्रोत निष्काम कर्म में ये तीनों भाव सम्भव नहीं है।[२]

इसका यह अर्थ नहीं कि निष्कामकर्मी (गीता की भाषा मे कर्मयोगी) अपने कर्म का फल सर्वथा नहीं भोगता अथवा उसके द्वारा प्राप्त विषय का वह सर्वथा सेवन नही करता। वह उसका सेवन अवश्य करता है, किन्तु अहंकर्तृत्वविषयक आसक्ति तथा अहंभोक्तृत्वविषयक लालसा तथा फल-प्राप्तिविषयक तृष्णा, कामना, यशोलिप्सा अथवा कर्मफलासक्ति उसमें नही होने से वह बाहर से पदार्थों या विषयों का यथायोग्य मर्यादा में यतना-पूर्वक उपभोग या सेवन करता हुआ भी भीतर में निर्लेप रहता है।[३]

भगवद्‌गीता में इस कर्म को तदर्थ कर्म (परमात्मार्थ=शुद्धात्म-प्राप्त्यर्थ कर्म) तथा यज्ञार्थ (परार्थ या परोपकारार्थ) कर्म कहा गया है। वहाँ यह भी बताया गया है कि हे अर्जुन! यज्ञार्थ (परोपकारार्थ या परमार्थ) कर्म के सिवाय अन्य कर्म में सलग्न यह मानव कर्म-बन्धन कर लेता है। इसलिए

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से भावांश पृ. १४०

२. वही, पृ. १४०

३. वही, पृ. १४२

मदर्थ (आत्मार्थ या परमात्मभावप्राप्त्यर्थ) कर्म का समस्त आसक्तियों से मुक्त होकर सम्यक् आचरण कर।

जैन परिभाषा में कहा जा सकता है– यतनापूर्वक चलना, फिरना, सोना, खाना-पीना आदि चर्या क्रिया करना ही निष्काम कर्म है।[1] अर्थात्– साधक को अपनी किसी भी चर्या में, महाव्रतादि पालन में, साधना में, तपस्या आदि में दम्भ, दिखावा, अविवेक, यशकीर्ति, प्रसिद्धि, प्रदर्शन, लोभ, स्वार्थ, फललिप्सा, अहंकर्तृत्व, स्वामित्व, भोक्तृत्व, लालसा आदि से दूर रहना चाहिए। ऐसा निष्कामकर्मी साधक पापकर्म का बन्धन नहीं करता, पाप से लिप्त नहीं होता।

सकाम कर्म को निष्काम में परिणत करने की तीन विधियाँ

गीता में सकाम कर्म को निष्काम कर्म के रूप में परिणत करने के लिए परमात्मसमर्पण की तीन विधियाँ बताई गई हैं–(१) परमात्मा में मन, बुद्धि और चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करना, (२) मदर्थ (परमात्मा के लिए) कर्म करना, (३) आत्मवान् (आत्मार्थी) एवं यत्नवान् होकर परमात्म-प्राप्तिरूप योग की शरण मे आना और सर्वकर्मफलत्याग करना।

इन तीनों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर की विधि श्रेष्ठ बताई है। मदर्थ कर्म का विश्लेषण करते हुए गीता में कहा गया है–यज्ञ, दान, तप या शयन, भोजन आदि जो भी सत्कर्म या नियतकर्म करना हो, उसे परमात्मा को अर्पण करके कर। ऐसा करने से अहंकर्तृत्व, अहंभोक्तृत्व एवं कर्मफलासक्ति दूर होगी और मंद-सकाम कर्म भी निष्काम कर्म के रूप में परिणत हो जाएगा।

जैनपरिभाषा में इसका फलितार्थ यह है कि यतनापूर्वक– विवेकपूर्वक आत्महित की दृष्टि से कर्म या प्रवृत्ति करे। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का मुख्य स्वर आत्महित या आत्मार्थ की ओर है। अर्थात्- अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ मे प्रवृत्ति करे, वह भी यतना, विवेक, वैराग्य, शम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था आदि भावों से ओतप्रोत होकर।[2]

निष्काम पक्ष का ग्रहण कठिन

यद्यपि ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व ये तीनों ही प्रकार के कृतक कर्म सकाम भी होते हैं, निष्काम भी। व्यावहारिक धरातल पर पूर्वोक्त त्रिविध

१. (क) गीता ३/९
   (ख) दशवैकालिक अ. ४/८
   (ग) सामायिक साधना में मन के १० अतिचार।

२. (क) गीता अ. १२/८-९-१०-११ तथा १२/५५, ९/२६-२७
   (ख) उत्तराध्ययन ३१/२

कृतक कर्म सकाम ही प्रतीत होते हैं, ऐसा ही देखा-सुना एवं परिचित तथा विश्रुत है। इस कारण व्यावहारिकदृष्टि से यह वस्तुतः सकाम ही प्रतीत होता है, निष्काम नहीं। किन्तु निश्चयदृष्टि से हृदय-भूमि में प्रवेश किये बिना निष्काम पक्ष का ग्रहण सम्भव नहीं है। अध्यात्म पथ में आभ्यन्तर ही प्रधान है, बाह्य नहीं। परन्तु निष्काम-पक्ष के विषय में जब भी कोई वक्ता कुछ कहने-समझाने का प्रयत्न करता है, तब साधारणजन उसके आशय को स्पर्श करने, ग्रहण करने एवं हृदयंगम करने में असमर्थ होने के कारण अथवा निष्काम-पक्ष का विषय अदृष्ट, अननुभूत एवं अश्रुत होने के कारण बहुधा श्रोतागण के समक्ष सकामपक्ष ही प्रस्तुत हो जाता है। ऐसी स्थिति में निष्कामपक्ष श्रोतागण को प्रायः हृदयंगम नहीं हो पाता है।[१]

निष्काम कर्म में सूक्ष्म प्रशस्तरागात्मक कामना तथा फलाकांक्षा भी

निष्काम कर्म के विषय में एक शंका यह भी हो सकती है कि निष्काम कर्म में जैसे सूक्ष्म प्रशस्तरागात्मक कामना रहती है, वैसे प्रशस्त फलाकांक्षा भी तो सूक्ष्मरूप में रहती है। व्यावहारिक भूमिका में सूक्ष्म फल के लोभरूप फलाकांक्षा का सर्वथा अभाव होना सम्भव नहीं। लौकिक परोपकारादि कर्मक्षेत्र की बात तो दूर रही, लोकोत्तर स्व-पर-कल्याण-साधना के क्षेत्र में भी वीतराग पूर्णकाम अर्हद् भगवन्तों या उस कोटि के केवली (सर्वज्ञ) भगवन्तों के सिवाय अन्य किसी गुणस्थानवर्ती जीव को शत-प्रतिशत ऐसी उच्चतम स्थिति प्राप्त नहीं होती। साधकवर्ग चाहे कितनी ही उत्कृष्ट महाव्रतादि या दशविध क्षमादि धर्म का आचरण करता हो, किन्तु अपनी-अपनी भूमिका के अनुरूप उसमें प्रशस्त एवं सूक्ष्म फलाकांक्षा का सद्भाव अवश्य रहता है।[२]

सैद्धान्तिक दृष्टि से दशम गुणस्थान तक लोभ रहता है

किसी भी बाह्य पदार्थ के प्रति निष्काम कर्मयोगी की फलाकांक्षा न भी हो, परन्तु अपनी उक्त स्थिति अथवा सफलता के प्रति सूक्ष्म अहंकार, अधिकाधिक प्रगति करने का सूक्ष्म लोभ, अपनी पद्धति के प्रति सूक्ष्म आग्रह तथा अपनी स्वीकृत साधना में आगे बढ़ने की तथा कभी-कभी स्वीकृत देव-गुरु-धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति के साथ-साथ रागभाव एवं कट्टरता, शास्त्रीय ज्ञान आदि में दूसरे से आगे बढ़ने की कर्तृत्व विषयक कामना तथा कभी-कभी अपने आचार-विचार एवं मान्यता, परम्परा आदि के प्रति हलका-सा पूर्वाग्रह; ये और इस प्रकार की ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, कर्तृत्व विषयक प्रशस्त कामना—प्रशस्त सूक्ष्म फलाकांक्षा का सद्भाव उसमें संभावित है।

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १४२-१४३

२. वही, पृ. १४३

जैनसिद्धान्तानुसार दशवें गुणस्थान तक संज्वलन लोभ रहता है। अतः निष्काम कर्मयोगी में प्रशस्तराग का अंश शेष होने से वह पूर्णतया फलाकांक्षा का त्याग तो नहीं कर सकता, फिर कैसे कहा जाता है कि निष्कर्म करने वाला फलाकांक्षा का त्यागी होता है।[1]

सिद्धान्त और आचरण में अन्तर रहेगा ही

इस शंका का समाधान यह है कि यहाँ सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है; सिद्धान्त सदैव पूर्ण का, आदर्श का प्रतिपादन करता है क्योंकि आत्मा के शुद्ध स्वभाव में अपूर्णता का प्रश्न नहीं होता। पूर्णता-अपूर्णता की अथवा गुणस्थान की चर्चा आचारपक्ष में होती है। इसलिए साधकदशा में इस सिद्धान्त का साधकों की अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार विविध तारतम्य रहता है। पूर्णता तक पहुँचने तक न्यूनाधिकरूप में मन्द-मन्दतररूप में—कषायभाव या प्रशस्तरागभाव उसमें रहना स्वाभाविक है।

इसीलिए गीता में भी कहा गया है—वीतरागता की भूमिका= योगारूढ़ता की स्थिति तक न पहुँचने तक साधक को अपना कर्तृत्वकर्म अनासक्त और फलाकांक्षा-निरपेक्ष होकर करना चाहिए।

इसीलिए कहा गया है—निष्काम कर्म की भूमिका में जितने अंश में फलाकांक्षा रूप रागांश विद्यमान है, उतने अंश में चारित्र में कमी है, और उतने अंश में उसके बन्ध अवश्य है। इसके विपरीत जितने अंश में फलाकाक्षारूप राग का अभावरूप चारित्र समभाव विद्यमान है, उतने अंश में उसे बन्ध नहीं होता।[2]

अप्पाणं वोसिरामि : निष्कामकर्मी का मूल मंत्र

यही बात जैन-परिभाषा में **'अप्पाणं वोसिरामि'** कहकर 'स्व के अहंत्व-ममत्वादि का विसर्जन करता हूँ' कहकर तमाम धार्मिक क्रिया, व्रत, तप आदि अनुष्ठान करने वाले निष्कामकर्मयुक्त साधक के विषय में समझ लेनी चाहिए और गीता की भाषा में समर्पित और शरणागत होकर **'इदं न मम'** कहकर समस्त कर्मों (कार्यों) के प्रति अहंत्व, ममत्व या अहंकर्तृत्व का विसर्जन परमात्मा को समर्पित करने वाले निष्कामकर्मी साधक की समझ लेनी चाहिए।[3]

---

१. कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १४३

२. (क) वही, पृ. १४३

(ख) येनांशेन तु चारित्रं, तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति॥

३. (क) कर्मरहस्य (जिनेन्द्र वर्णी) से पृ. १४०

(ख) आवश्यक सूत्र में 'करेमि भंते' का पाठ।

परहितार्थ परार्थ प्रवृत्ति

ऐसा निष्कामकर्मी साधक परहितार्थ, परार्थ, परमार्थ या लोकोपकारार्थ समस्त कार्य अथवा स्व-साधनागत समस्त प्रवृत्ति या पारमार्थिक साधना भी केवल समर्पित या विसर्जित होकर बालक या विनीत शिष्य के समान कर्तव्यबुद्धि से करता है।[1]

संकीर्ण स्वार्थ : सकामकर्म का; और विस्तीर्ण स्वार्थ निष्कामकर्म का प्रतीक

समग्र को छोड़कर उसके अंगभूत किसी एक 'इदं' के साथ बंधे हुए चित्त से जब कामना केन्द्रित होती है, तब वह स्वयं की तथा अहंकार की तृप्ति के प्रयोजन से होती है, इसलिए वह निपट स्वार्थ कहलाती है। परन्तु समग्र को हस्तगत करने की कामना, अहंकार को पूर्णाहंता प्रदान करने के प्रयोजन से होती है, इसलिए वह (कामना) परमार्थ कहलाती है। इसी प्रकार परोपकार की कामना, दूसरों का हित करने के लिए होती है, इसलिए वह परार्थ कहलाती है। कामना तीनों में समान है, किन्तु निपट स्वार्थ-रंजित कामना और परमार्थ या परार्थ की गई कामना में रात-दिन का अन्तर है।[2]

सकामकर्म

इस पदार्थ को प्राप्त करने के लिए 'मैं यह काम करूँ' इस प्रकार की कामना से प्रेरित होकर जो काम व्यक्ति करता है, उसमें यह काम मैंने किया— ऐसा अहंकार होता है, अतः उस कार्य में तथा उसके द्वारा प्राप्त फल में उसका स्वामित्व हो जाता है, जबकि जिस कार्य को व्यक्ति केवल दूसरों के हित एवं प्रसन्नता तथा निराकुल आत्म-सुख के लिए करता है, उसमें तथा उसके द्वारा प्राप्त फल में उस व्यक्ति की अहंता-ममता एवं स्वामित्व भावना प्रायः नहीं होती। अपने स्वामी के लिए किये गये कार्य मे तथा उससे प्राप्त हानि-लाभ में जैसे मैनेजर की निपट-स्वार्थबुद्धि नहीं होती, वैसे निपटस्वार्थ से अस्पृष्ट होने के कारण परार्थ और परमार्थ दोनों ही प्रकार के कर्मों में फलाकांक्षा, अश्रद्धा, संशय, भ्रान्ति आदि की सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि परहितार्थ अथवा लोकोपकारार्थ किये गये सकल कार्य समग्र पारमार्थिक कर्म बालकवत् केवल कर्तृत्वबुद्धि से किये जाते है। यद्यपि परमार्थ तथा परार्थ कार्य मे शीघ्र सफल होने की इच्छा वाला स्वार्थ रहता है, पर वह फल-भोगाकांक्षा वाला निपट स्वार्थ नहीं होता। आध्यात्मिक दृष्टि से वह स्वार्थआत्मार्थ कहलाता है, स्वार्थ नहीं।

यही सकामकर्म और निष्कामकर्म की विभाजक रेखा है।[3] ■

---

१. कर्म रहस्य (जिनेन्द्र वर्णी), पृ. १४१

२. वही, पृ. १४७

३. वही, पृ. १४७-१४८

१२

कर्मों के दो कुल : घाति कुल और अघाति कुल

आत्मा के मूल और प्रतिजीवी गुणो के घातक कर्मों के दो कुल

जेठ की दुपहरी में मध्याह्न का सूर्य आकाश में जाज्वल्यमान है, वह पूरी शक्ति से ताप और प्रकाश दे रहा है। ताप और प्रकाश के अतिरिक्त भी सूर्य शक्ति, स्फूर्ति, विटामिन, ज्योति, पुरुषार्थ-प्रेरणा, तेजस्विता आदि भी परोक्षरूप से प्रदान करता है। परन्तु अचानक आकाश मे काले-कजरारे बादल उमड़-घुमड़-कर आ गए, तूफानी हवाएँ चलने लगी कि सूर्य की शक्तियाँ आच्छादित हो गई, ताप और प्रकाश की उसकी शक्ति कुण्ठित हो गई। अब प्रायः उससे स्फूर्ति के बदले आलस्य, ज्योति के बदले अन्धकार, पुरुषार्थ-प्रेरणा के बदले अकर्मण्यता की वृत्ति, तेजस्विता के बदले नामर्दगी, शक्ति के बदले रोगादि मे वृद्धि होने के कारण अशक्ति बढ़ने लगती है। सूर्य का ताप न होने से शैत्य (ठंडक) बढ़ जाती है, प्राणी की कर्तृत्वशक्ति मे क्षीणता आ जाती है। ऐसा क्यो होता है ?

प्रत्यक्षदर्शी यह कहते हैं कि बादल सूर्य पर छा गए हैं। उन्होने सूर्य की सभी शक्तियों को आवृत और कुण्ठित कर दिया है। सूर्य के गुणो को बादलो ने आवृत कर दिया, इस कारण वह अपने गुणो को प्रकट नहीं कर पाता। यही बात आत्मा के सम्बन्ध मे समझिए।

जगदाकाश मे आत्मा अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन से प्रकाशमान है, असीम आनन्द से स्फूर्तिमान, पुरुषार्थवान् है, अनन्तशक्ति (वीर्य) से तेजस्वी और शक्तिमान है। वह अपने आप मे निरामय, ज्योतिर्मान एव क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र एव क्षायिकदान तथा क्षायोपशमिक गुणो से सम्पन्न है। परन्तु कर्मों के मेघ उसकी अनन्त शक्तिमय गुणरश्मियों को आवृत एवं कुण्ठित कर देते हैं। कर्म आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द (आत्मसुख) एवं अनन्तशक्ति (वीर्य) इन चारो मूलगुणों को प्रकट नहीं होने देते। ये आत्मा की स्वभाव-दशा को विकृत करते हैं।

परन्तु जैसे कुछ बादल ऐसे होते हैं, जो सूर्य के ताप और प्रकाश तथा उसकी शक्तियों और रश्मियों को इतना आवृत नहीं कर पाते, जिससे कि सूर्य ताप एवं प्रकाश न दे सके, शक्ति और स्फूर्ति प्रदान न कर सके। इसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो आत्मा के मूल गुणों को तो आवृत एवं कुण्ठित नहीं कर पाते, वे आत्मा के प्रतिजीवी गुणों को प्रभावित करते हैं, कुण्ठित कर देते हैं।

घाति कुल और अघाति कुल के कर्म

जैन कर्मविज्ञानवेत्ताओं ने इन दोनों में से एक को घातिकर्म और दूसरे को अघातिकर्म कहा है। वैसे तो आठ मूल कर्म-प्रकृतियों के ही ये अवान्तर भेद हैं। कर्मविज्ञानविदों ने आठ मूल कर्मप्रकृतियों का दो कुलों में वर्गीकरण कर दिया है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय; इन चार कर्मप्रकृतियों (कर्मों) को घातिकर्म के कुल में और वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र इन चार कर्म प्रकृतियों को अघातिकर्म (अघात्य) के कुल में समाविष्ट किया है।[1]

घातिकुलीन कर्म का लक्षण

घातिकुल के कर्मों का लक्षण जैनाचार्यों ने इस प्रकार किया है—जो कर्म आत्मा से बँधकर उसके स्वरूप का तथा उसके स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं, उन्हें क्षति पहुँचाते हैं, उन पर पर्दा बनकर छा जाते हैं, उन्हें आवृत कर देते हैं, जिससे वे अपनी शक्तियो को प्रकट नही कर पाते, वे घातीकर्म या घातिक अथवा घात्यकर्म कहलाते हैं।

'धवला' में इसका अर्थ यों किया गया है—"जो कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति, अर्थात्—केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य (पराक्रम), क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र, क्षायिक दान तथा क्षायोपशमिक गुणों का घात करते हैं, उन्हें नष्ट करते हैं, वे घाती कर्म कहलाते हैं।"[2]

ये घाति कर्म जीव-मुक्ति में बाधक और केवलज्ञान के प्रतिबन्धक होते हैं। इन घाति कर्मों की अनुभागशक्ति का असर आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुणों पर होता है, जिससे आत्मिक गुणों का विकास अवरुद्ध हो जाता है।[3]

---

१. (क) "तत्रघातीनि चत्वारि कर्माण्यन्वर्थ संज्ञया ।
घातकत्वाद् गुणानां हि जीवस्यैवेति वाक्-स्मृतिः॥ —पंचाध्यायी २/९९८

(ख) "आवरण-मोह-विग्घं घादी, जीव-गुण-घातणात्तादो।"
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड ९

(ग) धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. १३

२. धवला पु. ७ खं. २ भा. १ सू. १५ पृ. ६२

३. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ६३-६४

ये चारों घातिकर्म क्रमशः आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्तवीर्य (शक्ति), इन चार मुख्य गुणों का तो घात करते ही हैं, साथ ही उसके अनुजीवी गुणों—क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य आदि स्वभावों (आत्मधर्मों) का विकास भी अवरुद्ध कर देते हैं।

घातिकर्म किस प्रकार आत्मगुणों का घात करते हैं ?

यद्यपि घातीकर्म आत्मा के गुणों का पूर्णतया घात नहीं कर सकते, आत्मा का मूल एवं अभिन्न गुण ज्ञान है। उसका पूर्णतया घात ज्ञानावरण नामक घातिकर्म नहीं कर सकता। ज्ञान का पूर्णतया घात कर दे तो आत्मा, आत्मा न रहकर अनात्मा बन जाएगा। फिर तो कर्म और आत्मा दोनों ही जड़ हो जाएँगे। 'नन्दीसूत्र' में बताया गया है कि "ज्ञान आत्मा का मौलिक गुण है। वह पूर्णरूपेण कभी आवृत नहीं हो सकता। यदि वह दिव्यगुण भी आवृत हो जाए तो जीव अजीव हो जाएगा। अतः सभी जीवों के अक्षर (ज्ञान) का अनन्तवाँ भाग तो नित्य उद्घटित रहता है। मेघसमूह कितना ही सघन हो, सूर्य अपनी प्रभा से घनघोर घटाओं को विदीर्ण करके प्रकाशमान होने में समर्थ है।"[1] फिर भी घाती कर्म आत्मा के गुणों का विकास करने में घातक—बाधक अवश्य बनते हैं।

चारों घाती कर्मों का कार्य

ज्ञानावरण कर्म आत्मा की अनन्त ज्ञानशक्ति का घात करता है, वह ज्ञानगुण को प्रकट नही होने देता। दर्शनावरण कर्म आत्मा की अनन्त दर्शनशक्ति को आवृत करता है, उसे प्रकट होने नहीं देता। मोहनीय कर्म आत्मा के सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के गुणो के विकास में घातक-बाधक एवं अवरोधक बनता है। वह आत्मा को मोहमूढ़ बनाकर उसे सच्चे मार्ग (सत्य) का भान नही होने देता। इतना ही नहीं, वह उस सत्यपथ पर चलने भी नही देता, जिससे आत्मा को निराकुल अव्याबाध सुख की प्राप्ति नहीं होती। अन्तराय कर्म आत्मा की अनन्त वीर्यशक्ति आदि का प्रतिघात करता है, जिससे आत्मा अपनी अनन्त विराट् शक्ति का विकास एवं जागरण नहीं कर पाता।[2]

घातिक कर्मों की उत्कटता

पं. ज्ञानमुनि जी घातिक कर्मों[3] की उत्कटता का वर्णन करते हुए

---

१. "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ हवइ।
जइ पुण सो वि आवरिज्जा, तेण जीवा अजीवत्तं पावेज्जा॥
सुट्ठु वि मेह-समुदये होइ पभा चंद-सूराणं।" —नन्दीसूत्र सू. ४३

२. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से भावांश उद्धृत पृ. ६४

३. इन आठों ही कर्मों (कर्म-प्रकृतियों) की व्याख्या 'प्रकृतिबन्ध' प्रकरण मे देखिये। —स.

लिखते हैं—जैसे मेघ सूर्य को आच्छादित करके उसकी ज्योति को आवृत कर देते हैं, ऐसे ही ज्ञानावरणीय कर्म के कृष्णतम मेघ आत्मा की ज्ञान-ज्योति को ढक देते हैं। अनन्तज्ञान का धनी होकर भी आत्मा इसी के प्रभाव से बुद्धू-सा बन जाता है। दर्शनावरणीय कर्म सामान्य बोध का घातक बनकर आत्मा को पदार्थों का सामान्य बोध भी अच्छी तरह नहीं होने देता। मोहनीय कर्म आत्मा को मोहित बनाए रखता है। जो मनुष्य भगवान् का प्रतिनिधि माना जाता है, मोहनीय कर्म इसी मनुष्य को पशु-तुल्य बनाकर रख देता है। क्रोध, मान, माया और लोभ की चाण्डाल चौकड़ी इसी कर्म की कृपा से फलती-फूलती है। तथा अन्तरायकर्म दानादि कार्यों में रुकावट डालता है, बनते हुए कार्य को भी बिगाड़ देता है। इसके कारण बना-बनाया खेल बिगड़ जाता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारो कर्म आत्मिक गुणों का घात करते हैं, फलतः इन्हें 'घातीकर्म' कहा जाता है।"[१]

इन चारों में मोहनीय कर्म प्रबल एवं प्रमुख

इन चारों मे मोहनीय की प्रबलता बताते हुए डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं—"इन घाती कर्मों में अविद्यारूप मोहनीय कर्म ही आत्मस्वरूप के आवरण, क्षमता, तीव्रता और स्थितिकाल (अवधि) की दृष्टि से प्रमुख है। वस्तुतः मोहकर्म ही एक ऐसा कर्म-सस्कार है, जिसके कारण कर्मबन्ध का प्रवाह सतत बना रहता है। मोहनीय कर्म उस बीज के समान है, जिसमे (पुनः पुनः) अकुरण की शक्ति है। (राग, द्वेष और मोह या कषाय आदि कर्मबन्ध के मुख्य-कारण मोहनीय कर्म की ही सन्तति हैं)। जिस प्रकार उगने योग्य बीज, हवा, पानी आदि के सहयोग से अपनी परम्परा को बढ़ाता रहता है, उसी प्रकार मोहनीयरूपी कर्म-बीज ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तरायरूप हवा, पानी आदि के सहयोग से कर्म-परम्परा को सतत बनाये रखता है। मोहनीय कर्म ही जन्म-मरणरूप ससार या बन्धन का मूल है। शेष घाती कर्म उसके सहयोगी मात्र हैं। इसे (शास्त्र में) कर्मों का सेनापति कहा गया है। जिस प्रकार सेनापति के पराजित होने पर सारी सेना हतप्रभ होकर शीघ्र ही पराजित हो जाती है, उसी प्रकार मोहकर्म पर विजय प्राप्त कर लेने पर शेष समस्त कर्मों को आसानी से पराजित कर आत्मशुद्धता की उपलब्धि की जा सकती है। जैसे ही मोह नष्ट हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरण और दर्शनावरण का पर्दा हट जाता

१. ज्ञान का अमृत (प. ज्ञानमुनि जी) से साभार उद्धृत पृ. १०३

है। अन्तराय या बाधकता समाप्त हो जाती है और आत्मा (व्यक्ति) जीवन्मुक्त बन जाता है।"[१]

तत्त्वार्थसूत्र, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध आदि में बताया गया है कि सर्वप्रथम मोहकर्म का क्षय होने के पश्चात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का शीघ्र ही एक साथ क्षय हो जाता है, तभी केवलज्ञान, केवलदर्शन होता है।"[२]

घातिकर्मों का उन्मूलन हुए बिना केवलज्ञान एवं मोक्ष नहीं होता

ये चारों घनघाती कर्म आत्मशक्ति के घातक, आवरक, विकारक और प्रतिरोधक हैं। यह जीव जब तक इन चारों घातीकर्मों को नष्ट नहीं कर लेता, तब तक उसे न तो केवलज्ञान होता है, और न ही यह जीव मोक्ष-मन्दिर में प्रवेश के योग्य जीवन्मुक्त (सदेह मुक्त) बन सकता है। केवलज्ञान की उपलब्धि के लिये चार घाती कर्मों का क्षय होना अनिवार्य है। इनके समूल नष्ट होने पर ही आत्मा अपने मूलगुणों को पूर्णरूप से प्रगट कर सकती है, आत्मस्वरूप मे सतत स्थिर रह सकती है।

घातीकर्म के दो भेद : सर्वघाती, देशघाती

घातीकर्मों के दो भेद हैं—सर्वघाती और देशघाती। जो कर्म आत्मा के किसी गुण को पूर्णतया आवरित कर लेता है, जो उसका पूरी तरह से घात करता है, आत्मगुणो पर आच्छादित होकर उन्हे किंचित् मात्र भी व्यक्त नहीं होने देता, उसे सर्वघाती कहते हैं।[३] इसके विपरीत जो कर्म आत्मा के किसी गुण के एकदेश (अश) को आवरित आच्छादित करता है, घात करता है, वह देशघाती कर्म है।[४]

---

१. (क) जैनकर्म-सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन साभार उद्धृत पृ. ७७-७८
(ख) सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति।
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खय गते॥ —दशाश्रुतस्कन्ध ५/१४
(ग) 'एग विगिचमाणे पुढो विगिंचइ।' —आचारांग १/३/४
(घ) मूलसित्ते फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फल। —ऋषिभाषितानि २/६

२. (क) 'मोहक्षयाज्ज्ञान-दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।' —तत्त्वार्थसूत्र १०/१
(ख) "अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगठि विमोयणयाए तप्पढमयाए जहाणुपुव्वीए अट्ठवीसइविहं मोहणिज्ज कम्मं उग्घाएइ, पचविहं नाणावरणिज्जं, नवविहं दसणावरणिज्ज, पच विहं अतराइय, एए तिन्नि वि कम्मसे जुगवं खवेइ। तओपच्छा अणुत्तरं..........केवलवरणाणदंसणं समुप्पादेइ।" —उत्तरा. २९/७१

३. (क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ३९, १८०
(ख) पंचसग्रह (प्रा.) गा. ४८३

४. (क) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ४०
(ख) द्रव्यसंग्रह टीका गा. ३४

आत्मा के स्वगुणों का घात करने वाली चारों घातीकर्मों की कुल ४७ प्रकृतियाँ हैं। ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, मोहनीय की २८ और अन्तराय की ५, यों कुल ४७ प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से सर्वघातीकर्म प्रकृतियाँ २१ हैं और देशघाती २६ हैं।[१]

सर्वघाती कर्म प्रकृतियाँ

यहाँ सर्वघात का अर्थ मात्र इन गुणों के पूर्ण-प्रकटन को रोकना है, न कि इन गुणों का नामशेष कर देना, या अनस्तित्व कर देना, क्योंकि ज्ञानादि गुणों के पूर्ण अभाव में आत्मतत्त्व और जड़तत्त्व में कोई अन्तर नहीं रहेगा। इस विषय मे पहले कहा जा चुका है। इसलिए सर्वघाती कर्म न तो आत्मा के ज्ञानादि गुणों के पूर्णतया प्रकटन को रोक सकता है और न ही उसकी प्रकाश क्षमता को। सर्वघाती कर्म प्रकृतियों से केवलज्ञान, केवलदर्शन नामक आत्म-गुणो का आवरण पूर्णरूपेण होता है। पाचों प्रकार की निद्राएँ भी आत्मा की सहज अनुभूति की क्षमता को पूर्णतया आवृत करती हैं। आत्मा की स्वाभाविक सत्यानुभूति नामक गुण को मिथ्यात्व मोह तथा मिश्रमोह सर्वथा आच्छादित कर देता है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय सम्यक्त्व का, अप्रत्याख्यानी चार कषाय देशविरति चारित्र का, और चार प्रत्याख्यानी कषाय सर्वविरति चारित्र का पूर्ण बाधक बनता है। इस प्रकार ये कुल २१ सर्वघाती कर्म प्रकृतियाँ हैं।

देशघाती कर्म प्रकृतियाँ

शेष ज्ञानावरणीय कर्म की ४, दर्शनावरणीयकर्म की ३, मोहनीय कर्म की १४ और अन्तराय कर्म की ५; यों कुल २६ कर्म प्रकृतियाँ देशघाती है।[२]

अघाती कर्म : स्वरूप, कार्य और प्रकार

घातीकर्म से विपरीत स्वभाव वाले कर्म 'अघातीकर्म' कहलाते हैं। अर्थात्—ये आत्मा के ज्ञानादि मौलिक एव स्वाभाविक गुणों का घात या ह्रास नहीं करते, केवल आत्मा के प्रतिजीवी गुणो का घात या ह्रास करते हैं। आत्मा की स्वभाव दशा की उपलब्धि और आत्मगुणो के विकास में ये (अघाती) कर्म बाधक नहीं होते। यद्यपि अघातीकर्म जीव को ससार में तो भटकाते हैं; किन्तु आत्मगुणों को हानि नहीं पहुँचाते। वस्तुतः अघातीकर्म भुने हुए बीज के समान हैं जिनमें नये कर्मों को उपार्जन करने या आत्मगुणों का विनाश करने का सामर्थ्य नहीं होता। अर्थात्—कर्म-परम्परा

---

१. (क) कर्मग्रन्थ पंचम प्रस्तवना (पं. फूलचंद जैन) से पृ. २३

२. (क) जैन कर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावांश पृ. ७८

(ख) कर्मग्रन्थ भा. ५ प्रस्तावना पृ. २३

का अविच्छिन्न प्रवाह जारी रखने में ये कर्म असमर्थ होते हैं। समय की अवधि पकने के साथ ही अपना फल देकर अनायास ही ये अलग हो जाते हैं। ये शुभ-अशुभ पौद्गलिक दशा में निमित्त बनते हैं। इसलिए अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्गलिक द्रव्यों से होता है। इनके कारण आत्मा अमूर्त्त होते हुए भी मूर्त्तवत् रहती है। इनका असर शरीर, इन्द्रिय, आयु, मन, वचन, अंगोपांग, विषय-सुख साधन आदि पर होता है।

अघाती कर्म चार हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। ये चारो बाह्य अर्थापेक्षी हैं। इनसे भौतिक पदार्थों की उपलब्धि होती है। वैसे संसारी जीवन आत्मा और शरीर के सयोग—सहभाव से बनता है। इसमे नामकर्म शुभ-अशुभ शरीर-निर्माणकारी कर्मवर्गणा रूप है। आयुष्यकर्म शुभ-अशुभ जीवन को बनाये रखने वाली कर्मवर्गणारूप है। व्यक्ति को सम्माननीय-असम्माननीय कहलाने वाली कर्मवर्गणारूप गोत्रकर्म है और सुख-दुःखानुभूतिकारक कर्मवर्गणारूप है—वेदनीयकर्म।[1]

घाती-अघाती कर्मों में कौन पापरूप, कौन पुण्यरूप ?

घातिकर्म तो पापरूप हैं ही, अघातीकर्म के भेदो मे से कुछ पुण्यकर्म हैं और कुछ पापकर्म। उनकी व्याख्या एवं चर्चा हम आगे के खण्डो मे करेंगे।[2]

अघाती कर्मों का कार्य और प्रभाव

वास्तव मे अघाती कर्म की अनुभागशक्ति आत्मा के गुणो पर सीधा असर नही करती, फिर भी आत्मा के प्रतिजीवी गुणों का घात करने तथा उन्हें आच्छन्न करने में अघाती कर्मो का हाथ है ही। अघातीकर्मवश जीव को शरीर के कारागृह मे बद्ध रहना पड़ता है।

जीव के ४ प्रतिजीवी गुण हैं—अव्याबाध सुख, अटल अवगाहना, अमूर्तत्व और अगुरुलघुत्व। इन चारों को क्रमशः ये चारो अघाती कर्म प्रकट नहीं होने देते। वेदनीय कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को आच्छन्न करता है। आयुष्यकर्म आत्मा की अटल अवगाहना—शाश्वत स्थिरता नही होने देता। नामकर्म आत्मा की अरूपी—अमूर्तदशा को अनावृत नहीं होने देता। गोत्रकर्म आत्मा के अगुरुलघुत्व गुण को रोकता है।[3]

---

१. (क) पचसग्रह गा. ४८४
   (ख) गोम्मटसार (क) गा. ९
   (ग) जैन कर्मसिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से पृ. ७८
२. कर्मग्रन्थ पचम, प्रस्तावना (पं. फूलचद जी सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. २३
३. धर्म और दर्शन (उपाचार्य देवेन्द्रमुनि) से पृ. ६४

घाती कर्मों को उन्मूलन करने का क्रम

घातीकर्म को उन्मूलन करने का क्रम यह है—सर्वप्रथम वह अप्रमत्तसंयत दर्शनमोह का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है। उसकी दृष्टि अतीव निर्मल, सत्यपूर्ण एव निर्भय हो जाती है। उसकी शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह वैराग्य, तप (बाह्याभ्यन्तर तप) एवं त्याग की श्रेणियों पर समस्त बाह्यग्रन्थियों का भेदन कर देता है; और परमनिर्ग्रन्थ बन जाता है। फिर वह कठोर तप, परीषहजय, उपसर्ग समता, समभाव-भावित आत्मा एव धर्म-शुक्लध्यान समाधि आदि के द्वारा अन्तरंग ग्रन्थियो को तोड़ने का अभ्यास करता है। फलतः कर्मों की सत्ता में भगदड़ मच जाती है। स्थिति और अनुभाग का तीव्र वेग से अपकर्षण होने लगता है। आगे-आगे उत्तरोत्तर मन्द अनुभाग को लेकर ही कर्म उदय मे आता है, जिससे उसकी चारित्रिक साधना बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार कुछ ही समयों मे चारित्रमोह का उपशम और पूर्व क्रम से क्षय हो जाता है। इस प्रकार चारित्रमोह की सत्ता का उन्मूलन हो जाने के कारण वह 'यथाख्यातचारित्र' नाम पाता है। अर्थात्—उसकी समता तथा प्रशमता जैसी लक्षित की गई थी, वैसी हो जाती है; क्योकि मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) ही ज्ञान, दर्शन और शक्ति को आच्छादित करते थे, उनका अभाव हो जाने से ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय, ये तीनो घातिया प्रकृतियाँ भी उनका साथ छोड़ने के लिए बाध्य हो जाती हैं। फलस्वरूप वह (आत्मा) अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त आत्मिक सुख और अनन्त आत्मशक्ति का धनी सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा और सर्वसमर्थ हो जाता है। यही है —उसकी अर्हन्त अवस्था। इस अवस्था मे वह शरीरयुक्त होते हुए भी जीवन्मुक्त वीतराग परमात्मा बन जाता है।[१]

घातीकर्म समूल नष्ट हो जाने पर

इस प्रकार घातीकर्म समूल नष्ट हो जाने से वह (आत्मा) केवलज्ञान-केवलदर्शनधारक अरहन्त केवली बन जाता है। केवलज्ञान-केवलदर्शन के प्रभाव से वह अतीत, वर्तमान और भविष्यत्कालीन सर्वभावो को जानता-देखता है।

अघाती कर्म : प्रभाव और कार्य

यद्यपि विदेहमुक्त होने में चार अघातीकर्म शेष रह जाते हैं। जब तक शरीर है, आयु है, तथा कुछ कर्मो का भोगना बाकी है, तब तक शरीर से सम्बन्धित वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र, इन चारों अघाती कर्मों की

१. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) पृ. १३८

सत्ता अभी तक बनी रहती है। वह समूल नष्ट नहीं हुई है। परन्तु मोहनीय कर्म के क्षय के कारण जली हुई रस्सी के बट की तरह ये चारों अघाती कर्म निष्फल हो जाते हैं। शरीर, आयु और भोग को बनाये रखना ही उनका कार्य रह जाता है। ऐसी आत्मा सुख-दुःख में पूर्ण समभाव में स्थित रहती है। नये कर्मों का बन्धन एकदम रुक जाता है, पुराने चार कर्मों के जितने परमाणु शेष रहते हैं, वे भी क्रमशः क्षीण होते जाते हैं। अतः अर्हत्-अवस्था को प्राप्त जीवन्मुक्त वह सशरीर वीतराग परमात्मा जब तक आयुष्य पूर्ण नहीं होती तब तक भव्य जीवो के कल्याणार्थ दिव्यदेशना देता हुआ स्थान-स्थान पर विहार करता रहता है। आयुष्यकर्म के अन्तिम क्षणों में वह मन-वचन-काय तीनों योगों (प्रवृत्तियों) का निरोध करके निष्कम्प-निश्चल शैलेशी अवस्था को प्राप्त हो जाता है। फलतः चारों अघातिया कर्म भी वायु-वेग से उड़ने वाले सूखे पत्तों की तरह नौ दो ग्यारह हो जाते हैं।[१]

अघाती कर्म का सर्वथा उन्मूलन हो जाने पर

इस प्रकार अघाती कर्मों का सर्वथा उन्मूलन होते ही वह केवलज्ञानी वीतराग सदेह-मुक्त अब विदेह-मुक्त हो जाता है। अर्थात्—वह आठों ही कर्मों से, समस्त दुःखो से तथा जन्म, जरा, मरण, व्याधि, शरीर आदि से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध हो जाता है। शरीर के छूटते ही वह अष्टविध कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर आत्मा के ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण अध्यात्मलोक के सर्वोच्चशिखर (लोक के अग्रभाग—लोकान्त) पर पहुँच जाता है। और वहाँ मोक्ष धाम—सिद्धालय मे जा विराजता है। मोक्ष का अर्थ ही है—कर्म के साथ हुए सम्बन्ध से आत्मा की सर्वथा मुक्ति—आत्मा का सदा के लिए कर्मों से छुटकारा। कर्मों के कारण ही उनका जन्म-मरणादि रूप बाह्य तथा योग-कषाय आदि आभ्यन्तर ससार से सम्बन्ध रहता था, परन्तु अब कर्मों से सर्वथा रहित हो जाने से ससार से उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि, उपाधि तथा ससार की मोहमाया एव पुनः आवागमन से वे रहित हो जाते हैं। इनके कारणो का अभाव हो जाने से अब उन्हें शरीर धारण करने को अवकाश नही रहता। जीवन का लक्ष्य सिद्ध हो जाने तथा कृतकृत्य हो जाने से वे सिद्ध हो गए।

ऐसी स्थिति में सिद्ध परमात्मा अपने शुद्ध आत्मस्वभाव में रमण करते हैं, अपने आत्मगुणों मे लीन रहते हैं। पूर्वकाल में भी ऐसे अनन्त सिद्ध परमात्मा हो गए, वर्तमान में भी होते हैं और भविष्य में भी ऐसे अनन्त सिद्ध परमात्मा होते रहेंगे।[२]

---

१. कर्मसिद्धान्त (जिनेन्द्र वर्णी) से भावांश पृ. १३९

२. (क) वही, पृ. १३९

(ख) जैनदृष्टिए कर्म विचार (डॉ. मोतीचद) से पृ. १८२

मुमुक्षु आत्माओं का लक्ष्य : घाती-अघाती कर्मों का क्षय करना

वस्तुतः जैनधर्म का आदर्श एवं चरमलक्ष्य कर्मों से सर्वथा मुक्ति प्राप्त करना है। समस्त मुमुक्षु आत्माएँ मोक्षप्राप्ति के लिए अपनी आध्यात्मिक साधना तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप की आराधना करती हैं। उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह आत्मा के अनन्त-चतुष्टयरूप मूल गुणों तथा उसके प्रतिजीवी गुणों की घात करने वाले घाती-अघातीकुल के कर्मों को भलीभाँति जान लें तथा आत्मा की स्वाभाविक दशा के विकास में बाधक घाती-कुल के कर्मों और उनके बन्ध के कारणों की छानबीन करके अप्रमत्त होकर उनके बन्ध से पूर्णतया सावधान रहें। साथ ही, ऐसी करणी या ऐसा सत्पुरुषार्थ करे, जिससे शरीरादि निर्माणकारी तथा भौतिक उपलब्धिकारी अघाती कर्मों से पूर्णतया मुक्त होकर मोक्षधाम प्राप्त कर सकें। जहाँ से संसार मे पुनः आवागमन न हो, और आत्मा अपने अनन्त-ज्ञान-अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, अनन्तशक्ति रूप मौलिक गुणों में पूर्णतया लीन हो जाए।

■

१३

कर्म के कालकृत त्रिविध रूप

कालकृत कर्म : त्रैकालिक रूप में

कर्म चाहे भला हो या बुरा, इस जन्म में किया हुआ हो, या पूर्वजन्म में या उससे भी कई पूर्वजन्मो पहले किया हुआ हो, अथवा इस जन्म में भी दिन, रात, सप्ताह, पक्ष, मास या वर्ष अथवा कई वर्ष पहले किया हुआ हो, वह कर्म है, कर्म का ही एक कालकृत रूप है; उसका फल या तो देर सबेर से भोगना पड़ता है; या फल देने से पूर्व उसका संक्रमण, उदीरण, या निर्जरण न किया गया हो तो अशुभ रूप में अथवा शुभकर्म अशुभरूप में, वह फल देता है अथवा क्षीण होकर वह शुद्ध कर्म बन जाता है।

आशय यह है कि प्रवाहरूप से अनादि कर्म जन्म-जन्मान्तर में, अथवा एक जन्म में भी विविध रूपों तथा विभिन्न कालकृत परिणमनों के रूपो मे प्रत्येक सासारिक प्राणी के साथ बद्ध होता है, संचित (सत्ता में) रहता है, और समय आने पर फल भोग कराने के लिए उद्यत होता है। इस प्रकार हम कर्म को 'अनेकरूपरूपाय' कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

कर्म की त्रिकालकृत गतिविधि को जानना-समझना अति कठिन

कई बार मनुष्य इस भ्रम मे रहता है कि "मैं अभी तो धन, वैभव, ऐश्वर्य एवं सुख-साधनों से सम्पन्न हूँ। मेरे पीछे कोई भी कर्म नहीं है। कर्म अब मेरा क्या करेंगे ? उन्होंने अब मेरा पीछा छोड़ दिया है। मैं सुखी और स्वतंत्र हूँ, सासारिक पदार्थों का मनचाहा उपभोग कर सकता हूँ।"

परन्तु जो कर्म प्रच्छन्न रूप से उसकी आत्मा के साथ संलग्न होकर सोया पड़ा था, वही संचित कर्म उदय में आकर फल देने के लिए उद्यत होता है। प्रारब्ध के रूप मे वही कर्म व्यक्त-सा होकर किसी भी रूप में दुःख, सकट, विपत्ति और उपद्रव करता है तब उसकी पूर्वोक्त अन्धश्रद्धा और भ्रान्ति को हिला देता है।

उसे उस समय तक यह पता ही नहीं चलता कि यह कर्म किस समय मेरे जीवन रूपी कैसेट के टेप पर कम्पन के रूप में अंकित हुआ था, और

कब तक यह संचित होकर सत्ता में पड़ा रहा और उसकी कालावधि पूर्ण होते ही एकदम-से वह प्रकट-सा होकर कैसे फल देने लगा? सचमुच, कर्म की इस त्रिकालकृत गतिविधि को पहचानना, समझना और उसके गणितीय नियम को हृदयंगम कर लेना बहुत ही कठिन है।

कर्म का त्रैकालिक रूप : आगम और गीता में

इसी तथ्य को सूत्रकृतांगसूत्र मे अनावृत करते हुए कहा गया है—"पहले (अतीत में) जैसा भी जो कुछ कर्म किया गया है, (संचित हुआ या सत्ता में पड़ा हुआ) वह कर्म भविष्य में उसी रूप में उपस्थित होता है।"[1]

भगवद्गीता में भी इसका रहस्य प्रकट करते हुए कहा गया है—"(दिव्य वैभव एव सुख-भोगों में लीन) वे देव भी, विशाल स्वर्गलोक के सुखों का उपभोग करने के बाद संचित पुण्य कर्मों के क्षीण हो जाने पर (प्रारब्धवश) पुनः स्वकर्मानुसार मर्त्यलोक मे आकर जन्म लेते हैं।"[2]

कर्म का त्रैकालिक रूप समझना अत्यावश्यक

इस प्रकार जैन और वैदिक कर्ममर्मज्ञों ने कर्म के त्रिकालवर्ती अनेक रूप-स्वरूप का विभिन्न दृष्टियों से युक्ति, श्रुति और अनुभूति के आधार पर विश्लेषण किया है। संसार मे कर्म के इस त्रिकालवर्ती सार्वभौम सर्वप्राणिगत स्वरूप को तथा विभिन्न रूपो मे परिणत होने के उसके अटल गणितीय नियम को प्रत्येक जिज्ञासु और मुमुक्षु को समझना बहुत ही आवश्यक है।

जैनकर्म-वैज्ञानिको ने विभिन्न पहलुओ से कर्म के लक्षण, स्वरूप और रूपो का वर्णन किया है। साथ ही उन्होने कर्म के विभिन्न रूपों की अपेक्षा सासारिक आत्माओ की विभिन्न अवस्थाओं का भी सरल एव स्पष्ट विश्लेषण किया है।

प्रत्येक दर्शन में कर्म की कालकृत तीन अवस्थाएँ

जैन-कर्ममर्मज्ञों ने प्रत्येक कर्म की कालकृत तीन अवस्थाएँ मानी हैं—बध्यमान, सत् और उदीयमान। इन्हें ही वे क्रमशः बन्ध, सत्ता और उदय कहते हैं। अन्य दार्शनिको और धर्मों ने भी इन तीन कालकृत अवस्थाओ का भिन्न-भिन्न नामो से प्ररूपण किया है। वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों मे 'बन्ध' को 'क्रियमाण', 'सत्ता' को 'सचित' और 'उदय' को 'प्रारब्ध' कहा गया है।[3]

---

१. "ज जारिस पुव्वमकासि कम्मं,
तमेव आगच्छति संपराए।" —सूत्रकृतांग, १/५/२/२३

२. "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशाल, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" — भगवद्गीता अ. ९, श्लो. २१

३. (क) कर्मग्रन्थ भाग १ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) से पृ. ६३
(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) से पृ. २०

पातंजल योग-दर्शन में भी कर्म के कालकृत तीन रूप—जाति, आयु और भोग,[1] इस तीन नामों से बताए गये है। वास्तव में ये कर्म-विपाक के तीन प्रकार हैं।

कर्मों के बन्ध, सत्ता और उदय के अन्तर्गत संख्यातीत प्रश्न और समाधान

जैनकर्ममर्मज्ञों ने बध्यमान, सत् और उदीयमान इन तीन कालकृत कर्मों के विविध अवान्तर प्रश्नों को भी समाहित किया है। आत्मा के साथ कर्म कब और कैसे बंधते हैं? उसके कारण क्या हैं? किस कारण से कर्म में बांधने की तथा फल भुगवाने की कैसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है या हो रही है? आत्मा के साथ किस कर्म का सम्बन्ध कम से कम और अधिक से अधिक कितने समय तक रहता है? किस बद्ध कर्म की कम से कम और अधिक से अधिक कितनी काल-सीमा है? कौन-सा कर्म कितने समय तक फल देने मे समर्थ रहता है? कर्म के फल देने का नियत समय बदला भी जा सकता है या नहीं? यदि बदला जा सकता है तो उसके लिए कैसे आत्म-परिणाम आवश्यक हैं?

बध्यमान एवं बद्ध तथा सत्ता मे स्थित (संचित) कर्मों की तीव्रता को वर्तमान तथा भविष्य में मन्दता मे, तथा मन्दता को तीव्रता में अथवा शुभकर्मों को अशुभरूप मे एव अशुभकर्मों को शुभरूप में परिणत कैसे, किन आत्मपरिणामो से और कब तक परिणत किया जा सकता है? कर्मबन्ध से आत्मा कब बद्ध होता है, ओर कब और कैसे उसकी मुक्तदशा होती है?

कर्म की बन्धकालीन तीव्र-मन्द शक्तियाँ किस प्रकार बदली जा सकती हैं? पीछे से विपाक (फल) देने वाला कर्म पहले ही कब और किस प्रकार भोगा जा सकता है? कितना भी प्रबल कर्म हो, उसका विपाक कब और कैसे शुद्ध आत्मिक परिणामो से रोका जा सकता है? और किसी समय लाख प्रयत्न करने पर भी कर्म का फल बिना भोगे क्यों नहीं छूटता? आत्मा कब और किस अपेक्षा से कर्म का कर्त्ता और भोक्ता है, और कब और किस अपेक्षा से वह कर्म का कर्त्ता-भोक्ता नही है?

संक्लेशरूप परिणाम अपनी आकर्षण शक्ति से कब और कैसे एक प्रकार की सूक्ष्मरजः-पटल आत्मा पर डाल देते हैं? और कब आत्मा अपनी वीर्य शक्ति के प्रकटीकरण द्वारा इस सूक्ष्मरजः-पटल को दूर फैक देती है?

स्वभावतः शुद्ध आत्मा भी कर्म के प्रभाव से कब और किस-किस प्रकार मलिन-सी दीखती है? हजारों बाह्य आवरणों के होने पर आत्मा

१. (क) कर्मग्रन्थ भाग २, प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.) पृ. २२
(ख) सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। —योगदर्शन २/१३

अपने शुद्ध स्वरूप से क्यों नहीं च्युत होती है? वह अपनी उत्क्रान्ति के समय पूर्वबद्ध तीव्र कर्मों को भी कैसे हटा देती है? वह अपने शुद्ध आत्म-(परमात्म) भाव को देखने हेतु जिस समय उद्यत होती है, उस समय उसके और अन्तराय कर्म के बीच कैसा द्वन्द्व-युद्ध होता है?

अन्त में, अनन्तशक्तिमान् आत्मा कब और कैसे परिणामों से बलवान् कर्मों को निर्बल करके स्व-प्रगतिमार्ग को निष्कण्टक बना लेती है? आत्ममन्दिर में विराजमान परमात्मदेव का साक्षात्कार कराने में प्रबल सहायक अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम कब होते हैं और उनका क्या स्वरूप है? जीव अपनी शुद्ध परिणतिरूप तरंगमाला से कर्मपर्वतों को कब और किस प्रकार चूर-चूर कर डालता है?

गुलांट खाये हुए कर्म, जो कुछ देर के लिए दबे रहते हैं, ऊर्ध्वारोहणशील आत्मा को कब, कैसे और कितने काल तक नीचे पटक देते हैं? कौन-कौन-से कर्म बन्ध एवं उदय की अपेक्षा से परस्पर विरोधी हैं? किस कर्म का बन्ध व उदय किस अवस्था में नियत (अवश्यम्भावी) और किस अवस्था में अनियत है? किस कर्म का विपाक किस समय तक किस अवस्था मे नियत और किस अवस्था और समय मे अनियत है। तथा आत्म-सम्बद्ध अतीन्द्रिय कर्म किस प्रकार की आकर्षणशक्ति से और कब स्थूल पुद्गलो को खीचता है, और उनके द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, सूक्ष्म (तैजस-कार्मण) शरीर का निर्माण कब किया करता है?

ये और इस प्रकार के कर्मों के बन्ध, उदय और सत्ता से सम्बन्धित सख्यातीत प्रश्न उठते हैं; जिनका सयुक्तिक, अनुभवगम्य, विशद एव सप्रमाण स्पष्टीकरण जैन कर्मविज्ञान विशारद मनीषियों ने किया है।[१]

फलदान की दृष्टि से जैन और वैदिक परम्परा में कालकृत तीन भेद

दूसरी दृष्टि से देखें तो सामान्यतया फलदान की दृष्टि से कर्मों के कालकृत ये तीन भेद किये गए हैं। जैनदर्शन के बध्यमान, सत् और उदीयमान कर्म को ही वैदिक परम्परा में क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध कहा गया है।[२]

सचित कर्म और सत्ता-स्थित कर्म

किसी प्राणी के द्वारा इस क्षण तक किये गये समस्त कर्म, चाहे इस जन्म में किये हों, या पूर्वजन्म मे किये हो, संचित कर्म कहलाते हैं। सचित

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म.) से पृ. ६३-६४

(ख) कर्मग्रन्थ भा. २ प्रस्तावना (मरुधर केसरी मिश्रीमलजी म.) से पृ. २२-२३

२. पंचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (प. फूलचन्द्र जी जैन) से पृ. १९

कर्म या सत्तारूप कर्म, वे ही होते हैं, जिनका फल मिलना अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है।[१] अधिकांश कर्म करने के बाद या बंधने के बाद तत्काल फल नहीं देते। जैनदर्शन में उस-उस कर्म की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति (कालावधि) बताई गई है। इस प्रकार कर्म के सत्ता में (संचित) रहने की कालावधि को 'अबाधाकाल' कहते हैं। कर्म बधने के बाद जब तक फलदान के सम्मुख नहीं हो जाते, तब तक वे उस-उस कर्मकर्त्ता जीव को तत्काल कोई बाधा, पीड़ा, कष्ट या सुख-दुःख या हानि-लाभ नहीं पहुँचाते।

वैदिक दृष्टि से क्रियमाण कर्म का स्वरूप

जो कर्म वर्तमान में किये जाते हैं, वे क्रियमाण कर्म कहलाते हैं। सुबह से शाम तक, सोमवार से रविवार तक, महीने की पहली तारीख से अन्तिम तारीख तक, चैत्र सुदी एकम से अगली चैत्रवदी अमावस तक; संक्षेप मे, जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त प्राणी जो-जो कर्म करता है, वह सब क्रियमाण कर्म कहलाता है। इसे विशेष स्पष्टरूप से कहें तो जन्म से लेकर मृत्यु तक जो-जो क्रिया वर्तमान मे की जा रही है, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, क्रियमाण कर्म की कोटि में आती है।

वैदिक परम्परानुसार क्रियमाण कर्म प्रायः फल देकर ही शान्त होता है। जैसे कि—किसी को प्यास लगी। उसने पानी पीने का कर्म किया। प्यास मिट गई। बस, कर्म फल देकर शान्त हो गया। इसी प्रकार भूख लगी, भोजन करने का कर्म किया, भूख मिट गई। क्रियमाण कर्म अपना फल देकर[२] शान्त होता है।

जैनदृष्टि से बध्यमान और वैदिक दृष्टि से क्रियमाण में अन्तर

परन्तु जैनदर्शन मे प्रत्येक क्रिया कर्म की परिभाषा मे परिगणित नहीं होती। कर्म की परिभाषा मे वे ही क्रियमाण आदि त्रिविध कालकृत कर्म परिगणित होते हैं, जो राग-द्वेष या कषाय से प्रेरित होकर किये गए हैं। बध्यमान कर्म ही यहाँ क्रियमाण रूप मे समझने चाहिए।

क्रियमाण कर्म कब संचित, कब क्रियमाण ?

कई क्रियमाण कर्म ऐसे होते हैं, कि कर्म करने के साथ तत्काल फल नहीं देते। उनका फल मिलने में अमुक समय लगता है। उन कर्मों का फल पकने में देर लगती है; तब तक वे अपक्व रहते हैं। जब तक कर्मफल नही दे देते, तब तक वे स्टॉक मे जमा यानी संचित रहते हैं। उन्हें सचित कर्म

---

१. (क) पचम कर्मग्रन्थ प्रस्तावना (प. फूलचन्द जैन) पृ. १९

(ख) जैनदर्शन मे आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) से पृ. १९८

२. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ३

कहते हैं। इसी संचितकर्म को नैयायिक-वैशेषिक 'अदृष्ट' और मीमांसक 'अपूर्व' कहते हैं।

इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है, उसी समय के लिए वह दृश्य (दृष्ट) रहती है, उस समय के बीत जाने पर वह क्रिया स्वरूपतः शेष (दृष्ट) नहीं रहती, किन्तु उसकी सूक्ष्म, अतएव अदृष्य अर्थात् अपूर्व और विलक्षण परिणाम ही बाकी रह जाते हैं। उन सब संचित कर्मों को एकदम भोगना असम्भव है; क्योंकि इनके परिणामो से कुछ परस्पर विरोधी भले-बुरे दोनों प्रकार के (स्वर्गप्रद-नरकप्रद) फल देने वाले हो सकते हैं।[1]

उदाहारणार्थ—एक विद्यार्थी वार्षिक परीक्षा देता है। परीक्षा प्रश्नपत्र का उत्तर उत्तरपुस्तिका मे लिखने के बाद तुरत उसका परीक्षाफल नही मिल जाता। परीक्षाफल एक-डेढ़ महीने बाद प्रकाशित होता है। किसी ने सुबह जुलाब लिया। किन्तु तत्काल शौच न लगकर लगभग ४ घंटे बाद लगती है। किसी ने किसी को गाली दी, उसने १0 दिन बाद मौका देखकर गाली देने वाले के मुँह पर तमाचा जड़ दिया। किसी ने अपनी जवानी मे अपने माता-पिता को कष्ट दिया, उस समय तो उसका फल नहीं मिला; सभव है उसकी वृद्धावस्था मे उसका पुत्र उसे दुःखी करदे। किसी व्यक्ति ने इस जन्म मे सगीतकला की उपासना की, आगामी जन्म मे बचपन से ही वह संगीतविद्या में निपुण हो सकता है।

इस प्रकार कितने ही क्रियमाण कर्म तत्काल फल नहीं देते, काल पकने पर ही वे फल देते हैं, तब तक संचित कर्म के रूप में जमा पड़े रहते हैं। कृषिविज्ञानविशारदो का अनुभव है कि बाजरी की फसल ९0 दिन में और गेहूँ की १२0 दिन मे पकती है। आम ५ वर्ष बाद फल देता है। जिस प्रकार का क्रियमाण कर्म का बीज होता है, उसे उसी प्रकार फलित—परिपक्व होने मे न्यूनाधिक समय लगता है।[2]

सचित और क्रियमाण कर्म, एक-दूसरे से अनुस्यूत

सचित और क्रियमाण कर्म परस्पर एक दूसरे से अनुस्यूत हैं। मानलो, किसी ने आज सारे दिन मे १000 क्रियमाण कर्म किये। उनमें से नौ सौ क्रियमाण कर्म ऐसे थे, जो तत्काल फल देकर शान्त हो गए, सिर्फ १00 कर्म ऐसे थे, जिन्हे फल देने मे देर लगी। अतः वे कर्म सचित होकर जमा हो गए। आगामी कल को दूसरे १२५ कर्म सचित हुए। परसो उनमें से ७५ कर्म

---

१. पंचम कर्मग्रन्थ की प्रस्तावना (प. फूलचंद जैन सिद्धान्तशास्त्री) से पृ. १९

२. कर्मनो सिद्धान्त पृ. ४

फल देकर शान्त हो गए। चौथे दिन फिर दूसरे ८० कर्म संचितरूप में जमा हो गए। यों घटाबढ़ी करते-करते मानलो, एक सप्ताह के अन्त में ३०० और महीने के अन्त में ११०० तथा वर्ष के अन्त में १४००० कर्म संचितरूप में जमा हो गए। इस प्रकार जमा होते-होते इस जीवन के अन्त तक मानो ८ लाख कर्म संचित हो गए, फिर दूसरे जन्म के अन्त में इनके अतिरिक्त ७ लाख कर्म और जमा हो गए।

अनेक जन्मों के संचित कर्म फलभोग के सम्मुख होने पर ही फल देकर छूटते हैं

इस प्रकार संचित कर्मों की प्रत्येक जीवन की गणना करते-करते अनन्त-अनन्त जन्मों के प्रत्येक संसारी जीव के संचित कर्मों की जोड़ असंख्य और अनन्त तक पहुँच जाती है। यों एक जीव के पीछे इतने संचित कर्मों के ढेर जमा पड़े हैं कि उन्हें इकट्ठे किये जाएँ तो अगणित हिमालय पर्वत खड़े हो जाएँ। इन समस्त सचित कर्मों को इस जन्म में, अथवा इसके पश्चात् आगामी अनेक जन्मों में (जब तक कर्मों से जीव सर्वथा मुक्त न हो जाए तब तक) चाहे जब कोई कर्म फलभोग के लिए परिपक्व हो जाए, और उन कर्मों का फलभोग किया जाए, तभी वे शान्त होते हैं, छूटते हैं। जब तक उन्हें भोगा नहीं जाता, तब तक शान्त नही होते।[1]

राजा दशरथ को तीनों कालकृत कर्मों का सामना करना पड़ा

वैदिक पुराणो के आख्यान के अनुसार राजा दशरथ के हाथ से श्रवणकुमार का वध हो गया और अपने पुत्र के वियोग से संतप्त उसके माता-पिता ने मरते-मरते राजा दशरथ को शाप दिया कि "तेरी मृत्यु भी तेरे पुत्र के विरह से ही होगी।" परन्तु राजा दशरथ का यह क्रियमाण कर्म तत्काल फल कैसे दे देता? क्योंकि उस समय राजा दशरथ के एक भी पुत्र नहीं था। इसलिए यह क्रियमाण कर्मफल देकर तुरंत शान्त न हो सका। वह सचित कर्म रूप में जमा रहा। कालान्तर में राजा दशरथ के चार पुत्र हुए। वे बड़े हुए। चारों का विवाह किया। और जब सबसे ज्येष्ठ पुत्र राम के राज्याभिषेक का दिन आया, तब वह सचित कर्म फल देने हेतु तत्पर हुआ। और ऐसे शुभ अवसर पर राजा दशरथ को वह संचितकर्म पुत्र-विरह के निमित्त से मृत्यु के रूप फल प्राप्त करा कर ही शान्त हुआ—छूटा। फिर उसमे एक घड़ी भर का भी विलम्ब नही किया जा सका। इस प्रकार एक जन्म में कर्म के कालकृत तीनो रूप क्रमशः अभिव्यक्त हुए। पहले 'क्रियमाण,' फिर 'संचित' और अन्त में 'प्रारब्ध' कर्म का सामना करना पड़ा।[2]

---

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ४-५

२. (क) 'रामायण' से

(ख) कर्मनो सिद्धान्त से पृ. ५

जब धृतराष्ट्र राजा के प्राकृत कर्म उदय में आए

धृतराष्ट्र राजा के एक सौ पुत्र एक साथ ही मर गये, तब उन्होंने कर्मयोगी भ. श्रीकृष्ण से पूछा कि "मैंने अपने जीवन में कोई ऐसा भयंकर पाप नहीं किया जिसके फलस्वरूप मेरे सौ पुत्र एक साथ मर जाएँ।" इस पर कर्मयोगी श्रीकृष्ण ने अपनी योगमाया से धृतराष्ट्र को अपने पिछले जन्म देखने की दिव्यदृष्टि दी। उसके द्वारा उसने देखा कि करीब ५० जन्म पहले वह एक पारधी था। उसने एक वृक्ष पर बैठे हुए पक्षियों को पकड़ने के लिए जलती हुई जाल उस वृक्ष पर फैंकी। उससे बचने के लिए कई पक्षी उड़ गए, किन्तु उस जलती हुई जाल की गर्मी से वे अंधे हो गए और बाकी के सौ छोटे पक्षी जल कर खाक हो गए।

यह क्रियमाण कर्म पचास जन्मों तक बिना फल दिये संचित रूप में पड़ा रहा। और जब धृतराष्ट्र राजा के अन्य सभी पुण्यों के फलस्वरूप उसे इस जन्म मे सौ पुत्र प्राप्त हुए; तब वही सचित कर्म फल देने के लिए तत्पर हुआ। इसी कारण प्रारब्ध फल के रूप मे उसे इस जन्म में अधत्व प्राप्त हुआ और उसके एक सौ पुत्र मारे गए।

आशय यह है कि पचास जन्म के पश्चात् भी धृतराष्ट्र के द्वारा किये हुए क्रियमाण कर्म ने उसका पिण्ड नहीं छोड़ा। उसे सौ पुत्र प्राप्त होने जितना पुण्य उपार्जित हो, तब तक वह (क्रियमाण) कर्म प्रतीक्षा करके बैठा रहा। अर्थात्—संचित कर्म के रूप मे जमा पड़ा रहा। और जब पूरा अवसर आया, तभी तत्काल जरा भी विलम्ब किये बिना फल देकर शान्त हो गया।[१]

क्रियमाण कर्म तत्काल फल क्यों नहीं देते ?

जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने किसी मनुष्य को ५००=०० रु. कर्ज दिये। समय पूरा हो जाने पर वह उससे ५००=०० रु. मांगने जाए, उस समय वह रुपये अदा करने से साफ इन्कार कर दे, तो साहूकार उक्त कर्जदार पर दीवानी कोर्ट में दावा करता है। कोर्ट उसके खिलाफ ५००=०० रु. वसूल करने का हुक्मनामा निकालता है। सरकारी बेलीफ वारंट लेकर उक्त कर्जदार के पास पहुँचता है। किन्तु कर्जदार के पास उस समय ऋण चुकाने के लिए पैसा ही न हो तो बेलीफ हुक्मनामा का वारण्ट लेकर उससे ऋण-वसूली कैसे कर सकता है ? कुछ वर्षों के पश्चात् उक्त कर्जदार कोई अन्य व्यवसाय करके लगभग एक हजार रुपया कमा लेता है तो तुरंत बेलीफ हुक्मनामा का वारंट लेकर उसके पास पहुँच जाता है और

१. कर्मनो सिद्धान्त में उद्धृत आख्यान से पृ. ६

पाँच सौ रुपये वसूल कर ही लेता है। फिर वह किसी भी तरह उसे छोड़ता नहीं।

यही बात क्रियमाण कर्म के सम्बन्ध में समझिए। जिस क्रियमाण कर्म का फल तत्काल नहीं मिलता; वह कर्म संचित रूप में जमा पड़ा रहता है। और भविष्य में जब भी ठीक मौका मिलता है, उस समय वह पककर उदय में आता है, यानी फल देने हेतु तत्पर होता है, और फल देकर ही शान्त होता है।[१]

इस प्रकार जो क्रियमाण कर्म तुरत फल देकर शान्त नहीं होते, वे संचित कर्म कहलाते हैं।

प्रारब्ध कर्म : स्वरूप और विश्लेषण

जिन संचित कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ हो गया है, वे प्रारब्ध कर्म कहलाते हैं। अर्थात्—जो संचितकर्म पककर फल देने हेतु तैयार हो जाते हैं, वे प्रारब्ध कर्म कहे जाते हैं। इस प्रकार पूर्वबद्ध कर्म के दो भाग हो जाते हैं—जो भाग अपना फल देना प्रारम्भ कर देता है, वह प्रारब्ध (आरब्ध) कर्म कहलाता है और शेष भाग जिसका फलभोग प्रारम्भ नही हुआ है, अनारब्ध (संचित) कहलाता है। अर्थात्—सचित कर्म के जिस भाग का फलभोग शुरू हो जाता है, उसे ही प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

संचित कर्मों के असंख्य करोड़ हिमालय-पर्वत जितने ढेर प्रत्येक जीव के पीछे जमा पड़े होते हैं, उनमे से जो सचित कर्म पककर फल देने को उद्यत हो जाते हैं, वे प्रारब्ध कर्म की कोटि मे परिगणित होते हैं। उन प्रारब्ध कर्मों को भोगने के लिये तदनुरूप शरीर जीव को प्राप्त होता है और उस शरीर के विद्यमान काल के दौरान प्रारब्धकर्म भोगने के पश्चात् ही वह शरीर छूटता है। यद्यपि उक्त प्रारब्धकर्म के फलभोग के अनुरूप शरीर के साथ-साथ तदनुकूल आरोग्य, पत्नी, पुत्रादि तथा सुख-दुःख आदि उसी जीवितकाल के दौरान जीव को आ मिलते हैं और उन प्रारब्ध कर्मों को पूरे-पूरे भोगे बिना उस शरीर से छुटकारा नहीं होता।[२]

प्रारब्ध कर्म पूर्णतया भोगे बिना नहीं छूटते

किसी-किसी को बुढ़ापे में लकवा मार जाता है और वह दश-दश वर्ष तक रुग्णशय्या पर पड़े-पड़े सड़ता रहता है। भगवान् से वह प्रार्थना करता है—"प्रभो! कब इस बीमारी से मेरा छुटकारा होगा? कब मेरे प्राण

१. कर्मनो सिद्धान्त में उद्धृत आख्यान से, पृ. ६-७

२. (क) जैनदर्शन में आत्मविचार (डॉ. लालचन्द्र जैन) पृ. १९८

(ख) कर्मनो सिद्धान्त (श्री हीराभाई ठक्कर) से पृ. ७

निकलेंगे? अब तो शीघ्र ही मुझे उठाले।" परन्तु यों अनेक बार रो-चिल्लाकर प्रार्थना करने के बावजूद भी जहाँ तक प्रारब्ध कर्म पूर्णतया भोग नहीं लेता, तब तक तन, प्राण और रोग नहीं छूटते। प्रारब्ध कर्मों का फल भोग कर समाप्त हो जाने पर ही शान्ति मिलती है।

फिर जो दूसरे संचित कर्म पककर फल देने के लिए तैयार होते हैं, जीव उन प्रारब्ध कर्मों के फल-भोग के अनुरूप दूसरा शरीर धारण कर लेता है और उसे तदनुरूप माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि मिलते हैं और उक्त जीवन-काल के दौरान उस जीवन में भोगने के तमाम प्रारब्धकर्म भोगने पर ही छुटकारा मिलता है। इस प्रकार कभी-कभी प्रारब्ध कर्म के फलस्वरूप जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है।

उत्तराध्ययनसूत्र मे भी बताया गया है कि आयुक्षय होने पर वे (देव) वहाँ से लौटते हैं और मनुष्य योनि को प्राप्त करते हैं, जहाँ वे आर्य क्षेत्र, उत्तमगृह, पशु, स्वर्ण आदि दशाग कामभोग सामग्री से युक्त होते हैं।"[१]

ये सब प्रारब्ध के फल हैं।

संचित कर्म प्रारब्ध के रूप में कब तक?

इस प्रकार अनादिकाल से अनेक जन्म-जन्मान्तर में जमा हुए संचित कर्म पककर फल देने हेतु प्रारब्ध कर्म के रूप मे ज्यो-ज्यों तैयार होते जाते हैं, त्यो-त्यो वह जीव अनन्तकाल तक भिन्न-भिन्न शरीर (कर्मानुरूप) धारण करता ही रहता है। और उसे तब तक देह धारण करने पड़ते हैं, जब तक वह कर्मों से सर्वथा मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त न कर ले।

त्रिविधकालकृत कर्मों से छुटकारा पाये बिना मोक्ष नहीं

यही कारण है कि इन कालकृत त्रिविधकर्मों से शीघ्र छुटकारा नही होने के कारण ही ससार-सागर को पार करना दुस्तर बताते हुए शंकराचार्य ने कहा—"इस जीव का पुनः-पुनः जन्म और पुनः पुनः मरण, तथा पुनः पुनः माता के उदर में शयन, होने के कारण ही इस ससार-सागर को पार करना दुस्तर है। हे मुरारे! कृपा करके इस जन्म-मरण के चक्र से मुझे बचाइये।"

संसार-सागर दुस्तर क्यों?

आशय यह है कि जीव अनेक योनियो मे जन्म लेता ही रहता है, और नये-नये क्रियमाण कर्म भी करता ही रहता है। उनमें से अनेक कर्म सचित रूप मे जमा होते रहते हैं। वे संचितकर्म अमुक काल के पश्चात्

---

१. (क) कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ७

(ख) उत्तराध्ययनसूत्र अ. ३ गा. १६-१७-१८

पककर फल देने हेतु प्रारब्ध के रूप में जीव के समक्ष आकर खड़े रहते हैं और अनन्तकाल तक जीव को इन कर्मों से मुक्त नहीं होने देते। इसीलिए संसार-सागर को दुस्तर कहा गया है।[१]

कालकृत कर्मों का यह चक्र अनन्तकाल तक चलता है

कर्मों का यह रोटेशन (Rotation) अनन्त-अनन्त जन्मों तक चलता रहता है। क्रियमाण से संचित और संचित से प्रारब्ध के रूप में परिणत होकर विभिन्न रूपों में अनन्त काल तक प्रवाह रूप से कर्मों की अविच्छिन्नता चलती रहती है।

लोकमान्य तिलक ने क्रियमाण कर्म के भेद को ठीक नहीं माना। वे लिखते हैं कि क्रियमाण का अर्थ है—जो कर्म अभी हो रहा है, अथवा जो कर्म अभी किया जा रहा है, परन्तु वर्तमान समय में हम जो करते हैं, वह प्रारब्ध कर्म का ही परिणाम है।वेदान्तसूत्र मे कर्म के प्रारब्धकार्य और अनारब्ध कार्य ये दो भेद ही किये गए हैं।[२]

तीनों कालकृत कर्मों का फल किसी न किसी रूप मे भोगना पड़ता है

क्रियमाण अर्थात्—बध्यमान कर्म का भी फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता। हाँ, जैनकर्मविज्ञान की दृष्टि से इतना जरूर है कि जब तक सत्ता में पड़ा हुआ (सचित) कर्म उदयोन्मुख (फल देने हेतु तैयार) नही होता, तब तक उन्हें (निकाचित रूप मे न बंधे हो तो) अशुभ से शुभ में, या शुभ से अशुभ में भी परिणत किया जा सकता है। तथैव फल देने से पहले ही उदीरणा करके फल भोगकर उन्हें क्षीण किया जा सकता है।

फिर भी क्रियमाण से संचित मे चले जाने पर भी, अथवा क्रियमाण से सीधा प्रारब्ध मे चला गया है, तब भी फल तो अवश्यमेव भोगना पड़ता है। भले ही त्याग, तप, संयम आदि से अशुभफल शुभफल के रूप मे परिणत हो जाए, अथवा पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त आदि कारणों से बृहत्तम के बदले अल्पतम अशुभ फल भोगना पड़े। परन्तु यह बात प्रायः निश्चित है कि जो कर्म किया है, अर्थात् राग-द्वेषादियुक्त होकर कर्म बांधा है, तो समझ लो उसका फल भोगने से छटक नहीं सकते। अशुभ कर्मफल से

---

१. (क) कर्मनो सिद्धान्त से पृ. ८

(ख) पुनरपि जननं पुनरपि मरण पुनरपि जननी जठरे शयनम्।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया परि पाहि मुरारे।॥ —शंकराचार्य

२. (क) गीतारहस्य (लो. तिलक) से पृ. २७२

(ख) वेदान्तसूत्र ४/१/१५

बचने के लिए मनुष्य चाहे जितना पैर पछाड़े, चाहे जितनी उठा-पटक करले, फल भुगवाए बिना वह कर्म शान्त नहीं होगा।

कर्म मनुष्य के पीछे-पीछे परछाई की तरह चलता, रहता है। फल भुगवाकर ही छोड़ता है। कदाचित् मनुष्य अधिक बुद्धिशाली हो तो चतुर वकील रखकर इस दुनियाँ की कोर्ट से छूट जाए, यानी दण्डरूप फल से बच जाए। किन्तु सर्वोपरि (सुप्रीम) कोर्ट = कर्म प्रकृति के कोर्ट से तो कतई छूट नहीं सकता। वहाँ किसी भी वकील की दलील या किसी बड़े आदमी की सिफारिश नहीं चलती। कर्म के कोर्ट में किसी न्यायाधीश को रिश्वत देना, किसी झूठे गवाह को खड़ा करना, इत्यादि तिकड़मबाजी नहीं चलती। कदाचित् किसी व्यक्ति का पुण्य प्रबल हो अथवा क्रियमाण कर्म को पकने—फलप्रदान करने में अभी देर हो, इस कारण उस दौरान अपराधयुक्त क्रियमाण पापकर्म करने पर भी जगत् की दृष्टि में अपराधी सिद्ध न हो, फिर भी संचित हुए वे (पूर्वकृत क्रियमाण) कर्म मौका आने पर पककर प्रारब्ध के रूप मे उपस्थित होकर सामने आ धमकते हैं और फल भुगवा कर ही शान्त होते हैं।[1]

प्रारब्ध कर्म को हँसते-हँसते भोग लो

अतः कर्म करने से पूर्व हजार बार सोच लेना चाहिए। परन्तु कर्म हो जाने के पश्चात् उनके फलभोग से बचने या छूटने के लिए व्यर्थ की दौड़-धूप या उठा-पटक नहीं करनी चाहिए। जब वे क्रियमाण कर्म पककर प्रारब्ध के रूप मे सामने आएँ, तब सीना तान कर उन्हें सहर्ष अपना लेना और भोग लेना चाहिए। अन्यथा, हँसते-हँसते किये (बांधे) हुए वे पापकर्म (फल) रोते-रोते भी भोगने ही पड़ेगे।

राजा परीक्षित ने अशुभ प्रारब्ध को स्वयमेव भोग कर मुक्ति पाई

यद्यपि राजा परीक्षित महाज्ञानी, विद्वान् और सस्कारी था। फिर भी उससे एक महान् पाप (कर्म) हो गया। क्रोधावेश मे आकर उसने एक मरा हुआ साप एक निर्दोष निरपराध ऋषि के गले में लिपटा दिया था। राजा घर आया। उसका क्रोध शान्त हुआ। उसे अपना दुष्कृत्य ध्यान में आ गया। और उसकी अन्तरात्मा पश्चात्तापपूर्वक पुकार उठी—अहो! मैंने अनार्य के समान भयकर अधम पापकर्म कर डाला। गुप्त तेजस्वी निरपराध ब्राह्मण के प्रति मैंने कितना अन्याय कर डाला!"[2]

---

१. (क) कर्मग्रन्थ भा. ५ प्रस्तावना से पृ. १९

(ख) कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ११

२. (क) वही, पृ. ११

(ख) अहो मया नीचमनार्यवत् कृतम्।
निरागसि ब्रह्मणि गूढतेजसि॥ —महाभारत (व्यास जी)

"मेरे द्वारा किये हुए क्रियमाण कर्म के फलस्वरूप मेरे पाप के नाश के लिये मुझे शीघ्र ही कठोर दण्ड मिले, जिससे भविष्य में मैं पुनः ऐसा अधम दुष्कृत्य न कर सकूँ और न ही मेरे उदाहरण को लेकर कोई शासक ऐसा नीच कृत्य करे।"

"और मुझे अपने अपराध के बदले में ऐसी सजा मिले कि उस ब्राह्मण ऋषि की कोपाग्नि मे मेरा समग्र राज्य, बल (सैन्य), समृद्धि, कोश (राज्य का खजाना) आदि तत्काल जल कर खाक हो जाए। ताकि मुझे ब्राह्मण, देवता और गाय आदि के प्रति ऐसी कुबुद्धि कभी न सूझे।"[१]

इस प्रकार राजा परीक्षित स्वयं अपने विरुद्ध अपराध का अभियोग लगाकर उसकी सजा (शिक्षा या दण्ड) की माँग कर रहा है। उसने कर्म के फल से छूटने के लिए किसी प्रकार की सिफारिश का, सत्ता के अहंकार का, अपने रक्तसम्बन्ध का कथमपि उपयोग नहीं किया। क्योकि वह जानता था कि अगर इनका उपयोग किया जाएगा तो भी प्रारब्धकोटि का कर्म फल-प्रदान किये बिना छोड़ेगा नहीं।

उक्त क्रियमाण अशुभ कर्म के फलस्वरूप तक्षक नाग (सर्प) के काटने से मृत्यु पाने का प्रारब्ध राजा परीक्षित के लिए निर्मित हुआ। परन्तु इस कटुफलभोग से छटकने के लिए उसने किसी प्रकार की सिफारिश का अथवा अपनी सत्ता का जरा भी उपयोग करने का प्रयास नहीं किया।

उसने उस समय के शक्तिशाली तथा भगवान् के रूप में मान्य कर्मयोगी कृष्ण से भी प्रार्थना नही की कि "भगवान् कृष्ण! मेरा दादा अर्जुन और आप (श्री कृष्ण) दोनो सगे मामा-भुआ के पुत्र-भाई थे, तथा आप दोनो साला-बहनोई भी होते थे। उस दृष्टि से आप मेरे अत्यन्त निकट सम्बन्धी होते हैं। तथा मेरा दादा अर्जुन भी आपका परमप्रिय भक्त था। उसके रथ के कुशल सारथि भी आप बने थे। और स्वयं मेरी भी रक्षा आपने गर्भवास मे की थी। अतः सर्वशक्तिमान हैं। इसलिए आपकी सिफारिश से तथा प्रभाव से मुझे अपने अपराध की सजा (शिक्षा) न मिले, ऐसी कृपा करो। फिर जिदगी मे मेरा यह पहला ही अपराध है। भविष्य मे मै ऐसा अपराध कदापि नही करूँगा, ऐसी शपथ लेता हूँ। मुझे कम से कम इतने समय लिए इस अपराध की सजा से बरी कर दो तो, आप कहेंगे उस मद में उतनी अपार धन राशि मैं व्यय कर दूँगा, आप प्रसन्न हो, उतना धर्मादा मैं निकाल दूँगा।"

---

१. ध्रुव ततो मे कृतदेव-हेलनात्, दुरत्ययं व्यसनं नातिदीर्घात्।
तदस्तु कामं त्वघविष्कृताय मे यथा न कुर्यां पुनरेवमद्धा।
अद्यैव राज्यं बल मृद्धकोश प्रकोपिता-ब्रह्म-फलानलोमे।
दहतु ह्यभद्रस्य पुनर्नमेऽभूत् पापीयसी धीः द्विज-देव-गोभ्यः। —महाभारत

भगवान् के समक्ष ऐसी सिफारिश या रिश्वतखोरी कर्म के अटल कानून (नियम) के अमल में नहीं चलती। माना कि परीक्षित बड़ा राजा था। उसके राज्य की सुप्रीम कोर्ट भी उसे सजा फरमा नहीं सकती थी। फिर भी उसने इन सबका आश्रय लेकर अपने कठोर क्रियमाण कर्म के प्रारब्ध के फल (मृत्युदण्ड) से बचने की इच्छा नहीं की; बल्कि अपने विरुद्ध स्वयं ने ही अपराध का आरोप लगाया और कठोर सजा की माँग की। यही कारण है कि परीक्षित ने अपने क्रियमाण कर्म का फल=प्रारब्ध स्वयं ने स्वीकार करके भोग लिया जिससे वह कर्म-मुक्त हुआ।[१]

संचित कर्म तत्काल फल न दे, इसलिए निश्चिन्त मत होओ

कई लोग संचित रूप में सत्ता में पड़े हुए क्रियमाण कर्म के तत्काल फल-प्रदान न करने के कारण निश्चिंत हो जाते हैं और अन्यान्य पापकर्म बेधड़क होकर करते जाते हैं। परन्तु जब उनका वह क्रियमाण संचित कर्म प्रारब्ध के रूप में फल-प्रदान करने के लिए तत्पर होता है, तब वह उसके कठोर दण्डरूप फल से किसी भी हालत में बच नहीं सकते।

एक ज्वलन्त घटना : प्रारब्ध कर्म की विचित्रता की

'कर्मनो सिद्धान्त' के विद्वान् प्रवक्ता श्री हीराभाई ठक्कर ने इस सम्बन्ध में एक सच्ची घटना प्रस्तुत की है—वर्षों पहले की बात है। उस समय अहमदाबाद में एक प्रखर विद्वान् सेशन जज थे। जाति से वे नागर ब्राह्मण और चुस्त वेदान्ती थे। वे कर्म के कानून ठोस अध्येता थे। साबरमती नदी के पास ही उनका बंगला था।

एक दिन भोर में हल्के अन्धेरे में ही वे शौचक्रिया के लिए साबरमती नदी के किनारे बैठे; तभी एक मनुष्य दौड़ता-दौड़ता उनके पास से होकर गुजरा। उसकी पीठ में पीछे से आकर किसी मनुष्य ने तलवार का प्रहार किया। फलतः वह घायल होकर धड़ाम से धरती पर गिर पड़ा और तत्काल मरण-शरण हो गया। इस घटना को सेशन जज ने अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देखा। हत्यारा भाग गया; किन्तु जज ने उसे भलीभाँति पहचान लिया था।

सेशन जज घर आए। परन्तु इस घटना का जिक्र उन्होंने किसी के आगे नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि यह हत्या का मामला, अन्त में तो उनकी कोर्ट में आने ही वाला है। फिर उस केस की पुलिस-इन्क्वायरी शुरू हुई। छह महीने में पूरी इन्क्वायरी पूर्ण हुई। हत्या का केस दाखिल किया। सेशन जज ने इस केस का अध्ययन किया तो प्रतीत हुआ कि जो असली हत्यारा था, जिसे उन्होंने प्रत्यक्ष हत्या करते देखा था, उसके बदले पुलिस

१. 'कर्मनो सिद्धान्त' से पृ. ११-१२

ने दूसरे ही किसी मनुष्य को हत्या के अपराधी के रूप में उपस्थित किया है। फिर तो केस चला। ठोस साक्षी और प्रमाण दिये गए, और वह नकली हत्यारा अपराधी सिद्ध हुआ।

सेशन जज निश्चितरूप से जानते थे कि यह नकली हत्या-अपराधी वास्तव में हत्यारा नहीं है। परन्तु कानून तो सबूत और साक्षी के आधार पर चलता है। अतः न्यायाधीश को कायदे के अनुसार प्रमाण और साक्षी के आधार पर न्याय (जजमेंट) देना ही पड़ता है। उसमें न्यायाधीश का अपना प्रत्यक्ष अनुभव काम नहीं आता। इसलिए सेशनजज को उस नकली हत्या-अपराधी को फांसी की सजा फरमाने के लिए बाध्य होना पड़ रहा था।

सेशन जज प्रखर वेदान्ती और ईश्वरीय कर्म के कानून के पक्के विश्वासी थे। उन्हें लगा कि इस केस में असली हत्यारा बच रहा है और निर्दोष नकली हत्यारा मारा जाएगा। इसलिए कोर्ट में हत्या की सजा का हुक्म फरमाने से पहले सेशन जज ने उस नकली हत्या अपराधी को अपने चेम्बर में बुलाकर पूछताछ की।

नकली अपराधी रोते-रोते कहने लगा—"मैं बिलकुल निर्दोष हूँ। मैंने यह हत्या नहीं की है। मैं व्यर्थ ही मारा जा रहा हूँ। क्योंकि पुलिस को असली हत्यारा मिला नहीं, इसलिए पहले के मेरे व्यक्तिगत (Private) कारनामों के आधार पर पुलिस ने मुझे पकड़कर मेरे विरुद्ध ठोस प्रमाण प्रस्तुत कर दिये और कोर्ट की दृष्टि में कानून के अनुसार मैं ही हत्यारा भी सिद्ध हो गया हूँ।"[१]

सेशन जज ने कहा—"मैं इस घटना को भलीभाँति जानता हूँ। असली हत्यारे को मैंने अपनी आँखों से देखा है। मैं उसे पहचानता भी हूँ और तू निर्दोष है यह भी मैं पूरा जानता हूँ। परन्तु मेरे जजमेंट (फैसले) में मैं इस बात को कानून के अनुसार ला नहीं सकता। कानून प्रमाण के आधार पर चलता है। और प्रमाण पूर्णरूप से तुम्हारे विरूद्ध होने से मैं कानून के अनुसार तुझे हत्यारा सिद्ध करके फांसी की सजा दूँगा। परन्तु ईश्वरीय कर्म के कानून में कही गफलत तो नहीं है, इसकी प्रतीति करने हेतु मैं तुझसे प्राइवेट में एक प्रश्न पूछता हूँ। उसका जबाब तू मुझे सही-सही और सच्चा देना। मृत्यु की घड़ी में तू बिलकुल झूठ मत बोलना। मेरा सवाल यह है कि "तूने किसी समय किसी की हत्या की थी क्या?"

नकली हत्या-अपराधी ने गद्‌गद स्वर में ईश्वर की साक्षी से सत्य कह दिया कि मैंने भूतकाल में दो हत्याएँ की थीं। उनके केस (अभियोग)

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. ९-१०

भी चले थे। परन्तु दोनों ही वक्त मैंने होशियार वकील नियुक्त किये थे और पुलिस विभाग में भी पर्याप्त धनराशि लुटाई थी। इस कारण दोनों केसों में मैं बिलकुल निर्दोष छूट गया। परन्तु इस केस में मैं बिलकुल निर्दोष होते हुए भी मारा जा रहा हूँ।"

सेशन जज को उसकी बात सुनते ही ईश्वरीय कर्मतत्त्व के प्राकृतिक कानून पर प्रतीति हो गई कि वह अटल है। उसमें कहीं गफलत नहीं है। पहली दो हत्याओं के समय इस हत्या-अपराधी का पुण्य प्रबल होगा, इस कारण इसके उन दो क्रियमाण कर्मों को फल देने में देर लगी; वे दोनों 'पाप कर्म' संचित के रूप में जमा रहे। अब जबकि इसका पुण्य समाप्त हो गया, तब पिछले क्रियमाण हत्यारूप दो कर्मों के फलस्वरूप वे संचित कर्म पके और फल देने हेतु तत्पर हुए। अर्थात्—वे संचित कर्म पककर प्रारब्ध के रूप में उपस्थित हुए। इस केस में निर्दोष होने पर भी प्रारब्ध ने उसे चक्कर में ले लिया और फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिया।[1]

केवल प्रारब्ध को या केवल क्रियमाण को देखकर ही झट निर्णय न करो

इसलिए संचित रूप में जमा क्रियमाण कर्म मौका आते ही पककर प्रारब्ध होकर सामने आ ही धमकते हैं और फल देकर ही शान्त होते हैं।[2]

कर्म के इस त्रैकालिक रूप को नहीं जानकर जो व्यक्ति केवल क्रियमाण को ही जानता है अथवा केवल प्रारब्ध को देखकर ही उसके समस्त जीवन या व्यक्तित्व का निर्णय कर लेता है, ऐसा व्यक्ति कर्मविज्ञान के सर्वांगीण रूप को भलीभाँति हृदयंगम नहीं कर पाता। जो व्यक्ति कर्म के केवल वर्तमान प्रारब्ध रूप को ही देखता है, वह त्याग, तप, न्याय, नीति और धर्म के अनुसार चलने वाले को दुःखित-पीड़ित तथा अन्याय, अनीति, अधर्म और पाप के पथ पर चलने वाले को सुखी, सम्पन्न और धनिक देखता है, तो कर्म के अटल नियम—**'यादृक्करण तादृग्भरण'** 'जैसी करनी वैसी भरनी' के विषय मे उसकी श्रद्धा डगमगा जाती है।

इसी प्रकार जो व्यक्ति केवल प्रारम्भकालिक या भूतकालिक क्रियमाण कर्म को ही देखकर यह सोच लेता है कि इस शुभकर्म का फल तो अभी मिला नहीं है, न मालूम कब मिलेगा? अथवा मैंने जो हिंसा आदि पापकर्म किया है, उसका फल अभी तो मिला नहीं है, भविष्य में भी शायद ही मिले।

---

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से पृ. १०

२. तेणे जहा संधिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि॥ —उत्तराध्ययन ४/३

ऐसे शाश्वतवादी, व्यक्ति संचित कर्म को आँखों से ओझल कर देते हैं और जो पुण्यकर्मपरायण होते हैं, वे शुभकार्यों से बिलकुल उदासीन एवं विमुख हो जाते हैं, तथैव जो पापकर्म-परायण होते हैं, वे अशुभकार्यों-दुष्कृत्यों को बेधड़क करते चले जाते हैं। किन्तु भविष्य में जब वे शुभाशुभ कर्म प्रारब्ध के रूप में उदय में आकर फल देने को तत्पर होते हैं, तब उनके पश्चात्ताप, दुःख, घबड़ाहट, भय और आंतक की कोई सीमा नहीं रहती।

इसीलिए जैनकर्मवैज्ञानिकों ने कर्म के त्रैकालिक रूप को जानने-मानने की प्रत्येक जिज्ञासु और मुमुक्षु को चेतावनी दी है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका सुन्दर ढंग से निरूपण किया गया है।[१]

वर्तमान में पापी सुखी, धर्मी दुःखी : क्यों और कैसे ?

सच तो यह है कि जो मनुष्य वर्तमान में पापकर्म करता हुआ भी सुख भोगता मालूम होता है, तो वह सुख उसके वर्तमानकृत पापकर्मों का फल नहीं है, परन्तु उसके द्वारा पहले किये हुए कर्म, जो संचितरूप में जमा पड़े थे, वे ही पककर प्रारब्धरूप में उसे सुखरूप फल प्रदान करते हैं। और वर्तमान में किये जा रहे पापकर्म जहाँ तक संचित रहेंगे, प्रारब्धरूप में फल देने हेतु तत्पर नहीं होंगे, वहाँ तक उनके फल पाने में विलम्ब होगा। परन्तु जब उसके पूर्वकृत पुण्य कर्मों से निर्मित प्रारब्ध समाप्त हो जाएगा कि तुरंत ही उसके वर्तमानकृत पापकर्मों का पका हुआ दुःखरूप फल प्रारब्ध के रूप में सामने आकर उसे भुगवाएगा। जहाँ तक पूर्वकृत पुण्य प्रबल हैं, वहाँ तक प्रायः वर्तमानकृत पापकर्म उस पर हमला नहीं करते। एक गुजराती कवि ने कहा है—

"पुण्य पूर्वेनुं खातां, हमणां सूझे छे तोफान।
पण ए खर्ची खूटे के आगल, वसमुं छे मैदान॥
जीवड़ा! मान मान रे मान; हजीए केम न आवे शान?"

इसके विपरीत जो व्यक्ति वर्तमान न्याय, नीति और धर्म का आचरण करता है, वह कदाचित् दुःखी दिखाई दे, परन्तु उसका वर्तमान दुःख उसके द्वारा पूर्वकृत पापकर्म के कारण है। जो संचित रूप में जमा थे, वे ही पककर अब प्रारब्ध रूप में सामने उपस्थित हैं। उन्हीं के कारण वह वर्तमान में दुःखी है। वर्तमान में न्याय-नीति और धर्माचरण के रूप में कृत शुभकर्म कालान्तर में पकेंगे, तब वे सुख के रूप में प्रारब्ध रूप में अवश्यमेव फलित

१. स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा; एसोवमा सासइवाइयाणं।
विसीयइ सिढिले आउयंमि, कालोवणीए सरीरस्स भेए॥ —उत्तराध्ययन ४/९

होंगे। इसलिए कर्म के अटल नियम—कानून पर से श्रद्धा को डगमगाकर अधर्म या पाप का आचरण करना कथमपि हितावह नहीं है।[1]

त्रिविध कालकृत कर्म को समझाने हेतु दृष्टान्त

श्री हीराभाई ठक्कर ने क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध कर्म को सरलता से समझाने के लिए एक रूपक दिया है—गाँवों में अनाज भर कर संग्रह करने के लिए बड़ी-बड़ी कोठियाँ होती हैं, उनमें अनाज अन्दर डाला जाता है। कोठी के निचले भाग में एक छेद रखा जाता है, उसके द्वारा कोठी में से जरूरत के मुताबिक अनाज निकाला जाता है।

मानलो, तुम्हारी कोठी में गेहूँ भरा हुआ है और मेरी कोठी में भरा हुआ है—कोद्रवधान्य। यदि तुम फिलहाल अपनी कोठी में ऊपर कोद्रव डालो तो भी कोठी के निचले छिद्र में से गेहूँ ही निकलेगा और मैं यदि फिलहाल अपनी कोठी में ऊपर से गेहूँ डालूँ तो भी मेरी कोठी के निचले छिद्र में से कोद्रव ही निकलेगा; क्योंकि निचले भाग मे भरे हुए कोद्रव पूर्णतया खत्म नहीं हुए हैं। परन्तु मुझे यह देखकर घबराना नहीं चाहिए कि मैं वर्तमान में अच्छा धान्य डाल रहा हूँ, फिर बुरा धान्य क्यों निकल रहा है ?

कारण स्पष्ट है, कोठी में पहले का डाला हुआ बुरा धान्य जब तक पूरा खत्म नहीं होगा, तब तक उसमें बाद में डाला हुआ अच्छा धान्य कहाँ से निकलेगा ? परन्तु मुझे यह जानकर प्रसन्नता होनी चाहिए कि जब मेरी कोठी में पहले के संचित कोद्रव धान्य समाप्त हो जाएगा, तब मेरे द्वारा वर्तमान में डाले हुए गेहूँ के आने की शुरुआत होगी ही। और जब तुम्हारी कोठी में पहले के संचित गेहूँ खत्म हो जाएँगे, तब बाद में तुम्हें कोद्रव खाने का वक्त आएगा ही यह निश्चित है। अतः जब तुम कोद्रव खाओगे, तब मैं गेहूँ खाऊँगा।

यही बात कर्म के सम्बन्ध में कही जा सकती है। जो पापकर्मकारी व्यक्ति वर्तमान में सुखभोग कर रहा है, वह पुण्य समाप्त होते ही वर्तमान पाप के फलस्वरूप दुःखभोग करने लगेगा; और जो पुण्यकर्मकारी व्यक्ति वर्तमान में दुःखभोग कर रहा है, वह पूर्वकृत पाप के समाप्त होते ही वर्तमान पुण्य के फलस्वरूप सुखभोग करने लगेगा। अतः धैर्यपूर्वक कर्म के अटल कानून पर विश्वास रखना चाहिए।

मान लो, एक बैंक मैनेजर आपका निकट का सम्बन्धी है। उसके साथ आपका बहुत ही मधुर सम्बन्ध है। फिर भी उस बैंक में आपके

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से भावांश उद्धृत, पृ. १३-१४

एकाउंट में बैलैंस नहीं होगा तो आप पाँच रुपये का चैक भी उस बैंक में भेजेंगे, तो वह नहीं स्वीकारेगा और आपकी उस बैंक मैनेजर के साथ कट्टर दुश्मनी हो तो भी आपका हजारों रुपयों का चैक वह स्वीकार कर लेगा; क्योंकि बैंक के एकाउंट में आपकी बहुत बड़ी रकम संचित रूप में बैलेंस में जमा पड़ी है।

अत. बैंक मैनेजर के इस प्रकार के व्यवहार से आपको बुरा नहीं मानना चाहिए अपितु कमर कसकर आपको बैंक में अपने एकाउंट में अधिकाधिक रकम जमा करानी चाहिए।

इसी प्रकार कर्म की बैंक में भी वर्तमान में पापी के भी पूर्वसंचित पुण्य धन जमा हैं, तो उसे सब कार्यों में सफलता मिलेगी और वर्तमान में पुण्यशाली के यदि पूर्वसंचित पाप जमा हैं तो उसे विफलता मिलेगी। इसलिए कर्म के इस निष्पक्ष कानून और यथायोग फलप्रदान से नाराज न होकर अधिकाधिक पुण्य कर्मों को संचित करना चाहिए।[1]

तीनों गुणों वाले व्यक्तियों की क्रियमाण कर्म करने की पद्धति

गीता मे सत्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी जीवों की क्रियमाण कर्म करने की पद्धति का पृथक्-पृथक् दिग्दर्शन कराया गया है। कर्म का फल तो तीनो ही प्रकार के जीवों को निश्चित ही मिलने वाला है। परन्तु सत्वगुणी जीव कहता है—"मैं कर्म (कर्त्तव्यकर्म) करूँगा, फल मिले या न मिले," रजोगुणी जीव कहता है—"मैं कर्म (कर्त्तव्यकर्म) करूँगा, किन्तु फल नहीं छोड़ूँगा।" और तमोगुणी जीव कहता है—"फल नहीं मिलेगा, वहाँ तक मैं कर्म नही करूँगा।"

श्री हीराभाई द्वारा इस सम्बन्ध मे एक रूपक द्वारा इस प्रकार स्पष्टीकरण किया गया है—

एक मनुष्य का पुत्र अकस्मात् रात के बारह बजे बीमार पड़ा। वह आधी रात को डॉक्टर को बुलाने गया। डॉक्टर सत्वगुणी था। उसने गाढ़निद्रा से जागकर जाना कि उस व्यक्ति का पुत्र सचमुच सख्त बीमार है। तो वह तुरंत इंजेक्शन और दवाइयो का बेग लेकर रोगी को देखने हेतु जाने को तैयार हो गया। उस व्यक्ति ने जब डॉक्टर को विजिट फीस के बारे में पूछा तो उक्त सत्वगुणी डॉक्टर ने कहा—विजिट फीस की बात बाद में, पहले मुझे तुम्हारे पुत्र का रोग मिटाने दो। यद्यपि विजिट फीस तो उसे मिलेगी ही, परन्तु उसकी वृत्ति, प्रवृत्ति और वाणी यह होगी—"विजिट फीस मिले या न मिले, मैं तो रोग मिटाऊँगा।"

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से साभार अनूदित पृ. १४-१५

डॉक्टर अगर रजोगुणी हुआ तो उसकी वृत्ति, प्रवृत्ति और वाणी इस प्रकार की होगी—"मैं रोग मिटाऊँगा, मगर मेरी विजिट फीस दस रुपये देने पड़ेंगे।"

परन्तु डॉक्टर यदि तमोगुणी है तो वह यही कहेगा—"पहले मेरी विजिट फीस दस रुपये रख दो, बाद मे मैं रोगी को देखने आऊँगा।"

प्रस्तुत तीनों प्रकार के डॉक्टरों को विजिट फीस तो मिलेगी ही, परन्तु तीनों की क्रियमाण कर्म करने की पद्धति एवं वृत्ति तथा वाणी में अन्तर है। बीमार पुत्र के पिता के आन्तरिक भाव में भी तीनों प्रकार के डॉक्टरों को फीस देते समय भी तीन प्रकार के मनोभाव होंगे।[1]

क्रियमाण कर्म करते समय सावधान रहो

जो क्रियमाण कर्म जितने और जिस वृत्ति—वाणी पूर्वक किये जाते हैं, उतना और उसी किस्म के प्रारब्ध का निर्माण होता है। और उतना ही प्रारब्ध फल मिलता है, न्यूनाधिक नही।

जन्मग्रहण करते समय जितने सचित कर्म पककर फल देने हेतु प्रारब्धरूप मे निर्मित हुए हो, उतने ही प्रारब्धकर्म का फलभोग कराने हेतु तदनुसार शरीर तथा माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि भी वैसे प्रारब्ध को भुगवाने के लिए प्राप्त होते हैं। सभी सुख-सुविधाएँ या सुख-दुःख के निमित्त भी प्रारब्धवशात् मनुष्य को अपने जीवन काल के दौरान मिलते जाते हैं।

अतः मनुष्य को अपने क्रियमाण कर्म करते समय पूरा सावधान रहना चाहिए; क्योकि जैसे क्रियमाण कर्म किये होगे, वे सचित होकर या सचित न होकर जब पकेंगे, तो जैसा और जितना प्रारब्ध-निर्माण हुआ होगा, उससे जरा भी कम या अधिक उसे नही मिलेगा।[2]

जैनदृष्टि से प्रारब्ध भी बदला जा सकता है

शुभकर्मों का फल सदैव सुखरूप और अशुभकर्मों का दुःखरूप ही होता है, इसमे शका को कोई अवकाश नही है। जैसा क्रियमाण कर्म होता है, वैसा ही सचित होता है, और जैसा संचित होता है, वैसा ही प्रारब्ध होता है। परन्तु जैनकर्मविज्ञान के अनुसार सचित से प्रारब्ध की भूमिका पर आने से पूर्व तक यदि व्यक्ति उक्त कर्म का सक्रमण, निर्जरण या उदीरण कर लेता है तो प्रारब्ध में परिवर्तन भी हो जाता है। परन्तु इस तथ्य को न समझने के कारण ही बहुत-से व्यक्ति प्रारब्ध के ही भरोसे हाथ पर हाथ धरकर, आलसी बनकर बैठ जाते हैं; कर्मों का संक्रमण, निर्जरण या उदीरण आदि करने का कोई भी पुरुषार्थ नही करते।

---

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से साभार अनूदित पृ. १८, १६

२. इसके लिये देखें—कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) पृ. १९

कट्टर प्रारब्धवादी पुरुषार्थहीन हो जाते हैं

कई कट्टर प्रारब्धवादी यों मानने लगते हैं कि मनुष्य को कुछ भी सत्पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं है, प्रारब्ध में जो कुछ होगा, वही मिलेगा। परीक्षा में पास होना होगा तो पास हो जाएँगे, अन्यथा चाहे जितनी मेहनत करलें, अगर प्रारब्ध में अनुत्तीर्ण होने का होगा तो अनुत्तीर्ण ही होंगे। अतः पढ़ने-लिखने का नाहक कष्ट क्यों उठाया जाए? ऐसी भ्रान्ति के शिकार होकर कई एकान्त प्रारब्धवादी विद्यार्थी परीक्षा का परिणाम प्रारब्ध या भगवान् पर छोड़कर आलसी बनकर बैठ जाते हैं।

ऐसे मूर्ख प्रारब्धवादी पुरुषार्थ का अर्थ और रहस्य बिलकुल समझे नहीं हैं। कहाँ प्रारब्ध को लगाना चाहिए और कहाँ पुरुषार्थ को? इसका विवेक जिसे नहीं है, वह न तो प्रारब्ध को सुधार पाता है और न ही प्रारब्ध के भरोसे बैठा रहकर सत्पुरुषार्थ करता है।[१]

लौकिक दृष्टि से प्रारब्ध और पुरुषार्थ का तालमेल

प्रारब्ध और पुरुषार्थ का समन्वय लौकिक दृष्टि से बताते हुए श्री हीराभाई ठक्कर कहते हैं—नौकरी मिलना, प्रारब्ध है; परन्तु नौकरी को वफादारी और ईमानदारी से टिकाये रखना पुरुषार्थ है। बंगला मिलना प्रारब्ध है, पर उसे साफ-सुथरा एवं व्यवस्थित रखना पुरुषार्थ है। पैसा मिलना प्रारब्ध, और उसका सदुपयोग करना पुरुषार्थ है। पुत्र मिलना प्रारब्ध है, परन्तु उसे शिक्षित और संस्कारी, धर्मप्रिय बनाना पुरुषार्थ है।

आशय यह है कि जो कुछ भी जैसे भी सजीव-निर्जीव पदार्थ या साधन प्रारब्धवश मिलें, उनका विवेकबुद्धि से सदुपयोग करना पुरुषार्थ है। अधर्म, अनीति या पाप वासना से किये हुए पुरुषार्थ से प्राप्त धन, पुत्र, आदि पदार्थ अनर्थकर ही साबित होते हैं, और उनसे नये अनिष्टकर प्रारब्ध का भी निर्माण होता है।[२]

लोकोत्तर आध्यात्मिक दृष्टि से प्रारब्ध से लाभ उठओ, मोक्ष पुरुषार्थ करो

लोकोत्तर आध्यात्मिक दृष्टि से प्रारब्ध से प्राप्त साधनों एवं परिस्थितियों का उपयोग करने में कैसा पुरुषार्थ करना चाहिए, इस विषय में कुछ संकेत सूत्र ये हैं—पैसा प्राप्त हो तो पैसा होने की परिस्थिति से लाभ उठाकर मनुष्य को मोक्ष मार्ग पर चलने का तथा पैसा प्राप्त न हो तो पैसा न होने की परिस्थिति से लाभ उठाकर भी मोक्षमार्ग पर चलने का पुरुषार्थ करना चाहिए। पत्नी हो तो पत्नी होने की परिस्थिति का लाभ उठाकर

---

३० कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) पृ. २२

३१ वही पृ. २२

मोक्षमार्ग पर आरूढ होने का तथा विधुर होने पर विधुर होने की परिस्थिति का लाभ उठाकर अनायास ही मोक्षमार्ग पर तीव्रगति से प्रयाण करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। संक्षेप में, प्रारब्धवशात् शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि जैसा भी, जो कुछ भी प्राप्त हो, अथवा न हो, तो वैसी परिस्थिति का लाभ उठाकर मोक्षमार्ग की साधना करने का पुरुषार्थ करना चाहिए।[1]

प्रत्येक परिस्थिति में संतोषपूर्वक पुरुषार्थ करो

एक श्लोक में प्रत्येक परिस्थिति में संतोषपूर्वक सत् पुरुषार्थ करने के लिए कहा गया है—"दूसरों को संतप्त एवं दुःखित किये बिना, नीच मनुष्यों की खुशामद किये वगैर तथा अपनी आत्मा को किसी प्रकार का क्लेश= मनस्ताप कराये बिना, प्रारब्धवशात् जो कुछ भी थोड़ा-बहुत मिले, उसी में संतोष करके सतत सत्पुरुषार्थ करते रहना चाहिए।"[2]

अर्थ और काम प्रारब्ध पर छोड़ो, धर्म, मोक्ष में पुरुषार्थ करो

भारतीय संस्कृति में मानव-जीवन के लिए चार पुरुषार्थ बताए हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ऋषि-महर्षियों ने धर्म-पुरुषार्थ से प्राप्त अर्थ (जीवन जीने के साधन-समूह) का विवेक-बुद्धिपूर्वक उपयोगरूप-पुरुषार्थ मोक्षमार्ग में करना चाहिए, यही नीति बताई है। अर्थात् अर्थ और काम प्रारब्ध पर छोड़ देना चाहिए, उनके लिए पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नहीं, जिनके लिए मनुष्य को सतत जाग्रत रहकर पुरुषार्थ (कर्म) करना चाहिए वे हैं—धर्म और मोक्ष। किन्तु वर्तमानयुग में अर्थ और काम को प्रारब्ध पर छोड़ देने के बदले मानव उनके लिए ही प्रायः अहर्निश अधिकाधिक पुरुषार्थ करता है। और धर्म एवं मोक्ष को प्रारब्ध पर छोड़ देता है जिसके कारण उसके क्रियमाण कर्म से जो प्रारब्ध निर्मित होता है, वह दुःख, विपत्ति और संकट देने वाला बनता है।[3]

सच्चा शुभ क्रियमाण पुरुषार्थ (कर्म) ही प्रारब्ध बनता है

वस्तुतः देखा जाए तो मनुष्य आज जो क्रियमाण कर्म (पुरुषार्थ) करता है, वही 'संचित' रूप में जमा होता है, और कालान्तर में उसी का परिपाक होने पर वह 'प्रारब्ध' बनता है। इसलिए सच्चे माने में तो पुरुषार्थ ही कालान्तर में प्रारब्ध बनता है।

---

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से भावांश उद्धृत पृ. २३

२. "अकृत्वा पर-सन्तापं अगत्वा खलनम्रताम्।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यत्स्वल्पमपि तद्बहु॥"

३. 'कर्मनो सिद्धान्त' से भावांश उद्धृत पृ. २४

अपने प्रारब्ध का निर्माण अपने हाथ में

इसीलिए एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

'Man is the architect of his own fortune'

"मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं ही है।"

इसे ही वैदिक परम्परा के शब्दों में कहें तो—मनुष्य अपने प्रारब्ध का निर्माण अपने वर्तमान के पुरुषार्थ से स्वयमेव कर सकता है। अतः सफल जीवनयात्रा के लिए स्वयं सत्पुरुषार्थ करना ही अपने सद्भाग्य, सत्-प्रारब्ध, पुण्य या सुखरूप शुभफल का निर्माण करना है। और शुभप्रारब्ध के रूप में प्राप्त सुख-साधनों या अच्छे संयोगों का भी धर्म-मोक्ष की प्राप्ति के लिए विवेक-बुद्धिपूर्वक उपयोग एवं सत्पुरुषार्थ करना चाहिए।

मनोऽनुकूल प्रारब्ध कर्म के लिए क्रियमाण में सावधान रहो

निष्कर्ष यह है कि प्रारब्ध मनोऽनुकूल प्राप्त हो, सुखरूप फल मिले, इसके लिए सर्वप्रथम तो क्रियमाण कर्म करते समय खूब विचार और विवेक करना चाहिए। मानलो, पूर्वजन्म में या इस जन्म में अज्ञानतावश या लाचारीवश कोई भी दुष्कर्म हो गया है तो उसका फल प्राप्त हो, उससे पूर्व ही, यानी प्रारब्ध के रूप में वह कर्म फल देने के लिए उद्यत हो (उदय में आए), उससे पूर्व ही सम्यक्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र तथा सम्यक्तप की आराधना-साधना बहुत श्रद्धा-विनय-विवेकपूर्वक करनी चाहिए।

क्रियमाण कर्म पापरूप या अशुभ हो गया हो तो भी यदि मनुष्य उसके लिए आलोचना, निन्दना (आत्म-निन्दन, पश्चात्ताप), गर्हणा (गुरु या महान् के समक्ष सरलता से प्रकटीकरण), प्रायश्चित्त (तप, त्याग, व्युत्सर्ग आदि के रूप में), विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, धर्म-शुक्ल ध्यान, अनुप्रेक्षा एवं व्रत-नियमादि का आचरण करे तो उसका प्रारब्ध फल देने से पूर्व शुभ हो सकता है। यही संचित (सत्ता में पड़े हुए) अशुभ कर्मों को शुभ या शुद्धरूप में बदलने की चाबी है। फिर भी यदि पूर्वकृत क्रियमाण कर्म, जो अब तक संचित थे, प्रारब्धरूप में आकर दुःखरूप फल प्रदान करने लगें तो उन्हें समभाव से, अनुद्वेगपूर्वक, ज्ञानयोग द्वारा भोग लेने से उन कर्मों से मनुष्य मुक्त हो सकता है।

संचित कर्मों से छुटकारा कैसे प्राप्त हो ?

भगवद्गीता में बताया गया है कि कर्मयोग द्वारा क्रियमाण कर्मों पर नियंत्रण किया जा सकता है, अथवा उनसे छुटकारा भी पाया जा सकता है, तथैव भक्तियोग (समर्पण-योग) द्वारा प्रारब्धकर्म भोगकर उनसे छुटकारा पाया जा सकता है। परन्तु संचित (सत्ता में पड़े हुए) कर्मों से कैसे छूटा जा सकता है ? यह गम्भीर प्रश्न है—मुमुक्षु साधक के सामने।

क्योंकि क्रियमाण कर्म करने में तो मानवमात्र स्वतंत्र है और उसे नियंत्रित करना उसके हाथ की बात है। प्रारब्ध कर्म भी उसके समक्ष आकर खड़े हो जाते हैं, उन्हें भी मनुष्य चाहे तो अपने जीवनकाल के दौरान समभाव से अथवा फलाकांक्षा, फलासक्ति, कामना, वासना आदि से रहित होकर भोगे तो समाप्त कर सकता है।

परन्तु संचित कर्म तो अभी परिपाक अवस्था में तथा फल देने के लिए तैयार हुए ही नहीं हैं। वे तो प्रत्यक्ष सामने आकर खड़े नहीं हैं। फिर वे तो अतीत में हुए क्रियमाण कर्म हैं। ये वे कर्म हैं जो हो गए हैं, उन्हें अब 'नहीं हुए' कैसे किये जा सकते हैं ?

जैसे एक बार छूटा हुआ तीर वापस तरकश में नहीं आ सकता, एक बार बोला हुआ वचन वापस नहीं खींचा जा सकता, बंदूक में से छूटी हुई गोली वापस बन्दूक में नहीं आ सकती, वैसे ही एक बार जो क्रियमाण कर्म हो गया, वह अभी संचितरूप में जमा पड़ा है, वह प्रारब्धरूप मे आकर सामने खड़ा नहीं हुआ। ताकि उसे समभाव से भोगकर उससे छुटकारा पाया जा सके। और फिर संचित कर्म भी एक-दो नहीं, एक दिन, सप्ताह या वर्ष के नही कई वर्षों के, कई जन्मों के जत्थे के जत्थे हैं, उनसे कैसे छूटा जाए ?

कदाचित् उनमे से जो कर्म पकते जाएँ और प्रारब्ध कोटि में आते जाएँ, उन्हें भोगते जाएँ फिर भी उनके साथ-साथ नए-नए असंख्य क्रियमाण कर्म भी एक जीवन में बंधते जाते हैं। वे संचित कर्म अनन्तकाल तक जीव को जन्म-मरण के चक्कर मे भ्रमण कराते रहते हैं।[१] ऐसी स्थिति मे उन अनन्त संचित कर्मों से व्यक्ति कैसे मुक्त हो सकता है ? सर्व कर्मों से मुक्त हुए बिना तो मोक्ष हो नहीं सकता।

गीता और वेदान्त इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—ऐसी परिस्थिति में भी साधक को घबराने की जरूरत नहीं। उसके मन में तीव्रश्रद्धा, तड़फन और मुक्ति या परमात्मतत्त्व प्राप्ति की अदम्य अभिलाषा (संवेग) होनी चाहिए।

जिस प्रकार प्रकोष्ठ (कमरे) में व्याप्त सघन अन्धकार को प्रकाश की किरण क्षणभर में मिटा देती है; घास के बड़े से बड़े ढेर को एक ही दियासलाई लगाकर थोड़ी ही देर में जलाकर खाक कर दिया जाता है, वैसे ही असख्य वर्षों से अनन्त कर्मों के संचित ढेर को भी ज्ञानरूपी अग्नि भस्म कर डालती है। मेरुपर्वत सम आकार वाले पापरूपी पराल के पुंज को क्या ज्ञान-दर्शन-चारित्राग्नि भस्म नहीं कर डालती ?

---

१. कर्मनो सिद्धान्त (हीराभाई ठक्कर) से भावांश उद्धृत पृ. ५६-५७

जैसे कर्मयोग द्वारा क्रियमाण कर्मों को, और भक्तियोग द्वारा प्रारब्ध कर्मों को नियंत्रित किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञानयोग द्वारा अनादिकाल से अनेक जन्म-जन्मान्तरों से संचित सर्व कर्मों को भस्म किया जा सकता है। इस प्रकार ज्ञान, कर्म एवं भक्तियोग से जीवमात्र संचित, क्रियमाण और प्रारब्ध कर्मों से मुक्त होकर निश्चित ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[१]

ज्ञानाग्नि से संचित आदि सबकर्म नष्ट हो जाते हैं

भगवद्गीता में इस विषय में स्पष्ट कहा गया है—जिस प्रकार अग्नि में डाली हुई समस्त प्रकार की मोटी-पतली, सूखी, गीली, लम्बी-छोटी लकड़ियाँ (ईंधन) भस्म हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि में डाले हुए सभी प्रकार के शुभ-अशुभ क्रियमाण, प्रारब्ध तथा संचित सभी कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं।[२]

ज्ञानाग्नि प्रकट करने का सबसे आसान तरीका यह है कि जीव को अपने स्व-स्वरूप (आत्म-स्वभाव) का यथार्थज्ञान होना ही ज्ञान का प्रकटीकरण है। परन्तु जीव को अपने स्वरूप का यथार्थ भान होना ही अत्यन्त कठिन है। अज्ञान, मोह, राग-द्वेष आदि ऐसे विकार हैं, जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत किये हुए हैं। आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान, उस पर पूर्णश्रद्धा तथा उक्त शुद्धस्वरूप में रमण ये ही निश्चयदृष्टि से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र हैं। ये ही वस्तुतः आत्मधर्म हैं, मोक्षमार्ग हैं; कर्मों से सर्वथा मुक्ति दिलाने वाले हैं। वस्तुतः ज्ञान ही आत्मा का मौलिक गुण है, आत्मा ज्ञानमय है। दर्शन और चारित्र भी निश्चयदृष्टि से एक प्रकार के ज्ञान ही हैं।

इसी दृष्टि से ज्ञानरूपी अनल प्रकट हो जाए, आत्मा में प्रज्वलित—जाग्रत एवं पूर्णतया प्रकाशित हो जाय तो सारे कर्म, कर्म के स्रोत, कर्मबन्ध के कारण एवं पूर्वकृत कर्म का सचय सभी नष्ट-भ्रष्ट एवं भस्मसात् हो जाते हैं।

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में प्राप्त सुख-दुःख जाग्रत अवस्था में मिथ्या हो जाते हैं, इसी प्रकार जाग्रत अवस्था में प्राप्त सुख-दुःखादि भी अज्ञानी को सत्य प्रतिभासित होते हैं, किन्तु ज्ञानावस्था में स्वप्न और जाग्रत अवस्था में प्रतिभासित सत्य मिथ्या हो जाता है। कई बार भ्रमवश

१. 'कर्मनो सिद्धान्त' से भावांश उद्धृत पृ. ५८

२. "यथैधांसि समिद्धोऽग्निः भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !,
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥" —गीता अ. ४ श्लो. ३७

अन्धविश्वास, अज्ञान एवं मिथ्या-आचरण के चक्कर में पड़े हुए व्यक्ति सम्यग्ज्ञान के उदित होते ही इन सबको छोड़ देते हैं, अथवा ये सब छूट जाते हैं। वैसे ही आत्मा को अपने ज्ञानमय स्वभाव का सम्यक्भान, विश्वास एवं स्वरूपाचरणरूप आचरण हो जाए तो समस्त संचित घाती कर्मों से मुक्ति हो सकती है। शेष रहे संचित अघातीकर्म भी उसी जीवनकाल में शरीर छूटने के साथ ही छूट जाते हैं। इस प्रकार संचित कर्मों से भी मुक्ति प्राप्त करना कठिन नहीं है।[१]

■

१. 'कर्मनो सिद्धान्त' से भावांश उद्धृत पृ. ६४

१४

कर्म का सर्वांगीण और परिष्कृत स्वरूप

क्या कर्मरूपी महासमुद्र की थाह लेना अतीव कठिन है?

अगाध जल से परिपूर्ण महासमुद्र की थाह लेना अत्यन्त कठिनतम कार्य है। सामान्य व्यक्ति से कहा जाए तो वह समुद्र की विशालता और अगाधता का माप नहीं कर सकता, न ही वह शब्दों से भी उसका आकलन कर सकेगा। परन्तु आजकल के कतिपय भौतिक विज्ञान के धुरन्धर विद्वान् समुद्र का भी स्थूलदृष्टि से माप करने में सक्षम हो गए हैं, यन्त्रों की सहायता से।

इसी प्रकार विभिन्न कोटि के, विभिन्न प्रकार के और विविध हेतु और उद्देश्य से किये जाने वाले कर्मरूपी विराट् महासमुद्र की थाह लेना भी अतीव कठिन कार्य है। कर्म-महासमुद्र की विराट्ता, विशालता और गहनता का माप लेना भी सामान्य व्यक्ति के बलबूते से बाहर की वस्तु है, वह शब्दों से भी कर्म के विराट् स्वरूप का आकलन और ग्रहण नहीं कर पाता। परन्तु जो कर्मविज्ञान के विशेषज्ञ, मर्मज्ञ एव पारंगत हैं, अथवा जो कर्म के विराट् स्वरूप का आकलन एवं हृदयंगम करने के लिए अहर्निश मन्थन-मनन करते हैं, तत्त्वजिज्ञासु हैं, आध्यात्मिक साधक हैं, उनके लिये ग्रन्थों और शास्त्रों की सहायता से, भगवद्वाणी और उसके पुरस्कर्ताओं[१] द्वारा की हुई व्याख्याओं से कर्मरूपी विराट् महासमुद्र के सर्वांगीण और परिष्कृत स्वरूप का, विविध उद्देश्यों से कृत कर्मों के विविध रूपों का तथा विभिन्न प्रकारों का आकलन, ग्रहण और धारण करना कठिन भी नहीं है।

आत्मा और कर्म का पृथक्करण करना असम्भव नहीं है

पिछले प्रकरणों में इसी उद्देश्य से कर्म के विभिन्न अर्थों, व्याख्याओं, रूपों तथा उसकी शक्ति, गति-प्रगति, प्रक्रिया आदि से समन्वित विराट् स्वरूप की झांकी दी गई है। इन सब रूपों और स्वरूपों में कर्मशब्द समुद्र

१. कर्मग्रन्थों, कम्मपयडी, गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), महाबंधो, कषायपाहुड, बंधविहाणे आदि ग्रन्थों के रचयिता।

की लहरों की तरह परस्पर अनुस्यूत है। संसारी आत्मा के साथ कर्म विविध रूपों में दूध और पानी की तरह घुला-मिला है, तप्तलोहपिण्ड के साथ अग्नि की तरह एकीभूत-सा है। इसलिए सामान्य व्यक्ति राजहंस की तरह आत्मा और कर्म की परस्पर ओतप्रोत शक्तियों का विश्लेषण और पृथक्करण नहीं कर पाता। वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक जिस प्रकार ऑक्सीजन और हाइड्रोजन इन दोनों का पृथक्करण कर लेते हैं, इसी प्रकार अध्यात्मविज्ञानी अथवा कर्मविज्ञानमर्मज्ञ आत्मा के प्रदेशों और कर्म के परमाणुओं का पृथक्करण, विश्लेषण और विवेक कर सकते हैं।

कर्म का सर्वांगीण और परिष्कृत रूप समझना आवश्यक

इसी दृष्टि से कर्म के सर्वांगीण और परिष्कृत स्वरूप को हम इस प्रकरण में प्रतिपादित करना चाहते हैं, ताकि वह लक्षण कर्म के पूर्वोक्त समस्त रूपों, अर्थों और व्याख्याओं को अपने मे समाविष्ट कर सके।

आशय यह है कि कर्म का वह परिष्कृत हम यहाँ देना चाहते हैं, जिसमें पाठक को कर्म के विभिन्न अर्थों और रूपों का, द्रव्यकर्म और भावकर्म का, संस्काररूप और पुद्गलरूप कर्म का, कर्म के परतत्रीकारक स्वरूप का, कर्म के महाशक्तिरूप का, कर्म के मूर्त्तरूप का; कर्म, विकर्म और अकर्म का, कर्म के शुभ-अशुभ-शुद्धरूप का, कर्म के सकाम-निष्कामरूप का, कर्म और नोकर्म के अन्तर का, कर्म के विविध प्रक्रियात्मक स्वरूप का, तथा कर्मों के घाती अघाती कुलों का सम्यक्तया परिज्ञान एव प्रत्याख्यान हो सके । वह हृदयंगम कर सके कि कर्मों का परिवार कितने रूपो मे, किस-किस प्रकार से संसार में फैला हुआ है और ससारी जीव कर्म के किन-किन रूपों से किस-किस प्रकार से घिरा है।

इन समग्र रूपों में यहाँ बन्धक कर्मो और अबन्धक कर्मो में सिर्फ बन्धक कर्मों की दृष्टि से ही वह परिष्कृत लक्षण समझना चाहिए। उन्हें ज्ञपरिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से यथायोग्य, यथाक्रम से उनका प्रत्याख्यान (संवर और निर्जरा के द्वारा) करने का प्रयत्न करना चाहिए, यह भी इस परिष्कृत लक्षण से प्रतिध्वनित समझना चाहिए।

ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से कर्मों से मुक्त जीव परब्रह्म परमात्मा बन सकता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जीव का कर्म के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध होने पर भी वह यदि कर्मों और अपने आत्मस्वरूप का ज्ञपरिज्ञा से पूर्णतया परिज्ञान करे और यथायोग्य क्रम से उन-उन कर्मों का निरोध करने तथा क्षय करने का पुरुषार्थ करे तो वह प्रत्याख्यानपरिज्ञा से उन-उन

कर्मों से मुक्त हो सकता है। जब साधक को आत्मा और अनात्मा (चेतन और जड़=स्व-भाव और परभाव) की भिन्नता का भेदविज्ञान हो जाता है, अर्थात् जन्म-मरणरूप संसार से छूटने का जब समय आता है, तब वह शीघ्र ही तप, संयम और ज्ञान रूप अग्नि के बल से समग्र कर्ममल को जलाकर शुद्ध स्वर्ण-सम निर्मल-निष्कलंक हो जाता है। अर्थात्-कर्म-मललिप्त आत्मा शुद्ध परमात्मा, परब्रह्म अथवा परमेश्वर हो जाता है।[१]

आद्य शंकराचार्य इस स्थिति में पहुँचे हुए जीव को परब्रह्म रूप से परिचित कराते हुए कहते हैं—"(सम्यक्) ज्ञान बल से पहले बंधे हुए कर्मों को गला दो, (जैन परिभाषा में पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा कर दो) तथा नवीन (आते हुए) कर्मों का बन्धन मत होने दो (आस्रवनिरोधरूप संवर करो) और जो प्रारब्ध कर्म हों, उन्हें (समभाव से) भोग कर (उनकी उदीरणा करके) क्षीण कर दो। इसके पश्चात् परब्रह्म-परमात्मा रूप से अनन्तकाल तक बने रहो।[२]

कर्म के परिष्कृत स्वरूप का समझना आवश्यक है; क्यों और कैसे ?

यद्यपि आत्मा और कर्म का अपना-अपना स्वतंत्र स्वरूप एवं अस्तित्व है, तथापि संसारी आत्मा और कर्म का परस्पर सम्बन्ध अनादि-काल से है। इन दोनों का यह सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि कदापि विच्छिन्न न हो सके, और न ही यह सम्बन्ध धन और धनी जैसा तात्कालिक है, अपितु वह सम्बन्ध स्वर्ण और किट्ट-कालिमा की तरह अनादिकालीन है, विच्छेद्य भी है और जीव के प्रमादवश श्लेष्य भी है।

जिस प्रकार शत्रु का स्वरूप भलीभांति समझ में नहीं आता, तब तक उस पर विजय पाना सम्भव नही होता, इसी प्रकार आत्मा के कट्टर शत्रु का भी जब तक स्वरूप समझ में नहीं आता, तब तक उस पर विजय पाना, उससे सम्बन्ध विच्छेद करना तथा जब तक वीतरागता=जीवनमुक्ति प्राप्त न हो जाए, तब तक केवल शुभ और शुद्ध कर्मों (अकर्मों) से सम्बन्ध करना कथमपि सम्भव नहीं है।[३] कर्म से बढ़कर आत्मा का कोई शत्रु इस संसार में

---

१. (क) प्रथम कर्म ग्रन्थ मे (संपादक- पं. सुखलालजी) लिखित व्याख्या से पृ. ३

(ख) यद्यपि कर्मों के आस्रव और बन्ध की, तथा संवर, निर्जरा और मोक्ष की, एवं उनके विविध पृथक्-पृथक् कारणों की, तथा पुण्य-पाप एवं कर्मफल की विस्तृत चर्चा यथक्रम से आगे के खण्डों में की जाएगी। इस खण्ड में तो कर्म के विभिन्न रूपों और स्वरूपों की झांकी दी गई है।

२. "प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नऽप्युत्तैः श्लिष्यताम् ।
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम् ॥" (—प्रथम कर्मग्रन्थ से) पृ.३

३. कर्मग्रन्थ प्रथम की प्रथम गाथा की व्याख्या (पं. सुखलालजी) से पृ. ४

नहीं है। कर्म के कारण ही प्राणी को अनेक गतियों, योनियों और रूपों में जन्म-मरणादि दुःख उठाने पड़ते हैं। विविध कुगतियों और कुयोनियों में विविध दुर्लभबोधि रूपों मे भटककर आत्मा की अखण्ड शान्ति-आकुलता-रहित सुखशान्ति के परिदर्शन कर्म के कारण ही तो सम्भव नहीं होते। अतएव उस निराकुल अखण्ड शान्ति की जिन्हें पिपासा एवं जिज्ञासा है, उन्हें कर्म के इस परिष्कृत स्वरूप का जानना बहुत आवश्यक है।

कर्म करना सहेतुक है, वह जीव का स्वभाव नहीं

वस्तुतः कर्म करना आत्मा (जीव) का स्वभाव नहीं है। अगर कर्म करना, यानी कर्म-बन्ध करना जीव का स्वभाव होता तो अयोगी केवली भगवन्तों और सिद्ध भगवन्तों के साथ भी कर्म लगे होते। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक जीव कर्म का बन्ध नही करता। अयोगी केवली और सिद्ध भगवन्त तो कर्मों से सर्वथा मुक्त होते हैं, वे कर्मो का बधन नही करते। सयोगी केवली, वीतराग अर्हत् भगवान् के भी ईर्यापथिक क्रिया के कारण नये कर्म आते जरूर हैं, बध केवल स्पृष्टरूप प्रदेशरूप होता है किन्तु वह तुरत ही छूट जाता है। इससे सिद्ध होता है कर्म सहेतुक होता है, अहेतुक नहीं।[1]

कर्म के परिष्कृत स्वरूप में इच्छाकृत बंधककर्मों का ही समावेश

आशय यह है कि जो कर्म सहज होते हैं—श्वासोच्छ्वास, रक्तसचार, पाचन क्रिया आदि वे अनिच्छाकृत एव स्वतः होते हैं। इच्छाकृत कर्मो मे भी जिन कर्मों के साथ कषाय या रागद्वेषादि नहीं होते वे कर्म भी वन्धकर्ता नही होते। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप का निष्कामभाव से सम्यक् आचरण करे तो वह अप्रमत्त भाव से किया हुआ कर्म भी वन्धक न होकर सवर-निर्जराकारक (कर्म-निरोधक तथा कर्मक्षयकारक) होता है। यहाँ इस प्रकार के कर्मो से प्रयोजन नही है।

यहाँ प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक आत्मा तथा प्रत्येक प्रयोजन या निष्प्रयोजन अथवा प्रत्येक कारण या अकारण से किये हुए कर्म को बन्धक कर्म की कोटि मे नहीं बताया गया है। यहाँ कर्म का जो परिष्कृत स्वरूप बताया जाएगा, उसमें अमुक संसारी आत्मा के द्वारा अमुक कारणो से, इच्छाकृत विशिष्ट क्रिया के बंधकारक कर्मो का ही[2] परिगणन किया जाएगा। कर्म के इस सर्वांगीण परिष्कृत स्वरूप में सहेतुक कर्मों का ही परिष्कृत लक्षण बताया जाएगा। जो इस प्रकार की बंधक क्रिया, इस प्रकार

---

१. जिनवाणी कर्म-सिद्धान्त विशेषाक के 'कर्मों की धूप-छांह' लेख से, पृ ९

२. "कर्मों की धूप छाह" लेख से भावाश उद्धृत पृ. ९

का सकषाय जीव और इसके द्वारा इन मिथ्यात्वादि पंचविध कारणों से किये हुए सहेतुक कर्म हों, उन्हीं का इसमें समावेश होगा।

कर्म के इस परिष्कृत स्वरूप में इन कर्मों के स्वरूप का समावेश नहीं होगा, जो सांसारिक जीवों के द्वारा अनिच्छाकृत, स्वतः होने वाली क्रिया का कार्य हो, अथवा ऐर्यापथिक क्रिया का कर्म हो। अर्थात् जो कर्म बंधकारक कर्म की कोटि मे नहीं आते, तथा कषाय-रागद्वेषादि (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय) से रहित परिणामों से जो किये जाते हों, उन कर्मों के स्वरूप का समावेश इसमें नहीं होगा। इस परिष्कृत स्वरूप द्वारा स्पष्ट वोध हो जाएगा कि कौन-सी क्रिया का कर्म तथा किस प्रकार की आत्मा द्वारा, किन कारणों से किया हुआ कर्म बन्धकारक होता है।

इसे स्पष्टतः समझने के लिए एक रूपक लीजिए। मान लीजिए— इस समय इस स्थान पर कषाययुक्त ससारी जीव वैठे हैं, वे निरन्तर प्रतिक्षण कर्मों का संग्रह कर रहे हैं। परन्तु उसी समय, उसी स्थान पर उनके बदले यदि कोई वीतराग पुरुष बैठें तो साम्परायिक कर्न एकत्रित नहीं करते, क्योंकि उनके कषाय न होने से केवल ईर्यापिथिक कर्मों का सग्रह होता है। सिद्ध भगवान् तो किसी भी प्रकार के कर्म का ग्रहण नही करते; वे तो कर्मों से सर्वथा मुक्त होते हैं।

इस लोक मे हम ससारी जीव भी रहते हैं और सिद्ध भगवान् भी लोक के अग्रभाग पर रहते है। लोक का कोई भी कोना खाली नही है, जहाँ कर्मवर्गणा के पुद्गल न घूम रहे हों। लोक में ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ शव्दलहरी नही घूम रही हो। यही कारण है कि रेडियो, ट्रांजिस्टर, वायरलेस या टेलिविजन कहीं भी बैठ कर बजाने से शब्दलहरी तथा संगीतलहरी वहाँ पहुँच जाती है। जैसे शब्दलहरी लोक (ब्रह्माण्ड) मे सर्वत्र फैल जाती है, उसी तरह, बल्कि उससे भी सूक्ष्म कर्म-लहरी समग्र लोक में सर्वत्र फैली हुई है।

यह आपके और हम सबके शरीर के चारों ओर घूम रही है, और सिद्धभगवन्तो और सदेह वीतराग सयोगी केवली भगवानों के भी चारो ओर घूम रही है, किन्तु सिद्ध भगवन्तों अर्हत्-भगवन्तो एवं सयोगी केवली वीतराग पुरुषों के कर्म चिपकते नहीं। जबकि आपके और हम सबके कर्म चिपक जाते हैं। इसका रहस्य यही है कि सिद्धों, अर्हन्तों और सयोगी केवली भगवन्तों में वे कारण (कषाय-रागद्वेषादि के परिणाम) नहीं हैं।[1]

---

१. जिनवाणी कर्मसिद्धान्त विशेषांक के 'कर्मों की धूप-छांव' लेख के भावांश उद्धृत पृ १०

पूर्वोक्त तीन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में बंधक कर्म के चार मुख्य लक्षण

इन्हीं तीन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में जैन कर्मविज्ञान-मर्मज्ञों ने बन्धक कर्म के विभिन्न दृष्टियों से परिष्कृत लक्षण दिये हैं। उनमें चार परिष्कृत लक्षण मुख्य हैं, जिनसे विवक्षित कर्म का सर्वांगीण परिष्कृत स्वरूप समझ में आ सकता है।

प्रथम लक्षण

इस दृष्टि से आचार्य देवेन्द्रसूरि ने प्रथम कर्मग्रन्थ में जो कर्म का लक्षण दिया है, उसे हम प्रथम लक्षण के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं—

"कीरइ जिएण हेउहिं तो भण्णए कम्मं ।"

अर्थात्-जिस कारण (सांसारिक) जीव के द्वारा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वचन, काय की प्रकृति) इन हेतुओ = कारणों से, (कर्मयोग्य पुद्गलद्रव्य अपने आत्मप्रदेशों के साथ बद्ध-सम्बद्ध) किये जाते हैं। इसलिए वह आत्म-सम्बद्ध (विजातीय) पुद्गलद्रव्य कर्म कहलाता है। संक्षेप में, मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव के द्वारा (मन, वचन, काया से) जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं।

भावार्थ यह है कि राग-द्वेष-कषायादि से युक्त इस संसारी जीव में प्रतिसमय मन वचन काया से परिस्पन्द रूप जो क्रिया होती है, उसे सामान्यतया मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग, इन पांच रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं। इनके निमित्त से आत्मा के प्रति आकृष्ट होकर अचेतन (पुद्गल) द्रव्य आता है और रागद्वेष का निमित्त पाकर आत्म-प्रदेशों के साथ श्लिष्ट-सम्बद्ध हो जाता है। समय पाकर वह सुख-दुःख का फल देने लगता है, उसे ही कर्म कहा जाता है।[१]

'कीरइ' पद की व्याख्या

इस गाथा के 'कीरई जिएण हेउहिं' इन तीनों की व्याख्या करते हुए आचार्य देवेन्द्रसूरि लिखते हैं—

"अंजनचूर्ण से परिपूर्ण डिब्बे के समान समग्र लोक सूक्ष्म और बादर कर्मपुद्गल-परमाणुओ से ठसाठस भरा हुआ है। ऐसा कोई भी स्थान नहीं है जहाँ कर्म-पुद्गल परमाणु न हों। किन्तु ये समस्त कर्म-पुद्गल-परमाणु कर्म नहीं कहलाते। इनमें कर्म बनने की योग्यता अवश्य है। अनादिकालीन कर्ममलों से युक्त जीव जब रागादि कषायों से संतप्त होकर मन-वचन-काया से कोई क्रिया करता है, तब कार्मण-वर्गणा के पुद्गल-द्रव्य आत्मा की ओर उसी प्रकार आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का

१. कर्मग्रन्थ प्रथम गाथा-१

लोगा (पिण्ड) पानी में डालने पर चारों ओर से पानी को खींच लेता है। अर्थात्—आत्मा (जीव) उपर्युक्त कारणों (परिणामों) से कर्मवर्गणा के पुद्गलों को अपनी ओर आकृष्ट करके आत्म-सम्बद्ध कर लेता है, इस कारण वही पुद्गलद्रव्य 'कर्म' कहलाता है।[१]

आत्मा कर्म-परमाणुओं को कैसे आकृष्ट कर लेता है ?

आत्मा कर्म-परमाणुओं को अपनी ओर कैसे आकृष्ट कर लेता है ? इस सम्बन्ध में कर्मविज्ञानवेत्ता विभिन्न तर्क देते रहे हैं— "जैसे कड़ाही के अंदर खौलते हुए घी में डाली हुई पूड़ी घी को खींच लेती है, अपने में जज्ब कर लेती है। अथवा जिस तरह चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, तथा जैसे कपड़ा पानी को सोख लेता है; इसी तरह यह जीव (रागद्वेषादियुक्त) संकल्प विकल्पों में पहुँचकर आस-पास के अनन्तानन्त (कर्म-पुद्गल) परमाणुओं को खींच लेता है। इस प्रकार जीव के साथ ये कर्मपुद्गल-परमाणु सम्बद्ध हो जाते हैं।"

आत्मा में अपने पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त कर्म-पुद्गल-परमाणुओं को आकर्षित करने की शक्ति कैसे आ जाती है ? इस सम्बन्ध में बताया गया है "........आज के वैज्ञानिकों की मान्यता है कि वृक्ष से टूटा हुआ फल ऊपर आकाश की ओर न जाकर जो भूमि पर गिरता है, इसका कारण केवल भूमि में अवस्थित आकर्षण शक्ति ही समझना चाहिए। भूमि में स्वभाव से ही यह विशेषता पाई जाती है कि वह प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर खींचती है, ऊपर की ओर नहीं जाने देती। जैसे वैज्ञानिक भूमि में आकर्षण शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वैसे ही जैनाचार्य (रागादियुक्त) संकल्प-विकल्पों की वाटिका में विहरण कर रही आत्मा में अपने पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त परमाणुओं को अपनी ओर आकृष्ट करने की क्षमता स्वीकार करते हैं।"[२]

चर्मचक्षुओं से अदृश्य कार्मणवर्गणा का जीव द्वारा ग्रहण करना भी कर्म है

"जैनदर्शन के मन्तव्यानुसार कार्मण वर्गणा (कर्म-परणाणुओं का सजातीय समूह) एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज (पुद्गल-स्कन्ध = परमाणुसमुदाय) होती है, जिसे इन्द्रियाँ सूक्ष्मदर्शक यंत्र के द्वारा भी नहीं जान सकती, सर्वज्ञ या परम अवधिज्ञानी योगी ही उसे जान देख सकते हैं।" जीव के द्वारा जब वह (कर्मरज ग्रहण की जाती है, तब उसे कर्म कहते हैं।[३]

१. इस गाथा पर देखिये, अभिधान राजेन्द्रकोष में 'कम्म' शब्द की आ. देवेन्द्रसूरिकृत व्याख्या, पृ. २४५
२. (क) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनि जी) से पृ. २०
(ख) वही पृ. २१
३. (क) कर्मग्रन्थ भा. १ प्रथम गाथा की व्याख्या (प. सुखलालजी) से पृ. २
(ख) 'ज्ञान का अमृत' से पृ. २१

कर्म का उभयविध लक्षण

समयसार में इसी लक्षण को परिष्कृत करते हुए कहा गया है—जीव के परिणामों का निमित्त (योग और कषाय के कारण) पाकर आत्मा में (आकर्षित होकर) स्थित पुद्गलों का कर्मरूप में परिणमन होता है। इसी प्रकार पौद्गलिक कर्म के निमित्त से (आत्मा में कम्पनरूप क्रिया के कारण) जीव का भी परिणमन होता है। जिन संकल्प—विकल्पों (रागादि परिणामों) के आधार पर यह जीव परमाणुओं को अपनी ओर खींचता है, उन्हें भावकर्म कहते हैं और जो कर्म-परमाणु खिंचकर आत्मा के साथ चिपट जाते हैं, वे ही कर्मपरमाणु द्रव्यकर्म कहलाते हैं।[१]

आत्मा के पार्श्ववर्ती कर्मपरमाणु आत्मा से कैसे सम्बद्ध हो जाते हैं?

प्रश्न यह है कि संकल्प-विकल्पों के आधार पर आत्म-प्रदेशो में कम्पन होने से आत्मा के पार्श्ववर्ती अनन्तानन्त कर्मपरमाणु आत्मा (आत्म प्रदेशों) से कैसे सम्बन्धित हो (जुड़) जाते हैं?

इसका समाधान पं. सुखलालजी के शब्दों में देखिये—"शरीर में तेल लगाकर कोई धूलि में लोटे तो धूलि उसके शरीर मे चिपट जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय, योग आदि से जीव के प्रदेशो में जव परिस्पन्द होता है, अर्थात्—हलचल होती है, तब जिस आकाश में आत्मा के प्रदेश है, वहीं के, अनन्त-अनन्त कर्म-योग्य-पुद्गल-परमाणु, जीव के एक-एक प्रदेश के साथ बँध जाते हैं। दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के गोले का जैसे सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म-पुद्गल, जीव के एक-एक प्रदेश के साथ बध जाते हैं। दूध और पानी का तथा आग का और लोहे के लोगे का जैसे सम्वन्ध होता है, उसी प्रकार जीव और कर्म-पुद्गल का परस्पर सम्वन्ध (बन्ध) होता है।"[२]

आत्म-प्रदेश (जीव) और कर्म-परमाणु के सम्वन्ध के विषय मे पं. ज्ञानमुनिजी का मन्तव्य है—"कुछ विचारको का कहना है—'आत्मप्रदेश और कर्म-परमाणु दूध और पानी की तरह मिलते हैं। कुछ विचारक लोहे और अग्नि की भाँति इनका मिलाप मानते हैं।' वस्तुस्थिति क्या है? यह

१. (क) जीव-परिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गल णिम्मित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ —समयसार गा. ८०
(ख) क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात् कर्म।
तन्निमित्त प्राप्त परिणामः पुद्गलोऽपि कर्म। — प्रवचन सार टीका पृ. १६५
(ग) ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनिजी) से पृ. २१

२. कर्मग्रन्थ प्रथम गा. १ (पं. सुखलाल जी) की व्याख्या से पृ. २

समझ लेना भी अवश्यक है। हमारे विचार में आत्म-प्रदेश और कर्म-परमाणु न नीर-क्षीर की भांति मिलते हैं; और न ही लोहाग्नि की तरह, क्योंकि आत्मप्रदेश सदा अखण्डित रहते हैं। जैसे—दूध कण-कण के रूप में बिखर सकता है, वैसे आत्मप्रदेश नहीं। तथा जैसे—लोहे के कणों के अन्दर अग्नि प्रवेश कर जाती है, वैसे आत्म-प्रदेशों के अन्दर कर्मपरमाणुओं का प्रवेश नहीं हो सकता; क्योंकि उनमें कहीं भी कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं हो सकती। अतः आत्मप्रदेशों और कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध मेघाच्छन्न सूर्य की भांति या चन्द्रग्रहण की भांति, अथवा स्वर्ण पर लगे मल की भांति ही समझना चाहिए; क्योंकि कर्म-परमाणु आत्मप्रदेशों को केवल आवृत करते हैं, आवरण बनकर उन पर छा जाते हैं, तथा उनकी ज्ञानादि शक्तियों को पर्दा बनकर ढक देते हैं, किन्तु उनसे एकमेक नहीं होते। इसलिए आत्म-प्रदेशों और कर्म-परमाणुओं का सम्बन्ध स्वर्ण पर लगे मल की भाँति मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।[1]

'जिएण' की व्याख्या

'जिएण' की व्याख्या करते हुए आचार्य देवेन्द्रसूरि कहते हैं—प्रश्न होता है—कर्मबन्ध (आत्मप्रदेश के साथ कर्म-पुद्गलों के सम्बद्ध) होने की क्रिया किसके द्वारा की जाती है? इसके उत्तर के लिए लक्षणों में 'जिएण' शब्द दिया गया। जितने भी कर्म होते हैं, वे सब जीव के द्वारा किये जाते हैं। जीव का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—पांच इन्द्रियाँ, मनोबलादि तीन बल, उच्छ्वास-निःश्वास और आयु, इन दस प्राणों को जो यथायोग्य धारण करता है, जीता है, वह जीव है। जीव तो दो प्रकार के होते हैं—सिद्ध और संसारी। ऐसा जीव कौन है? संसारस्थ जीव ही है। कर्म की दृष्टि से ऐसे जीव का लक्षण है—

यः कर्त्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्त्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्यलक्षणः॥[2]

इसका भावार्थ यह है कि मिथ्यात्व आदि के कारण कलुषित हुआ जीव सातावेदनीय आदि कर्मों का और उसके विविध भेद विशिष्ट कर्मों का कर्त्ता है, विशिष्ट सातावेदनीय आदि कर्मों के फल का उपभोक्ता है तथा कर्मविपाकोदय के अनुसार नर-नारक आदि भवों में संसर्त्ता (परिभ्रमण करने वाला) है। साथ ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न रत्नत्रय के प्रवल अभ्यास (साधना) वश समस्त कर्मों का क्षय करने से परिनिर्वाता

१. ज्ञान का अमृत (पं. ज्ञानमुनि जी) पृ. २१-२२
२. कर्मग्रन्थ भा. १ (आचार्य देवेन्द्र सूरि जी) अभिधान राजेन्द्र कोप 'कर्म' शब्द से पृ. २४५

(निर्वाण प्राप्त=मुक्त) भी जीव है। जीव के अतिरिक्त उसके सत्त्व, प्राणी, आत्मा इत्यादि पर्यायवाचक शब्द हैं। ऐसा जीव ही कर्म का कर्ता है।[१]

भगवती सूत्र में भी कर्म को चेतनाकृत बताया है, अचेतनाकृत नहीं।

'हेउहिं' की व्याख्या

'हेउहिं' की व्याख्या करते हुए आचार्य श्री देवेन्द्र सूरि जी कहते हैं—जीव मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप सामान्य कारणों से तथा प्रत्यनीकता, निह्नव, प्रद्वेष, उपघात, अन्तराय एवं अत्याशातना इत्यादि विशेष कारणों से (जो आगे यथास्थान बताये जाएँगे) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जीव के द्वारा जो (कार्य) किया जाता है, उसे कर्म कहा जाता है।[२]

कर्म का दूसरा परिष्कृत लक्षण

कर्म का **दूसरा लक्षण** आप्तपरीक्षा तथा भगवती आराधना की टीका में किया गया है—जीव के द्वारा मिथ्यादर्शनादि परिणामों से जो किये जाते हैं—उपार्जित होते हैं, वे कर्म हैं।[३]

इसकी पूर्व लक्षण से मिलती-जुलती व्याख्या समझनी चाहिए।

कर्म का तृतीय परिष्कृत लक्षण

कर्म का तीसरा परिष्कृत लक्षण 'परमात्मप्रकाश' में दिया गया है—

विसय-कसायहिं रंगियहं, जे अणुया लग्गंति।
जीव-पएसेहिं मोहियहं, ते जिण कम्मं भणंति॥

इसका भावार्थ यह है कि "विषय-कषायों से रंजित और मोहित आत्म-प्रदेशों के साथ जो अणु (कर्म-परमाणु) संलग्न-संश्लिष्ट हो जाते हैं, उन्हें जिनेन्द्र भगवान् कर्म कहते हैं।"[४]

इसका फलितार्थ यह है कि पचेन्द्रिय एवं मन के विषयों के प्रति आत्मा की राग-द्वेषात्मक तथा कषायात्मक क्रिया से आकाश-प्रदेशों में विद्यमान कर्म-वर्गणा के अनन्तानन्त सूक्ष्म परमाणु-पुद्गल चुम्बक की तरह आकर्षित होकर आत्मप्रदेशों से संश्लिष्ट(बद्ध) हो जाते हैं, चिपक जाते हैं, उन्हें कर्म कहते हैं।[५]

---

१. अभिधान राजेन्द्रकोष के अन्तर्गत 'कम्म' शब्द की व्याख्या से पृ. २४५

२. वही, पृ. २४५

३. जीवेन वा मिथ्यादर्शनादि परिणामैः क्रियते इति कर्म।
— आप्तपरीक्षा (टी.) २९६, भगवती आराधना (टी.) २०/९/८०

४. परमात्म प्रकाश १/१६

५. कर्मग्रन्थ भा. १ गा. १ की व्याख्या (मरुधर केसरी मिश्रीमल जी म.)

कर्म के लक्षण में क्रिया और क्रिया के हेतु—दोनों का समावेश

वस्तुतः आचार्य देवेन्द्रसूरिजी रचित कर्मग्रन्थ एवं परमात्मप्रकाश आदि कर्मविज्ञान के व्याख्या-ग्रन्थों में कर्म की सर्वांगीण परिभाषा में जीव की कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया (योग) और क्रिया के हेतु—मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों, इन दोनों को कर्म के सर्वांगीण परिष्कृत स्वरूप में समाविष्ट किया है।

तात्पर्य यह है कि जैनकर्मविज्ञान में कर्म का केवल क्रियापरक अर्थ ही अभीष्ट नहीं है, अपितु क्रिया के हेतु (रागद्वेष, कषायादि) पर भी विचार किया गया है।[1]

इसी दृष्टि से प्रवचनसार (टीका) में क्रिया और कर्मपुद्‌गल दोनों की कर्मसंज्ञा बताते हुए कहा है—वस्तुतः आत्मा के द्वारा प्राप्त होने से (रागद्वेषादियुक्त) क्रिया कर्म है, और उसके निमित्त से परिणमन को प्राप्त (कर्मवर्गणा के) पुद्‌गल भी कर्म ही है।

इस अपेक्षा से कर्म के अन्तर्गत दोनों तत्व आ जाते हैं। राग-द्वेष, कषाय आदि मनोभावों से युक्त क्रिया और कर्म-पुद्‌गल। कर्म-पुद्‌गल क्रिया का हेतु है और रागद्वेषादियुक्त त्रिविध क्रिया है। क्रिया के अभाव मे कर्मपुद्‌गलों मे कर्मत्व का अभाव होने से उसकी कार्यभूत (क्रियाफलरूप) मनुष्यादि पर्यायों का अभाव होता है।[2]

यहाँ कर्मपुद्‌गल वे जड़ (कर्म) परमाणु हैं, जिन्हें शरीरविज्ञान शरीर के रासायनिक तत्व कहता है। ये कर्मपरमाणु ही प्राणी की कायिक, वाचिक, मानसिक किसी क्रिया के कारण आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे अपना सम्बन्ध स्थापित करके, कार्मणशरीर की रचना करते हैं। (विपाक) समयविशेष के पकने पर वे ही कर्म अपने अनुभाग के अनुरूप फल के रूप में विशेष प्रकार का फलभोग (फल का वेदन) करा कर अलग हो जाते हैं।[3]

जैनकर्मविज्ञान की दृष्टि से कर्म का स्वभाव आत्मा के स्वभाव को पराभूत करना है। कर्म आत्मा (जीव) को परतंत्र करता है, उसकी शक्तियो को प्रभावित और कुण्ठित करता है। यह आत्मा या चेतना की शुद्धता को विकृत एवं आवृत करता है।[4]

---

१. (क) कर्मविपाक (कर्मग्रन्थ-प्रथम) गा. १ की व्याख्या से (पं. सुखलाल जी) पृ. १
(ख) जैन कर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावांश पृ. ११

२. "क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात् कर्म, तन्निमित्तप्राप्त परिणामः पुद्‌गलोऽपि कर्म ।"
—प्रवचनसार (त. प्र. टीका) ११७

३. जैनकर्म सिद्धान्त : तुलनात्मक अध्ययन से भावांश

४. जीवं परतंत्रीकुर्वन्नि, स परतंत्रीक्रियते वा यस्तानि कर्माणि । — आप्तपरीक्षा

कर्म का चतुर्थ लक्षण : परमार्थ दृष्टि से

कर्म का चतुर्थ लक्षण 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से इस प्रकार किया गया है—"वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षय और क्षयोपशाम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा निश्चयनय से आत्मपरिणाम तथा व्यवहारनय से पुद्गल-परिणाम तथा इसके विपरीत व्यवहारनय से आत्मा के द्वारा पुद्गल परिणाम (परिणमन) और पुद्गल के द्वारा आत्मपरिणाम (आत्मा में समुत्पन्न होने वाले रागादि परिणाम) भी जो किये जाएँ, वे कर्म कहलाते हैं।"

इस विषय को स्पष्ट करने हेतु प्रवचनसार में बताया है—

"जीव की रागादिरूप परिणतिविशेष को प्राप्त कर कर्मरूप परिणमन के योग्य पुद्गलस्कन्ध कर्मभाव को प्राप्त करते हैं। उनका कर्मत्व-परिणमन जीव (आत्मा) के द्वारा नहीं किया गया है।" "कर्म के कारण मलिनता को प्राप्त आत्मा कर्म-संयुक्त परिणाम को प्राप्त करता है। इससे कर्मों का सम्बन्ध होता है। अतः परिणाम को भी कर्म कहते हैं।"

इसी तत्त्व का स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार किया है—परमार्थ दृष्टि से देखा जाए तो जीव (आत्मा) आत्मपरिणामरूप भावकर्म का कर्ता है। पुद्गल-परिणामरूप द्रव्यकर्म का कर्त्ता नही है। पुद्गल का परिणाम स्वयं पुद्गलरूप है। इस परमार्थदृष्टि से पुद्गलात्मक द्रव्यकर्म का कर्त्ता पुद्गल का परिणाम स्वयं है। वह आत्म-परिणामस्वरूप भावकर्म का कर्त्ता नहीं है। अतः निश्चयदृष्टि से स्पष्ट है कि जीव आत्म-स्वरूप से परिणमन करता है, पुद्गल-पिण्डरूप से परिणमन नहीं करता।[१]

कर्म का आध्यात्मिक दृष्टि से परिष्कृत स्वरूप

किन्तु व्यवहार से आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती इसका स्पष्टी-करण करते हुए कहते हैं—"(कर्म) पुद्गलों का पिण्ड द्रव्यकर्म है और उस पिण्डस्थित शक्ति से उत्पन्न अज्ञानादि भावकर्म है।" इन दोनों का

---

१. (क) वीर्यान्तराय-ज्ञानावरण-क्षय-क्षयोपशमापेक्षेण आत्मनाऽऽत्मपरिणामः, पुद्गलेन च स्वपरिणामः । व्यत्ययेन च निश्चय-व्यवहार-नयापेक्षया क्रियत इति कर्म। — राजवार्तिक ६/१/७/५०४/२६

(ख) आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलसदि कम्मं, तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥" — प्रवचनसार २/२९

(ग) जीव परिणामहेदु कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ॥ —समयसार ८०

(घ) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय १३

(ङ) प्रवचनसार तत्वप्रदीपिका वृत्ति (अमृतचन्द्राचार्य) पृ. २३१

समन्वयात्मक रूप ही कर्म का अध्यात्मदृष्टि से परिष्कृत स्वरूप है। अर्थात्—आत्मा के प्रदेशों का सकम्प होना भावकर्म है, और इस कम्पन के कारण पुद्गलों की विशिष्ट अवस्था का उत्पन्न होना द्रव्यकर्म है।[1]

जैनकर्मविज्ञान का यह सर्वांगीण, परिष्कृत स्वरूप : क्यों और कैसे ?

इस प्रकार कर्म के चारों लक्षण द्रव्यकर्म और भावकर्म में, कर्म के संस्काररूप और पुद्गलरूप में, कर्म के मूर्त, परतंत्रीकारक और प्रक्रियात्मक रूप में भी घटित होते हैं। इसके अतिरिक्त यह सर्वांगीण, परिष्कृत स्वरूप कर्म के घाती-अघाती रूप, सकाम-निष्काम रूप, तथा कर्म-विकर्म-अकर्मरूप अथवा शुभ-अशुभ-शुद्धरूप एवं कर्म के क्रियमाण-संचित-प्रारब्ध-रूप को भी अपने में समाये हुए हैं। कर्म के सभी अंगों, और रूपों को यह परिष्कृत स्वरूप स्पर्श करता है। इसी परिष्कृत स्वरूप के निकष पर विभिन्न दर्शनों और धर्मों में परिभाषित एवं व्याख्यायित तथा मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, शरीरविज्ञान, योगविज्ञान, आदि की दृष्टि से विवेचित कर्म के स्वरूप को कसकर पाठक जैन कर्मविज्ञान को पूर्णतया हृदयंगम कर सकते हैं।

■

---

१. पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु।'— गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) गा. ६

तम्हा एएसिं कम्माणं
अणुभागे वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव
खवणे य जए बुहे।

—उत्तराध्ययन ३३/२५

कर्मों के अनुभागों (रस-प्रकृति आदि) को सम्यक् प्रकार से जानकर बुद्धिमान व्यक्ति इनका संवर (कर्मों का निरोध) और क्षय करने का प्रयत्न करे।